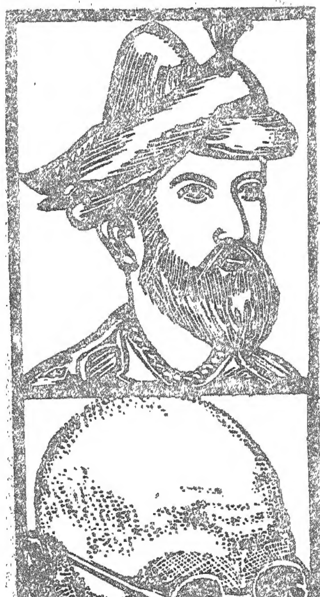
भारतीय इतिहास की मूल-धाराएँ



भारतीय इतिहास की मूल धाराएँ

"उत्तर प्रदेश भाषा संस्थान के सौजन्य से"

राजस्थान प्रकाशन
28-29, त्रिपोलिया बाजार,
जयपुर-2

भारतीय इतिहास की मूल धाराएँ

[प्राचीन काल से 1526 ई. तक,
1526 से 1964 ई. तक]

भाग : 1 व 2

डॉ० कानूराम शर्मा
एम०ए० (स्वर्णपदक प्राप्त) पी-एच०डी०
इतिहास विभाग
वनस्थली विद्यापीठ (राज०)

डॉ० राजशेखर व्यास
एम०ए०, बी०एड०, पी-एच०डी०

*प्रकाशक :	*कम्पोजिंग :	*मुद्रक :
राजस्थान प्रकाशन	**जनरल कम्पोजिंग एजेन्सी**	**मॉडर्न प्रिण्टर्स**
त्रिपोलिया बाजार,	गोधों का रास्ता,	किशनपोल बाजार,
जयपुर–2	जयपुर–3	जयपुर–2
* संस्करण :	*मूल्य :	*लेखक :
1996	**150/–**	**डॉ. कालूराम शर्मा**
		डॉ. राजशेखर व्यास

दो-शब्द

प्रस्तुत पुस्तक विभिन्न शिक्षा बोर्ड द्वारा ऐच्छिक इतिहास विषय के लिए निर्धारित पाठ्यक्रम के आधार पर उच्च माध्यमिक कक्षाओं के विद्यार्थियों के लिए लिखी गई है। पुस्तक में विषयवस्तु का प्रतिपादन करते समय इस बात को ध्यान में रखा गया है कि पुस्तक सम्बन्धित कक्षा-स्तर के सामान्य एवं मेधावी दोनों स्तर के विद्यार्थियों के लिए रुचिकर एवं उपयोगी रहे। इसी दृष्टि से ऐतिहासिक तिथियों एवं आंकड़ों के भँवरजाल में न फँसते हुए घटनाओं, उनके उत्तरदायी कारणों-परिस्थितियों एवं प्रभावों के गहन ज्ञान को सरल भाषा में, सार रूप में प्रस्तुत करने का पूरा-पूरा प्रयास किया गया है। इस पुस्तक की रचना में नवीनतम ऐतिहासिक शोध-कार्यों एवं विद्वानों की मान्यताओं को यथास्थान पर्याप्त महत्व दिया गया है।

छात्रों के ज्ञान की वृद्धि की दृष्टि से इस पुस्तक में यथास्थान मानचित्र, चित्र तथा समय-रेखाचित्र दिए गए हैं। प्रत्येक अध्याय के अन्त में अध्ययन का उपयोग शीर्षक के अन्तर्गत अपने अध्ययन को उपयोगी बनाने का लघूत्तरात्मक प्रश्न-परिस्थितियाँ तथा अध्ययन की जाँच शीर्षक के अन्तर्गत पढ़ी गई विषय-वस्तु विद्यार्थी कहाँ तक ग्रहण कर पाये हैं, इस हेतु वस्तुनिष्ठ बहुविकल्पी एवं निबन्धात्मक एवं क्रियात्मक प्रश्न-परिस्थितियाँ प्रस्तुत की गई हैं। इसके साथ ही मेधावी छात्रों एवं शिक्षकों की गहन अध्ययन की रुचि को बढ़ाने के लिए प्रत्येक अध्याय के अन्त में 'पूरक अध्ययन ग्रन्थ' के नाम से उपयोगी पुस्तकों की सूचि दी गई है। इन सभी दृष्टियों से पुस्तक रचना का मात्र लक्ष्य विद्यार्थियों एवं शिक्षकों के लिए उपयोगी अध्ययन परिस्थितियाँ उत्पन्न करना है। आशा है यह पुस्तक विद्यार्थियों और शिक्षकों के लिए सार्थक एवं रोचक सिद्ध होगी।

प्रत्येक पुस्तक की रचना में कई विद्वानों तथा मित्रों का सहयोग रहता है। लेखकगण उन समस्त विद्वानों एवं मित्रों के प्रति आभारी है, जिनका प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में इस पुस्तक की रचना में सहयोग मिला है।

—लेखक द्वय

अनुक्रम

भाग 1

अध्याय	विषय वस्तु	पृष्ठ सं०
1.	भारत की भौगोलिक स्थिति और उसका इतिहास पर प्रभाव	1
2.	सिन्धु-घाटी सभ्यता एवं समकालीन अन्य नदी घाटी-सभ्यताएँ	12
3.	आर्यों की वैदिक सभ्यता	32
4.	महाकाव्य तथा पौराणिक युग की सभ्यता	49
5.	भारत में धार्मिक जागृति	55
6.	मौर्य साम्राज्य की स्थापना से पूर्व (सिकन्दर का भारत पर आक्रमण)	74
7.	मौर्य साम्राज्य की स्थापना	82
8.	मौर्य सम्राट अशोक महान्	94
9.	मौर्यकालीन सभ्यता और संस्कृति	111
10.	सातवाहन साम्राज्य एवं समकालीन उत्तरी भारत	120
11.	गुप्त साम्राज्य	137
12.	गुप्तकालीन सभ्यता और संस्कृति (भारतीय संस्कृति का स्वर्ण-युग)	154
13.	हर्षवर्धन	166
14.	राजपूत काल तथा राजपूत कालीन सभ्यता और संस्कृति	176
15.	दक्षिणापथ : दक्षिणी भारत के प्रमुख राज्य एवं भारतीय संस्कृति	191
16.	भारतीय संस्कृति का विदेशों में प्रसार	206
17.	इस्लाम का उदय, प्रसार एवं भारत में इस्लाम का प्रवेश	215
18.	भारत पर तुर्की आक्रमण : महमूद गजनवी और मुहम्मद गौरी	226
19.	दिल्ली सल्तनत : स्थापना और उत्थान	237
20.	दिल्ली सल्तनत : विघटन और पतन (1) तुगलक वंश (2) सैयद वंश (3) लोदी वंश	257
21.	सल्तनतकालीन प्रशासन, समाज एवं संस्कृति	270
22.	प्रान्तीय राज्यों का उत्थान एवं विकास	282

भाग 2

1. मुगल साम्राज्य की स्थापना : बाबर और हुमायूँ 1
2. शेरशाह और उसकी शासन व्यवस्था 22
3. अकबर महान् : राष्ट्रीय राज्य की स्थापना 35
4. जहाँगीर और शाहजहाँ 55
5. औरंगजेब 75
6. मुगलों की देन : शासन व्यवस्था समाज और संस्कृति 90
7. मराठों का उत्कर्ष एवं उनका युग 106
8. भारत में यूरोपीय बस्तियों का उत्कर्ष 138
9. भारत में अंग्रेजी शक्ति का विकास 162
10. ब्रिटिश सामाज्य को संगठित बनाने के प्रयास 194
11. स्वतन्त्रता संग्राम का प्रथम संघर्ष और उसके परिणाम 213
12. भारत में अंग्रेजी शिक्षा—सुधार आन्दोलन और संवैधानिक विकास 227
13. राष्ट्रीय आन्दोलन 244
14. भारत और संसार (1947–64) 267
15. स्वतन्त्र भारत में सामाजिक एवं आर्थिक विकास 283
16. परिशिष्ट (1) भारत में मुगल शासकों का तिथि-क्रम 296
17. परिशिष्ट (2) भारत में अंग्रेज गवर्नर-जनरलों का सेवाकाल 296
18. परिशिष्ट (3) वायसरायों का सेवाकाल 297
19. परिशिष्ट (4) भारत के प्रमुख युद्धों और संधियों का तिथिक्रम 298
20. परिशिष्ट (5) राष्ट्रीय आंदोलन से सम्बन्धित घटनाओं का तिथि-क्रम 299

भारतीय इतिहास की मूल धाराएँ

भाग : एक

[प्राचीन काल से 1526 ई. तक]

अध्याय 1

भारत की भौगोलिक स्थिति और उसका इतिहास पर प्रभाव

कई प्राकृतिक परिस्थितियों पर काबू पाकर मानव चन्द्र-धरातल पर पहुँचने में सफल हुआ है। द्रुतगामी आवागमन के साधनों का आविष्कार कर मानव ने समय व दूरी की प्राकृतिक बाधा पर विजय प्राप्त की है। बड़े-बड़े बाँध बनाकर, नदियों के जल को रोककर, अपनी इच्छानुसार उनका उपयोग करने में मानव ने सफलता हासिल की है। और, इसी प्रकार कई दूसरे क्षेत्रों में प्राकृतिक बाधाओं एवं परिस्थितियों पर विजय प्राप्त कर मानव ने अपनी सुख-सुविधा के साधन जुटाये हैं। वास्तव में मानव जाति की ये सफलताएँ हमारे लिए गर्व करने योग्य हैं। परन्तु प्राकृतिक परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करने के ऐसे उदाहरण मानव द्वारा किए जाने वाले सभी क्रिया-कलापों में कुछ ही हैं। इनकी तुलना में मानव के उन क्रिया-कलापों की सूची बहुत लम्बी है, जिन पर इस पृथ्वी-तल के प्राकृतिक वातावरण का गहरा प्रभाव पड़ता रहा है।

भौगोलिक परिस्थितियां इतिहास को कैसे प्रभावित करती हैं ?

यदि आप पूरी दुनियाँ या किसी देश विशेष के मानचित्र को जनसंख्या के विभाजन की दृष्टि से देखें, तो आपको लगेगा कि सारी दुनियाँ अथवा किसी देश विशेष की जनसंख्या का अधिकांश भाग मैदानी इलाकों में बसा है। थोड़ा इसके कारण पर विचार कीजिए, आप समझ जाएंगे कि इस भूतल के पहाड़ी और पठारी इलाकों की तुलना में मैदानी इलाकों में मानव को कृषि, पशु-पालन, भवन-निर्माण, आवागमन, यातायात आदि अपने विविध क्रिया-कलापों की पूर्ति के लिए प्रकृति की ओर से अधिक सुविधाजनक परिस्थितियाँ प्राप्त हैं। इसी तरह यदि आप संसार के विभिन्न देशों की समृद्धि, कलात्मक विकास आदि की किन्हीं कारणों के आधार पर व्याख्या करने का प्रयत्न करें, तो आप महसूस करेंगे कि इन बातों में भी किसी देश के बढ़े-चढ़े होने में वहाँ की प्राकृतिक सम्पदा, यातायात की सुविधा आदि अनुकूल प्राकृतिक परिस्थितियों ने बहुत कुछ भाग अदा किया है। इसी दृष्टि से संसार के राष्ट्रों के बीच होने वाले पारस्परिक संघर्ष, युद्ध और रक्तपात पर तनिक गहराई से विचार कीजिए; इनके पीछे भी आपको इस भू-तल के विभिन्न भागों में मौजूद प्राकृतिक साधन-सुविधाओं की असमानता तथा एक-दूसरे देश के साधनों का अपने स्वार्थ के लिए उपयोग करने की विभिन्न राष्ट्रों की लालसा ही प्रमुख कारण के रूप में नजर आएगी।

ऊपर दिए गए इन उदाहरणों के आधार पर आप कह सकते हैं कि प्राकृतिक सम्पदा, मैदान, पहाड़, पठार तथा यातायात की सुविधाजनक परिस्थितियाँ आदि किसी देश के लोगों की जीवन-प्रणाली को प्रभावित करती हैं। मात्र ये ही नहीं,

विभिन्न देशों की स्थिति, जलवायु, विस्तार, धरातल तथा प्राकृतिक सीमा आदि भी प्रत्येक देश के जन जीवन को प्रभावित करते हैं। ऐसी स्थिति में हम कह सकते हैं कि पूरी मानव-जाति या किसी देश के निवासियों की जीवन-प्रणाली, उनके क्रिया-कलाप, विचार-चिन्तन तथा भविष्य के उत्थान-विकास की योजनाओं को इस भू-तल की प्राकृतिक अथवा भौगोलिक परिस्थितियाँ हमेशा प्रभावित करती रही हैं।

पूरी मानव जाति या किसी देश के निवासियों के बीते युग की जीवन-प्रणाली, क्रिया-कलाप, विचार-चिन्तन तथा उस युग में बनाई गई उत्थान-विकास की योजनाओं और इन सबके आधार पर विकसित होने वाली उनकी सभ्यता और संस्कृति का सच्चा लेखा-जोखा इतिहास कहलाता है। ऐसी स्थिति में हम कह सकते हैं कि भौगोलिक परिस्थितियाँ पूरी मानव जाति और प्रत्येक देश के इतिहास को प्रभावित करती रही हैं।

भारत की भौगोलिक परिस्थितियां—हमारा देश भारतवर्ष भी भू-मण्डल का एक भाग है। इसकी भी अपनी सभ्यता और संस्कृति है, जिसका एक लम्बा और पुराने समय से चला आ रहा इतिहास है। जिस प्रकार दुनियाँ के सभी भागों के इतिहास को वहाँ की भौगोलिक परिस्थितियाँ प्रभावित करती रही हैं, भारतवर्ष के इतिहास को भी यहाँ की भौगोलिक परिस्थितियों ने प्रभावित किया है। इतना ही नहीं,संसार के कई दूसरे देशों की तुलना में भारतवर्ष की भौगोलिक परिस्थितियाँ कुछ खास प्रकार की हैं। अतः इस देश के निवासियों की जीवन-प्रणाली अथवा यहाँ के इतिहास पर यहाँ के भूगोल का स्पष्ट एवं गहरा प्रभाव नजर आता है।

भूगोल ने भारतवर्ष के इतिहास को किस प्रकार प्रभावित किया है, इसकी जानकारी इस देश की स्थिति, जलवायु, विस्तार, धरातल की बनावट आदि भौगोलिक परिस्थितियों पर विचार करने और उनको समझने से भली प्रकार हो जाती है।

स्थिति एवं जलवायु—भारतवर्ष एशिया महाद्वीप के दक्षिणी भाग के मध्य में हिमालय और हिन्द महासागर के बीच एक त्रिभुज के आकार के उप-महाद्वीप के रूप में स्थित है। दुनिया के मानचित्र को देखने पर स्पष्ट होता है कि यह देश उत्तरी गोलार्द्ध में $8\frac{1}{2}°$ और $37\frac{1}{2}°$ उत्तरी अक्षांश तथा 68^0 और $98°$ पूर्वी देशान्तर के बीच स्थित है। भूमध्य रेखा इस देश के पास से होकर जाती है और कर्क रेखा इस देश के बीच में से होकर गुजरती है।

भारतवर्ष की इस स्थिति ने यहाँ के जलवायु और मौसम को प्रभावित किया है। कर्क रेखा के दक्षिण में इस देश का दक्षिणी भाग उष्ण कटिबंध में आ गया है और कर्क रेखा के ऊपर उत्तरी भारत का भाग शीतोष्ण कटिबंध में। इसी कारण दक्षिणी भारत की जलवायु गर्म और उत्तरी भारत की जलवायु शीतोष्ण है और उत्तरी भारत में वर्ष में सर्दी, गर्मी और वर्षा—तीनों ऋतुएं आती हैं। उत्तर में बर्फीले हिमालय के निकटवर्ती भाग शीतप्रधान हैं और समुद्र के तटवर्ती भागों

की जलवायु समशीतोष्ण है। मोटे तौर पर उष्णप्रधान होने से और उत्तर में विस्तृत हिमालय के कारण इस देश में मौसमी हवाओं का दौर-दौरा रहता है और वर्षा भी काफी मात्रा में होती है। भूमण्डल पर अपनी इस स्थिति के कारण भारतवर्ष में विविध प्रकार के जलवायु का अनुभव किया जा सकता है। जलवायु की इस विविधता ने इस देश के निवासियों के रहन-सहन, खान-पान आदि में विविधता उत्पन्न की है, जिसका यहाँ के इतिहास पर पूरा-पूरा प्रभाव पड़ा है।

विस्तार एवं धरातल—भारतवर्ष एक विशाल एवं विस्तृत देश है। उत्तर में कश्मीर से दक्षिण में हिन्दमहासागर तक इसकी लम्बाई लगभग 3200 किलोमीटर तथा पूर्व में असम से लेकर पश्चिम में काठियावाड़ तक इसकी चौडाई भी लगभग 3200 किलोमीटर है। किन्तु यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि हर स्थान पर इस देश की लम्बाई-चौड़ाई एक सी नहीं है। इस देश का क्षेत्रफल लगभग 28·8 लाख वर्ग किलोमीटर है। यदि रूस को अलग निकाल कर देखें, तो क्षेत्रफल में यह यूरोप से कुछ अधिक है।

भारत देश की इस विशालता और विस्तार ने यहाँ के जलवायु और धरातल में विविधता पैदा की है। जलवायु की विविधता और उसके प्रभाव के बारे में ऊपर बताया जा चुका है, किन्तु धरातल की विविधता के कारण इस देश में कहीं ऊंचे पहाड़ हैं तो कहीं विस्तृत मैदान; कहीं पठार हैं तो कहीं घाटियाँ और कहीं घने जंगल हैं तो कहीं मरुस्थल। धरातल की इस विविधता ने ही यहाँ के निवासियों के शारीरिक गठन, उनके काम करने की शक्ति तथा व्यवसाय को प्रभावित किया है। इसी कारण पहाड़ी-पठारी क्षेत्र के निवासियों में मेहनत और शौर्य की प्रवृत्ति का विकास हो सका है; मैदानी इलाकों के निवासियों का जीवन अधिक समृद्ध रहा है और पहाड़ी पठारी इलाकों के निवासी आर्थिक दृष्टि से कमजोर रहे हैं। इस देश की विशालता और धरातल की विविधता ने भारतवर्ष के विभिन्न भागों के निवासियों में भाषा, रीति-रिवाज, धर्म और आचार, व्यवहार में भिन्नता को जन्म दिया है और राजनैतिक एकता स्थापित करने में कठिनाइयाँ पैदा की हैं।

प्राकृतिक सीमाएं—भारत की प्राकृतिक सीमाएं भी विस्तृत और विशिष्ट हैं। इस देश की पूर्वोत्तरी सीमा पर हिमालय पर्वत की शृंखलाएं फैली हैं। हिमालय के कारण उत्तर की ओर से बाह्य आक्रमणों और ठण्डी हवाओं से यह देश सुरक्षित रहा है। उत्तर-पश्चिम में ऐतिहासिक भारत की प्राकृतिक सीमा हिन्दूकुश पर्वत से बनती है और इस पर्वत के दक्षिण में स्थित सफेद कोह, सुलेमान तथा किरथर पर्वत श्रेणियाँ इस देश को ईरान के पठार से अलग रखती रही हैं। लेकिन इन्हीं पर्वत श्रेणियों में खैबर, कुर्रम, बोलन और गोमल दर्रे हैं। इन दर्रों ने प्राचीन और मध्य युग में भारत में आने-जाने के प्रमुख मार्गों के रूप में काम किया है तथा भारतीय इतिहास को राजनैतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से खूब प्रभावित किया है।

भारत की पश्चिमोत्तर सीमा की तरह पूर्वोत्तर सीमा भी हिमालय की कारा, गोरा, जयन्तिया, पतकोई तथा अराकानयोमा आदि पर्वत श्रेणियों से बनती हैं। ये

पर्वत श्रेणियाँ दक्षिण की ओर मुड़कर बंगाल की खाड़ी की ओर चली गई हैं। यद्यपि इन पर्वत श्रेणियों के बीच भी गहरी घाटियाँ हैं, फिर भी इस भाग में घने जंगलों की वजह से इस तरफ से भारत बाह्य आक्रमणों से सुरक्षित रहा है।

भारत के दक्षिण में हिन्द महासागर लहराता है तथा दक्षिण-पश्चिम में अरब सागर व दक्षिण पूर्वी भाग में बंगाल की खाड़ी स्थित है। इसी कारण दक्षिण, दक्षिण पश्चिम और दक्षिण-पूर्व की ओर से यह सुरक्षित रहा है। इन निश्चित प्राकृतिक सीमाओं के कारण भारतवर्ष एक दुर्ग के समान बन गया है और एशिया महाद्वीप में स्पष्टतया एक अलग देश नजर आता है। इन्हीं प्राकृतिक सीमाओं ने इस देश को दूसरे देशों से हमेशा अलग रखा है। फलस्वरूप इस देश की अपनी निजी एवं स्वतन्त्र सभ्यता और संस्कृति का विकास हो पाया है।

प्राकृतिक सम्पदा—प्राकृतिक सम्पदा की दृष्टि से भारत एक सम्पन्न देश है। यहाँ के धरातल और जलवायु की विभिन्नता ने एक ओर इसे एक कृषिप्रधान देश बनाया है, तो दूसरी ओर खनिज, वनस्पति और वन्य प्राणियों की तरह-तरह की प्राकृतिक सम्पदा भी प्रदान की है। कृषि की सुविधा एवं प्राकृतिक सम्पदा के कारण यह देश प्राचीन एवं मध्य युग में समृद्धिशाली रहा है और इस देश में खुशी-हाली रही है। परिणामस्वरूप यहां कला, धर्म, दर्शन, ज्ञान-विज्ञान आदि का पर्याप्त विकास हो पाया है। किन्तु, इसी समृद्धि ने विदेशियों को आकर्षित भी किया है और इसी कारण इस देश में समय समय पर विदेशी आक्रमणकारी आते रहे हैं और इस देश के इतिहास को प्रभावित करते रहे हैं।

भारत के प्राकृतिक विभाग और उनका प्रभाव

भारतवर्ष की इन भौगोलिक परिस्थितियों ने देश के निवासियों की जीवन-प्रणाली को विविध रूपों में प्रभावित किया है। इस देश के इतिहास पर पड़ने वाले भौगोलिक प्रभाव को समझने की दृष्टि से इस देश के मुख्य रूप से निम्नलिखित भौगोलिक विभाग किए जा सकते हैं—

1. हिमालय का पर्वतीय प्रदेश,
2. उत्तरी भारत का मैदानी भाग और राजस्थान की मरुभूमि,
3. दक्षिणी पठार एवं पूर्वी पश्चिमी घाट, तथा
4. समुद्र तटीय प्रदेश एवं समुद्र।

1. हिमालय का पर्वतीय प्रदेश—भारतवर्ष के उत्तर में तराई के दलदल से लेकर हिमालय की ऊँची पर्वत चोटियों तक हिमालय का पर्वतीय प्रदेश फैला हुआ है। इस प्रदेश में कश्मीर, कांगड़ा, टिहरी गढ़वाल, कुमायूँ आदि महत्वपूर्ण पर्वतीय बस्तियाँ स्थित हैं। ये सभी बस्तियाँ पूर्व से पश्चिम तक फैली हिमालय की पर्वत श्रेणियों के अन्तर्गत स्थित हैं। पूर्व से पश्चिम तक विस्तृत हिमालय पर्वत शृङ्खलाओं की लम्बाई लगभग 2400 किलोमीटर और चौड़ाई 320 से 240 किलोमीटर तक है। हिमालय की इन पर्वत शृंखलाओं में लगभग 114 ऊँची-ऊँची पर्वत चोटियाँ

हैं। ये चोटियाँ बर्फ से ढकी रहती हैं। हिमालय की इस विस्तृत एवं ऊँची पर्वतमाला ने भारत के इतिहास को कई रूपों में प्रभावित किया है।

राजनीतिक दृष्टि से उत्तर दिशा की तरफ से हिमालय ने भारत की विदेशी आक्रमणों से हमेशा रक्षा की है। यद्यपि वैज्ञानिक विकास के कारण आधुनिक युग में हिमालय का इस दृष्टि से महत्त्व कम हो गया है, फिर भी प्राचीन एवं मध्य युग के इतिहास के संदर्भ में हिमालय ने उत्तर दिशा में भारत के प्रहरी का काम किया है। किन्तु इसके विपरीत हिमालय पर्वत की उत्तर-पश्चिमी शृंखलाओं में स्थित खैबर, कुर्रम, गोमल तथा बोलन दर्रों ने भारत में विदेशी आक्रमणकारियों को प्रवेश करने में बड़ा सहयोग दिया है। इन्हीं दर्रों से ईरानी, यूनानी–सिकन्दर, सेल्यूकस, डेमेट्रियस आदि तथा शक, पल्हव, हूण, तुर्क, तातारी, मुगल और अफगान आक्रमणकारी भारत में आते रहे थे और उन्होंने यहाँ के एकान्त शान्तिमय जन-जीवन को भंग कर राजनीतिक दृष्टि से उथल-पुथल मचाई थी।

हिमालय ने राजनीतिक दृष्टि से ही नहीं, आर्थिक दृष्टि से भी भारतीय जन-जीवन को प्रभावित किया है। भारत की समृद्धि को बढ़ाने में इस पर्वतमाला का महत्वपूर्ण योग रहा है। हिमालय के कारण ही उत्तर से आने वाली ठण्डी हवाएँ रुकती हैं। फलतः भारत एक उजाड़ भूखण्ड होने से बचा है। यही नहीं, हिमालय पर्वत शृंखलाएँ समुद्र से उठने वाली मानसूनी हवाओं को रोककर भारत के मैदानों में वर्षा कराती हैं। इसके साथ ही, इन पर्वत श्रेणियों से कई नदियाँ निकलती हैं, जो उत्तरी भारत के मैदानों के लिए उपजाऊ मिट्टी, सिंचाई के लिए जल तथा यातायात एवं व्यापार के लिए सुविधा प्रदान करती हैं। हिमालय के पर्वतीय प्रदेश ने भारत को विविध प्रकार की मूल्यवान प्राकृतिक सम्पदा भी दी हैं। इस प्रकार हिमालय से भारत को खनिज, लकड़ी, जड़ी-बूटी, वनस्पति एवं पशु-सम्पदा प्राप्त होती है जिससे भारत की समृद्धि बढ़ती रही है।

सांस्कृतिक दृष्टि से हिमालय, भारत की आध्यात्मिक साधना का प्रमुख केन्द्र रहा है। भारत के योगियों, ऋषियों, महात्माओं आदि ने इन पर्वत शृंखलाओं की गुफाओं में रह कर जीवन की गम्भीर समस्याओं के हल ढूँढे हैं। इन्हीं भागों में रह कर भारतीय महात्माओं ने आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त किया है। उससे भारत का आध्यात्मिक, धार्मिक एवं दार्शनिक क्षेत्र में संसार में ऊँचा स्थान बना है। आध्यात्म के साथ भारतीय साहित्य और कला को भी इस प्रदेश ने अपने रमणीय दृश्यों से प्रभावित किया है। इस प्रदेश में विशिष्ट चित्रकला की पहाड़ी शैली का विकास हुआ है और यहाँ के निवासियों ने प्रकृति में प्राप्त वस्तुओं से कई कलात्मक वस्तुओं के निर्माण की परम्परा को विकसित किया हैं। इस पर्वतीय प्रदेश के उत्तर-पश्चिम में स्थित दर्रों ने जहाँ एक ओर विदेशी आक्रमणकारियों को सहयोग दिया है, वहाँ दूसरी ओर प्राचीन काल में विदेशों से सम्पर्क बढ़ाने में भी मदद की है। इन्हीं दर्रों से होकर कई शान्तिप्रिय तीर्थ-यात्री भारत में आए एवं गये हैं और इन्हीं के कारण भारतीय

संस्कृति का मध्य एशिया और पश्चिम के देशों में प्राचीन काल में प्रचार-प्रसार हो सका है।

2. **उत्तरी भारत का मैदान और राजस्थान की मरुभूमि**—हिमालय के पर्वतीय प्रदेश के नीचे भारत का विस्तृत मैदानी भाग है। यह हिमालय और विन्ध्याचल पर्वत के बीच में स्थित है और पूर्व से पश्चिम तक इसमें बंगाल, बिहार, उत्तर प्रदेश, हरियाणा तथा पंजाब के भाग आते हैं। भारत के इस मैदानी भाग की लम्बाई 3200 किलोमीटर के करीब है और अलग-अलग स्थानों पर यह 320 किलोमीटर से 190 किलोमीटर तक चौड़ा है। इस भाग में सिंधु, गंगा-यमुना, ब्रह्मपुत्र और उसकी सहायक नदियाँ बहती हैं। इन नदियों के पानी के साथ आने वाली मिट्टी और सिंचाई की सुविधा से यह प्रदेश काफी उपजाऊ है। इन नदियों ने इस भाग में यातायात की सुविधा भी प्रदान की है और कृषि व व्यापार की अच्छी परिस्थितियाँ पैदा की हैं। इस कारण यह भाग सम्पन्न और समृद्ध रहा है और प्राचीन काल से भारत की अधिकांश जनसंख्या इसी भाग में बसती रही है।

भौगोलिक सुविधाओं के कारण यह भाग भारत के इतिहास की केन्द्रीय धुरी रहा है और इस देश के और बाहर से भारत में आने वाले, सभी महत्त्वाकांक्षी साम्राज्य निर्माताओं ने इस भू भाग पर अधिकार करने का प्रयत्न किया है। इसी कारण समय-समय पर कई निर्णायक युद्ध जैसे—तराईन, पानीपत, खानुवा, प्लासी, बक्सर आदि यहाँ हुए हैं और कई छोटे-छोटे राज्य और बड़े साम्राज्य इस भू-भाग में बने-मिटे हैं तथा उनकी राजधानियाँ बनी और नष्ट हुई हैं। इस प्रकार यह मैदानी भाग भारतीय राजनीति का प्रमुख केन्द्र रहा है।

उत्तरी भारत के मैदानी भाग की सुविधाजनक जीवन-यापन की परिस्थितियों ने इस भाग को भारतीय सभ्यता और संस्कृति के विकास का केन्द्र बनाया है। सिंधु और गंगा घाटी की प्राचीन सभ्यताएँ इसी भाग में फूली-फली हैं। इस प्रदेश की जीविका उपार्जन की सरल परिस्थितियों ने इस भाग के निवासियों को पर्याप्त मात्रा में फुरसत का समय दिया है। परिणामस्वरूप दर्शन, साहित्य और कला के विकास की दृष्टि से यह भारतवर्ष का महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन सका है। आर्यों के वैदिक साहित्य से लेकर आधुनिक युग तक के विविध प्रकार के भारतीय साहित्य की रचना इस भू-भाग के साहित्यकारों द्वारा की गयी है। इसी प्रकार कई महत्त्वपूर्ण कलात्मक स्मारक यहाँ बन पाए हैं, जो युग-युगीन भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधित्व करते हैं। किन्तु जहाँ एक ओर इस मैदानी भाग की सरल-जीवन परिस्थितियों और सम्पन्नता ने भारतीय सभ्यता और संस्कृति को समृद्ध बनाने में योगदान दिया है, वहीं दूसरी ओर यहाँ के निवासियों को वीर, साहसी एवं त्यागी बनाने के स्थान पर आराम पसन्द और विलासी बनाया है। इसी कारण प्राचीन एवं मध्य युग में इस प्रदेश का जनसाधारण आक्रमणकारी शत्रुओं का सामना करने में अधिकतर असफल रहा है।

भारत के उत्तरी मैदान के दक्षिण-पश्चिम में राजस्थान का मरुस्थल स्थित

है। इस मरुस्थल के पश्चिमी भाग में अरावली पर्वत श्रेणियाँ हैं। मरुस्थल और अरावली पर्वत श्रेणियों के कारण यह एक सुरक्षित प्रदेश बन गया है। इसकी सुरक्षित स्थिति के कारण राजस्थान के इस भाग ने भारतीय इतिहास को बहुत प्रभावित किया है। पंजाब तथा सिन्ध की ओर से आने वाले आक्रमणकारियों को रोकने में तथा इसी देश के स्थानीय राजाओं को, जो आक्रमणकारियों का सामना न कर सके, उन्हें आश्रय देने और उनके राज्य स्थापित करने के लिए सुरक्षित स्थान उपलब्ध कराने में राजस्थान के मरुस्थलीय एवं पर्वतीय भाग ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। यदि आप प्राचीन भारत के इतिहास का विश्लेषण करें, तो आपको लगेगा कि हूणों से लेकर मुगल आक्रमणकारियों तक का सामना न कर सकने वाले भारतीय शासकों ने इसी प्रदेश में शरण ली थी और इसी प्रदेश के शासकों ने बाह्य आक्रमणकारियों से दृढ़तापूर्वक लोहा लेकर भारतीय स्वतन्त्रताका प्रमुख दुर्ग यही राजस्थान का भाग रहा था। इतना ही नहीं, विदेशी आधिपत्य-काल में उत्तर भारत की सभ्यता और संस्कृति की सुरक्षा का उत्तरदायित्व भी इसी प्रदेश ने उठाया है और इसी भाग में उनका स्वतन्त्र विकास भी होता रहा है।

3. **दक्षिणी पठार तथा पूर्वी एवं पश्चिमी घाट**—यदि आप भारत के भौगोलिक मानचित्र को ध्यान से देखें, तो उत्तरी भारत के मैदानों के दक्षिण में आपको विन्ध्याचल एवं सतपुड़ा की पर्वत श्रेणियाँ नजर आयेंगी और इन पर्वत श्रेणियों के दक्षिणी भाग से लेकर सुदूर दक्षिण तक पठारी प्रदेश दिखाई देगा। उत्तर दिशा में विन्ध्याचल और बाकी तीनों तरफ समुद्र से घिरा दक्षिणी भारत का यह प्रदेश भारत का दक्षिणी पठार कहलाता है। इस पठारी भाग के पूर्व तथा पश्चिम में दोनों तरफ समुद्री किनारों से कुछ अन्दर की ओर पर्वत श्रेणियाँ हैं, जिन्हें पूर्वी एवं पश्चिमी घाट कहा जाता है। पूर्वी घाट की पर्वत श्रेणियाँ कुछ नीची और पश्चिमी घाट की पर्वत श्रेणियाँ ऊँची हैं। भारत के इस दक्षिणी पठार के भाग में कई नदियाँ बहती हैं। इनमें नर्मदा, ताप्ती, महानदी, गोदावरी, कृष्णा, कावेरी तथा तुंगभद्रा प्रसिद्ध हैं। इनमें से नर्मदा और ताप्ती, जो पूर्व से पश्चिम को ओर बहती हैं, को छोड़कर बाकी नदियाँ पश्चिम से पूर्व की ओर बहती हैं।

दक्षिण भारत की भौगोलिक स्थिति ने भी भारतीय इतिहास पर पर्याप्त प्रभाव डाला है। इस भाग की अधिकांश भूमि पठारी एवं पर्वतीय है और अनुपजाऊ है। ऐसी स्थिति में इस प्रदेश के निवासियों को अपनी जीविका कमाने के लिए हमेशा कठिन परिश्रम करना पड़ा है। परिणामस्वरुप उनमें कष्ट सहन करने की आदत तथा वीरता, साहस, त्याग एवं बलिदान की भावना का विकास हो सका है। मध्य युग में शिवाजी और मराठे मुगलों की सेना से सफलतापूर्वक लोहा ले सके, इसका मुख्य कारण इस भाग की भौगोलिक स्थिति ही है। महाराष्ट्र के पहाड़ी इलाकों में लुक-छिपकर मराठों ने मैदानी भाग में लड़ने की अभ्यस्त मुगल सेना को छापामार युद्ध नीति अपनाकर सफल नहीं होने दिया; इस बात को इतिहास के सभी विद्यार्थी जानते हैं। इसी तरह अंग्रेजों को भी इस भाग की कठिन भौगोलिक परिस्थितियों

के कारण इस क्षेत्र में अपना अधिकार जमाने में कठिनाई का सामना करना पड़ा।

दक्षिण भारत की भौगोलिक स्थिति ने वहाँ के निवासियों में जहाँ एक ओर युद्ध और संघर्ष की प्रवृत्ति पैदा की, वहाँ दूसरी ओर उनकी आर्थिक स्थिति को कमजोर रखा। फलतः इस भाग के निवासी एवं शासक हमेशा अपनी स्थानीय समस्याओं में उलझे रहे और उनकी महत्त्वाकांक्षाएँ दबी रहीं। ऐसी स्थिति में दक्षिणी भारत के शासक दो अवसरों को छोड़ कर, उत्तरी भारत पर आक्रमण करने को प्रेरित नहीं हो पाए, जबकि उत्तर भारत के कई शासकों ने दक्षिणी भारत पर अधिकार करने के सफल प्रयास किए। इसके अतिरिक्त दक्षिणी भारत की इस भौगोलिक परिस्थिति ने दक्षिण के राज्यों में भी राजनीतिक एकता के निर्माण में बाधा पहुँचाई और प्राचीन एवं मध्य युग में अधिकांशतः इस प्रदेश में अलग 2 राज्य ही बने रहे।

दक्षिणी पठार की भौगोलिक स्थिति ने सांस्कृतिक दृष्टि से भी भारतीय इतिहास को प्रभावित किया। इस भाग की प्राकृतिक बाधाओं ने इस भाग के निवासियों को अधिकाँशतः अलग-अलग रखा। परिणामस्वरूप वहाँ स्वतन्त्र रूप से कई भाषाओं जैसे—तेलगू, तमिल, मलयालम, कन्नड, मराठी आदि का विकास हुआ तथा इन भाषाओं में स्वतंत्र साहित्य का सृजन हुआ। साहित्य की तरह ही शिल्प और संगीत कला की अपनी विशेष शैलियों का भी दक्षिण में विकास हुआ। इसी तरह, सामाजिक एवं धार्मिक दृष्टि से उनकी अपनी विशेष परम्पराएँ और रीति-रिवाज पनपे। इस प्रकार सम्पूर्ण रूप में दक्षिण भारत का इन भौगोलिक परिस्थितियों से भारतीय संस्कृति के विकास मे काफी सहयोग मिला। भारतीय संस्कृति के विकास के साथ साथ दक्षिण की भौगोलिक परिस्थतियों ने प्राचीन भारत की संस्कृति की रक्षा करने में पर्याप्त सहायता दी। यहाँ की कठिन भौगोलिक परिस्थितियों के कारण अधिकांश विदेशी आक्रमणकारी उधर नहीं जा सके और भारतीय सभ्यता और संस्कृति के कई कलात्मक स्मारक तथा ज्ञान-विज्ञान और साहित्य व शास्त्र के कई ग्रन्थ सुरक्षित रह सके।

यद्यपि दक्षिण की इस भौगोलिक परिस्थिति ने प्राचीन एवं मध्य युग में इस भाग को कम महत्त्व का बनाए रखा, किन्तु वर्तमान युग में वैज्ञानिक विकास के परिणामस्वरूप यातायात एवं अन्य साधन-सुविधाओं के मिल जाने से अब वहाँ की भौगोलिक परिस्थितियाँ भारत को दूसरे रूप से प्रभावित कर रही हैं। अब दक्षिणी भारत की प्राकृतिक सम्पदा आधुनिक भारत के औद्योगिक विकास में महत्त्वपूर्ण प्रमाणित हो रही हैं।

4. **समुद्र तटीय प्रदेश एवं समुद्र**—दक्षिणी पठार की भौगोलिक परिस्थितियों के प्रसंग में आप यह जान चुके हैं कि इस पठार के पूर्वी एवं पश्चिमी घाटों के आगे, दोनों ओर समुद्र का तटीय मैदान है। भारत के पूर्वी समुद्र-तट का मैदान अधिक चौड़ा है और दक्षिण की नदियाँ इस मैदान में होकर बंगाल की खाड़ी में गिरती हैं। इसी कारण पूर्वी तट का मैदान अधिक उपजाऊ भी है, फलतः इस प्रदेश के निवासियों

की आर्थिक स्थिति अच्छी रही है और यह प्रदेश समृद्ध और वैभवशाली रहा है। यहाँ कई साम्राज्यों एवं भव्य नगरों का विकास हुआ है तथा भारतीय सभ्यता और संस्कृति को प्रश्रय मिलने के साथ इन्हीं भागों से भारतीय सभ्यता और संस्कृति का दक्षिणी-पूर्वी एशिया के द्वीप-समूहों में प्रचार-प्रसार हुआ है। पूर्वी-समुद्री तट की तुलना में भारत के पश्चिमी-समुद्री तट का मैदान संकरा है और यहाँ वर्षा अधिक होती है। इस तट पर कुछ अच्छे बन्दरगाह बनाने योग्य स्थल भी रहे हैं, जहाँ से प्राचीन काल से ही पश्चिमी तट के निवासी अरब, मिस्र तथा भूमध्यसागरीय प्रदेशों से व्यापार करते रहे हैं।

आप जानते ही हैं कि भारत देश के दक्षिण, दक्षिण-पश्चिम और दक्षिण-पूर्व में समुद्र है। इस समुद्र के कारण प्राचीन एवं मध्य युग में इन दिशाओं में भारत बाहरी आक्रमणों से सुरक्षित रहा है और तटीय प्रदेशों के निवासी अन्य देशों के साथ समुद्री व्यापार कर अपनी समृद्धि बढ़ाते रहे है। किन्तु समुद्र के कारण सुरक्षित स्थिति तथा पूर्वी एवं पश्चिमी समुद्रतटीय प्रदेशों की सम्पन्नता ने यहाँ के निवासियों को आराम पसन्द बना दिया। परिणामस्वरूप वे अपनी नौ-सैनिक शक्ति को बढ़ाने की ओर विशेष ध्यान नहीं दे पाए। इसी कारण आधुनिक युग में जब यूरोप के देशों ने अपनी नौ-सैनिक शक्ति के सहारे भारत में प्रवेश किया, तो समुद्री शक्ति के अभाव में भारतवासी उनका विरोध नहीं कर सके और अंततः भारत परतंत्र हुआ। इतना होने पर भी भारत के तीनों ओर के समुद्र ने समुद्री मार्गों से व्यापार तथा अपनी सभ्यता और संस्कृति के प्रसार का प्राचीन भारतवासियों को अवसर दिया, जिसका पूरा-पूरा लाभ भारतवासियों ने उठाया तथा वे शान्तिपूर्ण ढङ्ग से अपनी समृद्धि को बढ़ा सके और यहाँ की सभ्यता तथा संस्कृति का विदेशों में प्रचार-प्रसार कर सके।

भारत की भौगोलिक परिस्थितियों के प्रभाव से विकसित होने वाली भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषताएं

भारत की भौगोलिक परिस्थितियों और इसके प्राकृतिक विभागों के आधार पर यहाँ के इतिहास पर पड़ने वाले प्रभावों की जानकारी कर लेने के बाद आप यह भली प्रकार से कह सकते हैं कि भारत के राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन पर यहाँ के भूगोल का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। किन्तु, राजनैतिक उथल-पुथल, आर्थिक समृद्धि तथा सभ्यता व संस्कृति के समुचित विकास के साथ-साथ यहाँ की भौगोलिक परिस्थितियों ने भारतवासियों के जीवन में कुछ विशेषताएं विकसित की हैं। इस देश के विस्तार और धरातल की विविधता ने जहाँ एक ओर इस देश में विविधता को जन्म दिया है, तो दूसरी ओर इसकी प्राकृतिक सीमाओं ने इसे एकता के सूत्र में बाँधा है और विविधता में एकता इस देश की प्रमुख विशेषता रही है। इसी तरह, यहाँ के विभिन्न भागों की भिन्न-भिन्न परिस्थितियों ने यहाँ के निवासियों में विरोधी और विपरीत विचारों को स्वीकार करने की सहिष्णुता की प्रवृत्ति को जन्म दिया है। इतना ही नहीं, भारत की प्राकृतिक सुविधाओं ने इस देश के निवासियों में धैर्य को जन्म दिया है किन्तु धैर्य ने ही यहाँ के निवासियों के जीवन में गतिशीलता को कम किया है और वे परम्परावादी बने रहे हैं। भारत की

भौगोलिक परिस्थितियों का सबसे बड़ा प्रभाव यहाँ की सभ्यता और संस्कृति की निरन्तरता में भी दिखाई देता है। इस देश की प्राचीन काल में विकसित हुई सामाजिक-व्यवस्था, धार्मिक-संस्कार, दार्शनिक-विचार, सांस्कृतिक परम्पराएँ तथा राजनैतिक संस्थाएँ आज अपने प्राचीन स्वरूप को लिए हुए आवश्यक सुधार-संशोधन के साथ चली आ रही हैं। इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि यहाँ की प्राकृतिक परिस्थितियों ने यहाँ के निवासियों के जीवन के प्रति दृष्टिकोण को एक-सा बनाए रखने में बहुत कुछ हाथ बटाया है।

मात्र भूगोल ही इतिहास का नियामक नहीं—भारतीय भूगोल के यहाँ के इतिहास पर प्रभाव से सम्बन्धित जानकारी से यह निष्कर्ष निकालना कि मात्र भूगोल ही किसी देश के इतिहास को बनाता-बिगाड़ता है, उचित नहीं है। कारण यह है कि इतिहास मनुष्य के बीते जीवन के सभी क्रिया-कलापों का लेखा-जोखा होता है। ऐसी स्थिति में इतिहास को मनुष्य के क्रिया-कलाप अधिक प्रभावित करते हैं। उदाहरण के लिए, यह कहा जा सकता है कि किन्हीं दो देशों की लगभग एक ही प्रकार की भौगोलिक परिस्थितियाँ होते हुए भी उन दोनों के इतिहास में काफी अन्तर हो सकता है। इसका मुख्य कारण वहाँ के निवासियों की कर्त्तव्य और श्रम के प्रति निष्ठा या उदासीनता और अपने प्राकृतिक साधनों-परिस्थितियों का बुद्धिमत्तापूर्ण सदुपयोग या दुरुपयोग हो सकता है। जिस देश के निवासी प्राकृतिक सुविधाओं के होते हुए भी उनके सदुपयोग या उनकी सुरक्षा के प्रति ध्यान नहीं दे पाते, वे स्वयं अपनी दरिद्रता और दुर्भाग्य को बुलाते हैं। इसके विपरीत प्राकृतिक सुविधाओं के अभाव वाले देश में श्रम में निष्ठा रखने वाले देशवासी कठिन परिस्थितियों में भी अपना भविष्य उज्जवल बनाते हैं। संसार के विभिन्न देशों की प्रगति और पतन के कारणों पर इस दृष्टि से विचार कर आप देखें, तो ऐसे कई उदाहरण आपको मिल जाएँगे। जापान की प्रगति, इजरायल की शक्ति, आधुनिक रूस के विकास तथा इसी प्रकार कई अन्य देशों की प्रगति के पीछे वहाँ की मानवीय शक्ति के सदुपयोग का ही राज छिपा है। और, अब तो वैज्ञानिक विकास ने मानव के हाथों में वे शक्ति स्रोत दे दिए हैं जिनके कारण वह प्राकृतिक परिस्थितियों पर काबू पाता जा रहा है। ऐसी स्थिति में मात्र भौगोलिक परिस्थितियों को इतिहास का नियामक मानकर किसी देश के निवासी उद्यम छोड़ कर नहीं बैठ सकते। कारण कि भूगोल का तो इतिहास पर मात्र प्रभाव ही पड़ता है, किन्तु मनुष्य के क्रिया-कलापों से तो इतिहास का निर्माण होता है।

अध्ययन का उपयोग

नीचे दिए गए प्रश्नों का उत्तर दीजिए तथा अपने अध्ययन को उपयोगी बनाइए—

1. भौगोलिक परिस्थितियाँ इतिहास को कैसे प्रभावित करती हैं ?
2. भारत की भौगोलिक परिस्थितियों का यहाँ के इतिहास पर क्या प्रभाव पड़ा है ?
3. भारत की स्थिति तथा जलवायु ने यहाँ के इतिहास को कैसे प्रभावित किया है ?

4. भारत के विस्तार एवं धरातल की विविधता ने भारत के इतिहास को प्रभावित करने वाली कौनसी परिस्थितियां पैदा की हैं ?

5. भारत की प्राकृतिक सीमाओं का इस देश के इतिहास पर क्या प्रभाव पड़ा है ?

अध्ययन की जांच

सही उत्तर का क्रमाक्षर कोष्ठक में लिखिए—

1. संसार की अधिकांश जनसंख्या इस पृथ्वी-तल के मैदानी भागों में बसी है, इसका प्रमुख कारण है—
   (क) मैदानी इलाकों में जीवन-यापन की सुविधाजनक परिस्थितियाँ उपलब्ध होना।
   (ख) मैदानी इलाकों का अधिक समृद्धिशाली होना।
   (ग) मैदानी इलाकों की जलवायु का मानव के विकास के लिए अनुकूल होना।
   (घ) मैदानी इलाकों में औद्योगिक विकास की अधिक सुविधाजनक परिस्थितियाँ प्राप्त होना। ( )

2. भारत के दक्षिण का भाग वर्ष भर गर्म रहता है, कारण कि—
   (क) वह उष्ण-कटिबन्ध में स्थित है।
   (ख) वह शीतोष्ण कटिबन्ध में स्थित है।
   (ग) भूमध्य रेखा उसके निकट से निकलती है।
   (घ) इस भाग के तीनों ओर समुद्र है। ( )

3. भूगोल का इतिहास पर प्रभाव पड़ता है, किन्तु मात्र भूगोल ही किसी देश के इतिहास का नियामक नहीं है, क्योंकि—
   (क) भूगोल मात्र इतिहास को प्रभावित करता है।
   (ख) भौगोलिक परिस्थितियों को मनुष्य परिश्रम से अपने अनुकूल बना सकत है।
   (ग) वैज्ञानिक युग में यह धारणा निर्मूल हो गई है।
   (घ) भूगोल और इतिहास का सम्बन्ध अधिक घनिष्ठ नहीं है। ( )

सोच विचार कर उत्तर दीजिए—

1. हिमालय के पर्वतीय प्रदेश के भारत के इतिहास पर पड़ने वाले प्रभावों को लिखिए तथा समझाइए कि यदि हिमालय नहीं होता तो भारत का इतिहास किस प्रकार का होता ?

2. "उत्तरी भारत के मैदानी भाग तथा राजस्थान की मरुभूमि ने भारतीय इतिहास की रचना में महत्त्वपूर्ण भाग अदा किया है।" इस कथन की सत्यता का तर्क देते हुए मूल्यांकन कीजिए।

3. दक्षिण पठार एवं समुद्रतटीय प्रदेश का भारतीय इतिहास पर क्या प्रभाव पड़ा है ?

4. किसी देश के सुसमृद्ध इतिहास के निर्माण में भौगोलिक परिस्थितियाँ तथा मानवीय प्रयत्नों में से किसका योगदान अधिक महत्व रखता है और क्यों ?

निम्नलिखित क्रियात्मक कार्य भी कीजिए और अपना कौशल बढ़ाइए—

1. अविभाजित काल के भारत की सीमा रेखा मानचित्र में भारत के प्रमुख पर्वत, मैदान, नदियाँ, पठार, मरुस्थल तथा घाटियों (दर्रों) को अङ्कित कीजिए।

पूरक अध्ययन ग्रन्थ

1. राधाकुमुद मुकर्जी : हिन्दू सभ्यता
2. के. एम. पणिक्कर : ज्योग्राफिकल फैक्टर्स इन इण्डिया
3. नेथेलियन प्लाट्ट एवं म्यूरियल ट्रम्मण्ड : विश्व का इतिहास
4. आर. सी. मजूमदार : प्राचीन भारत
5. डॉ. ओम प्रकाश : प्राचीन भारत का इतिहास

अध्याय 2

सिन्धु-घाटी सभ्यता एवं समकालीन अन्य नदी-घाटी सभ्यताएँ

भारतवर्ष का इतिहास मानव-सभ्यता के प्राचीन पाषाण युग के साथ ही प्रारम्भ हो जाता है। लेकिन इस देश की सुविकसित सभ्यता और संस्कृति का इतिहास सिन्धु-घाटी सभ्यता से प्रारम्भ होता है, जो इतिहास में हड़प्पा संस्कृति के नाम से भी जानी जाती है।

सिन्धु-घाटी सभ्यता संसार की चार प्राचीन नदी-घाटी सभ्यताओं में से एक है, जिनका विकास भारत में सिन्धु और उनकी सहायक नदियों की घाटियों में, अफ्रीका में नील नदी के किनारों पर, मेसोपोटामिया (वर्तमान ईराक) में दजला-फरात नदियों के कछारों पर तथा चीन में ह्वांगहो-यांग-टीसीक्यांग नदियों के काँठों पर हुआ था। विश्व इतिहास में ये चारों सभ्यताएँ क्रमशः सिन्धु, मिश्र, मेसोपोटामिया और चीन की सभ्यता के नाम से जानी जाती हैं।

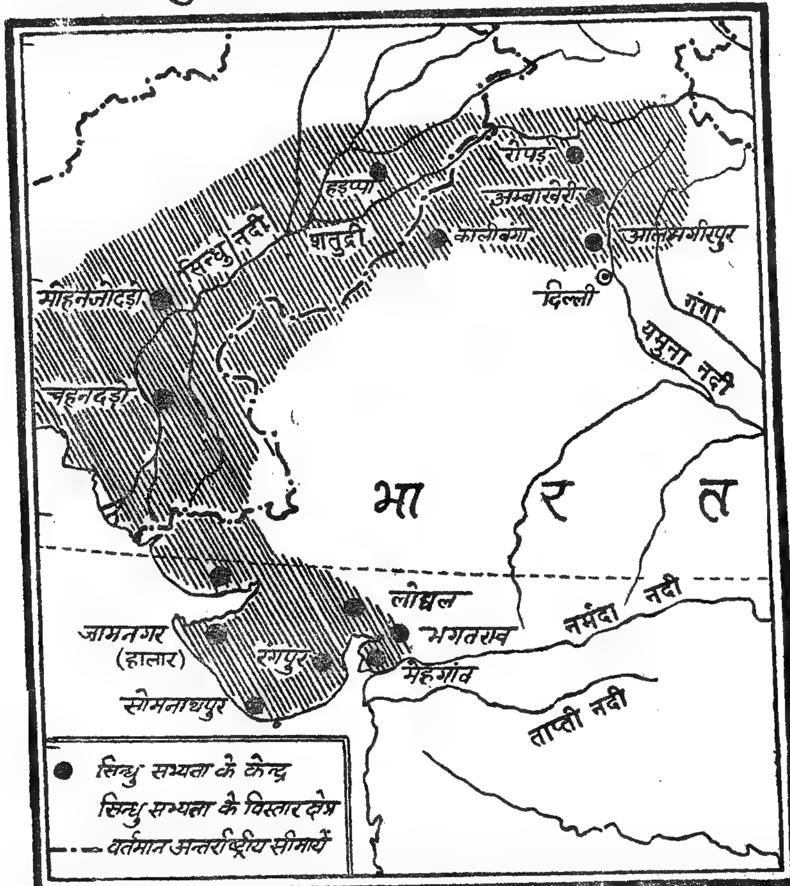
सिन्धु सभ्यता की खोज—ये चारों सभ्यताएँ समकालीन थीं।[1] लेकिन इनमें से मिस्र, मेसोपोटामिया और चीन की सभ्यताओं की खोज बहुत पहले ही हो गई

---

1. मेसोपोटामिया में चार सभ्यताएँ पनपी थीं। किन्तु उनमें से सुमेरिया की सभ्यता सिन्धु सभ्यता की समकालीन थी, अतः तुलनात्मक विवेचन में सुमेरिया के पक्षों को ही प्रस्तुत किया गया है।

थी। सन् 1920 से पहले इन तीनों को ही संसार की प्राचीन सभ्यताएं माना जाता था और भारत का इतिहास वैदिक आर्यों की सभ्यता से प्रारम्भ होता था। किन्तु

सिन्धु घाटी सभ्यता का विस्तार



Based upon Survey of India map with the permission of t Surveyor General of India

The territorial waters of India extend into the sea to a distance of twelve nautical miles measured from the appropriate base line.

1920 ई० में श्री दयाराम साहनी ने तथा 1922 ई० में राखालदास बैनर्जी ने अविभाजित भारत में क्रमशः पंजाब के माण्टगुमरी जिले में 'हड़प्पा' और सिन्धु के लरकाना जिले में 'मोहन-जोदड़ो' नामक स्थानों पर अब से लगभग पांच हजार वर्ष पहले भारत में विकसित होने वाली प्राचीन सभ्यता के चिन्ह ढूंढ़ निकाले। तब संसार को यह जानकर आश्चर्य हुआ कि केवल मिस्र, मेसोपोटामिया और चीन

ही नहीं, भारत भी बहुत प्राचीन काल में मानव सभ्यता के विकास का केन्द्र रहा है।

विस्तार क्षेत्र—सन् 1920-22 की खोजों और उसके क्रम में 1947 ई. से पूर्व के अविभाजित भारत और उसके बाद स्वतन्त्र भारत में विभिन्न स्थानों पर होने वाली पुरातात्विक खोजों के आधार पर पता चला है कि सिन्धु-सभ्यता का क्षेत्र बहुत विस्तृत था। इसका विस्तार अफगानिस्तान, बिलोचिस्तान, सिन्ध, पंजाब, पश्चिमी राजस्थान, गुजरात एवं उत्तरी भारत में गंगा घाटी तक था। मोहन-जोदड़ो हड़प्पा। चहुंदड़ो, लोहूम-जोदड़ो, दरबारकोट, घुण्डी, मेही (अब तक पाकिस्तान में हैं) तथा राजस्थान में कालीबंगा व रङ्गमहल, पंजाब में रोपड़ व दिल्ली के पास आलमगीरपुर, गुजरात में लोथल, रङ्गपुर व लिम्बड़ी तथा गंगाघाटी में कोटला-निहंग आदि स्थान सिन्धु-सभ्यता के प्रमुख केन्द्र थे। अविभाजित भारत में यह सभ्यता पश्चिम में अरब सागर के तट के समीप सुत्कगण्डोर से लेकर पूर्व में आलमगीरपुर व बहालपुर के निकट सरस्वती (अब विलुप्त) नदी के किनारे तक तथा उत्तर में शिमला की पहाडियों की तलहटी से लेकर दक्षिण में नर्मदा और ताप्ती के बीच स्थित भगत्रार तक के क्षेत्र में फैली थी। सिन्धु-सभ्यता का प्रभाव क्षेत्र उसकी समकालीन मिस्री एवं सुमेरियन सभ्यता के प्रभाव क्षेत्र से कई गुना अधिक था।

सभ्यता का काल– संसार में नदी-घाटियों में सबसे पहले सभ्यता का विकास कहाँ हुआ, इसके बारे में विद्वानों में मतभेद है। वुली हॉल, गार्डन चाइल्ड आदि विद्वानों की मान्यता है कि नदी-घाटी सभ्यताओं में सिन्धु-सभ्यता सबसे प्राचीन थी। जॉन मार्शल एवं डॉ. राधाकुमुद मुकर्जी भी इसी मत का समर्थन करते हुए मानते हैं कि सिन्धु-सभ्यता का प्रारम्भ 3250 ई. पू. से बहुत पहले हो चुका था। किन्तु डॉ. व्हीलर इस सभ्यता के विकसित रूप को 2500 ई. पू. से 1500 ई. पू. तक का मानते हैं। पुरानी वस्तुओं के समय को जानने की विज्ञान सम्मत 'कार्बन—14 परीक्षण प्रणाली, के अनुसार सिन्धु-सभ्यता के विकसित स्वरूप को 2400 ई. पू. से 1750 ई. पू. तक का माना जाता है। लेकिन बलूचिस्तान एवं मकराना में मिली पुरातात्विक वस्तुओं के आधार पर विद्वानों का मत है कि सिन्धु-सभ्यता का प्रारम्भ ई. पू. 4000 से भी पहले क्वेटा अमरी नाल, कुली, झोब आदि स्थानों पर ग्राम्य बस्तियों के रूप में हो गया था। इन्हीं बस्तियों के निवासी समय बीतने के साथ सिंधु और उसकी सहायक नदियों की घाटियों में आकर रहने लगे थे तथा उन्होंने व उनकी सन्तानों ने प्राचीन सिन्धु-सभ्यता का विकास किया। यद्यपि इस सम्बन्ध का रूप किस प्रकार का रहा होगा, यह स्पष्ट नहीं है, फिर भी सिंधु-सभ्यता की समकालीन सुमेर सभ्यता के अवशेषों के साथ सिन्धु-सभ्यता के अवशेषों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर विद्वानों की मान्यता है कि सिन्धु-सभ्यता 3250 ई. पू. तक विकसित हो चुकी थी।

सिन्धु की तरह मिस्र और सुमेर-सभ्यता के काल के बारे में भी विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। कुछ विद्वान मिस्री-सभ्यता को 10,000 ई. पू. का मानते हैं और कुछ विद्वान सुमेर-सभ्यता को मिस्री-सभ्यता से पुराना मानते हैं किन्तु वास्तविकता

क्या है इसका निर्णय निकालना अत्यधिक कठिन है। अधिकांशतया यही माना जाता है कि सिंधु, मिस्र तथा सुमेर की सभ्यताएँ लगभग समकालीन थीं और चीन की सभ्यता का प्रारम्भ निश्चयात्मक रूप में इन तीनों के बाद में हुआ था।

सभ्यता के जन्मदाता--सिन्धु, मिस्र तथा सुमेर की सभ्यताओं के जन्मदाता किस-किस जाति के थे, यह भी अब तक विवादपूर्ण है। सिंधु सभ्यता के निर्माताओं के बारे में सर्वश्री लक्ष्मणस्वरूप, रामचन्द्रन, शंकरानन्द, दीक्षितार तथा पुसलेकर आदि विद्वानों की मान्यता है कि ये आर्य थे। लेकिन गार्डन चाइल्ड आदि पाश्चात्य विद्वान इस सभ्यता का विकास करने वालों को सुमेरियन मानते हैं और उन्हें 'किश' जाति का बताते हैं। इसके विपरीत कुछ विद्वान बलूचिस्तान आदि भागों में बोली जाने वाली 'ब्रूही' भाषा तथा द्रविड़ों की भाषा में समानता के आधार पर 'द्रविड़ों' को इस सभ्यता के निर्माता मानते हैं। किन्तु पुष्ट प्रमाणों के अभाव में ये सभी मत विवादास्पद हैं। कर्नल स्यूअल आदि विद्वानों ने सिंधु सभ्यता के विभिन्न केन्द्रों पर प्राप्त नर-कंकालों की शारीरिक बनावट के विश्लेषण के आधार पर सिंधु-सभ्यता का विकास करने वालों को आदि-आग्नेय (प्रोटो-आस्ट्रोलाइड) भूमध्य-सागरीय मंगोलिद तथा एल्पाइन, इन चारों मानव की मूल उपजातियों से सम्बन्धित बताया है। ऐसी स्थिति में यह माना जा सकता है कि इस सभ्यता के विकास में मानव की विविध उपजातियों का योगदान रहा होगा। फिर भी जब तक सिन्धु-सभ्यता के स्थानों की खुदाई में प्राप्त मोहरों पर अंकित लिपि को भली प्रकार पढ़ नहीं लिया जाता, तब तक यह निर्णय निकाल पाना कठिन है कि वास्तव में इस सभ्यता का जन्म देने और विकसित करने वाले कौन और किस जाति के थे।

सिंधु-सभ्यता की भाँति मिस्र की सभ्यता के जन्मदाताओं के बारे में विद्वानों की मान्यता है कि मिस्र में सभ्यता का विकास करने में भी लीबियन, सेमेटिक आरमीनॉयड या ईजियन आदि विविध जातियों का योग रहा होगा। सुमेरियन सभ्यता के जन्मदाताओं के बारे में विद्वानों की अलग-अलग राय है। कुछ उन्हें मूलतः समेरियन ही मानते हैं, कुछ उनका द्रविड़ होना बताते हैं तो कुछ विद्वान उन्हें आर्य और सेमेटिक जाति का मानते हैं। अतः सुमेरिया की सभ्यता के जन्मदाताओं का प्रश्न भी अनिर्णीत ही रहा है। हाँ, चीन की सभ्यता के विकास करने वालों को मंगोलिद परिवार का चीनी जाति का माना जाता है।

सिन्धु सभ्यता की विशेषताएँ :

योजनाबद्ध नगर-निर्माण—सिन्धु-सभ्यता के विभिन्न केन्द्रों पर उस युग के भारतवासियों की सभ्यता की कई विशेषताओं को बताने वाली वस्तुएँ मिली हैं। उन सभी वस्तुओं से प्रकट होता है कि उन्होंने जीवन के विभिन्न पक्षों में काफी प्रगति कर ली थी। उनकी बढ़ी-चढ़ी सभ्यता को प्रकट करने वाले उनके नगरों के अवशेष वास्तव में आश्चर्य में डालने वाले हैं। उनको देखकर यही लगता है कि जैसे वे किसी पूर्ण विकसित देश के आधुनिक नगर रहे हों।

सिंधु-सभ्यता काल के विभिन्न नगरों में से मोहन-जोदड़ो, हड़प्पा और राजस्थान में स्थित कालीबंगा के अवशेष विशेष महत्व रखते हैं। इन नगरों के स्थापत्य-शिल्प और उनकी आधार-योजना में समानता व उच्चकोटि की व्यवस्था देखकर यही लगता है कि सिंधुवासी अपने नगरों का निर्माण पहले योजना बनाकर करते थे और उन नगरों की निर्माण-योजना बनाने वाले और रचना करने वाले इंजीनियर नगर-रचना-शास्त्र के ज्ञाता, अनुभवी एवं दूरदर्शी थे।

सड़क—सिंधुवासियों के योजनाबद्ध नगर-निर्माण की आधार-पीठिका नगरों की प्रमुख सड़कें थीं। ये सड़कें पूर्व से पश्चिम तथा उत्तर से दक्षिण की ओर सीधी समानान्तर जाती थीं और एक दूसरे को समकोण पर काटती थीं, जहाँ चौराहे बने होते थे। इन नगरों की मुख्य सड़कें $10\frac{1}{2}$ मीटर, छोटी सड़कें $5\frac{1}{2}$ मीटर तथा गलियों की सड़कें $\frac{3}{4}$ से $1\frac{1}{2}$ मीटर तक चौड़ी होती थीं। साधारणतया सड़कें कच्ची होती थीं। किन्तु इनकी स्वच्छता पर पूरा ध्यान रखा जाता था। प्रधान मार्गों पर पकाई गई ईंटें बिछाई जाती थीं।

सिंधु-सभ्यता की भाँति मिस्र तथा मेसोपोटामिया में भी योजनाबद्ध रीति से नगर निर्माण किया जाता था। किन्तु, सिन्धुवासियों के नगरों के समान उनके नगर पूर्णतया सुव्यवस्थित नहीं होते थे। सुमेरिया के नगरों में सड़कें व गलियाँ संकरी एवं टेढ़ी-मेढ़ी होती थीं। चीनियों के नगरों व स्थापत्य-स्मारकों के पर्याप्त अवशेष नहीं होने से उनकी नगर-निर्माण कला के बारे में कुछ कह पाना कठिन है। ऐसी स्थिति में नगर-रचना ज्ञान की दृष्टि से सिन्धुवासी अन्य समकालीन सभ्यताओं से बढ़े-चढ़े थे।

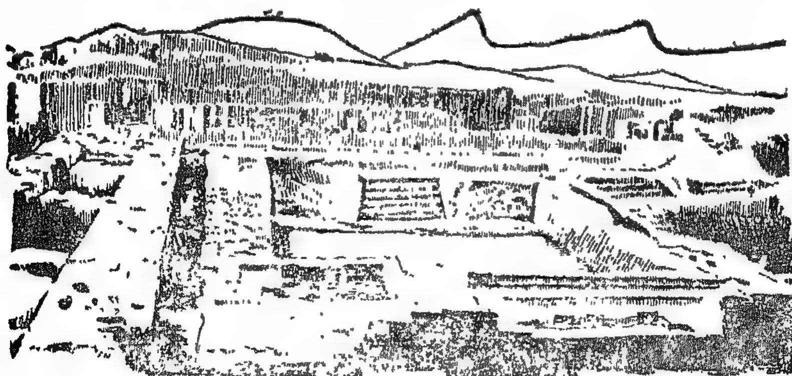
मकान और भवन—सिन्धुवासियों के नगर कई खण्डों और मोहल्लों में विभक्त होते थे। सड़कों और गलियों के दोनों ओर निश्चित योजनानुसार मकान बनाए जाते थे। मकान नींव डालकर बनाए जाते थे तथा उनकी चिनाई कच्ची व पक्की ईंटों, मिट्टी, चूने या जिप्सम से की जाती थी। धनी लोगों के मकान पक्के तथा दुमंजिले होते थे, जिनमें सीढ़ियाँ, दरवाजे, खिड़कियाँ, रोशनदान आदि का उचित प्रबन्ध होता था। मकानों के फर्श पक्के तथा छतें लकड़ी की होती थीं। भिन्न-भिन्न कार्यों के लिए अलग-अलग कमरे होते थे। प्रत्येक मकान में आँगन रखने का रिवाज था। मकानों में पानी रखने के फिरोने या परेंडे तथा अलग से स्नानागार बनाए जाते थे और कुएँ खुदवाने का भी रिवाज था। श्रमिकों के मकान कच्चे, संकरे व एक मंजिल के होते थे। मकानों में स्वच्छता के प्रबन्ध के लिए छोटी-छोटी नालियाँ होती थीं, जिनका सम्बन्ध गली या सड़क की नालियों से होता था। मकानों के दरवाजे मुख्य सड़क की तरफ न होकर गलियों की ओर होते थे। बाढ़ से बचने के लिए मकानों के आगे कच्चे चबूतरे बनाए जाते थे।

सिन्धुवासियों की भाँति सुमेरियावासी भी पत्थर के अभाव में धूप में सुखाई गई ईंटों से मकान बनाते थे। सुमेरिया के मकानों में भी कुएँ तथा आँगन रखे जाते थे किन्तु उनके मकानों में हवा रोशनी का ठीक प्रकार से प्रबन्ध नहीं होता था। फिर भी उन्होंने भवनों में स्तम्भों और मेहराबों का प्रयोग प्रारम्भ किया था। सिंधु

और सुमेर में जहाँ मकान मिट्टी और ईंटों के बनते थे वहाँ मिस्र के मकानों के निर्माण में पत्थरों का प्रयोग होता था। मिस्रवासी पत्थरों से बने हुए विशाल सुन्दर एवं सुसज्जित मकान बनाते थे। चीनी स्मारकों के अवशेषों के अभाव में, उनके मकानों की क्या विशेषता थी, यह बताया जाना कठिन है।

विशेष इमारतें – सिन्धु प्रदेश के नगरों की खुदाई में मुख्यतया हड़प्पा और मोहन-जो-दड़ों में कुछ विशेष प्रकार के भवनों के अवशेष निकले हैं। हड़प्पा में सात-सात मकानों की दो पंक्तियाँ मिली हैं, जिनके समीप सोलह भट्टियाँ है। इन्हें देखकर यह अनुमान लगाया जाता है कि ये श्रमिकों के मकान होंगे। इन मकानों के उत्तर में बड़े-बड़े अठारह गोलाकार चबूतरों और इन चबूतरों के उत्तर में छह-छह कमरों की दो पंक्तियों में बने बड़े-बड़े भवन मिले हैं जिनके बारे में विद्वानों का अनुमान है कि चबूतरे अन्न-पीसने तथा भवन अन्न-संग्रहीत करने के काम में आते होंगे।

स्नानागार—मोहन-जो-दड़ों में सबसे महत्वपूर्ण खंडहर एक विशाल स्नानागार के रूप में मिला है। इस स्नानागार के मध्य में प्रधान स्नान-कुण्ड, पूर्व, पश्चिम तथा दक्षिण में बरामदे और उनके पीछे छोटे-छोटे कमरे बने हैं। प्रधान स्नान-कुण्ड के उत्तर की ओर मार्ग के लिए जगह छोड़कर आठ छोटे-छोटे स्नानगृह बने हुए हैं, जिनमें प्रत्येक में स्वतः पानी आने की व्यवस्था है। इनके एक तरफ ऊपर की ओर जाने की सीढ़ियाँ लगी हैं। सीढ़ियों के आधार पर अनुमान लगाया जाता है कि यह स्नानागार दो मंजिल का था। इस स्नानागार की पूरी लम्बाई 54 मीटर तथा चौड़ाई 33 मीटर है और इसके मुख्य स्नान-कुण्ड की लम्बाई 12 मीटर, चौड़ाई 7 मीटर और गहराई 25 मीटर हैं। मुख्य कुण्ड में उतरने के लिए दोनों ओर सीढ़ियाँ बनी है। स्नानागार का फर्श पक्की ईंटों का बनाया गया हैं और सीलन से बचने के लिए राल का लेप किया गया है। स्नान-कुण्ड से गन्दा पानी निकालने के



मोहन-जो-दड़ो के स्नानागार के खण्डहर

लिए दक्षिणी भाग में एक नाली बनी है। इस स्नानागार की पूरी व्यवस्था सिन्धु-वासियों के उच्चस्तरीय जीवन की झलक देती हैं। यद्यपि अभी तक यह स्पष्ट नहीं

हो पाया है कि इस स्नानागार का मुख्य उपयोग क्या था, किन्तु विद्वानों का अनुमान है कि यह स्नानागार धार्मिक अवसरों पर पुजारियों या शासक वर्ग के विशेष समारोहपूर्ण स्नान के उपयोग में आता होगा।

मोहन-जो-दड़ो के इसी स्नानागार के पश्चिम में एक विशाल भवन के अवशेष हैं जिसे ह्वीलर ने अन्नागार बताया है। इसी तरह स्नानागार के उत्तर-पूर्व में बने भवन को विद्वानों ने उच्च पदाधिकारी या धर्माध्यक्ष का निवास स्थान बताया है। स्नानागार के पास ही एक बड़े चौरस हॉल के अवशेष भी मिले हैं जिसमें खम्भे तथा बैंचों की तरह पत्थर लगे हैं। मेके नामक विद्वान ने इसे हाट बाजार लगाये जाने का स्थल बताया है, पर भारतीय विद्वान श्री दीक्षित इसे सामूहिक धार्मिक चर्चाओं का स्थान मानते हैं।

सिन्धुवासियों की भाँति मिस्र और सुमेर में भी विशेष प्रकार की इमारतें बनाई जाती थीं। इसमें मिस्र के पिरामिड और मन्दिर तथा सुमेर के जिग्गुरत अधिक प्रसिद्ध हैं। पिरामिड मिस्र के फरोहाओं को दफनाने के लिए बनाए गए पत्थर के पहाड़ से स्मारक हैं। ये अन्दर से सुसज्जित कमरों में विभक्त हैं। इनका स्थान विश्व के सात आश्चर्यों में है। पिरामिडों के अतिरिक्त मिस्र में कारनाक, थीब्ज तथा लक्सर के बने मन्दिर भी अपनी विशालता और पत्थर की खुदाई के लिए प्रसिद्ध हैं। सुमेर के जिग्गुरत भी मन्दिरों के रूप में बनाए गए विशाल भवन समूह की तरह हैं, जिनमें भण्डार-गृह तथा अन्य कार्यों के अलग-अलग भवन होते थे। जिग्गुरत खगोल-सम्बन्धी अध्ययन के लिए वेधशालाओं के रूप में भी काम में आते थे। चीन की सभ्यता के विशिष्ट स्थापत्य स्मारकों के नहीं होने से प्रकट होता है कि स्थापत्य-कला मे प्राचीन चीनवासियों की रुचि कम थी। फिर भी चीन की विशाल दीवार से यह प्रकट होता है कि वे विशाल स्थापत्य-स्मारकों का निर्माण करना जानते थे।

नदी-घाटियों में विकसित होने वाली इन चारों सभ्यताओं के स्थापत्य-स्मारकों की विशेषताओं के आधार पर प्रकट होता है कि सिन्धु एवं सुमेर सभ्यता के भवन निर्माण के साधनों एवं स्वरूप में काफी समानता थी। किन्तु मिस्री सभ्यता स्थापत्य-स्मारक विशाल, कलात्मक एवं सौन्दर्यता लिए हुए होते थे, जिनकी सिन्धु प्रदेश में कमी थी।

स्वच्छता—सिन्धुवासी अपने स्वास्थ्य और स्वच्छता के प्रति बड़े जागरूक थे उन्होंने अपने मकानों और नगरों से गन्दा पानी निकालने के लिए नगरों में नालियों का जाल बिछा रखा था। प्रायः प्रत्येक सड़क और गली के दोनों ओर नालियाँ होती थीं जो पक्की ईंटों की बनी होती थीं। चौड़ी नालियों को ढकने के लिए उन पर उठवाँ बड़ी-बड़ी ईंटें और पत्थर रखे जाते थे। बड़ी-बड़ी गटरें सड़क के नीचे (Under ground) बनाई गई थीं। गटरों की स्वच्छता की जाँच के लिए निश्चित सीमाओं पर गड्ढे बने होते थे और उन पर जालियाँ लगी होती थीं। घरों की छोटी नालियाँ गलियों की नालियों से और गलियों की नालियाँ सड़कों की नालियों से मिलती थीं, जो आगे मुख्य सड़क की गटरों से मिलती थीं। सभी गटरें

व गड्ढ समय-समय पर साफ किए जाते थे। नालियों के सिवाय मकानों व सड़कों पर स्थान-स्थान पर कूड़ा-कचरा डालने के लिए कूड़ादान रखे रहते थे, जिनकी रोज सफाई होती थी। इन नगरों के सार्वजनिक स्थानों पर लगे खम्भों से लगता है कि रात्रि में रोशनी की व्यवस्था भी की जाती थी। सिन्धु-सभ्यता के नगरों में व्यक्तिगत एवं सार्वजनिक स्वच्छता के इस प्रबन्ध और उनके नगरों व मकानों की बनावट से से यह स्पष्ट होता है कि सिन्धु-सभ्यता काल के निवासियों का जीवन उच्चस्तर का था, किन्तु वे बाहरी शोभा के स्थान पर सुविधा का अधिक ध्यान रखते थे।

सिन्धुवासियों की तरह मिस्रवासी एवं सुमेरियावासी भी अपने नगरों की सफाई एवं स्वास्थ्य पर ध्यान देते थे। पर जिस उच्च कोटि की स्वच्छता की व्यवस्था सैन्धव नगरों में मिलती है। उसका मिस्रो व सुमेरिया अवशेषों में अभाव है, इसी कारण विद्वानों ने सिन्धु-सभ्यता का उच्च नागरीय सभ्यता कहा है। चीनी सभ्यता के बारे में स्पष्टतया कुछ कह पाना कठिन है।

राजनैतिक संगठन

प्राचीन सिन्धुवासियों के राजनैतिक संगठन के बारे में प्रमाणों के अभाव में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। लेकिन उनके सुव्यवस्थित नागरिक जीवन और विभिन्न नगरों की योजना में एकरूपता के आधार पर किसी शक्तिशाली केन्द्रीय राजसत्ता के होने का अनुमान लगाया जा सकता है। उसके नगर प्रबन्ध के आधार पर कुछ विद्वान उस काल में नगरपालिका जैसी किसी संस्था के होने का भी अनुमान करते हैं। सिन्धु सभ्यता के उच्च व्यापारिक स्तर तथा व्यवस्थित नागरिक जीवन के आधार पर यह भी माना जाता है कि उनके कोई व्यापारिक नियम-विधान और संगठित सरकार रही होगी। सिन्धु सभ्यता से शासक प्रशासन और धर्म दोनों के प्रधान अधिकारी होते थे या नहीं, यह कहना कठिन है। लेकिन यह अवश्य सोचा जा सकता है कि यदि उनकी सरकार वस्तुतः शक्तिशाली थी, तो उसे धर्म का सहारा अवश्य प्राप्त रहा होगा।

जहाँ एक ओर सिन्धु सभ्यता के राजनैतिक संगठन के ज्ञान का अभाव है, वहाँ दूसरी ओर मिस्र, मेसोपोटामिया और चीन के राजनीतिक संगठन की विस्तृत जानकारी के प्रचुर साधन उपलब्ध हैं। उनके राजा 'फरोहा' पृथ्वी पर देवता के प्रतिनिधि माने जाते थे और वे निरंकुश होते थे। प्रशासनिक कार्यों में सहयोग देने के लिए एक मन्त्रिपरिषद् होती थी। सुमेरिया में शासक धर्म और शासन दोनों का प्रधान माना जाता था। उसे 'पटेसी' कहा जाता था, किन्तु वह निरंकुश नहीं होता था। पटेसी के सहयोग के लिए वयस्कों की एक सभा होती थी। चीन में सम्राट् राज्य का सभी दृष्टियों से सर्वोच्च अधिकारी होता था, किन्तु उस पर 'सेन्सर' नामक व्यक्ति का नियन्त्रण रहता था, जो प्रशासनिक परिषद् का अध्यक्ष होता था। चीन में भी प्रशासन में सहयोग के लिए महान् मन्त्रिपरिषद् होती थी।

सामाजिक जीवन

समाज का स्वरूप—सिन्धु सभ्यता के विभिन्न केन्द्रों पर खुदाई में मिली वस्तुओं से तत्कालीन लोगों के विभिन्न प्रकार के काम धन्धों की जानकारी होती है। उसके आधार पर विद्वानों ने सिन्धु सभ्यता काल के निवासियों के समाज को मुख्यतया विद्वान, योद्धा, व्यापारी और कारीगर—इन चार भागों में विभक्त किया है। ये चारों भाग संभवतया उच्च तथा निम्न दो वर्गों में विभाजित रहे होंगे। पुजारी, पदाधिकारी, व्यापारी, ज्योतिषी, वैद्य एवं जादूगर, उच्च वर्ग के समझे जाते होंगे तथा कृषक, बढ़ई, कुम्हार, मच्छुए, मल्लाह, गाड़ीवान, चरवाहे आदि निम्न वर्ग के रहे होंगे।

कुटुम्ब—खुदाई में प्राप्त भवन और उनमें पृथक-पृथक परिवारों के रहने की योजना से लगता है कि सिन्धु सभ्यता-काल में समाज की प्रमुख इकाई परिवार थी। माता-पिता, भाई-बहिन, पुत्र-पुत्री आदि एक साथ रहते थे। संयुक्त परिवार प्रणाली प्रचलित थी। सम्भवतः परिवार मातृ-सत्ता प्रधान होते थे, इसका आभास खुदाई में बहुत अधिक मात्रा में मिलने वाली नारी की मातृ देवी की असंख्य मूर्तियों से होता है।

नारी का स्थान—समाज में नारी का आदरपूर्ण स्थान था। नारी का मुख्य कार्य बालकों का पालन करना तथा घरों में सूत कातना था। खुली मूर्तियों के प्राप्त होने के आधार पर कहा जा सकता है कि पर्दा-प्रथा का प्रचलन नहीं था तथा स्त्रियाँ धार्मिक व सामाजिक उत्सवों में समान रूप से सम्मिलित होती थीं।

रहन-सहन—यद्यपि सिन्धु प्रदेश की खुदाई में अधिकतर-मूर्तियाँ नग्न मिली हैं, फिर भी चाँदी के एक घड़े पर लिपटे कपड़े और मूर्तियों पर बने वस्त्रों के आकार के आधार पर यह प्रकट होता है कि वे लोग निश्चित रूप में कमर तक कोई कपड़ा पहनते थे और उच्च वर्ग के लोग ऊपरी भाग को शाल से ढकते थे, जो दाहिने हाथ से नीचे होकर बाएँ कंधे पर डाला जाता था। स्त्रियाँ कमर में मेखला बाँधती थीं। इसके साथ ही उस सभ्यता की उच्चता तथा व्यावसायिक उन्नति बताने वाली सामग्री के आधार पर यह माना जाता है कि वे लोग भिन्न-भिन्न ऋतुओं में भिन्न-भिन्न प्रकार के ऊनी व सूती कपड़े पहनते थे तथा उन्हें शरीर-सज्जा का शौक था पुरुष दाढ़ी-मूँछे रखते थे तथा बालों को आधा कटवाते थे और कभी-कभी मूँछे मुड़वाते थे। स्त्रियाँ विविध प्रकार से केश विन्यास करती थीं और सिर पर विशेष प्रकार की शिरोभूषा पहनती थीं। सिन्धु-सभ्यता प्रदेश की खुदाई में काँच, कंघे, सिन्दूर, मुखलेप पाउडर से पदार्थ, काजल आदि के अवशेष मिले हैं इससे स्पष्ट होता है कि शृङ्गार प्रसाधनों का प्रयोग करके तथा विविध आभूषण पहनकर सिन्धुवासी अपने शरीर को सजाते थे। खुदाई में कण्ठहार, कर्णफूल, हँसली, बाजूबंद, कड़े, छल्ले, अँगूठियाँ, पायजेब तथा नाक में पहनने के आभूषण प्रमुख रूप से मिले हैं। ये विभिन्न धातुओं के बने होते थे और किन्हीं-किन्हीं पर पच्चीकारी का काम भी किया जाता था।

धनी वर्ग के लोग सोने-चाँदी, माणिक्य के बने आभूषण पहनते थे तथा गरीब लोग ताँबा, हड्डी और मिट्टी के आभूषण पहनते थे।

खान-पान--अपने रहने के स्तर की तरह ही सिन्धुवासियों का खान-पान भी उच्च स्तर का था। गेहूँ, जौ, चावल, दाल, तिल, राई तथा विविध सब्जियाँ उनके खाद्य पदार्थ थे। मछली, गाय, सूअर तथा भेड़ व मुर्गे का माँस भी खाया जाता था। वे दूध का भी विविध प्रकार से उपयोग करते थे। इसके सिवाय वे खजूर, केला, अनार, नारियल, नीबू आदि फलों का भी उपयोग करते थे।

आमोद-प्रमोद—सिन्धुवासी दैनिक कार्य की थकान व ऊब से अपने आपको हल्का करने के लिए विविध प्रकार के साधनों से मनोरंजन करते थे। मछली पकड़ना और शिकार करना उनका प्रिय कार्य था। खुदाई में हाथी दाँत, मिट्टी और पत्थर के पासे मिले हैं तथा ईंट का एक टुकड़ा मिला है, जिस पर गेमबोर्ड-सी रेखाएँ बनी है। इससे अनुमान होता है कि वे पासे या शतरंज के समान किसी खेल से परिचित थे। इसके अलावा वे मुर्गों की लड़ाई, पशु-युद्ध, व्यायाम आदि से मनोरंजन करते थे। बालकों के लिए धातु, पत्थर और मिट्टी के पशु-पक्षियों की आकृति के खिलौने, गाड़ियाँ, सीटियाँ आदि बनाई जाती थीं। बालिकाएँ गुड़ियों से खेलती थीं और स्त्रियों में नृत्य, संगीत आदि का प्रचार था।

सामाजिक वर्ग विभाजन की दृष्टि से मिस्र में समाज के वर्गों का निर्धारण मूलत. जन्म और आर्थिक स्थिति के आधार पर होता था। सुमेर में कानून समाज को तीन वर्गों में बाँटा गया था, चीन में मूलतः कर्म के आधार पर समाज दो वर्गों में विभक्त था। किन्तु वर्ग विभाजन के अन्तर के विपरीत इन चार सभ्यताओं की पारिवारिक प्रणाली में संयुक्त परिवार प्रथा एवं परिवार का मातृसत्तात्मक होना आश्चर्यजनक समानता लिए हुए है। (चीन में बाद के युग में परिवार पितृसत्तात्मक हो गए थे।) इसी तरह समाज में स्त्रियों का भी चारों सभ्यताओं में सम्मानित स्थान था और उन्हें कई अधिकार प्राप्त थे। (बाद के युग में मुख्य कर चीन में स्त्रियों की स्थिति कमजोर होती गई।)

सामाजिक दृष्टि से सिन्धुवासियों और मिस्रवासियों में एक विशेष समानता थी। मिस्र में भाई-बहन का विवाह हो सकता था और विद्वानों का अनुमान है कि सिन्धुवासियों में भी यह प्रथा रही होगी। इसी तरह रहन-सहन की दृष्टि से सुमेर-के पुरुष मूँछें मुड़वाते थे और सिर पर केशबन्ध बांधते थे। यह सुमेर और सिन्धु-सभ्यता का पारस्परिक आदान-प्रदान का ही प्रभाव लगता है।

आर्थिक संगठन

विश्व की प्रत्येक प्राचीन नदी घाटी सभ्यता के आर्थिक संगठन में कृषि, व्यापार और उद्योग का प्रमुख स्थान रहा है। भारत में विकसित होने वाली सिन्धु-सभ्यता के निवासी भी अपनी अर्थ-व्यवस्था के लिए इन तीनों आधारों पर निर्भर थे।

कृषि—सिन्धु प्रदेश का अधिकांश भाग उस युग में बड़ा उपजाऊ था; वहाँ वर्षा खूब होती थी, सिंचाई के जल की कमी नहीं थी, फलस्वरूप इस प्रदेश में अच्छी खेती होती थी। उत्खनन में गेहूँ तथा जौ के दाने मिले हैं। उनसे तथा अन्य वस्तुओं पर बने चित्रों के आधार पर पता चलता है कि सिन्धुवासी गेहूँ, जौ, चावल, तिल, आदि की खेती करते थे तथा केला, अनार, खजूर, नारियल, नीबू आदि फल उगाते थे। सूती कपड़े के धागे के अवशेष से अनुमान लगाया जाता है कि वे कपास भी उत्पन्न करते थे। किन्तु हल अथवा कृषि के औजारों के अभाव में यह निश्चय-पूर्वक नहीं बताया जा सकता कि खेती का उनका तरीका क्या था और वे सिंचाई कैसे करते थे। सिन्धु सभ्यता स्थलों की खुदाई में अनाज भरने के कई बड़े-बड़े बर्तन मिले हैं। उनसे और अन्नगारों के अवशेषों से पता चलता है कि खेती से अनाज लाकर बड़े-बड़े गोदामों में रखा जाता था और वहाँ दैनिक उपयोग के अलावा बचे अनाज को इकट्ठा रखा जाता था।

पशुपालन—कृषि के साथ पशुपालन सिन्धुवासियों का दूसरा मुख्य व्यवसाय था। गाय, बैल, भैंस, भेड़, हाथी, सूअर, कुत्ता आदि उनके पालतू पशु थे। खुदाई में मिली मुद्राओं पर बने बैल के चित्रों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि पालतू पशुओं में बैल का महत्व अधिक था। घोड़े से वे परिचित थे या नहीं, इसके बारे में इतिहासकारों को सन्देह है। इसके अतिरिक्त गेंडा, चीता, बाघ, भालू आदि अन्य पशुओं से भी परिचित थे।

व्यापार—सिन्धुवासियों के आर्थिक जीवन का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष व्यापार-वाणिज्य था। इसलिए इतिहास में यह एक व्यापार प्रधान सभ्यता के रूप में प्रसिद्ध है। यहाँ के निवासी दक्ष व्यापारी थे। वे अन्तर्राष्ट्रीय और अन्तर्देशीय, दोनों प्रकार की व्यापार-व्यवस्था से परिचित थे। भारत में वे पूर्वी-दक्षिणी भारत, कश्मीर, मैसूर, नीलगिरी, राजस्थान व बिलोचिस्तान आदि प्रदेशों से व्यापार करते थे। इन स्थानों से विविध प्रकार की धातुएँ, मूल्यवान पत्थर, लकड़ी सिन्धु प्रदेश में जाती थी। इस सभ्यता के प्रमुख नगर मोहन-जो-दड़ों, हड़प्पा, चहूनूडो, कालीबंगा, लोथल आदि व्यापारिक सम्बन्धों से जुड़े थे। नगरों में व्यापार व्यवसाय की बड़ी-बड़ी दूकानें होती थीं।

विदेशी व्यापार—भारत के अतिरिक्त मिस्र, सुमेर, सीरिया आदि दूर देशों से इनके घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध थे। भारत का कढ़ाई किया हुआ कपड़ा, शृंगार प्रसाधन, मासाले, लकड़ी, सोने-चाँदी आभूषण, गुड़ियाएँ, खिलौने तथा कई प्रकार का कच्चा माल विदेशों को जाता था। सिन्धु व मेसोपोटामिया की खुदाई में प्राप्त कई वस्तुओं में समानता इस बात का प्रमाण है कि उनमें आपस में वस्तुओं का क्रय-विक्रय होता था। व्यापारिक लेन-देन निश्चित माप तोल के आधार पर होता था। व्यापारिक-विनिमय वस्तु तथा मुद्राओं, दोनों के आधार पर होता था। चहूनूदड़ो तथा कालीबंगा की खुदाई में तोल के अनेक बाट मिले हैं जो चर्ट नामक पत्थर के बने हैं। ये बाट 1,2,4, 8 और इसी प्रकार के अनुपात में आगे भारी बाट के रूप में

इनके वजन के अनुपात में तनिक भी अन्तर नहीं है। मोहन-जोदड़ो सीप की एक-एक टूटी पटरी (स्केल) मिली है, इसका सही नाप वर्तमान 13 2 इंच का है। अवशेष उनके उन्नत और विकसित व्यापारिक ज्ञान मे परिचायक हैं।

यातायात—व्यापारिक यातायात बैलों, ऊंटों, गाड़ियों, रथों तथा नावों से होता था। उनके नगरों में बनी विस्तृत सड़कें इस बात का प्रमाण है कि आन्तरिक व्यापार को सुगम और सुविधाजनक बनाने के लिए ही उन्होंने बड़ी-बड़ी व चौड़ी सड़कों का निर्माण किया था। सिन्धु तथा उनकी सहायक नदियों से भी नौकाओं द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान पर सामान लाया ले जाया जाता था। विदेशों से स्थल तथा जल दोनों मार्गों से व्यापार होता था। ऊंटों व गाड़ियों पर लाद कर बिलोचिस्तान से होकर स्थल मार्ग से विदेश में माल जाता था। जल मार्गों से बड़ी-बड़ी नौकाओं और जहाजों से व्यापार होता था। इसके प्रमाण में खुदाई में प्राप्त एक मोहर मिली है, जिस पर बिना मस्तूल के जहाज का चित्र बना है। गुजरात में लोथल नामक स्थान पर खुदाई में निकली एक गोदी (बन्दरगाह) के अवशेषों से पता चलता है कि यह समुद्री यातायात का केन्द्र था और उनका जल यातायात भी काफी विकसित था। इस प्रकार व्यापार तथा यातायात की उन्नत व्यवस्था के कारण ही सिन्धु सभ्यता को एक व्यापार प्रधान सभ्यता कहा जाता है।

आर्थिक जीवन की दृष्टि से सिन्धु और मिस्र, सुमेर एवं चीन की सभ्यताओं में पर्याप्त समानता थी। इन चारों सभ्यताओं के आर्थिक जीवन का मूल आधार कृषि था तथा उद्योग दस्तकारी और व्यापारिक क्षेत्र में सभी ने विकास किया था। किन्तु सिन्धु सभ्यता में व्यापार को तुलनात्मक दृष्टि से अधिक महत्व प्राप्त था और सुमेर में पशुपालन पर कुछ विशेष आग्रह था। यातायात की दृष्टि से मिस्र और सुमेरिया-वासियों ने स्थल एवं जल दोनों प्रकार के यातायात साधनों का विकास किया था। इस क्षेत्र में सुमेरिया की सभ्यता का विकास करने वालों ने सर्वप्रथम पहिये का यातायात वाहनों में उपयोग कर विश्व को एक महत्वपूर्ण देन दी थी।

उद्योग एवं कला—सिन्धु-सभ्यता काल में भारत में कई उद्योग धन्धे भी पनप चुके थे। सिन्धुवासी सूत, ऊन, मिट्टी, धातु पत्थर आदि की विविध प्रकार की वस्तुएं बनाते थे।

सिन्धु प्रदेश के चिहनूदड़ो की खुदाई में एक चांदी के घड़े पर वस्त्र और अन्य स्थानों पर सूत के धागे मिले हैं। साथ ही विभिन्न स्थानों पर खुदाई में मिली मूर्तियों पर वस्त्र बने दिखाए गए हैं। इनके आधार पर स्पष्ट होता है कि सिन्धुवासी, सूत, ऊन आदि को कातना तथा उनके कपड़े बुनना जानते थे। इतिहास वेत्ता के० ए० नीलकण्ठ शास्त्री ने लिखा है कि सिन्धुवासियों द्वारा निर्मित मलमल का प्रयोग मिस्र में ममी पर लपेटने के लिए किया जाता था। सिन्धुवासी कपड़ों पर तरह-तरह की डिजाइने बनाते थे और उन्हें रंगते भी थे। रंगरेजों का व्यवसाय भी विकसित था।

मिट्टी के व्यवसाय एवं मिट्टी की कलाकृतियां

बर्तन—सिन्धु सभ्यता स्थलों की खुदाई में प्राप्त मिट्टी के बर्तनों से पता चलता है कि वे लोग मिट्टी के बर्तन बनाने में निपुण थे। यद्यपि खुदाई में कुम्हार

की चाक का कोई चिह्न नहीं मिलता है किन्तु बर्तनों की बनावट और आकार से प्रकट होता है कि वे चाक पर ही बनाए जाते थे और उन्हें आग में पकाया जाता था। बर्तनों पर चित्रकारी भी की जाती थी।

मुद्राएं—बर्तनों के सिवाय सिन्धुवासी कुम्हार मिट्टी की मुद्राएं या मोहरें (स्टाम्स) भी बनाते थे। सिन्धु प्रदेश की खुदाई में सैकड़ों की संख्या में ऐसी मोहरें मिली हैं। इन मोहरों या मुद्राओं पर विविध पशु-पक्षी व पेड़ पौधों के उभरे चित्र बने हैं और उन पर कुछ विशेष लेख भी लिखे गए हैं। दुर्भाग्यवश उन्हें अभी तक पढ़ा नहीं जा सकता है। फिर भी उन मुद्राओं से उनके उन्नत हस्त-कौशल का परिचय मिलता है। अनुमान है कि व्यापारिक आदान-प्रदान के लिए तथा ताबीज के रूप में इनका प्रयोग होता होगा। नवीनतम शोधों के अनुसार यह भी माना जाने लगा है कि मुद्राएं सन्देश भेजने के लिए सील के रूप में काम आती होंगी।

मूर्तियां और खिलौने—मुद्राओं के सिवाय खुदाई में मिट्टी की असंख्या मूर्तियाँ व खिलौने भी मिले हैं। मूर्तियाँ अधिकतर नारी की हैं। उनके सिर पर पंखों का सा मुकुट बना है और वे आभूषण पहने बताई हैं। इससे विद्वान अनुमान लगाते हैं कि वे मातृदेवी की मूर्तियाँ होंगी और उनका धार्मिक महत्व रहा होगा। इनके सिवाय शेष मिट्टी की मूर्तियाँ स्त्री-पुरुषों, पशु-पक्षियों आदि के रूप में हैं, जो मुख्यतया बालकों के खिलौने ही हैं। ये मूर्तियाँ हाथ और साँचे में ढाल कर बनाई जाती थी।

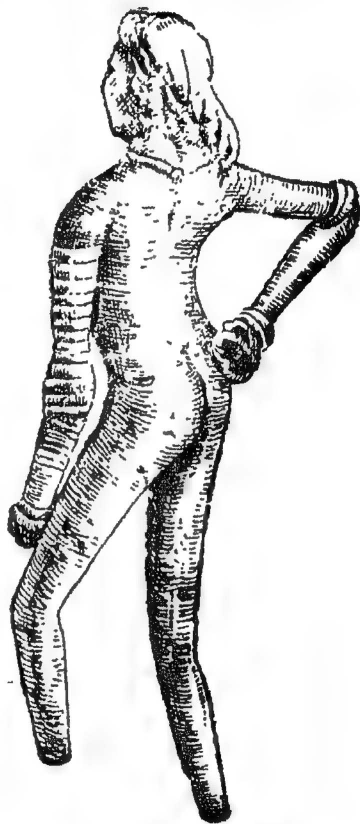
पत्थर की कलाकृतियां—मिट्टी के सिवाय सिन्धुवासी पत्थर की मूर्तियाँ बनाने में भी निपुर्ण थे। सामने बने चित्र को देखिए—यह लाल पत्थर को तराश कर बनाई गई एक योगी अथवा पुजारी की मूर्ति का चित्र है, जो पाषाण निर्मित भारतीय कला का अबतक का प्राप्त पहला नमूना है। इस मूर्ति की बनावट की सरलता, आकृति की भाव निमग्ता भारतीय दर्शन के आदर्शवाद के साथ यथार्थवादी कला का परिचय कराती है। इसी तरह हड़प्पा में मिली दो मानव मूर्तियाँ भी पुरुष शरीर के सौन्दर्य एवं गठन को प्रकट करने की उस युग के मूर्तिकारों की कुशलता का परिचय देती है। दुर्भाग्यवश इनके सिर टूट गये हैं। इनमें से एक मूर्ति काले पत्थर की है और नर्तकी की जैसी लगती है। जान मार्शल का कहना है कि ये मूर्तियाँ इतनी सुन्दर हैं कि चौथी शताब्दी ई. पू. का कोई भी



मोहन-जो-दड़ो से प्राप्त
लाल पत्थर की योगी की मूर्ति

यूनानी कलाकार इनको अपनी निर्मित बताने में गौरव अनुभव करेगा। पाषाण की मूर्तियों में पशु पक्षियों की मूर्तियाँ बहुत कम मिलती हैं। उनमें एक बल की मूर्ति उल्लेखनीय है, जिसका मुख्य शरीर पत्थर का है तथा तन और सींग किसी दूसरी वस्तु के बने हैं। मूर्तियों के अलावा पाषाण के स्तम्भ भी मिले है। और घिया पत्थर की मुद्राएँ भी मिली हैं। पाषाण स्तम्भों की पच्चीकारी से पता लगता है कि पत्थर को तराशने में सिन्धुवासी कलाकारों ने खूब प्रगती करली थी।

धातु व्यवसाय और धातु की कलाकृतियां—सिन्धु निवासी अपने यहाँ अनेक प्रकार की धातुएँ मंगवाते थे। वे धातुओं को गलाना और धातुओं का मिश्रण करना जानते थे। वे धातु के औजार, हथियार, आभूषण, मूर्तियाँ तथा खिलोने बनाते थे। वे पच्चोकारी एवं रत्न जड़ने के कार्य से भी परिचित थे। उनके धातु व्यवसाय में कलात्मकता का विकास हो चुका था। खुदाई में मिली धातु की एक तश्तरी के आधार पर कहा जा सकता है कि धातु के बर्तन बनाना भी उन्हें आता था। सिंधु वासी धातु की मूर्तियां और खिलोने भी बनाते थे। उनकी धातु निर्मित मूर्तियों में मोहन-जो-दड़ो में मिली एक नर्तकी की मूर्ति बड़ी प्रसिद्ध है। इस मूर्ति की बनावट के आधार पर अनुमान लगाया जाता है कि धातु की मूर्तियां साँचे में डालकर बनाई जाती थी। मूर्तियों के सिवाय धातु के पशु-पक्षियों, गाड़ी, इक्के आदि के आकार के खिलौने भी बनाये जाते थे।



मोहन जो दड़ो से प्राप्त
धातु की नर्तकी की मूर्ति

गुरिया निर्माण कला—सिन्धुवासी सोने, चांदी, अन्य धातु मिट्टी, पत्थर, हाथीदांत तथा घोंघे की अनेक प्रकार के नाप की बड़े-बड़े मोतियों के आकार की गुरियाएं (Beads) भी बनाते थे। वे उनपर पच्चीकारी करते थे व रंग भी चढ़ाते थे। ये गुरियांए आभूषणों के बीच-बीच में डाली जाती और खिलौने के साथ प्रयुक्त होती थी। ये गुरियाएं विदेशों को भेजी जाती थी। इसलिए उन्हें बड़े पैमाने पर बनाया जाता था। चन्हूदड़ों में मिला गुरिया बनाने का कारखाना इस बात का प्रमाण है।

चित्रकला—सिन्धुवासियों के चित्रकला ज्ञान की जानकारी उनके मिट्टी के बर्तन पर बने हुए चित्रों से होती है। अधिकतर वे रेखाओं और बिन्दुओं से बर्तनों

पर चित्रकारी करते थे तथा उन पर हिरन, बकरी, खरगोश, कौआ, बतख, गिलहरी, मोर, सांप तथा मछली आदि पशु-पक्षी एवं पीपल, नीम, खजूर आदि पेड़ पौधों के चित्र बनाए जाते थे। हड़प्पा के बर्तनों पर मानव आकृतियां भी बनी मिली हैं। यहां मिले एक मिट्टी के बर्तन पर एक मछुए का चित्र बना है, जो बांस पर जाल लटकाए जा रहा है और उसके पैरों के पास मछली और कछुआ पड़े हैं। कुछ बर्तनों पर बने चित्र बड़े आकर्षक हैं और वास्तविक से लगते हैं।

कला के क्षेत्र में सिंधु, मिस्र और सुमेर की सभ्यताओं में पर्याप्त अन्तर है। सिंधुवासियों की मूर्तिकला में जहां सरलता, भावनिमग्नता तथा आदर्शवाद के साथ यथार्थवाद का सम्मिश्रण मिलता है, वहां मिश्र की मूर्तिकला विशालता का, भव्यता तथा यथार्थवाद के साथ सुन्दरता और कलात्मता लिए हुए हैं। इन दोनों सभ्यताओं की तुलना में सुमेर सभ्यता की मूर्तियां भद्दी हैं, किन्तु उनमें उनके जातीगत शौर्य और बल की अभीव्यक्ति नजर आति है। जहां तक चीन की सभ्यता का प्रश्न है, मूर्तिकला के क्षेत्र में उनका योगदान नगण्य रहा है। इसी तरह चित्रकला में सरलता दिखाई पड़ती है तो मिश्र वासियों की चित्रकला में प्राकृतिक सौन्दर्य, भावना तथा वास्तविकता का मिश्रण पाया जाता है। इन दोनों सभ्यताओं की तुलना में सुमेरिया की सभ्यता के कलाकारों द्वारा 'लेपिस लेजुली' पत्थर पर धातुओं के बने चित्र कलाकार के हस्तकौशल का अधिक परिचय कराते हैं। इन तीनों सभ्यताओं की तुलना में चीनी सभ्यता के चित्रों में प्राकृतिक दृश्यों की प्रधानता है तथा दार्शनिक भावना और चित्रकार की निजी अनुभूति को अधिक महत्व दिया गया लगता है।

धर्म

सिंधु सभ्यता स्थलों की खुदाई में प्राप्त अवशेषों में मन्दिर अथवा स्पष्ट रूप में किसी धार्मिक स्थान या लिखित धार्मिक साहित्य के अभाव में सिंधुवासियों के धार्मिक विचारों के बारे में कोई निश्चित बात नहीं कही जा सकती। फिर भी, मूर्तियों तथा मुद्राओं पर बनी आकृतियों के आधार पर विद्वानों का विचार है कि उनकी धार्मिक विचारधारा काफी विकसित थी।

देवता एवं उपासना—वे प्रमुख रूपसे प्राकृतिक शक्तियों के उपासक थे तथा पृथ्वी, पीपल, नीम, जल, सूर्य, अग्नि आदि में दैवी शक्ति मानकर उनकी उपासना करते थे। इसके अतिरिक्त उन्होंने विभिन्न देवी देवताओं की कल्पना भी की। मिट्टी की असंख्य नारी की विशेष प्रकार की मूर्तियों के आधार पर माना जाता है कि वे मातृदेवी के उपासक थें। शिवलिंग के समान बहुत से पत्थरों के मिलने तथा अगले पृष्ठ पर बने मुद्रा इस समुद्र के चित्र के आधार पर माना जाता है कि सिंधुवासी शिव की भी उपासना करते थे। अगे अंकित मुद्रा पर बना चित्र पशुपति शिव के रूप में बनाया गया था।



पशुपति शिव की मोहर

इसी तरह मूर्तियों और मुद्राओं तथा ताबीजों के विश्लेषण के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि बलि-प्रथा तथा जादू टोना आदि अन्धविश्वास भी उनमें प्रचलित थे। मोहन-जोदड़ो से प्राप्त योगी या पुजारी की मूर्ति को देखकर विद्वानों का कथन है कि धार्मिक क्षेत्र में पुजारियों अथवा धर्माधिकारियों का महत्त्व था। नर्तकी की मूर्तियों तथा लड़कियों के सिर पर खाद्य सामग्री के पात्र वाली या सींग वाली मूर्तियों के आधार पर मार्शल का मत है कि उनके समाज में धार्मिक उपासिकाएं तथा देवदासियां होती थीं। मातृदेवी की मूर्तियों के सिर पर बने दीपक और उनमें धुएं के चिन्ह से स्पष्ट होता है कि पूजा उपासना में धूप-दीप आदि का प्रयोग होता था।

यदि आप सिंधु-सभ्यता की इन धार्मिक परिस्थितियों की तुलना वर्तमान हिन्दू धर्म से करें, तो आपको लगेगा कि दोनों में अनेकों स्थानों पर आश्चर्यजनक समानता है। इसी आधार पर जॉन मार्शल ने कहा था कि सिन्धुवासियों के धर्म की कई बातें विदेशी धर्मों से तो मिलती ही हैं पर इस विशेषता के साथ ही वह मुख्यतया भारतीय है। और वर्तमान भारत में प्रचलित धर्म से कठिनता से उसका भेद किया जा सकता है। हमारी शिव-पूजा, दुर्गा, भवानी आदि मातृ शक्तियों की पूजा इस युग के व सिन्धु-सभ्यता के धार्मिक जीवन में समानता बनाती है।

मृतक संस्कार—मिस्र और मेसोपोटामियां की भाँति मोहन-जोदड़ो में कोई शव स्थान या समाधियां नहीं मिलीं। हड़प्पा तथा कालीबंगा में अवश्य कुछ कब्रें मिली हैं, जिससे शव का सिर उत्तर दिशा की ओर रखा मिला था। इससे सोचा जाता है कि किसी धार्मिक विश्वास से ही वे ऐसा करते थे। वहाँ शवों के साथ विविध आभूषण, वस्त्र और अन्य वस्तुएं भी मिली थीं। जिससे अनुमान किया जाता है कि सिन्धुवासी सम्भवतया परलोक के जीवन की कल्पना करते थे। सिन्धु-सभ्यता के केन्द्रों पर इस प्रकार की समाधियों और शवोत्सर्ग की अन्य परिस्थितियों के आधार पर विश्वास किया जाता है कि सिन्धुवासी तीन प्रकार से शवों क

संस्कार करते थे · पहला—पूर्ण समाधिकरण, जिसके अन्तर्गत पूरे शव को गाड़ दिया जाता था। दूसरा—आंशिक समाधीकरण, जिसमें शव को पशु-पक्षियों के खाने के बाद बचे भाग को गाड़ा जाता था और तीसरा—अग्नि संस्कार, इसमें शव को जला दिया जाता था और कभी-कभी उसकी भस्म गाड़ दी जाती थी।

धर्म और धार्मिक दर्शन के विकास की दृष्टि से सिंध, मिस्र, सुमेर तथा चीन की सभ्यता में दैवी शक्ति की कल्पना में समानता है, किन्तु जहाँ दैवी शक्ति के स्वरूप का प्रश्न है, सिन्धु सभ्यता और मिस्री सभ्यता में अधिक समानता दिखाई देती है और सुमेर तथा चीन की सभ्यता और सिन्धु सभ्यता में अन्तर है। मिस्र और सिंधु सभ्यता में विशाल देव समूह तथा प्रारम्भ में पशु रूप में देवताओं की कल्पना समानता लिये हुए है। मिश्र और सिंधुवासियों की मुद्राओं पर मनुष्य और पशु के विविध अंगों के मिले जुले स्वरूप का अंकन इस समानता को स्पष्ट करता है। इसके विपरीत सुमेरिया की सभ्यता में देवताओं की कल्पना मनुष्य रूप में ही की थी। इस अन्तर के होते हुए भी चीन को छोड़कर, जहाँ अप्राकृतिक शक्तियों की उपासना की जाती थी सुमेर, मिस्र तथा सिंधु सभ्यता में प्राकृतिक शक्तियों को दैवी शक्ति के रूप में स्वीकार करना भारी समानता लिए हुए है।

सिन्धु, मिस्र तथा सुमेर की सभ्यता में शव संस्कार की दृष्टि से शवों को दफनाना समानता लिए हुए हैं। उनकी शव संस्कार से सम्बन्धित परलोक की भावना में अन्तर दिखाई देता है। जहाँ सिन्धुवासियों की परलोक की धारणा के बारे में कोई स्पष्ट जानकारी नहीं मिलती, वहाँ मिस्रियों की आत्मा को अमर मानने की धारणा स्पष्ट नजर आती है। इसलिए मिस्री अपने शवों को नष्ट होने से बचाने के लिए 'ममी' के रूप में सुरक्षित रखते थे। चीनियों का अपने पूर्वजों में बड़ा विश्वास था, अतः वे उनके लिए मन्दिर बनवाते थे और अपने घरों में उनकी आत्मा के वास के लिए अलग कमरा छोड़ देते थे।

बौद्धिक विकास

लिपि खुदाई में प्राप्त मुद्राओं पर उत्कीर्ण लिपि के आधार पर यह तो निश्चित है कि सिन्धुवासियों ने भाषा और लिपि का विकास कर लिया था। इनकी भाषा कैसी थी, यह तो सिंधु लिपि के पढ़ लिए जाने पर ही स्पष्ट होगा। हाँ, इतना अवश्य स्पष्ट है कि उनकी लिपि मूलतः चित्राक्षर लिपि थी। राजस्थान में कालीबंगा से प्राप्त एक ठीकरे पर उत्कीर्ण अक्षरों के आधार पर विद्वानों का अनुमान है कि सम्भवतया इनकी लिपि दाहिनी ओर से बाईं ओर लिखी जाती थी।

लिपि के विकास में समानता की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि सिन्धु, मिस्र, सुमेर तथा चीन इन चारों नदी घाटी सभ्यता स्थलों पर विकसित होने वाली लिपि प्रारम्भ में चित्राक्षर लिपि के रूप में विकसित हुई। किन्तु मिस्र को छोड़कर अन्य तीनों सभ्यताओं की लिपि वर्णमाला का स्वरूप ग्रहण नहीं कर पायी।

ज्ञान-विज्ञान—सिन्धु सभ्यता केन्द्रों की खुदाई में सामने आने वाले नियोजित नगर, भवन, नाप-तोल के पैमाने आदि तत्कालीन भारतवासियों के

विकसित ज्ञान-विज्ञान के परिचायक हैं। उनके बाटों के अनुपात के आधार पर यह माना जा सकता है कि सम्भवत: उन्हें दशमलव का भी ज्ञान रहा होगा तथा ऋतु चक्र ज्ञान एवं ज्योतिष के क्षेत्र में भी उन्होंने प्रगति की होगी इसी तरह खुदाई में मिले कुछ पदार्थों से यह ज्ञात होता है कि सिन्धुवासियों ने चिकित्सा-ज्ञान में भी प्रगति की होगी तथा विभिन्न प्रकार की औषधियों का निर्माण एवं प्रयोग वे करते होंगे। उनके स्वच्छता के आम प्रबन्ध से यह प्रकट होता है कि वे इस तथ्य से परिचित रहे होंगे कि जीवन की अच्छी प्रकार जीने के लिए रोगों का निवारण के उपाय करने के पहले रोगों से बचने के उपाय अधिक उपयुक्त होते हैं। इसलिए वे स्वच्छता और पवित्रता पर अधिक जोर देते थे।

अपनी-अपनी परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुसार सिंधु, मिस्र, सुमेर तथा चीन में गणित, ज्योतिष, धातु-विज्ञान, चिकित्सा आदि के क्षेत्र में प्रगति हुई। विद्वानों का अनुमान है कि सिंधुवासियों का गणित का ज्ञान अन्य तीनों सभ्यताओं से बड़ा-चढ़ा था। किन्तु ज्योतिष व धातु विज्ञान के क्षेत्र में तुलनात्मक दृष्टि से मिस्रवासियों ने संसार को अधिक प्रभावित किया और व्यापारिक पद्धति और पहिए का यातायात वाहन में प्रयोग कर सुमेरवासियों ने विश्व को महत्व-पूर्ण देन दी। इसी तरह के बाद के युग में बारूद, कागज, कुतुबनुमा तथा मुद्रणकला का स्वतन्त्र रूप से आविष्कार हुआ जिसका विश्व सभ्यता को आगे बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा।

सिन्धु सभ्यता का अन्य समकालीन सभ्यताओं से सम्बन्ध

सिंधुवासियों को सभ्यता और उनकी समकालीन अन्य सभ्यताओं में जीवन के विभिन्न पक्षों में की गई प्रगति में मात्र परोक्ष समानता या असमानता ही नहीं थी बल्कि सिन्धुवासियों का मिस्र, मेसोपोटामिया, एलाम, क्रीट आदि देशों से प्रत्यक्ष सांस्कृतिक एवं व्यापारिक सम्बन्ध भी था। सिंधुवासियों की इस प्रकार के सम्बन्धों की सबसे अधिक घनिष्ठता सुमेरिया की सभ्यता से थी। ये सम्बन्ध सभ्यता के दोनों क्षेत्रों में एक दूसरी सभ्यता की वस्तुओं के मिलने से अधिक स्पष्ट होते हैं। सुमेर में मोहन-जोदड़ो की मोहरों के समान मोहरें, बर्तन, चूल्हे तथा बैल की एक सरीखी मूर्ति मिली हैं। भारत में सुमेरिया की कीलाक्षर लिपि में खुदा एक लेख मिला है। सुमेरियों की तरह मिस्र से भी सिंधुवासियों के सम्बन्ध के प्रमाण मिलते हैं। मिस्री आभूषण एवं शृंगार प्रशाधनों व सिंधु सभ्यता के आभूषणों और शृंगार प्रशाधनों में पर्याप्त समानता दिखाई देती है। भारत की गुरियाएँ मिस्री क्षेत्र में मिली हैं तथा मिस्री शैली का लकड़ी का सामान भारतीय क्षेत्र में मिला है। इससे इन दोनों सभ्यताओं के सांस्कृतिक सम्बन्ध प्रकट होते हैं। इसी प्रकार एजीयन द्वीप समूह की सभ्यता के प्रमुख केन्द्र क्रीट के चित्रों और सैधव सभ्यता की मोहरों के चित्र एवं आभूषणों में काफी समानता दिखाई देती है। इससे स्पष्ट होता है कि सिंधुवासियों का क्रीट से भी सम्बन्ध था। विभिन्न स्थानों पर मिलने वालीं ये समानताएँ प्रकट करती हैं कि बहुत प्राचीनकाल में भारत का पश्चिम से

सांस्कृतिक सम्पर्क था और व्यापारिक आदान-प्रदान होता था। सिन्धु-सभ्यता का प्रभाव क्षेत्र विश्व-व्यापी था।

सिन्धु सभ्यता का विध्वंस

आज से लगभग पाँच हजार वर्ष पूर्व जीवन के विभिन्न पक्षों में अपनी प्रारम्भिक उन्नति की चरम सीमाओं को छूने वाली सिन्धु सभ्यता किस प्रकार काल के गाल में समा गई, यह प्रश्न भी विवादपूर्ण है। कुछ विद्वानों का विचार है कि सिंधु नदी की भयंकर बाढ़ ने उसके किनारों पर विकसित होने वाली इस सभ्यता के नगरों को नष्ट कर दिया और यह सभ्यता विलुप्त हो गई। कुछ का अनुमान है कि धीरे-धीरे सिंधु नदी का मार्ग बदल जाने के कारण यह प्रदेश सूखा हो गया और वहाँ के निवासी अन्य स्थानों पर चले गये। लेकिन अधिकांश विद्वानों का विचार है कि शान्तिप्रिय सिंधुवासियों से अधिक शक्तिशाली आर्यों के निरन्तर आक्रमणों के कारण सिंधु सभ्यता के उन्नत नगरों में बसने वाले लोग परेशान होकर लगभग 2000 ई. पू. से 1500 ई. पू. तक अपने मूल निवास स्थानों को छोड़कर दक्षिण भारत की ओर चले गये और आक्रमणकारियों द्वारा उनके नगर नष्ट कर दिये गये। इन कारणों में से कौन-सा कारण सही है, यह कहना कठिन है।

सिन्धु घाटी सभ्यता की देन

भारत में लगभग पाँच हजार वर्ष पूर्व विकसित होने वाली सिन्धु-सभ्यता समय परिवर्तन के साथ नष्ट हो गई, वहाँ उस युग में रहने वाले निवासियों द्वारा परिश्रम से बनाए गए नगर खण्डहर बन गए, वह प्रदेश वीरान हो गया, किन्तु उस अतीत में विकसित सभ्यता और संस्कृति के तत्व नष्ट नहीं हो सके। उनका आगे आने वाले युगों के भारतीय जन-जीवन में परोक्ष प्रभाव बना रहा और इस प्रकार भारतीय संस्कृति के प्रारम्भिक चरणों के निर्माण में सिंधु सभ्यता का महत्वपूर्ण योगदान रहा। यदि आप सिंधु सभ्यता के युग से लेकर वर्तमान समय तक के भारतीय जन-जीवन का विश्लेषण कर देखें, तो आपको लगेगा कि सिन्धु सभ्यता काल में विकसित कई तत्व भारतीय सभ्यता और संस्कृति को प्रभावित करते रहे हैं। सिन्धु सभ्यता का प्रत्यक्ष प्रभाव भारतीय धार्मिक जीवन में स्पष्ट नजर आता है, जिसके बारे में पहले चर्चा की जा चुकी है। इसके अतिरिक्त सिंधुवासियों ने योजनाबद्ध नगर-निर्माण, स्थापत्य, सूती कपड़ों का प्रयोग, नाप-तौल एवं व्यापार की व्यवस्था आदि का विकास कर सभ्यता की पहली सीढ़ी पर खड़े मानव समुदाय को आगे बढ़ने की प्रेरणा दी है। किन्तु भौतिकता के स्थान पर इस सभ्यता ने अपनी शांति-प्रियता, सहिष्णुता, अध्यवसाय, स्वच्छता, पवित्रता, मेल-जोल एवं आदान-प्रदान की भावना का विकास कर भारत का ही नहीं सम्पूर्ण संसार को अपनी महत्वपूर्ण देन दी है, जिनके लिए सभ्य संसार उनका ऋणी है। इस सभ्यता के खण्डहर यह प्रमाणित करते हैं कि मानव सभ्यता के उत्थान और पतन के चक्र में भारत प्रारम्भिक काल से हाथ बँटाता रहा है और संसार को शांति के मार्ग की ओर आगे बढ़ाने के प्रयत्नों में अग्रणी रहा है।

अध्ययन का उपयोग

निम्नलिखित प्रश्नों के संक्षिप्त उत्तर दीजिए और अपने अध्ययन को उपयोगी बनाइए—

1. सिन्धु सभ्यता की खोज कब और कैसे हुई ?
2. सिन्धु सभ्यता का विस्तार कहाँ-कहाँ तक था ?
3. सिन्धु सभ्यता के निर्माता कौन थे, इस विषय पर विद्वानों के क्या विचार हैं ?
4. सिन्धु सभ्यता की स्थापत्यकला की क्या विशेषताएँ थीं ?
5. सिन्धुवासियों ने मिट्टी, धातु तथा पत्थर की कलाकृतियों के निर्माण में क्या प्रगति की थी ?
6. सिन्धुवासियों का अन्य किन-किन देशों से सांस्कृतिक सम्बन्ध था ?
7. सिन्धुवासियों ने ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में क्या प्रगति की थी ?
8. यह कैसे कहा जा सकता है कि सिन्धु सभ्यता एक उच्च नागरीय सभ्यता थी ?
9. सिन्धु-सभ्यता को व्यापार प्रधान सभ्यता बताने के लिए आप क्या प्रमाण देना चाहेंगे ?
10. सिन्धु सभ्यता से सम्बन्धित निम्नलिखित बिन्दुओं के बारे में सिन्धुवासियों की विशेषताओं की जानकारी दीजिए—
    (1) सामाजिक जीवन (2) धार्मिक व्यवस्था (3) आर्थिक दशा।
11. सिन्धु सभ्यता और समकालीन अन्य नदी घाटी सभ्यताओं में जीवन के विविध पक्षों में क्या-क्या समानताएँ पायी जाती हैं ?

निम्नलिखित कथनों या प्रश्नों के दिए गए चार-चार सम्भावित उत्तर — विकल्पों में से सबसे उपयुक्त उत्तर का क्रमाक्षर कोष्ठक में लिखिए—

1. सिन्धु सभ्यता की खोज के साथ जिन दो भारतीय विद्वानों का सम्बन्ध है, वे हैं—
   (क) डॉ. ईश्वरी प्रसाद तथा डॉ. आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव।
   (ख) डॉ. राखालदास बैनर्जी तथा श्री दयाराम साहनी।
   (ग) जॉन मार्शल तथा डॉ. राखालदास बैनर्जी।
   (घ) जॉन मार्शल तथा श्री दयाराम साहनी। ( )
2. कोई विदेशी यात्री राजस्थान में सिन्धु सभ्यता के उस भाग को देखना चाहे जहाँ उसके अवशेष मिले हैं, तो आप उसे ले जायेंगे—
   (क) राजधानी जयपुर में (ख) उदयपुर में
   (ग) कालीबंगा में (घ) कोटा में



3. सिन्धु घाटी सभ्यता की सबसे प्रमुख विशेषता यह थी कि—
   (क) यहाँ के निवासी धार्मिक प्रवृत्ति के थे।
   (ख) उनकी आर्थिक दशा उन्नत थी।
   (ग) उन्होंने एक उन्नत शासन व्यवस्था को जन्म दिया था।
   (घ) यह एक विकसित नागरीय व्यवस्था थी। ( )

निम्नलिखित क्रियात्मक कार्य कीजिए और अपना कौशल बढ़ाईए—

1. अविभाजित भारत के मानचित्र में सिंधु सभ्यता के विस्तार क्षेत्र तथा सभ्यता के प्रमुख केन्द्रों को अंकित कीजिए।
2. सिन्धु सभ्यता के उत्पादन में प्राप्त विभिन्न वस्तुओं के चित्रों को एकत्रित कीजिए एवं ऐतिहासिक चित्रों का अपना एक एलबम बनाइए।

पूरक अध्ययन ग्रन्थ

1.	श्रीराम गोयल	: प्राचीन विश्व की सभ्यताएँ भाग 1
2.	डॉ आर. एस. त्रिपाठी	: विश्व इतिहास
3.	वियोगी हरि	; हमारी परम्पराएँ
4.	डॉ. विमलचन्द्र पाण्डेय	: भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास

अध्याय ३

आर्यों की वैदिक सभ्यता

सिन्धु सभ्यता के विनाश के बाद भारत में वैदिक सभ्यता का उदय हुआ। भारत में वैदिक सभ्यता का विकास करने वाले जन-समुदाय को 'आर्य' नाम से पुकारा जाता था। 'आर्य' मूल मानव जाति को, चमड़ी के रंग के आधार पर विभाजित सफेद, काली और पीली, इन तीन उपजातियों में से सफेद उपजाति की 'नार्डिक' शाखा के लोग थे। और क्योंकि 'आर्य' शब्द का अर्थ उत्तम या श्रेष्ठ होता है, अतः सम्भवतया भारत में बसने वाली अन्य जातियों की तुलना में अपनी श्रेष्ठता को प्रकट करने के लिए जन-समुदाय के लोगों ने अपने आपको 'आर्य' नाम से सम्बोधित करना प्रारम्भ किया था। बाद में जाकर आर्य शब्द इस जनसमुदाय के लिए जाति-वाचक बन गया।

आर्य शब्द, पहले चाहे सांस्कृतिक अर्थ प्रकट करने वाला रहा हो और बाद में आर्यों के लिए जातिवाचक बना हो, लेकिन इतना अवश्य स्पष्ट है कि भारतीय सभ्यता और संस्कृति के एक निश्चित स्वरूप को बनाए रखने में आर्यों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। आर्यों ने भारत में पहले से बस रही जातियों द्वारा विकसित सभ्यता और संस्कृति के उपयोगी तत्त्वों को अपनाकर अपनी संस्कृति के साथ उनका समन्वय करते हुए भारत की एक उन्नत सभ्यता और संस्कृति की परम्परा का विकास किया। ऐसी स्थिति में यह कहना उचित ही है कि भारतीय सभ्यता और संस्कृति का सुन्दर स्वरूप मूलतः आर्यों के कठिन परिश्रम और साधना के परिणामस्वरूप ही

बन पाया है। लेकिन, आप यह जानकर आश्चर्य करेंगे कि भारतीय संस्कृति को इतना अधिक प्रभावित करने वाले आर्य ही हमारे इतिहास की सबसे अधिक विवादपूर्ण समस्या बने हुए है।

आर्यों से सम्बन्धित हमारे इतिहास की समस्या आर्यों के मूल निवास स्थान की है। वास्तव में आर्य मूलतः कहाँ के निवासी थे, इस सम्बन्ध में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। भिन्न-भिन्न विद्वानों ने ऐतिहासिक ग्रन्थों, तुलनात्मक भाषा-विज्ञान, पुरातत्व सम्बन्धी प्रमाण तथा शरीर-रचना-शास्त्र को आधार बनाकर आर्यों के मूल निवास स्थान के बारे में अलग अलग मत दिए हैं, जो मुख्यतया निम्नलिखित हैं—

आर्यों का आदि देश : यूरोप—आर्यों के मूल निवास स्थान से बारे में पश्चिमी देशों के विद्वानों का मत है कि आर्य मूलतः यूरोप के किसी भाग के निवासी थे और वहीं से संसार के अलग-अलग भागों में फैले थे। डॉ० पी० गाइल्ड नामक विद्वान मानते हैं कि आर्यों का मूल निवास स्थान यूरोप में हंगरी, आस्ट्रिया अथवा डेन्यूब नदी की घाटी था। उनका यह विचार भाषा तथा वृक्ष, वनस्पति एवं पशु-पक्षियों के वर्णनों में समानता पर आधारित है। इसी तरह ब्रेण्डेस्टाइन नामक विद्वान यूरोप में यूराल पर्वत के दक्षिण में उत्तरी-पश्चिमी किरगिज के घास के मैदानों को आर्यों का आदि निवास स्थान मानते हैं। पेन्का तथा हर्ट नामक विद्वान भाषा-साम्य एवं बालों व शारीरिक संरचना की समानता के आधार पर जर्मन प्रदेश में स्कैण्डिनेविया को आर्यों का मूल निवास स्थान मानते हैं। इसी तरह कुछ अन्य विद्वान यूरोप में बाल्टिक समुद्र तट को आर्यों का आदि देश मानते हैं। नेहरिंग तथा पेकार्नी आदि विद्वान रूस के दक्षिणी भाग में प्राप्त मिट्टी के बर्तनों के आधार पर दक्षिणी रूस को आर्यों की मूल भूमि मानते हैं। किन्तु आर्यों के आदि देश के बारे में यूरोपवाद का यह विचार अधिक प्रभावशाली नहीं है। कारण कि एक तो यूरोप के किसी निश्चित स्थान के बारे में ही विद्वान एक-मत नहीं हैं और दूसरा यूरोपीय विद्वानों के विचारों में तुलनात्मक प्रमाणों का अभाव है। इसलिए इस मत की मान्यता बहुत कम है।

2. **आर्यों का आदि देश : मध्य एशिया**—विद्वानों का एक समुदाय आर्यों को मध्य एशिया के मूल निवासी मानता है। ईरानियों के ग्रन्थ अवेस्ता तथा ऐतिहासिक युग में मानव समूहों के मध्य एशिया से इधर-उधर जाने की बातों को आधार बनाकर श्री जे.जी. रोड और पाट महोदय मध्य एशिया में आर्यों को बैक्ट्रिया (बलख) के मूल निवासी मानते हैं। मध्य एशिया को आर्यों की मूल भूमि बताने वाले विद्वानों में सबसे प्रमुख व्यक्ति मैक्समूलर हैं। प्रोफेसर सेयर्स भी मध्य एशिया-वाद की पुष्टि करते हैं और उन्होंने कैस्पियन सागर के निकट के प्रदेशों को आर्यों का आदि देश माना है। मध्य एशिया को आर्यों का आदि देश मानने वाले विद्वानों का तर्क है कि भाषा की मौलिक समानता तथा वेदों और अवेस्ता ग्रन्थों में जिन वनस्पतियों, पेड़-पौधों, पशुओं व वातावरण का वर्णन मिलता है, वह मध्य एशिया में पाया जाता है और भारत में उसका अभाव है, अतः मध्य एशिया ही आर्यों का आदि

देश होना प्रमाणित करता है और वहीं से उनकी भिन्न-भिन्न शाखाएँ यूरोप, ईरान तथा भारत में गई थीं। यद्यपि विद्वानों का बड़ा समुदाय इस बात का समर्थन करता है, किन्तु यह मत पूर्णतया सत्य ही हो, ऐसा नहीं है। कारण कि भाषा तथा दो ग्रन्थों में वर्णनों की समानता, एक जातीयता बताती हो और भिन्न-भिन्न प्रदेशों के निवासियों का मूल रूप में किसी एक स्थान पर रहना साबित करती हो, यह आवश्यक नहीं है। अतः मध्य एशिया को आर्यों का मूल निवास स्थान मानने के विचार में भी अनेक शंकाएँ हैं। इसलिए अभी तक यह मत भी विवादपूर्ण ही है।

3. आर्यों का आदि देश : उत्तरी ध्रुव—आर्यों के आदि देश के बारे में भारतीय विद्वान लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक का मत है कि आर्य मूल में उत्तरी ध्रुव प्रदेश के निवासी थे। ऋग्वेद में वर्णित ज्योतिष तथा लम्बी उषा, और 6-6 माह के दिन रात के आधार पर तिलक ने यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि ऐसी भौगोलिक एवं प्राकृतिक परिस्थितियाँ उत्तरी ध्रुव प्रदेश में ही पायी जाती हैं। अतः ऋग्वेद के वर्णन से आर्यों के जिस मूल देश का पता चलता है, वह उत्तरी ध्रुव प्रदेश ही था। किन्तु अन्य तथ्यों के अभाव में और उत्तरी ध्रुव प्रदेश के सम्बन्ध में कोई विशेष वर्णन ऋग्वेद में नहीं होने से यह मत भी इतिहासकारों को अधिक उपयुक्त नहीं लगता।

4. आर्यों का आदि देश : भारत—आर्यों के मूल स्थान के बारे में कुछ भारतीय विद्वानों ने वेद तथा ईरानी ग्रन्थ-अवेस्ता व जनश्रुतियों तथा अन्य भारतीय साहित्य में उपलब्ध तथ्यों के आधार पर यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि आर्य भारत के ही मूल निवासी थे। पं० गंगानाथ झा ने भारत में ब्रह्मर्षि प्रदेश को आर्यों की मूल भूमि माना है। डॉ० अविनाशचन्द्र दास एवं डॉ० सम्पूर्णानन्द का मत है कि आर्यों का मूल निवास स्थान भारत में सप्तसिन्धु प्रदेश था। डॉ० राजबली पाण्डेय ने भारत के मध्य प्रदेश को आर्यों की जन्मभूमि बताया है। इसी तरह कुछ अन्य विद्वान भी भारत को ही आर्यों का मूल निवास स्थान मानते हैं। किन्तु भारतीय विद्वानों के इस मत में अन्य विद्वान भावुकता का होना बताते हैं। इस मत के विरोध में कहा जाता है कि जब आर्य भारत के ही मूल निवासी थे तो वे यहाँ के उपजाऊ भागों को छोड़कर अन्य स्थानों पर क्यों गए ? दूसरा, अब भी भारत के अधिकांश भागों में वे भाषाएँ बोली जाती हैं जिनका आर्यों की भाषा से सम्बन्ध न होकर अन्य जातियों की भाषाओं से सम्बन्ध है, फिर क्यों अपने ही देश में आर्यों की भाषा का प्रचार न हो सका ? तीसरा, जब मूल में आर्य भारत के निवासी थे तो उनकी भाषा का यहाँ प्रचार क्यों नहीं हो सका ? चौथा मोहन-जो-दड़ो और हड़प्पा के अवशेष यह स्पष्ट करते हैं कि आर्यों से पहले ही दूसरे लोगों ने भारत में सभ्यता का विकास कर लिया था और आर्यों ने बाद में यहाँ आकर अपनी सभ्यता पनपाई। इसी प्रकार और अनेक तर्क देकर कई विद्वान भारत को आर्यों का आदि देश मानने में शंका करते हैं। किन्तु सिन्धु लिपि को पढ़ लिए जाने से पूर्व निर्णय के रूप में यह भी नहीं कहा जा

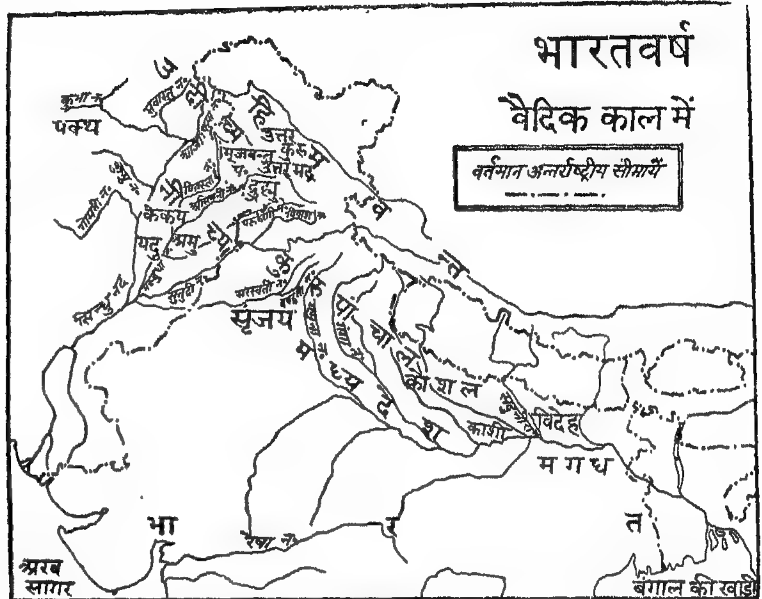
सकता कि भारत आर्यों की मूलभूमि नहीं थी। कारण कि सिन्धु लिपि के पढ़ने में अभी तक जो अनुमान लगाए गए हैं, उनमें कुछ विद्वानों का ऐसा भी विचार है कि यह लिपि आर्यों की भाषा से सम्बन्ध रखती है। यदि सिन्धु लिपि को ठीक प्रकार से पढ़ लिया जाय और यह स्पष्ट हो जाय कि वह आर्य भाषा से सम्बद्ध है, तो यह स्पष्ट हो सकता है कि आर्य भारत के मूल निवासी थे।

5. आर्यों का आदि देश : गोंडवाना—आर्यों के आदि देश की इस समस्या के बारे में विचार करते हुए दक्षिणी भारत के एक विद्वान चेकलिंगमपिल्ले ने आर्यों का मूल निवास स्थान ऐतिहासिक गोंडवाना प्रदेश माना है। जैसा कि भूगर्भ विज्ञानवेत्त मानते हैं, गोंडवाना अफ्रिका से मलाया द्वीप तक हिन्द महासागर के स्थान पर फैला स्थल भाग था और वह 'गोंडवाना' कहलाता था। पिल्ले महोदय ने बताया है कि इसी गोंडवाना में 'देलन' एवं 'सुरन' नामक दो जातियाँ रहती थीं। प्राकृतिक परिवर्तन के कारण धीरे-धीरे जब गोंडवाना का भाग जलमग्न होने लगा तब ये दोनों जातियाँ उत्तर की ओर बढ़ते हुए भारत में आईं। बेलन दक्षिणी भारत में ही बस गए और सुरन आगे बढ़ते हुए रूस तक पहुँच गए। कालान्तर में रूस तक जाने वाले सुरन कई कबीलों में पुनः इधर-उधर जाने लगे। उनमें से कुछ भारत में आए और पहले उत्तरी पश्चिमी भारत में बस गए। श्री पिल्ले का विचार यह है कि रूस तक जाकर पुनः लौटने वाले लोग ही वेदों के निर्माता तथा भारत में वैदिक संस्कृति का विकास करने वाले आर्य थे। किन्तु यह मत अभी तक अधिक स्पष्ट और पुष्ट प्रमाण के अभाव में स्वीकार नहीं किया गया।

आर्यों के मूल निवास स्थान के बारे में इस प्रकार विभिन्न विचारों और किसी एक स्थान के बारे में तुलनात्मक प्रमाणों के अभाव में अभी तक यह निर्णय नहीं हो पाया है कि वस्तुतः आर्य कहाँ के मूल निवासी थे। फिर भी विद्वानों की एक बड़ी संख्या मध्य एशिया को आर्यों का मूल निवास स्थान मानती है। साथ ही आधुनिक काल में भारत को आर्यों का मूल निवास स्थान मानने की विचारधारा भी जोर पकड़ती जा रही है। लेकिन सही खोज का होना और एक नतीजा सामने आना अभी बाकी है।

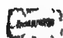
भारत में आर्यों का प्रसार—आर्यों के मूल निवास स्थान के बारे में अनिश्चित ज्ञान होते हुए भी आर्यों के सर्वप्रमुख ग्रन्थ ऋग्वेद के आधार पर इतना अवश्य स्पष्ट है कि आर्य भारत में सबसे पहले अफगानिस्तान और पंजाब के भागों में अलग अलग कबीलों या जत्थों के रूप में बसे थे। ऋग्वेद के कई स्थानों पर अफगानिस्तान एवं सिन्ध प्रदेश में बहने वाली सात नदियों के नामों के आधार पर इस भू भाग को सप्त सैन्धव कहा गया है। वस्तुतः भारत के सप्त-सैन्धव नामक इस प्रदेश में आर्य कई वर्ष तक रहे और अपनी सभ्यता और संस्कृति का विकास करते रहे। इस प्रदेश से ही धीरे-धीरे उनका प्रसार भारत के पूर्वी-दक्षिणी भागों में होता रहा। अपने प्रसार में उन्हे समय-समय पर भारत के भीतरी भागों में पहले से बस रही जातियों से संघर्ष करना पड़ा। किन्तु अपने घोड़ों, अच्छे शस्त्रों और युद्ध-कौशल के कारण वे

विजयी होते रहे और आगे बढ़ते गए । पंजाब से आगे बढ़कर पहले आर्यों ने प्राचीन सरस्वती तथा दृषद्वती (अब विलुप्त) नदियों के बीच के भाग पर अधिकार किया और उसे ब्रह्मावर्त नाम दिया । इसके पश्चात् उन्होंने थानेश्वर, पूर्वी राजस्थान मथुरा तथा गंगा-यमुना नदियों के मध्य भाग पर आधिपत्य कर लिया । इस भू-भाग को ऋग्वेद में 'ब्रह्मर्षिदेश' कहा गया है । यहाँ से आगे बढ़ते हुए आर्य-जत्थों ने पूर्व



भारत के महासर्वेक्षक की अनुज्ञानुसार भारत सर्वेक्षण विभागीय मानचित्र पर आधारित ।

समुद्र में भारत का जल प्रदेश उपयुक्त आधार रेखा से मापे गये बारह समुद्री मील की दूरी तक है ।
इस मानचित्र में दिये गये भौगोलिक नामों का वर्णयोग प्रमाणिक नहीं है ।



वैदिक काल का भारत

में प्रयाग, हिमालय तथा विन्ध्याचल के बीच भू-भाग पर अधिकार किया और इसे मध्यप्रदेश नाम दिया । इसके बाद कई वर्षों में जाकर उन्होंने बिहार और बंगाल के भागों पर भी अपना प्रभुत्व कायम किया । इस तरह हिमालय से लेकर विन्ध्याचल और पूर्वी समुद्र से लेकर पश्चिमी समुद्र के भू भाग में आर्य फैल गए और तब इस पूरे भूभाग में आर्यों के विभिन्न कबीलों की कई स्थाई बस्तियाँ बस गईं ।

अपने इस प्रकार के साथ ही आर्यों ने भारत में अन्य जातियों द्वारा पहले से विकसित की जा रही सभ्यता के तत्वों को अपना कर उस स्थाई संस्कृति का विकास किया, जो भारतीय सभ्यता और संस्कृति की आधारशिला है और इतिहास में वैदिक सभ्यता और संस्कृति के नाम से जानी जाती है ।

वैदिक सभ्यता और संस्कृति

आर्यों की वैदिक सभ्यता के बारे में विस्तृत जानकारी वैदिक साहित्य से हुई, जिस साहित्य की रचना भारत में बसने वाले आर्य विद्वानों ने की थी। इस साहित्य का सबसे प्राचीन, प्रमुख और प्रामाणिक ग्रन्थ ऋग्वेद है। यद्यपि ऋग्वेद के सिवाय दूसरा वैदिक साहित्य भी है और उनसे भी आर्यों की सभ्यता और संस्कृति की कई बातें जानी गई हैं। किन्तु दूसरा साहित्य ऋग्वेद की रचना के बहुत समय बाद में रचा गया था। ऋग्वेद के अतिरिक्त दूसरे साहित्य में वर्णित बातों तथा ऋग्वेद के वर्णना में भिन्नता के आधार पर विद्वानों ने पूरी वैदिक सभ्यता को दो भागों में बाँटा है। एक, वैदिक काल की सभ्यता जिसकी जानकारी ऋग्वेद के वर्णनों से होता है तथा दूसरा, उत्तर वैदिक काल की सभ्यता, जिसकी जानकारी ऋग्वेद के अतिरिक्त अन्य तीन वेदों तथा दूसरे वैदिक साहित्य से होती है।

ऋग्वैदिक काल की सभ्यता

राजनैतिक संगठन—ऋग्वैदिक काल में आर्यों का भारत में प्रसार तो हो गया था, किन्तु पूरे आर्यावर्त प्रदेश में राजनैतिक एकता स्थापित नहीं हुई थी। भिन्न-भिन्न स्थानों पर आर्यों के अलग-अलग कबीलों के अलग-अलग राज्य या जन थे। आर्यों के इन जनों के संगठन का आधार परिवार था। प्रत्येक जन या राज्य में कई परिवार रहते थे। कई परिवारों से मिलकर एक वर्ग बनता था, जिसे कुल कहते थे। अनेक कुलों की मिली-जुली एक बस्ती को ग्राम कहा जाता था। कई गाँवों के एक समूह को विश कहा जाता था। विश शब्द का बहुवचन 'विशाः' का प्रयोग जनता अथवा प्रजा के अर्थ में होता था। एक कुल या जाति के ऐसे कई विशों का मिला-जुला संगठन जन कहलाता था। जन के नेता को 'गोप' या 'राजन' कहा जाता था, जो उस जन का राजा होता था वही अपने जन की रक्षा और शांति-व्यवस्था के लिए उत्तरदायी होता था। साधारणतया आर्यों के जनों में 'राजन' वंश परम्परानुसार बनते थे, किन्तु नए राजा के राज्याभिषेक के समय प्रजा की स्वीकृति प्राप्त करना आवश्यक था। इस अवसर पर नए राजा को जनहित का हमेशा ध्यान रखने की प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी।

शासन का स्वरूप—आर्यों के इन जनों में शासन का स्वरूप सीमित राजतन्त्रात्मक शासन प्रणाली के रूप में था, किन्तु अधिकतर राज्यों के शासन का सर्वोच्च अधिकारी राजन ही होता था। राजन को प्रमुख रूप से तीन प्रकार के काम करने पड़ते थे—(1) सैनिक कार्य, (2) प्रशासनिक कार्य तथा (3) न्याय सम्बन्धी कार्य। सैनिक कार्यों के अन्तर्गत पूरे जन की सुरक्षा की जिम्मेदारी राजन पर होती थी। युद्ध और आक्रमण के समय इसे सेना का नेतृत्व करना पड़ता था। शांतिकाल में अपने जन में सभी प्रकार की शांति-व्यवस्था तथा प्रजा की भौतिक एवं आध्यात्मिक उन्नति का उत्तरदायित्व भी राजन पर होता था। इसके साथ अपने जन या राज्य के झगड़ों या विवादों को भी उसे मुख्य न्यायाधीश के रूप में हल करना पड़ता था। सम्पूर्ण शासन के कार्य संचालन का आधार ऋग्वेद में वर्णित व्यवस्था थी।

जन के पदाधिकारी —प्रशासनिक कार्यों में राजन की सहायता के लिए कुछ पदाधिकारी होते थे, जिनमें पुरोहित, सेनानी (सेनापति) तथा ग्रामीण प्रमुख थे। पुरोहित का पद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता था। शान्ति काल में वह धार्मिक कार्यों में व्यस्त रहता था और युद्धकाल में अपने राजा की जीत तथा सैनिकों का उत्साह बढ़ाने के लिए ईश्वर से प्रार्थना करता था। सेनानी सेना का सेनापतित्व एवं सैन्य संचालन करता था। ग्रामणी ग्राम का नेता तथा गाँवों में राजन के पदाधिकारी के रूप में होता था। वह गाँव की जनता तथा राजन के बीच सम्पर्क बनाये रखने का कार्य करता था। इनके अतिरिक्त पुरप, स्पश तथा दूत नाम के अन्य पदाधिकारी भी होते थे। पुरप दुर्गपति होते थे, स्पश गुप्तचरों को कहते थे तथा दूत दौत्य-कार्य करते थे।

समिति एवं मंत्रणा—ऋग्वैदिक काल में राजा निरंकुश नहीं होते थे। ऋग्वेद में समिति, मन्त्रणा तथा सभा आदि संस्थाओं का वर्णन आया है, जो राजा को प्रशासनिक सलाह देने तथा उस पर नियन्त्रण करने के लिए होती थीं। राजा को इन संस्थाओं की राय माननी पड़ती थी। समिति एक जनसंस्था थी, जिसका गठन सम्पूर्ण जन की प्रजा से होता था। राज्याभिषेक, युद्ध, सन्धि आदि महत्त्वपूर्ण मामलों पर समिति की बैठकों में निर्णय लिया जाता था। समिति के निर्णय मान्य होते थे। यह एक केन्द्रीय संस्था के रूप में थी, जो राजनीतिज्ञ कार्यों के साथ-साथ सामाजिक कार्य भी सम्पन्न करती थी। समिति के अतिरिक्त राजा के प्रमुख परामर्शदाताओं व मंत्रियों की एक परिषद् होती थी, जिसे ऋग्वेद में मंत्रणा (मंत्रिपरिषद्) कहा गया है। वैदिक काल में इन संस्थाओं के होने के प्रमाणों से वह अवश्य कहा जा सकता है कि आधुनिक संसदात्मक प्रणाली अपने प्रारम्भिक रूप में उस समय विद्यमान थी और वैधानिक प्रशासन का विकास हो चला था।

सभा—समिति और मन्त्रणा के अतिरिक्त ऋग्वेद में 'सभा' नामक संस्था का भी उल्लेख मिलता है। वैसे सभा के सही अर्थ के बारे में विद्वानों में मतभेद है; किन्तु अधिकांश विद्वान मानते हैं कि सभा एक ग्राम संस्था थी। गाँव के लोगों ने सामूहिक मसलों को तय करने के लिए अपनी एक प्रबन्ध करने वाली संस्था बनाली थी, जिससे सभा कहा जाता था। कालान्तर में जब कई गाँव मिलकर जनों के रूप में आ गए तो यह सभा नहीं रही।

न्याय—ऋग्वैदिक काल में मन्त्रियों और पुरोहितों की सहायता से राजा न्याय का काम करता था। न्याय का आधार प्रचलित परम्पराएँ थीं। अपराधों के निर्णय के लिए कठिन परीक्षाएँ, जैसे—अग्नि परीक्षा, जल परीक्षा आदि ली जाती थी। अपराध प्रकट होने पर अपराधी को एक खूटे से बाँध दिया जाता था और क्षति उठाने वाले व्यक्ति की इच्छानुसार उसे दण्ड दिया जाता था। दण्ड के रूप में मृत्यु-दण्ड और शारीरिक दण्ड की व्यवस्था थी, किन्तु साधारणतया दण्ड जुर्माने के रूप में दिया जाता था। जुर्माने का मूल्य गायों से आंका जाता था। गाँवों में अपराधों

के मामलों को निपटाने हेतु पंच मध्यस्थ बनकर फैसला करते थे। अपराधों का पता लगाने के लिए उग्र (पुलिस) होते थे।

सैनिक संगठन—ऋग्वेद काल में जन का प्रत्येक पुरुष सिपाही के रूप में होता था। साधारणतया सैनिक लोग पैदल युद्ध करते थे और धनुष बाण से लड़ते थे। राजा और योद्धा रथों पर सवार होकर युद्ध करते थे। वे कवच, लोहे का टोप आदि पहनते थे तथा तलवार, भाले, गुर्ज तथा फैंक कर मारने वाले हथियारों का प्रयोग करते थे। घेरा डालने तथा दुर्ग तोड़ने के वर्णन भी मिलते हैं। युद्ध में धर्म को प्रधानता दी जाती थी। असहाय, घायल, शरण में आय हुआ तथा निःशस्त्र व्यक्ति पर प्रहार नहीं किया जाता था।

सामाजिक जीवन

परिवार—ऋग्वैदिक काल में आर्यों के सामाजिक संगठन का आधार परिवार या कुटुम्ब थे। आर्यों ने भारत में पितृसत्तात्मक संयुक्त परिवार प्रणाली का विकास कर लिया था। माता-पिता, भाई-बहिन, काका-भतीजा, पुत्र-पुत्री आदि एक परिवार में सामूहिक रूप से रहते थे और मिल-जुल कर काम करते थे। परिवार का सबसे वयोवृद्ध पुरुष परिवार का मुखिया होता था। सभी व्यक्ति उसकी आज्ञा का पालन करते थे। ऋग्वेद काल का पारिवारिक जीवन सुख शांतिमय था।

समाज में स्त्रियों का स्थान—परिवार में पुरुष की प्रधानता होने पर भी समाज में स्त्रियों का सम्मानित स्थान था। पर्दा प्रथा का प्रचलन नहीं था। स्त्रियाँ यज्ञ-याजन तथा धार्मिक उत्सवों में स्वतन्त्रतापूर्वक भाग लेती थी। उनके बिना धार्मिक कृत्य अधूरे समझे जाते थे। कन्याओं की शिक्षा का समुचित प्रबन्ध था, जिसके परिणामस्वरूप उस युग में घोषा, अपाला, लोपामुद्रा, श्रद्धा आदि परम विदुषी स्त्रियाँ हुई थी जिनका वैदिक ऋचाओं की रचना में बड़ा भारी योगदान रहा था। परिवार में भी स्त्रियों का स्थान उच्च था। वे पति की अर्द्धांगिनी तथा गृहस्वामिनी मानी जाती थी। उनका मुख्य कार्य पतिसेवा और कौटुम्बिक जीवन को सुखी बनाना था। उनके आचार-विचार उच्च होते थे। फिर भी उन्हें पुरुषों के संरक्षण में रहना पड़ता था।

विवाह—ऋग्वैदिक काल में साधारणतया एक विवाह प्रथा प्रचलित थी। राजा बहु-विवाह करते थे। विवाह को एक पवित्र संस्कार माना जाता था। यद्यपि वर-कन्या पर पिता का नियन्त्रण होता था, किन्तु उन्हें अपने जीवन साथी चुनने में अपना निर्णय देने की स्वतन्त्रता थी। विवाह धार्मिक व्यवस्थानुसार पुरोहित लोग सम्पन्न करवाते थे। दहेज प्रथा का प्रचलन नहीं था। विधवा विवाह कर सकती थी। राजघराने में स्वयंवर विवाह का प्रचलन था। बाल विवाह नहीं होते थे।

रहन सहन—आर्यों की वेश-भूषा साधारण थी। वे मुख्यकर तीन वस्त्र पहिनते थे। कमर के नीचे धोती जिसे 'नींवी' कहा जाता था, शरीर पर शाल की भाँति ओढ़ा जाने वाला वस्त्र जिसे 'वास' कहा जाता था तथा इसके और ऊपर

से ढके जाने वाले वस्त्रों को—'अधिवास' या 'द्रोपी' कहा जाता था। आर्यों में पगड़ी पहिनने का भी रिवाज था। पगड़ी को 'उष्णीय' कहा जाता था। आर्यों के वस्त्र सूत, ऊन तथा मृगचर्म के होते थे। वस्त्रों को सींकर भी पहिना जाता था। वस्त्रों की रंगाई तथा उन पर सोने-चाँदी का जरी का काम किया जाता था। आर्य स्त्री और पुरुष, दोनों बाल रखते थे। पुरुष दाढ़ी भी रखते थे। स्त्रियाँ विविध प्रकार से केश सवारती थी, वेणी गूँथती थी और जूड़ा बाँधती थीं। स्त्रियों तथा पुरुषों दोनों को आभूषण पहनने का शोक था। वे मुख्यतया हार (निष्क) कठुले, नूपुर, गजरे, भुजबंध, केयूर, कंकरण, अंगूठी आदि आभूषण पहिनते थे। सिर पर 'कुम्ब' नामक विशेष प्रकार का आभूषण भी धारण किया जाता था।

खान-पान—आर्यों का खान-पान भी सादा व शक्तिदायक था। उनके भोजन में गेहूं, जौ, घी, दूध, दही, फल तथा सब्जियों की प्रधानता थी। ऋग्वैदिक आर्य मांसाहारी भी थे। मांस का प्रयोग विशेष अवसरों पर होता था। आर्य लोग विशेष अवसरों पर सोम रस नामक मादक पेय पीते थे। किन्तु यह शराब न होकर एक विशेष प्रकार के वनस्पति रस होता था जिससे अब लोग परिचित नहीं हैं।

नैतिकता—आर्यों ने मानव जीवन को उसके समग्र रूप मे देखा था और वे नियमितता और नैतिकता को बड़ा महत्व देते थे। उनके आचार-विचार बड़े पवित्र थे. सत्य बोलना, अथिति सत्कार करना उत्तम समझा जाता था। चोरी, लूट-पाट आदि की पाप की दृष्टि से देखा जाता था।

मनोरंजन—जीवन को आनन्दपूर्वक बिताना आर्यों का व्यसन था। घुड़दौड़, नृत्य और संगीत आदि के कार्यक्रमा से वे अपना मनोरंजन करते थे। नृत्य और संगीत आदि क कार्यक्रमों से वे अपना मनोरंजन करते थे। नृत्य और संगीत के बड़े-बड़े आयोजन होते थे। उनमें स्त्री-पुरुष दोनों भाग लेते थे। शिकार खेलकर भी वे मनोरंजन करते थे। रथ-दौड़ उनका प्रिय खेल था।

आर्यों की सामाजिक संस्थाएं

भारतीय आर्यों के सामाजिक जीवन के साथ उनके समाज में विकसित होने वाली-वर्ण व्यवस्था और आश्रम-व्यवस्था का घनिष्ठ सम्बन्ध है। विद्वानों की मान्यता है कि आर्यों की सामाजिक व्यवस्था की ये दोनों महत्वपूर्ण संस्थाएं ऋग्वैदिक काल में जन्म ले चुकी थी, किन्तु इनका पूर्ण विकास उत्तर वैदिक काल और उसके बाद के युगों में हुआ।

वर्ण व्यवस्था—प्रारम्भिक अवस्था में आर्यों के समाज में. वर्ण व्यवस्था का कोई विधान नहीं था और उसकी आवश्यकता भी नहीं थी। आर्य जन-समुदाय का प्रत्येक व्यक्ति अपना-अपना कार्य स्वयं करता था और उनका मिला-जुला समाज था। लेकिन, भारत में अपने प्रसार के साथ आर्यों को नवीन परिस्थितियों का सामना करना पड़ा और इस देश में बस रही अन्य जातियों के साथ पग-पग पर संघर्ष एवं युद्ध करने पड़े। परिणामस्वरूप आर्यों को अपने समाज में ऐसे तीन वर्गों

की आवश्यकता हुई जिनमें से एक युद्ध-विद्या में योग्यता प्राप्त कर अपने धन-जन की रक्षा कर सके, दूसरा उनके धर्म और ज्ञान की रक्षा और शत्रुओं को परास्त करने के लिए निरन्तर अपने देवी-देवताओं से प्रार्थना कर सके और तीसरा जो उनके पूरे समाज की भौतिक जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए आर्थिक व्यवसाय जैसे कृषि, उद्योग, व्यापार आदि में लगा रह सके। इन आवश्यकताओं ने आर्यों को अपने समाज में वर्ग विभाजन के लिए बाध्य किया। परिणामस्वरूप आर्यों के समाज में इन तीनों कार्यों को पूरा करने वाले तीन वर्गों का जन्म हुआ जिन्हें बाद में क्रमश: क्षत्रिय, ब्राह्मण तथा वैश्य कहा जाने लगा। समय बीतने के साथ भारत में पहले से बसने वाली जातियों के लोग, जो युद्ध में आर्यों से पराजित होते रहे, वे भी आर्यों के समाज के अंग बने। किन्तु इन लागो को पराजित होने वालों की स्थिति के कारण आर्यों ने इन्हें अपने समाज में नीचा स्थान दिया और अपने मूल समाज के तीनों वर्गों की सेवा का कार्य सौंपा। इस प्रकार आर्यों के समाज में चौथा वर्ग सम्मिलित हुआ। समाज के इस चौथे वर्ग को कालान्तर में 'शूद्र' नाम से पुकारा जाने लगा। किन्तु यहा यह समझ लेना आवश्यक है कि ऋग्वैदिक काल तक यह वर्ग विभाजन अपने समाज की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मुख्यतया कार्य कर सकने की योग्यता पर आधारित था। इस काल में इन वर्गों के लिए 'वर्ण' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया था। समाज इन वर्गों में परस्पर सम्बन्ध थे और किसी दूसरे वर्ग में कार्य करने की योग्यता के विकास पर व्यक्ति अपना वर्ग बदल सकता था लेकिन, ऋग्वैदिक काल का यह वर्ग विभाजन बाद के युगों में वर्ण-विभाजन के रूप में माना जाने लगा तथा वर्ग को 'वर्ण' नाम से पुकारा जाने लगा। बाद में व्यवस्थाकारों ने इन (वर्गों) के निर्धारण का आधार कार्य योग्यता के आधार पर वर्ण (वर्ग) विशेष में जन्म लेने को माना। इस प्रकार ऋग्वैदिक आर्यों के समाज की यह 'वर्ग व्यवस्था' वर्ण व्यवस्था के रूप में विकसित हुई, जो भारतीय इतिहास में चतुर्वर्ण व्यवस्था के नाम से जानी जाती है।

वर्ण व्यवस्था के विकास के उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि अपने विकास की प्रारम्भिक अवस्था में भिन्न भिन्न प्रकार के काम की योग्यता के आधार पर वर्ण व्यवस्था एक सामाजिक वर्ग विभाजन के रूप में विकसित हुई थी। कालान्तर में इस सामाजिक वर्ग विभाजन ने वर्ण व्यवस्था का रूप ले लिया और कर्म के स्थान पर किसी वर्ण (वर्ग) विशेष में जन्म लेना इनका आधार बना। समय बीतने के साथ बाद में इनमें कठोरता और जटिलता बढ़ती गई। इसी के परिणामस्वरूप बाद के युगों में प्रत्येक धर्म में भी विविध जातियों का उदय हुआ और जन्म के आधार पर जाति व्यवस्था का जटिल रूप विकसित हुआ।

आश्रम व्यवस्था—वर्ण व्यवस्था की तरह ही ऋग्वैदिक काल में आर्यों ने मनुष्य के जीवन की विभिन्न अवस्थाओं में शारीरिक क्षमताओं तथा अनुभवों के विकास की परिस्थितियों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन कर मनुष्य के पूरे जीवन को 100 वर्ष का स्वीकार कर चार भागों में बाँटा था। इसे ही आश्रम व्यवस्था कहा

जाता है। इसके अनुसार 25 वर्ष की आयु की अवस्था तक व्यक्ति ब्रह्मचर्याश्रम में रहकर ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए विद्याभ्यास करता था। दूसरा आश्रम गृहस्थाश्रम था, इस आश्रम में प्रत्येक व्यक्ति 50 वर्ष की आयु तक सांसारिक कार्यों में व्यस्त रहते हुए अपने पारिवारिक उत्तरदायित्व को पूर्ण करता था। इस अवस्था के बाद अपनी शारीरिक शक्तियों के शिथिल पड़ जाने पर शान्तिपूर्ण एकान्त जीवन बिताने के लिए आर्यों ने तीसरे वानप्रस्थाश्रम की व्यवस्था की थी। इस अवस्था में व्यक्ति पारिवारिक उत्तरदायित्व से मुक्त होकर ईश्वर स्मरण में शान्तिपूर्ण जीवन व्यतीत करता था और अपना समय अध्ययन में लगाता था। चौथा आश्रम, संन्यासाश्रम था, इस अवस्था में सांसारिक मोह-माया का त्याग कर जीवन के अंतिम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति के प्रयत्नों में व्यक्ति शेष जीवन व्यतीत करता था। वस्तुतः आर्यों ने आश्रम व्यवस्था के निर्धारण में व्यक्ति की शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक शक्तियों के क्रमिक विकास के साथ उनके सार्थक उपयोग की समुचित व्यवस्था की थी। लेकिन यह व्यवस्था पूर्ण रूप से उत्तरवैदिक काल में निश्चित स्वरूप ले सकी थी।

आर्थिक व्यवस्था—ग्राम्य सभ्यता होने के कारण आर्यों का मुख्य व्यवसाय कृषि करना था। बैलों की सहायता से वे खेत में हल हांक कर बीज बोते थे। नहरों एवं कुओं से सिंचाई करते थे। भूमि को उपजाऊ बनाने लिए वे खाद डालना भी जानते थे। उनकी मुख्य फसलें गेहूं, जौ, धान, फल तथा सब्जियाँ थीं खेती के कार्य के अतिरिक्त पशुपालन भी उनके आर्थिक जीवन का मुख्य अंग था। गाय, बैल, घोड़ा, बकरी, कुत्ते तथा गधे उनके पालतू पशु थे। कृषि एवं पशु पालन के अतिरिक्त चमड़े का काम, कपड़ा बुनना, कुम्हार का काम, धातु के बर्तन, शस्त्र तथा आभूषण बनाना, रंगाई व कशीदाकारी का काम करना आदि उद्योग भी विकसित थे। लकड़ी की नाव तथा बांस की चटाइयाँ आदि बनाने के उद्योग भी प्रचलित थे। उन्होंने व्यापार का भी काफी विकास कर लिया था। बाह्य देशों से भी इनके व्यापारिक सम्बन्ध थे। व्यापार का काम करने वालों को 'पणि' कहा जाता था। व्यापारिक विनिमय का साधन गायें थीं। वस्तु का मूल्य गायों से आंका जाता था। बाद में 'निष्क' नामक सोने के सिक्के का प्रचलन हुआ था। व्यापारिक यातायात के लिए रथ, गाड़ी, नाव तथा जहाजों का प्रयोग होता था। समग्र रूप में आर्यों की अर्थ व्यवस्था उन्नत थी।

धर्म

देव समूह—ऋग्वैदिक आर्य मूलतः प्रकृति के उपासक थे और बहुदेववादी थे। जिन प्राकृतिक शक्तियों से उन्हें जीवन शक्ति और मानसिक प्रेरणा मिली थी, उन्हें आर्यों ने देवता के रूप में स्वीकार कर लिया था। उन्होंने देवताओं की कल्पना मनुष्यों को सुख पहुंचाने वाली शक्ति तथा दयालु के रूप में की थी। ऋग्वेद के आधार पर पता चलता है कि उनके देवी-देवताओं की संख्या 33 थी। आर्यों के

इस देव समूह को विद्वानों ने तीन भागों में बाँटा है। (1) आकाशीय (2) अन्तरिक्षीय (मध्य) के देवता तथा (3) पृथ्वी के देवता।

आकाश के देवताओं में द्योस (आकाश), वरुण, मित्र, सूर्य, विष्णु, उषा आदि सम्मिलित थे। इनमें सूर्य का स्थान सबसे महत्त्वपूर्ण था। अन्तरिक्षीय देवताओं में इन्द्र, रुद्र, मारुत, वात आदि आते थे। इनमें इन्द्र का प्रमुख स्थान था। पहले इन्द्र शक्ति का देवता माना जाता था, किन्तु धीरे-धीरे वह वर्षा का देवता माना जाने लगा तथा वर्षा से होने वाले लाभों के कारण उसे राष्ट्र का देवता माना गया। पृथ्वी के देवताओं में पृथ्वी, अग्नि, सोम, बृहस्पति और सरस्वती आते थे। इनमें अग्नि का स्थान महत्त्वपूर्ण था। विविध प्रकार के देवी-देवताओं की कल्पना करने पर भी आर्य एकेश्वरवाद (एक सत्) की भावना को भी समझ चुके थे।

पूजा उपासना विधि—अपने देवी-देवताओं को प्रसन्न करने के लिए आर्य उनकी दो तरीकों से पूजा करते थे—एक प्रार्थना व स्तुति द्वारा तथा दूसरी यज्ञों द्वारा। यज्ञ उनकी उपासना का मुख्य अंग था। इसलिए ऋग्वैदिक आर्यों के धर्म को 'यज्ञ धर्म, कहा जाता है। यज्ञों में अन्न, घी, माँस तथा सुगन्धित सामग्री की आहुति देकर आर्य अपने देवताओं से लम्बी आयु, पुत्र-पौत्र और धन्य-धान्य की प्राप्ति तथा शत्रुओं का विनाश करने की प्रार्थना करते थे। उस युग में मन्दिरों का निर्माण नहीं हुआ था और न मूर्ति पूजा प्रचलित थी; किन्तु ऋग्वेद में एक स्थान पर दस गायें देकर इन्द्र की प्रतिमा लेने का उल्लेख आया है, इससे ज्ञात होता है कि मूर्ति-पूजा से वे परिचित अवश्य थे।

वैदिक साहित्य—भारत में स्थायी रूप से बस कर आर्यों ने अपना विकास केवल सासरिक सुख-सुविधा के साधन जुटाने तक ही नहीं किया। उन्होंने अपने जीवन में सत्य और जीवन में अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति के बारे में भी खूब चिन्तन किया और 'वेद' के रूप में विस्तृत साहित्य का भण्डार दिया। वेद का अर्थ ज्ञान होता है। आर्यों का पूरा ज्ञान वेदों में निहित है और वेद उनके सम्पूर्ण साहित्य और दर्शन की आधारशिला है।

वेद चार हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। इसमें से ऋग्वेद सबसे प्राचीन और प्रमुख है। यह संसार का लिखित रूप में प्राप्त सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ है। भारत में इसका धार्मिक द्रष्टि से काफी महत्त्व है और भारतीय इसे 'अपौरुये' कहते हैं। किन्तु यह याद रखने की बात है कि किसी एक व्यक्ति द्वारा एक समय में रचा या लिखा गया ज्ञान नहीं है। अपनी सभ्यता के विकास में अलग-अलग समय में भिन्न-भिन्न ऋषियों द्वारा जो मंत्रादि बनाए गए थे, उन्हीं का संकलित रूप वेद है। आरम्भ में वेद लिखित नहीं थे। उनका ज्ञान मौखिक रूप से ही आगे बढ़ता गया था। गुरु अपने शिष्यों को मौखिक रूप से ही उन्हें कंठस्थ कराते थे। लम्बे समय तक सुनकर सीखे जाने के कारण ही वैदिक साहित्य को 'श्रुति' कहा जाता है। वेदों की रचनाओं का अधिकांश भाग पद्य में है तथा

गेय छन्दों को 'साम' कहा जाता है। इन तीनों प्रकार के रचना रूपों की क्रमशः अपने में प्रधानता होने के कारण प्रथम तीनों वेदों का नाम 'ऋग्वेद' 'यजुर्वेद' तथा 'सामवेद' पड़ा है। इन तीनों को 'त्रयी' भी कहा जाता है। अथर्ववेद बहुत बाद की काल की रचना है।

ऋग्वेद—आर्यों के साहित्य का सबसे पहला संकलन ऋग्वेद है। इसमें 107 'सूक्त' हैं। सुक्त का अर्थ अच्छी उक्तियाँ होता है। ऋग्वेद के सभी सूक्त 10 मण्डलों (भाग में विभक्त हैं। इन सूक्तों की रचना विभिन्न वैदिक ऋषियों द्वारा विभिन्न देवताओं की स्तुति के रूप में की गयी हैं। इन स्तुतियों से तत्कालीन भारत के सांस्कृतिक जीवन तथा समाज, धर्म, शासन आदि के बारे में काफी जानकारी मिलती है। अतः ऋग्वेद केवल आर्यों के धार्मिक पक्ष को बताने वाला ग्रन्थ ही नहीं, बल्कि भारत के प्राचीन इतिहास को बताने वाला महत्वपूर्ण साहित्य भी है।

यजुर्वेद—यह वेद मंकाण्ड प्रधान है और ऋग्वेद के बाद का संकलन है। यह शुक्ल तथा कृष्ण यजुर्वेद, दो रूपो में मिलता है। इन दोनों में शुक्ल यजुर्वेद अधिक प्रसिद्ध है। इसमें चालीस अध्याय है, जिसमें से प्रत्येक का सम्बन्ध किसी अनुष्ठान से है। यह ग्रन्थ ऋग्वैदिक काल और उसके बाद में आर्यों के जन-जीवन में आ जाने वाले परिवर्तनों को प्रकट करता है।

सामवेद—सामवेद में उन ऋचाओं का संकलन है, जो प्रमुख धार्मिक अवसरों पर लय के साथ गाई जाती थीं। इसमें केवल 75 मन्त्र नये हैं, बाकी सभी ऋग्वेद के हैं। यह वैदिक युग की संगीत साधना का परिचय कराने वाला ग्रन्थ है।

अथर्ववेद—जैसा कि पहले आपने पढ़ा है, अथर्वेद बहुत बाद के काल की रचना है। इसमें 40 अध्याय हैं और इसका सम्बन्ध मुख्यतया आर्यों के घरेलू जीवन से है। इसमें भूत-प्रेत आदि अन्धविश्वासों का भी वर्णन है। लेकिन आर्यों के दार्शनिक विचारों का संग्रह भी इसमें है। अतः आर्यों की सभ्यता का ज्ञान प्राप्त करने में यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी है। साथ ही भारतीय विज्ञान के इतिहास का परिचय भी हमें इस ग्रन्थ से मिलता है, किन्तु साहित्यिक दृष्टि से इसका अधिक महत्व नहीं है।

ब्राह्मण आवश्यक एवं उपनिषद्—आर्यों का साहित्य केवल इन चारों वेदों तक ही सीमित नहीं है। वेदों के सिवाय 'ब्राह्मणः 'आरण्यक' तथा 'उपनिषद्' आदि रचनाएँ भी आर्य साहित्य का प्रमुख अंग हैं। यद्यपि ये रचनाएँ बाद के काल की हैं, किन्तु इनमें वैदिक ऋचाओं की विविध प्रकार से व्याख्या प्रस्तुत की गई है। इनसे आर्यों के जन-जीवन, शासन व्यवस्था तथा उनके भारत में प्रसार का परिचय मिलता हैं। इनकी भाषा परिष्कृत तथा पाण्डित्य उच्च कोटि का है। ब्राह्मण ग्रन्थ के अन्त में वानप्रस्थाश्रम तथा संन्यासी जीवन व्यतीत करने से सम्बन्धित ज्ञान के अंश जुड़े हैं। इनका सम्बन्ध मुख्यतया जंगल में एकान्त जीवन व्यतीत करने की बातों से

है इसलिए इन्हें आरण्यक कहा गया है। इन्हीं आरण्यकों से कालान्तर में उपनिषद साहित्य का विकास हुआ। उपनिषद का अर्थ, पास-पास बैठकर चर्चा करना होना है। उपनिषदों में उन्हीं चर्चाओं का वर्णन है जो आर्य गुरु-शिष्य पास-पास बैठ कर किया करते थे। वास्तव में भारतीय मनीषियों द्वारा जीवन और सृष्टि से सम्बन्धित गूढ़ चिन्तन के परिणामस्वरूप प्रकट होने वाले अन्तिम सत्य की विवेचना उपनिषदों का मुख्य विषय है। जर्मन विद्वान मैक्समूलर ने तो उपनिषदों को मनुष्य की आश्चर्य जनक कृति बताया है।

उपवेद वेदांगादि— आर्यों के ऋग्वेद से लेकर उपनिषदों तक के पूरे साहित्य को 'श्रुति साहित्य' कहा जा सकता है। किन्तु इसके सिवाय उपवेद, वेदांग, धर्म शास्त्र, सूत्र आदि वैदिक ज्ञान से सम्बन्धित साहित्य का बाद के आने वाले युग में विकास हुआ था। इस साहित्य को 'स्मृति साहित्य' कहा जाता है। स्मृति साहित्य आर्यों के गणित, ज्योतिष, आयुर्वेद, चिकित्सा तथा अन्य प्रकार के ज्ञान और साहित्य व शैक्षणिक प्रगति का परिचय कराता है।

आर्यों के इस सम्पूर्ण साहित्य से पता चलता है कि उन्होंने अपने जीवन के सुखमय क्षणों को व्यर्थ नहीं गंवाया, बल्कि अपना समय आध्यात्मिक चिन्तन में व्यतीत किया, जिसके परिणामस्वरूप संसार को वास्तविक ज्ञान से भरे पूरे एक विशाल साहित्य का भण्डार प्राप्त हुआ। वस्तुतः यह साहित्य विश्व को आर्यों की अनूठी देन है।

आर्यों की दार्शनिक विचारधारा—साहित्यिक रचना के साथ ही भारतीय आर्यों के जीवन के परम लक्ष्य, मोक्ष प्राप्ति के बारे में भी खूब विचार किया था। इसी के परिणामस्वरूप छः दार्शनिक विचारधाराओं का भारत में विकास हुआ। इन्हें सांख्य, न्याय, वैशेषिक, योग, मीमांसा तथा वेदान्त दर्शन कहा जाता है। इसमें सांख्य दर्शन सबसे प्राचीन है। इसके अनुसार जगत का निर्माण प्रकृति और पुरुष के समन्वय से होना बताया गया है तथा तत्व ज्ञान द्वारा सभी प्रकार के दुःखों से मुक्ति का मार्ग बताया गया है। न्याय दर्शन में बुद्धि को सर्व श्रेष्ठ बताया गया है वैशेषिक दर्शन की विशेषता परमाणुवाद है तथा यह पदार्थ विज्ञान का परिचय कराता है। योग दर्शन में यम-नियम, एकाग्रता, समाधि, तपस्या आदि को आत्मा की उन्नति का साधन बताया गया है। मीमांसा कर्मकाण्ड प्रधान दर्शन है। इसमें वेद वाक्यों का एकीकरण किया गया है तथा उनका वास्तविक अर्थ बताया गया है। वेदान्त-दर्शन उपनिषदों का संक्षिप्त सूत्रात्मक रूप है इसमें ब्रह्म तत्व का निरूपण है और ब्रह्म (एक ईश्वर) को ही सत्य बताया गया है। आर्यों की इन दार्शनिक विचारधाराओं की जानकारी से ज्ञात होता है कि आर्ययुगीन भारत में नैतिक और आध्यात्मिक भावना पूर्णरूपेण विकसित थी। इसलिए उन्होंने 'ऋत्' की धारणा का विकास किया था। ऋत् के विश्वव्यापी नियम थे, जिसके अनुसार आचरण करने

इसलिए आर्यों के देवता तक बंधे थे तथा ऋत् के विरुद्ध चलना पाप का कर्म माना जाता था।

कला—ऋग्वेद में हजार खम्भों एवं हजार द्वार वाले भवनों तथा पुरों (किलों) का उल्लेख आता था। इससे पता चलता है कि आर्य गृह एवं भवन निर्माण कला में प्रवीण थे। आर्य बड़ी इमारतों में पत्थरों का प्रयोग करते थे, किन्तु साधारण मकान बांस, लकड़ी आदि से बनते थे। ऋग्वेद में दिया गया इन्द्र की स्वर्ण मूर्ति का संकेत उस युग में मूर्ति-कला के प्रारम्भ हो जाने की ओर संकेत देता है। संगीत, नृत्य और वाद्य कला का भी आर्यों को पूर्ण ज्ञान था, इसका ऋग्वेद से स्पष्ट पता चलता है।

विज्ञान—कला के साथ ही ज्ञान विज्ञान के क्षेत्र में भी ऋग्वैदिक काल में प्रगति हुई थी गणित, ज्योतिष तथा चिकित्सा के क्षेत्र में आर्यों ने बहुत जानकारी करली थी। ग्रहों का निरीक्षण कर उसका नामकरण किया गया था। रोगोपचार के लिए जड़ी बूटियों और मन्त्रों का प्रयोग होता था।

उतर वैदिक काल

जिस युग में ऋग्वेद के बाद के तीन वेदों तथा ब्राह्मण, आरण्यक आदि साहित्य की रचना हुई, वह समय भारत के इतिहास में उत्तर वैदिक काल के नाम से जाना जाता है। इस युग में ऋग्वैदिक काल की आर्यों की सभ्यता में विकास और परिवर्तन आने लगे थे, उनके जीवन में नई बातों का समावेश होने लगा था और संस्कृति के विभिन्न पक्षों में स्थायित्व आने लगा था।

राजनैतिक संगठन—उत्तर वैदिक काल में आर्यों के मौलिक जनतन्त्रात्मक सीमित राजतन्त्रात्मक राज्यों के स्थान पर बड़े शक्तिशाली राज्यों का उदय होने लगा। राजाओं की महत्वाकांक्षा बढने लगी। वे अपने राज्यों का विस्तार करने लगे तथा स्वेच्छाचारी और निरंकुश बनने लगे। इस तरह इस युग में भारत में साम्राज्य-वाद और सामन्तवादी व्यवस्था पनपने लगी। ऋग्वैद कालीन 'सभा' और 'समिति' जैसी लोकतन्त्रात्मक संस्थाओं का पतन आरम्भ हुआ। राजाओं का पद वंश परम्परा-गत बनने लगा। यही व्यवस्था बाद में जाकर स्थाई राजतन्त्र के रूप में विकसित हुई।

समाज—उत्तर वैदिक काल में समाज में जटिलताएं बढ़ी। कर्म पर आधारित वर्ण व्यवस्था जन्म पर आधारित हो गई। वर्णों के उप-विभाजन से जाति व्यवस्था पनपी तथा विभिन्न काम करने वालों की अलग-अलग जातियां बन गई। इससे समाज में जटिलता पैदा होने लगी और वर्णों के आपसी सम्बन्धों पर प्रतिबन्ध लगने प्रारम्भ हुए। फलस्वरूप जातिगत भेद-भाव, ऊंच नीच, छुआछुत की भावना बढ़ी तथा शूद्रों का अनादर होने लगा। जीवन में चार आश्रमों की व्यवस्था ने स्थाई रूप प्राप्त किया। नारी का सम्मान कम होने लगा। बहु-विवाह-बाल-विवाह आदि कुप्रथाओं का जन्म हुआ। धार्मिक अनुष्ठानों, यज्ञों आदि में स्त्रियों का सम्मिलित

होना आवश्यक नहीं माना जाने लगा। अब नारी विलास की वस्तु बनने लगी। समग्र रूप में जीवन में और रूढ़िवाद पनपा।

आर्थिक व्यवस्था—उत्तर वदिक युग में ऋग्वेद काल का ग्राम्य जीवन नागरिक जीवन की ओर बढ़ने लगा। कृषि के तरीकों व साधनों की उन्नति हुई। कई प्रकार के उद्योग, शिल्प तथा व्यापारिक संगठन बनने लगे। वस्तु विनिमय के स्थान पर व्यापार में सिक्कों का प्रचलन हुआ। इस सबके फलस्वरूप लोगों की आर्थिक दशा उन्नत हुई तथा जीवन में भौतिक सुख-सुविधाएं बढ़ी।

धर्म—ऋग्वैदिक युग में आर्यों का धर्म सरल, सहज और भावना प्रधान था। किन्तु इस युग में धार्मिक क्षेत्र में कट्टरता और जाटिलता आने लगी। ऋग्वेद-कालीन प्राकृतिक शक्तियों के समक्ष समर्पण की भावना कम होने लगी तथा मन्त्रों के बल पर प्राकृतिक शक्तियों को वश में करने की प्रथा चल पड़ी। इससे देवी-देवताओं की विविध प्रकार से पूजा और अराधना के रूप पनपे। मूर्ति पूजा का विकास हुआ। ब्रह्म, विष्णु तथा शिव की प्रतिष्ठा हुई। यज्ञ और कर्मकाण्ठ का महत्त्व अधिक बढा। ब्राह्मणों में अहंकार की भावना बढ़ने लगी। यज्ञों की समाप्ति पर पशु-बलि का रिवाज पनपा। भूत-प्रेत, जादू-टोना आदि अन्धविश्वास बढ़ने लगे। आत्मा की अमरता की भावना बढी, पुनर्जन्म पर विश्वास पनपा तथा कर्मफल की विचारधारा का विकास हुआ। समग्र रूप में हिन्दू धर्म का स्वरूप जटिलता की ओर बढ़ने लगा।

साहित्य, दर्शन एवं कला—इतना होने पर भी, उत्तर वैदिक काल में पर्याप्त मात्रा में साहित्य का निर्माण हुआ। धर्म, दर्शन और अन्य प्रकार के साहित्य के कई ग्रन्थों की रचना हुई। ऋग्वेद के अतिरिक्त पहले वर्णित सारा वैदिक साहित्य इसी युग में लिखा गया। इस युग में आर्यों ने अपनी बुद्धि का प्रयोग वैदिक दर्शन की समस्याओं को सुलझाने में किया और वे सृष्टि के रहस्यों को खोजने लगे। इसी प्रयत्न में उपनिषद् तथा षट्दर्शन की दार्शनिक विचारधाराओं का जन्म हुआ और भारत का दार्शनिक ज्ञान उन्नति की चरम सीमाएं छूने लगा। साथ ही, ज्योतिष तथा खगोल ज्ञान में भी विकास हुआ। कला के क्षेत्र में भी विकास हुआ। नगरों, मन्दिरों तथा देवताओं की अलंकरण युक्त मूर्तियों का निर्माण होने लगा।

सांस्कृतिक समन्वय—आर्यों की सभ्यता से सम्बन्धित उत्तर वैदिक विचार-धारा के साथ अवैदिक विचारधारा का सामंजस्य स्थापित हुआ। इसका कारण यह था कि उत्तर वैदिक काल में ज्यों ज्यों आर्य भारत के भीतर भागों में बढते गए, त्यों-त्यों उनका सम्पर्क यहाँ पर पहले से रहने वाले लोगों से होता गया। इस सम्पर्क का परोक्ष प्रभाव मूल आर्य संस्कृति पर पड़ने लगा। आर्यों ने इस लोगों की कई बातें अपना कर उन्हें अपने ढंग से विकसित किया। मुख्य रूप से धर्म के क्षेत्र में यह प्रभाव अधिक पड़ा। उत्तर वैदिक काल में होने वाले सांस्कृति समन्वय से मोक्ष की निवृति मार्ग की विचारधारा का विकास हुआ और उसी ने आगे आने वाले युग में

प्राचीन भारतीय सभ्यता और संस्कृति के प्रत्येक पक्ष को प्रभावित किया।

इस प्रकार उत्तरवैदिक काल में आर्यों के जीवन के सभी पक्षों में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए तथा एक समन्वित सभ्यता और संस्कृति के उस ढाँचे का निर्माण हुआ जो महाकाव्य और पौराणिक काल में जाकर पूर्ण रूप से विकसित हुआ।

अध्ययन का उपयोग

नीचे दिए गए प्रश्नों का उत्तर दीजिए एवं अपने अध्ययन को उपयोगी बनाइए--

1. आर्यों के मूल निवास स्थान के बारे में कौन-कौन से मत प्रचलित हैं ?
2. सम्पूर्ण आर्यावर्त में आर्यों का प्रसार किस प्रकार हुआ ?
3. आर्यों की वर्ण व्यवस्था और आश्रम व्यवस्था क्या थी ?
4 आर्यों के प्रमुख देवता कौन-कौन से थे तथा उनकी पूजा-उपासना के तरीके क्या थे ?
5. वेद कितने हैं और उनके अतिरिक्त आर्य साहित्य कौन-सा है ?

अध्ययन की जाँच

सही उत्तर का क्रमाक्षर कोष्ठक में लिखिए—

1. आर्यों की सभ्यता के बारे में जानकारी देने वाली सबसे प्राचीन पुस्तक का नाम है—

   (क) ऋग्वेद (ख) अवेस्ता (ग) यजुर्वेद (घ) अथर्ववेद ( )

2. यदि वर्तमान युग में आश्रम व्यवस्था विद्यमान हो, तो विद्याभ्यास करने वाले विद्यार्थी जिस आश्रम में होंगे, वह होगा—

   (क) संन्यासाश्रम (ख) वान-प्रस्थाश्रम
   (ग) ब्रह्माचर्याश्रम (घ) गृहस्थाश्रम ( )

3. महात्मा गांधी यदि उत्तरवैदिक काल में जन्म लेते तो सामाजिक जीवन में आने वाले परिवर्तन में से वे सबसे पहले जिस क्षेत्र में परिवर्तन नहीं होने देने का प्रयत्न करते, वह होता—

   (अ) स्त्रियों की दशा (ख) वर्ण-व्यवस्था
   (ग) शासन-व्यवस्था (घ) धार्मिक-विश्वास ( )

सोच विचार कर उत्तर दीजिए--

1. आर्यों ने दर्शन की कौन-कौन सी विचारधाराओं का विकास किया ?
2. आर्यों के राजनैतिक जीवन की विशेषताओं के आधार पर यह कैसे कहा जा सकता है कि उस युग में भी जनतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था का रूप भारत में था ?
3. निम्नलिखित बिन्दुओं के आधार पर आर्यों की सभ्यता और संस्कृति की विशेषताएं बताइए--

   (1) सामाजिक जीवन (2) अर्थ-व्यवस्था (3) साहित्य।

4. उत्तरवैदिक काल में आर्यों के जीवन में शासन, समाज, अर्थ-व्यवस्था तथा धर्म की दृष्टि से क्या-क्या परिवर्तन आए ?

5. यह कैसे कहा जा सकता है कि भारतीय संस्कृति एक मिली-जुली संस्कृति है और उसके विकास में आर्यों का प्रमुख हाथ रहा है ?

निम्नलिखित क्रियात्मक कार्य कीजिए—

1. अविभाजित भारत के ऐतिहासिक मानचित्र में आर्यों का प्रसार क्षेत्र अंकित कीजिए तथा सप्त-सैन्धव, ब्रह्मर्षि देश, मध्य देश और आर्यावर्त को अंकित करते हुए उस युग की प्रमुख नदियों को दिखाइए ।

पूरक अध्ययन ग्रन्थ

1. डॉ० हेमचन्द्रराय चौधरी : प्राचीन भारत का राजनैतिक इतिहास
2. राजबली पाण्डेय : प्राचीन भारत
3. राधाकुमुद मुकर्जी : हिन्दू सभ्यता
4. डॉ० ओमप्रकाश : प्राचीन भारत का इतिहास
5. शर्मा-व्यास : प्राचीन भारत

अध्याय 4

महाकाव्य तथा पौराणिक युग की सभ्यता

पिछले अध्याय में आपने ऋग्वैदिक एवं उत्तरवैदिक काल के भारत में आर्यों द्वारा विकसित भारतीय सभ्यता के बारे में पढ़ा है । भारतीय इतिहास में उत्तरवैदिक काल के बाद लगभग एक हजार वर्ष का समय महाकाव्य तथा पौराणिक काल के नाम से जाना जाता है । इस युग का इतिहास रामायण तथा महाभारत नामक दो महाकाव्यों तथा भारतीय मनीषियों द्वारा रचित अठारह पुराणों के आधार पर जाना जाता है । इसलिए इस काल की भारतीय सभ्यता को महाकाव्य एवं पौराणिक काल की सभ्यता कहा जाता है । वैसे ये महाकाव्य और पुराण अपने वर्तमान रूप में बाद में सम्पादित की गई रचनाएं हैं, किन्तु डॉ० हेमचन्द्रराय चौधरी, सीतानाथ प्रधान, पर्टीजर तथा डॉ० जायसवाल आदि विद्वानों ने अपने-अपने अध्ययन के आधार पर इन ग्रन्थों में वर्णित घटनाओं के समय को निश्चित करने के प्रयास में जो मत दिए हैं, उनके सहारे इन ग्रन्थों में वर्णित घटनाओं को लगभग 1400 ई. पू. से 600 ई. पू. तक का स्वीकार किया जा सकता है । ऐसी स्थिति में ये महाकाव्य और पुराण उत्तर वैदिक काल के पश्चात् महावीर स्वामी और महात्मा बुद्ध के युग से पहले तक की भारतीय सभ्यता और संस्कृति की जानकारी देते हैं ।

रामायण—भारत के प्रथम कवि महर्षि वाल्मीकि द्वारा रचित रामायण भारत का आदि महाकाव्य है । इसमें मुख्यतया इक्ष्वाकुवंशी राजा दशरथ के पुत्र राम के जीवन का वर्णन है । लेकिन इस कथानक के माध्यम से राम के जीवन की

घटनाओं के साथ ही एक आदर्श राज्य-व्यवस्था के स्वरूप का भी बोध होता है, जिसमें व्यक्ति के महत्व के साथ समाज के हित तथा मानव की वैचारिक स्वतन्त्रता की भावना के दर्शन होते हैं। इस ग्रन्थ से उस युग के भारतीय राज्यों, उनके आपसी सम्बन्धों तथा जन-जीवन की जानकारी भी होती है।

महाभारत—रामायण की तरह ही महाभारत की मुख्य कथा कौरवों तथा पाण्डवों के बीच होने वाले एक बहुत बड़े युद्ध से सम्बन्धित है। किन्तु इससे दोनों पक्षों की ओर से युद्ध में भाग लेने वाले तत्कालीन भारत के आर्य राज्यों और उनके आपसी सम्बन्धों तथा उनकी व्यवस्थाओं का ज्ञान होता है। यह ग्रन्थ यह भी स्पष्ट करता है कि उस युग में भारत ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में काफी बढ़ा-चढ़ा था। जहाँ एक ओर विनाशकारी शस्त्रास्त्रों के निर्माण का तकनीकी ज्ञान भारतवासियों को था, वहाँ दूसरी ओर गीता जैसे आध्यात्मिक ज्ञान के महाग्रन्थ की रचना कर सकने की सामर्थ्य भी उनमें थी। इतना ही नहीं, यह ग्रन्थ उस समय की भारत की अपनी आध्यात्मिक, धार्मिक तथा दार्शनिक उन्नति के चरम बिन्दु की प्राप्ति का परिचय भी कराता है तथा भारतवासियों को ही नहीं, अपितु संसार भर के लोगों को विनाशकारी वैज्ञानिक शस्त्रास्त्रों के निर्माण से दूर हटकर सत्यक, सदाचार, भक्ति एवं ज्ञान का उपदेश देता है। इसीलिए महाभारत और उसके अंश गीता का भारत में प्राचीन-काल से इतना महत्व है और लोग सन्मार्ग अपनाने की प्रेरणा और प्रोत्साहन देने वाले इस ग्रन्थ के सच्चे सिद्धान्तों के कारण ही इसको इतना महत्व देते आए हैं।

पुराण—महाकाव्यों की भाँति उस युग के इतिहास की जानकारी कराने वाला प्राचीन भारतीय साहित्य का एक विशाल भण्डार और है जिसे पौराणिक साहित्य कहा जाता हैं। मुख्य पुराणों की संख्या अठारह है और अठारह की संख्या में ही उप-पुराण भी हैं। किन्तु उप-पुराणों के बारे में विशेष जानकारी अभी तक नहीं हो पाई है। भारतीय साहित्य के इन अठारह मुख्य पुराणों में विष्णु पुराण, श्रीमद्भागवत पुराण, मत्स्य पुराण तथा स्कन्द पुराण का अधिक महत्व है। सभी पुराणों का मूल वर्ण्य-विषय लगभग समान है, वर्णन शैली ऊपर वर्णित महाकाव्यों सी है और वे महाकाव्यों से किसी न किसी रूप में सम्बन्धित से है। किन्तु बाद में जोड़ी गई काल्पनिक बातों और कहानियों से पुराणों के वर्णन उलझन भरे हो गये हैं तथा उनसे सही ऐतिहासिक तथ्यों को खोज निकालना परिश्रम का काम है। फिर भी, पुराणों से प्राचीन भारत के भूगोल तथा सृष्टि की उत्पत्ति के साथ प्राचीन भारतीय राजवंशों तथा ऋषि-मुनियों की वंशावलियों एवं उस युग की सभ्यता तथा संस्कृति की जानकारी मिलती है। इस दृष्टि से इनका भारी ऐतिहासिक महत्व है। यूरोपीय इतिहासकार बीसेन्ट स्मिथ ने कहा है कि पुराणों के विशद् अध्ययन से भारतीय इतिहास की परम्पराओं के बारे में शुद्ध जानकारी प्राप्त हो सकती है। इसी

लिए वैदिक काल के बाद के भारत के इतिहास का ज्ञान कराने में पुराणों का वही महत्त्व है जो वैदिक एवं उत्तरवैदिक युग की सभ्यता का ज्ञान कराने के लिए चारों वेदों और ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् आदि साहित्य का है।

महाकाव्य एवं पौराणिक युग की सभ्यता

आपको याद होगा कि ऋग्वेदिक काल की आर्यों की सभ्यता और संस्कृति में समय बीतने के साथ परिवर्तन आता गया और उत्तर वैदिक काल के स्वरूप में विकास हुआ। किन्तु समय परिवर्तन और आर्यों के भारत के भीतरी भागों में अधिकाधिक प्रसार के साथ उत्तरवैदिक काल के पश्चात् के युग में भी भारतीय लोगों के जीवन के विविध पक्षों में परिवर्तन आता रहा। यहां यह ध्यान में रखना भी आवश्यक है कि महाकाव्य और पौराणिक युग का समय लगभग एक हजार वर्ष का था। इस कारण इतने लम्बे समय में सभ्यता के विकास की दृष्टि से महाकाव्य काल एवं पौराणिक काल की जीवन-प्रणाली में भी बारीक अन्तर अवश्य रहा। किन्तु मोटे रूप में महाकाव्य और पौराणिक युग के इतने लम्बे समय में भारत में आर्यों द्वारा विकसित सभ्यता और संस्कृति के विभिन्न पक्षों में कई स्थाई व्यवस्थाओं का विकास हुआ।

राजनैतिक व्यवस्था—महाकाव्य और पौराणिक काल तक आते-आते आर्यों की जनतन्त्रात्मक भावना वाली सीमित राजतन्त्र व्यवस्था पूर्ण राजतन्त्रात्मक रूप में बदल गई थी। कुछ अंशों में राज्य की वैदिक उत्पत्ति के सिद्धान्त की स्थापना इस युग में हो गई थी। राजा की प्रतिष्ठा देवता के समान होने लगी थी। किन्तु प्रजा का राजा के ऊपर अंकुश अवश्य था। राजा सर्वाधिकार सम्पन्न होते हुए भी निरंकुश नहीं होता था। वह परम्परागत रीति-रिवाजों और अपने मन्त्रियों व सलाहकारों की राय का आदर करता था। राज्याभिषेक के समय उसे प्रजाहित की प्रतिज्ञा भी करनी पड़ती थी।

इस समय तक शक्तिशाली साम्राज्यों का निर्माण होने लगा था। शक्तिशाली राजा छोटे राज्यों को जीतकर सम्राट की उपाधि धारण करने लगे थे। अधीनस्थ राजा सामन्तों की तरह होते थे तथा सामन्त प्रथा का विकास होने लगा था। सामन्त साधारणतया अपने राज्यों में स्वतन्त्र होते थे। किन्तु सम्राट को युद्ध के समय धन और सेना की सहायता देते थे। दिग्विजय कर राजसूय तथा अश्वमेध यज्ञ कर अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने की प्रथा चल पड़ी थी। राजगद्दी पर अधिकार पैतृक हो गया था। राजा का उत्तराधिकारी उसका बड़ा पुत्र होता था। किन्तु, अयोग्य पुत्र को सिंहासन पर नहीं बिठाया जाता था।

शासन-व्यवस्था—महाकाव्य एवं पौराणिक काल के भारत में दो प्रकार की शासन-व्यवस्था वाले राज्य थे। अधिकतर राज्यों में राजतन्त्र शासन-व्यवस्था थी और कुछ गणतन्त्रतात्मक राज्य भी थे। राजतन्त्र राज्य में राजकीय कार्यों में सहायता के लिए विस्तृत मन्त्रिपरिषदें होती थीं। प्रत्येक महत्वपूर्ण कार्य में राजा मन्त्रियों

की राय से काम करता था। मन्त्रियों के अलावा अमात्य, सचिव, परिषद-सहाय, अर्थकारी, धार्मिक आदि राजकीय अधिकारी भी होते थे जो राजा के प्रति उत्तरदायी होते थे। शासन की सबसे छोटी इकाई गाँव थे। एक हजार गांवों के शासक को 'अधिपति' कहा जाता था। वही अपने क्षेत्र में कर तथा जुर्माना आदि वसूल करने का कार्य करता था। इस युग में राज्य के उत्तरदायित्व बढ़ गए थे और य. विचार पनप चुका था कि जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति का जिम्मा राज्य का है। ऐसी स्थिति में राज्य पर खर्च का भार बढने लगा था। परिणामस्वरूप राज्य द्वारा पैदावार का 1/10 भाग 'कर'के रूप में लिया जाता था। खानों, समुद्री व्यापार तथा जंगलों पर लगाए जाने वाले 'करों' व जुर्मानों से भी राज्य की आय होती थी। अकाल के समय 'कर' नहीं लिया जाता था।

इस युग में राजा बड़ी-बड़ी सुसज्जित सेनाएँ रखने लगे थे। सेना मुख्यकर पैदल, घुड़सवार, हाथी-सेना, रथ-सेना इन चार भागों में विभक्त होती थी। सेना के उच्च अधिकारी उच्च वर्ग या कुलीन वर्ग के होते थे।

राजतन्त्रों के अलावा उस युग में कुछ गणतन्त्र भी थे। किन्ही किन्ही गणतंत्रों में कुलीन वर्ग के लोग शासन करते थे, तो किन्ही में गणतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था थी। कई राज्य मिलकर अपना संघ बनाते थे। प्रत्येक गणराज्य के नेता को 'ईश्वर कहा जाता था। गणराज्यों में राजनीति के दल होते थे, जो 'वर्ग' कहलाते थे।

सामाजिक जीवन—महाकाव्य एवं पौराणिक काल में वर्ण-व्यवस्था का रूप कठोर हो गया था। ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों की उच्चता संस्थापित हो चुकी थी। पुरोहित वर्ग का प्रभुत्व बढ़ गया था। समाज कई जातियों व उप-जातियों में विभक्त हो गया था तथा जातिगत बन्धन व जटिलता बढ़ गई थी। एक दूसरी जाति में लेन-देन और व्यवहार आदि पर प्रतिबन्ध लग गए थे। किन्तु, सदाचारी शूद्रों का आदर होता था, राज्य के अधिकारियों में तीन प्रमुख पद शूद्रों को मिलते थे। समाज में प्रत्येक व्यक्ति को जीवन के चार आश्रमों का पालना करना पड़ता था।

स्त्रियों की दशा—स्त्रियों की स्थिति गिरती जा रही थी। स्त्री पर पुरुष का पूर्ण प्रभुत्व थ.। बहु-विवाह, स्वयंवर तथा सती प्रथा का प्रचलन बढ़ गया था। बाल-विवाह भी होने लगे थे, किन्तु स्त्रियों को शिक्षित भी किया जाता था।

रहन-सहन—लोगों का रहन-सहन सादा था। धोती, शाल और पगड़ी, ये तीन पहिनने के मुख्य वस्त्र थे। साधारणतया लोग नियमपूर्वक जीवन बिताते थे। प्रातः काल स्नान, प्रार्थना, पूजा, मन्त्र-जप आदि आम व्यक्ति करते थे। लोग न्यायपूर्वक सत्य का पालन करते हुए जीवनी बीताना अधिक अच्छा समझते थे।

खान पान—साधारणतया लोगों का खान-पान भी सादा और पवित्र होता था। दूध, घी, अन्न, सब्जियाँ आदि मुख्य भोजन को वस्तुएँ थीं। क्षत्रियों के सिवाय अन्य जातियों के लोग अधिकांशतः अहिंसा में विश्वास करते थे और मांस नहीं खाते थे। क्षत्रियों के खान-पान में मांस-मदिरा का प्रयोग बढ़ गया था।

आर्थिक स्थिति—महाकाव्यों तथा पौराणिक साहित्य से मालूम होता है कि इस युग में नगरों का विकास हुआ था, फिर भी अधिकतर जनता गांवों में रहती थी। खेती और पशुपालन आर्थिक जीवन का मुख्य आधार था। खेती उन्नत अवस्था में थी। कृषि कार्य में हल, कुदाली-हँसिये आदि का प्रयोग होता था। राजाओं को भी समय-समय पर हल चलाना पड़ता था। कृषि कार्य में पशुओं का उपयोग होता था। सिंचाई के लिए राज्य की ओर से व्यवस्था होती थी। पशुपालन का तरीका भी उन्नत हो चुका था। राज्य की ओर से पशुओं की देख-रेख के लिए एक 'गोपाध्यक्ष' होता था। समाज में अनेक व्यक्ति पशु-विशेषज्ञ होते थे, जो पशुओं के गुण, स्वभाव रोग तथा अन्य विशेषताओं के बारे में समझते थे। पशुओं को चिकित्सा की भी व्यवस्था थी। पशुओं का कृषि कर्म के सिवाय युद्ध में प्रयोग होता था। हाथी-घोड़े आदि युद्ध के उपयोग में आते थे।

उद्योग-व्यवस्था—कृषि के अतिरिक्त अन्य उद्योगों का काफी विकास हो चुका था। कुम्भकार, लुहार, कपड़े बुनने वाले, स्वर्णकार, समुद्र से मोती निकालने वाले, चर्मकार, रजक आदि विभिन्न व्यावसायियों का पौराणिक साहित्य में उल्लेख मिलता है। इससे प्रकट होता है कि देश में विभिन्न शिल्पों व व्यावसायियों ने प्रगति करली थी। कपड़े का व्यवसाय बहुत उन्नति पर था। रेशमी व जरी वाले वस्त्र तैयार किए जाते थे। अलग-अलग व्यावसाइयों की अलग-अलग श्रेणियां बनी होती थी। इन श्रेणियों के अलग-अलग अध्यक्ष होते थे जिन्हें मुख्य कहा जाता था।

व्यापार—कृषि तथा उद्योग की प्रगति के साथ व्यापार वाणिज्य की भी प्रगति हुई थी। व्यापारी नगरों में रहते थे तथा दूर-दूर के देशों से विभिन्न वस्तुएँ लाकर बेचते थे। दक्षिणी-पूर्वी एशिया के देशों, चीन तथा सिन्धुपार के प्रदेशों से ऊनी कपड़े, रेशमी कपड़े, मोती, घोड़े आदि आते थे। राज्य व्यापार पर चुंगी लेता था। चुंगी सिक्कों में ली जाती थी। शिल्पियों की तरह व्यापारियों की भी श्रेणियां (संघ) बनी होती थी, जिनके निश्चित नियम होते थे। व्यापारिक आदान-प्रदान सिक्कों में होता था।

धार्मिक स्थिति—महाकाव्य और पौराणिक काल तक आते-आते आर्यों के धार्मिक विश्वासों में अनेक परिवर्तन हुए। इस काल में प्राचीन देवताओं के स्थान पर नये देवी-देवताओं का उदय हुआ। मुख्यकर ब्रह्मा, विष्णु और शिव का महत्त्व और बढ़ा। इसी के साथ गणेश, कार्तिकेय, लक्ष्मी आदि देवताओं की पूजा होने लगी। इन सब में विष्णु को अधिक महत्त्व प्राप्त हुआ। ऐसा समझा जाने लगा कि विष्णु समय-समय पर पृथ्वी पर अवतार लेते हैं। इसी के साथ वीर पुरुषों और नेताओं का दैवीय अवतार मानने का विश्वास पनपा। किन्तु दार्शनिक क्षेत्र में इस युग में उपनिषदों के कठिन ज्ञान मार्ग के स्थान पर भक्ति मार्ग का प्रचार अधिक हुआ तथा इस काल के पहले उत्पन्न होने वाली अनेक विरोधी विचारधाराओं का इस युग में एकीकरण करने का प्रयत्न हुआ। गीता में श्रीकृष्ण ने यही प्रयत्न कर ज्ञान पिपासुओं का ज्ञान-मार्ग से, क्रिया प्रधान व्यक्तियों को योग द्वारा तथा सामान्य

व्यक्तियों को भक्ति के द्वारा अपने चरम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति का उपदेश दिया था। इस युग में यज्ञ-हवन के स्थान पर त्याग, संयम, सत्य व अहिंसा को अधिक महत्त्वपूर्ण समझा जाने लगा था। लोग आचार-विचार की शुद्धि पर विशेष ध्यान देते थे। संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि महाकाव्य और पौराणिक काल में आजकल मौजूदा सनातन धर्म का स्वरूप बन चुका था।

इस प्रकार समग्र रूप में पौराणिक युग तक आते-आते भारत में आर्यों द्वारा विकसित सभ्यता के विभिन्न पक्षों में उन व्यवस्थाओं और तत्त्वों का विकास हो चुका था, जो किसी न किसी रूप में आज भी भारतीय जन-जीवन को प्रभावित किए हुए हैं।

अध्ययन का उपयोग

नीचे दिए गए प्रश्नों का उत्तर दीजिए एवं अपने अध्ययन को उपयोगी बनाइए—

1. महाकाव्यों और पुराणों से किस युग की भारतीय सभ्यता का ज्ञान होता है ?
2. महाकाव्य और पौराणिक काल में राज्य व्यवस्था किस प्रकार की थी ?
3. महाकाव्यों और पौराणिक काल में लोगों के धार्मिक जीवन में किन-किन नई बातों का विकास हुआ।

अध्ययन की जाँच

सही उत्तर का क्रमाक्षर कोष्ठक में लिखिए—

1. भारतीय सभ्यता के जिस युग में राजाओं को प्रतिष्ठा देवताओं के समान होने लगी थी, वह काल था—

   (क) उत्तर वैदिक काल (ख) महाकाव्य एवं पौराणिक काल

   (ग) ऋग्वेदिक काल (घ) बुद्ध काल ( )

2. महाकाव्य एवं पौराणिक काल में पैदावार पर 'कर' लिया जाने लगा था, इसका मुख्य कारण था—

   (क) राज्य पर खर्चे का भार बढ़ना।

   (ख) राजाओं का दैवी अधिकार सम्पन्न हो जाना

   (ग) राज्य खजाने में अर्थ की कमी हो जाना

   (घ) देश में खूब मात्रा में अन्न का उत्पादन होना। ( )

सोच विचार कर उत्तर दीजिए—

1. यह कैसे कहा जा सकता है कि महाकाव्य और पौराणिक काल में भारतीय सभ्यता और संस्कृति का एक निश्चित स्वरूप बन गया था ?
2. निम्नलिखित बिन्दुओं के सम्बन्ध में महाकाव्य और पौराणिक काल के जन-जीवन की विशेषताओं को स्पष्ट कीजिए—

   (1) सामाजिक जीवन (2) आर्थिक जीवन

पूरक अध्ययन ग्रन्थ

1. राधाकुमुद मुकर्जी : प्राचीन भारत
2. राधाकुमुद मुकर्जी : हिन्दु सभ्यता
3. राजबली पाण्डेय : प्राचीन भारत
4. डॉ. ओम प्रकाश : प्राचीन भारत का इतिहास

अध्याय 5

भारत में धार्मिक जागृति
जैन एवं बौद्ध धर्म

छठी शताब्दी ईसा पूर्व का समय भारत के ही नहीं, संसार के इतिहास में अपना महत्व रखता है । इस काल में संसार के विभिन्न भागों में धार्मिक तथा बौद्धिक जागृति की एक लहर उठी। इसके परिणामस्वरूप परम्परागत धार्मिक अन्धविश्वासों और रूढ़ियों में परिवर्तन आया तथा सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध सामाजिक नव-निर्माण की विचारधारा ने जन्म लिया । मुख्यतया यह लहर ईरान, चीन और भारत में आई । ईरान में इसका नेतृत्व महात्मा जरथुष्ट ने किया । चीन में कन्फ्यूशिस और लाओत्से ने जनता को सही मार्ग बताया तथा भारत में महावीर स्वामी और गौतम बुद्ध ने धार्मिक जागृति एवं समाज सुधार आन्दोलन का नेतृत्व किया ।

भारत में धार्मिक व सामाजिक जागृति के कारण—आप पढ़ चुके हैं कि ऋग्वैदिक काल में भारत में धर्म का स्वरूप बड़ा सरल था, सामाजिक व्यवस्था बड़ी उदार थी । किन्तु उत्तरवैदिक काल तथा पौराणिक काल में जीवन के इस पक्ष में कई परिवर्तन आए और छठी शताब्दी ई. पू. तक आते-आते आर्यों की सरल धार्मिक तथा उदार सामाजिक व्यवस्था में कई रूढ़ियाँ और बन्धन पनप गए ।

ब्राह्मणों का प्रभुत्व—धार्मिक क्षेत्र में आडम्बर और दिखावा बढ़ गया । वेदों का महत्व इस प्रकार बढ़ गया कि जीवन की प्रत्येक समस्या को सुलझाने का एक मात्र आधार वेद ही माने जाने लगे । इतना ही नहीं, वेदों को पढ़ने तथा उनकी बातों को समझाने-समझाने का ठेका भी ब्राह्मण वर्ग के पास आ गया और जन्म से

मृत्यु तक कोई ऐसा काम नहीं बचा, जो ब्राम्हणों को पूछे बिना पूरा हो सके। लोगों को धार्मिक स्वतन्त्रता समाप्त हो गई। पुरोहित वर्ग का प्रभुत्व व अत्याचार बढ़ने लगा। ब्राम्हणों ने राज्य पर भी अपना अप्रत्यक्ष प्रभुत्व कायम कर लिया तथा राज्य के बड़े-बड़े पदों पर इनकी नियुक्ति अनिवार्य हो गई। इतना ही नहीं, छठी शताब्दी तक आते-आते ब्राम्हण वर्ग आचरण भ्रष्ट हो गया और उनका नैतिक पतन होने लगा। इससे देश में बौद्धिकजड़ता उत्पन्न हो गई।

जटिल कर्मकाण्ड—अपने प्रभुत्व का चिरकाल तक लाभ उठाने के लिए ब्राम्हणों ने धार्मिक कर्मकाण्ड को जटिल तथा कठोर बना दिया था। यज्ञ-याजन आदि बहुत खर्चीले हो गए थे। पशुबलि पर अत्यधिक जोर दिया जाने लगा था। वैदिक मन्त्रों को ईश्वर की स्तुति के स्थान पर सिद्धि प्राप्त करने, रोग आदि ठीक करने, युद्ध में विजय प्राप्त करने, धन प्राप्त करने आदि के साधन माना जाने लगा था। कर्म के आधार पर पुनर्जन्म और स्वर्ग-नरक की भयावह धारणाएँ पैदा कर पुरोहित वर्ग जनता का शोषण करने लगा था। ऐसी स्थिति में जनता को अपने जीवन को कल्याण मार्ग की ओर ले जाने का कोई सरल मार्ग नजर नहीं आता था। ब्राम्हण लोग कर्मकाण्ड, तपस्या और ज्ञात मार्ग की खर्चीली, कठिन तथा ऊँची बातें करते थे, जो साधारण जनता की समझ से परे की बातें थीं। इस स्थिति में जादू-टोना, झाड़ फूँक, मन्त्र तन्त्र आदि अन्धविश्वास समाज में बढ़ने लगे।

सामाजिक बन्धन—धर्म की जटिलताओं का प्रभाव सामाजिक व्यवस्था पर पड़ा। सामाजिक ढाँचे में कठोर बन्धन पनप गए। चार वर्णों की निश्चित सीमाएँ बाँध दी गईं। समाज में कट्टर जाति-व्यवस्था पैदा हो गई। जातियों में आपसी आदान-प्रदान बन्द हो गया। नीची जातियों की दशा बिगड़ने लगी। शूद्रों के साथ अन्याय होने लगा। फलतः समाज में भेद-भाव बढ़ा, समाज की एकता समाप्त हो गई।

छठी शताब्दी तक आते-आते इन धार्मिक रूढ़ियों तथा सामाजिक बन्धनों से जनता ऊबने लगी। जनता में धर्म व धार्मिक कर्मकाण्ड के प्रति अविश्वास पनपा। अत्याचार बर्दाश्त करते-करते समाज का निम्न वर्ग थक गया। क्षत्रिय वर्ग में भी पुरोहितों के राजनैतिक प्रभाव तथा आडम्बरपूर्ण धार्मिक व्यवस्था से उनके प्रति घृणा पैदा हुई। जनता पुनः सरल धार्मिक व्यवस्था तथा उदार सामाजिक वातावरण चाहने लगी। ऐसी परिस्थितियों में ही भारत में थोड़े-थोड़े समय के अन्तर से महावीर तथा बुद्ध का जन्म हुआ, जिन्होंने जनता को अपने-अपने तरीके से जीवन का सही रास्ता दिखाया।

महावीर स्वामी और जैन धर्म

जैन धर्म का पूर्व इतिहास—जैन साहित्य के अनुसार जैन धर्म का प्रारम्भ बहुत प्राचीन काल में हुआ था। ऐसा माना जाता है कि महावीर के पहले 23 जैन तीर्थंकर हुए थे। पहले तीर्थंकर ऋषभदेव या आदिनाथ थे। तथा तेईसवें तीर्थंकर

पार्श्वनाथ थे। लेकिन इन तेईस तीर्थंकरों में से पहले बाईस की ऐतिहासिकता के बारे में विद्वानों को शंका है। हाँ, तेईसवें तीर्थंकर अवश्य ऐतिहासिक पुरुष थे, जो काशी (वाराणसी, के राजा अश्वसेन के पुत्र थे। इन्होंने मनुष्य के उद्धार के लिए चार सिद्धान्त बताए थे। वे थे—अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह। ऐसी स्थिति में यह स्पष्ट होता है कि महावीर के पहले किसी न किसी रूप में जैन विचारधारा का विकास अवश्य हुआ था।

महावीर स्वामी—महावीर स्वामी का जन्म वैशाली के समीप कुन्डग्राम में ज्ञात्रक क्षत्रिय कुल में 599 ई. पू. में हुआ था (कुछ विद्वान् 540 ई. पू. मानते हैं)। इनके पिता का नाम सिद्धार्थ और माता का नाम त्रिशला था, जो लिच्छवी वंश के राजा चेटक की बहिन थी। महावीर का बचपन का नाम वर्धमान था। वर्धमान को प्रारम्भ से ही क्षत्रियोचित शिक्षा-दीक्षा दी गई थी। युवावस्था प्राप्त होने पर उनका विवाह राजकुमारी यशोदा से किया गया था। गृहस्थ जीवन में इनके अनुजा नाम की पुत्री का जन्म हुआ था। किन्तु वर्धमान का मन संसार की मोहमाया में नहीं लगता था। वे हमेशा विचारमग्न रहते थे और संसार से उनके मन में विरक्ति के भाव पैदा होते थे। इसीलिए 30 वर्ष की उम्र में, उनके माता-पिता के मर जाने पर उन्होंने सत्यज्ञान, की खोज के लिए अपने भाई नन्दीवर्धन से आज्ञा लेकर घर छोड़ दिया।

घर छोड़कर वर्धमान ने पहले पार्श्वनाथ सम्प्रदाय को अपना कर तपस्या की, लेकिन उन्हें अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में सफलता नहीं मिली। असन्तुष्ट होकर उन्होंने इस सम्प्रदाय को छोड़ दिया और अकेले ही तपस्या करने लगे। इस तपस्या में उन्हें घोर कष्ट सहन करने पड़े। वे बिना वस्त्र तथा महीनों तक बिना खाये-पीये रहे। अन्त में बारह वर्ष की कठोर तपस्या के बाद जृंभक ग्राम में एक मन्दिर में उन्हें सत्यज्ञान या कैवल्य की अनुभूति हुई। इस ज्ञान से उन्होंने अपनी सभी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करली तथा उन्हें संसार के मोह-माया-जाल से मुक्ति प्राप्त करने का मार्ग मिल गया। इस लिए कैवल्य प्राप्त हो जाने पर महावीर को जिन (जीतने वाला), निर्ग्रन्थ (सन्देह मुक्त) तथा महावीर आदि नामों से पुकारा जाने लगा।



महावीर स्वामी

ज्ञान प्रचार—सत्य का ज्ञान होने पर महावीर ने जनता को जीवन का सही मार्ग दिखाने का कार्य प्रारम्भ किया। अपने विचारों का जनता में प्रचार करने के

लिये वे स्थान-स्थान पर घूमने लगे। उनके इस प्रकार कार्य से मगध, काशी, कोशल आदि राज्यों में उनके विचारों का प्रचार-प्रसार हुआ। उनकी सत्य वाणी से प्रभावित होकर कई लोग उनके अनुयायी बनने लगे। राजा, महाराजा, व्यापारी आदि उनकी बातों का अनुसरण करने लगे और धीरे-धीरे उनके अनुयायियों की संख्या काफी हो गई। अन्त में, इसी प्रकार अपने विचारों का प्रचार करते हुए पावापुरी (पटना) में 527 ई. पू. में 72 वर्ष की आयु में महावीर स्वामी का मोक्ष हुआ। (कुछ विद्वान् महावीर के मोक्ष की तिथि 467 ई. पू. भी मानते हैं।) लेकिन अपने ज्ञानदीप को हमेशा जलाए रखने हेतु वे अपने पीछे चौदह हजार शिष्य छोड़ गए।

जैन धर्म के सिद्धान्त—जैन शब्द 'जिन्' शब्द से बना है। इसका शाब्दिक अर्थ विजेता होता है। संसार के मोह-माया के गढ़ पर विजय प्राप्त कर मोक्ष प्राप्त करना ही इस धर्म का एक मात्र उद्देश्य है। मोक्ष प्राप्त करने के लिए महावीर स्वामी ने तीन उपाय बताए थे, जो आगे चलकर 'त्रिरत्न' कहलाए।

त्रिरत्न

1. **सम्यक्ज्ञान**—इसका अर्थ पूर्ण और सच्चा ज्ञान होता है। महावीर ने बताया था कि सच्चे और पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति के लिए मनुष्यों को तीर्थंकरों के उपदेशों का अध्ययन करना चाहिए।

2. **सम्यक दर्शन**—इसका अर्थ है तीर्थंकरों में पूरी आस्था रखना। सच्चे ज्ञान को जीवन में उतारने के लिए प्रत्येक मनुष्य को तीर्थंकरों में पूरी आस्था और विश्वास रखना चाहिए।

3. **सम्यक् चरित्र**—इसका अर्थ है मनुष्य अपनी इन्द्रियों को वश में रखकर ही सत्य ज्ञान को प्राप्त कर सकता है, अतः उसे इन्द्रियों पर संयम रखना चाहिए।

पँच आचरण—मोक्ष प्राप्ति के इन तीनों साधनों का पालन करने के लिए महावीर ने गृहस्थ लोगों के लिए पाँच मुख्य नियम बताए, जो निम्नलिखित हैं—

(क) **अहिंसा**—अहिंसा महावीर की शिक्षा और जैन धर्म के सिद्धान्तों का मूलमन्त्र है। अहिंसा का अर्थ प्राणीमात्र के प्रति दया, समानता और उपकार की भावना है। मन, वचन तथा कर्म से किसी के प्रति अहित की भावना नहीं रखना वास्तविक अहिंसा है।

(ख) **सत्य**—अहिंसा के साथ सत्य वचन पर भी महावीर ने बहुत जोर दिया दिया। कारण कि बिना सत्य भाषण के अहिंसा का पालन नहीं हो सकता। अतः महावीर ने कहा था कि प्रत्येक व्यक्ति को प्रत्येक परिस्थिति में सत्य बोलना चाहिए।

(ग) **अस्तेय**—अस्तेय का अर्थ चोरी नहीं करना है। महावीर ने चोरी को महान् अनैतिक कार्य बताया तथा इस दुर्गुण से हमेशा दूर रहने की शिक्षा दी।

(घ) **अपरिग्रह**—अपरिग्रह का अर्थ संग्रह नहीं करना होता है। महावीर के

अनुसार जो व्यक्ति सांसारिक वस्तुओं का संग्रह नहीं रखता, वह संसार के मायाजाल से दूर रहता है।

(ख) ब्रह्मचर्य—इन चारों बातों का पालन तब तक नहीं हो सकता, जब तक कि मनुष्य विषय-वासनाओं से दूर नहीं रहता। इसीलिए महावीर ने पार्श्वनाथ के इन चारों उपायों में ब्रह्मचर्य का पाँचवाँ उपाय जोड़कर उन्हें त्रिरत्नों की प्राप्ति के साधन बताया।

आत्म संयम—महावीर कहते थे कि संसार के सभी सुख-दुःख का कारण मनुष्य का अन्त-करण आत्मा है। यदि ऊपर बतलाये गए उपायों का मनुष्य पालन करे तो वह आत्मा पर विजय प्राप्त कर सकता है। आत्मा पर विजय प्राप्त करने से ही संसार की मोह-माया से मनुष्य को छुटकारा मिल सकता है।

तपस्या तथा उपासना—महावीर ने आत्मा को वश में करने तथा पांच आचरणों का पालन करने के प्रयत्न में तपस्या और उपवास पर सबसे अधिक बल दिया। उन्होंने दो प्रकार की तपस्या बताई—एक बाह्य तथा दूसरी आंतरिक। तपस्या में नम्रता, सेवा, स्वाध्याय, ध्यान तथा शरीर त्याग सम्मिलित है। बाह्य तपस्या करने से व्यक्ति में आन्तरिक तपस्या करने की क्षमता आती है और उससे आदमी में अच्छे विचारों का विकास होता है। महावीर ने तपस्या का सबसे सरल साधन उपवास बताया था। इससे शरीर एवं आत्मा शुद्ध होती है और मनुष्य मोक्ष प्राप्त करता है।

उपर्युक्त बातों के सिवाय महावीर स्वामी ने उस युग में फैल रही धार्मिक और सामाजिक बुराइयों के विरोध में भी कई बातें बताई जो इस प्रकार हैं—

(1) वेदों को मान्यता नहीं—महावीर ने मात्र वेदों को ही सत्य नहीं माना और न वेदों को प्रामाणिक ही माना। इसलिए उन्होंने ब्राह्मणों के कर्मकाड का घोर विरोध किया तथा जीवन में नैतिकता और अच्छे नियमों के पालन पर बल दिया।

(2) ईश्वर के अस्तित्व में अविश्वास—महावीर और जैन मतावलम्बी ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते और न ही वे ईश्वर को सृष्टि का निर्माता मानते हैं। उनके अनुसार यह सृष्टि अनादि और अनन्त है।

(3) आत्मा की अमरता, पुनर्जन्म और कर्मवाद—महावीर आत्मा की अमरता में विश्वास करते थे। उनके अनुसार प्रकृति में परिवर्तन हो सकते हैं, किन्तु आत्मा अजर-अमर है और सदैव एक-सी बनी रहती है। मनुष्य के कर्मों के कारण पैदा होने वाली सांसारिक वासना के बन्धनों से आत्मा का बार-बार आवागमन होता रहता है और जन्म-मरण का चक्र चलता रहता है। इसीलिए महावीर स्वामी का कथन था कि यदि वासनाओं पर विजय प्राप्त कर ली जाये तो कर्मों के बन्धन नष्ट हो सकेंगे और जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति मिलेगी। महावीर की इस विचारधारा से आप अनुमान लगा सकते हैं कि जैन धर्म आत्मा की अमरता, पुनर्जन्म और कर्मवाद में विश्वास रखता है।

महावीर स्वामी की शिक्षाओं का प्रभाव—महावीर स्वामी की ये सभी शिक्षाएं बड़ी सरल व सीधी थीं। साथ ही इन सभी बातों का उपदेश महावीर स्वामी ने उस युग की जनता की भाषा 'पालि' में किया था। इससे उस युग में धार्मिक जटिलता में उलझी जनता पर इसका बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ा। परिणामस्वरूप कई लोग उनके उपदेशों का पालन करने लगे और जैन धर्म का भारत में प्रचार-प्रसार होने लगा।

जैन धर्म का प्रचार एवं प्रसार—महावीर स्वामी के प्रयत्नों से प्रारम्भ में भारत में जैन धर्म का प्रचार बड़े उत्साह से हुआ। इसका सर्वप्रमुख कारण स्वयं महावीर का इसके प्रचार-प्रसार में भाग लेना था। वे स्वयं वर्ष के आठ माह तक स्थान-स्थान पर घूम-घूम कर अपने मत का प्रचार करते थे तथा वर्षा ऋतु में चार माह किसी एक स्थान पर व्यतीत करते थे। इसी के साथ उन्होंने जनता की बोलचाल की भाषा पालि में अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया, जिससे सरलतापूर्वक जनता को उनके विचार समझ में आने लगे और जनता उनकी शिक्षा को अंगीकार करने लगी। इसके अतिरिक्त अन्य लोक भाषाओं में जैन धर्म के साहित्य की रचना ने भी इसे लोकप्रिय बनाने में सहयोग दिया। इस धर्म के अच्छी गति से प्रसार का एक महत्त्वपूर्ण कारण समानता की भावना भी थी। महावीर ने अपने धर्म का मार्ग सभी के लिए समान रूप से खोल रखा था। ऐसी स्थिति में कठोर वैदिक व्यवस्था में नीचे समझे जाने वाले लोगों ने शीघ्र ही उनके विचारों को अपना लिया। जैन धर्म के प्रचार-प्रसार में महावीर स्वामी द्वारा संस्थापित जैन-संघों ने भी महत्त्वपूर्ण कार्य किया। जैनमतावलम्बी इन्द्र भूति, अग्निभूति, वायुभूति, भद्राबाहु, जिनसेन, गुणभद्र, हेमचन्द्र आदि ने इस धर्म पर विविध ग्रन्थों की रचना कर इसके प्रचार-प्रसार में योग दिया। इनके साथ ही महावीर स्वामी के समकालीन मगध के राजा बिम्बसार, अजातशत्रु और उसके उत्तराधिकारी उदायीभद्र ने इस धर्म को अंगीकार कर इसे राजकीय संरक्षण प्रदान किया तथा अवन्ति, वत्स, अंग, सिन्ध-सौवीर आदि राज्यों के शासकों ने भी इसे स्वीकार कर इसके प्रसार में राजकीय सहयोग दिया। अपने अन्तिम दिनों में मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त भी इस धर्म का अनुयायी बना और उसने एवं उसके प्रपौत्र सम्प्रति ने दक्षिण भारत में जैन धर्म को फैलाने में सहायता की। इसी प्रकार गुजरात के सोलंकी राजा नरेश कुमार ने कलिंग के राजा खारवेल ने और दक्षिण भारत के गंग, कदम्ब, चालुक्य तथा राष्ट्रकूट राजाओं में से कई ने इस धर्म को आश्रय प्रदान कर इसके विकास में योगदान दिया।

इस प्रकार जैन धर्म ईसवी सन् के प्रारम्भ होने के समय तक लगभग सम्पूर्ण भारत में फैल गया था। लेकिन जैन धर्म का प्रचार-प्रसार बौद्ध धर्म की भाँति व्यापक नहीं हो पाया और समय-समय पर इसका विकास रुकता रहा। फिर भी, इतना अवश्य है कि जैन धर्म भारत में स्थायित्व प्राप्त कर सका। राजपूत काल में इसका आंशिक रूप में पुनरुत्थान हुआ और भारत से जैन धर्म पूर्णतया विलुप्त नहीं

हुआ। आज भी भारत में इस धर्म की विचारधारा विद्यमान है और मुख्यकर राजस्थान, मालवा, गुजरात आदि प्रदेशों में जैन धर्म के काफी अनुयायी है।

जैन धर्म के व्यापक नहीं होने के कारण—बौद्ध धर्म की तुलना में जैन धर्म अपने जन्म और विकास के प्रारम्भिक काल में अधिक व्यापक नही हो पाया। इसका मुख्य कारण इस धर्म में दार्शनिक पक्ष की प्रधानता और इसके आचरण सम्बन्धी नियमों की कठोरता थी। इसी के साथ, पर्याप्त संख्या में उत्साही एवं योग्य प्रचारकों की कमी, आपसी मत-भेद, बौद्ध धर्म का उदय, वैदिक शैव एवं वैष्णव धर्म के उत्थान तथा जैन धर्म में उत्पन्न हो जाने वाली कमियों के कारण इस धर्म का अबाध गति से प्रचार प्रसार नही हो पाया और यह भारत तक ही सीमित रहा। हाँ, वर्तमान काल में इस विचारधारा का प्रसार विदेशों में अवश्य होने लगा है।

जैन धर्म का विभाजन : श्वेताम्बर और दिगम्बर

भारतवर्ष ज्यों ज्यों जैन धर्म का प्रसार होता गया, उसके अनुयायियों की संख्या बढ़ती गई, में त्यों-त्यों उसमें भी परिवर्तन आने लगा। इसी कारण कालान्तर में इस धर्म में मत-भेद बढ़ने लगे। परिणामस्वरूप जैन धर्म बाद में दो मतों में विभक्त हो गया। प्रथम श्वेताम्बर तथा दूसरा दिगम्बर। ऐसा माना जाता है कि जैन धर्म के अन्तर्गत पार्श्वनाथ की विचारधारा के समर्थन श्वेताम्बर कहलाए तथा महावीर स्वामी के अनुयायी दिगम्बर कहे जाने लगे।

जैन धर्म की भारतीय संस्कृति को देन—यद्यपि जैन धर्म का का प्रचार-प्रसार अधिक नहीं हो पाया, फिर भी इस धर्म ने भारतीय सभ्यता और संस्कृति के विभिन्न पक्षों को बहुत प्रभावित किया। मुख्यतया जैन धर्म ने भारतीय दर्शन, साहित्य और कला के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

1. **दार्शनिक क्षेत्र में**— जैन विचारधारा ने ज्ञान-सिद्धान्त, स्यादवाद और अहिंसा आदि के विचारों को पनपाकर भारतीय दार्शनिक चिन्तन को अधिक तट-स्थता और गौरव प्रदान किया। ज्ञान-सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक जीव की आत्मा पूर्ण ज्ञानयुक्त है और सांसारिकता का पर्दा उसके ज्ञान प्रकाश को प्रकट नहीं होने देता। अतः प्राणीमात्र को इस पर्दे को हटाकर ज्ञान को समझना चाहिए। ऐसा कर लेने पर वह निर्ग्रन्थ हो जाता है। इसी तरह स्यादवाद के अनुसार प्रत्येक परिस्थितियों में सत्य को सम्भाव्य बताकर, मात्र सत्य के एक स्वरूप को ही स्वीकार करके बैठने का विरोध कर मनुष्य के विचार और चिन्तन को आगे बढ़ाने में जैन मत ने सहयोग दिया। इतना ही नहीं, अहिंसा और सत्य का पाठ बढ़ाकर तो जैन मत ने भारतीय जीवन में नवीन चेतना को बढ़ावा दिया, जिसका सहारा महात्मा बुद्ध और आगे वाले कई महात्माओं और महात्मा गाँधी ने लिया। अहिंसा आज भारत देश की आंतरिक एवं बाह्य नीतियों का प्रमुख अंग बनी हुई है, यह मूलतः जैन दर्शन का ही प्रभाव है।

2. **साहित्य के क्षेत्र में**— भारतीय सभ्यता और संस्कृति को साहित्य के क्षेत्र में जैन धर्म ने महत्त्वपूर्ण देन दी है। जैन विद्वानों ने विभिन्न युगों में उन्नत साहित्य

का सृजन किया, जो आज बड़ी निधि के रूप में उपलब्ध है। इन लेखकों में गुजरात के हेमचन्द्र बहुत प्रसिद्ध हुए हैं। जैन लेखकों ने संस्कृत, पालि व प्राकृत भाषाओं में ही अपने ग्रन्थ नहीं रचे, बल्कि कन्नड़, तमिल व तेलगू में भी जैन साहित्य लिखा गया। जैन साहित्य का सबसे बड़ा महत्त्व यह है कि जैन साहित्यकारों ने भारत की जन भाषाओं में साहित्य रचना कर एक तरफ भारतीय साहित्य के भण्डार को भरा, वहीं भारत के आध्यात्मिक चिन्तन को सर्वसाधारण तक पहुँचाने में बड़ी सहायता की। राजस्थान में जैन साहित्य का अच्छा संग्रह आज भी जैसलमेर में सुरक्षित है।

3. **कला के क्षेत्र में**—जैन धर्म की सबसे अधिक देन कलात्मक.स्मारक, मूर्तियों, मन्दिरों, मठ और गुफाओं के रूप में आज भी स्पष्ट दिखाई पड़ती है। उड़ीसा के पुरी जिले में उदयगिरी और खण्डगिरी में 35 जैन गुफाएँ मिली हैं। एलोरा में भी कई जैन गुफाएँ हैं। मध्यभारत में खजुराहो में कई जैन मन्दिर दसवीं व ग्यारहवीं शताब्दी के बने हुए हैं। राजस्थान में आबू पर्वत पर प्रसिद्ध देलवाड़ा के जैन मन्दिर ग्यारहवीं से तेरहवी शताब्दी के बने हुए हैं। काठियावाड़ की गिरनार और पालीताना पहाड़ियों पर, रणकपुर (राजस्थान), पारसनाथ (बिहार), तथा श्रवण बेलगोला (मैसूर) में जैन मन्दिरों के बड़े समूह बने हुए हैं। शत्रुजय पहाड़ी पर 500 जैन मन्दिर हैं। यहां जैन तीर्थंकरों की चतुर्मुखी मूर्तियां भी है। दक्षिणी भारत में श्रवणबेलगोला की गोमटेश्वर की अद्भुत प्रतिमा दर्शकों को आश्चर्यचकित कर देती है। यह प्रतिमा 57 फीट ऊँची है और एक पर्वत शिखर पर स्थित है, जिसे गंग सम्राट रायमल के मन्त्री चामुण्डराय ने बनवायी थी। यह सभी अवशेष प्रकट करते हैं कि जैन धर्म ने केवल मात्र अपने युग में फैल रही धार्मिक कुरीतियों को ही समाप्त नहीं किया, बल्कि आगे आने वाले युग में भारतीय संस्कृति को विविध रूपों में प्रभावित किया, जिससे भारतीय दर्शन, साहित्य तथा कला का खूब विकास हुआ।

महात्मा बुद्ध और बौद्ध धर्म

महावीर स्वामी की तरह ही छठी शताब्दी ईसा पूर्व में भारत में एक दूसरी महान विभूति का जन्म हुआ। इस विभूति ने भी महावीर की तरह ही उस युग में फैली धार्मिक कठोरता तथा सामाजिक जटिलता के विरुद्ध आवाज उठाई और भारत की जनता को जीवन का सही मार्ग बताया। यह विभूति और कोई नहीं, महात्मा बुद्ध थे।

बुद्ध का जीवन—महात्मा बुद्ध का जन्म 563 ई. पू. में उत्तरी बिहार में कपिलवस्तु गणराज्य के शाक्यवंशीय क्षत्रिय कुल में हुआ था। इनका बचपन का नाम सिद्धार्थ था। अपने कुल का गौतम गोत्र होने के कारण उन्हें 'गोतम' भी कहा जाता है। उनके पिता का नाम शुद्धोधन एव माता का नाम माया देवी था। जब माया देवी अपने पिता के यहां जा रही थी, तब मार्ग में ही लुम्बिनी-वन में बुद्ध का

जन्म हुआ था। दुर्भाग्यवश इनके जन्म के सात दिन उपरान्त ही इनकी माता का स्वर्गवास हो गया। अतः उनका लालन-पालन उनकी विमाता और मौसी प्रजावती गौतमी ने किया। बाल्यावस्था से ही बुद्ध विचारशील एवं एकान्तप्रिय थे। वे बड़े करुणावान थे। संसार के लोगों को कष्टों में देखकर उनका हृदय दया से भर जाता था। यद्यपि उनके पिता ने सभी प्रकार की क्षत्रियोचित शिक्षा-दीक्षा उन्हें दिलाई थी, और उसमें वे प्रवीण भी हो गये थे, फिर भी बुद्ध का मन साँसारिक बातों में नहीं लगता था। वे इनकी ओर से उदास रहते थे। पुत्र की ऐसी मनोवृत्ति देखकर पिता शुद्धोधन ने सोलह वर्ष की उम्र में ही सिद्धार्थ का यशोधरा नाम की एक सुन्दर राजकुमारी से विवाह कर दिया। साथ ही, पुत्र को साँसारिक प्रवृत्तियों में लगाने के लिए उनके महलों में विभिन्न ऋतुओं के अनुरूप सभी प्रकार की ऐश्वर्य और भोग-विलास की सामग्री एकत्रित करवाई। इससे शुद्धोधन को आशा थी कि सिद्धार्थ का मन पलट जायेगा, किन्तु लगभग 10 वर्ष तक सामान्य गृहस्थी का जीवन व्यतीत कर लेने पर भी सिद्धार्थ के मन में इस जीवन के सुख-दुख की समस्याएं बराबर उलझन पैदा करती रही। अपने गृहस्थ जीवन में उनके राहुल नामक एक पुत्र भी हुआ, फिर भी सिद्धार्थ का वैरागी मन इस संसार में नहीं लगा। इसी वैराग्य भावना में एक दिन अपने पुत्र, स्त्री, पिता और सम्पूर्ण राज्य-वैभव को छोड़कर वे ज्ञान की खोज में निकल गये। उनके जीवन की इस घटना को बौद्ध साहित्य में 'महाभिनिष्क्रमण' कहा जाता है।

सत्य ज्ञान की खोज—महाभिनिष्क्रमण के उपरान्त गौतम लगातार सात वर्ष तक संन्यासी का जीवन व्यतीत करते रहे। सबसे पहले वे वैशाली के 'आलार कालाम' नामक एक तपस्वी के पास ज्ञानार्जन हेतु गये, किन्तु वहाँ उनकी ज्ञानपिपासा शांत नहीं हो सकी, अतः वे राजगृह में एक अन्य ब्राम्हण उद्रक 'रामपुत्त' के पास गये, किन्तु यह आचार्य भी उन्हें संन्तोष नहीं दे सका। तब सिद्धार्थ वहाँ से चले और उरुवेला वन में पहुँचे। वहाँ उन्हें कोडिन्य आदि पाँच ब्राम्हण साथी मिले। अब वे तपस्या के मार्ग की ओर प्रवृत्त हुये और अपने पाँच साथियों के साथ उरुवेला के निकट निरंजना नदी के तट पर कठोर तपस्या करने लगे कठोर तपस्या के कारण उनका



गौतम बुद्ध

शरीर सूख कर काँटा हो गया। फिर भी उनका उद्देश्य सिद्ध नहीं हुआ। अतः उन्होंने तपस्या छोड़कर आहार करने का निश्चय किया। गौतम में यह परिवर्तन देखकर उनके साथी उन्हें छोड़कर चले गये। किन्तु इससे वे विचलित नहीं हुये और उन्होंने ध्यान लगाने का निश्चय किया। वे वहीं एक पीपल के वृक्ष के नीचे ध्यान की अवस्था मे बैठ गये। सात दिन तक ध्यान मग्न रहने के पश्चात् वैशाख माह की पूर्णिमा के दिन उन्हें आन्तरिक ज्ञान का प्रकाश प्राप्त हुआ। उन्हें अपने मन में उठने वाले सभी प्रश्नों का उत्तर मिल गया तथा उन्होंने विश्व के कल्याण का मार्ग ढूँढ़ लिया। यह घटना बौद्ध धर्म में 'संबोधि' कही जाती है। इस घटना के साथ ही सिद्धार्थ को सत्य-ज्ञान का बोध हुआ और तभी से वे 'बुद्ध, कहे जाने लगे। पीपल का वह वृक्ष जिसके नीचे सिद्धार्थ को बोध लाभ (ज्ञान प्राप्ति) हुआ था वह 'बोधि वृक्ष' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

ज्ञान का प्रचार—ज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् सबसे पहले 'बौद्धगया' में ही बुद्ध ने अपने ज्ञान का उपदेश 'तपस्सु' और 'मल्लिक' नामक दो बन्जारों को दिया था। इसके बाद गौतम बुद्ध अपने ज्ञान एवं विचारों को जनसाधरण तक पहुँचाने के उद्देश्य से निकल पड़े और सारनाथ पहुँचे। वहीं उन्होंने उन पाँचों साथियों से सम्पर्क स्थापित किया, जो उन्हें छोड़कर चले गये थे। बुद्ध ने उन्हें अपने ज्ञान की धर्म के रूप में दीक्षा दी। यह घटना बौद्ध धर्म में 'धर्म-चक्र प्रवर्तन' कहलाती है। इसके बाद वे काशी गये और वहाँ अपने ज्ञान का प्रचार करने लगे। कुछ ही समय में गौतम के शिष्यों की संख्या 60 हो गई। तब उन्होंने एक संघ की स्थापना की, जिसकी सहायता से लगभग 46 वर्ष तक गौतम ने अपने धर्म का प्रचार किया। उन्होंने साधारण बोलचाल की भाषा को अपनाया तथा जाति-पाँति और ऊँच-नीच की भावना से दूर रहते हुये सभी को उपदेश दिया। कौशल के राजा प्रसेनजीत तथा मगध के राजा बिम्बसार व अजातशत्रु ने उनके धर्म को स्वीकार किया। अन्त में 80 वर्ष की आयु में 483 ई० पू० गोरखपुर के समीप कुशीनगर नाम स्थान पर गौतम बुद्ध ने अपना शरीर त्याग दिया। बुद्ध के शरीर त्यागने की घटना को "महापरिनिर्वाण" कहते हैं।

गौतम बुद्ध की शिक्षाएँ – महावीर स्वामी की तरह ही महात्मा बुद्ध भी मानवता के शिक्षक थे। उन्होंने अपने उपदेशों से दुःख से पीड़ित लोगों को मुक्त कर सतत शांति प्राप्त हो ऐसा मार्ग बताने का प्रयत्न किया। उनके उपदेशों या शिक्षाओं के प्रमुख सिद्धान्त निम्नलिखित थे :—

चार आर्य सत्य—गौतम बुद्ध की शिक्षाओं के मुख्य सिद्धान्त 'चार आर्य सत्य के रूप में जाने जाते हैं,जो निम्नलिखित हैं—

(1) **संसार दुखःमय है**—संसार में जन्म-मरण, संयोग-वियोग, लाभ-हानि आदि सभी:दुख ही दु-ख हैं।

(2 **दुःख का कारण**—सभी प्रकार के दुःखों का कारण तृष्णा (लालसा) यो वासना है।

(3) **दुःख दमन** - तृष्णा के निवारण से या लालसा के दमन से दुःख का निराकरण हो सकता है।

(4) **दुःख निरोध मार्ग**—दुःखों पर विजय प्राप्त करने का मार्ग है और वह अष्टांगिक मार्ग या मध्यम मार्ग है।

अष्टांगिक मार्ग या मध्यम मार्ग – महात्मा बुद्ध ने बताया कि सांसारिक वस्तुओं को भोगने की तृष्णा ही सारे दुःखों की जननी है। यह तृष्णा ही आत्मा को जन्म-मरण के बन्धन में जकड़े रखती है। अतः निर्वाण (मोक्ष प्राप्ति) के लिए तृष्णा को मिटा देना आवश्यक है। इसके लिए मनुष्य को अष्टांगिक मार्ग का अनुसरण करना चाहिए। अष्टांगिक मार्ग जीवनयापन का बीच का रास्ता है। इसलिए इसको मध्य मार्ग कहा गया है, इसमें निर्वाण प्राप्ति के लिए न तो कठोर तपस्या को उचित बताया गया है और न ही सांसारिक भोग विलास में डूबा रहना उचित बताया है। अष्टांगिक मार्ग के आठ उपाय निम्नलिखित हैं—

1. **सम्यक् दृष्टि**—सत्य-असत्य, पाप-पुण्य में भेद पहिचानो। चार आर्य सत्यों पर विश्वास से यह पहचान आती है।

2. **सम्यक् संकल्प**—दुःख के कारण तृष्णा से दूर रहने का दृढ़ विचार रखो।

3. **सम्यक् वाक्** (शुद्ध वचन)—नित्य सत्य और मीठी वाणी बोलो।

4. **सम्यक् कर्मान्त** (शुद्ध कर्म)—हमेशा सच्चे और अच्छे काम करो।

5. **सम्यक् आजीव** (शुद्ध आजीविका,—अपनी आजीविका के लिए पवित्र तरीके अपनाओ।

6. **सम्यक् प्रयत्न** (शुद्ध श्रम)—शरीर को अच्छे कार्यों में लगाने के लिए उचित परिश्रम करो।

7. **सम्यक् स्मृति**—अपनी त्रुटियों को बराबर याद रखकर, विवेक और सावधानी से कर्म करने का ध्यान रखो।

8. **सम्यक् समाधि** (ध्यान—मन को एकाग्र करने के लिए ध्यान लगाया करो।

दस शील—अपनी शिक्षाओं में बुद्ध ने शील और नैतिकता पर बहुत अधिक बल दिया है। उन्होंने अपने अनुयायियों को मन, वचन और कर्म से पवित्र रहने को कहा। इसके लिए उन्होंने निम्नलिखित दस शील (नैतिक आचरण) का पालन करने को कहा। इन्हें हम सदाचार के नियम भी कह सकते हैं।

1. अहिंसा व्रत का पालन करना (अहिंसा)। 2. झूँठ का परित्याग करना (सत्य)। 3. चोरी नहीं करना (अस्तेय)। 4. वस्तुओं का संग्रह नहीं करना (अपरिग्रह)। 5. भोग विलास से दूर रहना (ब्रह्मचर्य)। 6. नृत्य गान का त्याग करना। 7. सुगंधित पदार्थों का त्याग करना। 8. असमय भोजन नहीं करना। 9. कोमल शैय्या का त्याग करना। 10. कामिनी-कंचन का त्याग करना।

सदाचार के इन नियमों में से प्रथम पाँच महावीर स्वामी द्वारा बताये गए पाँच आचरणों के अनुरूप अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य के हैं। बुद्ध

के अनुसार इन पाँचों का पालन करना सभी गृहस्थियों एवं उपासकों के लिए आवश्यक है। इनका पालन करते हुए संसार का त्याग नहीं करने पर भी मनुष्य सन्मार्ग की ओर बढ़ सकता है। लेकिन जो व्यक्ति संसार की मोहमाया छोड़कर भिक्षुक जीवन बिताता है, उसके लिए शील के अन्तर्गत बताये गए सभी दस नियमों का पालन करना आवश्यक है।

महात्मा बुद्ध के उपर्युक्त सिद्धान्तों को पढ़कर स्पष्ट होता है कि उन्होंने संसार को दुःख से मुक्त करने के लिए सरल और सुबोध मार्ग बताया। किन्तु महात्मा बुद्ध ने अपने इन सिद्धान्तों का प्रतिपादन उस युग में प्रचलित धार्मिक रूढ़िवाद का तर्कयुक्त खण्डन करते हुए किया और अपने स्वतन्त्र दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। उनके दार्शनिक विचार मुख्यतया निम्नलिखित थे—

1. **मात्र वेद ही प्रामाणिक नहीं**—बुद्ध तर्क पर बहुत बल देते थे। अन्ध-श्रद्धा में उनका विश्वास नहीं था, अतः उन्होंने वेदों की प्रामाणिकता का खण्डन किया। वेदों का खण्डन करने के साथ ही उन्होंने ईश्वर को सृष्टिकर्ता के रूप में नहीं माना। इसी कारण कुछ लोगों ने उन्हें नास्तिक भी कहा है।

2. **अनात्मवाद**—महात्मा बुद्ध आत्मा की अमरता में विश्वास नहीं करते थे। उनके लिए आत्मा शंकास्पद विषय था। अतः आत्मा के बारे में न उन्होंने यह कहा कि आत्मा है और न उन्होंने यह कहा कि आत्मा नहीं है।

3. **कर्मवाद**—बुद्ध कर्मवाद के सिद्धान्तों को मानते थे। उनका कहना था कि मनुष्य जैसा कर्म करता है, उसे वैसा ही फल भोगना पड़ता है। मनुष्य का यह लोक और परलोक कर्म पर ही निर्भर है। कर्म फल भोगने के लिए ही मनुष्य का आवागमन होता है।

4. **पुनर्जन्म में विश्वास**—बुद्ध पुनर्जन्म में विश्वास करते थे। मनुष्य के कर्म के अनुसार ही उसका पुनर्जन्म होता है, किन्तु बुद्ध का विचार था कि यह पुनर्जन्म आत्मा का नहीं, अहंकार का होता है। जब मनुष्य की तृष्णायें एवं वासनायें नष्ट हो जाती हैं तो अहंकार भी नष्ट हो जाता है और वह पुनर्जन्म के चक्र से निकल कर निर्वाण प्राप्त करता है।

5. **अहिंसा**—अहिंसा बौद्ध धर्म का मूल मन्त्र है। बुद्ध ने बताया कि प्राणिमात्र को पीड़ा पहुँचाना महापाप है। फिर भी महावीर स्वामी की भाँति अहिंसा पर बुद्ध ने इतना बल नहीं दिया, बल्कि समय और परिस्थिति को देखते हुए इस सिद्धान्त को स्थूल रूप प्रदान किया।

6. **कार्य-कारण सम्बन्ध**—महात्मा बुद्ध संसार की प्रत्येक वस्तु और घटना के पीछे किसी न किसी कारण का होना मानते थे। उनका कहना था कि प्रत्येक घटना या स्थिति के कारणों को पहले समझना और फिर उससे मुक्ति पाने का उपाय किया जाना आवश्यक है।

7. **अन्तःशुद्धि**—गौतम बुद्ध ने अन्तःकरण की शुद्धि पर भी बहुत बल दिया। उनका कहना था कि तृष्णा अन्तःकरण से पैदा होती है और बाहरी प्रयत्नों

से तृष्णा से छुटकारा नहीं मिल सकता। अतः व्यक्ति को निर्वाण प्राप्ति के लिए अन्तःकरण की शुद्धि करनी चाहिए। मन से मोहमाया का त्याग करना चाहिए।

8. **निर्वाण**—बौद्ध धर्म का अंतिम लक्ष्य निर्वाण (मोक्ष) प्राप्त करना है। निर्वाण शब्द का अर्थ बुझाना होता है। अतः महात्मा बुद्ध का कहना था कि मन में पैदा होने वाली तृष्णा या वासना की अग्नि को बुझा देने पर निर्वाण प्राप्त हो सकता है। उनके अनुसार ज्ञान के प्रकाश द्वारा अविद्या रूपी अंधकार को समाप्त कर निर्वाण प्राप्त किया जा सकता है। उनके मतानुसार निर्वाण इसी जन्म में, इसी लोक में प्राप्त किया जा सकता है।

बौद्ध-भिक्षु—अपनी विचारधारा को स्थाई रूप मिल सके, इसके लिए बुद्ध ने व्यावहारिक दृष्टि से काम लिया। वे जानते थे कि उनके सभी अनुयायी कठोर नियमों का पालन नहीं कर सकते। इसलिए उन्होंने अपने अनुयायियों को भिक्षु तथा उपासक दो श्रेणियों में रखा। भिक्षु उन लोगों को कहते थे जो गृहस्थ जीवन छोड़ कर बुद्ध के समस्त उपदेशों का पालन करते हुए, बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार में जीवन व्यतीत करते थे। प्रारम्भ में स्त्रियों को इस प्रकार त्यागमय भिक्षु-जीवन बिताने की अनुमति नहीं दी गई थी, किन्तु बाद में अपनी सौतेली माँ प्रजावती के आग्रह पर स्त्रियों को भी उन्होंने त्यागी बनने की अनुमति दे दी, जो भिक्षुणियाँ कहलाने लगीं।

बौद्ध संघ—भिक्षु वर्ग को संगठित एवं संयमी बनाये रखने के लिए बुद्ध ने बौद्ध-संघों की स्थापना की। संघ में भिक्षुओं को वहाँ की दिनचर्या और कार्यक्रम के अनुसार जीवन बिताना पड़ता था। इन संघों में जाति-पाँति का भेद-भाव नहीं था और न ही इनका कोई अधिपति होता था। संघ का मुख्य काम बौद्ध धर्म का प्रचार करना था। संघों में रहने के लिए भिक्षु-भिक्षुणियों के लिए अलग से मठ (विहार) बने होते थे, जहाँ वे त्यागमय सादा जीवन बिताते थे। वर्ष के आठ महीनों तक भिक्षुगण घूम-घूमकर बौद्ध धर्म का प्रचार करते थे और चार माह मठ में रहते थे। आगे चलकर ये मठ प्राचीन भारत में शिक्षा और कला के महत्वपूर्ण केन्द्र बन गये।

बौद्ध धर्म का विभाजन—आप पढ़ चुके हैं, जैन-धर्म दिगम्बर और श्वेताम्बर दो सम्प्रदायों में बँट गया। आगे भी आप पढ़ेंगे कि मुहम्मद साहब के इस्लाम-धर्म में भी शिया और सुन्नी दो वर्ग हो गये थे। इसी तरह काल चक्र के साथ बौद्ध धर्म हीनयान और महायान दो प्रमुख सम्प्रदायों में विभक्त हो गया।

हीनयान—हीनयान सम्प्रदाय बौद्ध धर्म के प्राचीन स्वरूप को महत्त्व देता है। यह बुद्ध को आदि धर्म प्रवर्तक तथा निर्वाण (मोक्ष) प्राप्त असाधारण व्यक्ति मानते हैं। हीनयान लोगों को कर्मवाद एवं पुनर्जन्म में विश्वास है। ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं रखकर इन लोगों की मान्यता है कि स्वयं पर विश्वास एवं बुद्ध के बताए गए मार्ग का अनुसरण ही निर्वाण का सही मार्ग है। इस सम्प्रदाय का कथन है कि अपने लिए स्वयं प्रकाश बनो। लेकिन स्वयं के प्रकाश को पहचान सकना प्रत्येक के वश में नहीं होता।

महायान—बौद्ध धर्म के जिन अनुयायियों ने इस कठिन मार्ग को सरल बनाने के लिए कुछ नवीन व सरल मान्यताओं का विकास कर उसके अनुसार चलना प्रारंभ किया, वे महायान कहलाये। महायान विचारधारा के मानने वालों का कथन है कि व्यक्ति को केवल आत्म कल्याण ही नहीं करना है, बल्कि संसार के अन्य दु:खी प्राणियों की सेवा के साथ उन्हें भी निर्वाण का मार्ग बताना है। बुद्ध का जीवन उसी का उदाहरण है। इनका विश्वास है कि बुद्ध के पूर्व भी बौद्ध धर्म के अनेक प्रवर्तक हो चुके थे, जिन्हें वे बोधिसत्व कहते हैं। उनके अनुसार प्रत्येक बोधिसत्व (सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर लेने वाले व्यक्ति) का यही काम है कि वह संसार के प्राणियों का उद्धार करे। यह कार्य संसार से अलग रह कर नहीं हो सकता। महायान विचारधारा मानने वालों के मत में महात्मा बुद्ध परमात्मा और अवतार थे। अत: उनके सम्प्रदाय में बुद्ध और प्रत्येक बोधिसत्व की पूजा होने लगी। यह माना जाने लगा कि दुखी प्राणी जब निराश हो जाता है तो ईश्वर के अवतार—भगवान बुद्ध, उन्हें आशा प्रदान करते हैं। इसके साथ ही, जहाँ हीनयान सम्प्रदाय आत्मा में विश्वास नहीं रखता, वहाँ महायान मतावलम्बी विश्व के सम्पूर्ण प्राणियों की महान् आत्मा में विश्वास करते हैं। इस तरह महायान मतावलम्बी व्यावहारिक एवं उपयोगितावादी हैं।

बौद्ध धर्म का प्रसार—जैन धर्म की तरह बौद्ध धर्म का जन्म भी उत्तरी भारत में हुआ, किन्तु महात्मा बुद्ध और उनके अनुयायियों के प्रयत्न से बहुत कम समय में बुद्ध धर्म का प्रचार-प्रसार भारत और विदेशों में हो गया। इस धर्म के शीघ्र लोकप्रिय बनने के मुख्य कारण निम्नलिखित थे—

1. **सरल सिद्धांत**—बौद्ध धर्म के सिद्धान्त सरल, व्यावहारिक, सुबोध एवं प्रत्येक गृहस्थी के अनुकूल थे। बुद्ध ने अपने उपदेशों में दार्शनिक विचारों का प्रतिपादन न कर, शुद्ध आचरण पर अधिक जोर दिया था। वस्तुतः उनके सिद्धान्त नैतिक जीवन व्यतीत करने की रीति-नीति को स्पष्ट करते थे। ऐसी स्थिति में जनता का गूढ़ रहस्यवादी तथा जटिल वैदिक धर्म से हटकर इस धर्म की ओर आकर्षित होना स्वाभाविक था।

2. **अनुकूल वातावरण**—बौद्ध धर्म का उदय उस समय हुआ, जब भारतीय जनता प्रचलित धर्म की रूढ़िवादिता, कर्मकाण्ड, रहस्यवाद और उनके पण्डों-ब्राह्मणों के आचरणों से क्षुब्ध थी। ऐसे समय में गौतम बुद्ध ने प्रचलित व्यवस्था का खण्डन कर जीवन को उन्नत करने के लिए सरल एवं व्यावहारिक तरीकों को बताया, जिनका जनता ने हृदय से स्वागत किया।

3. **जन भाषा में सिद्धान्तों का प्रतिपादन**—महात्मा बुद्ध ने अपने उपदेशों का प्रचार उस युग की जन भाषा पालि में किया था। अत: उनकी बात आसानी से जनसाधारण की समझ में आ जाती थी। ऐसी स्थिति में जनता पर उनके उपदेशों का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। इस कारण उनके उपदेश शीघ्र ही जनप्रिय हो गये और बौद्ध धर्म के अनुयायियों की संख्या शीघ्रता से बढ़ी।

4. समानता की भावना—जातिगत भेदभाव से ऊपर उठकर सभी को समान रूप से मोक्ष का अधिकारी स्वीकार करना बौद्ध धर्म के शीघ्र प्रसार का एक महत्त्वपूर्ण कारण था। महात्मा बुद्ध ने ऐसे युग में जब जातिवाद की जटिलताएँ समाज को जकड़े हुए थी और जाति के आधार पर धर्म-कर्म के अधिकारी होने ने होने की विचारधारा बलवती थी, सभी लोगों को समान रूप से गले लगा कर अपने उपदेशों को स्वाभाविक रूप में जनप्रिय बना दिया।

5. राजाओं और धनी वर्ग द्वारा प्रोत्साहन—बौद्ध धर्म के प्रचार में उस युग के शाक्य, लिच्छवी, मल्ल, बुली, कोलीय, मोरीय तथा भग्ग गणराज्यों ने बड़ी रुचि ली। इसके साथ ही विद्वानों तथा व्यापारियों ने इसे अपनाया तथा तन, मन और धन से इसके प्रचार-प्रसार में सहयोग दिया। इससे जन साधारण में बौद्ध धर्म तीव्र गति से फैला। बाद के युगों में सम्राट अशोक, कनिष्क तथा हर्ष ने इस धर्म के प्रचार-प्रसार में महत्त्वपूर्ण योग दिया। ऐसी स्थिति में प्रारम्भ और बाद के काल में राज्याश्रय और धनी वर्ग का सहयोग मिलने से बौद्ध धर्म का भारत और विदेशों में खूब प्रसार हो सका।

6. बौद्ध संघों के संगठन की श्रेष्ठता—महात्मा बुद्ध ने जिस बौद्ध संघ प्रणाली को जन्म दिया था, वह अपने ढंग की अनूठी थी। उनके संघों की जीवन-प्रणाली जनतन्त्रात्मक होने के साथ साथ संघ भावना को लिए हुए थी। संघों में रहने वाले सभी भिक्षुगण एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाकर बुद्ध के उपदेशों का प्रचार करते हुए संगठित रूप में त्याग, सदाचार, अध्यवसाय और अध्ययनशीलता के उत्तम गुणो का परिचय देते थे। साथ ही, वे प्रत्येक प्रकार की कठिनाई और आपत्ति का सामना करने को भी तत्पर रहते थे। ऐसी स्थिति में बौद्ध संघों की इस संगठन शक्ति का सामान्य जनता पर प्रभाव होना तथा इस धर्म के प्रति सम्मान, सद्भावना और झुकाव बढ़ना स्वाभाविक था।

7. प्रतिस्पर्द्धी धर्मों का अभाव—बौद्ध धर्म के शीघ्र प्रसार का एक महत्त्व-पूर्ण कारण उस युग में उसका विरोध करने वाली धार्मिक विचारधाराओं का अभाव भी था। वैदिक धर्म में प्रसार की प्रवृत्ति नही थी और उस काल में जनसाधारण को वह रुचिकर भी नहीं था। जैन मत अधिक व्यापक नही हो पाया था। ऐसी स्थिति में बौद्ध प्रचारकों को बिना विरोध के अपने धर्म के प्रचार का खुला क्षेत्र मिला और बौद्ध धर्म का सरलतापूर्वक प्रचार हो सका।

8. महात्मा बुद्ध का आकर्षक व्यक्तित्व—बौद्ध धर्म के द्रुतगामी प्रसार का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कारण महात्मा बुद्ध का आकर्षक व्यक्तित्व था। उनकी रोमांचकारी जीवनी ने उनके व्यक्तित्व को एक विशेष स्तर प्रदान कर दिया था। राजा के पुत्र होते हुए भी सभी सुख-सुविधाओं के त्याग ने स्वभावतया उनके व्यक्तित्व को ऊँचा उठा दिया था। जनता स्वाभाविक रूप में उनके प्रति सम्मान से झुक जाती थी और विरोधी नतमस्तक हो जाते थे। इसके साथ ही, गौतम बुद्ध कभी किसी धर्म का अनादर नहीं करते थे, बल्कि तर्क के आधार पर प्रतिपक्षी धर्म का

खण्डन करते थे। ऐसी स्थिति में जनता का उनके उपदेशों के प्रति श्रद्धावान होना स्वाभाविक था।

उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त बौद्ध धर्म की परिवर्तनशीलता ने भी इस धर्म के प्रसार में योग दिया। धर्म की कठोरता को त्याग कर इसमें उदारवादी महायान विचारधारा का जन्म हुआ, जिसने बौद्ध धर्म के प्रसार में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। इसी के साथ बौद्ध शिक्षण संस्थाओं, यथा—तक्षशिला, महाबोधि, नालन्दा, विक्रमशिला आदि में बौद्ध धर्म और बौद्ध साहित्य की समुचित शिक्षा की व्यवस्था ने भी इस धर्म के भारत और विदेशों में प्रसार में भारी सहयोग दिया।

बौद्ध धर्म का विदेशों में प्रसार—उपर्युक्त कारणों से महात्मा बुद्ध के काल में और उसके बाद के युगों में भारत और विदेशों में बौद्ध धर्म का प्रसार हुआ। यद्यपि भारत में बौद्ध धर्म समय की गति के अनुसार उठता-गिरता रहा, किन्तु अपने जन्म के बाद से लेकर छठी शताब्दी ईसवी तक बौद्ध भिक्षुओं तथा कतिपय भारतीय सम्राटों के प्रयत्नों से यह धर्म मध्य एशिया, चीन, तिब्बत, जापान, बर्मा, दक्षिणी-पूर्वी एशिया तथा यूनान तक विदेशों में खूब फैला।

बौद्ध धर्म के विदेशों में प्रचार का कार्य विधिवत रूप में मौर्य सम्राट अशोक के काल में प्रारम्भ हुआ। अशोक ने इस धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए श्रीलंका, बर्मा, मध्य एशिया, पश्चिमी एशिया आदि स्थानों पर अपने प्रचारक भेजे। अशोक के शिलालेखो से पता चलता हैं कि बौद्ध प्रचारकों ने सीरिया, मेसोपोटामिया तथा यूनान में मेसिडोनिया, एरिच तथा कोरिंथ तक जाकर इस धर्म को फैलाया। विदेशों मे बौद्ध धर्म के प्रचार में इस धर्म की महायान शाखा का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा और महायान विचारधारा के अनुयायी सम्राट् कनिष्क के प्रयत्नों से मध्य एशिया, तिब्बत, चीन तथा जापान तक इस धर्म का खूब प्रचार हुआ। मध्य एशिया के खोतान प्रान्त में विरोचन नामक बौद्ध भिक्षु ने इस धर्म के प्रचार का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। वहाँ कई बौद्ध मठों की स्थापना हुई। इसके साथ ही काशगर, तुर्फान आदि भागों में भी इस धर्म का खूब प्रचार हुआ। चीन में सम्राट् मींगती के समय में बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ। वहाँ कई बौद्ध विद्वान चीन गए और उन्होंने चीनी भाषा में बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद किया। परिणामस्वरूप चीन में बौद्ध धर्म का व्यापक प्रचार हुआ। वहाँ कई बौद्ध मन्दिर बने और बोधिसत्वों की मूर्तियाँ बनाकर उनकी पूजा की जाने लगी। चीन की तरह तिब्बत में भी इस धर्म का प्रचार हुआ। भारतीय बौद्ध विद्वान् पद्मसंभव तिब्बत के राजा के निमन्त्रण पर वहाँ गया और अनेक बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद कर वहाँ बौद्ध धर्म के प्रचार में उसने योग दिया। विद्वानों का कथन है कि चीन से बौद्ध धर्म कोरिया, फारमोसा, मंगोलिया, यूनान तथा जापान में फैला, इसके अतिरिक्त ब्रह्मा, श्याम, कम्बोडिया, जावा तथा सुमात्रा में भी बौद्ध धर्म की महायान विचारधारा का खूब प्रसार हुआ। इस प्रसार के साथ-साथ भारतीय सभ्यता और संस्कृति इन देशों में फैली। बौद्ध धर्म का इन देशों में

जिस प्रभावशाली रूप में प्रचार-प्रसार हुआ, उसका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि अपनी जन्म-भूमि से विलुप्त हो जाने पर भी इन देशों में से अधिकांश में बौद्ध धर्म अब भी जीवित है।

बौद्ध धर्म का विलोप—यह पढ़कर आपको आश्चर्य होगा कि इतने व्यापक क्षेत्र में शीघ्रता के साथ फैलने वाला बौद्ध धर्म अपनी जन्म-भूमि भारत में लगभग बारहवीं शताब्दी के बाद विलुप्त-सा हो गया। भारत में इस प्रकार बौद्ध धर्म के विलुप्त होने के प्रमुख कारणों में से इस धर्म में पैदा होने वाली आन्तरिक कमजोरियाँ, भिक्षुओं का नैतिक पतन, राजकीय संरक्षण का समाप्त हो जाना तथा हिन्दू धर्म का पुनरुत्थान प्रमुख थे। इन सब कारणों से बौद्ध की धर्म की जड़ें भारत में कमजोर होने लगीं और 11वीं–12वीं शताब्दी में भारत पर तुर्की आक्रमणों का सिलसिला प्रारम्भ होने पर यह धर्म भारत से लगभग समाप्त प्रायः हो गया।

बौद्ध धर्म का जन्म भारत में हुआ, यहाँ वह पनपा, यहाँ से ही विदेशों में फैला और अपने ही देश से विलुप्त भी हो गया। किन्तु इस धर्म ने भारतीय संस्कृति को विविध रूपों में प्रभावित किया और अपनी अनोखी देनों से भारतीय धर्म-दर्शन, साहित्य-कला, शासन-नीति और आचार-विचार को एक विशेष दिशा-बोध कराया। भारतीय संस्कृति के विविध पक्षों में बौद्ध धर्म के प्रभाव और देन को निम्नलिखित रूप में आँका परखा जा सकता है—

1. धर्म एवं दर्शन के क्षेत्र में—बौद्ध धर्म ने वास्तव में अपने अनात्मवाद अनीश्वरवाद, कार्य-कारण सम्बन्ध, कर्म व पुनर्जन्मवाद, आन्तरिक शुद्धि तथा निर्वाण के दार्शनिक विचारों से भारतीय दार्शनिक चिन्तन प्रणाली को नवीन गति दी। वैसे असग, नागार्जुन, वसुबन्धु, धर्मकीर्ति आदि ने बौद्ध विचारधारा को अपने ढंग से विकसित किया, किन्तु इनके प्रयत्नों से भारतीय दर्शन की प्राचीन परम्पराओं को नवीन दृष्टिकोण से पुनः विचार करने के लिए बाध्य होना पड़ा। परिणामस्वरूप कुमारिल्ल भट्ट तथा शंकराचार्य जैसे दार्शनिकों का आविर्भाव हुआ और भारतीय दर्शन में नवीन चेतना जाग्रत हुई।

इसी दार्शनिक चेतना ने छठी शताब्दी तक पैदा होने वाली वैदिक धर्म की जटिलता और आडम्बरपूर्ण स्थितियों को समाप्त करने में योगदान दिया। बौद्ध धर्म के प्रभाव से ही वैदिक धर्म में सुधार कीं क्रिया प्रारम्भ हुई। परिणामस्वरूप जटिल हिन्दू धर्म का रूपान्तर हुआ। यज्ञ, बलि, कर्मकाण्ड आदि आडम्बरों के स्थान पर वैदिक धर्म में मानवता, स्नेह, सौहार्द्र की भावना का विकास हुआ। बौद्ध धर्म ने भारत में मूर्ति-पूजा के अधिक प्रसार का भी काम किया। महायान बौद्धों की मूर्ति-पूजा की प्रबल प्रवृत्ति ने वैदिक धर्म में भी मूर्ति-पूजा को अधिक प्रबल बनाया।

2. साहित्य एवं कला के क्षेत्र में—बौद्ध धर्म ने भारतीय साहित्य और कला को खूब प्रभावित किया। बौद्ध धर्म के अनुयायियों द्वारा पालि और संस्कृति भाषा में बौद्ध दर्शन और बौद्ध विचारधारा से सम्बन्धित प्रभूत साहित्य की रचना की गई।

साथ ही, महात्मा बुद्ध के जीवन को आधार बनाकर संस्कृत और जन-भाषाओं में साहित्य लिखा गया। काव्य एवं नीति सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ लिखे गये। इन सब ने भारतीय साहित्य को समृद्ध किया और भारत की संस्कृति व लोकभाषाओं के विकास में सहयोग दिया। बौद्ध धर्म और बुद्ध चरित्र से सम्बन्धित विनयपिटक, सुत्तपिटक, अभिधम्मपिटक, अवदानशतक, दिव्यावदान, मन्जूश्रीमूलकल्प, ललितविस्तर आदि ग्रन्थ, बुद्धचरित्र महाकाव्य, सारिपुत्त-प्रकरण, नाटक तथा जातक कथा साहित्य इत्यादि भारत को बुद्ध धर्म की ही देन हैं। यदि इस सम्पूर्ण बौद्ध साहित्य को अलग कर दिया जाय, तो वस्तुतः भारतीय साहित्य खण्डित-सा नजर आने लगता है।

साहित्य की भाँति भारतीय कला को भी बौद्ध धर्म की महान देन रही है। कुछ विद्वानों की तो यह मान्यता है कि भारतीय शिल्पकला, मूर्तिकला एवं चित्रकला का जो निरखा स्वरूप दिखाई देता है, वह बौद्ध धर्म की ही देन है। गुहा मन्दिरों का निर्माण, मूर्तिकला की गान्धार शैली तथा भावना प्रधान अजन्ता शैली की चित्र-कला बौद्ध धर्म के प्रभाव से ही विकसित हो पायी है।

3. **प्रशासन नीति के क्षेत्र में**—बौद्ध धर्म ने परोक्ष रूप में प्रशासन नीति को भी प्रभावित किया। जनतन्त्र की समानता, सहिष्णुता और भ्रातृत्व की भावना को बौद्ध धर्म में साफ देखा परखा जा सकता है। वर्तमान भारतीय शासनतन्त्र की अहिंसा और शान्ति की नीति को भी बौद्ध धर्म में देखा जा सकता है। यह बौद्ध धर्म ही था, जिसने अशोक जैसे शक्ति-सम्पन्न एवं साम्राज्य प्रसार की प्रबल इच्छा रखने वाले महान् सम्राट् को हमेशा-हमेशा के लिए तलवार म्यान में रखकर युद्ध के स्थान पर धर्म प्रचार से मनुष्यों के हृदय जीतने की नीति का अनुसरण करने को बाध्य कर दिया था।

4. **आचार-विचार के क्षेत्र में**—भारत में प्राचीन काल से सदाचार को महत्त्व मिलता आया है। सत्य, सेवा, परोपकार, अहिंसा भारतीय जीवन-प्रणाली के आदर्श रहे हैं। किन्तु जब अपनी स्वार्थी प्रवृत्ति के कारण भारत में इन आदर्शों का विलोप होने लगा, तभी बौद्ध धर्म ने अपने जीवन के आदर्शों को दस शील के रूप में भारतीय जनता के समक्ष रखकर पुनः नैतिकता और सदाचरण की ओर जाने का उपदेश देकर भारतीय संस्कृति के मूलभूत तत्त्वों को बनाए रखने और उन्हें आगे बढ़ाने में पूरा-पूरा सहयोग दिया।

उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त भारत में शिक्षा को गति देने में तथा भारतीय संस्कृति के सच्चे स्वरूप को विदेशो में फैलाने में भी बौद्ध धर्म की अपूर्व देन को स्वीकार करना एक ऐतिहासिक तथ्य है।

अध्ययन का उपयोग

नीचे दिए गए प्रश्नों का उत्तर दीजिये एवं अपने अध्ययन को उपयोगी बनाइये—

1. छठी शताब्दी ईसा पूर्व के काल को धार्मिक एवं बौद्धिक जागृति का काल क्यों कहा जाता है?

2. महावीर स्वामी और महात्मा बुद्ध के पहले भारत के धार्मिक एवं सामाजिक जीवन में क्या बुराइयाँ पनप गई थीं ?
3. महावीर स्वामी को सत्य-ज्ञान (कैवल्य) की प्राप्ति कैसे हुई ?
4. महावीर स्वामी के त्रिरत्न एवं पंचमहाव्रत क्या हैं ?
5. सत्य ज्ञान प्राप्त करने के लिए महात्मा बुद्ध ने क्या प्रयत्न किए और उन्हें ज्ञान का बोध कैसे हुआ ?
6. महात्मा बुद्ध के चार आर्य सत्य, 'अष्टांगिक मार्ग' के आठ आचरण एवं दस शील कौन-कौन से हैं ?

अध्ययन की जाँच

सही उत्तर का क्रमाक्षर कोष्ठक में लिखिए—

1. महात्मा बुद्ध ने अपने ज्ञान का उपदेश सबसे पहले दो बन्जारों को दिया, इससे प्रकट होता है कि—
   (क) महात्मा बुद्ध निम्न कुल के थे, अतः उन्होंने नीची जाति को अपनाया ।
   (ख) बन्जारों ने निम्न जाति के उद्धार का बुद्ध से आग्रह किया और महात्मा बुद्ध ने उन्हें उपदेश दिया ।
   (ग) महात्मा बुद्ध मानवता के उद्धारक थे, उनमें ऊँच-नीच की भावना नहीं थी ।
   (घ) उस युग की परिस्थितियों के अनुसार बुद्ध के लिए ऐसा करना आवश्यक था । ( )
2. जैन धर्म और बौद्ध धर्म के सिद्धान्त जनता की समझ में शीघ्रता से आ जाते थे, कारण कि—
   (क) इनके सिद्धान्त सरल थे और जनता उन्हें चाहती थी ।
   (ख) सिद्धान्तों का प्रचार जनता की बोलचाल की भाषा में किया गया था ।
   (ग) सिद्धान्तों का प्रचार संस्कृत भाषा में किया गया था और संस्कृत जन-साधारण की भाषा थी ।
   (घ) इनके सिद्धान्त वैदिक धर्म के सिद्धान्तों के विपरीत थे और जनता वैदिक धर्म से ऊब चुकी थी । ( )
3. बौद्ध धर्म के द्रुतगामी विकास का कारण था—
   (क) महात्मा बुद्ध जैसे व्यक्ति द्वारा इस धर्म का प्रचार ।
   (ख) बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों का दूसरे धर्म के सिद्धान्तों से श्रेष्ठ होना ।
   (ग) उससे पूर्व प्रचलित धर्मों में बुराइयाँ उत्पन्न हो जाना ।
   (घ) अहिंसा के पालन पर अधिक जोर देना । ( )

सोच-विचार कर उत्तर लिखिए—

1. यदि महावीर स्वामी का जन्म नहीं होता तो भारतवर्ष में जैन धर्म जैसी कोई विचारधारा नहीं होती, क्या आप इस कथन को सही मानते हैं ?
2. जैन धर्म एवं बौद्ध धर्म ने जनता को शीघ्रता से प्रभावित किया, इसके क्या कारण हैं ?
3. महावीर स्वामी एवं महात्मा बुद्ध की शिक्षाओं को विश्व-शान्ति के लिए आज के युग में कैसे अपनाया जा सकता है ?

निम्नलिखित क्रियात्मक कार्य कीजिए और अपना कौशल बढ़ाइए—

1. निम्नलिखित घटनाओं की तिथियों का पता लगाकर महावीर स्वामी एवं महात्मा बुद्ध के जीवन की एक तुलनात्मक समय रेखा बनाइए—
   (1) जन्म (2) गृह त्याग (3) ज्ञान प्राप्त (4) मोक्ष ।

पूरक अध्ययन ग्रन्थ

1. डॉ० एच० सी० रायचौधरी : प्राचीन भारत का राजनीतिक इतिहास
2. राजबली पाण्डेय : प्राचीन भारत
3. राधाकुमुद मुकर्जी : हिन्दू सभ्यता
4. डॉ० जी० एन० शर्मा : भारत का सम्पूर्ण इतिहास
5. डॉ० विमल चन्द्र पाण्डेय : भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास
6. के० ए० नीलकण्ठ शास्त्री : नन्द मौर्ययुगीन भारत

अध्याय 6

मौर्य साम्राज्य की स्थापना से पूर्व

(सिकन्दर का भारत पर आक्रमण)

छठी शताब्दी ईसा पूर्व का समय धार्मिक एवं सामाजिक क्रान्ति की तरह राजनीतिक दृष्टि से भारतीय इतिहास में महत्व रखता है । इस शताब्दी में भारत में राजनीतिक दृष्टि से दो महत्त्वपूर्ण घटनाएँ घटीं । एक तो मगध को केन्द्र बनाकर उत्तरी-पूर्वी भारत में स्वतन्त्र जनपद राज्यों का एकीकरण होने लगा तथा दूसरा, इस शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारत पर ईरानियों (पारसियों) के आक्रमण हुए । इन दोनों घटनाओं ने अप्रत्यक्ष रूप से भारत के अगले युगों में इतिहास को प्रभावित किया । जनपद राज्यों के एकीकरण के परिणामस्वरूप चौथी शताब्दी के मध्यकाल तक नन्दवंश के शासकों के नेतृत्व में केन्द्रीय भारत में शक्तिशाली साम्राज्य की रूपरेखा बनने लगी जिसका अन्तिम परिणाम 322 ई० पू० में मौर्य साम्राज्य की संस्थापना के रूप में निकला और ईरानी आक्रमणों ने 327 ई० पू० में भारत पर होने वाले सिकन्दर के यूनानी आक्रमणों तथा आगे ग्रीक, शक, पह्लव, पार्थियन, कुषाण आदि विदेशी आक्रमणकारियों के लिए मार्ग प्रशस्त किया ।

सिकन्दर का आक्रमण

प्राचीन भारत पर ईरानी आक्रमण के बाद दूसरा महत्त्वपूर्ण विदेशी

आक्रमण यूनानियों का हुआ। यूनानियों के आक्रमण का नेता सिकन्दर था। सिकन्दर यूनान के मकदूनिया के राजा फिलिप का पुत्र था। उसकी शिक्षा-दीक्षा प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक अरस्तू की देख-रेख में हुई थी और उसमें विविध प्रकार की योग्यताओं का विकास हुआ था। किन्तु जब सिकन्दर छोटा ही था, तभी उनके पिता फिलिप की मृत्यु हो गई और वह मकदूनिया का राजा बना।



सिकन्दर

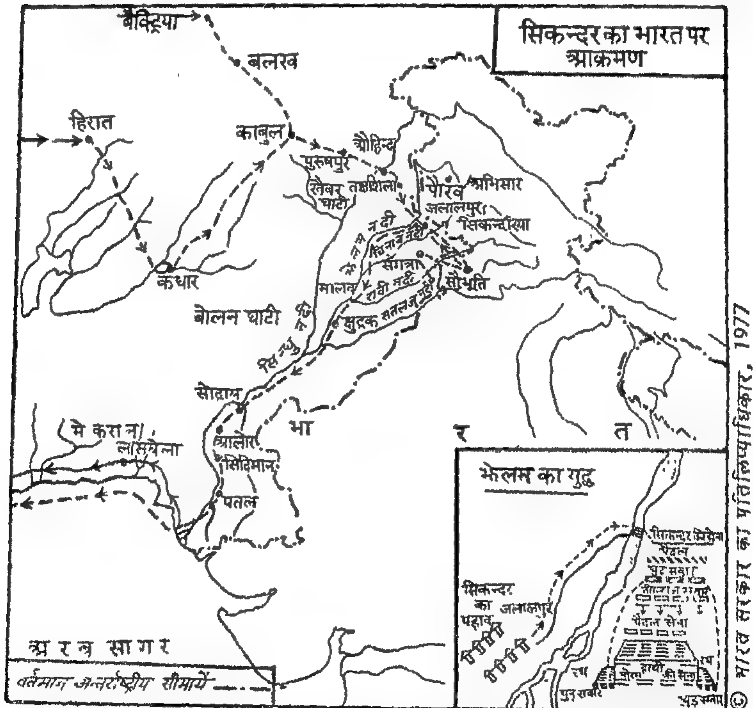
सिकन्दर की मनोकामना और विजय अभियान—सिकन्दर बड़ा महत्त्वाकांक्षी था। उसमें आगे बढ़ने की बड़ी लालसा थी। अतः ज्योंही वह मकदूनिया का शासक बना, उसने एक सुविशाल साम्राज्य की स्थापना करने की बात सोची। अपनी इस इच्छा की पूर्ति के लिए 328 ई० पू० में ही वह एक विशाल सेना लेकर अपने विजय अभियान पर निकल गया। लगभग पूरे यूनान पर तो उसका पिता फिलिप पहले ही अधिकार कर चुका था, अतः सिकन्दर पश्चिमी एशिया की ओर बढ़ा। उसने सबसे पहले मिस्र पर अधिकार किया और तत्पश्चात् फारस (ईरान) के विशाल साम्राज्य पर अधिकार किया। ईरान विजय के पश्चात् सिकन्दर भारत पर आक्रमण करने की योजना बनाने लगा।

सिकन्दर के आक्रमण के समय भारत की राजनैतिक स्थिति—सिकन्दर के आक्रमण के समय भारत के पूर्वी एवं मध्य भाग में नन्दवंश का आधिपत्य था। किन्तु इस समय पश्चिमोत्तर भारत कई छोटे-छोटे गणतन्त्र और राजतन्त्र राज्यों में विभक्त था। ये राज्य ईर्ष्या के कारण आपस में लड़ते रहते थे और एक दूसरे को नीचा दिखाने का प्रयत्न करते थे। उत्तरी पश्चिमी भारत की इस राजनीतिक स्थिति ने विश्व विजय का स्वप्न देखने वाले सिकन्दर के लिए कार्य सरल कर दिया। डॉ० राजबली पाण्डेय का मत है कि पश्चिमोत्तर भारत के कई स्वार्थी, पदलोलुप एवं देशद्रोही राजाओं ने सिकन्दर को भारत आने का निमन्त्रण दिया। ऐसे देश-द्रोहियों में हिन्दूकुश के उत्तरी प्रदेश का शासक शशिगुप्त तथा तक्षशिला का राजा आम्भी प्रमुख थे। उत्तरी-पश्चिमी भारत की ये परिस्थितियाँ सिकन्दर की मनो-कामना के अनुकूल थीं।

सिकन्दर का भारत पर आक्रमण—अनुकूल परिस्थितियां देखकर महत्त्वाकांक्षी सिकन्दर ने भारत की ओर प्रस्थान किया और 327 ई० पू० में हिन्दूकुश को पार कर कोहीदामन की घाटी में प्रवेश किया। यहाँ से वह आधुनिक जलालाबाद के पश्चिम में स्थित निकाई नामक नगर की ओर बढ़ा। निकाई पहुँच कर सिकन्दर ने अपनी सेना को दो भागों में बाँट लिया। सेना के एक भाग का नेतृत्व पार्डिक्कस नामक सेनापति को देकर सिकन्दर ने उसे काबुल की घाटी

(अफगानिस्तान और बलूचिस्तान) के रास्ते सिन्धु नदी की घाटी तक पहुँचने का आदेश दिया। सेना के दूसरे भाग का नेतृत्व स्वयं सिकन्दर ने सम्भाला और पर्वतीय प्रदेश से होता हुआ आगे बढ़ा। अपने इस अभियान में उसने अश्लायन, गौराइयन तथा अश्वकाइन जाति के लोगों को परास्त किया। किन्तु इनके साथ संघर्ष में सिकन्दर को पसीना आ गया। फिर भी, विजय प्राप्त करता हुआ सिकन्दर आगे बढ़ा और बाजोर की घाटी में दूसरे मार्ग से भेजी गई सेना से जा मिला। इसके पश्चात् मस्सग और नीसीयन नगरों को जीतता हुआ सिकन्दर पेशावर की ओर बढ़ा और उसने अष्टकों के राज्य की राजधानी पुष्कलावती पर अधिकार किया। इसके उपरान्त आगे बढ़ते हुए सिकन्दर ने ओहिन्द के पास सिन्धु नदी को पार किया। इसी समय तक्षशिला के राजा आम्भी ने कई मूल्यवान भेंटों के साथ सिकन्दर का स्वागत किया और वह उसे तक्षशिला ले गया। सिकन्दर ने तीन दिन तक्षशिला में मनोरंजन में बिताए। आम्भी की तरह कई अन्य भारतीय नरेशों ने सिकन्दर की अधीनता स्वीकार की।

सिकन्दर और पोरस—अपनी विजयों एवं सफलता के गर्व में चूर सिकन्दर



भारत के महासर्वेक्षक की अनुज्ञानुसार भारत सर्वेक्षण विभागीय मानचित्र पर आधारित। समुद्र में भारत का जल प्रदेश उपयुक्त आधार रेखा से मापे गये बारह समुद्री मील की दूरी तक है। इस मानचित्र में दिये गये भौगोलिक नामों का वर्णयोग प्रमाणिक नहीं है।

सिकन्दर का भारत पर आक्रमण

ने तक्षशिला से झेलम पार के राजा पोरस के पास सिकन्दर की अधीनता स्वीकार करने और उससे आकर मिलने का सन्देश भेजा। पोरस का राज्य झेलम और चिनाव के बीच पंजाब के शाहपुरा और गुजरात के जिलों में स्थित था। पोरस एक स्वतन्त्रता प्रेमी शासक था। उसकी रगों में देशभक्तों का रक्त बहता था, अतः सिकन्दर के सन्देश के प्रत्युत्तर में पोरस ने कहलाया कि "वह (पोरस) युद्ध-क्षेत्र में तलवार के साथ ही सिकन्दर से मिलेगा।" इस पर अपनी विजयों के अभिमान में बावला सिकन्दर पोरस को हराने के लिए तक्षशिला से आगे बढ़ा और झेलम नदी के तट पर जा पहुँचा। पोरस यह पहले ही जानता था कि उसे सिकन्दर से युद्ध करना होगा, अतः उसने भी अपनी पूरी तैयारी कर ली और अपनी सेना के साथ झेलम के दूसरे तट पर आ डटा।

झेलम का युद्ध—जब सिकन्दर और पोरस की सेनाएँ आमने सामने डटी थीं, उन दिनों मौसम वर्षा का था। नदी में बाढ़ आ गई थी। इस कारण सिकन्दर को पोरस पर आक्रमण करने के लिए कई दिनों तक इन्तजार करना पड़ा। अन्त में एक दिन मूसलाधार वर्षा की अँधेरी रात में अपने ग्यारह हजार सैनिकों के साथ नदी के चढ़ान की ओर से सिकन्दर ने झेलम को पार किया। सिकन्दर के इस प्रकार नदी पार करने के समाचार पाते ही पोरस ने अपने पुत्र को सैन्य दल के साथ सिकन्दर का सामना करने के लिए भेजा। किन्तु पोरस के पुत्र को सफलता नहीं मिली। वह अपने कई सैनिकों के साथ युद्धभूमि में मारा गया। परिणामस्वरूप स्वयं पोरस सिकन्दर का सामना करने पहुँचा। दिन भर युद्ध में पोरस और उसकी सेना ने शत्रुओं के दाँत खट्टे किए। किन्तु अपने फुर्तीले घोड़े की सहायता से अन्त में विजय सिकन्दर को मिली। पोरस बन्दी हुआ और सिकन्दर के सामने लाया गया। इसी समय सिकन्दर ने पोरस से पूछा कि वह कैसे व्यवहार की आशा करता है, तो निस्संकोच होकर अदम्य साहस के साथ पोरस ने उत्तर दिया, "जैसा एक राजा दूसरे राजा के साथ करता है।" पोरस का उत्तर सुनकर सिकन्दर आश्चर्य-चकित हो गया। उसके साहस और वीरता पर मुग्ध हो गया और उसने आस-पास के अन्य राज्यों को मिलाते हुए पोरस का राज्य उसे पुनः लौटा दिया। किन्तु, इसके पीछे सिकन्दर की कूटनीति छिपी हुई थी। वह चाहता था कि अपने आगे के अभियानों में उसे पोरस जैसे शक्तिशाली शासक का सहयोग मिले। विद्वानों का यह भी अनुमान है कि इसी के साथ ही सिकन्दर तक्षशिला के राजा आम्भी के प्रबल विरोधी रूप में पोरस की शक्ति को बनाए रखना चाहता था, ताकि कोई भी शक्तिशाली न बन जाए।

राजा पोरस के परास्त होने के कारण—सिकन्दर के साथ बड़ी वीरता और दृढ़ निश्चय लेकर युद्ध करने पर भी अन्त में पोरस की पराजय हुई। इसके कई कारण थे। डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी ने पोरस की पराजय का मुख्य कारण भारतीय सेना में हाथियों के बोझिल संगठन के मुकाबले में यूनानी सेना में फुर्तीले घुड़सवारों का उपयोग होना माना है। वास्तव में फुर्तीले-यूनानी घुड़सवार भारतीय हाथियों

की सेना के एक भाग पर आक्रमण करते और उन्हें धकेलने के लिए भारतीय जब तक सम्भलते, तब तक यूनानी घुड़सवार भारतीय सेना के दूसरे पक्ष पर आक्रमण कर देते और इस प्रकार यूनानी घुड़सवारों के आक्रमणों ने भारतीयों को पूरे युद्ध-काल में सम्भलने नहीं दिया।

पोरस की पराजय का दूसरा मुख्य कारण युद्ध के पूरे दिन लगातार वर्षा होते रहना भी था। वर्षा के कारण जमीन के चिकने हो जाने से भारतीय हाथी अपनी फुर्ती खो बैठे। उनके पाँव फिसलने लगे और युद्ध में सक्रिय नहीं हो पाए। इसके साथ ही वर्षा के कारण भारतीय तीरंदाज भी अपना रणकौशल नहीं बता सके। एक तो वर्षा के पानी से इन तीरन्दाजों के धनुष की प्रत्यंचाएँ भीग कर ढीली पड़ गईं और दूसरा तीरन्दाज धनुष के एक सिरे को जमीन पर टिका कर मार करने का प्रयत्न करते तो वर्षा के कारण गीली जमीन में उनके धनुष ठीक प्रकार नहीं टिक पाने से, उनके धनुष से छूटने वाले बाण तेज वार नहीं कर पाते थे। पोरस की पराजय का एक अन्य कारण युद्ध में पोरस द्वारा रथों का उपयोग करना भी था। वर्षा के कारण पोरस की सेना के रथ भी बेकार साबित हुए। उनके पहिए जमीन के गीली और चिकनी हो जाने के कारण जमीन में धँसते रहे और उनका यथास्थान आवश्यकतानुसार उपयोग नहीं हो पाया।

इन कारणों के अतिरिक्त पोरस द्वारा आक्रमण की पहल न करना, अपनी पूरी सेना को एक साथ युद्ध में धकेल देना तथा हाथियों पर विश्वास करना भी उसकी हार के कारण थे।

सिकन्दर की अन्य राज्यों पर विजय—यद्यपि उपर्युक्त कारणों से पोरस की पराजय हुई, फिर भी उसके शौर्य और निर्भीकता से प्रभावित होकर सिकन्दर ने उससे मित्रता की। पोरस को मित्र बनाकर सिकन्दर उत्तरी-पूर्वी पंजाब की ओर आगे बढ़ा। आगे बढ़ते हुए चिनाव और रावी के मध्य के छोटे पोरस के राज्य पर बिना युद्ध के सिकन्दर का अधिकार हो गया। छोटे पोरस ने बिना युद्ध किए ही सिकन्दर की अधीनता स्वीकार कर ली। इसके बाद सिकन्दर ने चिनाव के पश्चिमी तट पर स्थित 37 नगरों में रहने वाले ग्लोचुकायनों (ग्लोगनिकाई) को परास्त किया और इसके बाद उसने रावी के पार स्थित अधृष्ट तथा कठ गणराज्यों पर विजय प्राप्त की और इन सभी भागों को उसने पोरस को सौंपा।

सिकन्दर का भारत से प्रत्यागमन—इस प्रकार उत्तरी पश्चिमी भारत के विभिन्न भागों पर अधिकार करता हुआ सिकन्दर भारत के भीतरी भागों में आगे बढ़ने लगा। किन्तु व्यास नदी के किनारे पर पहुँचने पर सिकन्दर की सेना ने आगे बढ़ने से इन्कार कर दिया। उसके सैनिक लौट चलने की माँग करने लगे। सिकन्दर के सैनिकों के इस व्यवहार के कई कारण थे। एक तो उसके सैनिक लम्बे समय तक लड़ते-लड़ते थक चुके थे और कई बीमारी आदि के प्रकोप से घबराने लगे थे। उनके पास पहनने-ओढ़ने के वस्त्रों की भी कमी हो गई थी। दूसरा, अपने कुटुम्बियों

से बहुत समय से दूर रहने के कारण सैनिकों के मन में अपने-अपने घर लौटने की उत्सुकता बढ़ रही थी। तीसरा, भारतीय सैनिकों की अपूर्व वीरता का परिचय उन्हें पोरस के साथ युद्ध में मिल चुका था और अब उनमें आगे किसी संगठित भारतीय सेना के साथ युद्ध करने का साहस नहीं रह गया था। चौथा, भारत के उत्तरी-पूर्वी भाग के शक्तिशाली नन्द-साम्राज्य के बारे में यूनानी सैनिकों ने सुन रखा था और वे सोचते थे कि भारतीय सीमान्त के छोटे-छोटे राज्यों के साथ संघर्ष में ही उन्हें इतने कष्ट उठाने पड़े हैं तो नन्दों की संगठित सेना के सामने उनका टिक सकना कठिन है। यूनानी सैनिकों के इन्कार करने का पाँचवाँ कारण भारत की जलवायु का यूनानी सैनिकों के अनुकूल नहीं होना भी था। यूनानी ठंडे मुल्क के थे और वे गर्म जलवायु वाले भारत देश के भीतरी भागों में जाना उचित नहीं समझते थे।

इन्हीं कारणों को लेकर यूनानी सैनिकों ने सिकन्दर को आगे बढ़ने से इन्कार कर दिया। सिकन्दर ने अपने सैनिकों को बहुतेरा समझाया, पर उसके सभी प्रयत्न असफल रहे। मजबूर होकर सिकन्दर ने अपनी सेना को लौटने की आज्ञा दे दी। भारत से लौटते समय सौभूति तथा शिवि राज्यों, मालव, क्षुद्रक एवं अघृष्ट और बसातियों के गणसंघों तथा सिन्ध प्रान्त में स्थित मूसिक, शम्भू तथा ब्राह्मणक जनपदों के शासकों को सिकन्दर ने परास्त किया। इस प्रकार अत्याचार और तबाही मचाता हुआ सिकन्दर भारत से 324 ई. पू. में लौटकर सूसा पहुँचा। अपनी इस यात्रा में उसे अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा और अन्त में बेबीलोनिया में ज्वर से पीड़ित होकर 324 ई. पू. में सिकन्दर की मृत्यु हो गई। उसका विश्व-साम्राज्य की स्थापना का स्वप्न समाप्त हो गया।

सिकन्दर के आक्रमण का प्रभाव—सिकन्दर आँधी की तरह आया और चला गया। यद्यपि भारत से लौटते समय वह अपने गवर्नरों को उसके भारतीय साम्राज्य की देखभाल के लिए छोड़ गया था, किन्तु उसकी मृत्यु के बाद भारत में यूनानी साम्राज्य की प्रभुता विलीन होने लगी। मगध के चन्द्रगुप्त द्वारा मौर्य साम्राज्य की स्थापना तक धीरे-धीरे यूनानियों की सैनिक विजय के सारे चिह्न भारत से मिट गए। लेकिन अप्रत्यक्ष रूप में सिकन्दर के आक्रमण के परिणामस्वरूप भारत और यूनान के बीच स्थापित होने वाले सम्पर्क से दोनों देशों के जीवन व सांस्कृतिक विकास पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़े।

राजनैतिक प्रभाव—सिकन्दर के आक्रमण ने भारत में राजनैतिक एकता को जन्म दिया। उत्तर पश्चिमी भाग में छोटे-छोटे राज्यों तथा जातीय राज्यों का अन्त हुआ तथा एक विशाल भारतीय साम्राज्य के उत्थान के अनुकूल परिस्थितियाँ बनीं, जिनका लाभ उठाकर चन्द्रगुप्त मौर्य ने विशाल साम्राज्य की स्थापना की। इस आक्रमण से भारतीय लोगों को नवीन प्रकार के सैन्य संगठनों तथा युद्ध विद्या का परिचय मिला। लेकिन भारतीयों ने उन विधियों को पूर्णरूपेण नहीं अपनाकर आने वाले युग में भी विदेशी आक्रमणों को सहन करते रहने की ही भूमिका तैयार की।

आर्थिक प्रभाव—यद्यपि भारत और यूनान में पहले से ही व्यापारिक सम्बन्ध थे, फिर भी इस आक्रमण से तीन नए सुगम स्थल-मार्गों और एक जल मार्ग का पता लगा। परिणामस्वरूप भारत और पश्चिम में अधिक मात्रा में व्यापार होने लगा और भारत से यूनानी साम्राज्य के समाप्त होने पर भी दोनों देशों में घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध बने रहे। व्यापारिक घनिष्ठता से यूनानी 'उल्ल-शैली' के एवं 'द्रम' नामक चाँदी के सिक्कों का भारत में प्रचार हुआ। भारत में 'दीनार' सिक्के यूनानी प्रभाव के परिचायक हैं। प्राचीन भारतीय सिक्के अथवा मुद्रायें पंच मार्क की होती थी और उनका आकार तथा वजन भी निश्चित नहीं होता था। यूनानियों के सम्पर्क से भारतीयों को निश्चित नाप-तोल की सुन्दर आकार व कलात्मक लेखों व चिह्नों वाली मुद्राओं का परिचय मिला और भारत में भी इस ढंग की मुद्राओं का निर्माण प्रारम्भ हुआ।

सांस्कृतिक प्रभाव

ऐतिहासिक तिथिक्रम व साहित्य—सिकन्दर के आक्रमण से भारतीय इतिहास में निश्चित तिथि-क्रम का सूत्रपात हुआ। उसके आक्रमण की तिथि 327 ई. पू. से पहले भारतीय ऐतिहासिक विकासक्रम की लगभग प्रत्येक तिथि विवादपूर्ण और अनिश्चित थी। इस आक्रमण की तिथि का सहारा लेकर ही विद्वानों ने क्रमवार भारतीय इतिहास की घटनाओं को संजोने में सफलता प्राप्त की है। इस दृष्टि से भारतीय इतिहास के क्रमिक निर्माण में सिकन्दर के आक्रमण का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इतना ही नहीं सिकन्दर के साथ बहुत से यूनानी लेखक और विद्वान् भारत में आए, जिन्होंने तत्कालीन भारतीय जन-जीवन के विभिन्न पक्षों का वर्णन किया। इन वर्णनों के उल्लेख, बाद में लिखे जाने वाले साहित्य में किए गए। परिणामस्वरूप सबसे पहले उन्हीं के वर्णनों से संसार के अन्य देशों को प्राचीन भारत के बारे में वास्तविक ज्ञान हुआ और इतिहास के आधुनिक विद्वानों को वास्तविक स्थिति को जानकर तत्कालीन भारत के सच्चे इतिहास की रचना करने में सहायता मिली।

ज्योतिष एवं कला—ऐतिहासिक साहित्य के निर्माण के अलावा भारतीय ज्योतिष पर भी यूनानियों के विचारों का बहुत प्रभाव पड़ा। मूर्तिकला के क्षेत्र में यूनानी व भारतीय मूर्तिकला के समन्वय से एक नवीन गान्धार-शैली की मूर्तिकला का विकास हुआ। इस शैली की मूर्तियों में विचार और भावना भारतीय दिखाई देती है, किन्तु मूर्ति का अंकन, अलंकरण तथा बनावट यूनानी होती है। भारत के उत्तर-पश्चिमी-सीमान्त पर गान्धार प्रदेश में विकसित होने वाली यह शैली वस्तुतः भारतीय और यूनानी साँस्कृतिक सम्पर्क का महान् प्रतीक है। मूर्तिकला के साथ ही भवन निर्माण में सजावट तथा भवनों के आकार-प्रकार आदि में भी परोक्ष रूप से यूनानी तरीकों को भारत में अपनाया गया।

धर्म-दर्शन—सांस्कृतिक समन्वय ने धर्म और दर्शन को प्रभावित किया।

बहुत से विद्वानों का मत है कि भारत में मूर्ति-पूजा का विशेष प्रचलन यूनानियों के प्रभाव से ही हुआ तथा मुख्यकर महायान बौद्ध सम्प्रदाय में मूर्ति-पूजा की शुरुआत यूनानियों के प्रभाव से ही हुई। इसके विपरीत भारतीय दार्शनिक, विचार एवं धर्म का भी यूनानियों पर काफी प्रभाव पड़ा। यूनानी दार्शनिक पाइथागोरस ने पुनर्जन्मवाद तथा आत्मा आदि के बारे में विभिन्न सिद्धान्तों का जो प्रतिपादन किया था, उन सबके पीछे भारतीय दार्शनिक चिन्तन की परम्पराओं की स्पष्ट छाप दिखाई देती है।

अध्ययन का उपयोग

नीचे दिये गये प्रश्नों का उत्तर दीजिये एवं अपने अध्ययन को उपयोगी बनाइये—

1. छठी शताब्दी ईसा पूर्व में भारत में राजनैतिक दृष्टि से कौन-सी दो महत्त्वपूर्ण घटनाएँ घटीं ?
2. सिकन्दर के आक्रमण से पूर्व उत्तरी-पश्चिमी भारत की राजनीतिक दशा कैसी थी ?
3. भारत पर आक्रमण से पूर्व सिकन्दर ने किन-किन देशों को जीता ?
4. पोरस के साथ संघर्ष के पूर्व सिकन्दर ने उत्तरी-पश्चिमी भारत के किन-किन राज्यों एवं जातियों को परास्त किया ?
5. सिकन्दर और पोरस के साथ युद्ध में पोरस की हार के क्या कारण थे ?
6. सिकन्दर की सेना ने व्यास नदी के आगे भारत के भीतरी भागों में बढ़ने से इन्कार क्यों किया ?

अध्ययन की जांच

सही उत्तर का क्रमाक्षर कोष्ठक में लिखिये—

1. भारतीय संस्कृति के जिस पक्ष पर यूनानियों का प्रभाव सबसे अधिक दिखाई देता है, वह है—

   (अ) साहित्य (आ) दर्शन (इ) चित्रकला (ई) मुद्रा निर्माण ( )

2. भारत के विजय अभियान में सिकन्दर व्यास नदी के आगे नहीं बढ़ पाया, इसका मुख्य कारण था—

   (अ) वह आगे विजय नहीं करना चाहता था।

   (आ) उसको सेना ने आगे बढ़ने से मना कर दिया था।

   (इ) यूनान में मकदूनियाँ पर ईरानियों ने अधिकार कर लिया था।

   (ई) पोरस ने उसे आगे बढ़ने की सलाह नहीं दी थी। ( )

सोच-विचार कर उत्तर लिखिये—

1. यदि सिकन्दर को भारत में शशिगुप्त तथा आम्भी जैसे व्यक्ति नहीं मिलते तो उसके भारतीय आक्रमणों का क्या परिणाम निकलता ?
2. सिकन्दर के आक्रमणों के महत्त्वपूर्ण परिणाम क्या निकले ?

निम्नलिखित क्रियात्मक कार्य कीजिए और अपना कौशल बढ़ाइये—

1. यूरेशिया के मानचित्र में यूनानी आक्रमणकारियों के भारत पर आक्रमण करने के मार्ग को तथा प्रमुख राज्यों को अंकित कीजिए।

पूरक अध्ययन ग्रन्थ

1. के. ए. नीलकण्ठ शास्त्री : नन्द-मौर्ययुगीन भारत
2. राधाकुमुद मुकर्जी : चन्द्रगुप्त मौर्य
3. डॉ. ओमप्रकाश : प्राचीन भारत का इतिहास
4. डॉ. एच. सी. राय चौधरी : प्राचीन भारत का राजनीतिक इतिहास

अध्याय 7

मौर्य साम्राज्य की स्थापना

सिकन्दर भारत में तूफान की तरह आया, किन्तु व्यास नदी तक आकर उसे लौट जाना पड़ा। उसके लौटने के कारणों में उत्तरी-पूर्वी भारत में नन्दवंशी शासकों की संगठन शक्ति का भय भी एक प्रमुख कारण था। वस्तुतः छठी शताब्दी में भारतीय जनपदों के एकीकरण की जो प्रक्रिया प्रारम्भ हुई थी, उसके आधार पर नन्द वंश के नेतृत्व में मगध की शक्ति का प्रसार होने लगा था और इस समय तक आते-आते भारत में शक्तिशाली साम्राज्य संस्थापन की रूपरेखा बनने लगी थी। किन्तु भारत का राजनैतिक दृष्टि से पूर्णतया एकीकरण अभी भी नहीं हो पाया था। मगध के अतिरिक्त कौशल, अवन्ती तथा वत्स के बड़े राज्य अभी अपनी स्वतंत्र शक्ति बनाए हुए थे और काशी, मिथिला, शूरसेन, अंग, कलिंग तथा अश्मक आदि छोटे-छोटे राज्यों का भी स्वतन्त्र अस्तित्व था। इस तरह अब भी पूरे भारत में विकेन्द्रीयकरण की स्थिति विद्यमान थी। इतना अवश्य था कि नन्द शासक इन सब में अधिक शक्तिशाली थे और अन्य राज्य उनसे भय खाते थे। लेकिन, शक्ति के साथ नन्द शासकों के अत्याचार काफी बढ़े हुए थे। उनका प्रशासन भ्रष्ट था। शासक बड़े क्रूर थे। जनता पर अनावश्यक करों का भारी बोझ था। नन्दवंशी राजा ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों का अपमान करते थे। प्रजा की निगाह में वे गिरे हुए थे। साम्राज्य में उनके प्रति भारी असन्तोष व्याप्त था।

केन्द्रीय भारत की तरह ही, उत्तरी-पश्चिमी भारत में भी सिकन्दर के आक्रमण के प्रभाव से राजनीतिक एकता का सूत्रपात तो हुआ था और उत्तरी-पश्चिमी भारत के छोटे-छोटे जातीय राज्य बड़े राज्यों का रूप लेने लगे थे। किन्तु इस भाग में भी पूर्ण राजनीतिक एकता स्थापित नहीं हो पायी थी। सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात् उसका भारतीय साम्राज्य पाँच भागों में विभक्त हो गया था। यद्यपि इन भागों पर सिकन्दर के यूनानी गवर्नर भारतीय राजाओं के साथ मिलकर शासन करते थे, फिर भी उनमें मेल-जोल नहीं था। वे एक-दूसरे से ईर्ष्या करते थे।

लेकिन, केन्द्रीय भारत और उत्तरी-पश्चिमी भारत में राजनीतिक एकता और शक्तिशाली साम्राज्य की संस्थापना का जो दृष्टिकोण पनपा था, उसने कुछ इस प्रकार की परिस्थितियाँ बना दी थीं कि एक प्रतिभाशाली वीर, साहसी, चतुर एवं दूरदर्शी व्यक्ति अपनी सूझ-बूझ का उपयोग करके आसानी से एक विशाल साम्राज्य की स्थापना कर सकता था। ऐसे समय में ही भारत में दो प्रतिभाओं का उदय हुआ, जिनमें से एक युवक चन्द्रगुप्त मौर्य था और दूसरा, विष्णुगुप्त चाणक्य। चन्द्रगुप्त में शौर्य, साहस एवं प्रतिभा थी और चाणक्य में चतुराई एवं दूरदर्शिता। सौभाग्य से इन दोनों का संयोग हो गया और दोनों ने एक होकर तत्कालीन परिस्थितियों का भरपूर लाभ उठाया। धीरे-धीरे इन दोनों ने अपनी शक्ति का संगठन किया और अन्त में उत्तरी-पश्चिमी भारत में यूनानी आधिपत्य को समाप्त किया और मगध से नन्दवंश की सत्ता समाप्त कर मगध को ही केन्द्र बनाकर, भारतीय इतिहास के पहले सुविशाल साम्राज्य की स्थापना की। इस साम्राज्य का पहला शासक चन्द्रगुप्त मौर्य बना और उसी के नाम पर यह साम्राज्य भारतीय इतिहास में 'मौर्य साम्राज्य' कहलाया।

चन्द्रगुप्त मौर्य : उसकी जाति एवं वंश—भारत के प्रथम सुविशाल साम्राज्य के पहले सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य की जाति एवं वंश को लेकर इतिहासकारों में बड़ा मतभेद है। स्पूनर आदि कुछ विदेशी विद्वान उस युग की कतिपय भारतीय एवं ईरानी प्रथाओं में समानता बताकर चन्द्रगुप्त मौर्य का ईरानी होना मानते हैं। किन्तु यह मत विश्वसनीय नहीं है। चन्द्रगुप्त की जाति व वंश के सम्बन्ध में कुछ विद्वान भारतीय पुराणों और विशाखदत्त रचित मुद्राराक्षस नामक ग्रन्थ के आधार पर चन्द्रगुप्त को शूद्र वर्ण का बताते हैं तथा उसे नन्दराजा महापद्मनन्द की 'मुरा' नामक दासी का पुत्र मानते हैं। इसी को आधार बनाकर चन्द्रगुप्त के मौर्य वंश के बारे में भी यह कहा जाता है कि अपनी माता 'मुरा' के नाम पर ही चन्द्रगुप्त ने अपने नाम के आगे मौर्य शब्द लगाया और उस मौर्य शब्द के कारण ही उसका वंश मौर्य वंश कहलाया। इसके विपरीत विद्वानों का एक अन्य समुदाय जैन ग्रन्थ 'परिशिष्टपर्वन' और दूसरे जैन साहित्य के उदाहरण देकर यह मानता है कि चन्द्रगुप्त मोर (मयूर) पालने वाले क्षत्रिय सरदार की लड़की का पुत्र था। अतः मयूर पालने वाले सरदार की लड़की का पुत्र होने के कारण उनके वंश का नाम मौर्य पड़ा। किन्तु बौद्ध साहित्य एवं पुरातात्विक अवशेषों के आधार पर

डॉ० हेमचन्द्र रायचौधरी, डॉ० राजबली पाण्डेय तथा अन्य आधुनिक विद्वान मानते हैं कि चन्द्रगुप्त शाक्य क्षत्रिय वंश से सम्बन्धित मोरीय क्षत्रिय कुल का था। उसके पुरखे लुम्बिनी तथा कुशीनगर के बीच पिप्हली-वन क्षेत्र में स्थित मोरीय गणराज्य के अधिकारी थे और उनका कुल मोरीय क्षत्रिय कहलाया था। इस मोरीय कुल में जन्म होने के कारण ही चन्द्रगुप्त का वंश मौर्य वंश कहलाया। आधुनिक विद्वान इसी मत को अधिक मान्यता देते हैं, फिर भी निर्णयात्मक दृष्टि से चन्द्रगुप्त की जाति एवं वंश का हल खोजा जाना शेष है।

चन्द्रगुप्त मौर्य का प्रारम्भिक जीवन—चन्द्रगुप्त मौर्य की जाति एवं वंश की तरह ही उसके प्रारम्भिक जीवन के बारे में भी भिन्न-भिन्न किवदन्तियाँ प्रचलित हैं। किन्तु अधिकांश विद्वान यह मानते हैं कि ईसा पूर्व चौथी शताब्दी में मौरीय गणराज्य की शक्ति कमजोर पड़ गई। फलतः इस गणराज्य के नेता चन्द्रगुप्त के पिता ने नन्द राजाओं की सेवा में नौकरी कर ली और वह पाटलिपुत्र में रहने लगा। दुर्भाग्य से नन्द राजा और चन्द्रगुप्त के पिता में अनबन हो गई और नन्द राजा ने चन्द्रगुप्त के पिता की हत्या करवा दी। कहा जाता है कि इस काल में चन्द्रगुप्त गर्भ में था, अतः उसकी विधवा माता लुक-छिपकर पाटलिपुत्र में ही रही और वहीं 345 ई. पू. में चन्द्रगुप्त का जन्म हुआ और उसका बाल्यकाल भी वहीं बीता।

चन्द्रगुप्त और राजा नन्द—जब चन्द्रगुप्त बड़ा हुआ तो उसने राजा नन्द की सेना में नौकरी कर ली। अपनी योग्यता, साहस एवं प्रबल महत्त्वाकाँक्षाओं के कारण चन्द्रगुप्त प्रगति करता चला गया और शीघ्र ही नन्दों की सेना में एक उच्च पदाधिकारी बन गया। साथ ही, अपने व्यवहार से वह जनता में भी अधिक लोकप्रिय बनने लगा। चन्द्रगुप्त की लोकप्रियता और प्रगति को देखकर राजा नन्द के मन में शंका होने लगी और उसने चन्द्रगुप्त की हत्या करवाने की सोची। चन्द्रगुप्त को इस बात का पता चल गया और वह पाटलिपुत्र (मगध) से भाग निकला। लेकिन, उसके मन में नन्द वंश के प्रति घोर विद्वेष पैदा हो गया और उसने जड़-मूल से नन्द वंश को समाप्त करने का निश्चय किया।

चाणक्य से मित्रता—मगध (पाटलिपुत्र) से रवाना होकर चन्द्रगुप्त जब इधर-उधर भटक रहा था, तब ही उसकी मुलाकात विष्णुगुप्त चाणक्य नामक एक विद्वान ब्राह्मण से हुई। चाणक्य भी नन्द वंश का तख्ता पलटने के स्वप्न देख रहा था। एक बार चाणक्य श्राद्ध के अवसर पर नन्द राजा के महल में गया था। नन्द राजा ने उसका घोर अपमान किया था। इस पर क्रुद्ध होकर उसने नन्द वंश को समूल नष्ट करने की प्रतिज्ञा की थी। उसे मात्र एक योग्य सहयोगी की आवश्यकता थी। अब उसे चंद्रगुप्त जैसा योग्य एवं बहादुर साथी मिल गया। चंद्रगुप्त का उद्देश्य और चाणक्य का उद्देश्य एक ही था। फलतः दोनों मित्र बन गए। चंद्रगुप्त वीर, योग्य, महत्त्वाकांक्षी एवं साहसी सैनिक था तो चाणक्य चतुर, विद्वान एवं दूरदर्शी कूटनीतिज्ञ। फलतः दोनों ने नन्द वंश के विरुद्ध विद्रोह की अग्नि भड़काना तथा नंद राजा को पराजित करने के लिए साधन जुटाने प्रारम्भ किए। उन्होंने

विंध्याचल के भाग को अपनी गतिविधियों का केन्द्र बनाया। विद्रोह की पूर्ण तैयारी के बाद उन्होंने मगध पर आक्रमण किया, किन्तु उनका आक्रमण असफल रहा और विद्रोह को क्रूरतापूर्वक दबा दिया गया। किन्तु, चन्द्रगुप्त और चाणक्य मगध राज्य से निकल भागने में सफल हो गए और पंजाब की ओर चले गए। अब पंजाब के भाग को आधार बनाकर वे मगध पर अपने भावी आक्रमण की योजना बनाने लगे। यूनानी इतिहासकार प्लूटार्क के अनुसार उन्हीं दिनों चन्द्रगुप्त की भेंट सिकन्दर से भी हुई। वह सिकन्दर को नन्द वंश के विरुद्ध लड़ाई करने को उभारने लगा। किन्तु उसके निर्भीक एवं अहंकारी व्यवहार से सिकन्दर भी क्रुद्ध हो गया। सिकन्दर ने चन्द्रगुप्त को बन्दी बनाने और मार डालने की आज्ञा दी। चन्द्रगुप्त चतुराई से समय पर वहाँ से निकल भागा और उसकी जान बच गई। लेकिन सिकन्दर के इस व्यवहार से चन्द्रगुप्त ने अब यह भली-भाँति समझ लिया कि नन्द राजाओं की भाँति सिकन्दर भी स्वेच्छाचारी और निरंकुश है। उसने भारत में विदेशी सत्ता स्थापित कर दी है अतः भारत को विदेशियों द्वारा देश के आर्थिक शोषण से बचाना आवश्यक हैं। परिणामस्वरूप अब चन्द्रगुप्त व चाणक्य के दो प्रमुख उद्देश्य बन गए—

(1) उत्तरी-पश्चिमी भारत में विदेशी शासन का अन्त कर देश को स्वतन्त्र बनाना।

(2) नन्द वंश का अन्त कर जनता को उनके अत्याचारों से मुक्त कराना।

भावी युद्ध की तैयारी और यूनानियों को भगाना—इन उद्देश्यों को पूरा करने के लिए अब चाणक्य और चन्द्रगुप्त ने पंजाब की जनता को विदेशियों के खिलाफ भड़काना प्रारम्भ किया। यह अवसर भी अच्छा था। इस समय तक सिकन्दर की मृत्यु हो गई थी और उसके भारतीय साम्राज्य पर उसके गवर्नर शासन करते थे। किन्तु जनता उनसे नाराज थी और उनके विरुद्ध विद्रोह करने लगी थी। इस अवसर का लाभ उठाकर जनता को भड़काने के साथ चन्द्रगुप्त ने विद्रोही जनता को अपनी सेना में भर्ती करना प्रारम्भ किया। शीघ्र ही उसने एक विशाल व शक्तिशाली सेना संगठित कर ली और यूनानियों को भारत से खदेड़ने के लिए अपनी गतिविधियाँ तेज कर दीं। उसने अन्त में जन-सहयोग से यूनानी अधिकारियों को भारत से मार भगाया और भारत से यूनानी सत्ता का अन्त कर पंजाब पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया।

मगध विजय—पश्चिमोत्तर भारत पर अधिकार करके चन्द्रगुप्त मगध पर अधिकार करने के लिए आतुर होने लगा। अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए उसने हिमालय की तराई के एक राजा पर्वतक से सन्धि कर ली और पंजाब में एक विशाल सेना का संगठन किया। तदुपरान्त वह सेना के साथ मगध की ओर बढ़ा और मार्ग के प्रदेशों पर अधिकार करते हुए 322 ई. पू. (कुछ विद्वानों के अनुसार 321 ई. पू. या 323 ई. पू.) में उसने मगध पर आक्रमण किया। इस समय नन्द साम्राज्य का शासक घनानन्द था। यद्यपि नन्द राजा की सेना ने चन्द्रगुप्त का डटकर मुकाबला

किया, किन्तु युद्ध में चन्द्रगुप्त की विजय हुई और मगध पर उसका अधिकार हो गया। वह मगध का सम्राट बना और चाणक्य को उसने अपना प्रधानमंत्री बनाया।

साम्राज्य-प्रसार—मगध पर अधिकार जमाकर चन्द्रगुप्त ने भारत के अन्य भागों को जीतने की योजना बनाई। उसने उत्तरी-पश्चिमी भारत में सिन्धु के उत्तरी तट तक के विभिन्न राज्यों को जीतकर अपने साम्राज्य में मिला लिया। उसने बंगाल तथा सौराष्ट्र पर भी अपना अधिकार स्थापित किया। जैन एवं तमिल साहित्य व पुराभिलेखों के आधार पर कुछ विद्वान कहते हैं कि चन्द्रगुप्त ने विंध्याचल के दक्षिणी भाग में तिनावली (मैसूर) तक के प्रदेश को जीतकर अपना साम्राज्य बढ़ाया था। किन्तु दक्षिणी भारत के किन-किन प्रदेशों को चन्द्रगुप्त ने जीता था, यह स्पष्ट नहीं है।

सेल्यूकस का आक्रमण—भारत के विभिन्न प्रदेशों को जीतने के पश्चात् चन्द्रगुप्त मौर्य एक को विदेशी आक्रमणकारी से भी युद्ध करना पड़ा। यह विदेशी सिकन्दर का सेनापति सेल्यूकस था। सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात् उसके सेनापति सेल्यूकस ने सीरिया का एक विशाल साम्राज्य स्थापित किया था। उसका साम्राज्य सीरिया से बैक्ट्रिया तक फैला हुआ था। सिकन्दर द्वारा भारत के जीते गए प्रदेशों को वह अपने साम्राज्य के भाग मानता था। अतः उन पर अधिकार करने के उद्देश्य से 305 ई. पू. (कुछ विद्वानों के अनुसार 301 ई. पू.) में सेल्यूकस ने भारत पर आक्रमण किया। सिन्धु नदी के उस पार चन्द्रगुप्त व सेल्यूकस में मुठभेड़ हुई। युद्ध में सेल्यूकस की हार हुई और उसे चन्द्रगुप्त से सन्धि करने पर बाध्य होना पड़ा। सन्धि के अनुसार सेल्यूकस को वर्तमान हेरात, कांधार, अफगानिस्तान व बिलोचिस्तान के प्रदेश चन्द्रगुप्त को देने पड़े तथा उसे अपनी पुत्री 'हेलन' का विवाह चन्द्रगुप्त से किया। इस सम्बन्ध में स्थाई रखने हेतु मेगस्थनीज नामक राजदूत को चन्द्रगुप्त के दरबार में भेजा। इन सब के बदले में चन्द्रगुप्त ने उपहारस्वरूप 500 हाथी सेल्यूकस को भेट किए।

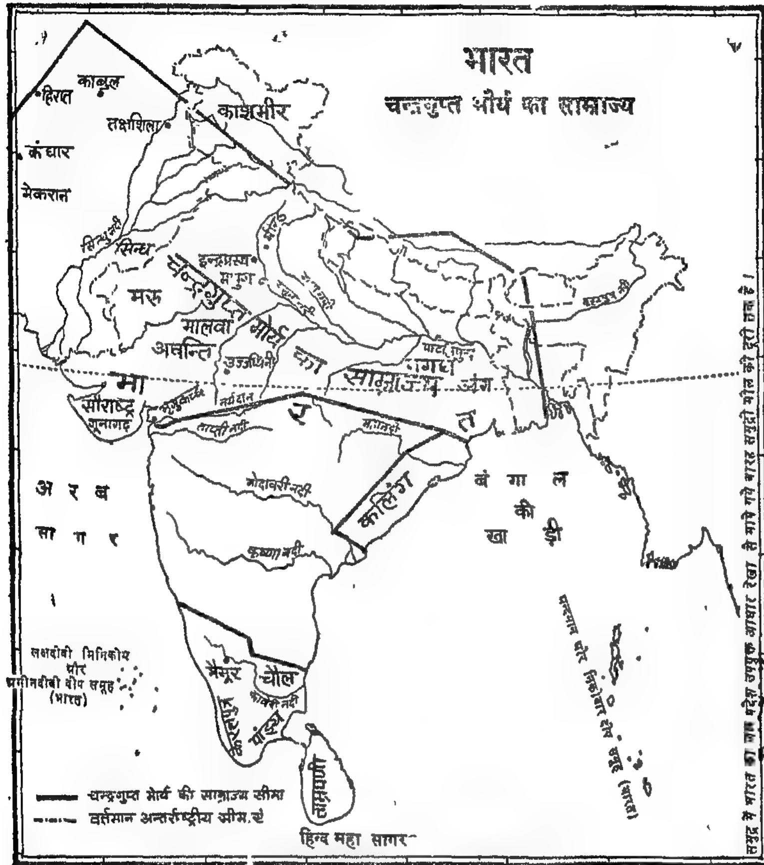
चन्द्रगुप्त के साम्राज्य का विस्तार—इस प्रकार इन विभिन्न विजयों से चन्द्रगुप्त मौर्य ने उत्तर-पश्चिम में हिन्दूकुश से लेकर पूर्व में बंगाल तथा उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में तिनावली तक एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की। विद्वानों की मान्यता है कि कश्मीर, असम, कलिंग, तमिल-प्रदेश तथा आन्ध्र को छोड़कर लगभग पूरा भारत उसके साम्राज्य में सम्मिलित था। इससे पूर्व इतना विशाल साम्राज्य भारत में कभी स्थापित नहीं हुआ था।

शासन प्रबन्ध

चन्द्रगुप्त मौर्य मात्र एक विजेता ही नहीं, अच्छा प्रशासक भी था। उसने अपने मन्त्री और सलाहकार चाणक्य की सहायता से एक सुगठित शासन-तन्त्र का विकास किया। उसकी प्रशासनिक व्यवस्था पूर्णरूप से सुव्यवस्थित और उत्तम सिद्ध हुई। यहाँ तक कि आगे आने वाले युग के शासक भी चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा

संस्थापित शासन व्यवस्था को तनिक हेर-फेर के साथ अपनाते रहे।

चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन प्रबन्ध की प्रामाणिक जानकारी के दो प्रमुख साधन हैं। एक—उसके मन्त्री विष्णुगुप्त चाणक्य द्वारा रचित 'अर्थशास्त्र' (जिसे कौटिल्य का अर्थशास्त्र भी कहते हैं) नामक पुस्तक तथा दूसरा—यूनानी राजदूत मेगस्थनीज द्वारा रचित 'इण्डिका' नामक ग्रन्थ के अंश। इन दोनों स्रोतों के सहारे चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन-प्रबन्ध की विस्तृत जानकारी प्राप्त होती है।



चन्द्रगुप्त मौर्य का साम्राज्य

केन्द्रीय शासन

शासन का स्वरूप—चन्द्रगुप्त मौर्य की शासन व्यवस्था निरंकुश राजतन्त्रात्मक शासन प्रणाली पर आधारित थी। साम्राज्य की व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका सम्बन्धी सर्वोच्च शक्तियाँ सम्राट में निहित थीं। वही कानूनों का निर्माता, पालन कराने वाला और न्याय देने वाला सर्वोच्च अधिकारी

था। सम्राट ही सेना का सर्वोच्च सेनापति होता था और सैन्य संगठन और युद्ध के समय सैन्य-संचालक का कार्य भी वही करता था। साम्राज्य के सम्पूर्ण शासन का कार्य सम्राट के आदेशों के अनुसार संचालित होता था। वही साम्राज्य के उच्च अधिकारियों की नियुक्ति करता था। किन्तु मेगस्थनीज एवं कौटिल्य के अर्थशास्त्र से पता चलता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य इतना शक्ति-सम्पन्न होते हुए भी स्वेच्छाचारी नहीं था। वह अपने प्रशासनिक कार्यों को पूरा करने के प्रति बड़ा सतर्क रहता था और व्यावहारिक रूप से परम्पराओं और आदर्शों का पालन करते हुए शासन करता था। वह जनहित और जनमत का पूरा ध्यान रखता था और इसलिए स्वयं कार्य करता था। चाणक्य एवं मेगस्थनीज के वर्णनों से ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य अपने शासनिक कार्यों में इतना व्यस्त रहता था कि उसे बड़ी कठिनाई से छः घण्टे सोने का समय मिल पाता था। पूरे दिन वह साम्राज्य के आय-व्यय की जाँच, आन्तरिक व्यवस्था की जाँच, अधिकारियों से परामर्श, राजदूतों से बातचीत, नियम-निर्माण एवं आदेशों को प्रसारित करने के कार्य में व्यस्त रहता था।

मन्त्रि-परिषद्—शासन-संचालन में सम्राट की सहायता के लिए चन्द्रगुप्त के काल में मन्त्रि-परिषद् होती थी। योग्य एवं अनुभवी व्यक्तियों को ही सम्राट मन्त्री नियुक्त करता था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुसार यह मन्त्रि-परिषद् दैनिक कार्यों के सम्पादन में मन्त्रणा देने के लिए न होकर अत्यधिक महत्त्वपूर्ण विषयों पर सलाह के लिए होती थी। इसकी बैठक आवश्यक कार्य होने पर बुलायी जाती थी। मन्त्रि-परिषद् की बैठकों की कार्यवाही बहुत गोपनीय रखी जाती थी और इसके निर्णय बहुमत से होते थे। किन्तु, सम्राट मन्त्रि-परिषद् के निर्णयों को मानने के लिए बाध्य नहीं था।

मन्त्रिन्—चन्द्रगुप्त अपने प्रतिदिन के शासनिक कार्यों में सलाह व सहयोग के लिए अलग से कुछ मन्त्री नियुक्त करता था। इन्हें 'मन्त्रिन्' कहा जाता था। इनकी संख्या तीन या चार होती थी। मन्त्रिन् का पद मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों से ऊँचा होता था और मुख्यतया इन्हीं की राय से पूरे साम्राज्य का शासन-संचालन होता था। साम्राज्य के समस्त ऊँचे-ऊँचे अधिकारियों, राजदूतों और गुप्तचरों की नियुक्ति में इनकी राय ली जाती थी।

आमात्य—चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन काल में मन्त्रि-परिषद् के सदस्य और मन्त्रिन् लोगों का कार्य प्रशासनिक सलाह देने का था, किन्तु शासन-संचालन के लिए सम्पूर्ण प्रशासन तन्त्र को विभिन्न विभागों में बाँटा गया था। इन विभागों की संख्या अठारह थी। इन विभागों के अलग-अलग विभागाध्यक्ष होते थे, जिन्हें 'आमात्य' कहा जाता था। व्यावहारिक दृष्टि से प्रशासनिक कार्यों के सम्पादन का उत्तर-दायित्व इन्हीं आमात्यों पर होता था।

अन्य पदाधिकारी—मन्त्रियों, मन्त्रिनों और आमात्यों के अतिरिक्त चन्द्रगुप्त के शासन में 'कर' एकत्रित करने के लिए 'समाहर्त्ता', साम्राज्य के आय-व्यय का

ब्यौरा रखने के लिए 'सन्निधाता', सैनिक प्रबन्ध व युद्ध संचालन हेतु 'सेनापति', राजकीय कारखानों की देख-रेख के लिए 'कर्मान्तिक', सभी प्रशासनिक विभागों का रेकार्ड सुरक्षित रखने के लिए 'प्रशास्ता', सीमान्त प्रदेशों के दुर्गों की देखभाल के लिए 'अन्तपाल' और साम्राज्य के भीतरी भागों की देख-रेख के लिए 'दुर्गपाल' आदि अन्य अधिकारी भी होते थे।

भूमि तथा राजस्व प्रबन्ध—चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन काल में भूमि पर राज्य का अधिकार माना जाता था। प्रशासन कृषि की उन्नति और सिंचाई पर पूर्ण ध्यान देता था। कृषकों को सभी प्रकार की सहायता देने का सरकार प्रयत्न करती थी। साम्राज्य के अधिकारियों द्वारा भूमि को नापने, सिंचाई की सुविधाएँ जुटाने तथा नहरों की देखभाल की व्यवस्था की जाती थी। उपज का छठा भाग 'भूमिकर' के रूप में लिया जाता था। राज्य की ओर से जुटाई गई सिंचाई की सुविधा का उपयोग करने पर 'सिंचाई कर' भी देना पड़ता था।

भूमि कर के अतिरिक्त वनों, खानों, घाटों पर कर, बिक्रीकर, अर्थदण्ड, युद्ध की लूट और पेशेवर आचार्यों एवं विशेषज्ञों से लिए जाने वाले शुल्क से राज्य की आय होती थी। इस आय का उपयोग राज्य कर्मचारियों का वेतन चुकाने में तथा जन-कल्याण के कार्यों में होता था। इस राशि का बड़ा भाग सम्राट एवं राज्य दरबार की साज-सज्जा पर भी खर्च होता था।

प्रान्तीय शासन—शासन की सुविधा की दृष्टि से सम्पूर्ण साम्राज्य कई प्रान्तों में विभक्त था। मगध और उसके निकटवर्ती भागों पर स्वयं सम्राट का नियन्त्रण था। प्रान्त का प्रशासक प्रान्तपति होता था। जिन प्रान्तों का सामरिक एवं राजनैतिक महत्त्व था, वहाँ केवल राजकुमारों को ही नियुक्त किया जाता था, जिन्हें 'संसद्' कहा जाता था। कम महत्त्व के दूसरे प्रान्तों में अन्य योग्य एवं अनुभवी व्यक्ति नियुक्त किए जाते थे। छोटे प्रान्तों के शासकों को 'राजुक' कहते थे। प्रान्तपतियों की सहायता के लिए अनेक कर्मचारी नियुक्त किये जाते थे। प्रान्तों के 'संसद्' और 'राजुक' राजा के प्रति उत्तरदायी होते थे। प्रान्तों को 'मण्डल' कहा जाता था, जो छोटे-छोटे जनपदों में विभक्त थे। जनपदों के अधिकारियों को 'स्थानिक' कहा जाता था।

स्थानीय शासन—साम्राज्य की सबसे छोटी इकाई ग्राम थे, जिनमें 'ग्रामसभा' नामक स्थानीय संस्था शासन संचालन करती थी। ग्रामसभा का अधिकारी 'ग्रामिक्' कहलाता था, जो सम्भवतया ग्रामवासियों के निर्वाचित प्रतिनिधि के रूप में काम करता था। 5 या 10 ग्रामों के ग्रामिकों के ऊपर 'गोप' नामक एक पदाधिकारी होता था। गोपों के कार्यों की देखभाल के लिए (प्रदेष्ठ) नियुक्त किये जाते थे।

नगर शासन—चन्द्रगुप्त के साम्राज्य में कई बड़े नगर थे। नगरों के मुख्य अधिकारी को 'नागरिक' कहा जाता था।। प्रत्येक नगर में शासन राजधानी पाटलिपुत्र की तरह होता था। यूनानी राजदूत मेगस्थनीज ने पाटलिपुत्र नगर और वहाँ के

प्रबन्ध का सुन्दर वर्णन किया है।इससे पता चलता है कि नगर का शासन नगर-पालिकाएँ करती थीं। प्रत्येक नगर में तीन सदस्यों की एक समिति होती थी, जो नगर के सम्पूर्ण शासन का कार्य करती थी। इसके अतिरिक्त दैनिक कार्य के लिए 5–5 सदस्यों की निम्नलिखित छः समितियाँ होती थीं, जो प्रत्येक के आगे लिखे गये कार्य करती थी—

1. **शिल्प कला समिति**—इस समिति का कार्य उद्योग-धन्धों का निरीक्षण करना, उनका प्रबन्ध करना, शिल्पियों की मजदूरी की दर निश्चित करना और उनके हितों की रक्षा करना था।

2. **वैदेशिक समिति**—राज्य में रहने वाले विदेशियों की देखभाल करना इस समिति का मुख्य कार्य था।

3. **जनसंख्या समिति**—जन्म-मरण का लेखा-जोखा रखना इसका कार्य था।

4. **वाणिज्य एवं व्यवसाय समिति**—इसका कार्य वस्तुओं की नाप-तौल करना, भाव निश्चित करना, तोलने के बांटों की व्यवस्था करना तथा व्यापारी एक वस्तु से अधिक का व्यापार न करे, यह देखना था।

5. **उद्योग समिति**—इसका कार्य कारखानों में बनने वाले माल का निरीक्षण कर माल तथा नई व पुरानी वस्तुएँ अलग-अलग बिकवाना था।

6. **कर समिति**—यह समिति बिक्री की चीजों पर कर वसूल करती थी। सरकार वस्तुओं के मूल्य का दसवाँ भाग 'कर' के रूप में लेती थी और बेईमानी करने वालों को दण्ड देती थी।

सैन्य प्रबन्ध—चन्द्रगुप्त मौर्य ने अपने साम्राज्य का निर्माण सैनिक शक्ति के आधार पर किया था। ऐसी स्थिति में साम्राज्य के प्रसार एवं रक्षा की दृष्टि से उसके लिए एक सुसंगठित सेना रखना आवश्यक था। इसी दृष्टि से उसने एक विशाल स्थाई सेना का संगठन किया था। उसकी सेना में छः लाख पैदल सैनिक, तीस हजार घुड़सवार, नौ हजार हाथी और अठारह हजार रथ थे। उसने एक जल-सेना भी रख छोड़ी थी। मेगस्थनीज के वर्णनों से पता चलता है कि चन्द्रगुप्त की सेना के विभिन्न अंगों के प्रबन्ध के लिए पाँच-साँच सदस्यों की समितियाँ बनी हुई थीं, जो सम्मिलित रूप में एक 'सैन्य परिषद्' के रूप में कार्य करती थीं। ये समितियाँ अपने-अपने क्षेत्र से सम्बन्धित युद्ध सामग्री, रसद, पैदल, घुड़सवार, हाथी सेना और रथ-सेना की आवश्यकता को पूरा करने का काम करती थी। जल-सेना का प्रबन्ध नौ-सेना विभाग करता था। इस विभाग के अध्यक्ष को 'नावाध्यक्ष' कहा जाता था।

पुलिस एवं गुप्तचर प्रबन्ध—सम्पूर्ण साम्राज्य की आन्तरिक व्यवस्था के लिए चन्द्रगुप्त मौर्य ने एक अलग विभाग की स्थापना की थी। व्यवस्था की दृष्टि से यह विभाग दो भागों में बँटा था, एक–प्रकट तथा दूसरा–गुप्त। पहले अर्थात् प्रकट भाग के कर्मचारी 'रक्षित' कहलाते थे जो आन्तरिक शाँति एवं सुव्यवस्था की देख-रेख

करते थे। 'रक्षित' वर्ग का कार्य यह देखना था कि प्रजा राज्य के नियम का ठीक प्रकार से पालन करती है। एक रूप से यह भाग आधुनिक पुलिस के उत्तरदायित्वों को पूरा करता था। इस विभाग का दूसरा 'गुप्त' भाग गुप्तचरों का होता था। यह भाग पुनः दो उपभागों में विभक्त था, जिन्हें क्रमशः 'संस्थान' एवं 'संचरण' कहते थे। 'संचरण' कर्मचारी इधर-उधर घूम-फिर कर साम्राज्य की दैनिक घटनाओं का पता लगाते थे और उसकी सूचना सम्राट तक पहुँचाते थे। गुप्तचरों के रूप में स्त्रियाँ भी काम करती थीं।

न्याय प्रबन्ध—चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन काल में न्याय का समुचित प्रबन्ध था। ग्रामों में न्याय का काम वर्तमान न्याय पंचायतों की तरह 'ग्राम संघों' द्वारा होता था। 'ग्राम संघों' के ऊपर चार गाँवों के लिए बने एक न्यायालल को 'संग्रहण', चार सौ गाँवों के न्यायालय को 'द्रोणमुख', आठ सौ गाँवों के न्यायालय को 'स्थानीय' और पूरे जनपद के न्यायालय को 'जनपदसन्धि' नाम से पुकारा जाता था। नगरों में अलग न्यायालय होते थे। सभी न्यायालयों में अलग-अलग न्यायाधीश होते थे। 'जनपद सन्धि' के न्यायाधीश को 'राजुक' एवं नगरों के न्यायाधीश को 'व्यावहारिक-महामात्र' कहा जाता था। साम्राज्य के सम्पूर्ण न्यायालय दो कोटियों (वर्गों) में विभक्त थे। एक 'धर्मस्थीय न्यायाल' और दूसरे 'कंटक-शोधन न्यायालय'। 'धर्मस्थीय न्यायालय' दीवानी मामलों का निर्णय करते थे और 'कंटक-शोधन' फौजदारी मामलों को निपटाते थे। साम्राज्य का सर्वोच्च न्यायाधीश सम्राट होता था। वह नीचे के किसी न्यायालय के निर्णय को बदल सकता था। न्याय का आधार प्रचलित व्यवहार, धर्मशास्त्र एवं राज्य के नियम होते थे। दण्ड विधान बड़ा कठोर था। छोटे-छोटे अपराधों के लिए अंग-भंग की सजा दी जाती थी। किन्तु, न्यायालय में स्वेच्छा-चारिता नहीं थी। निष्पक्ष न्याय होता था। साम्राज्य में अपराध बहुत कम होते थे। मेगस्थनीज ने लिखा है कि भारतवर्ष के लोग बहुत कम झूँठ बोलते थे, मकानों में ताले नहीं लगाते थे, अदालतों में बहुत कम लोग जाते थे।

जनहित कार्य—चन्द्रगुप्त मौर्य सर्वोच्च सत्ताधारी सम्राट होते हुए भी स्वेच्छाचारी नही था। उसकी सम्पूर्ण शासनिक व्यवस्थाएँ जनहित की दृष्टि में रखकर की गई थी। इसलिए जनकल्याण को दृष्टि में रखकर उसने अपने साम्राज्य में लोक-कल्याण सम्बन्धी कार्य का अलग से विभाग चला रखा था। इसके माध्यम से उसने अपने साम्राज्य के यात्रियों की सुविधा के लिए सड़कों और सरायों का निर्माण करवाया। कुएँ, तालाब, झीलें, नहरें आदि बनवा कर लोगों के लिए सिंचाई की सुविधाएँ उपलब्ध कराई। मुफ्त औषधियों का वितरण करने वाले औषधालय खुलवाए, शिक्षा की उन्नति के लिए शिक्षणालयों की सहायता दिये जाने की व्यवस्था की। इसके अतिरिक्त उसने अन्न के भण्डार बनवाए, जहाँ से अकाल की स्थिति हो जाने पर जनता को अन्न दिया जाता था। उसके लोककल्याणकारी विभाग द्वारा गरीबों, अनाथों, वृद्धों, अपाहिजों और बालकों को भी अनुदान दिया जाता था।

यूनानी राजदूत मेगस्थनीज—यह पहले बताया जा चुका है कि सेल्यूकस ने चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में अपने राजदूत के रूप में मेगस्थनीज को भेजा था। मेगस्थनीज चन्द्रगुप्त के साम्राज्य की राजधनी पाटलिपुत्र में छः वर्ष तक रहा। वह बड़ा विद्वान् एवं योग्य व्यक्ति था। यहाँ रहते हुए उसने जो कुछ देखा और अनुभव किया उसे बाद में लिखित रूप देकर मेगस्थनीज ने 'इण्डिका' नामक एक ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ में मेगस्थनीज ने चन्द्रगुप्त मौर्य के काल के भारतवर्ष के राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन के विविध पक्षों का वर्णन किया था। यद्यपि यह ग्रन्थ अपने पूर्ण रूप (कलेवर) में प्राप्त नहीं है, किन्तु बाद के ग्रन्थों में 'इण्डिका' के कई उद्धरण स्थान-स्थान पर मिलते हैं। उनसे ही मेगस्थनीज ने तत्कालीन भारत के बारे में क्या लिखा था, इसकी जानकारी होती है। मेगस्थनीज के वर्णनों में चन्द्रगुप्त मौर्य की राजधानी पाटलिपुत्र का बड़ा रोचक वर्णन मिलता है, जो संक्षेप में निम्नलिखित रूप में है—

मेगस्थनीज ने लिखा था कि पाटलिपुत्र चन्द्रगुप्त मौर्य के साम्राज्य की राजधानी थी। वह पूर्वी भारत का सबसे बड़ा नगर था, जो गंगा और सोन नदी के संगम पर स्थित था। यह नगर लगभग 14.5 किलोमीटर लम्बा, 2.25 किलोमीटर चौड़ा था। पूरा शहर लकड़ी का बना हुआ था। नगर में विश्रान्तिगृह, नाट्यशालाएँ, क्रीड़ा एवं धार्मिक स्थल और सभागृह आदि निश्चित योजनानुसार बने हुए थे। यह नगर पूर्णतया सुरक्षित था। इस नगर के चारों ओर एक ऊँची दीवार बनी थी, जिसमें चौंसठ दरवाजे और 750 बुर्जें बनी हुई थीं। उसके आगे 600 फीट चौड़ी और 30 हाथ गहरी एक खाई बनी थी, जिसमें पानी भरा रहता था। सम्राट का राजमहल नगर के मध्य स्थित था। राजमहल बड़ा सुन्दर, भव्य और कलात्मक था। महल में कई गुप्त दरवाजे एवं सीढ़ियाँ थीं। महल के चारों ओर बगीचे और सरोवर थे। सम्राट चन्द्रगुप्त इन्हीं महलों में रहता था। वह महलों के चारों ओर से बहुत कम बाहर निकलता था। राजधानी के इस नगर का सम्पूर्ण प्रबन्ध एक नगर व्यवस्थापिका द्वारा होता था। इसमें 5–5 सदस्यों की छः समितियाँ होती थीं, जो पहले वर्णन की गई नगर प्रबन्ध की समितियों की तरह ही काम करती थीं।

चन्द्रगुप्त मौर्य के अन्तिम दिन और मृत्यु—चन्द्रगुप्त मौर्य ने चौबीस वर्ष तक सफलतापूर्वक शासन किया। किन्तु एक जनश्रुति के अनुसार उसके शासनकाल के अन्तिम दिनों में मगध में भयंकर अकाल पड़ा। उससे चन्द्रगुप्त बड़ा दुःखी हुआ और उसके मन में वैराग्य उत्पन्न हो गया। इसलिए उसने सम्पूर्ण साम्राज्य को अपने पुत्र बिन्दुसार को सौंप दिया और एक जैन आचार्य भद्रबाहु से दीक्षा लेकर उन्हीं के साथ दक्षिण भारत में कर्नाटक (मैसूर) की पहाड़ियों में जाकर रहने लगा। वहीं 296 या 300 ई. पू. में चन्द्रगुप्त मौर्य का स्वर्गवास हुआ।

चन्द्रगुप्त मौर्य का व्यक्तित्व और उसका इतिहास में स्थान—विभिन्न

परिस्थितियों में चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा किये गये कार्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि वह एक धैर्यवान, आत्मविश्वासी, दृढ़निश्चयी, वीर, साहसी एवं महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति था। अपने व्यक्तित्व की इन विशेषताओं के कारण ही वह एक साम्राज्य-निर्माता बन सका। उसके चरित्र में कुछ ऐसी विशेषताएँ थीं जिनके कारण उसने इतिहास में अपना नाम चिरस्थायी बना दिया। उसका जन्म उसके परिवार की कमजोर स्थिति में हुआ था। उसके पास न कोई राज्य था, न सेना थी और न ही कोई अन्य साधन थे। फिर भी वह एक विशाल साम्राज्य की नींव डालने में सफल हुआ, कारण की उसमें स्वाभिमान, लगन एवं उत्साह कूट-कूट कर भरा था। चन्द्रगुप्त मौर्य एक कुशल सैनिक, योद्धा एवं सेनानायक था। उसमें एक कुशल प्रशासक के सभी गुण थे। वह विद्यानुरागी और कला-प्रेमी भी था। वह सभी धर्मों का आदर करता था। उसमें धार्मिक सहिष्णुता थी। इसलिए भारत के योग्यतम शासकों में उनकी गणना की जाती है।

अध्ययन का उपयोग

नीचे दिये गए प्रश्नों का उत्तर दीजिए तथा अपने अध्ययन को उपयोगी बनाइए—

1. मौर्य साम्राज्य की स्थापना के पूर्व भारत की राजनैतिक स्थिति कैसी थी ?
2. चन्द्रगुप्त मौर्य एवं चाणक्य दोनों नन्दवंश को समाप्त करना क्यों चाहते थे ?
3. चन्द्रगुप्त मौर्य एवं चाणक्य ने भारत से विदेशी आधिपत्य एवं मगध से नन्दवंश को किस प्रकार हटाया ?
4. निम्नलिखित बिन्दुओं के आधार पर चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन प्रबन्ध की विशेषताएँ बताइये—

   (क) केन्द्रीय शासन (ख) प्रान्तीय व स्थानीय शासन (ग) नगर शासन
   (घ) पुलिस एवं गुप्तचर व्यवस्था (ङ) न्याय व्यवस्था (च) सैन्य व्यवस्था।

अध्ययन की जाँच

सही उत्तर का क्रमाक्षर कोष्ठक में लिखिए—

1. सिकन्दर भेंट के पश्चात् चन्द्रगुप्त ने अपने राजनैतिक कार्य में जिस मुख्य उद्देश्य को सम्मिलित किया, वह था—
   (क) नन्दवंश का नाश करना।
   (ख) भारत से विदेशी आधिपत्य को समाप्त करना।
   (ग) सिकन्दर से शक्ति प्राप्त कर नन्दवंश को नष्ट करना।
   (घ) नन्द शासकों से मिलकर विदेशी आधिपत्य को समाप्त करना। (   )
2. चन्द्रगुप्त के दरबार में जो यूनानी व्यक्ति राजदूत बनकर रहा, उसका नाम है—
   (क) कौटिल्य (ख) इण्डिका (ग) मेगस्थनीज (घ) फाह्यान (   )

3. चन्द्रगुप्त मौर्य इतिहास में इसलिए प्रसिद्ध है कि—

(क) उसने सेल्यूकस को हराया और हेलन से विवाह किया था।

(ख) वह योग्य प्रशासक था और एक अच्छी शासन व्यवस्था लागू थी।

(ग) उसने अत्याचारी शासक को हटाया और भारत में पहली बार एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी।

(घ) उसने साम्राज्य में सिंचाई के लिए झीलों का निर्माण करवाया था।

( )

सोच-विचार कर उत्तर लिखिए—

1. मौर्य वंश के बारे में इतिहासकारों में कौन-कौन से मत प्रचलित हैं? आपको उसमें से सबसे उपयुक्त कौनसा लगता है? कारण बताते हुए उत्तर लिखिए।
2. यदि चन्द्रगुप्त को चाणक्य का साथ नहीं मिलता तो क्या चन्द्रगुप्त मौर्य-साम्राज्य की स्थापना करने में सफल हो सकता था? चन्द्रगुप्त और चाणक्य के व्यक्तित्व की विशेषताओं को आधार बनाकर उत्तर लिखिए।

निम्नलिखित क्रियात्मक कार्य कीजिए और अपना कौशल बढ़ाइये—

1. अविभाजित भारत के मानचित्र में निम्नलिखित बातों का अंकन कीजिये—

(अ) चन्द्रगुप्त मौर्य का साम्राज्य।

(ब) पाटलिपुत्र, तक्षशिला एवं अन्य मौर्यकाल के प्रमुख स्थान।

पूरक अध्ययन ग्रन्थ

1. राधाकुमुद मुकर्जी : चन्द्रगुप्त मौर्य
2. राजबली पाण्डेय : प्राचीन भारत
3. के. एन. नीलकण्ठ शास्त्री : नन्द-मौर्ययुगीन भारत
4. डॉ० ओमप्रकाश : प्राचीन भारत का इतिहास
5. शर्मा-व्यास : प्राचीन भारत

अध्याय 8

मौर्य सम्राट् अशोक महान्

चन्द्रगुप्त मौर्य के बाद उसका पुत्र बिन्दुसार मौर्य साम्राज्य का उत्तराधिकारी बना। वह भी एक योग्य शासक था। उसने चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा संस्थापित विस्तृत साम्राज्य को अक्षुण्ण बनाये रखा और अपने पिता की, अन्य राज्यों से सम्बन्ध बनाए रखने की नीति का पालन किया। उसने लगभग 25 वर्ष तक

शासन किया। किन्तु बिन्दुसार भारतीय इतिहास में अधिक प्रसिद्ध नहीं हो पाया। इसका एक कारण तो उसके समय के इतिहास जानने के साधनों का अभाव है और दूसरा कारण अपने पिता चन्द्रगुप्त मौर्य और स्वयं के पुत्र अशोक महान् जैसे दो प्रतापी शासकों के बीच में आ जाने से उसके व्यक्तित्व का दब जाना है। इसीलिये बिन्दुसार चन्द्रगुप्त मौर्य और अशोक महान् के बीच मात्र एक कड़ी के रूप में ही इतिहास में प्रसिद्ध है।

अशोक महान्

प्रारम्भिक जीवन—बिन्दुसार के पश्चात् उसका पुत्र अशोक मौर्य साम्राज्य का अधिकारी बना। ऐतिहासिक साहित्य के अध्ययन के आधार पर विद्वानों का अनुमान है कि अशोक बिन्दुसार का दूसरा पुत्र था। उसका बड़ा भाई सुसीम था। अपने भाइयों में अशोक सबसे अधिक प्रतिभावान था। बाल्यकाल में उसने पढ़ने-लिखने और अस्त्र-शस्त्र चलाने में निपुणता प्राप्त कर ली थी। युवावस्था में अपने पिता के शासनकाल में ही वह मौर्य साम्राज्य के अवन्ति तथा तक्षशिला प्रान्त का प्रान्तपति (राज्यपाल) रह चुका था और तक्षशिला के विद्रोह को दबाकर अपनी प्रशासनिक एवं सैनिक योग्यता बता चुका था।

राज्यारोहण—इतना योग्य होते हुए भी, अशोक को मौर्य साम्राज्य उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त नहीं हुआ। माना जाता है कि बिन्दुसार अपने बाद सुसीम को उत्तराधिकारी बनाना चाहता था। किन्तु, साम्राज्य के कुछ मन्त्री अशोक के पक्ष में थे। अतः बिन्दुसार की मृत्यु के पश्चात् साम्राज्य पर अधिकार के लिये अशोक को संघर्ष करना पड़ा। इस संघर्ष के बारे में श्रीलंका (सिंहल द्वीप) के साहित्य तथा दिव्यावदान के वर्णनों के अनुसार कहा जाता है कि अपने 99 भाइयों को मार कर अशोक शासक बना था। किन्तु इतिहासकार इसे सत्य नहीं मानते। इतना अवश्य माना जाता है कि अशोक और सुसीम के बीच राजगद्दी पर अधिकार करने के लिये संघर्ष अवश्य हुआ था। इस संघर्ष में विजय प्राप्त करके ही अशोक 269 ई पू. में मौर्य साम्राज्य का सम्राट बना और उसके बाद उसने अपना राज्याभिषेक किया और 'देवानामप्रिय' तथा 'प्रियदर्शी' की उपाधियाँ धारण कीं।

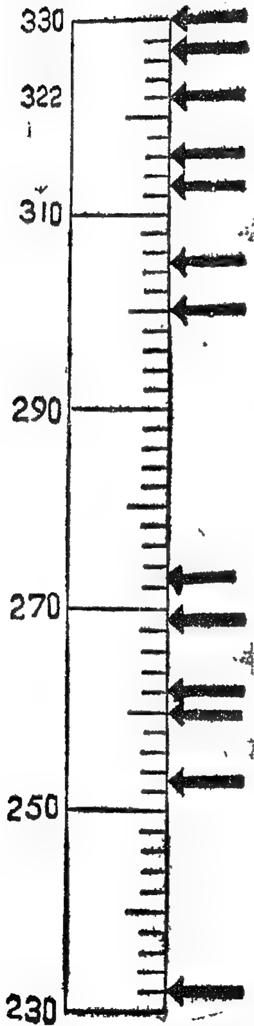
अशोक के सैनिक अभियान

कश्मीर विजय—सम्राट बनने पर अशोक ने साम्राज्य प्रसार तथा विदेशी शासको से मित्रता की और अपने पूर्ववर्ती शासकों की नीति को अपनाया। कल्हण के 'राजतरंगिणी' नामक ग्रन्थ से ज्ञात होता है कि अशोक ने सबसे पहले कश्मीर पर आक्रमण कर उसे अपने साम्राज्य में मिलाया। चन्द्रगुप्त मौर्य और बिन्दुसार के समय कश्मीर मौर्य साम्राज्य का अंग नहीं था।

कलिंग विजय—कश्मीर विजय के पश्चात् अपने राज्याभिषेक के आठवें वर्ष में अशोक ने कलिंग राज्य (आधुनिक उड़ीसा एवं तमिलनाडु के गंजम जिले का

ऊपर से नीचे





ईरानियों पर सिकन्दर की विजय

भारत पर सिकन्दर का आक्रमण

चन्द्रगुप्त का मगध पर अधिकार

चन्द्रगुप्त मौर्य की पश्चिमोत्तर प्रदेश पर विजय

चन्द्रगुप्त मौर्य की मगध विजय

चन्द्रगुप्त की सेल्यूकस पर विजय

चन्द्रगुप्त मौर्य की मृत्यु तथा बिन्दुसार का राज्यारोहण

बिन्दुसार की मृत्यु तथा अशोक का राज्यारोहण

अशोक का राज्याभिषेक

कलिंग विजय

धर्ममहामात्रों की नियुक्ति

पाटलिपुत्र में तृतीय बौद्ध संगीति

अशोक की मृत्यु

भाग) पर आक्रमण किया। कलिंग प्रदेश पर आक्रमण करने का प्रमुख कारण उस राज्य की समृद्धि और बढ़ती हुई शक्ति थी, जो कभी भी मौर्य साम्राज्य के लिए घातक हो सकती थी। डॉ. भण्डारकर के अनुसार अशोक के कलिंग पर आक्रमण का कारण अपने पिता की हार का बदला लेना था। उनके अनुसार जब अशोक के पिता बिन्दुसार ने दक्षिण भारत के चोल तथा पाण्ड्य राज्यों पर आक्रमण किया था, तब कलिंग के राजा ने पीछे से बिन्दुसार पर आक्रमण किया और इसी कारण बिन्दुसार पराजित हुआ। अपने पिता की उस हार का बदला लेने के लिए ही अशोक ने 261 ई. पू. में कलिंग पर एक विशाल सेना के साथ आक्रमण किया। स्वतन्त्रता प्रेमी कलिंगवासियों ने भी अशोक का बड़ी वीरता से सामना किया। फलतः घोर संग्राम हुआ। लगभग एक लाख सैनिक मारे गये। डेढ़ लाख के करीब बन्दी बनाए गए। कई निरीह लोगों की हत्याएँ हुईं और इस सम्पूर्ण रक्तपात के पश्चात् अशोक विजयी हुआ तथा कलिंग मौर्य साम्राज्य का अंग बना।

कलिंग युद्ध का महत्त्व—कलिंग के युद्ध का अशोक के ऐतिहासिक जीवन में बड़ा महत्त्व है। कारण कि अशोक इस युद्ध में विजयी तो हो गया, किन्तु कलिंग युद्ध के दुष्परिणामों ने अशोक के हृदय को बदल दिया। युद्ध में मरने वाले लाखों व्यक्तियों के साथ युद्ध के बाद फैलने वाली बीमारियों से कई व्यक्ति मरने लगे। युद्ध का कुप्रभाव सैनिकों और उसके परिवारों तक ही सीमित नहीं रहा, बल्कि उससे सामान्य जन-जीवन में कई परेशानियाँ उत्पन्न हो गई। परिणामस्वरूप युद्ध के दृश्यों और जनता के कष्टों को देखकर अशोक का हृदय ग्लानि से भर गया। वह भयंकर पीड़ा का अनुभव करने लगा। उसकी विजय की प्रसन्नता अशान्ति में बदल गई। उसे घोर पश्चाताप होने लगा। कहा जाता है कि इसी समय एक बौद्ध भिक्षु 'उपगुप्त' के प्रभाव में आकर अशोक ने बौद्ध धर्म ग्रहण किया और अपनी तलवार हमेशा-हमेशा के लिए म्यान में रखकर भविष्य में सैनिक विजयों के स्थान पर धर्म विजय करने का निश्चय किया। ऐसा निश्चय कर अशोक ने संसार के सामने एक अद्वितीय उदाहरण प्रस्तुत किया। सम्पूर्ण विश्व इतिहास में साम्राज्य प्रसार और सैनिक विजयों की घटनाओं के सन्दर्भ में यदि आप अशोक की कलिंग विजय और उसके बाद धर्म विजय के निश्चय को देखें, तो आपको लगेगा कि विश्व इतिहास में यह अपने ढंग की एक अनोखी घटना है। इस घटना ने अशोक की महानता का सूत्रपात किया। और, अपने धर्म, नैतिकता व सदाचार के प्रचार एवं जन-कल्याण के कार्यों से यह मात्र इस देश का ही नहीं पूरी दुनिया का, अपने युग का नहीं सभी युगों का महान् सम्राट बन गया। वास्तव में कलिंग युद्ध के बाद अशोक द्वारा किए गये कार्यों ने मात्र उसके व्यक्तित्व को ही ऊँचा नहीं उठाया, बल्कि प्रत्यक्ष रूप से भारतीय जन-जीवन और परोक्ष रूप में संसार के कई राष्ट्रों को प्रभावित कर आगे आने वाले युग के दृष्टिकोण को ही बदल दिया। इसीलिए इतिहासकार डॉ. हेमचन्द्र रायचौधरी के ये विचार उपयुक्त ही हैं कि अशोक की कलिंग विजय के बाद एक ऐसे

नये युग का आरम्भ हुआ; जो शान्ति का, सामाजिक उन्नति का, धर्म प्रचार का, राजनीतिक अवरोध का तथा सैनिक ह्रास का युग था।

अशोक का धर्म—बौद्ध ग्रंथों तथा अभिलेखों के आधार पर स्पष्ट होता है कि प्रारम्भ में अशोक का किसी धर्म के प्रति झुकाव नहीं था। कल्हण की *'राजतरंगिणी'* से ज्ञात होता है कि कलिंग विजय से पहले अशोक ब्राह्मण धर्म का अनुयायी एवं शिव का उपासक था। उसे हिंसा एवं पशु वध से घृणा नहीं थी। वह स्वयं माँसाहारी था और उसके भोजनालय में प्रतिदिन कई पशुओं का वध होता था। किन्तु कलिंग युद्ध के बाद वह बदल गया। महात्मा बुद्ध की शिक्षाओं से वह प्रभावित हुआ और उसने बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया। अशोक द्वारा बौद्ध धर्म ग्रहण करने के बारे में सेनार्ट, कर्न तथा फ्लीट आदि विद्वानों की मान्यता है कि अशोक ने बौद्ध धर्म ग्रहण नहीं किया था। उनके अनुसार कुछ शिलालेखों के विवरणों को छोड़कर ऐसा कोई विशेष प्रमाण नहीं मिलता, जिससे यह स्वीकार किया जा सके कि अशोक बौद्ध धर्म का अनुयायी बन गया था। अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए जो भी किया, वह सब सम्राट के पवित्र कर्त्तव्यों को समझ कर ही किया गया था, लेकिन डॉ. हेमचन्द्र रायचौधरी का विचार है कि इसमें संदेह के लिए स्थान नहीं है कि अशोक बौद्ध बन गया था। भब्रू शिलालेख में उसने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि बौद्ध धर्म और संघ में उसका विश्वास था। उसने बुद्ध भगवान के जन्म-स्थान तथा ज्ञान प्राप्ति स्थान की तीर्थ यात्राएँ की थी और जन्म स्थान पर उसने पूजा भी की थी। उसने इस बात की घोषणा भी की थी कि जो कुछ बुद्ध ने कहा है, वह ठीक है।' इसके अतिरिक्त अशोक द्वारा बौद्ध सिद्धान्तों की व्याख्या, बौद्धसंघो में सम्मिलित होना और संघ के संगठन और कार्यो में रुचि लेने के आधार पर डॉ. रायचौधरी की दृढ़ मान्यता है कि अशोक बौद्ध धर्म में दीक्षित था। अशोक के तेरहवें शिलालेख में दिए विवरण से स्पष्ट होता है कि अशोक ने बौद्ध धर्म को अंगीकरण किया था। इस शिलालेख में लिखा गया है कि कलिंग विजय के शीघ्र बाद में देवानामप्रिय (अशोक) धम्म (बौद्ध धर्म) के अनुकरण, धम्म के प्रेम तथा धम्म उपदेश के लिए उत्साहित हो उठा। इसके अतिरिक्त 'दीपवंश', 'महावंश' आदि बौद्ध ग्रन्थों, चीनी यात्री फाह्यान व ह्वेनसांग के विवरणों, अशोक द्वारा निर्मित स्तम्भों, स्तूपों तथा अपने साम्राज्य में पशु बलि पर रोक लगाने एवं बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए किये गये कार्यों के आधार पर अधिकांश विद्वानों की राय है कि अशोक ने बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया था। वस्तुतः यही मत अधिक उपयुक्त भी है।

अशोक ने बौद्ध धर्म तो अपनाया, पर अपनी धार्मिक मान्यताओं को दूसरों पर जबरन लादने का उसने कभी प्रयत्न नहीं किया। उसके समय में भारत में ब्राह्मण धर्म, जैन मत, आजीवक सम्प्रदाय तथा बौद्ध धर्म ये चार प्रकार की धार्मिक विचार धाराएँ प्रचलित थीं। अशोक इस बात को भली प्रकार से समझता

था कि उसके साम्राज्य की सम्पूर्ण जनता एकमात्र बौद्ध धर्म की अनुयायी नहीं हो सकती। अतः अशोक ने हमेशा अन्य धर्मावलम्बियों के प्रति उदारता, सहिष्णुता तथा सहयोग की नीति का अनुसरण किया। अशोक के सातवें शिलालेख में लिखा गया है कि सभी धर्मों के व्यक्ति उसके राज्य में रह सकते थे। अशोक सभी धर्मों के आदर्शों को उच्च एवं समान मानता था। उसने अपने बारहवें शिलालेख में घोषणा की थी कि "मनुष्य को केवल अपने धर्म को ही आदर की दृष्टि से नहीं देखकर, सभी धर्मों के सिद्धान्त सुनने चाहिये, जिससे उसका ज्ञान बढ़े और उन्नति हो।" अशोक के इन विचारों को जानकर यह स्पष्ट होता है कि अशोक मात्र बौद्ध धर्म के प्रति ही नहीं, सभी धर्मों के प्रति अनुराग रखता था। वह मात्र मानव जाति के प्रति ही हित की भावना न रखकर प्राणिमात्र के कल्याण की भावना रखता था। उसका धार्मिक दृष्टिकोण मात्र बौद्ध धर्म तक ही सीमित न होकर मानवमात्र के कल्याण की भावना तक व्यापक था। इसीलिए विद्वानों ने अशोक के धर्म को किसी एक धर्म से न जोड़कर 'मानव धर्म' कहा है। वास्तव में अशोक व्यक्तिगत रूप में ही बौद्ध था, अन्यथा एक शासक के रूप में वह सभी धर्मों और प्राणिमात्र का पोषक था।

अशोक के नैतिक आदर्श—सम्राट् होने के कारण ही अशोक मात्र दिखावे के लिए सहिष्णु और उदार नहीं था। वह हृदय से अपने साम्राज्य की जनता के नैतिक उत्थान की भावना रखता था। इसलिए उसने सभी धर्मों के आदर्शों को समान मान कर धार्मिक उपदेशों के सहारे अपनी प्रजा में दया, पवित्रता, साधुता, नम्रता, सेवाभाव आदि मानवता के आन्तरिक गुणों के विकास के लिए प्रयत्न किये। अपने साम्राज्य की जनता का नैतिक स्तर उन्नत हो, इसके लिए उसने निम्नलिखित आचरणों का पालन करने पर बल दिया और आदेश निकलवाया कि प्रत्येक व्यक्ति को निम्नलिखित बातों का पालन करना चाहिये :—

1. माता-पिता, गुरुजनों एवं बड़े-बूढ़ों का आदर एवं सेवा करो।
2. सत्य, संयम, दृढ़ भक्ति, कृतज्ञता आदि गुणों को व्यवहार में उतारो।
3. ब्राह्मणों, श्रमणों, सम्बन्धियों, मित्रों तथा वृद्धों के प्रति कृतज्ञता का व्यवहार रखो।
4. अपने से छोटों तथा श्रमिकों के प्रति दया का व्यवहार करो।
5. अहिंसा का पालन करो।
6. काम, क्रोध, लोभ-मोह, ईर्ष्या आदि दुर्गुणों से दूर रहो।
7. कम खर्च एवं कम संग्रह करो।
8. धार्मिक सहिष्णुता को अपनाओ।
9. अपनी भावनाओं को पवित्र रखते हुए हमेशा अपने मन को शुद्ध रखो।

अशोक के धार्मिक दृष्टिकोण की विशेषताएँ—अशोक की धार्मिक विचारधारा तथा नैतिक आदर्शों पर गहराई से विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि अशोक का धार्मिक दृष्टिकोण बाह्य रूप से मनुष्य के आचरणों को पवित्र बनाना तथा

आन्तरिक रूप में उसकी आत्मा को शुद्ध करने का था। उसका यह दृष्टिकोण किसी जाति अथवा अपने साम्राज्य की प्रजा तक ही सीमित नहीं था। साथ ही, उसके विचारों में जटिलता या रूढ़िवादिता नहीं थी। वह पूरी मानव जाति के लिए मानवता के सिद्धान्तों को व्यवहार में लाते हुए विश्व की जनता के कल्याण की भावना रखता था। अतः विद्वानों ने अशोक के धार्मिक दृष्टिकोण को सार्वभौमिक, सहिष्णु, समानता की भावना वाला तथा व्यावहारिकता की विशेषताओं से युक्त बताया है।

बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए अशोक के प्रयत्न—आप पढ़ चुके हैं कि एक शासक के रूप में उदार एवं सहिष्णु विचारधारा रखते हुए भी अशोक व्यक्तिगत रूप से बौद्ध धर्म के प्रति विशेष रुचि रखता था। इसीलिए अपनी जनता में नैतिकता के प्रचार के साथ ही उसने भारत और विदेशों में बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए महत्वपूर्ण कार्य किये। बौद्ध धर्म जनता में अधिकाधिक लोकप्रिय हो तथा शीघ्र फैले, इसके लिए अशोक ने निम्नलिखित कार्य किये—

1. **सैनिक विजयों का परित्याग**—कलिंग युद्ध के बाद अशोक ने हमेशा-हमेशा के लिए युद्ध करना छोड़ दिया। उसके तेरहवें शिलालेख से प्रकट होता है कि उसने सैनिक विजयों के स्थान पर धर्मविजय करने की तथा भेरी (युद्ध) घोष के स्थान पर धर्मघोष करने की घोषणा की। यह पहले कहा जा चुका है कि कलिंग युद्ध अशोक के हृदय परिवर्तन का कारण था। इसी के प्रभाव में आकर उसने सैनिक विजयों को छोड़ा था। अतः स्वाभाविक था कि जिस धर्म के प्रभाव से एक विशाल साम्राज्य के सम्राट् में ऐसा परिवर्तन आया, उसके प्रति जनता का अधिक झुकाव बढ़े। ऐसी स्थिति में अशोक की सैनिक विजयों के परित्याग की नीति ने बौद्ध धर्म के प्रसार में स्वाभाविक रूप से सहायता की।

2. **स्वयं अशोक का पवित्र जीवन बिताना**—अशोक ने अपनी जनता का मार्गदर्शन करने के लिए अपने विशाल साम्राज्य की अतुल समृद्धि का परित्याग कर एक साधारण भिक्षु जैसा जीवन व्यतीत करना प्रारम्भ किया। अपने महान् सम्राट् का आचरण जनता के लिए प्रेरणा बना और बहुत से व्यक्ति बौद्ध धर्म में दीक्षित होने लगे और अशोक के उपदेशों का यथावत पालन करने लगे।

3. **बौद्ध धर्म को राज्य धर्म घोषित करना**—धार्मिक सहिष्णुता को बनाये रखते हुए भी अशोक ने बौद्ध धर्म को राज्य धर्म घोषित किया। फलतः राज्य कर्मचारियों ने स्वभावतः इसे अंगीकार किया। राज्य धर्म बन जाने से जनसाधारण की रुचि भी बौद्ध धर्म में बढ़ने लगी। ऐसी स्थिति में राजकीय संरक्षण में बौद्ध धर्म का बड़ी तीव्रता से विकास एवं प्रसार हुआ।

4. **धार्मिक विभाग की स्थापना**—बौद्ध धर्म के प्रचार एवं प्रसार हेतु अशोक ने एक धर्म-विभाग की स्थापना की तथा 'धर्म-महामात्र' नामक अधिकारियों की नियुक्ति की। ये अधिकारी धार्मिक उपदेशों द्वारा धर्म का प्रचार करते थे तथा गुप्त

रीति से प्रजा के आचरण पर नजर रखते थे। ये लोगों के नैतिक स्तर को उठाने के लिए प्रयत्नशील रहते थे। इससे जनता स्वभावतया बौद्ध धर्म के प्रति आसक्त रहती थी।

5. **बौद्ध मठों का निर्माण**—बौद्ध धर्म के प्रचार में अशोक द्वारा स्थापित कई मठों का विशेष हाथ रहा। इन मठों द्वारा बिहारो में बौद्ध भिक्षु सदा धर्मोपदेश में लगे रहते थे तथा स्थान-स्थान पर जाकर बौद्ध धर्म का प्रचार करते थे। इस व्यवस्था से बौद्ध धर्म का प्रचार बड़ी तीव्र गति से हुआ।

6. **धर्म श्रवण की व्यवस्था**—अशोक ने बौद्ध विचारधारा और सिद्धान्त के प्रचारार्थ शास्त्रार्थ एवं धार्मिक चर्चाओं के लिए धर्म श्रवणों की व्यवस्था करवाई। बड़े-बड़े बौद्ध प्रचारकों के व्याख्यान तथा प्रवचन इन श्रवणों में होते थे। फलतः सर्वसाधारण में उनको सुनकर बौद्ध धर्म में रुचि बढ़ने लगी और बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ।

7. **धार्मिक यात्राएँ**—अशोक के पहले तक सम्राट विहार (भ्रमण) यात्राओं व शिकार आदि पर जाते थे। किन्तु अशोक ने विहार यात्राओं के स्थान पर धर्म यात्राएँ करना प्रारम्भ किया। वह इन यात्राओं के माध्यम से जनता की धार्मिक स्थिति एवं उनकी भावनाओं से अपने आपको अवगत रखता था और वह जनता में नैतिक एवं उचित भावनाओं का प्रचार करता था। इन यात्राओं के दौरान उसने कई बौद्ध तीर्थ स्थानों की भी यात्राएँ कीं। इससे जनता में प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ।

8. **धार्मिक अभिलेख**—अशोक ने धर्म प्रचार के लिए चट्टानों, प्रस्तर-स्तम्भों तथा गुफाओं के बाहर बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों व उपदेशों को खुदवाया, जिससे कि जनसाधारण को धार्मिक सिद्धान्तों का बोध आसानी से हो सके। धार्मिक अभिलेखों को स्थापित करने का एक कारण यह भी था कि चिरकाल तक जनता की स्मृति में धर्मोपदेश बने रहें और वह उनसे प्रेरणा ग्रहण करती रहे। अशोक के इस कार्य से बौद्ध धर्म का व्यापक रूप में प्रचार हुआ।

9. **पालि भाषा का प्रयोग**—अशोक के काल में जनसाधारण की भाषा पालि थी। अतः अशोक के अभिलेखों एवं बौद्ध ग्रन्थों की रचना इसी भाषा में करवाई। इससे जनसाधारण को बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों को समझने और उसका पालन करने में पर्याप्त सहयोग मिला और बौद्ध धर्म सामान्य जनता में उतर आया।

10. **पशु वध निषेध**—अशोक ने आखेट तथा राजकीय रसोईघर में पशु-पक्षियों के वध पर रोक लगाकर जनता के सम्मुख अहिंसा का आदर्श प्रस्तुत किया। सम्पूर्ण साम्राज्य में पशु-बलि पर रोक लगा दी गई। इस कार्य से बौद्ध धर्म के अहिंसा के सिद्धान्तों को काफी शक्ति मिली और बौद्ध धर्म का प्रचार-प्रसार अधिक सरल हो गया।

11. **बौद्ध संगीति**—बौद्ध धर्म में उत्पन्न मतभेदों को दूर करने तथा इस धर्म को संगठित रूप प्रदान करने के लिए अशोक ने पाटलिपुत्र में तृतीय बौद्ध धर्म

संगीति (सभा) का आयोजन किया। इस संगीति में बौद्ध धर्म-ग्रन्थों में संशोधन, मत-भेदों के निवारण तथा बौद्ध संघों में उत्पन्न होने वाले दोषों का निवारण किया गया। इससे बौद्ध धर्म में आने वाली शिथिलता समाप्त हुई और नये रूप में नये जोश के साथ धर्म-प्रचार का कार्य होने लगा।

12. **विदेशों में धर्म-प्रचार**—अशोक ने भारत के उन भागों में जो उसके साम्राज्य में नहीं थे तथा विदेशों में, बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए धर्म प्रचारक भेजे। अशोक के दूसरे, पाँचवें तथा तेरहवें शिलालेखों के विवरणों से स्पष्ट होता है कि उसने दक्षिणी भारत में चोल, पाण्ड्य तथा केरल राज्यों में धर्म प्रचार के लिए भिक्षु-भिक्षुणियों को भेजा। उसने अपने पुत्र महेन्द्र तथा पुत्री संघमित्रा को बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए श्रीलंका भेजा। इसके अतिरिक्त अशोक ने सीरिया, मिस्र, एशिया-



अशोक का साम्राज्य

माइनर तथा यूनान में अपने धर्म प्रचारक भेजे, जिन्होंने बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों एवं अशोक के उपदेशों को वहाँ फैलाया। अशोक के तेरहवें शिलालेख से यह भी स्पष्ट होता है कि इन देशों के अलावा कुछ ऐसे विदेशी राज्य भी थे, जहाँ अशोक के धर्म प्रचारक तो नहीं गये थे, किन्तु अशोक के धर्म सन्देशों का वहाँ प्रचार हुआ था और लोग उनका पालन करने लगे थे। डॉ० भण्डारकर के मत में ये देश ब्रह्मा, चीन आदि रहे होंगे। अशोक ने विदेशों में धर्म प्रचार के साथ-साथ जनहितकारी कार्य भी किए। उसने विदेशों में भी परोपकारी संस्थाएँ, औषधालय आदि खुलवाए। उसके इन प्रयत्नों के परिणामस्वरूप बौद्ध धर्म तो विदेशों में फैला ही, साथ ही भारतीय संस्कृति का विदेशों में प्रचार भी हुआ। वस्तुतः सम्राट अशोक ने अपने इन सभी कार्यों से बौद्ध धर्म के प्रचार और विकास में बहुत महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। उसने अपने युग में इसे एक अन्तर्राष्ट्रीय धर्म का स्वरूप प्रदान किया।

अशोक का साम्राज्य—अशोक का साम्राज्य काफी विस्तृत था। भारत के सुदूर-दक्षिण के चौल, पाण्ड्य तथा केरल आदि राज्यों को छोड़कर लगभग पूरा भारत, अफगानिस्तान तथा बलूचिस्तान का प्रदेश अशोक के साम्राज्य में सम्मिलित था। प्राचीन भारत के सभी शासकों की तुलना में अशोक का साम्राज्य सबसे अधिक विस्तृत था।

अशोक का शासन प्रबन्ध—धर्म और नैतिकता के प्रचार के साथ-साथ अशोक ने अपने साम्राज्य की प्रशासनिक व्यवस्था पर भी पूरा-पूरा ध्यान दिया। उसके प्रशासन की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित थीं—

अशोक का राजत्व सिद्धान्त—साधारण रूप में अशोक की प्रशासनिक व्यवस्था अपने मूल रूप में चन्द्रगुप्त मौर्य की शासन व्यवस्था के अनुरूप थी। लेकिन, कलिंग युद्ध के बाद आध्यात्मिक भावना और मानवता के दृष्टिकोण की प्रधानता के कारण अशोक के राजनीतिक आदर्शों में परिवर्तन आ गया। कलिंग युद्ध के बाद उसने अपने प्रशासन का आधार प्रेम और विश्वास को माना। अशोक यह मानता था कि उसके साम्राज्य की पूरी प्रजा उसकी सन्तान के समान है, अतः वह चाहता था कि उसकी सन्तान की भाँति उसकी प्रजा भी हर प्रकार से सुखी रहे। कलिंग शिलालेख में उसने घोषणा की थी कि "जिस प्रकार मैं अपनी सन्तान का इस लोक और परलोक में सभी प्रकार से हित और सुख चाहता हूँ, उसी प्रकार से मैं अपने साम्राज्य की सम्पूर्ण जनता के जीवन की मंगल कामना करता हूँ।" वह मानता था कि सर्वलोकहित से बढ़कर सम्राट का दूसरा कर्तव्य नहीं है और वास्तव में अशोक ने अपने पूर्ववर्ती सम्राटों से प्राप्त सुगठित एवं सुव्यवस्थित शासन व्यवस्था में जनसाधारण के कल्याण की भावना का समावेश कर लोक-कल्याण, पवित्रता और नैतिकता को अपने प्रशासन का आधार बनाया।

केन्द्रीय शासन—अशोक के प्रशासन का स्वरूप राजतन्त्रात्मक था तथा शासन व्यवस्था उसके पूर्ववर्ती सम्राटों की व्यवस्था के अनुरूप थी। लेकिन, अशोक

निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी न होकर जनहितैषी शासक था। सिद्धान्त के रूप में सम्राट् सार्वभौमशक्ति-सम्पन्न एवं शासन के सभी पक्षों का सर्वोच्च अधिकारी था, लेकिन कार्य में अशोक जनहित को प्रमुखता देता था।

मन्त्रि-परिषद्—यद्यपि साम्राज्य में सम्राट् सर्वेसर्वा था, लेकिन चन्द्रगुप्त के समय के समान शासनिक कार्यों में सहयोग देने के लिए अशोक ने भी मन्त्रि-परिषद् को बनाए रखा था। उसने अपने मन्त्रि-परिषद् के सदस्यों को गुप्त से गुप्त एवं गूढ़ से गूढ़ बातों पर सम्राट् से मन्त्रणा करने और अपना मत प्रस्तुत करने की स्वतन्त्रता दे रखी थी। उसके छठे शिलालेख से स्पष्ट होता है कि उसके मन्त्री महत्त्वपूर्ण विषयों पर सम्राट् से वाद-विवाद कर सकते थे। किन्तु, अशोक की मन्त्रि-परिषद् में दृढ़ चरित्र, उच्च नैतिकता एवं धार्मिक आदर्शों का पालन करने वाले व्यक्ति ही मन्त्री बन सकते थे।

प्रान्तीय शासन—प्रशासनिक सुविधा की दृष्टि से अशोक का साम्राज्य मुख्य रूप से चार प्रान्तों में विभक्त था। ये निम्नलिखित थे—

(1) उत्तरापथ, जिसकी राजधानी तक्षशिला थी। (2) अवन्ति पथ, जिसकी राजधानी उज्जयिनी थी। (3) दक्षिणापथ, जिसकी राजधानी स्वर्णगिरी थी। (4) कलिंग, जिसकी राजधानी तोषली थी।

साम्राज्य के इन प्रान्तों में प्रान्तपति के रूप में राजकुमारों को नियुक्त किया जाता था। प्रान्तपति से स्वामीभक्ति की पूर्ण आशा की जाती थी। प्रान्तपति निरंकुश न हो जाएँ, इसके लिए प्रान्तों में कहीं-कहीं मन्त्री और महामन्त्री भी नियुक्त किए जाते थे।

अशोक के तेरहवें शिलालेख के विवरण से पता चलता है कि इन प्रान्तों के अलावा अशोक के साम्राज्य में कुछ ऐसे भी प्रदेश थे, जो सम्राट् के अधीन तो थे, मगर वहाँ की शासन-व्यवस्था का भार स्थानीय शासकों को सौंप रखा था। यवन, कम्बोज, नामपति, भोज, परिन्द, आन्ध्र आदि ऐसे ही स्वशासित राज्य थे।

अशोक के प्रशासनिक अधिकारी—अशोक के शासन काल में शासन के लिए कई प्रकार के अधिकारी होते थे। वैसे उसके अधिकांश प्रशासनिक अधिकारी कौटिल्य के अर्थशास्त्र में वर्णित पदाधिकारी ही थे। किन्तु उनमें से प्रमुख निम्नलिखित थे—

(1) **अग्रामात्य**—यह सम्राट् का प्रमुख सहायक होता था।

(2) **महामात्र**—प्रशासन के विभिन्न विभागों के अध्यक्ष को महामात्र कहा जाता था।

(3) **राजुक**—राजुक प्रान्तीय स्तर के उच्च अधिकारी होते थे। उन्हें उच्च अधिकार प्राप्त होते थे। प्रजा की सुख-सुविधाओं की देखभाल, न्याय तथा भूमि प्रबन्ध का कार्य ये अधिकारी करते थे।

(4) **युक्त**—राज्य के आय-व्यय की देख-रेख करने वाले अधिकारी को 'युक्त' कहा जाता था। कुछ इतिहासकार युक्त को साम्राज्य के जिलों का कोषाध्यक्ष तथा राजस्व-संग्रहकर्ता मानते हैं।

(5) **प्रादेशिक**—प्रादेशिक साम्राज्य के जिलों के प्रमुख अधिकारी को कहते थे। इनके कार्य जिले के अन्य पदाधिकारियों के कार्यों की देखभाल करना तथा राजस्व वसूल करवाना होता था।

प्रशासनिक सुधार

(1) **जन-संपर्क स्थापना के प्रयत्न**—अशोक हृदय से जनता का हित चाहने वाला शासक था। उसने अपनी जनता की सुख-सुविधा का ध्यान रखने के लिए अपने राज्य-पदाधिकारियों को आदेश दिए थे कि वे अपने नियत कार्य के अतिरिक्त समय-समय पर राज्य के विभिन्न भागों के दौरे करें तथा जनता के दुःख दर्द को दूर करें। उसने अपने अधिकारियों को प्रजा के साथ पिता का सा व्यवहार करने के आदेश दिए। ये अधिकारी जनता में अशोक के धार्मिक एवं नैतिक उपदेशों का प्रचार भी करते थे। अशोक यह चाहता था कि साम्राज्य की जनता का उससे सीधा सम्पर्क स्थापित हो और जनता सीधी सम्राट तक पहुंच सके। इसके लिए उसने अपने सातवें शिलालेख में घोषणा करवाई कि कोई भी व्यक्ति सम्राट से किसी भी समय मिल सकता है, चाहे वह भोजन कर रहा हो या अंतःपुर में हो या निजी कक्ष में, चाहे वह घोड़े की पीठ पर हो या विहार कर रहा हो।

(2) **धर्म महामात्रों की नियुक्ति**—अपने साम्राज्य में जनता के नैतिक स्तर को उन्नत करने के लिए अशोक ने 'धर्म महामात्र' नामक विशेष अधिकारियों की नियुक्ति की। ये अधिकारी वृद्धों, गरीबों आदि को दान-पुण्य दिलवाने तथा दण्डित व्यक्तियों को दण्ड से मुक्त करवाने का कार्य करते थे। इनका मुख्य कर्त्तव्य लोगों के नैतिक आचरण पर दृष्टि रखना, उसे ऊँचा उठाने का प्रयत्न करना तथा उनमें धार्मिक भावना का प्रचार करना था।

(3) **न्याय व्यवस्था**—अशोक से पहले न्याय-व्यवस्था का कार्य राजुक, नगर-व्यावहारिक एवं प्रादेशिक, इन तीनों अधिकारियों के हाथों में था। इस व्यवस्था में न्याय में समानता नहीं रहती थी। अतः अशोक ने सम्पूर्ण न्याय-व्यवस्था राजुकों के हाथों में सौंप दी और अन्य दो पदाधिकारियों को न्याय के कार्य से मुक्त कर दिया। इससे न्याय-व्यवस्था में समानता एवं कुशलता की वृद्धि हुई। इसके अतिरिक्त दण्ड विधान की कठोरता को भी अशोक ने कम किया तथा अपने राज्याभिषेक की तिथि के दिन बंदियों को मुक्त करवाने और मृत्युदण्ड वाले बन्दियों को तीन दिन का जीवनदान देने की प्रथा प्रारम्भ की।

(4) **गुप्तचरों का विशेष प्रबन्ध**—वैसे तो मौर्य-साम्राज्य में पहले से ही गुप्तचरों की व्यवस्था थी, किन्तु अशोक ने अपने समीप रहने वाले लोगों में से प्रतिवेदक नियुक्त किए। इनका कार्य अपने साम्राज्य में प्रत्येक क्षण में घटने वाली घटनाओं से सम्राट् को अवगत कराते रहना था। इससे अशोक को साम्राज्य में घटने वाली प्रत्येक घटना की जानकारी रहती थी और वह किसी भी समय आवश्यक कदम उठा सकता था।

(5) **सामाजिक कुरीतियों पर नियन्त्रण**—अशोक ने एक आदेश द्वारा मदिरा, माँस के सेवन और बुरे कार्यों पर प्रतिबन्ध लगा दिया तथा यज्ञ आदि में दी जाने वाली पशु बलि को भी बन्द करवा दिया। अपने इन कार्यों से उसने जनता में अहिंसा की भावना का प्रचार किया।

(6) **जनहित एवं निर्माण कार्य**—अपने साम्राज्य की जनता के नैतिक उत्थान के साथ अशोक ने जनता की सामान्य सुख-सुविधाओं के लिए भी कई कार्य किए। यातायात एवं आवागमन की सुविधा बढ़ाने के लिए सड़कों का निर्माण करवाया, उनके किनारों पर छायादार वृक्ष लगवाए, थोड़ी-थोड़ी दूरी पर धर्मशालाएँ बनवाईं तथा स्थान-स्थान पर कुएँ खुदवाए। उसने मनुष्यों और पशुओं के लिए चिकित्सालय खुलवाये, जहाँ मुफ्त में औषधियाँ दी जाती थीं। इसके अलावा उसने कृषि की उन्नति के लिए तालाबों और नहरों का निर्माण करवाया। उसने फलों वाले वृक्षों और बगीचों का भी विकास किया।

(7) **निर्माण कार्य**—अशोक कला-प्रेमी शासक भी था। वह एक महान् निर्माता था। कहा जाता है कि अशोक ने कश्मीर में 'श्रीनगर' एव नेपाल में 'देवपाटन' नामक नगर बसाए तथा चौरासी हजार स्तूपों तथा कई पाषाण स्तम्भों और भवनों का निर्माण करवाया। इसके साथ ही उसने अपने पूरे साम्राज्य में चट्टानों, शिला-खण्डों और गुफाओं के बाहर बौद्ध धर्म एवं नैतिकता के उपदेशों को खुदवाया।

अशोक का इतिहास में स्थान—अशोक एक विशाल साम्राज्य का सम्राट् था लेकिन संसार के इतिहास में सिकन्दर, सीजर, अकबर, नेपोलियन आदि अशोक के साम्राज्य से भी विशाल साम्राज्य के निर्माता हुए हैं। अशोक एक महान धर्म प्रचारक था, लेकिन रोमन सम्राट् कांस्टेन्टाइन उससे इस क्षेत्र में समानता रखने वाला सम्राट् हुआ है। इसी तरह, सम्राट् होने के साथ-साथ जीवन में सत्य और तत्त्व का विचार करने वाले व्यक्ति के रूप में रोम के सम्राट् मार्क्स ओरलियस को अशोक की तुलना में प्रस्तुत किया जा सकता है और धार्मिक सहिष्णुता की दृष्टि से मुगल सम्राट् अकबर को अशोक के समकक्ष खड़ा किया जा सकता है। फिर ऐसी कौन-सी बात अशोक में थी, जिससे इतिहासकारों ने उसे विश्व का महान् सम्राट् तथा विश्व-शान्ति का अग्रदूत कह कर संसार के इतिहास में उच्च स्थान दिया है। यदि आप स्वयं इन सम्राटों के कार्यों के साथ अशोक के कार्यों की तुलनात्मक विवेचना करके देखें तो आपको ज्ञात होगा कि विजय प्राप्त कर हमेशा-हमेशा के लिए हथियार छोड़ देने का साहस सिकन्दर, सीजर तथा नेपोलियन आदि सम्राटों में नहीं था। एक धर्म के प्रति आसक्त होकर और व्यक्तिगत जीवन में उसे पूरा उतार कर भी अन्य धर्मावलम्बियों को अपने साम्राज्य में समुचित संरक्षण प्रदान करने की धर्म सहिष्णुता कान्स्टेन्टाइन में नहीं थी। उसके साम्राज्य में तो ईसाइयों के अतिरिक्त अन्य धर्मावलम्बियों के लिए कोई स्थान ही नहीं था। जीवन में सत्य और तत्त्व का

दार्शनिक चिन्तन करके भी सम्राट् मार्क्स ओरलियस में उन्हें अपने व्यक्तिगत आचरण और व्यवहार में उतारने की क्षमता नही थी, जिसे अशोक ने पूरा कर दिखाया था। इसी तरह, धार्मिक सहिष्णुता होने पर भी अकबर सांसारिक सुखोपभोगों के प्रति विरक्त होकर अशोक के समान महान् त्याग के आदर्श को प्रस्तुत नहीं कर पाया था। इन सबके अतिरिक्त भी संसार के दूसरे किसी भी सम्राट् में सैनिक पराक्रम, धर्म-निष्ठा, सत्य, त्याग, दया, परोपकार, लोक-सेवा, समानता और सबके साथ प्रशासनिक कुशलता का एक साथ संयोग नहीं देखा जा सकता। इसलिए, प्रसिद्ध इतिहासकार एच० जी० वेल्स की यह उक्ति उपयुक्त प्रतीत होती है कि 'अशोक का नाम इतिहास के पृष्ठों में लिखे हुए हजारों सम्राटों तथा चक्रवर्ती राजाओं में अकेले तारे के समान चमकता है।' वस्तुतः अशोक एक धर्मपरायण, परोपकारी एवं लोकसेवी शासक था, जिसने तन, मन और धन से सम्पूर्ण मानवता के कल्याण में अपने-आपको लगाया, इसलिये वह इतनी महानता प्राप्त कर सका।

अशोक के उत्तराधिकारी और मौर्य साम्राज्य का पतन—जनहित और मानवता के कल्याण में लगे रहकर अशोक ने लगभग 36–37 वर्ष तक कुशलतापूर्वक शासन किया। उसकी मृत्यु 232 ई. पू. में हुई। उसकी मृत्यु के बाद कुणाल, दशरथ, सम्प्रति आदि एक-एक करके सात शासक मौर्य साम्राज्य के सिंहासन पर बैठे। किन्तु सम्प्रति के बाद मौर्य साम्राज्य के सभी उत्तराधिकारी कमजोर निकले। फलतः वृहद्रथ नामक अन्तिम मौर्य शासक को उनके ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने 184 ई० पू० में मार डाला तथा पाटलिपुत्र के सिंहासन पर शुंग वंश का आधिपत्य स्थापित हुआ। मौर्य साम्राज्य, उसकी शक्ति और कीर्ति इतिहास के पन्नों की सामग्री बन गई।

मौर्य साम्राज्य के पतन के कारण—चन्द्रगुप्त मौर्य की शक्ति और अशोक की धर्मनिष्ठा से फला-फूला, शक्ति और शान्ति सम्पन्न मौर्य साम्राज्य अशोक की मृत्यु के पश्चात् लगभग पचास वर्ष में ही समाप्त हो गया। किन्तु मौर्य साम्राज्य का इतना शीघ्र पतन क्यों हुआ, इसके सम्बन्ध में विभिन्न इतिहासकारों के अलग-अलग मत हैं।

अशोक की अहिंसा एवं शान्ति नीति—डॉ० हेमचन्द्रराय चौधरी के अनुसार अशोक की अहिंसा व शान्ति की नीति ने मौर्य साम्राज्य की शक्ति को कमजोर बना दिया। अशोक की युद्ध से विमुख रहने की नीति से साम्राज्य की सैनिक शक्ति कमजोर पड़ गई। अशोक ने युद्ध का निषेध कर अपने उत्तराधिकारियों को सैनिक योग्यता अर्जित करने से विमुख रखा। ऐसे समय में ही साम्राज्य के दूरस्थ प्रान्त स्वतन्त्र होने लगे और विदेशी आक्रमणों का सिलसिला प्रारम्भ हुआ। सैनिक दृष्टि से कमजोर अशोक के उत्तराधिकारी उनको सफलतापूर्वक दबाने और रोकने में असमर्थ रहे। फलतः साम्राज्य का विघटन हुआ।

साम्राज्य की विशालता—मौर्य साम्राज्य के पतन के कारणों में मौर्य साम्राज्य का अत्यधिक विशाल होना भी एक कारण माना जाता है। इतने विशाल साम्राज्य की रक्षा किसी योग्यतम शासक द्वारा ही सम्भव थी। अशोक के उत्तराधिकारियों में कोई इतना योग्य एवं कुशल नहीं था कि वह इतने विशाल साम्राज्य को सम्भाल सके। ऐसी स्थिति में साम्राज्य के सीमान्त राज्यों और उनका अनुसरण कर अन्य राज्यों का स्वतन्त्र होना स्वाभाविक था, कारण कि उस युग में केन्द्रीय शक्ति के बलवान होने पर ही प्रान्तीय लोग दबे रहते थे। अन्यथा केन्द्र के निर्बल होते ही उनमें स्वतन्त्रता की भावना जाग्रत हो जाती थी। इसीलिए, अशोक के बाद जब केन्द्रीय शक्ति कमजोर पड़ी, तो धीरे-धीरे स्थानीय राज्य स्वतन्त्र होने लग गये। अशोक के उत्तराधिकारी शक्ति के अभाव में उसे नहीं रोक सके और साम्राज्य का पतन हुआ।

आन्तरिक षड्यन्त्र—मौर्य साम्राज्य के आन्तरिक और राज्य कर्मचारियों के षड्यन्त्रों ने भी उसके पतन के महत्त्वपूर्ण कारणों के रूप में कार्य किया। अशोक के कई पुत्र थे। वे सब शक्ति प्राप्त करने के लिए आपस में झगड़ने लगे। साम्राज्य के मन्त्री तथा कर्मचारी एक दूसरे का पक्ष ग्रहण कर षड्यन्त्रों में उलझने लगे और साम्राज्य की शक्ति विभक्त हो गई। फलतः साम्राज्य के दूरस्थ प्रान्तों को स्वतन्त्र होने का उपयुक्त अवसर मिला और साम्राज्य का पतन होना अवश्यम्भावी बन गया।

उत्तराधिकार का नियम—डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी ने मौर्यकालीन राज्य-व्यवस्था के अन्तर्गत ज्येष्ठ पुत्र के उत्तराधिकारी बनने की व्यवस्था को मौर्य साम्राज्य के पतन का मुख्य कारण माना है। उनका विचार है कि योग्य होने अथवा न होने पर भी बाद के मौर्य शासकों में ज्येष्ठता के आधार पर एक के बाद दूसरे अयोग्य शासक मौर्य साम्राज्य के अधिकारी बनते गये। वे साम्राज्य को कुचक्रों, विरोध और विघटन से बचाने के लिए शक्ति संचय नहीं कर सके और मौर्य साम्राज्य का पतन निश्चित हो गया।

उत्तराधिकारियों की अयोग्यता—सम्राट् अशोक के बाद मौर्य साम्राज्य के उत्तराधिकारी बनने वाले शासक वस्तुतः कर्त्तव्य विमुख, सीमित दृष्टिकोण के एवं स्वार्थी थे। तभी तो अशोक की मृत्यु के बाद कुणाल के समय सम्प्रति ने उज्जयिनी में अपने आपको स्वतन्त्र शासक घोषित कर दिया और जलोक कश्मीर में स्वतन्त्र शासक बन बैठा। इन कमजोरियों के साथ उनमें सैनिक व प्रशासनिक क्षमता और शक्ति भी नहीं थी। इसीलिये विघटित होते हुए साम्राज्य को बचाने के लिए किसी ने कोई प्रयत्न नहीं किया। साम्राज्य छिन्न-छिन्न होने लगा और अन्त में उसका पतन हुआ।

इन कारणों के अतिरिक्त कुछ विद्वान् ब्राह्मणों की प्रतिक्रिया, रिक्त कोष और विदेशियों के आक्रमणों को मौर्य साम्राज्य के पतन का कारण मानते हैं। यद्यपि इनका भी साम्राज्य के पतन में हाथ रहा है, किन्तु ये परिस्थितियाँ शासक के अयोग्य होने पर ही प्रभाव पैदा करती हैं। ऐसी स्थिति में अशोक के उत्तराधिकारियों की अयोग्यता ही मौर्य साम्राज्य के पतन का प्रमुख कारण थी। प्राचीन भारत के हर युग का इतिहास इसी बात का साक्षी है कि योग्यता होने पर व्यक्ति ने नये साम्राज्य का निर्माण किया और उसके अभाव में बने-बनाये साम्राज्य भी मिटे नष्ट हुए।

अध्ययन का उपयोग

नीचे दिए गए प्रश्नों का उत्तर दीजिये एवं अपने अध्ययन को उपयोगी बनाइये—

1. अशोक को मगध के साम्राज्य पर अधिकार कैसे प्राप्त हुआ ?
2. अशोक द्वारा कलिंग पर किए गये आक्रमण के क्या परिणाम निकले ?
3. अशोक ने बौद्ध धर्म क्यों अपनाया और उसके प्रचार के लिए उसने क्या-क्या प्रयत्न किए ?
4. अशोक ने शासन के क्षेत्र में क्या-क्या सुधार किए ?
5. मौर्य साम्राज्य के पतन के क्या कारण थे ?

अध्ययन की जांच

सही उत्तर का क्रमाक्षर कोष्ठक में लिखिए—

1. कलिंग युद्ध का अशोक के जीवन पर सबसे महत्त्वपूर्ण प्रभाव यह पड़ा कि—
   (क) उसने कलिंग को पुनः स्वतन्त्र छोड़ दिया।
   (ख उसने बौद्ध धर्म को अपनाकर धर्म प्रचार से मानव-हृदय जीतने का निश्चय किया।
   (ग) उसने अन्य राज्यों को भी शक्ति के सहारे अपने राज्य में मिलाया।
   (घ) उसने युद्ध में घायलों के लिए अस्पताल बनवाए। ( )
2. अशोक के धर्म को मानव धर्म कहा जाता है, कारण कि—
   (क) अशोक ने महात्मा बुद्ध की शिक्षाओं का प्रचार किया।
   (ख) अशोक ने मानव धर्म की स्थापना की।
   (ग) अशोक ने मानव जाति के आध्यात्मिक उत्थान का प्रयत्न किया।
   (घ) अशोक ने अहिंसा का प्रचार किया। ( )
3. बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए अशोक के प्रयत्नों में स्थायी तथा सर्वप्रमुख प्रयत्न था—
   (क) धर्म महामात्रों की नियुक्ति।
   (ख) शिलालेख लगवाना।
   (ग) बौद्ध धर्म को राजकीय धर्म बनाना।
   (घ) विदेशों में धर्म प्रचारक भेजना। ( )

4. अशोक विश्व इतिहास में बहुत प्रसिद्ध है, कारण कि—
(क) उसने विश्व के कई देशों को जीता था।
(ख) उसने भारतीय धर्म का विश्व में प्रचार किया था।
(ग) उसने मानवता और नैतिकता का बौद्ध धर्म के सहारे विश्व में प्रचार किया था।
(घ) उसने गरीबों को दान में अपना सर्वस्व लुटा दिया था। ( )

सोच-विचार कर उत्तर लिखिए—

1. अशोक की धार्मिक नीति तथा नैतिक विचारों को पढ़कर आप उसके धर्म को क्या संज्ञा देना चाहेंगे ? कारण बताते हुए उत्तर लिखिए।
2. संसार के इतिहास में अनेक पराक्रमी सम्राट हुए, किन्तु उन सबकी तुलना में अशोक को अधिक महान् कहा जाता है, इनके क्या कारण हैं ?
3. स्वतन्त्र भारत का राज्य-चिह्न अशोक के सारनाथ स्तम्भ के सिंह चतुर्मुख को क्यों बनाया गया ?

निम्नलिखित क्रियात्मक कार्य कीजिए और अपना कौशल बढ़ाइए—

1. भारत के ऐतिहासिक मानचित्र में निम्नलिखित बातों को अंकित कीजिए—
(क) अशोक का साम्राज्य।
(ख) अशोक के अभिलेखों के प्राप्ति स्थल।
2. अशोक के स्थापत्य स्मारकों के चित्रों को एकत्रित कीजिए तथा अपने ऐतिहासिक चित्रों के एलबम में उन्हें लगाइये।

पूरक अध्ययन ग्रन्थ

1. डॉ. डी. आर. भण्डारकर : अशोक
2. राजबलि पाण्डेय : प्राचीन भारत
3. राधाकुमुद मुकर्जी : प्राचीन भारत
4. डॉ. विमलचन्द्र पाण्डेय : भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास
5. के. ए. नीलकन्ठ शास्त्री : नन्द-मौर्य युगीन भारत

———

अध्याय 9

मौर्यकालीन सभ्यता और संस्कृति

इतिहास केवल राजा-रानियों, सम्राटों, युद्ध और योद्धाओं की कहानी मात्र नहीं है। इतिहास के माध्यम से हम बीते युग के जन-जीवन के विविध पक्षों की जानकारी कर उस युग के उपयोगी अनुभवों का लाभ उठाते हैं। इस दृष्टि से मौर्य युग के भारतीय इतिहास का विशेष महत्त्व है। मौर्यकाल के ऐतिहासिक साहित्य—जैसे कौटिल्य का अर्थशास्त्र, यूनानी राजदूत मेगस्थनीज की इण्डिका तथा सम्राट अशोक के अभिलेखों से पता चलता है कि वस्तुतः मौर्यकाल में राजनीतिक एकता तथा प्रशासनिक सुव्यवस्था के साथ भारतीय जन-जीवन के सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक पक्षों में कई महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक परम्पराओं का विकास हुआ।

सामाजिक जीवन

वर्ग विभाजन—मौर्य युग में भारतीय समाज में परम्परानुसार वर्ण-व्यवस्था विद्यमान थी। यद्यपि मेगस्थनीज ने मौर्य युग के समाज को दार्शनिक, किसान, ग्वाले, वैश्य, कारीगर, निरीक्षक तथा अमात्य, इन सात वर्गों में विभाजित बताया है। किन्तु, मेगस्थनीज का यह विवरण भारतीय समाज व्यवस्था के उचित ज्ञान के अभाव में उस युग के प्रचलित व्यवसायों के आधार पर दिया गया लगता है। कारण कि कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' से स्पष्ट पता चलता है कि मौर्ययुगीन भारत में समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र, इन चार वर्गों में विभक्त था। किन्तु, इस युग में वर्ण व्यवस्था का रूप जटिल हो गया था। ब्राह्मणों को सर्वाधिक सम्मानित स्थान प्राप्त था। चार वर्ण अनेक जातियों में विभक्त थे। जाति-प्रथा का स्वरूप भी बड़ा जटिल था। जातियों में आपस में लेन-देन और खान-पान पर प्रतिबन्ध था। हां कभी-कभी अन्तर्जातीय विवाह होते थे।

स्त्रियों की दशा—मौर्य युग में भारत में स्त्रियों को किन्हीं सीमाओं में सम्मानित स्थान प्राप्त था। स्त्रियों पुरुषों के साथ धार्मिक एवं सामाजिक समारोहों में भाग लेती थीं। स्त्रियों को पुनर्विवाह, सम्बन्ध विच्छेद के तथा पारिवारिक सम्पत्ति पर अधिकार प्राप्त थे। बौद्ध भिक्षुणियों के रूप में वे स्वतन्त्र रह सकती थीं। स्त्रियाँ अंगरक्षिकाओं एवं गुप्तचर के रूप में भी कार्य करती थीं। इतना होने पर भी पुरुषों की तुलना में स्त्रियों को कम अधिकार प्राप्त थे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में स्त्रियों की स्वतन्त्रता और उच्च शिक्षा पर प्रतिबन्ध का जिक्र है। इससे स्पष्ट होता है कि नारी की समाज में स्थिति कमजोर होने लगी थी। उन्हें अपना अधिक समय घर पर ही बिताना पड़ता था। डॉ० भण्डारकर का मत है कि मौर्य युग में पर्दा प्रथा प्रचलित थी।

विवाह—मौर्ययुगीन समाज में साधारणतया पुरुष एक पत्नी रखते थे, किन्तु सामाजिक व्यवस्था में बहु-विवाह-प्रथा प्रचलित थी। मेगस्थनीज के विवरण, अशोक के अभिलेखों और कौटिल्य के अर्थशास्त्र से पता चलता है कि महिला के निःसन्तान होने अथवा केवल पुत्रियां ही होने पर पुरुष दूसरा विवाह कर सकता था। पुरुषों की तरह स्त्रियों को भी पति के मर जाने या विदेश जाकर लम्बे समय तक नहीं लौटने पर दूसरा विवाह करने का अधिकार था। साधारणतया बारह वर्ष की अवस्था में लड़की और सोलह वर्ष की अवस्था में लड़का विवाह योग्य माना जाता था।

रहन-सहन एवं खान-पान—मेगस्थनीज के वर्णनों से पता चलता है कि मौर्यकाल में लोगों का जीवन स्तर उन्नत था। अच्छे पहनावे और अच्छे भोजन का लोगों को शौक था। यद्यपि भोजन में अन्न, फल आदि के अतिरिक्त मांस-मदिरा का भी प्रयोग होता था, किन्तु बौद्ध एवं जैन धर्म के प्रभाव के कारण इनके प्रयोग में कमी आती जा रही थी। इन वस्तुओं की दूकानों पर राज्य का नियन्त्रण रहता था।

आमोद-प्रमोद—मौर्यकाल में गायन, वादन, नृत्य, नाटक, रथदौड़, घुड़दौड़, पशु-युद्ध, शिकार आदि लोगों के मनोरंजन के प्रमुख साधन थे। जुए का प्रचलन था। सम्राट विहार यात्राएँ करते थे। कई प्रकार के उत्सव एवं मेलों का आयोजन होता था। सामान्यतः जन-जीवन आनन्दपूर्ण था।

उन्नत नैतिक स्तर—मौर्ययुगीन भारतवासियों के जीवन का नैतिक स्तर काफी उन्नत था। लोग सामाजिक एवं राजकीय नियमों का तत्परता से पालन करते थे। झूठ, चोरी आदि से आम लोग घृणा करते थे। झगड़े बहुत कम होते थे। लोग बड़े ईमानदार थे। मेगस्थनीज लिखता है कि घरों पर ताले नहीं लगाये जाते थे। न्यायालय की शरण में बहुत कम लोग जाते थे। सामान्य रूप में जनजीवन पूर्णतया सुखी एवं शान्तिमय था।

आर्थिक दशा

कृषि—मौर्य युग में भारतीय लोगों का जीवन समृद्धिपूर्ण था। आर्थिक दृष्टि से देश सम्पन्न था। भारतीयों का मुख्य व्यवसाय कृषि था। कृषकों की संख्या अधिक थी। विभिन्न प्रकार के अन्न, फल-सब्जियां आदि उत्पन्न किए जाते थे। कृषि के विकास के लिए राज्य सरकार प्रयत्नशील थी। सरकार नहरों, झीलों आदि का निर्माण कर, कृषि-कार्य में सहयोग देती थी। भूमि की उपज बढ़ाने के लिए खेतों में खाद डाला जाता था। समग्र रूप में खाद्यानों की कमी नहीं थी। मेगस्थनीज लिखता है कि खाद्य वस्तुएँ साधारणतया मँहगी नहीं होती थीं।

उद्योग—कृषि के साथ ही मौर्यकाल में राजनैतिक एकता और शासन की सुव्यवस्था के कारण विभिन्न उद्योग-धन्धों का काफी विकास हुआ। सबसे उन्नत उद्योग वस्त्रोत्पादन का था। सूती, ऊनी और रेशमी कपड़े बनाए जाते थे। उन पर जरी का काम होता था। बनारस, महिष, वत्स, बंग, मदुरा आदि बारीक एवं जरीदार वस्त्रों के उत्पादन के लिए प्रसिद्ध थे। खानों से तरह-तरह की धातु

निकला, पिघला-साफ कर उसके विविध बर्तन, शस्त्र और गहने बनाए जाते थे। लकड़ी की बड़ी-बड़ी नावें तथा जहाज और छोटी-बड़ी वस्तुएँ-मंजूषा आदि निर्मित की जाती थीं। हाथी-दाँत से लकड़ी की वस्तुओं पर नक्काशी का काम होता था। चमड़े की विविध वस्तुएँ बनाई जाती थीं।

व्यापार—उद्योगों के विकास के साथ-साथ मौर्य युग में आन्तरिक एवं बाह्य व्यापार में भी काफी प्रगति हुई। उस युग में चीन, सीरिया, मिस्र, यूनान आदि देशों से भारत का व्यापारिक सम्बन्ध था। कौटिल्य ने लिखा है कि उत्तरी भारत के कम्बल, शाल आदि विदेशों को भेजे जाते थे। पश्चिमी देशों से मीठी शराब और अंजीर, चीन से रेशम और नेपाल से ऊन मँगवाया जाता था। समुद्री मार्ग से भी व्यापार होता था। राज्य जहाजों का निर्माण कर उन्हें किराये पर देता था। व्यापारी श्रेणियों में विभक्त थे। हर श्रेणी में एक 'सेठ' या 'मुख्य होता था। व्यापारिक लेन-देन में सिक्कों का प्रचलन था। सोने का सिक्का 'निष्क', चाँदी का 'धरण' और ताँबे का 'कर्षापण' कहलाता था।

धार्मिक दशा—आपको स्मरण होगा कि अशोक ने तत्कालीन भारत में विद्यमान वैदिक, जैन, बौद्ध आदि धर्मों के प्रति समभाव रखा था। इससे स्पष्ट होता है कि उस समय इन तीनों धर्मों को प्रोत्साहन प्राप्त था। अशोक से पहले वैदिक धर्म का बोलबाला था। वैदिक यज्ञ, कर्मकाण्ड, श्राद्ध आदि प्रचलित थे। इस समय तक भक्ति प्रधान भागवत सम्प्रदाय का भी विकास हो चुका था। विष्णु और कृष्ण की मूर्तियाँ बनाईं जाकर उनकी विविध प्रकार से पूजा होती थी।। शिव की उपासना भी प्रचलित थी। मौर्य युग में सन्यास की प्रथा प्रबल रूप में प्रचलित थी। संन्यासियों का सम्मान होता था। इन्हें अशोक खूब दान देता था। लेकिन, इस प्रवृत्ति को रोकने हेतु कौटिल्य ने लिखा है कि कोई व्यक्ति यदि बिना अपने परिवार के सदस्यों के निर्वाह की व्यवस्था किए संन्यास ले ले, तो उसे राज्य को दण्ड देना चाहिए। भोजनादिक के विषय में कठोरता बरतने वाले आजीवकों को भी राज्य का संरक्षण प्राप्त था। उनके निवास हेतु अशोक और दशरथ ने गुफाएँ दान में दी थीं। यद्यपि जैन धर्म उन्नति पर था। सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य और सम्प्रत्ति जैन धर्म के अनुयायी थे। अशोक के काल में बौद्ध धर्म भी स्थविरवाद और महासांघिक शाखाएँ बन चुकी थीं। फिर भी अशोक के अनवरत प्रयत्नों से बौद्ध धर्म सार्वभौम बन चुका था और विदेशों में भी इसका खूब प्रसार हो चुका था।

सम्पूर्ण दृष्टि से लोगों का आचार-विचार अच्छा था। ब्राह्मण पवित्र और शुद्ध जीवन बिताते थे। अशोक के व्यक्तिगत आचरण और उपदेशों के परिणामस्वरूप सम्पूर्ण देश में लोगों के आचार-विचार उच्च थे। समाज का नैतिक स्तर भी काफी उन्नत था। स्वयं अशोक ने अपने सातवें शिलालेख में लिखा है कि "प्रजा ने उसके आदेशों का पालन किया है। जो भी अच्छे कार्य मैंने किये हैं, प्रजा ने उनका अनुसरण किया है, वे उन्हीं के अनुसार आचरण कर रहे हैं।"

साहित्य—मौर्यकाल में भारत में तीन भाषाएं प्रचलित थीं–संस्कृत, मागधी-प्राकृत तथा पाली। ये क्रमशः भारत के उत्तरी-पश्चिमी भाग, पूर्वी भाग और मध्य देश में बोली जाती थीं। भाषा के साथ ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपियों का प्रचलन था। उन भाषाओं में वैदिक, बौद्ध और जैन साहित्य का मौर्यकाल में पर्याप्त सृजन हुआ। वैदिक साहित्य के रूप के गृह्यसूत्र,धर्मसूत्र और वेदांग ग्रन्थों की रचना इसी काल में हुई। विशुद्ध साहित्य के रूप में भास के प्रसिद्ध नाटक 'स्वप्नवासवदत्तम्' की रचना भी इसी काल में हुई। कौटिल्य का अर्थशास्त्र, जो दर्शन और राजनीति का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, इसी काल में लिखा गया यह पूरा साहित्य संस्कृत में रचा गया था। इसके अतिरिक्त अशोक के प्रयत्नों से विकसित होने वाले बौद्ध धर्म से सम्बन्धित पालि भाषा के कई ग्रन्थों की रचना भी इस युग में हुई।

शिक्षा—साहित्य की भांति शिक्षा भी मौर्यकाल में उन्नत हुई। मौर्य युग में तक्षशिला, उज्जैन, बनारस और राजगृह उच्च शिक्षा के केन्द्र थे। यहाँ धर्म और साहित्य की शिक्षा दी जाती थी। शिक्षा कार्य शिक्षकों व संघों के हाथ में था। आम जनता में शिक्षा का प्रचार था। अशोक के अभिलेख यह बताते हैं कि आम जनता साक्षर थी।

कला—सामान्य रूप में भारतीय कला का इतिहास सिन्धु घाटी की सभ्यता से प्रारम्भ होता है। किन्तु भारत में सुगठित एवं सुव्यवस्थित कला के युग का प्रारम्भ मौर्यकाल में ही हुआ। मौर्य युग से पहले भारत में कलात्मक दृष्टिकोण भावना, तथा हुनर अवश्य विद्यमान था। परन्तु मौर्य युग से पहले कलात्मक अभिव्यक्ति के उपादानों (साधनों व वस्तुओं) और राजकीय प्रश्रय एवं शान्तिमय सुव्यवस्थित जनजीवन के अभाव में भारतीय कलाकारों को अपनी भावनाओं को पूर्णतया अभिव्यक्त करने के अवसर बहुत कम मिले थे। कलात्मक अभिव्यक्ति के लिए अधिकांश लकड़ी, कच्ची ईंटें, मिट्टी, हाथी दाँत और धातु ही साधन के रूप में काम आते थे और राजनीतिक अस्थिरता के कारण कला के विकास के लिए अनुकूल वातावरण भी नहीं बन पाता था। किन्तु, मौर्य साम्राज्य की स्थापना के साथ ही पहली बार भारत में राजनीतिक अस्थिरता का अन्त हुआ और देश में शान्ति एवं समृद्धि का वातावरण बना। फलतः इस युग में स्वभावतया कलाकारों को अपनी कलात्मक अभिव्यक्ति के अवसर मिलने लगे। इस स्थिति को मौर्य सम्राटों ने और मुख्यकर सम्राट अशोक ने कला और कलाकारों को प्रश्रय प्रदान कर और आगे बढ़ाया। परिणामस्वरूप मौर्यकाल में भारतीय कला के क्षेत्र में पर्याप्त प्रगति हुई।

शिल्प-कला—मौर्यकाल में कला के जिस क्षेत्र में अभूतपूर्व प्रगति हुई, वह शिल्पकला का क्षेत्र था। मौर्यों से पहले भारत में शिल्पकला में पत्थर का प्रयोग नहीं के बराबर होता था। यहाँ तक कि सम्राट चन्द्रगुप्त के समय तक भवनों आदि के निर्माण में लकड़ी, मिट्टी आदि का प्रयोग होता था। किन्तु सम्राट अशोक के

काल के इस क्षेत्र में पत्थर एवं विशिष्ट प्रकार के मसालों का प्रयोग होने लगा और इन साधनों-उपादानों के प्रयोग के आधार पर शिल्पकला के विविध स्मारकों का निर्माण हुआ। मौर्य युग में होने वाली शिल्पकला की प्रगति को समझने की दृष्टि से इसे दो भागों में बांटा जा सकता है—(1) स्थापत्य कला, (2) मूर्तिकला।

स्थापत्य कला—मौर्ययुगीन स्थापत्य-कला के स्मारक चार रूपों में मिलते हैं—(1) स्तम्भ (2) स्तूप (3) भवन और (4) गुहा-गृह। इस युग की स्थापत्य कला के इन चारों रूपों में उन्नत कलात्मकता के दर्शन होते हैं।

1. स्तम्भ—मौर्यकालीन स्थापत्य कला के उत्तम नमूनों के रूप में अशोक द्वारा बनवाए गए पाषाण-स्तम्भों का प्रमुख स्थान है। अशोक के काल में निर्मित ऐसे लगभग तीस स्तम्भ भारत के विभिन्न भागों में प्राप्त हुए हैं। भारतीय एवं विदेशी स्थापत्य-कला विशेषज्ञ अशोक के इन स्तम्भों को मौर्ययुगीन स्थापत्य कला के सर्वोच्च प्रतिनिधि मानते हैं। अशोक के काल में निर्मित ये स्तम्भ पत्थर के शुण्डाकार (हाथी की सूँड के आकार), किन्तु उपर की ओर पतले और नीचे की ओर मोटे हैं। आम तौर पर ये काफी भारी और लम्बे है। इनकी लम्बाई लगभग 40 से 50 फीट तक है। इन स्तम्भों की कला को समझने की दृष्टि से कला-विशेषज्ञों ने प्रत्येक पाषाण-स्तम्भ को तीन भागों में बाँटा है। अशोक के पाषाण-स्तम्भ के तीन भागों में एक—भूमि के अन्दर का गड़ा हुआ भाग, दूसरा—मध्य का लम्बा दण्ड भाग, और तीसरा—ऊपर का शीर्ष भाग सम्मिलित है। कला-विशेषज्ञों ने इन तीनों भागों की अलग-अलग विशेषताएँ बताई हैं।

स्तम्भ के नीचे का भाग, जो भूमि में गाड़ा जाता था, वह मोर (पक्षी) की आकृति का बना है। इसी के आधार पर चन्द्रगुप्त के पिता को मोर पालने वाला माना जाता है।



चित्र : अशोक स्तम्भ

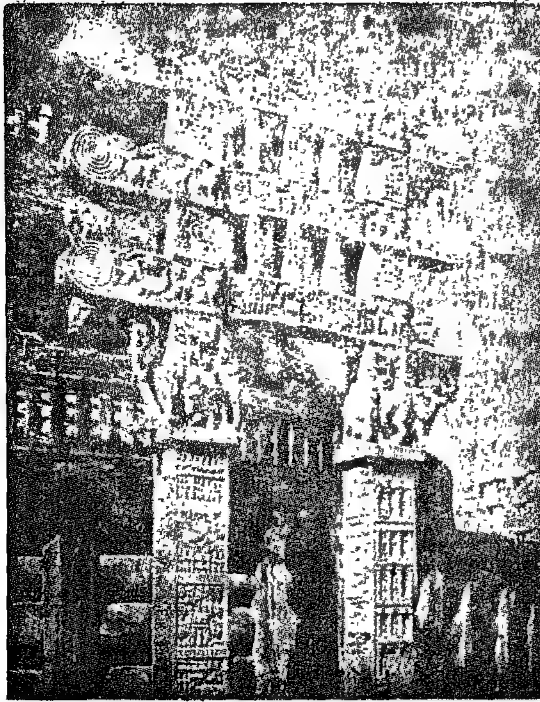
स्तम्भों के मध्य का एक भाग सीधा और शुण्डाकार है जो एक ही विशाल बलुए या लाल पत्थर का बना है। इन स्तम्भों पर एक विशेष प्रकार का लेप किया गया है जिसकी चिकनाई, पालिश और चमक आश्चर्य में डालने वाली है। ऐसा लेप किन वस्तुओं से, किस प्रकार तैयार किया जाता था इसके

रहस्य को अब तक नहीं बताया जा सका है इसके आधार पर इन स्तम्भों को बनाने वाले कलाकारों का चातुर्य और उच्च स्थापत्य ज्ञान प्रकट होता है।

इन स्तम्भों का तीसरा भाग कला की दृष्टि से विशेष महत्त्व रखता है। हर स्तम्भ के ऊपरी भाग पर एक पत्थर के टुकड़े को हाथी, घोड़ा, सांड अथवा सिंह के आकार में तराश कर लगाया गया है। किन्हीं-कीन्हीं स्तम्भों पर पशुओं की ये आकृतियां चारों ओर बनी हैं और उनके पीठ के हिस्से बीच में मिले हुए हैं। इस का अंकन सारनाथ स्तम्भ के शीर्ष भाग पर चार सिंहों के रूप में किया गया है और मुजफ्फरपुर जिले में समेलपुर नामक गाँव में मिले स्तम्भ शीर्ष पर चार सांडों के रूप में किया गया है। इन पशु आकृतियों के नीचे महात्मा बुद्ध के धर्मचक्र प्रवर्तन का आकृति चिह्न 'चक्र' खुदा हुआ है, जिसके आस-पास सांड, घोड़े आदि उत्कीर्ण हैं। इसके नीचे आमतौर पर कमल को तराशा गया है। इन कमल की आकृति के आधार पर कुछ विद्वान मौर्यकला पर ईरानी प्रभाव को मानते हैं। अशोक के इन स्तम्भों में सारनाथ के स्तम्भ का शीर्ष भाग कला की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ है। इस पर बनी चार सिंहों की आकृतियां, उनकी गठीली मांसपेशियां, उनके गर्दन के बालों की बारीक लहरदार खुदाई वस्तुतः दर्शनीय एवं प्रशंसनीय है। यह मौर्य युग की यथार्थ-वादी स्वाभाविक कलात्मक अभिव्यक्ति। सर जान मार्शल ने इसे मौर्ययुगीन कला का सर्वोत्कृष्ट नमूना स्वीकार किया है। इस प्रकार अपने सम्पूर्ण रूप मे मौर्ययुगीन स्तम्भ शिल्प एवं तक्षण कला का उत्तम उदाहरण पेश करते हैं। वास्तव में, प्राकृतिक चट्टानों से ऐसे विशाल पत्थर काटना, उन्हें यथास्थान लाना, उन पर चमकदार पालिश करना तथा उन्हें तराशना मौर्ययुगीन कलाकारों की दक्षता और कलात्मकता का ही प्रतीक है।

2. **स्तूप**—मौर्यकालीन स्थापत्य स्मारकों में स्तूपों का स्थान भी महत्त्वपूर्ण है। वैसे स्तूप निर्माण की परम्परा मौर्ययुग से पहले ही प्रचलित हो गई थी। किन्तु अशोक के ही युग में स्तूपों के निर्माण को विशेष प्रोत्साहन मिला। 'स्तूप' ईंटों या पत्थर के उँचे टीले से गुम्बदाकार स्मारक हैं। किन्हीं-किन्हीं स्तूपों के चारों ओर पत्थर, ईंटों की कलात्मक खुदाई या ईंटों की जालीदार बाढ़ लगाई गई है। इन स्तूपों का निर्माण बुद्ध अथवा बोधिसत्व (सत्य ज्ञान प्राप्त बौद्ध मतावलम्बी) के अवशेष रखने के लिए किया जाता था। अशोक के लिए कहा जाता है कि उसने ऐसे 84,000 स्तूप बनवाए थे। किन्तु, उन सब में मध्य भारत में भोपाल के निकट सांची का स्तूप सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इसकी उँचाई $77\frac{1}{2}$ फीट, व्यास $121\frac{1}{2}$ फीट और चारों ओर लगी बाढ़ की ऊँचाई 11 फीट है। इस स्तूप का अशोक के बाद और विस्तार करवाया गया था। इस स्तूप की बाढ़ और तोरण द्वारों की कला बड़ी आकर्षक एवं सजीव है।

3. **भवन**—मौर्य काल के स्थापत्य स्मारकों में राज प्रासाद या भवन भी अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। चन्द्रगुप्त मौर्य के राजमहलों को देखकर एक यूनानी



चित्र : सांची के स्तूप का प्रवेश-द्वार

लेखक ने लिखा है कि, 'चन्द्रगुप्त के भवन ईरान से सूसा और एकबढ़ाना के भवनों से सजावट और कला में अधिक सुन्दर हैं।' चन्द्रगुप्त के समय तक भारत में भवनों और मकानों का निर्माण लकड़ी व ईंटों से होता था। किन्तु, अशोक के समय से इस क्षेत्र में पत्थरों का प्रयोग शुरू हुआ। अशोक को स्थापत्य-निर्माण का बड़ा शौक था। आप पढ़ चुके हैं कि उसने कश्मीर और नेपाल में दो महानगरों की रचना भी करवाई थी। उसके द्वारा बनवाए गए पाटलीपुत्र के एक महल की कला और सुन्दरता को देखकर गुप्तकाल में भारत की यात्रा करने वाला चीनी यात्री फाह्यान भी आश्चर्यचकित हो गया था। फाह्यान ने लिखा था कि, "अशोक के महल व भवनों को देखकर लगता है कि इस लोक के मनुष्य इन्हें नहीं बना सकते। ये तो देवताओं द्वारा बनवाए गये होंगे।" यदि समय बीतने के साथ अब मौर्यकाल की उन्नत स्थापत्य कला को बताने वाले भवनों के अवशेष अब नहीं रहे हैं, किन्तु यूनानी एवं चीनी यात्रियों के विवरणों और पुरतात्विक खुदाई में निकले मौर्ययुगीन भवनों के अवशेष इस बात के प्रमाण हैं कि भवन-निर्माण कला में भी मौर्ययुग के कलाकार दक्ष थे।

4. गुहागृह—मौर्ययुग के स्थापत्य-कला-स्मारकों में गुहागृहों का अपना अलग महत्त्व है। पर्वतों की कठोर चट्टानों को काटकर उन्हें निवास-गृह, उपासना-गृह और सभा-भवनों का आकार देना भारतीय स्थापत्य-कला की अपनी निजी शैली है। वस्तुतः स्थापत्य की इस शैली का भारत में प्रारम्भ मौर्ययुग से ही माना जाना चाहिए। मौर्य सम्राट अशोक एवं उसके पौत्र दशरथ ने ऐसे कई गुहा-गृह बनवाए और अलग-अलग धार्मिक सम्प्रदायों के साधु-संन्यासियों को रहने के लिए भेंट किए। मौर्य युग में निर्मित ऐसे गुहागृह नागार्जुन की पहाड़ियों में बने हैं। इन्हें देखकर उस युग के उन्नत स्थापत्य ज्ञान और कलाकारों की दूरदर्शिता, कलात्मकता एवं दक्षता का परिचय मिलता है। वस्तुतः ये गुहागृह उस युग के कलाकारों के परिश्रम, साधना लगन और कलाप्रेम के परिचायक हैं।

मूर्तिकला—मौर्य काल में कला का क्षेत्र भवनों, स्तूपों और स्तम्भों तक ही सीमित नहीं रहा, मूर्तिकला भी उन्नत हुई। मौर्य युग की मथुरा के पास पारखम में मिली यक्ष की मूर्ति, बेसनगर की स्त्री की मूर्ति तथा पटना और दीदारगंज से मिली मूर्तियाँ विशेष कलात्मक और उल्लेखनीय हैं। इनका आकार वृहद और आकर्षक है। अशोक के सारनाथ के स्तम्भ पर बनी चार शेरों की मूर्ति को देखकर तो इतिहासकार डॉ. स्मिथ ने कहा है कि, "इतनी प्राचीन और इतनी सुन्दर पशुओं की मूर्तियां किसी भी देश में पाना दुर्लभ है।" रामपूर्वा के स्तम्भ के शीर्ष भाग की सांड की मूर्ति में भी सजीवता और स्वाभाविकता दिखाई देती है। जॉन मार्शल के शब्दों में, "वह अनुपम है, प्राचीन संसार में उस जैसी प्रभावशाली कोई मूर्ति उपलब्ध नहीं है।"

चित्रकला—मौर्यकाल में चित्रकला के क्षेत्र में भी प्रगति होने लगी थी। बौद्ध शैली के चित्रों की रचना मौर्य युग में प्रारम्भ हो गई थी।

मौर्यकाल की कला के इन उत्कृष्ट नमूनों को देखकर बहुत से विद्वान् कहते हैं कि मौर्यकला अपने मूल में भारतीय नहीं है, उसको ईरानी कला से प्रेरणा मिली है। किन्तु, यह अतिशयोक्ति है। वस्तुतः मौर्य कला अपने मूल में भारतीय भावनाओं से पूर्ण है। मौर्यकला में शानदार व चिरस्मरणीय शिष्टकला के दर्शन होते हैं। वह भारतीय कला के इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण परिच्छेद है। किन्तु कला, साहित्य, धर्म और समाज की समृद्धि व उन्नति तब ही होती है, जब राष्ट्र में शान्ति और सुव्यवस्था बनी रहे और सांस्कृतिक जीवन के विकास के लिए शासक वर्ग अथवा राज्य का संरक्षण प्राप्त हो और मौर्य शासकों ने अपने साम्राज्य की उन्नति के लिए ऐसा सब कुछ करने का प्रयत्न किया। परिणामस्वरूप देश में साँस्कृतिक विकास सम्भव हुआ।

अध्ययन का उपयोग

निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर दीजिये और अपने अध्ययन को उपयोगी बनाइये—

1. मौर्ययुग में वर्ण-व्यवस्था एवं जाति-प्रथा का स्वरूप किस प्रकार का था?

2. मौर्ययुग में स्त्रियों को क्या-क्या अधिकार प्राप्त थे ?
3 मौर्ययुग में साहित्य के क्षेत्र में क्या प्रगति हुई ?
4. मौर्यकाल में भारत में किन-किन धार्मिक विचारधाराओं का विकास हुआ ?

अध्ययन की जाँच

सही उत्तर का क्रमाक्षर कोष्ठक में लिखिए—

1. भारत ने मौर्यकाल में जिस पुस्तक की रचना की थी, वह है —
   (क) वासवदत्ता (ख) स्वप्नवासवदत्तम्
   (ग) रघुवंश (घ) मेघदूत ( )
2. अशोक के समय से भारतीय स्थापत्य-निर्माण में जो सबसे बड़ा परिवर्तन आया, वह था—
   (क) भवनों में गुम्बदों का प्रयोग।
   (ख) भवन निर्माण में पत्थरों का प्रयोग।
   (ग) मन्दिरों के स्थानो पर स्तूपों का निर्माण।
   (घ) पत्थरों के स्तम्भों का निर्माण। ( )

सोच-विचार कर उत्तर दीजिये—

1 "किसी देश में साहित्य, कला व संस्कृति का विकास देश के शान्तिपूर्ण जीवन में सम्भव होता है।" मौर्यकाल के कलात्मक विकास से यह बात कैसे स्पष्ट होती है ?

3. "मौर्यकालीन कला पर ईरानी प्रभाव नजर आता है"। इस कथन को आप कहाँ तक उपयुक्त मानते हैं ?

निम्नलिखित क्रियात्मक कार्य भी कीजिए और अपना कौशल बढ़ाइए—

1. मौर्यकालीन स्थापत्य स्मारकों तथा अशोक के स्तम्भों के चित्रों को एकत्रित कीजिए और एलबम बनाइये।

पूरक अध्ययन ग्रन्थ

1. के. ए. नीलकण्ठ शास्त्री : नन्द-मौर्ययुगीन भारत
2. भगवतशरण उपाध्याय : प्राचीन भारत का इतिहास
3. डॉ० विमलचन्द्र पाण्डेय : भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास।

———

अध्याय 10

सातवाहन साम्राज्य एवं समकालीन उत्तरी भारत

अशोक के उत्तराधिकारियों के समय मौर्य साम्राज्य छिन्न-भिन्न होकर मात्र मगध तक ही सीमित रह गया। इसी बिगड़ती हुई स्थिति में अन्तिम मौर्य शासक 'वृहद्रथ' की उसके ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने हत्या कर 184 ई. पू. में मौर्य साम्राज्य का अन्त कर दिया और मगध के सिंहासन पर शुंग वंश की राजसत्ता स्थापित की। लेकिन मगध पर शुंग वंश का अधिकार मात्र 112 वर्ष तक ही रह पाया और इस वंश के अन्तिम शासक 'देवभूति' को मार कर उसके मन्त्री वसुदेव कण्व ने मगध पर कण्व वंश का अधिकार स्थापित किया। कण्व वंशी शासक भी मगध पर केवल 45 वर्ष तक अधिकार रख पाये और अन्तिम कण्व शासक 'सुशर्मा' के समय एक सातवाहनवंशी सामन्त-शासक 'सिमुक' ने मगध पर आक्रमण कर अपना अधिकार कायम कर लिया।

सातवाहनों की जाति—कण्व वंश को समाप्त कर मगध पर अधिकार करने वाले सातवाहन कौन और किस जाति के थे, इस विषय पर इतिहासकारों में भारी मतभेद है। पुराणों में सातवाहनों को आन्ध्र जातीय कहा गया है। इसलिए सातवाहन वंश को आन्ध्र वंश भी कहा जाता है। सेनार तथा ब्यूलर आदि विद्वान नासिक के एक अभिलेख के आधार पर सातवाहनों को ब्राह्मण बताते है। किन्तु, डॉ. डी. आर. भण्डारकर तथा डॉ. के. गोपालचारी आदि इतिहासकार सातवाहनों को क्षत्रिय मानते हैं। डॉ. हेमचन्द्र रायचौधरी का कथन है कि सातवाहन नागों तथा ब्राह्मणों के मिश्रित रक्तवाला कुल था। इस प्रकार सातवाहनों की जाति के बारे में कोई एक निश्चित मत नहीं होने से यह प्रश्न अभी विवाद का विषय ही बना हुआ है।

सातवाहनों का मूल स्थान—सातवाहनों की जाति की तरह ही उनके मूल स्थान के बारे भी इतिहासकार एक मत नहीं हैं। डॉ. जायसवाल, प्रभाकर शास्त्री, रेप्सन तथा बर्नेट के अनुसार सातवाहनों का मूल निवास स्थान दक्षिणी भारत में कृष्णा और गोदावरी नदी के बीच का आन्ध्र प्रदेश था। डॉ. सुक्थंकर तमिलनाडु (मद्रास) के वेलारी जिले को सातवाहनों का मूल स्थान मानते हैं। प्रो० मिरासी बरार (विदर्भ) को इनका आदिस्थान मानते हैं। डॉ० हेमचन्द्र रायचौधरी के मतानुसार, सातवाहनों का मूल स्थान मध्यप्रदेश का दक्षिणी भाग था। किन्तु

प्रारम्भिक सातवाहन शासकों के अभिलेखों, सिक्कों तथा सातवाहनों के समकालीन कलिंग के राजा खारवेल के हाथीगुम्फा अभिलेख के आधार पर अधिकांश विद्वानों की मान्यता है कि सातवाहनों का मूल स्थान महाराष्ट्र था और उनकी राजधानी प्रतिष्ठान के निकट थी। आन्ध्र प्रदेश को उन्होंने बाद में जीता था।

सातवाहनों का उदय—सातवाहनों की जाति और मूल स्थान की भाँति उनके उदय काल के बारे में भी विद्वानों में विवाद है। डॉ. स्मिथ और रेप्सन सातवाहन वंश के संस्थापक सिमुक का उदय काल तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व मानते हैं। किन्तु हाथीगुम्फा अभिलेख तथा अन्य ऐतिहासिक स्रोतों के आधार पर यह अधिक उपयुक्त लगता है कि सातवाहनों का उदय ई. पू. प्रथम शताब्दी में हुआ था। डॉ राजबली पाण्डेय का मत है कि सातवाहन मूलतः दक्षिणी भारत के थे और 28 ई. पू. में (डॉ. रायचौधरी के अनुसार 60 ई. पू.) सिमुक ने मगध पर आक्रमण कर उत्तरी भारत में अपनी शक्ति कायम की थी।

उत्तरी भारत में सातवाहनों की शक्ति अधिक समय तक कायम नहीं रही। मगध पर अधिकार करने के कुछ समय बाद ही उत्तरी भारत पर होने वाले विदेशी आक्रमणों तथा इस भाग में स्थानीय राज्यों के उठने के कारण सातवाहनों का उत्तरी भारत से अधिकार समाप्त हो गया। लेकिन दक्षिणी भारत में इनकी शक्ति ईसवी सन् की तीसरी शताब्दी के मध्यकाल तक चलती रही और वे तत्कालीन भारत की एक प्रमुख शक्ति के रूप में बने रहे। इसी कारण सातवाहनों के काल में भारतीय राजनैतिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों का केन्द्र उत्तरी भारत से दक्षिणी भारत की ओर हट गया।

सातवाहन शासक—सातवाहन राज्य का संस्थापक सिमुक था। उसने कण्वों तथा शुंगों की शेष शक्ति को समाप्त कर अपना आधिपत्य स्थापित किया। उसके पश्चात् 'कह्न' (कृष्ण) सातवाहनों का शासक बना। उसने पश्चिमी नासिक तक अपने राज्य का विस्तार किया। कह्न के बाद सिमुक के पुत्र **श्रीशातकर्णी** ने सातवाहनों का राज्याधिकार प्राप्त किया। उसने अपने साम्राज्य की सीमाओं को बढ़ाया तथा मालवा के आस-पास तक के प्रदेशों को जीता। उसने अश्वमेध तथा राजसूय यज्ञ किए और 'दक्षिणपथपति' की उपाधि धारण की। लेकिन, श्रीशातकर्णी के बाद लगभग सौ वर्ष तक सातवाहनों की शक्ति दबी रही। इन सौ वर्षों में 'हाल' ही एक प्रसिद्ध राजा हुआ। हाल विद्वान और साहित्य-प्रेमी था।

गौतमीपुत्र शातकर्णी—लगभग सौ वर्ष के निर्बल समय के बाद सातवाहन वंश में गौतमीपुत्र शातकर्णी नामक शासक हुआ। यह सातवाहन वंश का सबसे प्रतापी राजा था। उसने अपने वंश की शक्ति और गौरव को खूब बढ़ाया। उसने शकों, यवनों, पह्लवों आदि विदेशियों की शक्ति को कमजोर किया। उसने शक क्षहरात नेहपान को हराया और महाराष्ट्र, कोंकण, नर्मदा घाटी, सुराष्ट्र, मालवा

और पश्चिम राजस्थान के प्रदेशों पर अपना अधिकार स्थापित किया। कलिंग और सुदूर दक्षिण के राज्यों को छोड़कर उसका साम्राज्य उत्तर में मालवा से दक्षिण में कनाडा तक फैला हुआ था। विजेता होने के साथ ही, गौतमीपुत्र शातकर्णी अच्छा प्रशासक एवं उदार शासक भी था। उसने अपने साम्राज्य में कई सामाजिक कुरीतियों को दूर किया और उत्तम न्याय-व्यवस्था कायम की। उसने 24 वर्ष तक शासन किया।

गौतमीपुत्र के उत्तराधिकारी—गौतमीपुत्र के बाद उसका लड़का **वसिष्ठीपुत्र पुलभावी** शासक बना। उसने भी सातवाहनों के साम्राज्य का विस्तार किया, किन्तु शकों ने उससे पश्चिमी राजस्थान एवं मालवा के भाग छीन लिए। उसके बाद उसका भाई **वसिष्ठीपुत्र शिवश्री शातकर्णी शासक बना**। लेकिन सातवाहनों का अन्तिम प्रतापी शासक **यज्ञश्री शातकर्णी था**। उसने शकों से उत्तरी कोंकण जीत कर अपने राज्य का खूब विस्तार किया। यज्ञश्री के बाद विजश्री, चन्द्रश्री तथा पुलुभावी द्वितीय शासक बने। किन्तु उनकी अयोग्यता के कारण इक्ष्वाकु, अभीर तथा पल्लव वंशियों ने सातवाहन साम्राज्य के विभिन्न भागों पर अपना अधिकार करना प्रारम्भ किया और तीसरी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में सातवाहनों की केन्द्रीय शक्ति समाप्त हो गई।

सातवाहन काल की संस्कृति

मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद से लेकर गुप्त साम्राज्य की स्थापना तक भारत में उठने वाले भारतीय राजवंशों में सातवाहनों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। राजनैतिक क्षेत्रों में अपनी सत्ता स्थापित कर सातवाहन शासकों ने देश के साँस्कृतिक विकास में भी पूर्ण रुचि ली। उन्होंने अपने साम्राज्य में कुशल शासन-व्यवस्था स्थापित कर कृषि, व्यापार-वाणिज्य, साहित्य तथा कला आदि के विकास में पूरा-पूरा योगदान दिया।

सातवाहनों का शासन-प्रबन्ध—सातवाहन शासक योद्धा एवं विजेता होने के साथ-साथ अच्छे प्रशासक भी थे। उनके शासन का स्वरूप राजतन्त्रात्मक था। राज्य की सर्वोच्च शक्ति राजा के पास होती थी, किन्तु सातवाहन शासकों का प्रमुख लक्ष्य जनता का हित करना था। प्रशासन का आधार ब्राह्मण धर्मशास्त्रों के नियम थे। प्रशासनिक कार्यों में सलाह और सहायता देने के लिए सातवाहन शासकों के कई मंत्री तथा उच्च पदाधिकारी होते थे। प्रशासनिक सुविधा की दृष्टि से सातवाहन साम्राज्य, 'अहारों' या 'जनपदों मे विभक्त था। जनपद का शासन-भार अमात्य, महासेनापति तथा स्थानीय सरदारों पर होता था। साम्राज्य की छोटी प्रशासनिक इकाइयों में नगर तथा ग्राम सम्मिलित थे। नगरों एवं ग्रामों में स्थानीय-शासन-संस्थाएँ होती थीं। प्रशासनिक खर्चे के लिए कृषि, व्यापारिक आयात-निर्यात तथा शिल्पियो से कर लिया जाता था। सातवाहन प्रशासन में सेना और पुलिस का भी

प्रमुख स्थान था। प्रत्येक 'आहार' या 'जनपद' में तथा गाँवों में सेना की टुकड़ियाँ रहती थीं, जो वहाँ शांति, सुरक्षा एवं सुव्यवस्था का प्रबन्ध करती थीं।

सामाजिक जीवन—सातवाहन साम्राज्य में व्यवसायों के आधार पर समाज चार वर्गों में बँटा हुआ था। समाज में ब्राह्मणों का स्थान सर्वोपरि था। समाज में सम्मिलित कुटुम्ब प्रणाली प्रचलित थी और परिवार का मुखिया वयोवृद्ध व्यक्ति होता था, जो 'गृहपति' कहलाता था। स्त्रियों का समाज में सम्मानजनक स्थान था। आवश्यक होने पर वे शासनिक कार्य भी करती थीं। सातवाहन काल में सामाजिक दृष्टिकोण उदारता लिए हुए था। अन्तर्जातीय मेलजोल बढ़ रहा था। बहुत से विदेशी हिन्दू समाज में घुलमिल गए थे। शास्त्रों के अनुसार अन्तर्जातीय विवाह अच्छे नहीं माने जाते थे, फिर भी समाज में इनका प्रचलन था। सम्पूर्ण रूप से सातवाहन युग में समाज जटिलताओं से मुक्त था तथा लोगों का जीवन सुख-शान्तिपूर्ण था।

आर्थिक दशा—सातवाहन शासन काल में जनता की आर्थिक स्थिति अच्छी थी। कृषि, उद्योग एवं व्यापार उन्नत अवस्था में थे। नासिक, प्रतिष्ठान, करहार आदि प्रमुख व्यापारिक नगर थे तथा भड़ोच, कल्याण, वैजयन्ती और सोपरा प्रमुख समुद्री बन्दरगाह थे। वहाँ से विदेशी व्यापार होता था। व्यापारियों तथा भिन्न-भिन्न व्यवसायियों के अलग-अलग संगठन बने होते थे, जिन्हें 'श्रेणी' या 'निकाय' कहा जाता था। इन श्रेणियों को राज्य की ओर से मान्यता प्राप्त होती थी। श्रेणियाँ अपने संगठन के सदस्यों के हितों का पूरा-पूरा ध्यान रखती थीं। बैंकों के रूप में रुपयों के लेन-देन का कार्य भी करती थीं। ब्याज लेने की प्रथा प्रचलित थी। व्यापारिक लेन-देन सोने, चाँदी व ताँबे के सिक्कों में होता था। सोने का सिक्का 'सुवर्ण' तथा चाँदी व ताँबे के सिक्के को 'कार्षापण' कहा जाता था। समग्र रूप में सातवाहन साम्राज्य में समृद्धि एवं सुख शान्ति थी।

धर्म—सातवाहन शासन काल ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान का काल था। उनके साम्राज्य में वैदिक-धर्म की प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई तथा विष्णु, शिव, स्कन्द आदि की पूजा का महत्त्व बढ़ा। सातवाहन राजा धार्मिक विचारों वाले तथा दान-पुण्य में विश्वास रखने वाले शासक थे। इन शासकों ने अश्वमेध, राजसूय आदि यज्ञ किए तथा ब्राह्मणों व गरीबों को कई प्रकार के दान दिए। वैदिक धर्म के प्रति आस्थावान होते हुए भी सातवाहन शासक धार्मिक दृष्टि से पूर्णतया सहिष्णु एवं उदार थे। उनके साम्राज्य में वैदिक, शैव, वैष्णव, बौद्ध आदि सभी धर्मों को उन्नति के समान अवसर प्राप्त थे। शासक बौद्ध श्रवणों एवं भिक्षुओं को भी उदारता से दान देते थे। भारत में आने वाले विदेशी वैदिक एवं बौद्ध धर्म ग्रहण करने लगे थे। समग्र रूप में सातवाहन काल धार्मिक दृष्टि से उदारता तथा सहिष्णुता का काल था और इसी कारण जनता का कोई भी वर्ग दबाया गया अनुभव नहीं करता था।

साहित्य और कला—सातवाहन शासक भाषा और साहित्य के पोषक थे।

उनके युग में प्राकृत भाषा की उन्नति हुई और इस भाषा मे विभिन्न प्रकार का साहित्य लिखा गया। सातवाहन शासक 'हाल' स्वयं प्राकृत भाग का अच्छा ज्ञाता एवं कवि था। उसने 'गाथा सप्तशती' नामक ग्रन्थ लिखा था। सातवाहनों के काल में ही 'गुणाढ्य' ने 'वृहत्कथा' नामक साहित्य ग्रन्थ तथा 'शर्ववर्मा' ने 'कातन्त्र' नामक व्याकरण ग्रन्थ की रचना की थी।

कला – साहित्य की भाँति सातवाहनों के संरक्षण में कला की भी प्रगति हुई। उनके शासन काल में कई मन्दिरों, बौद्ध गुहागृहों (गुफाओं) तथा स्तूपों का निर्माण हुआ। इस काल में बने गुहागृह दो प्रकार के थे–एक 'चैत्यगृह', जो मंदिरों के रूप में थे तथा दूसरे–'लयन' जो चट्टानों को काटकाट कर बनाई गुफाओं के रूप में भिक्षुओं के निवास-स्थान थे। स्थापत्य कला की दृष्टि से सातवाहन काल में बने कार्ले नासिक, कन्हरी आदि स्थानों के गुहागृह अनुपम एवं दर्शनीय हैं। इस काल में अमरावती, गुम्मदिदुरू, घन्टशालागोली आदि स्थानों पर स्तूपों का निर्माण करवाया गया था।

सातवाहनों के इस सम्पूर्ण विवरण से स्पष्ट होता है कि उन्होंने मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद राजनीतिक विघटन के युग में भी संघर्ष और परिश्रम कर भारतीय सभ्यता और संस्कृति की रक्षा की थी और उसे आगे बढ़ाने में पूरा-पूरा सहयोग दिया था।

समकालीन उत्तरी भारत

मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद शुंग, कण्व तथा सातवाहन शासकों ने उत्तरी भारत में शक्ति संस्थापना का प्रयत्न किया, लेकिन वे इसमें अधिक सफल नहीं हो सके तथा उत्तरी भारत कई छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हो गया। इस काल मे गंगा के दक्षिणी भाग में मथुरा, मगध, काशी तथा कौशाम्बी के स्वतन्त्र राज्य उठ खड़े हुए। पूर्व में विदेह, कौशल तथा पाँचाल राज्यों ने अपना स्वतन्त्र अस्तित्व कायम कर लिया। मध्य भारत में भरहुत, विदिशा तथा उज्जैन के राज्य अस्तित्व में आए। भारत के उत्तरी-पश्चिमी भाग में छोटे-छोटे राजतन्त्रात्मक एवं गणतंत्रात्मक राज्य उठ खड़े हुए तथा रावी और यमुना के बीच के भाग में स्वतन्त्र जातीय गणराज्यों का उदय हुआ। इस प्रकार उत्तरी भारत राजनीतिक दृष्टि से कई इकाइयों मे विभक्त हो गया। भारत की इस स्थिति का लाभ उठाना विदेशियों के लिए स्वाभाविक था। परिणामस्वरूप मौर्यों के पतन के बाद भारत पर उत्तर-पश्चिम की ओर से पुनः विदेशियों के आक्रमण होने लगे, जिसका नेतृत्व क्रमशः यूनानियों (बेक्ट्रियनों), शकों पह्लवों (पार्थियनों) तथा कुषाणों ने किया।

यूनानी इण्डो-बेक्ट्रियन

उत्तर-पश्चिमी भारत पर यूनानियों (बेक्ट्रियन) के आक्रमण—दूसरी शताब्दी ई॰ पू. के प्रारम्भिक काल में भारत पर सबसे पहले आक्रमण करने वाले यूनानी (बेक्ट्रियन) लोग थे। ये हिंदूकुश के उस पार बेक्ट्रिया मे रहते थे। मूलतः ये यूनानी थे, पर सैंकड़ों वर्ष पूर्व बेक्ट्रिया में आकर वहाँ उन्होंने अपने उपनिवेश स्थापित कर

लिए थे। कुछ समय पहले तक यह माना जाता था कि बेक्ट्रिया में यूनानियों के उपनिवेशों की स्थापना सिकन्दर के आक्रमण के समय हुई थी। किन्तु डॉ. वी. के. नारायण ने अपनी पुस्तक 'द इण्डोग्रीक्स' में कई प्रमाण प्रस्तुत करते हुए यह स्पष्ट

भारत के महासर्वेक्षक की अनुज्ञानुसार भारत सर्वेक्षण विभागीय मानचित्र पर आधारित।
इस मानचित्र में दिये गये भौगोलिक नामों का वर्णयोग प्रमाणिक नहीं है।

चित्र : शक, कुषाण और सातवाहन साम्राज्य

किया है कि अफगानिस्तान और बेक्ट्रिया में सिकन्दर के आक्रमण से पहले ही यूनानी उपनिवेश या बस्तियाँ विद्यमान थीं। सिकन्दर ने अपने आक्रमण के दौरान इन पर अधिकार कर लिया था और सिकन्दर के बाद उसके सेनापति सेल्यूकस के सीरीयाई साम्राज्य में बेक्ट्रिया सम्मिलित था। किन्तु 250 ई० पू० सेल्यूकस के सीरियाई साम्राज्य के दो भाग —बेक्ट्रिया तथा पार्थिया स्वतंत्र हो गए। हिन्दूकुश तथा आक्सस नदी के बीच का प्रदेश—बेक्ट्रिया, डियोडोटस प्रथम के नेतृत्व में स्वतन्त्र हुआ। बाद

में इस देश पर मैगनीशियावासी यूथीडेमस ने अधिकार कर लिया। ऐसा माना जाता है कि यूथीडेमस पर सीरिया के शासक एन्टियोकस तृतीय ने आक्रमण किया। किन्तु एन्टियोकस काबुल की घाटी से ही लौट गया। इसके बाद यूथीडेमस ने भारत की ओर बढ़ना प्रारम्भ किया। माना जाता है कि बेक्ट्रिया के यूनानी आक्रमणकारियों में से सबसे पहले यूथीडेमस ने भारत पर आक्रमण किया। किन्तु उसके बारे में कोई निश्चित जानकारी नहीं है।

भारत में यूनानी बेक्ट्रियाई राज्य की स्थापना—यूथीडेमस के बाद उसका पुत्र डेमेट्रियस बेक्ट्रिया का शासक बना। वह साहसी और महत्त्वाकाँक्षी था। उसने भारत पर आक्रमण कर शाकल (स्यालकोट), मथुरा, साकेत तथा विदिशा को जीत लिया। उसने मगध पर आक्रमण किया किन्तु पुष्यमित्र शुंग के हाथों वह परास्त हुआ। फिर भी, पख्तूनिस्तान, पश्चिमी पंजाब तथा सिन्ध पर उसका अधिकार हो गया। लेकिन, इसी समय डेमेट्रियस के भारत में रहने का लाभ उठाकर यूक्रेटाइडीज नामक व्यक्ति ने बेक्ट्रिया पर अपना अधिकार कर लिया। अतः डेमेट्रियस को वहाँ जाना पड़ा। परन्तु, उसे बेक्ट्रिया से यूक्रेटाइडीज को हटाने में सफलता नहीं मिली, बल्कि यूक्रेटाइडीज ने डेमेट्रियस के भारतीय राज्य के झेलम नदी के पश्चिम तक के भाग पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार भारत के उत्तर-पश्चिमी भाग पर यूनानियों (बेक्ट्रियनों) के दो राज्य स्थापित हो गए। एक यूथीडेमस और उसके उत्तराधिकारी डेमेट्रियस के वंशजों का तथा दूसरा राज्य यूक्रेटाइडीज और उसके वंशजों का। डेमेट्रियस के वंशजों का अधिकार पूर्वी पंजाब व सिन्ध पर था तथा यूक्रेटाइडीज के वंशजों का अधिकार पश्चिमी पंजाब और काबुल की घाटी पर था।

यूथीडेमस का पहला यूनानी राज्य—भारत में यूथीडेमस और उसके वंशधर डेमेट्रियस के पूर्वी पंजाब और सिन्ध के प्रदेश वाले राज्य पर डेमेट्रियस के बाद क्रमपूर्वक कौन-कौन से शासक बने, इसके बारे में स्पष्ट जानकारी नहीं है। लेकिन यूनानियों के इस राज्य में मिनण्डार नामक एक प्रसिद्ध राजा हुआ। वह महान विजेता था। भारत में अनेक स्थानों पर मिली उसकी मुद्राओं से यह कहा जा सकता है कि उसने एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी। इतिहासकारों के अनुसार इसका राज्य अफगानिस्तान के कुछ भाग, उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त, पंजाब, राजपूताना तथा काठियावाड़ तक था।

एक विजेता होने के साथ मिनण्डार कुशल और न्यायप्रिय शासक भी था। धर्म के क्षेत्र में वह बड़ा जिज्ञासु था। उसने नागसेन नामक बौद्ध-भिक्षु से कई प्रश्न कर अपनी जिज्ञासु-वृत्ति का परिचय दिया। सम्भवतः नागसेन के उत्तरों व उपदेशों से प्रभावित होकर उसने बौद्ध-धर्म अपना लिया। भारतीय साहित्य में इस शासक को 'मिलिन्द' कहा गया है। मिनण्डार की मृत्यु के बाद उसका पुत्र स्ट्रेटो प्रथम व स्ट्रेटो द्वितीय क्रमशः राजा बने। उसके बाद भी मिनण्डार के वंश में कई राजा हुए, किन्तु उनके बारे में निश्चित जानकारी नहीं है।

यूक्रेटाइडीज का दूसरा यूनानी राज्य--भारत में यूक्रेटाइडीज ने दूसरे यूनानी राजवंशों में एन्टियालकिडस नामक राजा सबसे प्रसिद्ध हुआ। उसने कपिशा पुष्कलावती व तक्षशिला पर शासन किया। इस वंश का अन्तिम राजा हर्मियस था। इसके शासन काल में कुषाणों ने उसके भारतीय साम्राज्य पर आक्रमण कर उसे अपने अधीन कर लिया। इस घटना के साथ ही भारत में इण्डो-बेक्ट्रियन (यूनानी) राज्य की समाप्ति हो गई।

भारतीय-यूनानी सम्पर्क के प्रभाव—दो विभिन्न संस्कृतियों का लम्बे काल तक मिलने, उनमें पारस्परिक आदान-प्रदान की प्रवृत्ति उत्पन्न कर देता है। भारत और यूनान का सम्पर्क भी इस तथ्य का अपवाद न रहा व दोनों की संस्कृतियों ने एक दूसरे को प्रभावित किया।

ज्योतिष— ऐसा माना जाता है कि ज्योतिष के क्षेत्र में भारत ने यूनानियों से कई बातें सीखीं। ज्योतिष के कई सिद्धान्तों जैसे भारतीय रोमन, ज्योतिष-पद्धति आदि पर यूनानी प्रभाव दिखाई देता है। गार्गी संहिता से ज्ञात होता है कि ज्योतिष के क्षेत्र में भारत यूनान से कई बातें सीखी हैं। प्रसिद्ध विद्वान वराहमिहिर ने यूनानियों को ज्योतिष का ज्ञाता होने से पूजनीय बताया है।

मुद्रा—मुद्रा के क्षेत्र में भी भारत ने यूनानियों से कई बातें सीखीं। इससे पहले भारतीय मुद्राओं का आकार न तो संतुलित होता था और न ही उन पर सुन्दर आकृतियाँ ही बनी होती थीं। चूँकि यूनानी मुद्राएँ सुन्दर होती थीं तथा राजाओं के नाम व आकृतियों वाली होती थीं, अतः भारत में भी इसी प्रकार की मुद्राएँ बनानी प्रारम्भ हुईं।

कला—कला के क्षेत्र में, विशेषतः मूर्तिकला के क्षेत्र में दोनों संस्कृतियों के सम्पर्क से भारत में एक नवीन शैली का विकास हुआ, जो गांधार-शैली के नाम से प्रसिद्ध है। इसका मुख्य क्षेत्र गांधार होने से इसे गांधार-शैली कहा जाने लगा। इस शैली में भावना भारतीय थी तथा बनावट यूनानी कला के अनुरूप होती थी।

धर्म व दर्शन—भारतीय संस्कृति के जिस क्षेत्र ने यूनानियों को सर्वाधिक प्रभावित किया, वह था—धर्म और दर्शन। कई यूनानी राजाओं ने भारतीय धर्म अपना लिया। मिनण्डार स्वयं बौद्ध धर्मावलम्बी बन गया था। एन्टियालकिडस का राजदूत हेलियोडोरस विष्णु का उपासक था। उसने बेसनगर में गरुड़ध्वज की स्थापना की थी। इसी प्रकार दर्शन के क्षेत्र में भी यूनानियों पर भारत का खूब प्रभाव पड़ा। भारत में अपनी राज्य-शक्ति के समाप्त होने पर भारत में आने वाले यूनानी आक्रमणकारियों ने समय के साथ भारतीय संस्कृति को अपना लिया और वे यहाँ के जीवन में इस प्रकार घुल-मिल गए कि पूर्णतः भारतीय बन गए।

शक

भारत पर शकों के आक्रमण—पहली शताब्दी ईसा पूर्व में यूनानियों (बेक्ट्रिनो)

के भारतीय राज्य का अन्त हो गया । इनके स्थान पर 'शक' नामक अन्य विदेशी जाति ने भारत में अपना राज्य स्थापित किया ।

शक मध्य एशिया में सीर नदी के उत्तर में 'जेग्जर्टिज' के निकट रहने वाली एक घुमक्कड़ जाति थी । इन्हीं के समीप पश्चिमी चीन में 'यहूची' नामक एक अन्य जाति रहती थी । लगभग 175 से 165 ई०पू० में यहूचियों पर एक अन्य घुमक्कड़ हूँगनू (हूण) जाति के लोगों ने आक्रमण किया । परिणामस्वरूप यहूदियों को अपना मूल स्थान छोड़ना पड़ा और उन्होंने शकों पर आक्रमण करके उनको उनके मूल स्थान से खदेड़ दिया । यहूचियों से परास्त होकर शक दो समूहों में बँट गये । उनका एक समूह पूर्वी ईरान तथा पार्थिया में होता हुआ शकस्थान में आकर बस गया और फिर वहाँ से कन्दहार और बलूचिस्तान होता हुआ सिंधु नदी की निचली घाटी में आकर बस गया । यहूदियों से परास्त होकर शकों का दूसरा समूह सीधा भारत की ओर बढ़ा और कि-पिन (बेक्ट्रिया के दक्षिण-पूर्व में स्थित प्रदेश, या कपिशा या काबुल अथवा कश्मीर और पंजाब) नामक स्थान पर आकर बस गया । कालान्तर में इन्हीं स्थानों को केन्द्र बनाकर ईसा पूर्व की पहली शताब्दी में शकों ने भारत पर आक्रमण कर भारत के एक विस्तृत भू-भाग पर अपना राज्य स्थापित किया । भारत में अपना आधिपत्य जमाने के बाद कभी शक्तिशाली और कभी कमजोर होते हुए शकों ने ईसवी सन् की तीसरी शताब्दी तक यहाँ शासन किया ।

भारतीय शक राज्य और उसके शासक—जॉन मार्शल के मतानुसार भारत में शकों का सबसे पहला शासक 'मावेज' था उसके शासन काल की तिथियाँ अनिश्चित हैं । कुछ विद्वान मावेज के शासन काल को 32 ई० पू० से 20 ई० पू० मानते हैं और कुछ 1 ई.पू० से 20 ई. तक का मानते हैं । कुछ भी हो, शक शासक मावेज एक शक्तिशाली राजा था । उसके राज्य में कश्मीर, पश्चिमी-पंजाब और गांधार का प्रदेश सम्मिलित था । तक्षशिला उसके राज्य का प्रमुख केन्द्र था । मावेज ने अपने राज्य के अलग-अलग भागों में शासन-संचालन के लिए क्षत्रप (गवर्नर) नियुक्त कर रखे थे ।

मावेज के बाद एजेज शकों का राजा बना । किन्तु, कुछ समय के बाद एजेज को उसके अधीनस्थ शासन करने वाले एजीलिसेस ने राज्य सिंहासन से हटा दिया और वह शकों के भारतीय राज्य का शासक बना । उसने लगभग बारह वर्ष तक शासन किया । इसके बाद एजेज द्वितीय शासक बना । इसने लगभग 43 ई० तक शासन किया । किन्तु उसके बाद पह्लव (पार्थियन) शासक फायेटीज ने तक्षशिला पर अधिकार कर लिया, जिसे हटाकर बाद में कुषाणों के नेता गोण्डोफर्नीज ने तक्षशिला पर अधिकार किया और इस प्रकार तक्षशिला से शकों के अधिकार का अन्त हुआ ।

शक क्षत्रप—भारत में शक शासकों ने एक विस्तृत राज्य स्थापित किया था । प्रशासन की दृष्टि से उनका राज्य कई प्रान्तों में विभक्त था । शक शासक इन प्रांतों

में शासन संचालन के लिए जिन अधिकारियों को नियुक्त करते थे, उन्हें 'क्षत्रप' कहा जाता था। सामान्यतया शकों के प्रत्येक प्रान्त में दो क्षत्रप होते थे–एक क्षत्रप और दूसरा महाक्षत्रप। वैसे शक क्षत्रप प्रारम्भ में शक शासकों के अधीन थे, लेकिन शकों की केन्द्रीय शक्ति के समाप्त हो जाने के पश्चात् भी एक लम्बे समय तक भारत में शक क्षत्रप शासन करते रहे। भारत में शक क्षत्रपों के मुख्य केन्द्रों को चार भागों में बाँटा जा सकता है—

(1) उत्तरी भारत के क्षत्रप (2) पश्चिम भारत के शक क्षहरात,
(3) मथुरा के क्षत्रप (4) उज्जयिनी के क्षत्रप।

उत्तरी भारत के क्षत्रप—उत्तरी भारत के शकों के मुख्यतः कपिश, पुष्पपुर, अभिसारप्रस्थ, कुसुलुक, मनिगुल, जिहोणिक तथा इन्द्रवर्मन शक क्षत्रप वंशों ने शासन किया। इसमें से कपिश, पुष्पपुर तथा अभिसारप्रस्थ वंशों ने आधुनिक काफिरिस्तान तथा तक्षशिला के उत्तर में स्थित प्रदेशों में राज्य किया तथा कुसुलुक, मनिगुल, जिहोणिक एवं इन्द्रवर्मन वंश के क्षत्रपों ने पंजाब के भागों में शासन किया।

पश्चिमी भारत के क्षत्रप—पश्चिमी भारत में जिस क्षत्रप वंश ने शासन किया, वह क्षहरात वंश के नाम से प्रसिद्ध है। क्षहरात वंश के क्षत्रपों के शासन का केन्द्र नासिक था। इसीलिए इनको नासिक के क्षत्रप भी कहा जाता है। इस वंश के प्रमुख शासकों में भूमक और नहपान का नाम प्रसिद्ध है। भूमक के अधिकार क्षेत्र में सौराष्ट्र और मालवा का प्रदेश था। डॉ० डी. सी. सरकार के अनुसार पश्चिमी राजस्थान और सिन्ध पर भी भूमक का अधिकार था।

पश्चिमी भारत के क्षत्रपों में नहपान का नाम सर्वाधिक उल्लेखनीय है। उसने अपने राज्य का काफी विस्तार किया था। उसके राज्य में सौराष्ट्र, पश्चिमी मालवा तथा राजस्थान सम्मिलित थे। उसने सातवाहन शासक गौतमीपुत्र शातकर्णी को पराजित कर महाराष्ट्र के भाग को जीत लिया था। किन्तु, नहपान क्षहरात वंश का अन्तिम शासक था। उसकी मृत्यु के पश्चात् इस शक राज्य का अन्त हो गया।

मथुरा के क्षत्रप—यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि मथुरा के शक वहाँ कब और कैसे पहुंचे। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि मथुरा में शक मालवा से आए थे। हगान और हगमाश मथुरा के सबसे पहले क्षत्रप थे, जिन्होंने वहाँ मिलकर शासन किया। इसके बाद 'राजवुल क्षत्रप बना। वह मथुरा के क्षत्रपों में सबसे प्रतापी था। उसने एक स्वतन्त्र शासक के रूप में राज्य किया। राजवुल के बाद उसका पुत्र 'सोडास' क्षत्रप बना। किन्तु उसके बाद मथुरा के क्षत्रपों की शक्ति क्षीण होती गई और सोडास के उत्तराधिकारी अन्य शासकों के अधीन राज्य करने लगे।

दक्षिण भारत (उज्जयिनी) के क्षत्रप—दक्षिण भारत में दूसरे शक क्षत्रप वंश का उदय हुआ। इनका प्रमुख केन्द्र उज्जयिनी था, अतः इन्हें उज्जयिनी के

क्षत्रप भी कहा जाता है। इस क्षत्रप वंश का संस्थापक यशोमति था, किन्तु इस क्षत्रप राज्य का पहला स्वतन्त्र शासक 'चष्टन' था। चष्टन बड़ा पराक्रमी था। उसी ने इस क्षत्रप वंश को राजपद दिलाया था। इस कारण उज्जयिनी का क्षत्रप वंश उसके नाम पर 'चष्टन' वंश कहलाता है। चष्टन के बाद इस क्षत्रप राज्य का अधिकारी 'रुद्रदामन' बना। वह उज्जयिनी के क्षत्रप शासकों में सबसे अधिक पराक्रमी था। उसने अपने साम्राज्य का खूब विस्तार किया। उसने अपने समकालीन सातवाहन राजा वासिष्ठीपुत्र शिव श्रीशातकर्णी को दो बार परास्त किया। उसके साम्राज्य में पूर्वी और पश्चिमी मालवा, द्वारका के आस-पास का प्रदेश, सुराष्ट्र, साबरमती नदी-तट–प्रदेश का कुछ भाग, सिन्ध, मारवाड़ तथा उत्तरी कोंकण के प्रदेश सम्मिलित थे।

एक विजेता होने के साथ-साथ रुद्रदामन अच्छा प्रशासक भी था। उसने अपने राज्य को प्रान्तों में बाँट रखा था। वह जनहित का ध्यान रखने वाला तथा विद्या-प्रेमी शासक था। उसने सौराष्ट्र में चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा बनवाई गई सुदर्शन झील की मरम्मत करवाई थी। वह संस्कृत भाषा और साहित्य का आश्रयदाता था। उसके शासन काल में उज्जयिनी का सभी दृष्टियों से विकास हुआ।

रुद्रदामन के बाद चष्टन वंश में उसका पुत्र दमघसद (दामोजदश्री) शासक बना और उसके पश्चात् जीवदामन शासक बना। इस क्रम में रुद्रदामन के बाद लगभग दो सौ वर्षों तक चष्टन वंश में कई राजा हुए। इस वंश का अन्तिम राजा रुद्रसिंह तृतीय था। इसी के काल में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने उस पर आक्रमण किया और उसे मार डाला। इसके साथ ही चष्टन वंश के शक क्षत्रप का अन्त हुआ।

शक भारत में विदेशी आक्रमणकारियों के रूप में आए थे, किंतु यहाँ आने के बाद वे भारतीय-जनजीवन में घुल मिल गए। यहाँ रहते हुए उन्होंने भारतीय आचार-विचार, धर्म और रहन-सहन को अपना लिया और यहाँ के लोगों के साथ वैवाहिक संबंध स्थापित किए। इस प्रकार वे भारतीय समाज के अंग बन गए।

पह्लव (पार्थियन)

पह्लव भी मौर्य साम्राज्य के पतन के पश्चात् बाहर से भारत में आक्रमणकारी के रूप में आने वाली एक जाति थीं। ये सिकन्दर के सेनापति सेल्यूकस के सीरयाई साम्राज्य के भाग 'पार्थिया' के निवासी थे। जिस समय बेक्ट्रिया का भाग सीरयाई साम्राज्य से अलग हुआ था, उसी समय पार्थिया भी स्वतन्त्र हो गया था। स्वतन्त्र पार्थिया का पहला शासक मिथ्रेडेट्स था। मिथ्रेडेट्स के नेतृत्व में ही 'पह्लवों' ने सबसे पहले भारत पर आक्रमण किया और यूनानी (बेक्ट्रियन) शासक डेमेट्रियस की सेना को परास्त कर सिन्धु और झेलम के बीच के प्रदेश पर अधिकार कर लिया।

पह्लवों के भारतीय राज्य का पहला स्वतन्त्र शासक **'वोनेनीज'** था। वह तक्षशिला के शक शासक मावेज का समकालीन था। उसका सीस्तान एवं दक्षिणी

अफगानिस्तान पर भी अधिकार था। वोनेनीज के बाद स्यलिरिस पह्लवों का राजा बना। किन्तु पह्लवों के भारतीय राज्य का सबसे प्रतापी राजा 'गोण्डोफर्नीज' था। उसने भारत में पह्लवों की शक्ति को खूब बढ़ाया। उसका राज्य पूर्वी फारस से लेकर भारत में पूर्वी पंजाब तक विस्तृत था। उसकी राजधानी गान्धार थी। कहा जाता है कि ईसाई धर्म प्रचारक टामस इसी काल मे भारत आया था।

गोण्डोफर्नीज के बाद पह्लवों का राज्य दो भागों में विभाजित हो गया और गोण्डोफर्नीज द्वारा अपने राज्य के विभिन्न भागों में नियुक्त गवर्नर स्वतन्त्र होने लगे। उनकी शक्ति धीरे-धीरे कमजोर होने लगी। लगभग इसी समय कुषाणों के भारत पर आक्रमण प्रारम्भ हुए और उन्होंने पह्लवों के राज्य का अन्त कर अपना अधिकार जमा लिया। यूनानियों और शकों की भांति पह्लव भी भारतीय समाज में घुल-मिल गए और यहां की भाषा, धर्म आदि को अपना कर भारतीय समाज के अंग बन गए।

कुषाण

मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद से भारत पर आक्रमण करने वाली विदेशी जातियों में कुषाणों का विशेष महत्त्व है। इस जाति ने ईसवी सन् की पहली शताब्दी से लेकर तीसरी शताब्दी तक भारत के एक भाग पर शासन किया और इस देश के राजनीतिक एवं सांस्कृतिक जीवन को आन्दोलित करने में महत्त्वपूर्ण भाग अदा किया।

कुषाण कौन थे—कुषाण किस जाति के थे और उनका मूल निवास स्थान कहाँ था यह भी इतिहास का एक विवादग्रस्त प्रश्न है। साधारणतया यह माना जाता है कि कुषाण चीन के कानसू प्रदेश में रहने वाली यहूची जाति से सम्बन्धित लोग थे। माना जाता है कि हिंगनू (हूण) जाति से परास्त होकर 'यहूची' लोग तिब्बत तथा बेक्ट्रिया में आकर बसे थे। बेक्ट्रिया में आकर बसने वाले 'यहूची' कालान्तर में पांच भागों में बँट गये थे। उनमें से ही एक 'कुषाण' थे, जिन्होंने शक्ति प्राप्त कर अन्य यहूचियों पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया था। इन्हीं कुषाणों के नेता कुजुल कडफिसिज ने भारत पर आक्रमण कर कुषाण राज्य की स्थापना की। किन्तु इसके विपरीत कुछ विद्वान कुषाणों की शरीर रचना तथा उनके शासकों की उपाधियों के आधार पर उनका तुर्की होना मानते हैं। विद्वानों का तीसरा समुदाय भाषा के आधार पर कुषाणों को शक-ईरानी समुदाय का मानता है। लेकिन डॉ. बैजनाथ पुरी ने अपनी पुस्तक 'इण्डिया अण्डर द कुषान्स' में यह स्पष्ट किया है कि कुषाण प्राचीन 'शक' कुल की एक शाखा थे और वे बेक्ट्रिया के निकट अथवा उनके दक्षिण में बसे थे। जब यहूची लोग इस भाग में आए, तब थोड़े समय के लिए उनका यहूचियों से सम्बन्ध स्थापित हुआ। किन्तु, बाद में पुनः अपनी जातीय शक्ति का संगठन कर कुषाण अपने मूल स्थान से दक्षिण की ओर बढ़े और उनके नेता

कुजुल कडफिसिज ने भारत पर आक्रमण करके गान्धार प्रदेश पर राज्य कर रहे 'पह्लवों' को हराकर वहाँ अपना अधिकार स्थापित कर लिया।

भारत में कुषाण साम्राज्य के प्रमुख शासक

विम कडफिसिज—कुजुल कडफिसिज के बाद कुषाणों का राजा विम-कडफिसिज बना। वह कुजुल का पुत्र था और अपने पिता की तरह साहसी, वीर, एवं महत्त्वाकांक्षी था। उसने भारत में कुषाणों के राज्य का विस्तार किया और तक्षशिला तथा पंजाब पर अधिकार कर लिया। माना जाता है कि विम मथुरा तक आगे बढ़ गया था।

कनिष्क—भारत में कुषाण साम्राज्य का सबसे प्रतापी शासक कनिष्क था। कनिष्क विम का उत्तराधिकारी था अथवा उसका गवर्नर, इसका इतिहास अन्धकार-पूर्ण एवं विवादग्रस्त है। किन्तु इतना अवश्य है कि कनिष्क कुषाण शासकों में सर्वाधिक पराक्रमी, महान् विजेता एवं कुशल शासक था।

कनिष्क द्वारा साम्राज्य विस्तार—कनिष्क कब और कैसे शासक बना, इस विषय पर भी विद्वानों में मतभेद है। अधिकतर विद्वान उसके राज्यकाल के प्रारंभ होने का समय 78 ई. मानते हैं। कनिष्क एक महत्त्वाकांक्षी शासक था। अतः शासक बनने के बाद शीघ्र ही उसने कश्मीर, पंजाब, मालवा और सिन्ध पर अधिकार कर लिया और पाटलिपुत्र को जीत कर भारत में मगध तक अपने साम्राज्य का विस्तार किया। पश्चिम में उसने पार्थिया के शासकों को हराया और चीनियों से काशगर, खोतान और यारकन्द जीता। इस प्रकार कनिष्क ने ईरान से लेकर पाटलि-पुत्र तक एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की। कनिष्क ने अपने विशाल साम्राज्य की राजधानी पेशावर को बनाया और वहीं से अपने साम्राज्य पर कुशलता पूर्वक शासन किया।

कनिष्क का शासन प्रबन्ध—कनिष्क का पूरा साम्राज्य कई प्रान्तों में विभक्त था। प्रान्तों में शासन चलाने के लिए कनिष्क ने भी शकों की तरह क्षत्रप और महाक्षत्रप नियुक्त कर रखे थे, जो सम्राट के प्रतिनिधि के रूप में अपने-अपने प्रान्त में शासन करते थे। किन्तु, विद्वानों की मान्यता है कि कनिष्क के शासन-प्रबन्ध में स्थायित्व नहीं था। इसलिए उसका विशाल साम्राज्य उसकी मृत्यु के बाद शीघ्र ही नष्ट हो गया।

कनिष्क की धार्मिक रुचि—कनिष्क एक विजेता के रूप में ही नहीं, बल्कि एक धार्मिक रुचि-प्रधान शासक एवं बौद्ध धर्म के प्रसारकर्त्ता सम्राट् के रूप में भार-तीय इतिहास में प्रसिद्ध है। संयुक्तरत्नपिटक नामक ग्रन्थ के अनुसार माना जाता है कि प्रारम्भ में कनिष्क क्रूर एवं निर्दयी शासक था। किन्तु, पाटलिपुत्र पर आक्रमण के समय उसका सम्पर्क बौद्ध विद्वान अश्वघोष से हुआ। वह उसको अपने साथ पेशा-वर ले आया और उसके प्रभाव में आकर कनिष्क ने बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया।

बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए कनिष्क के प्रयत्न—बौद्ध बनने के बाद कनिष्क ने इस धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए सम्राट अशोक की तरह प्रयत्न किए। मौर्य सम्राट अशोक की मृत्यु के बाद भारत में बौद्ध धर्म पतन की ओर बढ़ने लगा था और सातवाहन शासको के प्रयत्नों से वैदिक धर्म की प्रतिष्ठा पुनः बढ़ी थी। इतना ही नहीं बौद्ध धर्म के अनुयायियों में आपसी मतभेदों के कारण मतमतान्तर उत्पन्न हो गए थे और बौद्ध धर्म अवनत होने लगा।

चतुर्थ बौद्ध संगीति—बौद्ध साहित्य के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि बौद्ध धर्म ग्रहण कर लेने के बाद इस धर्म में उत्पन्न होने वाले मतमतान्तरों से कनिष्क को बड़ा दुःख हुआ। उसने अपने गुरु के कहने से बौद्ध धर्म के अनुयायियों का कश्मीर के कुण्डलवन अथवा जालन्धर में एक सम्मेलन बुलाया। इतिहास में यह सम्मेलन चतुर्थ बौद्ध संगीति के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें 500 बौद्ध भिक्षुओं और विद्वानों ने भाग लिया था। लगभग छः माह तक यह सम्मेलन चला। इसमें बौद्ध विद्वानों ने सम्पूर्ण बौद्ध साहित्य को देखकर उस पर टीकाएँ लिखीं और त्रिपिटिक की संस्कृत में व्याख्या की गई। इस सम्मेलन में नवीन विचारों के साथ बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों का ताल-मेल बैठाकर बौद्ध धर्म को संगठित स्वरूप प्रदान करने का कार्य किया गया। इस सम्मेलन का सभापतित्व प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान 'वसुमित्र' ने किया और 'अश्वघोष' ने उप-सभापति के रूप में कार्य किया। कनिष्क के काल में सम्पन्न हुई इस बौद्ध संगीति का सबसे प्रमुख परिणाम बौद्ध धर्म की महायान शाखा का उदय होना एवं उसको मान्यता प्राप्त होना था।

चतुर्थ बौद्ध संगीति के आयोजन के अलावा भी कनिष्क ने बौद्ध धर्म के प्रचार हेतु दूसरे कार्य किए। अशोक की तरह उसने भी महात्मा बुद्ध के उपदेशों को शिला-खण्डों पर खुदवा कर अपने साम्राज्य में लगवाया और चीन, जापान, तिब्बत, मध्य एशिया आदि विदेशी भागों में बौद्ध धर्म के प्रचारक भेजे। इसके अलावा उसने कई प्राचीन बौद्ध स्तूपों की मरम्मत करवाई और नये स्तूप बनवाए। उसने चतुर्थ बौद्ध संगीति में तैयार की गई 'त्रिपिटिक' प्रामाणिक व्याख्या को ताम्रपत्रों पर खुदवाकर पत्थर की सन्दूक में रख कर उस पर एक स्तूप बनाया।

कनिष्क की धार्मिक सहिष्णुता—कनिष्क यद्यपि स्वयं बौद्ध धर्म का अनुयायी था, लेकिन दूसरे धर्मो के प्रति वह पूर्णतया सहिष्णु एवं उदार था। उसके सिक्कों के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि उसके साम्राज्य में सभी धर्मो के अनुयायी सुखपूर्वक रहते थे।

कनिष्क की मृत्यु एवं उसके उत्तराधिकारी—विदेशी वंश का होते हुए भी भारतीय बनकर देश की प्रगति और विकास का ध्यान रखने वाले शासक कनिष्क ने 23 (कुछ विद्वानों के अनुसार 45) वर्ष तक शासन किया। किन्तु एक जैन कथा के अनुसार कहा जाता है कि कनिष्क के सेनापति ने उसकी हत्या कर दी। कनिष्क की मृत्यु के बाद उसका पुत्र वसिष्क कुषाण साम्राज्य का उत्तराधिकारी बना

तथा उसके बाद उसका भाई हुविष्क शासक बना। हुविष्क ने सन् 138 ई. तक शासन किया। उसके बाद वासुदेव प्रथम कुषाणों का शासक बना। किन्तु इसके समय तक कुषाणों के साम्राज्य का विघटन प्रारम्भ हो गया था और वासुदेव की मृत्यु के बाद कुषाण साम्राज्य छोटे-छोटे भागों में विभक्त हो गया। इसी समय उत्तरी भारत में स्थानीय जातीय राज्यों तथा नाग भारशिवों, यौधेयों, मालवों आदि की शक्ति बढ़ने लगी और कुषाण साम्राज्य का अन्त हो गया।

कुषाण काल में साहित्य, कला, व्यापार एवं ज्ञान-विज्ञान की प्रगति

कुषाण सम्राट कनिष्क का काल भारतीय इतिहास में राजनीति के साथ सांस्कृतिक विकास की दृष्टि से भी प्रसिद्ध है। उसके समय में साहित्य, कला, व्यापार एवं ज्ञान-विज्ञान की दृष्टि से पर्याप्त प्रगति हुई।

साहित्य—कनिष्क विद्या-प्रेमी एवं साहित्य में रुचि रखने वाला शासक था। उसके दरबार में उच्चकोटि के विद्वानों को आश्रय प्राप्त था। पार्श्व, वसुमित्र, अश्वघोष आदि बौद्ध विद्वान और संघरक्षक तथा नागार्जुन जैसे पंडित उसकी राज्य-सभा में रहते थे। इन विद्वानों ने कनिष्क के काल में दर्शन, ज्ञान-विज्ञान एवं साहित्य के कई ग्रन्थों की रचना की। वसुमित्र ने 'महाविभास' नामक ग्रंथ लिखा, जो बौद्ध दर्शन का 'कोश' ग्रन्थ माना जाता है। इसी प्रकार अश्वघोष ने 'बुद्धचरित्र महा-काव्य' और सौन्दरानन्द ने 'सूत्रालंकार' नामक ग्रन्थ लिखे। 'दिव्यावदान' तथा 'ललित विस्तार' नामक बौद्ध कथानकों से संबंधित ग्रन्थ भी इसी युग में लिखे गए। विद्वानों की मान्यता है कि कनिष्क के राजवैद्य चरक ने चरकसंहिता की रचना इसी काल में की थी। साहित्य की प्रगति के साथ कनिष्क के काल में संस्कृत भाषा तथा ब्राह्मी व खरोष्ठी लिपियों का भी विकास हुआ।

स्थापत्य-कला— साहित्य की तरह कुषाणों के शासन काल में कला की भी पर्याप्त प्रगति हुई। कनिष्क को कला से बड़ा प्रेम था। वह एक महान् स्थापत्य निर्माता था। उसने पेशावर में एक मीनार और बौद्ध बिहार का निर्माण करवाया और सिरवक एव कनिष्कपुर दो नगर बसाए। उसके काल में कई स्तूपों का भी निर्माण हुआ।

मूर्ति-कला— कनिष्क के काल में मूर्तिकला की खूब प्रगति हुई। कुषाणों के समय में यूनानी एवं भारतीय मूर्ति-कला का सम्मिश्रण हुआ और भारत में मूर्तिकला की एक विशेष गांधार शैली का विकास हुआ। यूनानी एवं भारतीय कला की विशेषताओं वाली इस प्रकार की मूर्तियों का निर्माण गांधार प्रदेश में प्रचुर मात्रा में होने से इस शैली की मूर्तियों को गांधार शैली कहा गया। कुषाण काल में गांधार शैली की महात्मा बुद्ध की अनेक मूर्तियाँ बनाई गई। इन मूर्तियों में बाह्य अलंकरण प्रदर्शन में यूनानी प्रभाव दिखाई देता है, किन्तु भावनाओं का अंकन भारतीय परम्परानुसार किया गया है। गांधार-शैली की मूर्तियों में शारीरिक अंगों का प्रदर्शन एवं कलाकार की बौद्धिक चतुराई व हस्त-लाघव के दर्शन होते हैं। गांधार के अलावा

कनिष्क के समय में मथुरा में भी मूर्तिकला की एक विशिष्ठ मथुरा शैली का विकास हुआ तथा वहाँ पर भी अनेकों मूर्तियों का निर्माण किया गया। मूर्तिकला के साथ-साथ कुषाणों के काल में चित्रकला की भी प्रगति हुई। कनिष्क के काल में होने वाली कला की इस प्रगति ने भारतीय संस्कृति को समृद्ध किया।

व्यापारिक उन्नति—कुषाण काल व्यापारिक उन्नति की दृष्टि से भी महत्त्व रखता है। कनिष्क का साम्राज्य मगध से ईरान तक विस्तृत था। परिणामस्वरूप उस युग में भारत का ईरान, मध्य एशिया आदि भागों से स्थल-मार्गों द्वारा प्रत्यक्ष संबंध स्थापित हुआ। इससे स्वाभाविक रूप में भारतीय व्यापार की प्रगति हुई। भारत का सामान भारी मात्रा में पश्चिमी देशों में जाने लगा और भारतीय समृद्धि में वृद्धि हुई।

ज्ञान-विज्ञान—कनिष्क का काल ज्ञान-विज्ञान की दृष्टि से भी कतिपय क्षेत्रों में प्रगति का काल था। मुख्य रूप से इस युग में चिकित्सा (आयुर्वेद), धातु-विज्ञान एवं विभिन्न व्यवसायों में तकनीकी ज्ञान एवं कौशल का विकास हुआ। इस युग में भेषज-चिकित्सा एवं शल्य चिकित्सा में पर्याप्त प्रगति हुई। माना जाता है कि भारतीय आयुर्वेद के दो महान विद्वान चरक और सुश्रुत कुषाण युग में ही हुए थे, जिन्होंने क्रमशः भेषज (कायिक चिकित्सा) एवं शल्य-चिकित्सा के अभूतपूर्व ग्रंथों की रचना की। कुषाणों के काल में धातुशोधन और विभिन्न धातुओं की मुद्राओं के निर्माण में वजन, आकार-प्रकार और धातु की शुद्धता की दृष्टि से प्रगति हुई। इसी प्रकार नापतोल के क्षेत्र में भी इस युग में निश्चित बाटों और पैमानों का विकास हुआ। कनिष्क के युग में नाप-तोल के विकास सम्बन्धी जानकारी 'दिव्यावदान' नामक ग्रंथ से होती है, जो सम्भवतया उसी युग की रचना है। कनिष्क के काल के ऐतिहासिक साहित्य में 'यंत्रकारक', 'तैलिका चक्र, आदि कई तकनीकी नामों का जिक्र आता है। इससे पता चलता है कि तकनीकी क्षेत्र में कुषाण युग में खूब प्रगति हुई।

कनिष्क के साम्राज्य का सांस्कृतिक महत्त्व—साम्राज्य बनते और मिटते हैं, किंतु योग्य शासकों का आश्रय पाकर सभ्यता और संस्कृति का जो विकास होता है, वह किसी देश की, किसी जाति की और उसके इतिहास की अमर धरोहर बन जाता है। भारतीय सभ्यता और संस्कृति को सजाने-सँवारने वाले ऐसे कुछ भारतीय शासकों में कनिष्क का नाम भी प्रमुख है। उसने अपनी शक्ति, सूझ-बूझ एवं रुचि के सहारे भारतीय संस्कृति को सजाने-सँवारने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। उसके धर्म साहित्य और कला प्रेम के परिणामस्वरूप भारतीय संस्कृति का उसके युग में जो स्वरूप बना, उसने गुप्त काल में होने वाली अभूतपूर्व सांस्कृतिक प्रगति की पृष्ठभूमि तैयार की।

अध्ययन का उपयोग

नीचे दिए गए प्रश्नों का उत्तर दीजिए एवं अपने अध्ययन को उपयोगी बनाइये—

1. सातवाहनों की जाति, मूल स्थान एवं उदय के बारे में क्या-क्या मत प्रचलित हैं?

2. सातवाहनों के प्रमुख शासक कौन-कौन थे तथा उन्होंने सातवाहन साम्राज्य के विकास में क्या योगदान दिया ?
3. भारत में स्थापित होने वाले यूनानी (बेक्ट्रियन) राज्य कौन-कौन से थे ?
4. यूनानियों और भारतीयों के सम्पर्क के क्या परिणाम निकले ?
5. भारत में शक राज्य किस प्रकार स्थापित हुआ ?
6. भारत में शकों के कौन-कौन से क्षत्रपों ने किन-किन भागों पर शासन किया ?

अध्ययन की जाँच

सही उत्तर का क्रमाक्षर कोष्ठक में लिखिए—

1. सातवाहनों के काल में भारतीय राजनीति का केन्द्र दक्षिणी भारत बन गया, कारण कि—
   (क) सातवाहन दक्षिणी भारत के मूल निवासी थे, अतः उन्होंने दक्षिण को अधिक महत्त्व दिया ।
   (ख) उनका राज्य दक्षिण भारत में ही था, अतः वही केन्द्र बनाना स्वाभाविक था ।
   (ग) कुषाणों, पह्लवों ने उन्हें उत्तर भारत में नहीं आने दिया ।
   (घ) सातवाहनों ने उत्तर भारत की ओर बढ़ने का कभी प्रयत्न नहीं किया । (   )
2. यूनानियों ने भारतीय संस्कृति को जिस क्षेत्र में सबसे अधिक प्रभावित किया, वह था—
   (क) धर्म (ख) दर्शन (ग) भाषा (घ) ज्योतिष (   )
3. भारतीय इतिहास में कनिष्क के प्रसिद्ध होने का एक महत्त्वपूर्ण कारण है—
   (क) उनके द्वारा की गई विजयें
   (ख) उनके दरबार की शान-शौकत
   (ग) बौद्ध धर्म के प्रसार के लिए किए गए उसके कार्य
   (घ) उसकी मगध विजय (   )

सोच-विचार कर उत्तर लिखिए—

1. पह्लवों का राज्य भारत में किस प्रकार स्थापित हुआ और उनके प्रमुख शासक कौन-कौन थे ?
2. कुषाणों के भारतीय साम्राज्य की स्थापना करने वाला कौन था और भारत में कुषाण साम्राज्य का प्रसार किसने किया ?
3. कुषाणों ने भारतीय संस्कृति के विकास में क्या योगदान दिया ?

निम्नलिखित क्रियात्मक कार्य कीजिये और अपना कौशल बढ़ाइये—

(1) भारत के ऐतिहासिक मानचित्र में सातवाहन, यूनानी (बेक्ट्रियन), शक, पह्लव एवं कुषाण साम्राज्यों की सीमाएँ अंकित कीजिए ।

(2) अपने अध्यापक जी के सहयोग से गांधार एवं मथुरा-शैली की मूर्तियों के चित्रों को संग्रहित कर अपने एलबम में लगाइये ।

पूरक अध्ययन ग्रन्थ

1. भगवत शरण उपाध्याय	:	प्राचीन भारत का इतिहास
2. डॉ० ओमप्रकाश	:	प्राचीन भारत का इतिहास
3. डॉ० विमलचन्द्र पाण्डेय	:	भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास
4. डॉ० बी. एस. भार्गव	:	भारतीय इतिहास : विचार एवं तत्व

अध्याय 11

गुप्त साम्राज्य

उत्तरी भारत में कुषाणों तथा दक्षिणी भारत में सातवाहनों की शक्ति समाप्त होने के साथ ही एक बार पुनः भारत राजनीतिक दृष्टि से खण्डित हो गया। देश में कई छोटे-छोटे राजतन्त्रात्मक एवं गणतन्त्रात्मक राज्य उठ खड़े हुए। केन्द्रीय शक्ति के अभाव में चारों ओर अव्यवस्था एवं अराजकता फैल गई। कुषाणों के पतन के पश्चात् यह स्थिति लगभग एक शताब्दी तक चलती रही। किन्तु तीसरी शताब्दी के उत्तरार्द्ध काल में केन्द्रीय शक्ति के रूप में एक नये राजवंश का उदय हुआ, जिसके शासकों ने मगध को केन्द्र बनाकर अपनी शक्ति, पौरुष, पराक्रम और सूझ-बूझ के सहारे भारत में पुनः राजनैतिक एकता स्थापित करते हुए बौद्धिक विकास एवं सांस्कृतिक पुनरुत्थान के युग का सूत्रपात किया। यह राज्य-वंश भारतीय इतिहास में 'गुप्त वंश' तथा उनका साम्राज्य 'गुप्त साम्राज्य' के नाम से प्रसिद्ध है।

गुप्त वंश—तीसरी शताब्दी के उत्तरार्द्ध काल में प्रबल राज्य शक्ति के रूप में उठने वाले गुप्तवंशी शासक कौन और किस जाति के थे, इस विषय पर इतिहासकारों में बड़ा मतभेद है। कुछ इतिहासकार गुप्तवंश के शासकों के नाम के अन्त में 'गुप्त' शब्द लगा होने से मानते हैं कि गुप्तवंशी शासक वैश्य थे। डॉ. काशीप्रसाद जायसवाल मानते हैं कि ये मूलतः पंजाब के 'करसकार' जाट थे। इसके विपरीत डॉ० राखालदास बैनर्जी, पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा और डॉ० हेमचन्द्रराय चौधरी आदि विद्वान गुप्त शासकों के लिच्छवियों और वाकाटक क्षत्रिय कुलों से सम्बन्ध और 'मंजुश्रीमूलकल्प' के विवरणों एवं अनुश्रुतियों के आधार पर गुप्तवंश के शासकों का मूलतः क्षत्रिय होना मानते हैं। ऐसी स्थिति में गुप्त शासकों की मूल जाति एवं वंश की समस्या अभी तक निर्विवाद नहीं हो पायी है, फिर भी विद्वानों की राय है कि जब तक अन्य प्रमाणों के आधार पर गुप्त वंश का किसी

दूसरी जाति या वंश से सीधा सम्बन्ध होना साबित नहीं हो जाता, तब तक उन्हें क्षत्रिय मानना ही अधिक उपयुक्त है।

गुप्तवंश की शक्ति का उदय

श्रीगुप्त—भारत में गुप्तवंश की शक्ति को संस्थापित करने वाला 'श्रीगुप्त था। अधिकतर विद्वान मानते हैं कि कुषाणों के पतन के बाद मगध और उसके आस-पास के इलाकों पर अधिकार करके श्रीगुप्त ने अपना राज्य स्थापित किया और महाराजा की उपाधि धारण की। डॉ० धीरेन्द्रचन्द्र गांगुली और डॉ० आर० सी० मजूमदार ने चीनी यात्री इत्सिंग के वर्णनों एवं नेपाल से प्राप्त एक हस्तलिखित ग्रन्थ के आधार पर यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि श्रीगुप्त का मूल राज्य मगध न होकर बंगाल में 'वीरेन्द्रभूमि' या मालवा प्रदेश (वर्तमान मुर्शिदाबाद) था और मगध पर उसके उत्तराधिकारी 'घटोत्कच' ने अधिकार किया था। इसके विपरीत इतिहासकार श्री श्रीराम गोयल पुरातत्व सम्बन्धी अवशेषों के आधार पर गुप्त शासकों के मूल स्थान को उत्तर प्रदेश का पूर्वी भाग मानते हैं। ऐसी स्थिति में गुप्त शासकों के मूल राज्य के बारे में भी विद्वानों में मतभेद है। किन्तु इतना अवश्य स्पष्ट है कि गुप्तवंश का पहला शासक श्रीगुप्त था।

घटोत्कच—श्रीगुप्त के बाद उनका पुत्र घटोत्कच गुप्त वंश का राजा बना। यद्यपि इसने भी एक लम्बे समय तक राज्य किया, फिर भी वह गुप्तवंश की शक्ति और साम्राज्य का प्रसार नहीं कर पाया।

चन्द्रगुप्त प्रथम—घटोत्कच के पश्चात् चन्द्रगुप्त प्रथम गुप्तवंश के राज्य का उत्तराधिकारी बना। वह 319 या 320 ई० में राजगद्दी पर बैठा। इतिहासकारों की राय है कि मगध में गुप्तवंश की केन्द्रीय शक्ति को दृढ़तापूर्वक स्थापित करने वाला चन्द्रगुप्त प्रथम ही था और उसी ने गुप्तवंश के राज्यक्षेत्र का इतना विस्तार किया था कि जिसको साम्राज्य कहा जा सके। ऐसी स्थिति में चन्द्रगुप्त को गुप्त साम्राज्य का वास्तविक संस्थापक माना जाता है।

शासक बनने के पश्चात् चन्द्रगुप्त प्रथम ने अपने राज्य के आस-पास के इलाकों पर अधिकार किया और अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए वैशाली के लिच्छवी वंश की राजकुमारी कुमार देवी से विवाह किया। चन्द्रगुप्त प्रथम का वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने का यह कार्य बड़ा दूरदर्शितापूर्ण था। इससे सम्भवतया वैशाली और मगध के राज्य एक हो गए और भारत में गुप्तवंश की केन्द्रीय शक्ति की संस्थापना में महत्त्वपूर्ण योग मिला। वस्तुतः लिच्छवियों की सहायता से ही चन्द्रगुप्त ने कई राज्यों को जीता और महाराजाधिराज की उपाधि धारण की। उसके साम्राज्य में तिरहुत, दक्षिणी बिहार, अवध और उसके आस-पास के प्रदेश सम्मिलित थे तथा उसके साम्राज्य की सीमाएं पूर्व में बंगाल से लेकर पश्चिम में उत्तर प्रदेश के एक भाग तक विस्तृत थीं। ऐसा माना जाता है कि चन्द्रगुप्त प्रथम ने एक नवीन संवत् भी चलाया था। उसकी मृत्यु 335 ई० में हुई।

समुद्रगुप्त—चन्द्रगुप्त की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र समुद्रगुप्त मगध के राज्य सिंहासन पर बैठा। प्रयाग (इलाहाबाद) के स्तम्भलेख से मालूम होता है कि चन्द्रगुप्त प्रथम ने अपने शासनकाल में ही समुद्रगुप्त को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया था, किन्तु, पिता की मृत्यु के बाद समुद्रगुप्त को अपने भाइयों के विरोध का सामना करना पड़ा और उन्हें दबाकर ही समुद्रगुप्त 335 ई. में गुप्त साम्राज्य का अधिकारी बना।

समुद्रगुप्त बाल्यकाल से ही योग्य एवं प्रतिभावान था। शासक बनने पर उसने अपने साम्राज्य का विस्तार करने का विचार किया। इलाहबाद के स्तम्भलेख की प्रशस्ति, जिसको समुद्रगुप्त के दरबारी कवि हरिषेण ने बनाया था, से पता चलता है कि उसने उत्तरी और दक्षिणी भारत के कई राज्यों को जीता और सीमांत प्रदेश के राज्यों को अपने अधीन किया। उसकी विजयों को अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से चार भागों में बाँटा जाता है—

समुद्रगुप्त की विजयें—जिस समय समुद्रगुप्त शासक बना, उस समय उसके सामने अनेक कठिनाइयाँ थीं। उसके समक्ष ऐसे राज्य थे, जो स्वयं अपनी शक्ति का प्रसार करने की इच्छा रखते थे। पश्चिमी भारत में शक और कुषाणों की शक्ति पूर्णतया समाप्त नहीं हुई थी। सीमा-प्रान्त पर ईरानियों ने भी आक्रमण आरम्भ कर दिये थे। इन परिस्थितियों में समुद्रगुप्त के लिए आवश्यक था कि वह अपने पड़ोसी राजाओं पर विजय प्राप्त करे और अपनी शक्ति बढ़ाकर अन्य आपत्तियों का मुकाबला करे।

आर्यावर्त की विजय—अपनी शक्ति और साम्राज्य बढ़ाने के विचार से समुद्रगुप्त ने सबसे पहले हिमालय और विन्ध्याचल के बीच के भाग—आर्यावर्त के नौ राज्यों पर विजय प्राप्त की। इलाहाबाद स्तम्भ लेख में इन नौ राजाओं के नाम इस प्रकार हैं—अच्युत, नागसेन, गणपति, चन्द्रवर्मा, रुद्रदेव, मतिल्क, नागदत्त, नन्दिन और बलवर्मा। यद्यपि इन राजाओं के राज्य कहां-कहां स्थित थे, इस सम्बन्ध में सही-सही पता नहीं चलता। फिर भी, इन विजयों से समुद्रगुप्त का राज्य प्रयाग और साकेत से बढ़कर मथुरा और ग्वालियर तक फैल गया।

अठारह आटविक राज्यों पर विजय—लगभग सम्पूर्ण आर्यावर्त को जीत लेने के पश्चात् समुद्रगुप्त ने विन्ध्याचल से लेकर जबलपुर और नागपुर तक फैले अठारह आटविक (वन्य) राजाओं पर विजय प्राप्त की। एरण (मालवा) अभिलेख से ज्ञात होता है कि इन राजाओं ने समुद्रगुप्त का आधिपत्य स्वीकार किया और सम्राट की सेवा का वचन दिया।

दक्षिण भारत की विजय—इन विजयों के पश्चात् समुद्रगुप्त ने दक्षिणी भारत को जीतने का अभियान चलाया। दक्षिणी भारत में समुद्रगुप्त ने वर्तमान उड़ीसा, आन्ध्र, मद्रास आदि बारह राज्यों पर विजय प्राप्त की। किन्तु उसकी

दक्षिणी भारत की विजय धर्म-विजय थी। इन राज्यों को जीतकर भी उसने उन्हें अपने राज्य में नहीं मिलाया बल्कि वहां के राजाओं को उनके राज्य पुनः सौंप दिये। किन्तु इन राज्यों ने उसका आधिपत्य स्वीकार किया और उसे कर देते रहने का वचन दिया।

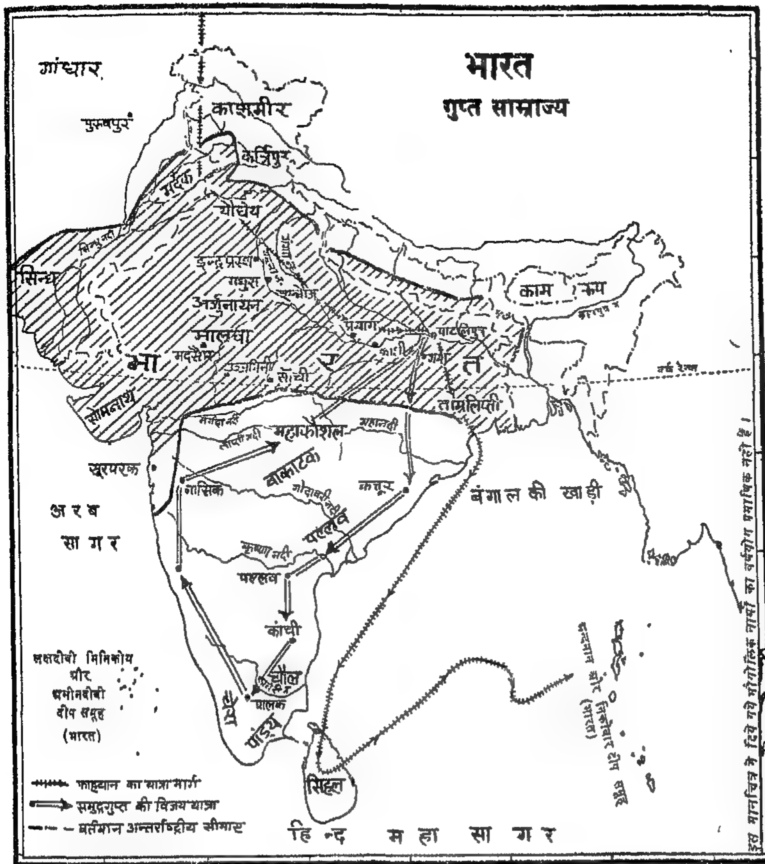
सीमान्त प्रदेशों की विजय— उपर्युक्त विजयों से लगभग पूरे भारत में समुद्रगुप्त की धाक जम गई। परिणामस्वरूप भारत की उत्तरी एवं पूर्वी सीमा पर स्थित सीमान्त राजाओं ने स्वयं अपनी ओर से समुद्रगुप्त को सन्तुष्ट करने के लिए उसका आधिपत्य स्वीकार किया और सभी प्रकार के कर देने का वचन दिया। ऐसे सीमान्त राज्य पाँच थे, जिनमें समतट (पूर्वी बंगाल का समुद्र तट का भाग), कामरूप (दक्षिणी असम का गोहाटी जिला) नेपाल, कर्तारपुर (जालन्धर जिले में), एवं उत्तर प्रदेश जिसमें कुमायूं, गढ़वाल व रूहेलखण्ड के जिले सम्मिलित थे।

पश्चिमी सीमा के गणराज्यों पर अधिकार—उत्तरी पूर्वी सीमा के राज्यों पर आधिपत्य स्थापना के पश्चात् समुद्रगुप्त ने पश्चिमी सीमा के नौ गणराज्यों पर अधिकार किया। इनमें मातृत्व (मालव), योधेय, अर्जुनायन, मद्रक, आभीर प्रार्जुन सनकानिक, काक और खरपरिक गणराज्य सम्मिलित थे। किन्तु समुद्रगुप्त ने इन राज्यों की स्वायत्तता को नष्ट नहीं किया। उसने इन राज्यों के शासकों को स्वयं शासन करने की आज्ञा दे दी। किन्तु इन गणराज्यों के शासक भी उसे 'कर' देते थे, उसकी आज्ञाओं का पालन करते थे और उसके दरबार में उपस्थित होते थे।

विदेशी राज्यों से सम्बन्ध—उपर्युक्त राज्यों के अलावा काबुल की घाटी, गान्धार और पंजाब के कुषाण राजाओं ने, कश्मीर के मरुण्डों ने पश्चिमी भारत के शक शासकों ने, सिंहल द्वीप (लंका) के राजा मेघवर्ण ने और जावा आदि द्वीपों के शासकों ने भी समुद्रगुप्त के पराक्रम से प्रभावित होकर उससे मित्रता के सम्बन्ध स्थापित करने की इच्छा प्रकट की और सम्राट समुद्रगुप्त को अपनी सेवाएँ अर्पित कीं। इन प्रदेशों के राजाओं ने बहुमूल्य वस्तुएं और अपनी कन्याएं समुद्रगुप्त को भेंट में दीं और अपने प्रदेश का उपभोग करने के लिए गरुड़ की मोहर लगे समुद्रगुप्त के अधिकार-पत्रों को स्वीकार किया।

समुद्रगुप्त की उपर्युक्त विजयों और प्रभुत्व क्षेत्र के बारे में जानकर स्पष्ट होता है कि उसका साम्राज्य काफी विस्तृत था। लगभग सम्पूर्ण भारत पर उसका प्रभुत्व था। इसके साम्राज्य में प्रत्यक्ष रूप में कश्मीर, पंजाब, पश्चिमी राजपूताना सिन्ध और गुजरात को छोड़कर सम्पूर्ण उत्तरी भारत सम्मिलित था।

अश्वमेध यज्ञ—इस प्रकार भारत की दिग्विजय करने के पश्चात समुद्रगुप्त ने अश्वमेध यज्ञ किया। यज्ञ में दान-पुण्य के लिए उसने सोने की मुद्राएं प्रचलित कीं और उन्हें ब्राह्मणों को वितरित किया।



भारत के महासर्वेक्षक की अनुज्ञानुसार, भारत सर्वेक्षण विभागीय मानचित्र पर आधारित।

समुद्र में भारत का जल प्रदेश उपयुक्त आधाररेखा से मापे गए बारह समुद्री मील की दूरी तक है।

गुप्त साम्राज्य

समुद्रगुप्त का व्यक्तित्व—समुद्रगुप्त की उपयुक्त विजयों तथा उसके साम्राज्य प्रसार के कारण इतिहासकार डॉ० वी. ए. स्मिथ ने उसे 'भारतवर्ष का नेपोलियन' कहा है। वास्तव में समुद्रगुप्त एक साहसी सैनिक एवं योग्य सेनानायक था। इस योग्यता के आधार पर ही युद्धों में सफलता प्राप्त करता गया और एक महान् विजेता प्रमाणित हुआ। अपनी विजयों से उसने देश में राजनीतिक एकता स्थापित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इसके साथ ही, समुद्रगुप्त योग्य प्रशासक, कूटनीतिज्ञ और दूरदर्शी शासक था। उसने अपने साम्राज्य में सुदृढ़ शासन-व्यवस्था स्थापित की। दक्षिणी भारत के राज्यों को अपने परोक्ष प्रभुत्व में रख कर, उसने कूटनीति और दूरदर्शिता का परिचय दिया। इस तरह सीमान्त राज्यों की स्वायत्तता बनाए

रख कर उसने इन राज्यों के प्रशासन की जिम्मेदारी से अपने आप को मुक्त रखा और अपने राज्य की सीमा पर अधीनस्थ राज्यों को रखकर अपने साम्राज्य की सुरक्षा को बढ़ाया।

राजनीतिक योग्यता रखने के साथ समुद्रगुप्त को साहित्य, संगीत और कला से भी बहुत प्रेम था। वह स्वयं विद्वान था और विद्वानों को आश्रय देता था। कवि हरिषेण, वसुबन्धु एवं असंग नामक बौद्ध विद्वान उसके दरबार में रहते थे। समुद्रगुप्त कुशल संगीतज्ञ भी था। वह वीणा बजाने में निपुण था। धार्मिक दृष्टि से भी वह बड़ा उदार एवं सहिष्णु था। वैदिक धर्म का अनुयायी होते हुए भी वह अन्य धर्मों का सम्मान करता था। उसके दरबार में बौद्ध विद्वान रहते थे। वह बड़ा दानी भी था। अश्वमेध यज्ञ कर वह खूब सोना और गायें आदि दान करता था। वस्तुतः उसमें एक महान् शासक के सभी गुण थे। डॉ० आर० सी० मजूमदार के शब्दों मे समुद्रगुप्त एक अद्वितीय व्यक्ति और भारतीय इतिहास में एक नये युग की शुरूआत करने वाला सम्राट था।

समुद्रगुप्त की मृत्यु—ऐसे उन्नत व्यक्तित्व वाले सम्राट समुद्रगुप्त की मृत्यु की निश्चित तिथि अभी तक स्पष्ट नहीं हो पाई है, किन्तु इतना अवश्य ज्ञात है कि उसने लगभग 50 वर्ष तक शासन किया और अपने उत्तराधिकारी के लिए वह एक विशाल साम्राज्य छोड़ गया था।

रामगुप्त—'देवीचन्द्रगुप्तम्' 'हर्षचरित्' एवं 'काव्यमीमांसा' के वर्णन, एरण (मालवा) अभिलेख तथा विदिशा में प्राप्त सिक्कों तथा कैम्बे के ताम्र अभिलेखों से मालूम होता है कि समुद्रगुप्त के पश्चात् रामगुप्त गुप्त साम्राज्य का अधिकारी बना। लेकिन रामगुप्त कमजोर शासक था। कहा जाता है कि रामगुप्त की कमजोरी का लाभ उठाकर शकों ने गुप्त साम्राज्य पर आक्रमण कर दिया और रामगुप्त को घेर लिया (कुछ इतिहासकार रामगुप्त पर आक्रमण करने वालों को कुषाण मानते हैं)। आपत्ति में फंसे रामगुप्त ने शकों से संधि कर अपनी रानी ध्रुवदेवी को शक राजा के रनिवास में भेजना स्वीकार किया। लेकिन रामगुप्त का छोटा भाई चन्द्रगुप्त द्वितीय इस अपमानपूर्ण सन्धि को स्वीकार करने को तैयार नहीं हुआ। वह स्वयं ध्रुवदेवी के वेश में अनेक सेविकाओं के रूप में बहुत से सैनिकों को साथ लेकर शक राजा के डेरे में गया और उसे मारकर उसने अपने साम्राज्य की मान व मर्यादा की रक्षा की। चन्द्रगुप्त द्वितीय के इस कार्य से ध्रुवदेवी बड़ी प्रसन्न हुई तथा चन्द्रगुप्त और ध्रुवदेवी ने मिलकर षड़यन्त्र करके रामगुप्त की हत्या कर दी। इसके बाद चन्द्रगुप्त द्वितीय शासक बना और उसने ध्रुवदेवी से विवाह कर लिया। इस कहानी की ऐतिहासिकता के बारे में इतिहासकारों में मतभेद है। किन्तु यह तो स्पष्ट है कि समुद्रगुप्त के बाद रामगुप्त साम्राज्य का शासक बना और उसकी हत्या कर चन्द्रगुप्त द्वितीय गुप्त साम्राज्य का शासक बना।

चन्द्रगुप्त द्वितीय 'विक्रमादित्य'—चन्द्रगुप्त द्वितीय भारतीय इतिहास में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के नाम से प्रसिद्ध है। वह बड़ा योग्य एवं महत्त्वाकांक्षी शासक

था और अपने पिता की भाँति महान् विजेता था। उसने अपने पिता समुद्रगुप्त की दिग्विजय की नीति को अपनाया तथा अपने साम्राज्य को खूब फैलाकर साम्राज्य में सुव्यवस्थित शासन-व्यवस्था और शान्ति कायम की। परिणामस्वरूप उसके काल में भारतीय समृद्धि और संस्कृति का खूब विकास हुआ।

राज्यारोहण के समय चन्द्रगुप्त की समस्याएँ—जिस समय चन्द्रगुप्त द्वितीय शासक बना, उस समय गुप्त साम्राज्य अनेक समस्याओं से घिरा हुआ था। रामगुप्त के शासन काल में शासन-व्यवस्था बिगड़ गई थी और शकों ने अपना सिर उठा लिया था। अन्य छोटे राज्य भी पुनः स्वतन्त्र होने लगे थे। शकों के सिर उठाने से पश्चिमी समुद्रतट से होने वाले व्यापार पर आघात पहुँचा था।

वैवाहिक सम्बन्ध स्थापना—इन विपरीत परिस्थितियों में अपनी शक्ति को बढ़ाने के लिए चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपने दादा चन्द्रगुप्त प्रथम की वैवाहिक सम्बन्ध-स्थापना की नीति को अपनाया। उस समय भारत में नाग और वाकाटक, दो शक्तिशाली राजकुल थे। इन्हें अपना सहयोगी बनाने के लिए चन्द्रगुप्त द्वितीय ने नागवंश की राजकुमारी 'कुबेरनागा' से विवाह किया और अपनी पुत्री 'प्रभावती' का विवाह वाकाटक राजा 'रुद्रसेन' से कर अपनी शक्ति बढ़ाई। वाकाटक वंश के साथ सम्बन्ध स्थापित करना चन्द्रगुप्त के लिये हितकर साबित हुआ। वाकाटकों की सहायता से चन्द्रगुप्त शकों की शक्ति को समाप्त करने में सफल हुआ।

चन्द्रगुप्त द्वितीय की विजयें

गणराज्यों की विजय—चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपने विजय अभियान में सबसे पहले मगध के राज्य और सीमान्त के विदेशी राज्यों के बीच पड़ने वाले गणराज्यों को पूर्णतया जीतकर अपने साम्राज्य में मिला लिया।

शक विजय—गणराज्यों पर अधिकार करने के पश्चात् चन्द्रगुप्त मालवा, गुजरात और काठियावाड़ के शकों को जीतने के लिये आगे बढ़ा। उसने शकों के महाक्षत्रप रुद्रसिंह तृतीय पर आक्रमण कर उसे पराजित किया। इस विजय के परिणामस्वरूप, मालवा, गुजरात और काठियावाड़ के प्रदेश पर चन्द्रगुप्त का आधिपत्य हो गया। शकों पर विजय चन्द्रगुप्त द्वितीय के राज्यकाल की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना थी। कारण कि एक तो इस विजय से व्यापारिक वृद्धि हुई, रोम आदि पश्चिमी देशों से समुद्री व्यापार हेतु मार्ग खुल गया। साथ ही, इस विजय से विदेशी शकों के शासन का भारत से अन्त हुआ। इस विजय के पश्चात् चन्द्रगुप्त ने 'शकारि' की उपाधि धारण की।

पूर्वी बंगाल पर विजय—दिल्ली में कुतुबमीनार के निकट लगे एक लौह-स्तम्भ पर खुदे लेख से ज्ञात होता है कि जिस समय चन्द्रगुप्त शकों को दबाने में व्यस्त था, तभी बगाल में उसके विरुद्ध विद्रोह उठ खड़ा हुआ। बंगाल के कुछ प्राचीन राजवंशों ने संगठित होकर चन्द्रगुप्त का मुकाबला करने की ठानी। किन्तु इसी समय चन्द्रगुप्त की शकों पर विजय प्राप्त करने वाली सेना पूर्वी भारत की ओर

बढ़ी और उसने विद्रोही राजाओं को परास्त किया। इस विजय से गुप्त साम्राज्य की सीमाएँ असम की पर्वतमालाओं तक फैल गईं। साथ ही, बंगाल का उपजाऊ भाग गुप्त साम्राज्य का अंग बन गया।

पश्चिमोत्तर भारत की विजय—इन विजयों के पश्चात् चन्द्रगुप्त ने पश्चिमोत्तर भारत की सीमा पर स्थित कुषाणों के राज्य पर आक्रमण किया। महरौली स्तम्भ लेख से पता चलता है कि इस आक्रमण में चन्द्रगुप्त ने सिन्धु नदी की सात सहायक नदियों को पार कर बाह्लीकों को भी पराजित किया और उन्हें काबुल के उस पार भगा दिया। इस विजय से चन्द्रगुप्त ने भारत को पूर्णतया विदेशी शासन से मुक्त करा दिया। शकों और कुषाणों पर विजय प्राप्त कर उसने "विक्रमादित्य" की उपाधि धारण की।

दक्षिणी भारत के राज्य—रामगुप्त के निर्बल शासनकाल में दक्षिण भारत के राजाओं ने गुप्त शासकों को वार्षिक कर एवं उपहार आदि भेजना बन्द कर दिया था। महरौली लौह-स्तम्भ के विवरण से ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने उन्हें पुनः गुप्त राजाओं की अधीनता स्वीकार करने के लिये बाध्य किया।

उपर्युक्त विजयों के परिणामस्वरूप चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपने पिता समुद्रगुप्त के साम्राज्य से भी बड़े भाग पर अपना अधिकार स्थापित किया। उसके समय में हिमालय से लेकर दक्षिण में नर्वदा नदी तट तक और पूर्व में बंगाल से लेकर पश्चिम में काठियावाड़ तक का सारा भाग गुप्त साम्राज्य में सम्मिलित था। चन्द्रगुप्त की इन विजयों से साम्राज्य प्रसार के साथ मालवा, गुजरात एवं सौराष्ट्र जैसे समृद्धिशाली, उपजाऊ एवं समुद्रतटवर्ती भाग साम्राज्य मे मिल गये और गुप्त साम्राज्य की समृद्धि बढ़ी और व्यापार-वाणिज्य की खूब प्रगति हुई।

चीनी यात्री फाह्यान और उसका विवरण—चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय में फाह्यान नामक चीनी यात्री भारत में बौद्ध तीर्थों की यात्रा करने और बौद्ध ग्रन्थों का संग्रह करने आया था। भारत में उसने कई स्थानों पर भ्रमण किया। वह तीन वर्ष तक पाटलीपुत्र में रहा तथा अन्त में ताम्रलिप्ति पहुँचा। वहाँ से लंका और जावा होते हुये वह पुनः चीन लौट गया। फाह्यान ने चीन लौटकर अपनी यात्रा के जो विवरण सुनाये, उन्हें लिख लिया गया। फाह्यान के इन विवरणों से तत्कालीन भारत की राजनीतिक, प्रशासनिक, सामाजिक और धार्मिक दशा का अच्छा ज्ञान प्राप्त होता है।

शासन—फाह्यान के वर्णनों से पता चलता है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य एक कुशल प्रशासक था। उसका शासन-प्रबन्ध बहुत अच्छा था। फाह्यान के यात्रा वर्णनों से पता चलता है कि शासक यद्यपि निरंकुश था, किन्तु स्वेच्छाचारी नहीं था। प्रजा के सामान्य जन-जीवन में सम्राट बहुत कम हस्तक्षेप करता था। जनता पर करों का अधिक बोझ नहीं था। असहाय और विपत्ति में फँसे लोगों के लिए साम्राज्य में दान-पुण्य करने वाली अनेक संस्थाएँ थीं। यात्रियों की सुविधा के लिए साम्राज्य की प्रमुख सड़कों के किनारे धर्मशालाएँ बनी होती थीं जहाँ मुफ्त भोजन

एवं अन्य सुविधाएँ दी जाती थीं। जनता की सुविधा के लिए साम्राज्य में औषधालय बने हुए थे जहाँ निःशुल्क भोजन व चिकित्सा का प्रबन्ध था। साम्राज्य में पूर्ण शान्ति एवं सुविधाएँ थी। फाह्यान को यह देखकर प्रसन्नता हुई कि उस समय भारत में कठोर दण्ड व्यवस्था नहीं थी फिर भी अपराध कम होते थे और यात्रियों को चोर डाकुओं का भय नहीं रहता था।

समाज —सामाजिक जीवन के बारे में बताते हुए फाह्यान ने लिखा था कि भारत के लोगो का जीवन नैतिकता पर आधारित था। उत्तरी भारत के लोग धर्मात्मा और विद्याप्रेमी थे और एक-दूसरे के साथ सहयोग एवं सहानुभूति से रहते थे। कोई व्यक्ति किसी जीव को नहीं मारता था। न कोई पशु बेचता था और न कसाइयों की दुकानें थीं। मदिरा नहीं पी जाती थी और लहसुन एवं प्याज का भी प्रयोग नहीं किया जाता था। इस देश में लोग सुअर और मुर्गियाँ नहीं पालते थे। ये काम केवल चाण्डाल करते थे, वे ही शिकार करते, मछली पकड़ते और बेचते थे। इनकी बस्तियाँ नगर के बाहर होती थीं। नगर में घुसते समय उन्हें लकड़ी बजाते हुए चलना पड़ता था, ताकि उनके आने की सूचना पाकर लोग रास्ते से हट जाएँ।

आर्थिक जीवन—फाह्यान लिखता है कि लोग धनी एवं सुसम्पन्न थे। धनी लोग गरीबों की सहायता के लिए दानशालाएँ एवं औषधालय आदि बनवाते थे, जहाँ सभी प्रकार की व्यवस्था निःशुल्क होती थी। देश की आर्थिक स्थिति उन्नत थी। कृषि, उद्योग एवं व्यापार उन्नत अवस्था में थे। आन्तरिक और बाह्य, दोनों व्यापार उन्नत थे। चीन, पूर्वी-द्वीप-समूह और पश्चिमी देशों से व्यापार होता था। विदेशी व्यापार सोने-चाँदी की मुद्राओं से होता था। साधारणतया लेन-देन में कोड़ियों का प्रयोग होता था। देश समृद्ध था। खाने-पीने के समान की कमी नहीं थी। लोगों का जीवन सुखमय था।

धार्मिक दशा—धार्मिक दशा के बारे में लिखते हुए चीनी यात्री बताता है कि सम्राट वैष्णव धर्म का अनुयायी था, किन्तु वह अन्य धर्मों का आदर करता था। उसका सेनापति बौद्ध एवं मन्त्री शैव था। उसके विवरण से पता चलता है कि पंजाब में बौद्ध धर्म उन्नति पर था। पंजाब व मथुरा में कई बौद्ध मठ थे। मध्य-प्रदेश में वैदिक धर्म का बोलबाला था। फाह्यान ने रथ-यात्रा का वर्णन किया है, जिसमें मनुष्य चार पहियों के पाँच-मंजिलें रथों में मूर्तियाँ रखकर जुलूस निकालते थे। इससे ज्ञात होता है कि प्रजा को धार्मिक स्वतन्त्रता थी और साम्राज्य में धार्मिक सहिष्णुता विद्यमान थी।

फाह्यान ने पाटलिपुत्र के बारे में भी वर्णन किया है। वह लिखता है कि अशोक द्वारा बनाया गया राजभवन ऐसा लगता था मानो कि उसे देवताओं ने बनाया हो। उसके अनुसार ऐसा कार्य कोई मनुष्य नहीं कर सकता था। इसके अतिरिक्त नगरों के मठों, विहारों और चैत्यो का भी विवरण फाह्यान ने दिया है।

फाह्यान के इस वर्णन से स्पष्ट होता है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के शासन काल में भारतीय जनता का जीवन सुख-समृद्धिपूर्ण था और धार्मिक सहिष्णुता विद्यमान थी।

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का व्यक्तित्व एवं मूल्यांकन

महान् विजेता एवं कुशल शासक—अपने पिता की भाँति चन्द्रगुप्त द्वितीय एक महान विजेता था। वह वीर, साहसी, उत्साही एवं महत्वाकाँक्षी व्यक्ति था। उसने अपने पिता की दिग्विजय को पूर्णता प्रदान की और सीमान्त राज्यों को पूर्णतया अपने साम्राज्य में मिलाया। उसने भारत से शकों और कुषाणों के विदेशी राज्यों को समाप्त किया। इस दृष्टि से उसने भारत को पूर्ण एकता और सुरक्षा प्रदान की। इसके साथ ही उसने एक व्यवस्थित शासन-प्रबन्ध को विकसित कर साम्राज्य में शान्ति और सुरक्षा कायम की, जिसके परिणामस्वरूप देश की बहुमुखी प्रगति हो सकी।

आप पढ़ चुके हैं कि उसने अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किए थे। यह कार्य उसकी राजनैतिक दूरदर्शिता का परिचय कराता है। वास्तव में इन्हीं सम्बन्धों से उसकी शक्ति बढी थी और भारत में विदेशी शासन समाप्त करने में और साम्राज्य प्रसार में वह सफल हुआ था।

अपने पिता समुद्रगुप्त की तरह विक्रमादित्य साहित्य और कला का महान प्रेमी था। वह स्वयं विद्वान और विद्वानों का आश्रयदाता था। ऐसा माना जाता है कि उसके दरबार में उस युग के नौ प्रसिद्ध विद्वान रहते थे, जो उसकी राज्यसभा के 'नवरत्न' कहलाते थे। इन नवरत्नों में मुख्यकर कालिदास, भवभूति और धन्वन्तरी प्रमुख थे। इन विद्वानों के सहयोग से उसके काल में संस्कृत भाषा में अद्वितीय साहित्यिक प्रगति और ज्ञान-विज्ञान का विकास हुआ।

साहित्य के साथ विक्रमादित्य वास्तुकला, संगीत एवं चित्रकला में भी बड़ी रुचि रखता था, जिसके परिणामस्वरूप उसके युग में इन कलाओं के क्षेत्र में अशातीत उन्नति हुई। इन सब गुणों के साथ चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य में उदारता और धार्मिक सहिष्णुता के गुण विद्यमान थे। पौराणिक धर्म का अनुयायी होते हुए भी वह अन्य धर्मावलम्बियों का सम्मान करता था और उनके प्रति पूर्ण सहिष्णु था। उसके राज्य में सरकारी पदों पर धर्म-निरपेक्षता के साथ नियुक्तियाँ होती थीं। फाह्यान के विवरणों से पता चलता है कि वह बौद्ध विहारों व मठों को उदारतापूर्वक सहायता देता था। वह बड़ा दानी था। उसने अपने राज्य में दान विभाग की अलग से स्थापना की थी। इस विभाग की ओर से बिना किसी भेद-भाव के दान दिया जाता था।

विक्रमादित्य के उत्तराधिकारी—लगभग चालीस वर्ष तक शासन करने के पश्चात् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की मृत्यु हुई। उसके बाद उसका पुत्र कुमारगुप्त साम्राज्य का अधिकारी बना। कुमारगुप्त अपने पिता की तरह वीर एवं साहसी तो

नहीं था, किन्तु बीलसद एवं कर्मदण्डा के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि उसने भी दिग्विजय आरम्भ की थी उसकी विजयों से गुप्तवंश का यश चारों ओर फैल गया था। कुमारगुप्त ने सभी क्षेत्रों में अपने पिता की नीतियों का पालन किया, जिनके परिणामस्वरूप उसके शासन काल में आमतौर पर सुख-शांति बनी रही। उसने अश्वमेध यज्ञ किए और धर्म के क्षेत्र में उदारता और सहिष्णुता की नीति को अपनाया। लेकिन कुमारगुप्त के शासन काल के अन्तिम दिनों में गुप्त साम्राज्य पर पुष्पमित्रों एवं हूणों के आक्रमण होने लगे, जिन्हें भारी संघर्ष के बाद दबाया जा सका।

स्कन्दगुप्त—कुमारगुप्त के पश्चात् 455 ई. में स्कन्दगुप्त, गुप्त-साम्राज्य का शासक बना। कुछ इतिहासकारों की मान्यता है कि कुमारगुप्त के बाद पुरुगुप्त शासक बना और पुरुगुप्त से राजगद्दी के लिए संघर्ष में जीत कर स्कन्दगुप्त शासक बना। किन्तु, यह प्रश्न अभी विवादपूर्ण है।

स्कन्दगुप्त का हूणों से संघर्ष--जिस समय स्कन्दगुप्त शासक बना, उस समय साम्राज्य कई कठिनाइयों से घिरा हुआ था। हूण लोग अपनी शक्ति का संगठन कर सिर उठाने लगे थे। स्कन्दगुप्त के सिंहासन पर बैठने के थोड़े समय बाद ही हूणों ने सिंधु नदी पार कर गुप्त साम्राज्य पर आक्रमण कर दिया। किन्तु स्कन्दगुप्त ने साहस के साथ उनका सामना किया और उन्हें परास्त कर खदेड़ दिया। इससे स्कन्दगुप्त का यश फैला। हूणों के अतिरिक्त स्कन्दगुप्त ने पुष्यमित्रों तथा म्लेच्छों को हराया। कहोम स्तम्भ अभिलेख से मालूम होता है कि सैकड़ों नरेश उसका आधिपत्य स्वीकार करते थे।

स्कन्दगुप्त का साम्राज्य--स्कन्दगुप्त का साम्राज्य उत्तरी भारत में सौराष्ट्र से बंगाल तक फैला था, किन्तु सम्भवतया मालवा गुप्त साम्राज्य से अलग हो गया था। फिर भी उसका साम्राज्य काफी विस्तृत था। उसने साम्राज्य की सुरक्षा के लिए सीमाओं पर योग्य सेनापतियों को नियुक्त किया था।

अन्य कार्य—अपने साम्राज्य में लोगों की भलाई के लिए स्कन्दगुप्त ने भी कई कार्य किए। उसने सौराष्ट्र की सुदर्शन झील के बांध के टूट जाने से उत्पन्न होने वाली आपत्ति में फंसे लगों को सहायता दी और खूब धन खर्च करके दो माह में ही सुदर्शन झील के बांध को पुनः ठीक करवाया। इसके सिवाय उसके समय में कई मूर्तियों का निर्माण भी हुआ। उसने सोने, चांदी और तांबे—तीन प्रकार के सिक्कों का प्रचलन किया। अपने पूर्ववर्ती सम्राटों की तरह स्कन्दगुप्त भी धार्मिक क्षेत्र में उदार एवं सहिष्णु था।

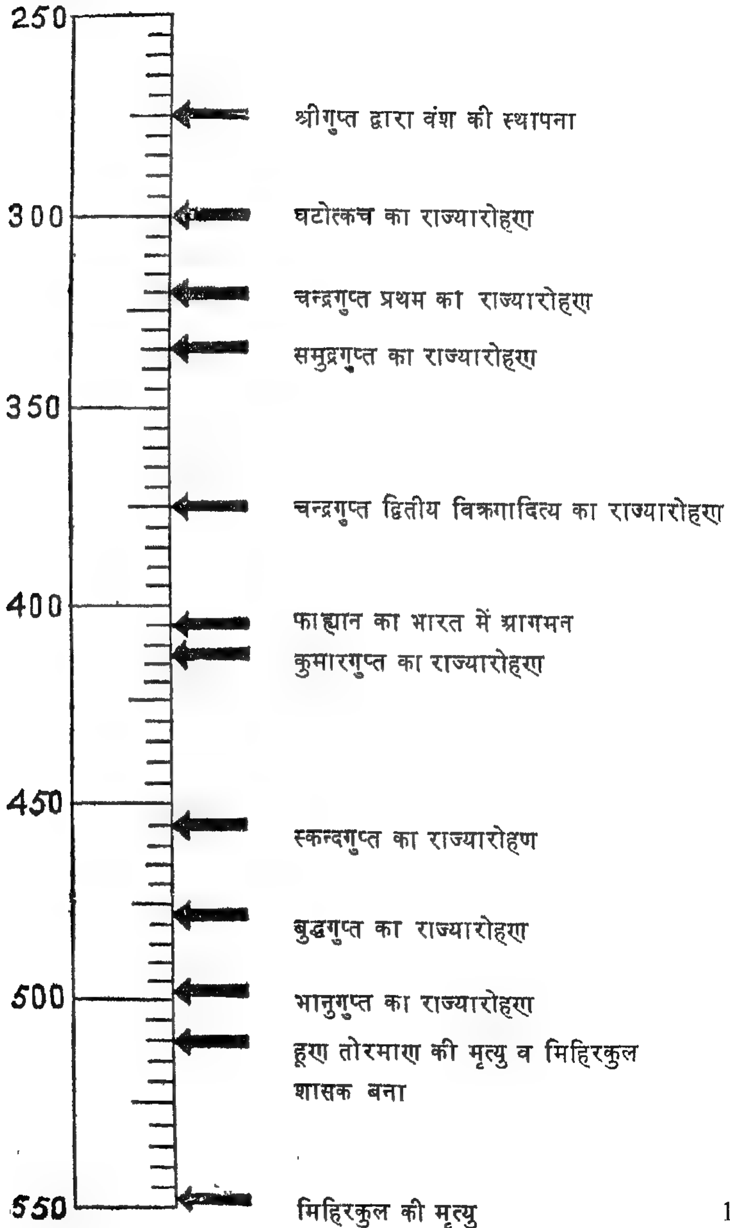
स्कन्दगुप्त के उत्तराधिकारी—सन् 467 ई. में स्कन्दगुप्त की मृत्यु हो गई। माना जाता है कि स्कन्दगुप्त की मृत्यु हूण आक्रमणकारियों के साथ संघर्ष में हुई। उसकी मृत्यु के बाद ही गुप्त साम्राज्य का पतन आरम्भ हो गया। स्कन्दगुप्त के कोई सन्तान नहीं थी। अतः उसकी मृत्यु के बाद उसका सौतेला भाई पुरुगुप्त सम्राट बना किन्तु वह गुप्त साम्राज्य को पराभव से नहीं बचा सका। उसके शासन काल में

ऊपर से नीचे ↓

गुप्त शासकों का कालक्रम

पैमाना 1" = 50 वर्ष

ईस्वी



वाकाटकों ने अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित कर ली। मालवा में उसका चाचा गोविन्दगुप्त स्वतन्त्र हो गया और सम्भवत: सौराष्ट्र भी उसके हाथ से निकल गया।

पुरुगुप्त के बाद उसका पुत्र नरसिंह गुप्त शासक बना। वह वीर एवं योग्य शासक था। उसने गुप्त साम्राज्य को पुन: गौरव प्रदान करने का प्रयत्न किया। किन्तु 36 वर्ष की उम्र में ही उसकी मृत्यु हो गई, अत: वह सफल नहीं हो सका।

नरसिंहगुप्त के बाद कुमारगुप्त द्वितीय शासक बना। उसने चार वर्ष तक राज्य किया और मालवा पर उसने पुन: अधिकार कर लिया। उसके सिक्कों से पता चलता है कि उसने विक्रमादित्य की उपाधि ग्रहण की थी। वह धर्मात्मा एवं योग्य शासक था। उसके काल में मन्दसोर के सूर्य मन्दिर का जीर्णोद्धार हुआ था।

कुमारगुप्त द्वितीय के बाद बुद्धगुप्त शासक बना। वह एक योग्य एवं शक्तिशाली शासक था। अभिलेखों से ज्ञात होता है कि बुद्धगुप्त ने गुप्त साम्राज्य की प्रतिष्ठा को पुन: कायम किया। उसके साम्राज्य में यमुना से नर्मदा तक पूरा प्रदेश, उत्तरी बंगाल तथा मालवा का प्रदेश सम्मिलित था। उसने बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया था। नालन्दा के बौद्ध विहार की उन्नति के लिए भी उसने प्रयत्न किए। उसने चांदी के सिक्के भी चलाए, जिन पर उसका नाम अंकित था।

बुद्धगुप्त के पश्चात् गुप्त साम्राज्य का शासक कौन बना, इस विषय पर विद्वानों में मतभेद है। कुछ का कहना है कि वेन्यगुप्त या तथागतगुप्त उसके बाद शासक बना। किन्तु अन्य विद्वान मानते हैं कि बुद्धगुप्त के बाद भानुगुप्त शासक बना किन्तु भानुगुप्त तथा बुद्धगुप्त में क्या सम्बन्ध था, यह स्पष्ट नहीं है। भानुगुप्त के काल में फिर से हूणों के आक्रमण होने लगे और मालवा पर हूणों ने अधिकार कर लिया। इसके पश्चात् गुप्त साम्राज्य की शक्ति क्षीण होती गई और 550 ई० में अन्तिम गुप्त सम्राट विष्णुगुप्त की मृत्यु के साथ गुप्त साम्राज्य का विघटन हो गया।

हूणों के आक्रमण

हूण चौथी शताब्दी के अन्तिम काल में चीन के पास के प्रदेश (एशिया के स्टेपीज) में रहते थे। वे घुमक्कड़ जन-समूह के रूप में इधर-उधर घूमते थे तथा बड़े बर्बर और असभ्य थे। जब उनकी जनसंख्या बढ़ने लगी, तो नए प्रदेशों की खोज में वे पश्चिम की ओर बढ़ने लगे। इस प्रयाण में हूण दो दलों मे बँट गए। एक दल ईरान होता हुआ यूरोप की तरफ चला गया। ये काले हूण कहलाए तथा दूसरे दल के लोग बक्षु (ऑक्सस) नदी के आस-पास बस गए। ये श्वेत हूण कहलाए। पाँचवीं शताब्दी के मध्य श्वेत हूणों ने ईरान पर अधिकार कर लिया और बाद में उन्होंने बाढ़ की तरह भारत की ओर बढ़ना और आक्रमण करना प्रारम्भ किया।

हूणों के भारत पर आक्रमण कुमारगुप्त के समय से आरम्भ हुए। आप पढ़ चुके हैं कि कुमारगुप्त ने बड़ी वीरता से हूणों का मुकाबला किया और कई कठिनाइयाँ सहन करते हुए भी उसने हूणों को परास्त कर, खदेड़ दिया। स्कन्दगुप्त

के शासनकाल में भी हूण भारत की ओर बढ़े, किन्तु स्कन्दगुप्त ने भी उन्हें परास्त किया इससे हूणों पर थोड़े समय के लिए गुप्त शासकों की शक्ति की धाक जम गई। किन्तु, जब स्कन्दगुप्त के बाद गुप्त साम्राज्य कमजोर पड़ने लगा, तब 5 वीं शताब्दी के अन्त में हूणों ने फिर संगठित होकर आक्रमण करने आरम्भ किए।

तोरमाण—हूणों के इन अभियानों का नेता 'तोरमाण' नामक उनका सरदार था। उसने पहले बक्षु नदी पार कर गान्धार पर अधिकार किया और तक्षशिला, पेशावर आदि को जीतकर पश्चिमी भारत के बहुत बड़े भाग पर अधिकार कर लिया। इसके बाद वह गुप्त साम्राज्य की ओर बढ़ा और मालवा तक आ पहुंचा। उत्तरकालीन गुप्त सम्राट् उसका सामना नही कर सके और साम्राज्य के पश्चिमी भाग पर तोरमाण का अधिकार हो गया। इन भागों पर आधिपत्य जमाने के बाद तोरमाण ने महाराजाधिराज की उपाधि धारण की। उसने अपने नाम के सिक्के चलाए। उसके समय के सिक्कों व दो अभिलेखों से अनुमान लगाया जाता है कि पंजाब, राजस्थान और मालवा संभवतः तोरमाण के राज्य थे। तोरमाण के इस आक्रमण से गुप्त साम्राज्य को भी भारी धक्का लगा।

मिहिरकुल—तोरमाण के बाद लगभग 515 ई० में उसका पुत्र 'मिहिरकुल' हूणों के राज्य का अधिकारी बना। वह बड़ा बर्बर एवं क्रूर व्यक्ति था, किन्तु हूणों के लिए वह बड़ा शक्तिशाली राजा सिद्ध हुआ। मिहिरकुल ने अपने पिता के साम्राज्य में कई प्रदेश और मिलाए तथा कश्मीर, पंजाब, सिन्ध, गुजरात, राजस्थान और मालवा तक उसके साम्राज्य का प्रसार हो गया। उसके साम्राज्य की राजधानी शाकल (स्यालकोट) थी। 530 ई० के अभिलेख से ज्ञात होता है कि ग्वालियर और उससे भी आगे तक उसका प्रभुत्व स्वीकार किया जाता था। कहा जाता है कि मिहिरकुल ने लंका पर भी आक्रमण किया था। अपने इन आक्रमणों के दौरान मिहिरकुल ने खूब अत्याचार किए। उसने कई बौद्ध लोगों को मौत के घाट उतार दिया और कई बौद्ध विहारों को नष्ट कर दिया। किन्तु, मिहिरकुल का यह प्रभुत्व शीघ्र ही समाप्त हो गया। ह्वेनसांग के विवरणों से पता चलता है कि मिहिरकुल ने नरसिंहगुप्त बालादित्य के समय मगध पर आक्रमण किया। किन्तु बालादित्य ने उसे परास्त किया। इसी तरह मिहिरकुल मालवा के राजा यशवर्मन से भी पराजित हुआ। किन्तु, सबसे पहले किससे उसकी पराजय हुई, यह स्पष्ट नहीं है। पराजित होने पर मिहिरकुल कश्मीर की ओर चला गया, जहाँ कश्मीर के राजा ने उसे शरण दी, किन्तु, वह इतना धूर्त निकला कि उसने शरण देने वाले कश्मीर के राजा को मारकर कश्मीर पर अधिकार कर लिया। इसके बाद उसने पुनः गान्धार पर भी अधिकार कर लिया। लेकिन एक वर्ष के अन्दर ही उसकी मृत्यु हो गई। उसकी मृत्यु के साथ ही हूणों का प्रभुत्व भारत के छिन्न-भिन्न हो गया।

हूण आक्रमणों का प्रभाव—हूणों का प्रभुत्व भारत पर बहुत कम समय तक रहा, किन्तु उनके आक्रमणों का भारत की राजनीतिक एकता तथा सांस्कृतिक प्रगति

पर विपरीत प्रभाव पड़ा। प्रथमतः हूणों के आक्रमणों ने गुप्त साम्राज्य की शक्ति को कमजोर कर दिया और गुप्त साम्राज्य का पतन अवश्यम्भावी हो गया।

हूणों ने इन आक्रमणों ने भारत की सांस्कृतिक प्रगति को भी रोक दिया। उन्होंने अपने आक्रमणों में कई स्थापत्य स्मारकों, बहुमूल्य ग्रन्थों तथा कलाकृतियों को नष्ट कर डाला। इनके आक्रमणों से उत्पन्न अशान्ति के काल में भारतीय संस्कृति का विकास रुक गया; साथ ही हूणों के भारत में बसने तथा यहाँ की जातियों के साथ उनके वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित होने से भारत में नवीन मिश्रित जातियों का उदय हुआ। बहुत से विद्वानों की मान्यता है कि भारत में राजपूतों की उत्पत्ति इन्हीं हूणों और क्षत्रियों के मेल से हुई। यद्यपि यह विवादपूर्ण है, किन्तु इतना अवश्य है कि हूणों के सम्मिश्रण से भारतीय आर्यों की रक्त शुद्धता समाप्त हुई तथा सामाजिक जीवन में नैतिक स्तर नीचे गिरा।

गुप्त साम्राज्य का पतन और उसके कारण—लगभग 250 वर्ष तक भारत पर शासन करने के पश्चात् गुप्त साम्राज्य का पतन हो गया। इस साम्राज्य के पतन के मुख्य कारण निम्नांकित थे—

1. **पुष्यमित्रों और हूणों का आक्रमण**—वस्तुतः गुप्त साम्राज्य के पतन का आरम्भ पुष्यमित्रों व हूणों के आक्रमण के साथ हुआ। कुमारगुप्त और स्कन्दगुप्त ने इनको सफलता के साथ दबाया। किन्तु स्कन्दगुप्त के पश्चात् तोरमाण और मिहिरकुल के आक्रमणों का सामना करने कि शक्ति बाद के गुप्त शासकों में नहीं थी। फलतः साम्राज्य का पश्चिमी भाग हूणों के अधिकार में चला गया और इससे गुप्त शासकों की केन्द्रीय शक्ति कमजोर पड़ गई।

2. **प्रान्तीय शासकों व सामन्तों की विद्रोही प्रवृत्ति**—साम्राज्य की केन्द्रीय शक्ति के क्षीण हो जाने पर प्रान्तीय शासकों व सामन्तों की महत्त्वाकांक्षा बढ़ना स्वाभाविक था। फलतः उन्होंने अपने आपको स्वतन्त्र घोषित करना आरम्भ किया और बाद के गुप्त शासकों में कोई इतना प्रबल शासक भी नहीं हुआ जो कि प्रांतीय शासकों को नियन्त्रण में ला पाता। ऐसी स्थिति में वल्लभी, मालवा, बंगाल आदि गुप्त साम्राज्य से स्वतन्त्र होने लगे। इससे साम्राज्य की एकता समाप्त हुई और साम्राज्य का पतन अवश्यम्भावी हो गया।

3. **उत्तराधिकारियों का कलह**—गुप्तवंश में राजगद्दी के उत्तराधिकार का कोई नियम नहीं था। परिणामस्वरूप चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के बाद राज्य सिंहासन पर अधिकार के लिए राज्य-परिवार में आपस में कलह होते रहे। इसका परिणाम यह हुआ कि केन्द्र मे संगठन रहने के स्थान पर आपसी षड्यन्त्रों का बोलबाला हो गया। इस प्रकार के आन्तरिक कलह और षड्यन्त्रों से राज्य की शक्ति कमजोर पड़ गई। शत्रुओं ने इसका लाभ उठाया और वे स्वतन्त्र हो गए और गुप्त साम्राज्य क्षीण हो गया।

4. **साम्राज्य की विशालता**—विक्रमादित्य के काल तक गुप्त साम्राज्य काफी

विस्तृत हो गया था। आवागमन के साधनों के अभाव में इतने बड़े साम्राज्य पर केन्द्र से नियन्त्रण रख पाना कठिन था; प्रतिभावान शासक ही इसमें सफल हो सकता था किन्तु दुर्भाग्य से स्कन्दगुप्त के बाद गुप्तवंश में कोई प्रतिभावान शासक नहीं हुआ, जो साम्राज्य के सभी भागों पर नियन्त्रण रख पाता और विद्रोहियों को दण्डित करता। ऐसी परिस्थितियों में प्रान्तीय शासकों का स्वतन्त्र होना स्वाभाविक था।

5. **बौद्धधर्म का प्रभाव**—गुप्त साम्राज्य के पतन में पिछले गुप्त शासकों का बौद्ध धर्म में रुचि लेना भी एक प्रमुख कारण था। बालदित्य, वेन्यगुप्त, बुद्धगुप्त आदि ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर अहिंसा की नीति का अनुसरण करना आरम्भ किया था। यह नीति उस युग में अपनाई गई थी, जबकि साम्राज्य बाह्य आक्रमणों तथा प्रान्तीय विद्रोह से घिरा हुआ था। ऐसी स्थिति में बौद्ध धर्म की अहिंसक नीति को अपनाकर स्वंय गुप्त शासकों ने अपनी शक्ति को कमजोर किया और साम्राज्य के पतन को आमन्त्रित किया।

6. **मित्रता की नीति का परित्याग**— गुप्त साम्राज्य की शक्ति के उदय और प्रसार का आधार भारत के प्रमुख राजवंशों से मित्रता के सम्बध स्थापित करना था। किंतु बाद के गुप्त शासकों ने मित्रता के महत्त्व को नहीं समझा यहाँ तक कि गुप्त राजा और वाकाटकवंशीय राजा, जो सम्बधी थे आपस में मित्रता के साथ नही रह पाए। इसका परिणाम यह हुआ कि बाह्य आक्रमणों के समय गुप्त शासकों को मित्रों का सहयोग नहीं मिल पाया और वे अपने साम्राज्य की रक्षा में असफल रहे।

7. **उत्तराधिकारियों की अयोग्यता**—प्रत्येक साम्राज्य की शक्ति और उन्नति शासक की योग्यता पर निर्भर करती है। चन्द्रगुप्त प्रथम, समुद्रगुप्त, विक्रमादित्य, स्कन्द गुप्त आदि गुप्त शासकों ने जो सफलता प्राप्त की थी, वह उनकी व्यक्तिगत योग्यता का ही प्रतिफल था। किंतु स्कदगुप्त के पश्चात् एक प्रबल और अच्छे गुणों वाले शासक का गुप्तवंश में अभाव रहा। उत्तर-कालीन गुप्त शासकों ने साम्राज्य की एकता, सीमाओं की सुरक्षा तथा विद्रोहों को दबाने की ओर ध्यान न देकर व्यक्तिगत सुख और विलास की ओर विशेष रुची रखी। इस स्थिति में उपर्युक्त पतन की परिस्थितयाँ और अधिक बढ़कर सामने आई और धीरे-धीरे क्षीण होकर गुप्त साम्राज्य का अन्त हो गया।

अध्ययन का उपयोग

नीचे दिए गए प्रश्नों का उत्तर दीजिए एवं अपने अध्ययन को उपयोगी बनाइए—

1. गुप्त साम्राज्य की स्थापना से पूर्व भारत की राजनैतिक स्थिति कैसी थी ?
2. गुप्त शासक कौन थे ? इस विषय पर विभिन्न विद्वानों का क्या मत है ?
3. गुप्त साम्राज्य की वास्तविक शक्ति का संस्थापक कौन था ?
4. समुन्द्रगुप्त ने भारत के किन-किन राज्यों पर विजय प्राप्त की और उनके साथ किस नीति का अनुसरण किया ?

5. चन्द्रगुप्त द्वितीय शासक कैसे बना तथा उसने कौन-कौन सी विजयें की ?
6. चीनी यात्री फाह्यान ने चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के शासन काल की राजनीतिक सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक दशा के बारे में क्या-क्या बातें लिखी हैं ?
7. चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के पश्चात् गुप्त वंश में कौन-कौन से प्रमुख शासक हुए ? उन्होंने क्या-क्या महत्त्वपूर्ण कार्य किए ?
8. भारत पर आक्रमण कर अपना आधिपत्य स्थापित करने वाले हूण नेता कौन-कौन थे ?
9. हूण आक्रमणों का भारतीय राजनीति व संस्कृति पर क्या प्रभाव पड़ा ?

अध्ययन की जांच

सही उत्तर की क्रमाक्षर कोष्ठक में लिखिए—

1. अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए चन्द्रगुप्त द्वितीय ने चन्द्रगुप्त प्रथम की जिस नीति को अपनाया, वह थी—
   (क) वैवाहिक सम्बन्ध स्थापना
   (ख) यूनानी शासकों से मित्रता स्थापित करना
   (ग) अपने राज्यों के पड़ौसी गणराज्यों को जीतना
   (घ) शक क्षत्रपों में मित्रता स्थापित करना। ( )
2. गुप्त शासकों के शासन काल में सभी धर्मों के लोग प्रसन्न थे, कारण कि—
   (क) उनके समय में हिन्दूधर्म को राज्य धर्म बनाया गया था।
   (ख) उनके समय में देश में धार्मिक सहिष्णुता विद्यमान थी।
   (ग) गुप्त शासकों ने सभी धर्मों के साथ समानता का व्यवहार किया था।
   (घ) उनके समय में धर्म-निरपेक्षता थी। ( )
3. किसी भी साम्राज्य या राज्य का अस्तित्व बना रह सकता है—
   (क) उसके पास शक्तिशाली सेना हो।
   (ख) उसके शासक सभी प्रकार से योग्य हों।
   (ग) उस पर विदेशी आक्रमण न हो।
   (घ) उसके पास शासन संचालन के लिए खूब धन हो। ( )

सोच-विचार कर उत्तर लिखिए—

1. समुद्रगुप्त को भारत का नेपोलियन क्यों कहा जाता है ?
2. किसी शासक अथवा शासकीय वंश की महानता का मूल्यांकन आप किन आधारों पर करना चाहेंगे ?
3. इलाहाबाद स्तम्भलेख, मेहरोली के लोह-स्तम्भ लेख तथा गुप्त शासकों द्वारा निर्मित विभिन्न सिक्कों का गुप्त-कालीन इतिहास को जानने में क्या महत्त्व है ?
4. चन्द्रगुप्त प्रथम, समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त द्वितीय तथा स्कन्दगुप्त के व्यक्तित्व के विभिन्न गुणों में से आप स्वयं किन-किन गुणों को अपनाना चाहेंगे और क्यों ?

निम्नलिखित क्रियात्मक कार्य कीजिए और अपना कौशल बढ़ाइए—

1. भारत के ऐतिहासिक मानचित्र में गुप्त साम्राज्य की सीमाओं का अंकन कीजिए तथा उन राज्यों को अंकित कीजिए, जिन्हें समुद्रगुप्त ने जीता था।
2. गुप्तकालीन शासकों के शासन काल की अपने अध्यापकजी की सहायता से एक समय-रेखा बनाइए।

पूरक अध्ययन ग्रन्थ

1. उदयनारायण राय : गुप्त सम्राट और उनका काल
2. डॉ० ओमप्रकाश : प्राचीन भारत का इतिहास
3. भगवत शरण उपाध्याय : प्राचीन भारत का इतिहास
4. राधाकुमुद मुकर्जी : प्राचीन भारत

अध्याय 12

गुप्तकालीन सभ्यता और संस्कृति

(भारतीय संस्कृति का स्वर्ण-युग)

पिछले अध्याय में जिन गुप्तवंशीय शासकों की कहानी आपने पढ़ी है, उनमें से प्रारम्भिक शासकों के कार्यों के बारे में पढ़कर आपको यह अवश्य अनुभव हुआ होगा कि इन शासकों में महान् योद्धा के गुण तो थे ही, साथ ही वे सुयोग्य प्रशासक भी थे। इन्होंने साम्राज्य प्रसार के साथ ही, देश मे सुख-शान्ति स्थापित करने तथा देश की आर्थिक और सामाजिक प्रगति करने के लिए बहुत प्रयत्न किए। फलत: उस काल में देश में सुख-शान्ति व समृद्धि बढ़ी तथा साहित्य, संगीत, कला और ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में बहुत उन्नति हुई। इसी बहुमुखी प्रगति के कारण प्राचीन, भारत के इतिहास में गुप्त वंश का शासन काल 'स्वर्ण युग' कहा जाता है।

शासन व्यवस्था

शासन का स्वरूप–गुप्तकालीन शासन-व्यवस्था राजतन्त्रात्मक थी। राजाओं के दैवी अधिकार का सिद्धान्त लोकप्रिय था। जनता सम्राट को शिव का प्रतिनिधि एवं न्याय की मूर्ति समझती थी। सम्राट महा-मानवीय गुणों को प्रदर्शित करने वाली उपाधियाँ, जैसे—महाराजाधिराज, परमभट्टारक, राजाधिराज आदि धारण करते थे। राजा का पद वंशपरम्परागत था। किन्तु राजा अपने आपको जनता की भलाई के लिए उत्तरदायी मानते थे तथा लोक कल्याण के लिए परिश्रम करते थे।

केन्द्रीय शासन—शासन का केन्द्र बिन्दु सम्राट होता था। मन्त्रियों तथा उच्च अधिकारियों की नियुक्ति वही करता था। किन्तु सम्राट् मनमानी नहीं करते

थे; अधिकारियों आदि की नियुक्ति में मन्त्रियों व उच्चाधिकारियों की सम्मति लेते थे तथा शास्त्रों द्वारा निर्धारित नियमों के अनुरूप शासन करते थे।

मन्त्रि-परिषद्—शासकीय कार्यों में सलाह एवं सहयोग के लिए मन्त्रि-परिषद् होती थी। सम्राट् मन्त्रियों की सलाह मानते थे, किन्तु उनकी बात मानना सम्राट् के लिए अनिवार्य नहीं था। मन्त्री वंश-परम्परानुसार बनते थे। उनके चुनाव में सैनिक योग्यता का ध्यान रखा जाता था। गुप्त सम्राटों के लगभग दस या आठ मन्त्री होते थे। मुख्य परामर्शदाता को 'मन्त्रिन्' कहा जाता था। विदेश मन्त्री 'महासंधिविग्राहक' कहलाता था। 'अक्षपटलाधिकृत' राजकीय पत्र-व्यवहार से सम्बन्धित मन्त्री होता था। सैनिक एवं पुलिस मन्त्री को महाबलाधिकृत या 'महादण्डनायक' कहा जाता था। राजकुमार के समकक्ष मन्त्री को 'कुमारामात्य' कहा जाता था। महत्त्वपूर्ण विषयों पर मन्त्रि-परिषद् में विचार-विमर्श होता था। मन्त्रियों के अतिरिक्त 'सन्धिविग्राहक' 'दण्डपाशिक' आदि अन्य कई उच्च पदाधिकारी भी होते थे।

प्रान्तीय शासन—गुप्त साम्राज्य बहुत विस्तृत था, अतः प्रशासनिक सुविधा की दृष्टि से साम्राज्य को कई भागों में बाँटा गया था। प्रान्तों को 'देश' या 'भुक्ति' कहा जाता था। प्रान्तीय शासकों की नियुक्ति सम्राट् करते थे और प्रायः वे राजकुल के व्यक्ति होते थे। प्रान्त के अध्यक्ष को 'उपरिक' कहा जाता था। कभी-कभी वे उपरिक महाराज भी कहलाते थे। इसका मुख्य कार्य अपने प्रान्त की रक्षा एवं प्रान्त में शान्ति व्यवस्था बनाए रखना था। प्रान्तीय शासक अपने दैनिक कार्य-सम्पादन के लिए अलग अधिकारी नियुक्त करते थे। राजधानी और उसके निकटवर्ती भागों पर सम्राट् का सीधा शासन रहता था। प्रान्त 'प्रदेशों' में तथा प्रदेश कई 'विशयों' (जिलों) या मण्डलों में विभक्त होते थे। विश के अधिकारी को 'विशपति' कहते थे और उनके कई सहयोगी अधिकारी होते थे। प्रत्येक विशय या जिले में एक सलाहकार परिषद् होती थी, जो जिले के अधिकारियों को परामर्श देती थी। विश की परिषद् में प्रधान साहूकार (प्रथम श्रेष्ठी), प्रधान व्यापारी (प्रथम सार्थवाह), प्रधान शिल्पी आदि सदस्य होते थे।

स्थानीय शासन—प्रत्येक 'विशय' में कुछ नगर और कई ग्राम होते थे। नगर की व्यवस्था के लिए नगर-सभाएँ होती थीं। नगर सभा का अध्यक्ष 'नगरपति' कहा जाता था। नगर सभा के माध्यम से जनता स्वयं अपनी व्यवस्था करती थी। नगरों के शासन के लिए 'सुरपाल' नामक अधिकारी होता था।

शासन की सबसे छोटी इकाई ग्राम थे। ग्राम की व्यवस्था के लिए 'ग्राम-सभाएँ' होती थीं। साथ ही सुरक्षा, न्याय, कर वसूल करना आदि कार्यों में ये 'ग्रामाध्यक्ष' की सहायता करती थीं। ग्रामाध्यक्ष या 'ग्रामेयक' ग्राम के मुखिया को कहते थे। ग्रामसभा की कई उपसमितियाँ होती थीं। जैसे—कृषि समिति, सिंचाई

व उद्यान समिति, मन्दिर समिति आदि । ये उपसमितियाँ अपने-अपने क्षेत्र का कार्य सम्भाल कर ग्राम सभा के कार्यों को पूरा करती थीं । ग्राम शासन की यह व्यवस्था लोक-कल्याण की भावना पर आधारित थी ।

भूमि प्रबन्ध व राजस्व—सरकार कृषि के प्रति सतर्क थी । भूमि को नियमित रूप से नापा जाता था । साम्राज्य में राजस्व का मुख्य विभाग था । राज्य की आय का मुख्य साधन 'भूमि-कर' था । कर नकद और वस्तु, दोनों रूप में वसूल किया जाता था । इसके अतिरिक्त चुँगी, खानों व वनों से आय, न्यायालय शुल्क, जुर्माना, अधीन राजाओं से कर, उपहार तथा भेंटों से भी साम्राज्य की आय होती थी ।

न्याय व्यवस्था—गुप्तकाल में न्याय व्यवस्था अच्छी थी । केन्द्र में न्याय का कार्य सम्राट् करते थे । प्रान्तों, जिलों तथा नगरों में अलग-अलग न्यायालय होते थे । ग्रामों में 'ग्रामसभा' की सहायता से राज्य कर्मचारी न्याय करते थे । गुप्तकाल में दण्ड-विधान बहुत उदार था । प्राण दण्ड नहीं दिये जाते थे । अंग-भंग की सजा भी बहुत कम दी जाती थी । राजद्रोह पर दाहिना हाथ काट लिया जाता था । उदार दण्ड-विधान होते हुए भी अपराध बहुत कम होते थे । जनता नियमों का स्वतः पालन करती थी ।

सैनिक प्रबन्ध—अपने विशाल साम्राज्य की सुरक्षा के लिए गुप्त सम्राटों ने एक सुनियोजित सेना का संगठन किया । सेना प्रमुखतया हाथी, घोड़े एवं पैदल इन तीन भागों में विभक्त थी । सेना के अनेक पदाधिकारी होते थे । इनमें 'महादण्ड-नायक' का पद महत्त्वपूर्ण था । सेना के अन्य अधिकारी 'बलाधिकृत', रणभण्डा-धिकृत' 'महाश्वपति' आदि होते थे । प्रान्तों की सामन्ती सेनाएँ भी होती थीं, जो आवश्यकता के समय सम्राट् की सहायता करती थीं ।

पुलिस एवं गुप्तचर विभाग—सेना के सिवाय पुलिस एवं गुप्तचरों की व्यवस्था भी गुप्त शासकों ने बड़ी अच्छी रखी थी । इस विभाग के अलग अधिकारी होते थे । ये साम्राज्य में शान्ति व्यवस्था की देख-रेख के प्रति उत्तरदायी होते थे ।

सामाजिक जीवन

समाज का स्वरूप—आर्यों की वर्ण व्यवस्था के अनुरूप गुप्तकाल में भी भारतीय समाज मुख्यतया ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र इन चार वर्णों में विभक्त था । किन्तु, इसमें जटिलता नहीं थी । जाति-व्यवस्था विद्यमान थी, पर प्रत्येक जाति को व्यावसायिक स्वतन्त्रता प्राप्त थी । वर्णों तथा जातियों में आपसी सम्पर्क था और परस्पर आदान-प्रदान होता था । फिर भी समाज में छुआछूत की भावना विद्यमान थी । चाण्डालों व अछूतों को शहर के बाहर रहना पड़ता था । नगर में घूमते समय वे लकड़ी बजाते हुए निकलते थे, ताकि लोग उन्हें न छूएँ । विभिन्न वर्णों में अपसी विवाह होते थे ।

परिवार—समाज की मुख्य इकाई परिवार थे। परिवार पितृसत्तात्मक प्रणाली पर आधारित होते थे तथा संयुक्त परिवार प्रथा विद्यमान थी। दो-तीन पीढ़ियों तक लोग साथ-साथ रहते थे, परिवार में वयोवृद्ध पुरुष की प्रधानता होती थी। पैतृक सम्पत्ति का अधिकारी पुत्र माना जाता था। एक से अधिक पुत्र होने पर सभी में सम्पत्ति का बँटवारा होता था।

स्त्रियों की दशा और विवाह—समाज में स्त्रियों की दशा सामान्यतः अच्छी थी। कभी-कभी ग्रामों की स्त्रियाँ 'ग्रामाध्यक्ष' का कार्य भी करती थीं। उच्च कुलों की स्त्रियों को साहित्य, इतिहास आदि की शिक्षा दी जाती थी। स्त्रियाँ चित्रकला व संगीत में निपुण होती थीं। बाल-विवाह का रिवाज था। कन्याओं का विवाह 12 या 13 वर्ष की उम्र में होता था। लड़कियों को अपना पति चुनने की अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं थी। पत्नी पर पति का प्रभुत्व बढ़ने लगा था। पुनर्विवाह वर्जित नहीं थे, किन्तु इनका प्रचलन अधिक नहीं था। विधवाएँ सादा जीवन बिताती थीं। पर्दा-प्रथा एवं सती-प्रथा व्यापक रूप से प्रकट नहीं हुई थी, किन्तु किन्हीं अंशों में इनका प्रचार हो चला था।

रहन-सहन—साधारणतया लोगों की पोशाक धोती व चादर थी। विशेष अवसरों पर पगड़ी भी पहनी जाती थी। भारतीय राजाओं ने शकों के प्रभाव से प्रचलित कोट, पाजामें आदि पहनना भी आरम्भ कर दिया था। स्त्रियाँ साड़ी, पेटीकोट एवं आंगी पहिनने लगी थीं। रंगीन साड़ियाँ पहनी जाती थीं। साधारण जनता सूती कपड़े तथा धनी लोग रेशम व ऊनी वस्त्रों का उपयोग करते थे। स्त्रियों और पुरुषों को आभूषण पहिनने का शौक था। स्त्रियाँ टीका, कर्णफूल, मोतियों के हार, केयूर, चूडी, मेखलाएँ, बाजूबन्द इत्यादि आभूषण अधिक पहिनती थीं। वे विविध प्रकार के केश-विन्यास करती थीं और बालों में पुष्प मालाएँ लगाती थीं।

खान-पान—समाज में शाकाहारी तथा मांसाहारी दोनों प्रकार के लोग थे। किन्तु अधिकाँश लोग शाकाहारी थे। बौद्ध धर्म व भक्ति सम्प्रदाय के प्रचार के कारण मांसाहार कम हो चला था। श्राद्धों और बीमारी के समय हिन्दुओं को मांस का प्रयोग करने की आज्ञा थी। मदिरा-पान का प्रचलन कम था, परन्तु क्षत्रिय मदिरा पीते थे। ब्राह्मण मदिरा नहीं पीते थे। अच्छे खाने का लोगों को बहुत शौक था।

आमोद-प्रमोद—मेले, उत्सव, नाटक, अभिनय, संगीत, नृत्य, जुआ, शतरंज, गेंद, शिकार आदि के खेल आमोद-प्रमोद के साधन थे। भैंसों, हाथियों, मुर्गों व भेड़ों की लड़ाई भी मनोरंजन हेतु करवाई जाती थी। लोग संगीतप्रिय थे तथा इस कला को पूरा सम्मान प्राप्त था।

नैतिक स्तर—गुप्तकाल के लोगों के जीवन का नैतिक स्तर काफी उन्नत था। चोरी व लूटपाट का भय नहीं था। लोग व्यवहार कुशल थे और उनका आचार-विचार का स्तर काफी ऊँचा था। अतिथि का सत्कार करना वे अपना कर्त्तव्य समझते थे। लोगों का जीवन सुख-शान्तिमय था।

आर्थिक जीवन

प्रत्येक देश और समाज की प्रगति वहाँ के आर्थिक आधारों की उन्नत व्यवस्था पर निर्भर करती है। गुप्तकाल में भारतीय आर्थिक जीवन के तीनों आधार—कृषि, उद्योग एवं व्यापार उन्नति पर थे।

कृषि—गुप्तकाल में भारतीय आर्थिक जीवन का मुख्य आधार कृषि था। भिन्न-भिन्न प्रकार के अन्न, दालें, सब्जियाँ-फल, कपास, मसाले आदि उत्पन्न किए जाते थे। राज्य की ओर से कृषि की उन्नति पर विशेष ध्यान दिया जाता था। सरकार सिंचाई के प्रबन्ध के प्रति सतर्क थी। खेती का तरीका उन्नत था। भूमि खाली पड़ी नहीं रहती थी।

उद्योग—कृषि के साथ-साथ विभिन्न उद्योग धन्धे गुप्तकाल में विकसित थे। कपड़ा बुनना देश का प्रधान व्यवसाय था। सूती, ऊनी, रेशमी आदि सभी प्रकार के वस्त्र बनाए जाते थे। वस्त्र उत्पादन के प्रमुख केन्द्र बंगाल, गुजरात, तमिलदेश आदि राज्यों में स्थित थे। देश में लाखों लोग इस व्यवसाय में लगे थे। कपड़ों को रंगा भी जाता था और उस पर कलात्मक कार्य भी होता था। इसके अतिरिक्त धातु-उद्योग, लकड़ी का उद्योग आदि भी विकसित थे। सोने-चाँदी के आभूषण व मूर्तियाँ, पीतल-काँसे की मूर्तियाँ तथा ताँबे के बर्तन बनाये जाते थे। मोतियों व मणियों के आभूषण बनाने का धन्धा भी काफी उन्नत था। हाथी दाँत की विभिन्न वस्तुएँ बनाई जाती थीं। लकड़ी की सुन्दर वस्तुएँ बनाई जाती थी, लकड़ी के समुद्री जहाज बनाए जाते थे। लोहे का व्यवसाय भी प्रचलित था। चित्रकारी तथा रंगाई बहुत से लोगों का व्यवसाय था।

व्यावसायिक श्रेणियां—गुप्तकाल में जुलाहों, तेलियों, संगतराशों आदि विभिन्न व्यवसायों की श्रेणियाँ (संघ) बनी होती थीं। प्रत्येक श्रेणी का कार्य उसका एक प्रमुख तथा चार-पाँच सदस्यों वाली कार्यकारिणी चलाती थी। श्रेणियों के अपने-अपने नियम होते थे, जिन्हें सरकार भी मानती थी। इन श्रेणियों को समाज में सम्मान प्राप्त था। ये बैंक की तरह कार्य करती थीं। बहुत से लोग अपना पैसा इनमें जमा कराते थे। श्रेणियों द्वारा बच्चों और युवकों को अपने-अपने शिल्प की शिक्षा देने की व्यवस्था करती थी। इन श्रेणियों के अन्तर्गत चलने वाले उद्योग-व्यवसाय को राज्य व समाज की ओर से पर्याप्त प्रोत्साहन मिलता था।

व्यापार—गुप्तकाल में व्यापारिक दृष्टि से बड़ी प्रगति हुई। देश का आंतरिक और बाह्य दोनों प्रकार का व्यापार उन्नति पर था। व्यापारी बिना किसी भय से देश में एक स्थान से दुसरे स्थान पर वस्तुएँ लाते ले जाते थे। आन्तरिक व्यापार सड़क तथा नदियों के मार्गों से होता था। देश के प्रमुख नगर सड़कों से जुड़े हुए थे। मार्ग पूर्णरूपेण सुरक्षित थे। व्यापारिक सामान गाड़ियों, पशुओं तथा नावों में ढोया जाता था। दैनिक उपयोग की वस्तुओं का मूल्य कम था। साधारण वस्तुओं के लेनदेन में कोड़ियों का प्रयोग होता था।

गुप्तकाल में भारत का विदेशी व्यापार होता था। पूर्वी द्वीप-समूह लंका, चीन, तिब्बत, ईरान और पश्चिमी देशों से व्यापार होता था। आन्ध्र के 'कूडूर' ओर 'घटशाला' चोल प्रदेश में 'कावेरीपट्टम' मालाबार तट पर 'कोट्यम' और 'मुजरिस' आदि प्रसिद्ध व्यापारिक बन्दरगाह थे। गुजरात और पश्चिमी तट पर 'कल्याण', 'भड़ौंच' तथा 'कैम्बे' प्रसिद्ध बन्दरगाह थे। पूर्व में 'ताम्रलिप्ति', पूर्वी देशों से व्यापार का बहुत बड़ा बन्दरगाह था। इन सभी बन्दरगाहों से मोती, मणियाँ, नीलम, मूल्यवान पत्थर, मशाले, कपड़े, सुगन्धित सामान, हाथी-दाँत, औषधियाँ तथा नारियल आदि विदेशों को जाते थे। विदेशों से भारत में सोना, चाँदी, तांबा, जस्ता, मूंगा, कपूर, रेशम, खजूर, घोड़े आदि आते थे।

साहित्यिक विकास—गुप्त शासक साहित्य और कला के संरक्षक थे। उनके समय में भारत में संस्कृत भाषा और साहित्य की खूब प्रगति हुई तथा इस भाषा में धार्मिक, दार्शनिक तथा विशुद्ध काव्य-साहित्य के रूप में कई पुस्तकों की रचना हुई। इस काल में रचे गये धार्मिक साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान पुराणों का है। इस युग में पुराणों को वर्तमान स्वरूप मिला। इसके अतिरिक्त 'याज्ञवल्यक्य स्मृति', 'नारद स्मृति', 'कात्यायन स्मृति' तथा 'वृहस्पति स्मृति' आदि ग्रन्थ भी इस युग में तैयार हुए। नीति के ग्रन्थों में 'कामन्दकीय', 'नीति-सागर' तथा प्रसिद्ध नीति कथा के ग्रंथ 'पंचतन्त्र' इसी युग में लिखे गए। पंचतंत्र की कहानियाँ भारत की विश्व को बहुत बड़ी देन है। इन कहानियों द्वारा बड़े रुचिकर ढंग से नीति और ज्ञान की बातों को स्पष्ट किया गया है। रामायण एवं महाभारत महाकव्य भी नए रूप में इसी युग में तैयार हुए। निरुवल्लूवर नामक लेखक ने तामिल भाषा में 'कुरल' नामक प्रसिद्ध ग्रंथ भी इसी युग में लिखा था, जिसमें नीति राजनीति, तथा श्रृंगार की विशद विवेचना है। आध्यात्मिक साहित्य की तरह ही दार्शनिक साहित्य के रूप में भारतीय षट्दर्शन के कई पक्षों पर इस युग में टीकाएं लिखि गई तथा बौद्ध धर्म के साहित्य का भी सृजन हुआ। आर्यशूर की 'जातकमाला' भी इसी युग में लिखि गई। जैन लेखकों ने 'तत्वार्थधिगमसूत्र' तथा जैन सिद्धान्तों पर 'न्यायावतंस' नामक ग्रन्थ लिखें।

गुप्तकाल में विशुद्ध काव्य साहित्य की रचनाएँ भी प्रभूत मात्रा में लिखीं गई। इस युग में हरिषेण, विशाखदत्त, शुद्रक, कालिदास आदि संस्कृत भाषा के साहित्यकार हुए, जिन्होंने अपनी विविध रचनाओं से मात्र गुप्तकाल को नहीं, बल्कि भारत के सभी युगों के साहित्य को उच्च कोटि के काव्य, नाटक, कथा-साहित्य एवं गद्य-साहित्य से भर दिया। इस काल में भारतीय साहित्य अनुभूति और अभिव्यक्ति की चरम सीमाएँ छूने लगा। विशाखदत्त ने 'मुद्राराक्षस' तथा 'देवीचन्द्रगुप्त नामक नाटकों की रचना की। शूद्रक ने सामाजिक जीवन का चित्र प्रस्तुत करने वाले 'मृच्छकटिक' नाटक की रचना की। भारवी ने 'किरातार्जुनियम्' ग्रन्थ लिखा तथा भट्टि ने 'भट्टिकाव्य' तथा 'रावण-वध' इसी युग में लिखे। सुबन्धु इस युग का प्रसिद्ध गद्य-लेखक था। उसने 'वासवदत्ता' नामक श्रेष्ठ ग्रन्थ की रचना की। लेकिन गुप्तकाल की सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक विभूति प्रख्यात कवि और नाटककार कालि-

दास था। यह साहित्यकार चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की राजसभा के नवरत्नों में प्रमुख था। उसने 'कुमारसंभव' तथा 'रघुवंश' दो महाकाव्य; 'मेघदूत' और 'ऋतुसंहार' दो खण्डकाव्य तथा 'विक्रमोर्वशीय', 'मल्विकाग्निमित्र', तथा'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' तीन नाटक लिखे। इनमें रघुवंश, मेघदूत तथा अभिज्ञान शाकुन्तलम् अपने युग की ही नहीं अपितु विश्व साहित्य के प्रत्येक युग की सर्वोत्कृष्ट साहित्यक रचनाएं हैं। भाषा का ओज, भावों की कोमलता तथा उपमाओं की कमनीयता कालिदास की रचनाओं की प्रमुख विशेषताएँ हैं। वस्तुत: महाकवि कालिदास ने अपनी साहित्यक रचनाओं द्वारा संस्कृत साहित्य को अमर बना दिया है। वह भारत के लिए गर्व करने योग्य साहित्यकार था। इन उच्च कोटि की रचनाओं के सिवाय चन्द्रागोभिन ने व्याकरण के सिद्धान्तों को स्पष्ट करने वाली 'चन्द्र व्याकरण' तथा अमरसिंह ने 'अमरकोष' की रचना कर भारतीय साहित्य को समृद्ध किया।

ज्ञान विज्ञान की प्रगति

गणित—भाषा और, साहित्य के साथ-साथ गुप्त काल में गणित, ज्योतिष, चिकित्सा एवं रसायन शास्त्र के क्षेत्र में भी पर्याप्त प्रगति हुई। वक्षाली पाण्डुलिपि से ज्ञात होता है कि भिन्न, वर्गमूल, अंकगणित तथा रेखागणित पर आधारित संख्याओं के योग की पद्धति का विकास इसी युग में हुआ। आर्य भट्ट नामक विद्वान गणितज्ञ ने दशमलव प्रणाली का ज्ञान संसार को दिया तथा वृत्त, त्रिभुज, बीजगणित एवं त्रिकोणमिति के कई सिद्धान्तों का विवेचन किया।

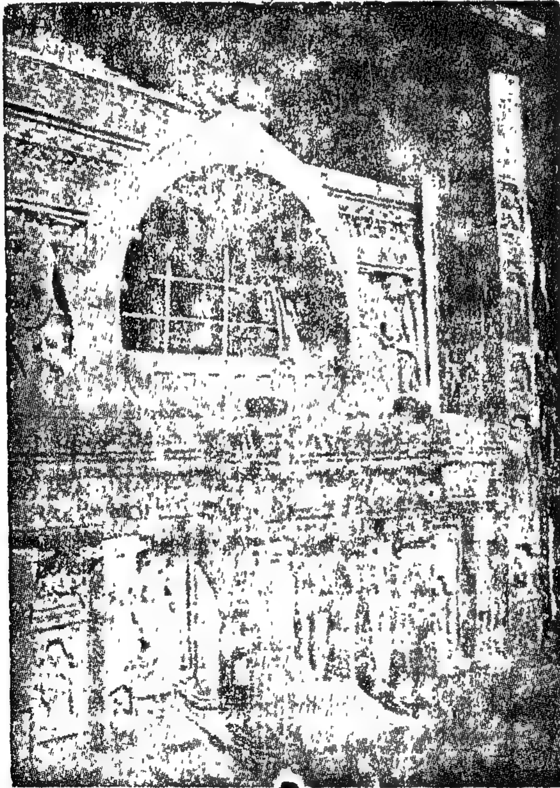
ज्योतिष—गणित के आधार पर ज्योतिष की भी इस युग में खूब प्रगति हुई। आर्यभट्ट गणितज्ञ होने के साथ-साथ ज्योतिष का भी विद्वान था। उसने ही पृथ्वी के अपनी कीली पर चारों ओर घूमने के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया तथा विभिन्न ग्रहों और नक्षत्रों की गति का पता लगा'कर सूर्य और चन्द्र ग्रहण के कारणों को स्पष्ट किया। ब्रह्मगुप्त नामक ज्योतिषी ने 'ब्रह्म-सिद्धान्त' नामक ज्योतिष की पुस्तक लिखी। वराहमिहिर इस काल का प्रसिद्ध ज्योतिषी था। उसने 'लघु-जातक,' 'वृहद-जातक', 'विवाह-पटल', 'योगमाया', 'वृहद-संहिता' तथा 'पंचसिद्धान्तिका' नामक ग्रंथ लिखे। इसके अतिरिक्त 'सूर्य सिद्धान्त' नामक ग्रन्थ भी इसी युग में लिखा गया तथा नि:शंक, लाटदेव, पान्डुरंग आदि ज्योतिष के विद्वान भी इसी युग में हुए।

चिकित्सा एवं रसायन विद्या—चिकित्सा एवं रसायन विद्या के क्षेत्र में भी गुप्तकाल में कई अन्वेषण हुए। चरक तथा सुश्रुत संहिता का वर्तमान स्वरूप गुप्तकाल में ही बना। वाग्भट्ट ने आयुर्वेद 'अष्टांग संग्रह' नामक ग्रन्थ की रचना की। नागार्जुन इस काल का रसायनशास्त्र तथा धातु विज्ञान का महान विद्वान था। उसने बताया कि धातुओं से सभी रोगों को दूर किया जा सकता है। उसी ने 'रस चिकित्सा प्रणाली' (विविध धातुओं एवं अन्य वस्तुओं की भस्म बनाकर औषधि के रूप में उनका प्रयोग) का आविष्कार करके चिकित्सा के क्षेत्र में नवीन पद्धति का सूत्रपात किया।

रसायन प्रक्रिया एवं धातु-शोधन के कार्य में भी गुप्तकाल में पर्याप्त विकास हुआ। उस युग के धातु-शोधन के उच्च ज्ञान का परिचय दिल्ली में कुतुबमीनार के पास लगे एक लोहे स्तम्भ से होता है। 24 फीट लम्बे तथा लगभग 180 मन वजन के इस स्तम्भ को देखकर आश्चर्य होता है कि सैंकड़ों वर्षों की बरसात व धूल सहन कर लेने पर भी आज यह स्तम्भ बिना जंग खाए खड़ा है। यह अभी रहस्यमय बात है कि किस तरह इस स्तम्भ के लोहे को शुद्ध किया गया होगा कि उस पर कभी भी जंग न चढ़ने पाए। वास्तव में यह गुप्तकाल के धातु-विज्ञान से सम्बद्ध उच्च ज्ञान का परिचायक है।

कलात्मक विकास—शान्तिमय वातावरण में शासक वर्ग का सहयोग पाकर भारतीय स्थापत्य कला, मूर्तिकला, चित्रकला, मुद्रा-निर्माण-कला आदि के क्षेत्र में गप्तकाल का खूब विकास हुआ।

स्थापत्य कला—गुप्तकाल में भारत में अनेक मन्दिरों और बौद्ध विहारों,



गुप्तकालीन स्थापत्य कला (अजन्ता की गुफा-19)

चैत्यों, स्तूपों तथा राजमहलों आदि का निर्माण हुआ । यद्यपि गुप्तकाल के राज्य भवन तथा अन्य स्थापत्य स्मारक अब शेष नहीं हैं, फिर भी जबलपुर, देवगढ़, झाँसी, भीतरी गाँव, बौद्ध गया, भूमरा, तचनाकुठरा (अजयगढ़ राज्य में) के मन्दिर उस काल की उन्नत स्थापत्य कला का परिचय कराते हैं । जबलपुर में तिगावा में विष्णु मन्निर के स्तम्भ-कलश एवं सिहों की आकृतियाँ दर्शनीय हैं । देवगढ़ (झाँसी) का दशावतार मन्दिर भी अपने सतम्भों एवं 12 मीटर ऊँचे शिखर से दर्शकों को आकर्षित करता है । भीतरी गाँव का ईंटों का बना मन्दिर अपनी मिट्टी की मूर्तियों की कलात्मकता के लिए प्रसिद्ध है । इनके अतिरिक्त असम में उहपर्वतिया, नागोद का शिव मन्दिर और सांची व बौद्ध गया के मन्दिर भी अपनी स्थापत्य कला के लिए प्रसिद्ध है ।

मन्दिरों के अतिरिक्त गुप्तकालीन स्मारकों में राजगिरी में 'जरासन्ध की बैठक का 'स्तूप' तथा 'सारनाथ का धमेख स्तूप' भी प्रसिद्ध है । धमेख स्तूप की ऊँचाई तथा सजावट प्रशंसनीय है । किन्तु इन स्मारकों से कहीं अधिक आर्कषक व भव्य दरीगृह (पहाड़ों को काटकर बनाई गई गुफाएँ) हैं, जो अजन्ता, उदयगिरी (मध्य-भारत मे) तथा दक्षिणी भारत मोगुलराजपुरम् एवं उण्डकिल्ली के पहाड़ों को काट-काट कर बनाए गए हैं । इन दरीगृहों के स्तम्भ, मूर्तियाँ और चित्रकारी बड़ी आकर्षक हैं । ये मात्र आकर्षक ही नहीं, आश्चर्यजनक भी हैं ।

मूर्तिकला– स्थापत्य कला की तरह ही मूर्तिकला भी गुप्तकाल में विकास के सर्वोत्कृष्ट शिखर पर थी । इस काल में अनेक हिन्दू देवी-देवताओं तथा बुद्ध की मूर्तियों का निर्माण हुआ । इस काल में बनी मूर्तियों में उदयगिरी की 'वाराह-अवतार' की मूर्ति, पाथारी में श्री कृष्ण के जन्म के दृष्य की मूर्तियाँ, देवगढ़ के मन्दिर में शेष-शैय्या पर सोये विष्णु की मूर्ति तथा मण्डोर (जोधपुर) में श्री कृष्ण के जीवन की कई झाँकियों को प्रदर्शित करने वाली मूर्तियाँ बड़ी आकर्षक हैं । इसके अतिरिक्त बुद्ध की मूर्तियों में मन्कुवर तथा सारनाथ की पत्थर की बुद्ध की प्रतिमाएँ, मथुरा संग्रहालय में रखी बुद्ध की खड़ी मूर्ति यथा सुल्तानगंज की विशाल ताँबे की बुद्ध प्रतिमा, गुप्तकालीन मूर्तिकला के श्रेष्ठ नमूने हैं । इन सभी मूर्तियों को देखकर लगता है कि अपनी भावनाओं को अपनी छैनी की करामात से पत्थर और धातु में उतारने में गुप्तकाल का मूर्तिकार दक्ष था । गुप्तकाल की मूर्तियों की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि बाह्य सौन्दर्य के स्थान पर आन्तरिक भावों की अभिव्यक्ति उनमें बडी कुशलता से हो पायी है । इन मूर्तियों की निर्माण कला की उत्कृष्टता बताते हुए डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल ने लिखा है कि "गुप्तकालीन कला को जो कुछ सम्मान प्राप्य है, वह उसे अधिकाँश में तत्कालीन मूर्तिकला से ही मिला है ।"

चित्रकला—भारतीय कला का सर्वोच्च अध्याय गुप्त काल की चित्रकला है । अजन्ता, ग्वालियर तथा बाघ की गुफाओं में इतनी आकर्षक और लोकप्रिय चित्रकला की कृतियों के निर्माण का श्रेय गुप्त काल के चित्रकारों को ही जाता है ।

अजन्ता की गुफा में महलों, घरों, पेड़-पौधों, लता-पत्तियों तथा बुद्ध के जीवन के बहुत से दृश्य चित्रित किये गये हैं। यहां की गुफा संख्या 16 व 17 के चित्रों को देखकर विदेशी विद्वानों को बड़ा आश्चर्य हुआ है। फरग्यूसन नामक इतिहासकार



गुप्तकालीन चित्रकला

ने तो लिखा है कि "मेरे विचार में इससे अधिक श्रेष्ठ चित्र बनाना असम्भव है। भावनाओं की ऐसी अभिव्यक्ति पाश्चात्य कलाकार नहीं कर सकते।" अजन्ता की तरह ही बाघ के गुहा मंदिरों की चित्रकारी भी अनुपम है। इन चित्रों को देखकर लगता है कि तत्कालीन चित्रकारों ने चित्रों की रूपरेखा बनाने में, उनमें रंगों का सामंजस्य स्थापित करने में तथा आन्तरिक भावनाओं को पूर्णता के साथ प्रकट करने में अद्वितीय कौशल प्राप्त कर लिया था।

मुद्रा-निर्माण कला—गुप्तकालीन शासकों ने अपने स्तर पर अपने ढंग की अनेक सोने-चांदी की मुद्राओं का निर्माण करवा कर इस क्षेत्र में भी भारत के स्तर को प्राचीन काल में काफी उन्नत कर दिया था। गुप्त शासकों की मुद्राओं में भारतीयता और राष्ट्रीयता के साथ कलात्मक सौन्दर्य के प्रचुर दर्शन होते हैं। इस

दृष्टि से भारतीय मुद्रा-निर्माण कौशल को उन्नत करने तथा प्रतिष्ठा प्रदान करने में गुप्तकाल का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

संगीत कला गुप्तकालीन कलात्मक विकास में संगीत भी अछूता नहीं रहा। गुप्त सम्राटों का संरक्षण प्राप्त कर संगीत कला के तीनों अंग— गायन, वादन और नृत्य के क्षेत्र में पर्याप्त उन्नति हुई। इस काल के सम्राट संगीत में बड़ी रुचि रखते थे। समुद्रगुप्त वीणा-वादन में निपुण था। इस काल में संगीत की शिक्षा के कई केन्द्र विद्यमान थे। स्त्रियां भी संगीत की शिक्षा प्राप्त करती थीं। गणिकाएँ संगीत एवं नृत्यकला मे निपुण होती थीं।

वैदिक धर्म का पुनरुत्थान एवं धार्मिक सहिष्णुता—गुप्तकाल में सुख-शांति, समृद्धि व सांस्कृनिक विकास के साथ धार्मिक दृष्टि से वैदिक धर्म का खूब विकास हुआ। गुप्त सम्राट वैदिक धर्मावलम्बी थे। उन्होंने भारतीय जीवन दर्शन को विकसित करने का खूब प्रयत्न किया। इस काल में वैदिक धर्म और बौद्ध धर्म की कई अच्छी बातों को अपनाया गया तथा हिन्दुओं ने भी अपने धर्म का प्रचार प्रारम्भ किया। अपने देवी-देवताओं को उन्होंने मानवीय रूप प्रदान किया तथा उनकी उपासना के लिए भव्य एवं विशाल मंदिर बनवाने प्रारम्भ किए। वैदिक धर्म के उत्थान के परिणामस्वरूप इस युग में बौद्ध धर्म की अवनति हुई। किन्तु इस युग में धार्मिक सहिष्णुता विद्यमान थी। गुप्त सम्राट वैदिक धर्मावलम्बी होते हुए भी जैन एवं बौद्ध धर्म के प्रति पूर्णतया सहिष्णु थे। फलतः उस काल में विभिन्न धर्मावलम्बी आपस में मेल-जोल से रहते थे और भारत में धार्मिक कटुता और साम्प्रदायिकता के भाव नहीं थे।

इस प्रकार गुप्तकाल में भारत में राजनैतिक एकता उत्पन्न हुई, शांति और सुव्यवस्था स्थापित हुई और साहित्य, संगीत, कला, ज्ञान-विज्ञान आदि जीवन के विविध पक्षों में प्रगति के साथ धार्मिक सहिष्णुता के वातावरण का सृजन हुआ। साथ ही भारतीय संस्कृति का विदेशों में प्रचार-प्रसार भी हुआ। एक प्रकार से भारतीय प्रतिभा का पूर्ण एवं सर्वोच्च स्तर पर विकास हुआ। इसलिए इतिहासकारों ने गुप्तकाल को भारत के प्राचीन काल का स्वर्ण-युग कहा है।

अध्ययन का उपयोग

नीचे दिये गये प्रश्नों का उत्तर दीजिए एवं अपने अध्ययन को उपयोगी बनाइए—

1. गुप्तकाल की शासन व्यवस्था की मुख्य विशेषताएँ क्या थीं ?
2. गुप्तकाल में भारतीय लोगों का सामाजिक जीवन कैसा था ?
3. गुप्तकाल में कृषि, उद्योग एवं व्यापार में क्या प्रगति हुई ?
4. गुप्तकाल में प्रमुख साहित्यकार कौन-कौन हुए तथा उन्होंने कौन-कौन सी पुस्तक लिखीं ?
5. गुप्तकाल में गणित, ज्योतिष एवं रसायन-विज्ञान में क्या प्रगति हुई ?

6. गुप्तकालीन स्थापत्य-स्मारकों एवं मूर्तियों की क्या विशेषताएँ हैं ?
7. चित्रकला के क्षेत्र में गुप्तकाल की क्या देन है ? तत्कालीन चित्रकला के नमूने कहां-कहां देखे जा सकते हैं ?

अध्ययन की जाँच

सही उत्तर का क्रमाक्षर कोष्ठक में लिखिए –

1. गुप्तकाल में अपराध बहुम कम होते थे, कारण कि –
   (क) दण्ड-व्यवस्था अति कठोर थी ।
   (ख) न्याय का प्रबन्ध उत्तम था ।
   (ग) जनता नियमों का पालन करती थी ।
   (घ) दण्ड-व्यवस्था उदार थी । ( )
2. किसी भी देश की सुख-शांति, समृद्धि और उन्नति मुख्यकर जिस बात पर निर्भर करती है, वह है—
   (क) शासनिक सुव्यवस्था (ख) आर्थिक समृद्धि
   (ग) साहित्यिक प्रगति (घ) वैज्ञानिक प्रगति ( )

सोच-विचार कर उत्तर लिखिए—

1. 'गुप्त शासन काल में भारतीय संस्कृति का चहुंमुखी विकास हुआ' उसके क्या कारण थे ?
2. "गुप्त साम्राज्य काल भारतीय इतिहास में स्वर्णयुग के नाम से प्रसिद्ध है ।" इसके क्या कारण हैं ?

निम्नलिखित क्रियात्मक कार्य कीजिए और अपना कौशल बढ़ाइये—

1. अविभाजित भारत के ऐतिहासिक मानचित्र में उन स्थानों को अंकित कीजिए जहां गुप्तकालीन स्थापत्य कला, मूर्तिकला तथा चित्रकला के उत्तम नमूने विद्यमान हैं ।
2. गुप्तकालीन मूर्तियों व चित्रों का संग्रह कीजिए और उन्हें अपने एलबम में लगाइए ।

पूरक अध्ययन ग्रन्थ

1. उदयनारायण राय : गुप्त सम्राट और उनका काल
2. डॉ० ओम प्रकाश : प्राचीन भारत का इतिहास
3. राधाकुमुद मुकर्जी : प्राचीन भारत
4. भगवत शरण उपाध्याय : प्राचीन भारत का इतिहास
5. राधाकुमुद मुकर्जी : भारतीय संस्कृति और कला ।

———

अध्याय 13

हर्ष वर्धन

गुप्त साम्राज्य के पतन के साथ भारत की राजनीतिक एकता पुन: समाप्त हो गई तथा भारत कई छोटे-छोटे राज्यों में बँट गया। इस समय मगध एवं उसके आस-पास के भागों पर परवर्ती गुप्त शासकों का आधिपत्य था। कन्नौज पर मोखरी वंश का अधिकार था और ग्रहवर्मा वहाँ का शासक था। सौराष्ट्र में मैत्रिकों का शासन था। वल्लभी उनकी राजधानी थी और ध्रुवसेन वहां का शासक था। मालवा वाकाटकों के हाथ से निकल चुका था और 'देवगुप्त' वहां का शासक था। वाकाटकों के दक्षिणी भारत के राज्य पर चालुक्यों ने अधिकार कर लिया था। पूर्वी भारत में बंगाल में गोड़ वंश का आधिपत्य था और हर्ष के राज्यारोहण के पहले से ही शशांक वहाँ का शासक था। पश्चिमी सीमान्त प्रदेश हूणों के अधिकार में था। सिन्ध पर एक शूद्र शासक राज्य करता था। इनके अतिरिक्त उत्तरी भारत में और भी कई छोटे-छोटे जनपद राज्यों का उदय हो चुका था। इन्हीं जनपदों में पंजाब में श्रीकण्ठ नाम का एक जनपद था, जिसमें थानेश्वर नामक एक प्रमुख राज्य था। गुप्त राजाओं के काल से ही थानेश्वर का राज्य शक्तिशाली एवं महत्त्वपूर्ण बनता जा रहा था।

थानेश्वर के राज्य का प्रारम्भिक इतिहास—थानेश्वर राज्य की स्थापना पुष्यभूति नामक व्यक्ति ने की थी। अत: थानेश्वर का राज्यवंश पुष्यभूति वंश कहलाता था। इस वंश के अधिकाँश शासकों के नाम के पीछे वर्धन शब्द लगा रहने के कारण पुष्यभूति वंश इतिहास में वर्धन वंश के नाम से अधिक प्रसिद्ध है।

पुष्यभूति के पश्चात् थानेश्वर का शासक नरवर्धन बना। उसने अपने राज्य की शक्ति व सीमाओ का प्रसार किया। उसके बाद राज्यवर्धन इस राज्य का अधिकारी बना। उसने कोई उल्लेखनीय कार्य नहीं किया। किन्तु, उसके बाद आदित्यवर्धन शासक बना, जिसने अपने राज्य की सीमाओं का विस्तार किया तथा अन्य राजाओं से मैत्री तथा वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर अपने राज्य की प्रतिष्ठा को बढ़ाया।

प्रभाकरवर्धन—आदित्यवर्धन के पश्चात् प्रभाकरवर्धन थानेश्वर के राज्य का उत्तराधिकारी बना। वह कुशल योद्धा और प्रतापी शासक था। उसने हूणों, सिन्ध एवं गांधार के शासकों तथा गुर्जरों व जाटों से सफल युद्ध किए और अपने आपको 'महाराजाधिराज' एवं 'परमभट्टारक' आदि उपाधियों से विभूषित किया।

प्रभाकरवर्धन के दो पुत्र–राज्यवर्धन और हर्षवर्धन तथा एक पुत्री-राज्यश्री, तीन संतानें थीं। वैवाहिक सम्बन्धों से अपनी स्थिति सुदृढ़ करने के लिए प्रभाकर

वर्धन ने राज्यश्री का विवाह कन्नौज के मोखरी राजा गृह वर्मा से किया था। प्रभाकर वर्धन की वृद्धावस्था में हूणों ने उत्तरी पश्चिमी भारत पर आक्रमण किया। हूणों को दबाने के लिए उसने अपने दोनों पुत्रों को भेजा। यद्यपि इस संघर्ष में हूण पराजित हुए,किंतु इसी समय प्रभाकरवर्धन बीमार पड़ गया और उस की मृत्यु हो गई।

राज्यवर्धन—प्रभाकरवर्धन का उत्तराधिकारी राज्यवर्धन बना। किंतु गद्दी पर बैठने के कुछ समय बाद ही मालवा के परवर्ती गुप्त शासक देवगुप्त ने गोड (बंगाल) के राजा शशांक के साथ मिलकर कन्नौज पर आक्रमण किया तथा वहाँ के शासक गृहवर्मा को मार कर राज्यश्री को बन्दी बना लिया। जब यह समाचार राण्यवर्धन को मिला, तो वह अपनी बहिन को छुड़ाने एवं अपने बहनोई की हत्या का बदला लेने के लिए एक विशाल सेना लेकर पूर्व की ओर बढ़ा। उसके साथ युद्ध में मालव नरेश देवगुप्त परास्त हुआ, किन्तु देवगुप्त के मित्र शशांक ने राज्यवर्धन को मित्रता के धोखे में डालकर मारडाला और कन्नौज पर अधिकार कर लिया।

हर्षवर्धन का प्रारम्भिक परिचय एवं राज्यारोहण

राज्यवर्धन की मृत्यु के पश्चात् 606 ई० में हर्षवर्धन थानेश्वर का राजा बना। हर्षवर्धन प्रभाकरवर्धन का दूसरा पुत्र था। उसका जन्म 590 ई० पूर्व में हुआ था। उसने अपने बड़े भाई राज्यवर्धन के साथ आवश्यक सैनिक शिक्षा और विद्या प्राप्त की थी। वह स्वभाव में सीधा और साधु प्रकृति का था। उसमें शासक बनने की तनिक भी इच्छा नहीं थी। किंतु अपने भाई राज्यवर्धन का वध हो जाने पर विवश होकर उसे थानेश्वर के राज्य का भार संभालना पड़ा। शासक बनने के समय हर्ष की वय मात्र सोलह वर्ष की थी।

हर्ष की कठिनाइयाँ—हर्ष को थानेश्वर की राजगद्दी कई आपत्तियों के साथ उत्तराधिकार में मिली थी। शासक बनने के समय उसके समक्ष तीन प्रमुख समस्याएँ थीं—(1) अपनी बहिन राज्यश्री को छुड़ाना (2) अपने भाई राज्यवर्धन के हत्यारे गोड के राजा शशांक से बदला लेना तथा (3) अपने राज्य की शत्रुओं से रक्षा करना एवं अपने बहनोई गृहवर्मा के कन्नौज के राज्य को मुक्त कराकर वहाँ की व्यवस्था करना।

कठिनाइयों का निवारण—इन समस्याओं का समाधान करने के लिए हर्ष ने बड़े धैर्य और साहस से काम लिया। वह एक विशाल सेना लेकर अपनी समस्याओं का निवारण करने के लिए निकला। लेकिन, वह थोड़ी दूर ही बढ़ा था कि मार्ग में उसे असम के शाषक भास्करवर्मन का दूत मिला, जिसने हर्ष को यह समाचार दिया कि भास्करवर्मन हर्ष से मैत्रि सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है। हर्ष ने इस प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार किया। इससे हर्ष की शक्ति में अभिवृद्धि हुई। भास्करवर्मन से मित्रता स्थापित कर आगे बढ़ने पर हर्ष को राज्यवर्धन का सेनापति भंडी मिला। उसने समाचार दिया की राज्यश्री बन्दीगृह से निकलकर विन्ध्याचल के वनों में चली गई है। इस पर हर्ष सेनापति भंडी को शशांक पर नजर रखने की

हिदायत देकर राज्यश्री को खोजने के लिए विन्ध्याचल की ओर गया। हर्ष अपनी बहिन के पास ठीक उस समय पहुँचा, जबकि वह जीवन से दुःखी होकर अग्नि में प्रवेश करने ही वाली थी। हर्ष ने उसे समझाया और उसे बचा लिया तत्पश्चात् राज्यश्री को साथ लेकर वह कन्नौज की ओर लौटा।

कन्नौज की मुक्ति—ह्वेनसांग के वर्णनों से स्पष्ट होता है कि हर्ष और भास्करवर्मन की मित्रता के समाचार सुनकर शशांक हर्ष की शक्ति से भयभीत होकर कन्नौज छोड़कर चला गया और बिना संघर्ष के कन्नौज मुक्त हो गया। कन्नौज की मुक्ति के पश्चात् हर्ष ने कन्नौज का शासन अपनी बहन राज्यश्री को सौंपना चाहा, किन्तु राज्यश्री इसके लिए तैयार नहीं हुई और कन्नौज के मन्त्रियों के आग्रह पर हर्ष ने पहले अपनी बहिन के संरक्षक के रूप में कन्नौज का शासन भार स्वीकार किया। किन्तु, बाद में अपनी शक्ति बढ़ाकर उसने थानेश्वर और कन्नौज के दोनों राज्यों को एक कर लिया और इस सम्मिलित साम्राज्य की राजधानी कन्नौज को बनाया।

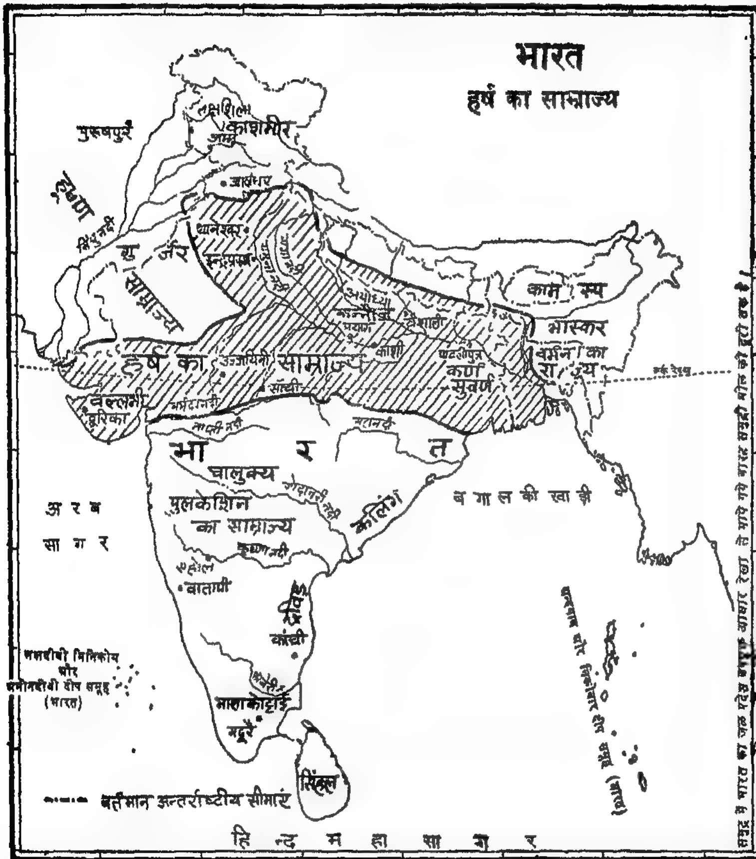
हर्ष और शशांक—अपनी प्रथम दोनों समस्याओं से निपट लेने के बाद हर्ष के समक्ष यही सबसे बड़ा काम था कि वह शशांक को हराए। किन्तु ऐतिहासिक साक्ष्यों से पता चलता है कि हर्ष शशांक को पराजित नहीं कर सका और 637 ई० में शशांक की मृत्यु के पश्चात् ही हर्ष का पश्चिमी बंगाल पर अधिकार स्थापित हुआ। पूर्वी बंगाल पर भास्कर वर्मन का आधिपत्य रहा।

हर्ष के विजय अभियान—आपको स्मरण होगा कि हर्ष के नेतृत्व में थानेश्वर और कन्नौज के राज्य एक हो गए थे। इससे हर्ष की शक्ति में काफी वृद्धि हुई और हर्ष ने पुनः भारत के राजनीतिक एकीकरण का बीड़ा उठाया और एक शक्तिशाली सेना के साथ अपने विजय अभियान पर निकल पड़ा। किन्तु हर्ष की विजयों का विस्तृत विवरण नहीं मिलता। ह्वेनसांग के विवरणों से मात्र इतना ज्ञात होता है कि छह वर्ष में ही हर्ष ने 'पचहिन्द' या 'पंचभारत' को जीत लिया। ये पंचहिन्द के राज्य कौन-कौन से थे और इन्हें हर्ष ने कब जीता, इसका स्पष्ट विवरण नहीं मिलता। सम्भवतः उसकी पंचभारत विजय में पंजाब, कान्यकुब्ज, बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा सम्मिलित थे। इस प्रकार इन विजयों से लगभग संपूर्ण उत्तरी भारत पर हर्ष का आधिपत्य स्थापित हो गया।

वल्लभी पर आक्रमण—अन्य स्रोत व अभिलेखों से ज्ञात होता है कि हर्ष ने वल्लभी के मैत्रिक वंशी राजा ध्रुवसेन पर भी आक्रमण किया। ध्रुवसेन युद्ध में परास्त हुआ और भागकर उसने भड़ौंच के गुर्जर राजा के यहाँ शरण ली। बाद में गुर्जर राजा के सहयोग से उसने अपने राज्य के खोए हुए भागों पर पुनः अधिकार कर लिया। अन्त में, हर्ष ने वल्लभी के राजा से सन्धि कर ली और उसके साथ अपनी कन्या का विवाह कर दिया।

राजा को परास्त किया और नेपाल से कर वसूल किया। किन्तु, इन घटनाओं के बारे में पुष्ट प्रमाण प्राप्त नहीं हैं।

पुलिकेशिन द्वितीय से युद्ध—उत्तरी भारत में अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेने के बाद हर्ष ने दक्षिणी भारत को भी अपने प्रभाव क्षेत्र में लेकर भारत पर एकछत्र शासन स्थापित करना चाहा। उस समय दक्षिण में पुलकेशिन द्वितीय नाम का शक्तिशाली चालुक्य राजा राज्य कर रहा था। हर्ष के आक्रमण करने पर पुलकेशिन ने बड़ी वीरता से हर्ष का सामना किया। ह्वेनसांग लिखता है कि हर्ष पुलकेशिन



भारत के महासर्वेक्षक की अनुज्ञानुसार भारत सर्वेक्षण विभागीय मानचित्र पर आधारित।
इस मानचित्र में दिये गये भौगोलिक नामों का वर्णविन्यास प्रमाणिक नहीं है।

हर्ष का साम्राज्य

को परास्त नहीं कर सका और उसके साम्राज्य की सीमा नर्मदा तक ही रही, उसके पार नहीं फैल सकी।

गंजम विजय—बंगाल की खाड़ी के किनारे पर स्थित गंजम प्रदेश पर भी हर्ष ने आक्रमण किया और इस प्रदेश को हर्ष ने अपने साम्राज्य में मिला लिया। हर्ष के जीवन का यह अन्तिम सैनिक अभियान था।

हर्ष का साम्राज्य विस्तार—हर्ष ने अपने बाहुबल और साहस से थानेश्वर के छोटे राज्य को विशाल साम्राज्य में बदला। किन्तु उसके साम्राज्य की सीमाएँ कहाँ से कहाँ तक विस्तृत थीं और उसके साम्राज्य में कौन-कौन से भाग सम्मिलित थे, इसके बारे में विद्वानों में मतभेद हैं। नवीनतम खोजों के अनुसार यह माना जाता है कि प्रत्यक्ष रूप में पूर्वी पंजाब, उत्तर-प्रदेश, बिहार, पश्चिमी-बंगाल तथा उड़ीसा का कुछ भाग हर्ष के साम्राज्य में सम्मिलित था। दक्षिण में उसके साम्राज्य की सीमा नर्मदा नदी के उत्तरी तट तक थी।

हर्ष का शासन प्रबन्ध—हर्ष ने एक विशाल साम्राज्य का निर्माण कर अपनी योग्यता और सूझ बूझ से साम्राज्य में एक सुसंगठित प्रशासन-व्यवस्था स्थापित की। वैसे उसका शासन प्रबन्ध मूल रूप में गुप्तकालीन शासन-व्यवस्था के समान ही था, केवल समय और बदली हुई परिस्थितियों के अनुसार उसमें कुछ परिवर्तन कर उसे अधिक प्रभावशाली बनाने का प्रयत्न किया गया था।

केन्द्रीय शासन—हर्ष के काल में सम्पूर्ण प्रशासन का केन्द्र सम्राट् होता था। गुप्त सम्राटों की भाँति 'परमभट्टारक', महाराजाधिराज, 'सार्वभौम परमदेवत' आदि उपाधियों से हर्ष ने अपने आपको अलंकृत किया था। सम्राट् ही साम्राज्य के उच्च महत्त्वपूर्ण पदों पर उच्च पदाधिकारियों की नियुक्ति करता था तथा समय-समय पर उनके कार्यों की जाँच करता था। सम्राट् में ही सर्वोच्च न्यायालय एवं सर्वोच्च सेनापति की शक्तियां निहित थीं। अपने साम्राज्य की सैनिक, प्रशासनिक तथा धार्मिक गतिविधियों के परिचित रहने के लिए हर्ष वर्षा ऋतु को छोड़कर वर्ष के बाकी आठ महीनों में साम्राज्य के अलग-अलग भागों में भ्रमण करता रहता था। वह सदा प्रजाहित के कार्यों में व्यस्त रहता था। अपने कर्त्तव्यों के प्रति वह इतना जागरूक था कि नींद व भोजन तक भूल जाता था।

मन्त्रि-परिषद—यद्यपि कानून की दृष्टि से सम्राट् निरंकुश था, किंतु उसकी सहायता के लिए एक मन्त्रि-परिषद् होती थी। इसका शासन पर काफी प्रभाव रहता था। विशेषकर संकटकाल के समय तथा विदेशी नीति से सम्बन्धित निर्णय मन्त्रि-परिषद् की सलाह से ही सम्पन्न किए जाते थे। मन्त्रि-परिषद् के पदाधिकारियो के अतिरिक्त हर्ष के शासन में अन्य महत्त्वपूर्ण पदाधिकारी भी थे। उनमें महाबलाधिकृत, महासामन्त, राजस्थानीय, उपरिक, महाप्रतिहार आदि मुख्य थे।

प्रान्तीय शासन—प्रशासनिक सुविधा की दृष्टि से हर्ष का साम्राज्य कई प्रान्तों में विभक्त था, जिन्हें 'भुक्ति' या 'प्रदेश' कहा जाता था। भुक्ति 'विशयों' में तथा विशय 'ग्रामों' में विभक्त थे। भुक्ति शासक 'उपरिक महाराज' तथा विशय का अधिकारी 'विशपति' कहलाता था। ग्रामों का शासन पंचायतों द्वारा किया जाता था उनके मुखिया को 'ग्रामक्ष-पटालिक' कहा जाता था।

न्याय व्यवस्था—हर्ष की न्याय व्यवस्था उन्नत एवं सुव्यवस्थित थी। गुप्त शासकों की अपेक्षा दण्ड व्यवस्था अधिक कठोर थी। जघन्य अपराधों के लिए मृत्यु-दण्ड अथवा आजन्म कारावास का नियम था। साधारण अपराधों में जुर्माना तथा कुछ अपराधों के लिए अंग-भंग और देश-निकाल ने की व्यवस्था थी। इस व्यवस्था के कारण हर्ष के काल में अपराध बहुत कम होते थे, किन्तु जल-थल मार्ग विशेष सुरक्षित नहीं थे।

राजस्व प्रबन्ध—हर्ष प्रजा हितैषी शासक था। उसके शासन काल में राज्य की आय का प्रमुख साधन भूमि-कर था जो उपज का 1/6 भाग लिया जाता था। कर की अदायगी में कृषकों को स्वतन्त्रता थी कि वे वस्तु अथवा नकद रूप में कर अदा करें। जल-थल मार्ग से व्यापारिक सामान पर भी चुंगी ली जाती थी। समग्र रूप से जनता पर कर का भार अधिक नहीं था।

सैन्य प्रबन्ध--अपने साम्राज्य को दृढ़ बनाने के लिए हर्ष ने एक विशाल सेना का संगठन किया। उसकी सेना के मुख्य चार विभाग थे—पैदल, अश्वारोही, हाथी तथा रथ। उसकी सेना में एक लाख घोड़े तथा साठ हजार हाथी थे। इसके अतिरिक्त अस्थायी सेना भी होती थी, जो आवश्यकता के समय बुला ली जाती थी।

जनहित के कार्य—किन्हीं अंशों में हर्ष को अशोक का अनुकरण करने वाला सम्राट माना जा सकता है। अशोक के समान ही उसने जन-हित के अनेक कार्य किये। उसके समय में राजकीय आय का बहुत बड़ा भाग सड़कों, धर्मशालाओं, मन्दिरों, बौद्ध-चैत्यों आदि के निर्माण में, विद्वानों एवं साहित्यकारों को आश्रय देने तथा शिक्षा को प्रोत्साहन देने में खर्च होता था। धार्मिक कृत्यों एवं दान-पुण्य में तो वह अपना सारा खजाना लुटाने से भी संकोच नहीं करता था।

हर्ष का धर्म—प्रारम्भिक काल में हर्ष किसी एक धर्म के प्रति अधिक झुका हुआ नहीं था। वह शिव, सूर्य, बुद्ध आदि की पूजा-उपासना करता था और सूर्य शिव, बुद्ध आदि के कई मन्दिर भी उसने बनवाये थे। किन्तु बाद में वह बौद्ध धर्म की महायान शाखा का अनुयायी बन गया। उसका यह परिवर्तन संभवतः चीनी यात्री ह्वेनसांग के सम्पर्क के कारण हुआ। उसने कई बौद्ध मठों व स्तूपों का निर्माण करवाया तथा मांस भक्षण व पशु-हत्या का निषेध किया। विशेष रूप में बौद्ध धर्म का अनुयायी होते हुए भी, उसकी नीति सभी धर्मों के प्रति आदर-भावना रखने की थी। वह उदार व धर्म-सहिष्णु था। 643 ई. में होने वाली प्रयाग सभा में उसने बुद्ध, शिव, सूर्य आदि की पूजा द्वारा तथा बौद्धों, ब्राह्मणों, जैनों आदि को दिए गए दान द्वारा अपनी धार्मिक उदारता एवं सहिष्णुता का परिचय दिया था। उसके शासन काल में कन्नोज में शिव, विष्णु, सूर्य आदि के मन्दिरों व बौद्ध मठों में सभी धर्मों के अनुयायी शान्तिपूर्वक अपने-अपने धर्म का पालन करते थे।

कन्नौज सभा—643 ई. में हर्ष ने बौद्ध धर्म के विकास के लिए कन्नौज में एक विशाल बौद्ध-सभा का आयोजन किया। इस सभा में ह्वेनसांग ने महायान

सम्प्रदाय के सिद्धान्तों की व्याख्या और उपस्थित विद्वानों को इसका प्रतिवाद करने के लिए चुनौती दी। इस सभा में मण्डप के बीच में लगभग 100 फुट ऊँचे एक मण्डप के नीचे बुद्ध की विशाल प्रतिमा स्थापित की गई।

प्रयाग सम्मेलन—कन्नौज की सभा समाप्त होने पर हर्ष ने प्रयाग में 'महा-मोक्ष परिषद्' नामक एक धार्मिक अधिवेशन किया जो 75 दिन तक चला। इसमें ह्वेनसांग को आमन्त्रित किया गया। यहां हर्ष ने सभी देवताओं की पूजा की और सभी धर्मावलम्बियों को सम्मानित करते हुये खूब दान दिया। कहा जाता है कि दान देते-देते जब राजकोष रिक्त हो गया तो उसने अपनी निजी सम्पत्ति व वस्तुओं का भी दान शुरू कर दिया और अपना सर्वस्व दान में दे दिया।

शिक्षा—हर्ष स्वयं एक विद्वान एवं विद्यानुरागी सम्राट था। उसके काल में भारत शिक्षा का एक महत्वपूर्ण केन्द्र बन गया था। भारत में कई शिक्षा केन्द्र थे। इसमें नालन्दा सबसे अधिक प्रसिद्ध था। नालन्दा शिक्षा का अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र बन चुका था। यहाँ हजारों छात्र विद्याध्ययन करने देश-विदेश से आया करते थे। वैसे मुख्यत: नालन्दा बौद्ध दर्शन एवं साहित्य की शिक्षा का प्रमुख केन्द्र था, फिर भी वेद-वेदान्त, हेतु-विद्या, शब्द-विद्या, सांख्य दर्शन, योग, हिन्दू-धर्मशास्त्र, आदि की शिक्षा भी यहाँ दी जाती थी। ह्वेनसांग यहाँ की व्यवस्था से बड़ा प्रभावित हुआ और पाँच वर्ष तक उसने नालन्दा में रहकर विद्याध्ययन किया।

साहित्य—हर्ष के समय में साहित्य का भी पर्याप्त विकास हुआ। वह विद्वानों को आश्रय देता था एवं उन्हें प्रोत्साहन देने हेतु पुरस्कृत करता था। वह स्वयं भी उच्चकोटि का विद्वान् था। उसने स्वयं 'रत्नावली', 'नागानन्द' एवं 'प्रिय-दर्शिका' नामक तीन नाटकों की रचना की थी। उसके दरबार का प्रमुख विद्वान् बाणभट्ट था जिसने 'हर्षचरित' तथा 'कादम्बरी' नामक महान् संस्कृत ग्रंथों की रचना की थी। इनमें हर्षचरित, हर्ष-कालीन इतिहास को जानने का प्रमुख स्रोत है, जबकि कादम्बरी संस्कृत भाषा की एक उत्कृष्ट साहित्यिक कृति है। बाणभट्ट के श्वसुर महाकवि मयूर भी इस काल के महान् विद्वानों में से एक थे। उन्होंने 'सूर्य-शतक' नामक काव्य-ग्रंथ की रचना की थी। हर्ष के काल के अन्य विद्वानों तथा साहित्यकारों में मातग, दिवाकर, हरिदत्त, जयसेन, सुबन्धु तथा भर्तृहरि के नाम उल्लेखनीय हैं। भर्तृहरि ने 'वाक्य-प्रदीप' तथा 'श्रृंगार-शतक', 'वैराग्य शतक' एवं 'नीति-शतक' नामक उच्चकोटि के नीति, व्याकरण एवं काव्य-ग्रंथों की रचना की। हर्ष के काल में उत्पन्न होने वाले इन सभी साहित्यकारों ने अपनी-अपनी रचनाओं से सम्पूर्ण भारतीय साहित्य को समृद्ध किया।

कला—हर्ष स्वयं कला-प्रेमी सम्राट् था। कलाकारों को वह हमेशा बढ़ावा देता था और उनकी रचनाओं को प्रोत्साहन देता था।

स्थापत्यकला में हर्ष के समय अनेक विहार, स्तूप, मठ और मन्दिर बने थे। नालन्दा विश्वविद्यालय के अवशेष, कनौज का 'संघाराम' तथा कुछ अन्य अवशेष हर्ष के काल में इस क्षेत्र में भारत में हुई उन्नति को बतलाते हैं।

मूर्तिकला की प्रगति भी उल्लेखनीय थी। उस समय की बनी देवी-देवताओं की मूर्तियाँ गन्धार एवं मथुरा शैली की थी।

विज्ञान—उस काल से गणित, चिकित्साशास्त्र, साँख्य योग, हेतु विद्या आदि का अध्ययन होता था। नालन्दा विश्वविद्यालय में इनके अध्ययन की अच्छी व्यवस्था थी। लोगों में वैज्ञानिक रुचि बढ़ रही थी। हर्ष के काल में ह्वेनसांग द्वारा लिखे विवरण से पता चलता है कि भारतवासी शिल्प कलाओं तथा अन्य कलाओं में अध्ययन और खोज में रुचि ले रहे थे।

ह्वेनसांग—भारत में आने वाले चीनी यात्रियों में ह्वेनसांग का नाम बहुत प्रसिद्ध है। उसका जन्म 600 ई. में हुआ था। बचपन से ही उसका झुकाव धर्म की ओर था। अतः बीस वर्ष की आयु में उसने बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया और बौद्ध भिक्षु बन गया। बौद्ध भिक्षु बनने के बाद उसने भारत की यात्रा की। ह्वेनसाँग की भारत यात्रा का मुख्य उद्देश्य बोद्ध ग्रंथों की खोज, बौद्ध दर्शन का अध्ययन एवं महात्मा बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित स्थानों की यात्रा करना था। इसलिए 630 ई. में वह भारत आया। अपनी भारत यात्रा के समय वह सम्पूर्ण भारत में घूमा। यहाँ रहते हुए, उसने भारतीय जन–जीवन के विभिन्न पक्षों की जानकारी प्राप्त की। 644 ई. में वह अपने देश लौट गया। जाते समय वह अपने साथ कई बौद्ध ग्रंथ एवं बुद्ध की मूर्तियाँ भी ले गया। चीन पहुँचने पर वहाँ के सम्राट् ने उसे उच्च पद देना चाहा पर ह्वेनसाँग का बौद्ध धर्म के प्रति इतना लगाव था कि उसने वह पद स्वीकार नहीं किया और अपना शेष समय भारत से लाए गए बौद्ध ग्रंथों के अनुवाद में व्यतीत किया। 664 ई. में ह्वेनसाँग की मृत्यु हो गई।

ह्वेनसाँग के यात्रा विवरण—भारत में आने वाले अन्य यात्रियों की तरह ह्वेनसाँग ने भी अपनी भारत यात्रा के विवरण लिखे। उसके विवरण बाणभट्ट के 'हर्षचरित' की तरह हर्ष के युग के इतिहास जानने के महत्त्वपूर्ण साधन का काम देते हैं। उसके विवरणों से तत्कालीन भारत की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक धार्मिक स्थिति का अच्छा ज्ञान प्राप्त होता है।

राजनीतिक स्थिति—हर्ष के काल की राजनीतिक स्थिति के बारे में ह्वेनसाँग लिखता है कि कश्मीर एक स्वतन्त्र राज्य था। पंजाब एक स्वतन्त्र राज्य था। सिंध में शूद्र जाति का एक राजा का शासन था। मध्य प्रदेश में छोटे-छोटे राजा थे जो हर्ष की अधीनता स्वीकार कर चुके थे। असम का राजा हर्ष को कर देता था। कलिंग राज्य लगभग नष्ट हो चुका था।

ह्वेनसांग सम्राट् हर्ष के बारे में लिखता है कि राजा के लिए दिन बहुत छोटा रहता था। उसने समय को तीन भागों में बाँट रखा था। एक भाग में वह राज्य कार्य करता था और दो भागों में धार्मिक कार्य करता था। वह अथक् परिश्रमी था और जन-सेवा में खाना–पीना और सोना तक भूल जाता था। सम्राट् राज्य कर्मचारियों के कार्यों के निरीक्षण हेतु भ्रमण करता रहता था। सदाचारी

को वह पुरस्कृत करता और अपराधी को दण्ड देता था । शासन उदार सिद्धान्तों पर चलता था । कर बहुत कम थे ।

आर्थिक स्थिति—ह्वेनसाँग के वर्णनों से स्पष्ट होता है कि जनसाधारण का जीवन स्तर उच्च था । भारत का मुख्य व्यवसाय कृषि था, जिसे वैश्य लोग करते थे । व्यापार भी वैश्य लोग ही करते थे । मजदूरों को उसकी मजदूरी के लिए पारिश्रमिक मिलता था । उद्योग धन्धे भी उन्नत थे । देश धन-धान्य सम्पन्न था । प्रजा को कोई आर्थिक कठिनाई नहीं थी । विदेशों से व्यापारी व्यापार करने आते थे । उपज का छठा भाग भूमिकर के रूप में राजकोष में जमा कराना पड़ता था ।

सामाजिक स्थिति—ह्वेनसांग लिखता है लोग सीधे-साधे थे । वे बिना सिले वस्त्र और आभूषण पहिनते थे । स्त्रियाँ अपने केश संवारती थीं । साधारणतः लोग जूते नहीं पहनते थे । भोजन में दूध, भुने हुए चने, गेहूँ, चावल, सब्जी आदि मुख्य थे । मांस का प्रयोग नहीं होता था । जाति भेद बढ़ा-चढ़ा था । अन्तर्जातीय विवाह नहीं होते थे । बाल विवाह की प्रथा थी । उच्च कुल की स्त्रियां सती हुआ करती थीं । स्त्रियां शिक्षित और विदूषी होती थीं । पर्दा प्रथा नहीं थी । साधु-सन्यासियों का समाज में सम्मान किया जाता था । भिक्षु और ब्राह्मण धर्म प्रचार हेतु जहाज द्वारा समुन्द्र की यात्रा पर जाते थे । समाज में लेखकों एवं विद्वानों का बड़ा सम्मान होता था । शिक्षा की अच्छी व्यवस्था थी । तक्षशिला, उज्जैन व नालंदा विश्वविद्यालय शिक्षा के प्रसिद्ध केन्द्र थे । नालन्दा से दस हजार छात्र पढ़ते थे । इस संस्था में आठ हजार कमरे थे तथा छात्रावास, बेधशालाएँ, गुरु-गृह, उद्यान तथा आम्र वृक्षों के सघन कुंज थे । विद्यार्थी से कोई शुल्क नहीं लिया जाता था तथा भोजन व वस्त्र निः शुल्क दिये जाते थे । अध्ययन के मुख्य विषय ज्योतिष, चिकित्सा विज्ञान, तर्कशास्त्र, व्याकरण और दर्शन थे । यहां विदेशों से भी छात्र अध्ययन के लिए आते थे ।

धार्मिक स्थिति—धर्म के बारे में ह्वेनसांग लिखता है कि भारत में वैदिक जैन व बौद्ध धर्म प्रचलित थे । वैदिक धर्म उन्नति पर था और बौद्ध धर्म का विकास रुक गया था । वैसे समाज में धार्मिक सहिष्णुता थी । सम्राट् स्वयं उदार एवं सहिष्ण प्रवृत्ति का व्यक्ति था । बौद्ध-मठों में हीनयान व महायान दोनों ही सम्प्रदाय के भीक्षु साथ-साथ रहते थे । किस प्रकार का साम्प्रदायिक कलह नहीं था । ब्राह्मणों के कई समुदाय थे । विदेशों में भारत को ब्राह्मणों का देश समझा जाता था ।

हर्ष की मृत्यु एवं व्यक्तित्व—कठिन परिस्थितियों में साम्राज्य की बागडोर सम्भाल कर हर्ष ने 606 ई. से लेकर 648 ई. तक शासन किया और 58 वर्ष की उम्र में उसका देहावसान हो गया । उसने कुल मिलाकर 42 वर्ष तक शासन किया । अपने शासन काल में सैनिक विजयों से लेकर जन-हित का कार्य देश की धार्मिक साहित्यिक और सांस्कृतिक उन्नति के कार्यों में तन, मन, धन, से सहयोग देकर हर्ष ने प्रमाणित कर दिया कि धैर्य, साहस और लगन से प्रत्येक व्यक्ति कठिन से कठिन

परिस्थितियों पर विजय प्राप्त कर सकता है और सच्चे हृदय से जनहित चाहनेवाला शासक देश की समृद्धि और संस्कृति के विकास में सहयोग देता है। इसीलिए प्राचीन भारत के शासकों में हर्ष का नाम ऊँचा है। उसमें चन्द्रगुप्त के समान सैनिक विजयों की शक्ति और अशोक के समान धर्म-परायणता, उदारता, सहिष्णुता तथा दान-शीलता के गुणों का सम्मिश्रण था। वास्तव में प्राचीन भारत का वह अन्तिम प्रजा-पालक, दयालु तथा साहित्य एवं कला का संरक्षक शासक था।

वर्धन साम्राज्य का अन्त—हर्ष के कोई पुत्र नहीं था। अतः उसकी मृत्यु के बाद उसके मन्त्री अर्जुन ने साम्राज्य पर अधिकार कर लिया। किन्तु इस पर नेपाल के शासक ने क्रुद्ध होकर अर्जुन पर आक्रमण कर उसे पकड़वाकर चीन भेज दिया और वर्धन साम्राज्य हर्ष की मृत्यु के पश्चात् कुछ ही दिनों में छिन्न-भिन्न हो गया।

अध्ययन का उपयोग

नीचे दिए गए प्रश्नों का उत्तर दीजिये एवं अपने अध्ययन को उपयोगी बनाइये—

1. हर्ष के साम्राज्य की स्थापना से पूर्व भारत की राजनीतिक स्थिति कैसी थी ?
2. अपने राज्याभिषेक के समय हर्ष के समक्ष क्या-क्या समस्याएँ थीं ?
3. हर्ष ने भारतवर्ष के किन-किन भागों को जीता तथा उसका साम्राज्य कहाँ-कहाँ तक विस्तृत था ?

अध्ययन की जाँच

सही उत्तर का क्रमाक्षर कोष्ठक में लिखिए—

1. थानेश्वर के राज्य की स्थापना करने वाला व्यक्ति था—
   (क) हर्षवर्धन (ख) राज्यवर्धन
   (ग) पुष्यभूति (घ) आदित्यवर्धन ( )
2. हर्ष बंगाल के शासक शशांक से बदला लेना चाहता था, कारण कि—
   (क) शशांक ने थानेश्वर पर आक्रमण किया था।
   (ख) शशांक ने राज्यश्री का अपमान किया था।
   (ग) शशांक ने राज्यवर्धन की हत्या कर दी थी।
   (घ) शशांक ने हर्षवर्धन का अपमान किया था। ( )

सोच-विचार कर उत्तर लिखिए—

1. 'सम्राट या शासक की योग्यता मात्र सैनिक विजयों पर ही निर्भर नहीं करती; प्रजाहित एवं कुशल शासन व्यवस्था पर निर्भर करती है।' इस कथन के आधार पर क्या आप हर्ष को एक योग्य शासक स्वीकार करेंगे ? अपने उत्तर को प्रमाणों सहित लिखिए।
2. 'यदि ह्वेनसांग हर्ष के काल में भारत की यात्रा नहीं करता तो हर्ष के युग के सामाजिक, राजनैतिक एवं धार्मिक जीवन के बारे में सुस्पष्ट जानकारी नहीं हो पाती।' आप इस कथन से कहाँ तक सहमत हैं और क्यों ?

निम्नलिखित क्रियात्मक कार्य कीजिए और अपना कौशल बढ़ाइए—

1. भारत के मानचित्र में निम्नलिखित बातों को अंकित कीजिए—
   (क) हर्ष का साम्राज्य, (ख) तक्षशिला, कन्नौज, थानेश्वर, वल्लभी, गौड़।
2. हर्ष के जीवन तथा उसके महत्त्वपूर्ण कार्यों को प्रदर्शित करने वाली एक समय-रेखा बनाइए।

पूरक अध्ययन ग्रन्थ

1. डॉ. ओमप्रकाश : प्राचीन भारत का इतिहास
2. वृन्दावनदास : प्राचीन भारत में हिन्दू राज्य
3. गुणाकर मुले : भारत का इतिहास और संस्कृति
4. डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव एवं डॉ. सत्यनारायण दुबे : भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास

अध्याय 14

राजपूत काल तथा राजपूतकालीन सभ्यता और संस्कृति

हर्ष की मृत्यु के बाद भारत की राजनैतिक एकता पुनः समाप्त हो गई। देश में कई नए राज्यवंश उठ खड़े हुए और इनमें से जिसको जहाँ अवसर मिला, उसने वहीं अपना राज्य जमाने का प्रयत्न किया। किन्तु इन सभी में कोई एक ऐसा शासक नहीं हो सका जो पुनः भारत में एकता स्थापित करता। इसी कारण हर्ष की मृत्यु के बाद लगभग 550 वर्ष के लम्बे काल में भारत की राजनीतिक स्थिति अनिश्चितता की रही और समय-समय पर एक के बाद दूसरे राज्य और राज्यवंश बनते-बिगड़ते और उठते-मिटते रहे।

इस युग में उठने-मिटने वाले राज्यवंशों को भारत के इतिहास में 'राजपूत' नाम से पुकारा जाता है और इस युग को 'राजपूत काल' कहा जाता है। किन्तु

राज्य-शक्ति के रूप में उठने वाले ये राजपूत कौन थे और इनकी उत्पत्ति कैसे हुई, भारतीय इतिहास का यह एक विवादग्रस्त प्रश्न है।

राजपूतों की उत्पत्ति–'राजपूत' संस्कृत भाषा के 'राजपुत्र' शब्द का अपभ्रंश है, जिसका अर्थ राजा के कुल में उत्पन्न पुरुष सन्तान से होता है। पुराणों और बाणभट्ट के 'हर्षचरित्र' में भी 'राजपुत्र' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में मिलता है। इससे प्रकट होता है कि प्राचीन काल में राजा या शासक के पुत्र के लिए राजपुत्र शब्द का प्रयोग होता था, किसी राज्यवंश अथवा आम शासक वर्ग के लिए इसका प्रयोग नहीं होता था। किन्तु हर्ष की मृत्यु के बाद भारतीय शासकीय वंशों के बारे में ब्राह्मण साहित्य और चारण-भाटों के वर्णनों में 'राजपूत' शब्द का प्रचुर मात्रा में प्रयोग मिलता है। आम शासक वर्ग के लिए राजपूत शब्द के प्रचुर प्रयोग ने यह प्रश्न उत्पन्न किया है कि राजपूत कहे जाने वाले ये वंश वास्तव मे प्राचीन भारतीय क्षत्रियों की ही संतान थे अथवा किसी अन्य जाति से सम्बन्धित थे। इसी समस्या का हल खोजने में विभिन्न विद्वानों ने राजपूतों की उत्पत्ति के बारे में भिन्न-भिन्न मत प्रस्तुत किए हैं, जिनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं—

राजपूत वैदिक क्षत्रिय थे–राजपूतों का यह दावा रहा है कि वे वैदिक काल के सूर्यवंशी और चन्द्रवंशी क्षत्रियों की सन्तान हैं। राजस्थान के प्रसिद्ध इतिहासकार पं. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा तथा श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य राजपूतों को वैदिक क्षत्रियों की संतान मानते हैं। इन विद्वानों का मत है कि राजपूतों के आचार-विचार, परम्पराएँ, धार्मिक दृष्टिकोण आदि पूर्णतया वैदिक परम्पराओं के अनुकूल हैं, अतः राजपूतों को वैदिक क्षत्रियों की सन्तान माना जाना उचित है।

अग्निकुण्ड से उत्पत्ति—कवि चन्दवरदाई द्वारा रचित 'पृथ्वीराज रासो' के आधार पर कुछ विद्वान् राजपूतों को आबू पर्वत पर वशिष्ठ मुनि द्वारा किए गए यज्ञ के अग्निकुण्ड से उत्पन्न हुआ मानते हैं। ऐसा माना जाता है कि परशुराम ने क्षत्रिय जाति को समूल नष्ट कर दिया तो राजनैतिक क्षेत्र में सत्ता सम्भालने वाली कोई जाति नहीं रही। तब ऋषि मुनियों ने आबू पर्वत पर यज्ञ करके यज्ञकुण्ड से प्रतिहार, पँवार, सौलंकी और चौहान इन चार राजपूत वंशों को उत्पन्न किया।

विदेशियों से उत्पत्ति—कुछ इतिहासकार राजपूतों को विदेशियों की सन्तान मानते हैं। कर्नल जेम्स टॉड का विचार है कि राजपूत भारत में बाहर से आने वाले शक तथा सीथियनों के वंशज हैं। इसी प्रकार डॉ. वी. ए. स्मिथ राजपूतों को विदेशी शकों और कुषाणों के वंशज मानते हैं। भारतीय इतिहासकार डॉ. भण्डारकर भी इसी मत का समर्थन करते हैं। वे इस मत के साथ अग्निकुण्ड से उत्पत्ति वाले मत को जोड़ते हुए बताते हैं कि राजपूत भारत में आने वाली विदेशी जातियों की संतान थे और आबू पर्वत पर किए गए यज्ञ की अग्नि में इन्हें शुद्ध किया जाकर भारतीय समाज के अंग के रूप में स्वीकार किया गया था।

निष्कर्ष—राजपूतों की उत्पत्ति से सम्बन्धित ऊपर दिए गए मतों में से

कौनसा सही है, यह कहना कठिन है। आधुनिक इतिहासकारों की यह मान्यता है कि राजपूतों को पूर्णतया विदेशी मानना उचित नहीं है। मूल रूप में तो राजपूत प्राचीन भारतीय क्षत्रियों के ही वंशज हैं. लेकिन विदेशियों के भारत में आने, बसने और यहाँ के समाज में घुल-मिल जाने से कई क्षत्रिय कुलों में भारी मात्रा में इन विदेशियों का सम्मिश्रण अवश्य हुआ होगा। ऐसी स्थिति में कहा जा सकता है कि सातवीं शताब्दी और उसके बाद के काल के राजपूत वंशों में कई तो प्राचीन भारत के क्षत्रियो से सम्बन्धित रहे होगे और कई ऐसे भी होंगे, जिनमें विदेशियों का मिश्रण हुआ होगा। लेकिन, यही अन्तिम सत्य नहीं कहा जा सकता। अभी तक यह प्रश्न विवादास्पद ही है।

भारत के प्रमुख राजपूत राज्य

प्रतिहार—वर्धन साम्राज्य के पतन के पश्चात् राज्य-शक्ति के रूप में सामने आने वाले राजपूतों में कालक्रम की दृष्टि से प्रतिहारों का वर्णन सबसे पहले मिलता है। इतिहास में ये गुर्जर प्रतिहार के नाम से प्रसिद्ध हैं। किन्तु गुर्जर प्रतिहार कौन थे और उनका मूल राज्य कहाँ था, ये प्रश्न भी विवादग्रस्त है। अनुश्रुतियों के अनुसार प्रतिहार अपने आपको सूर्यवशी क्षत्रिय कह कर राम के भाई लक्ष्मण का वशज मानते है। 'पृथ्वीराज रासो' के अनुसार प्रतिहारों का उद्भव आबू पर्वत पर होने वाले यज्ञ के अग्नि-कुण्ड से हुआ माना जाता है। कुछ विद्वान् प्रतिहारों को बाहर से आने वाले हूणों के साथ आने वाली एक गुर्जर जाति का वंशज बताते है। किन्तु डॉ. दशरथ शर्मा ने प्रतिहारों से सम्बन्धित अभिलेखों और सम्पूर्ण साहित्य का अध्ययन कर यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि प्रतिहार पहले भारत में ही गुर्जर प्रदेश के शासक थे। किन्तु डॉ. दशरथ शर्मा की प्रतिहारों के वंश के बारे में मान्यता है कि प्रतिहार कहे जाने वाले सभी राजपूत न तो वैदिक क्षत्रिय थे और न सबके सब विदेशी। ऐसी स्थिति में प्रतिहारों की जाति का प्रश्न अब भी अनिर्णीत ही है।

प्रतिहारों के राज्य की स्थापना और प्रमुख शासक—प्रतिहारों के राज्य के बारे में माना जाता है कि इस वंश के राज्य का उदय सर्वप्रथम राजस्थान में मण्डोर नामक स्थान से हुआ। इसी वंश की एक दूसरी शाखा उज्जयिनी में भी शासन करती थी। उज्जयिनी के प्रतिहारों में नागभट्ट प्रथम प्रतिहारों का प्रमुख शासक हुआ। उसी ने प्रतिहारों के वंश की शक्ति को संस्थापित कर गुजरात से ग्वालियर तक के भाग पर प्रतिहारों का राज्य स्थापित किया।

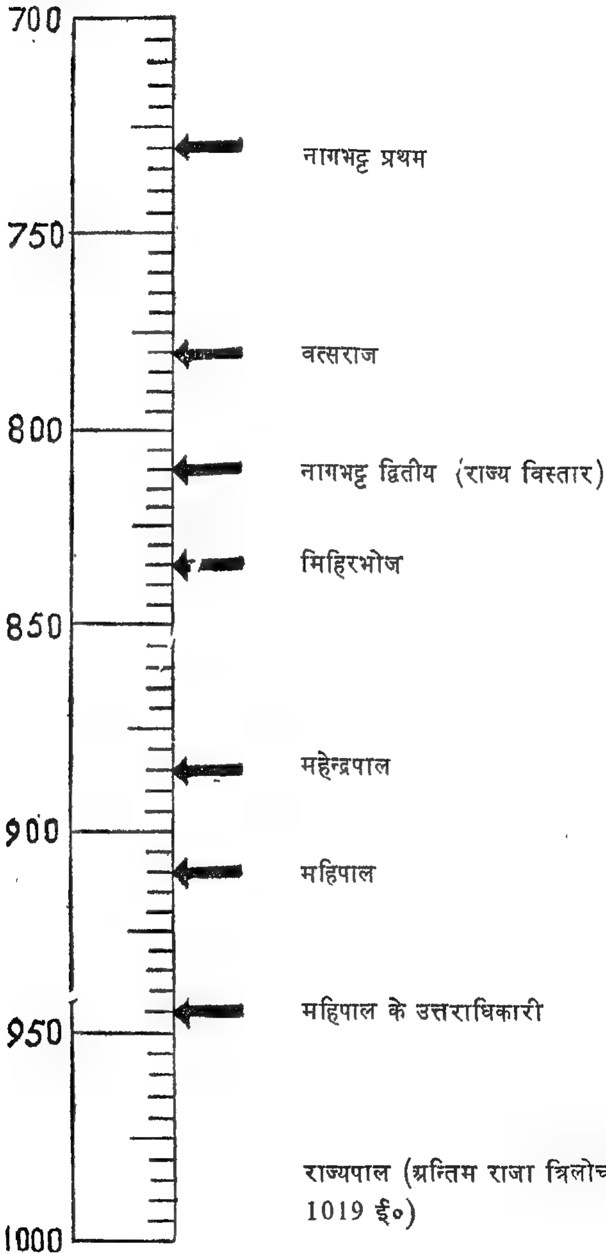
वत्सराज—नागभट्ट के बाद प्रतिहार वंश में कुक्कुक तथा देवराज नाम के दो शासक हुए और देवराज के पश्चात् उसका पुत्र वत्सराज प्रतिहारों का शासक बना। वत्सराज बड़ा शक्तिशाली एवं प्रतापी राजा था। मालवा-तथा पूर्वी-मध्य राजस्थान उसके राज्य में सम्मिलित थे। उसने अनेक युद्ध किए और उसने भण्डियों तथा बगाल के पालवंशीय राजा को परास्त किया किन्तु राष्ट्रकूट राजा ध्रुव के हाथों वत्सराज की पराजय हुई।

नागभट्ट द्वितीय—वत्सराज के पश्चात् नागभट्ट द्वितीय प्रतिहारों का शासक बना इसके समय में प्रतिहार वंश की शक्ति खूब बढ़ी। इसके समय में प्रतिहारों, दक्षिणी भारत के राष्ट्रकूटों एवं बंगाल के पालवंशीय शासकों के मध्य उत्तरी भारत में अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए संघर्ष हुआ। किन्तु, गोविन्द तृतीय के दक्षिण में लौट जाने पर नागभट्ट द्वितीय ने पुनः इधर-उधर के छोटे राज्यों पर अधिकार करते हुए कन्नौज पर अधिकार कर लिया और उसे अपने राज्य की राजधानी बनाया। नागभट्ट द्वितीय ने बंगाल के राजा धर्मपाल को भी पराजित किया तथा काठियावाड़, पश्चिमी मालवा, पूर्वी राजपूताना तथा हिमालय के किरातों, कोशाम्बी के वत्सों तथा सिन्ध के अरबों को भी परास्त किया। इन विजयों से प्रतिहारों का साम्राज्य राजस्थान की पश्चिमी सीमा से लेकर बिहार की पश्चिमी सीमा तक फैल गया। नागभट्ट ने कन्नौज को अपने विस्तृत साम्राज्य की राजधानी बनाया। परिणामस्वरूप प्रतिहारों के प्रभुत्व में कन्नौज पुनः उत्तरी भारत के शक्तिशाली राज्य का केन्द्र बन गया।

मिहिरभोज—नागभट्ट की मृत्यु के पश्चात् उसका उत्तराधिकारी रामभद्र प्रतिहारों का शासक बना किंतु वह निर्बल शासक था। उसके समय में बंगाल के शासक देवपाल ने प्रतिहारों पर आक्रमण किए और उनके साम्राज्य के कई प्रान्त छीन लिए। किन्तु रामभद्र के तीन वर्ष के निर्बल शासन काल के पश्चात् उसका पुत्र मिहिरभोज गद्दी पर बैठा। वह एक योग्य एवं शक्तिशाली शासक था उसने कालिंजर तथा मध्य और पूर्वी राजस्थान पर अधिकार किया। यद्यपि मिहिरभोज को बंगाल के राजा देवपाल और राष्ट्रकूट राजा ध्रुव के समक्ष पराजय का सामना करना पड़ा, फिर भी बाद में मिहिरभोज ने उत्तरी भारत में प्रतिहार वंश की शक्ति और प्रतिष्ठा को खूब बढ़ाया। उसने बंगाल के राजा नारायणपाल को हरा कर उसके राज्य के पश्चिमी भाग पर अधिकार कर लिया तथा उत्तरी भारत में उज्जयिनी तक बढ़ आने वाले राष्ट्रकूट राजा कृष्ण तृतीय को हराकर मालवा पर अधिकार कर लिया। इसके बाद उसने गुजरात मे भड़ौंच तक अपनी शक्ति का प्रसार किया। मिहिरभोज की इन सफलताओं के कारण प्रतिहार उत्तरी भारत में बहुत शक्तिशाली हो गए और लगभग समस्त उत्तरी भारत उनके प्रभुत्व में आ गया।

मिहिरभोज ने लगभग 50 वर्ष के शासन काल में प्रतिहारों की शक्ति के प्रसार के साथ-साथ अपने साम्राज्य में अच्छी प्रशासनिक व्यवस्था लागू की तथा ऊँचे दर्जे का सैनिक संगठन स्थापित किया। उसके साम्राज्य के कोष में खूब धन था तथा उसके पास असंख्य घोड़े व हाथी थे। इसके सिवाय वह स्वयं विद्वान था और विद्वानों एवं साहित्यकारों को संरक्षण देता था।

महेन्द्रपाल—मिहिरभोज की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र महेन्द्रपाल प्रथम गद्दी पर बैठा। उसने अपने शासन काल में मगध और बंगाल पर अधिकार किया और अपने साम्राज्य की प्रतिष्ठा और शक्ति को बनाए रखा। महेन्द्रपाल भी अपने


ऊपर से नीचे
प्रतिहार शासकों का
कालक्रम
ई. पैमाना 1"=50 वर्ष
700
750
800
850
900
950
1000
नागभट्ट प्रथम
वत्सराज
नागभट्ट द्वितीय (राज्य विस्तार)
मिहिरभोज
महेन्द्रपाल
महिपाल
महिपाल के उत्तराधिकारी
राज्यपाल (अन्तिम राजा त्रिलोचन पाल
1019 ई०)

पिता की भाँति विद्वान और साहित्यकारों का आश्रयदाता था। 'कर्पूरमंजरी' और 'काव्यमीमांसा' का लेखक प्रसिद्ध कवि राजशेखर उसके दरबार में रहता था।

महीपाल—महेन्द्रपाल के बाद प्रतिहार साम्राज्य का शासक 'भोज' द्वितीय बना। किन्तु उसके भाई महीपाल ने उसे हरा कर राज्य छीन लिया। महीपाल ने लगभग 42 वर्ष तक शासन किया। उसके समय में राष्ट्रकूट राजा इन्द्र तृतीय ने कन्नौज पर आक्रमण किया और बंगाल के पालवंशीय शासकों ने अपने राज्य के पहले छीने गए प्रदेशों पर पुनः अधिकार कर लिया। इन आपत्तियों में महीपाल ने धैर्य से काम लिया और धीरे-धीरे अपनी खोई हुई शक्ति को पुनः प्राप्त किया।

महीपाल के उत्तराधिकारी—महीपाल के बाद प्रतिहार शासकों का क्रम कुछ अनिश्चित है। संभवतः उसके बाद महेन्द्रपाल द्वितीय शासक बना। उसके शासन काल में प्रतिहारों की शक्ति पूर्ववत् बनी रही। उसके बाद देवपाल शासक बना, किन्तु इसके समय से प्रतिहारो की शक्ति का पतन प्रारम्भ हो गया। देवपाल के बाद विजयपाल और इसके बाद राज्यपाल प्रतिहारों के शासक बने। राज्यपाल के समय में महमूद गजनवी ने आक्रमण किया। राज्यपाल कायर की भाँति कन्नौज छोड़कर भाग गया। इस पर क्रुद्ध होकर चंदेल राजा गण्ड के पुत्र विद्याधर ने राज्यपाल का वध कर दिया और उसके पुत्र त्रिलोचनपाल को कन्नौज राज्य की गद्दी सौंपी। त्रिलोचनपाल के समय में भी महमूद गजनवी ने भयंकर आक्रमण किया। किन्तु इसके बाद भी आठ वर्ष तक त्रिलोचनपाल शासन करता रहा। प्रतिहार वंश का अन्तिम राजा यशपाल था। इसके बाद प्रतिहार वंश की शक्ति पूर्णरूपेण समाप्त हो गई।

प्रतिहार साम्राज्य का महत्व—प्रतिहारों का उत्तरी भारत में शक्तिशाली होना मात्र सैनिक घटनाओं की दृष्टि से ही महत्वपूर्ण नहीं है; वस्तुतः भारत में तुर्कों की शक्ति संस्थापना से पूर्व प्रतिहार साम्राज्य उत्तरी भारत का सबसे बड़ा और अन्तिम शक्ति-सम्पन्न साम्राज्य था। यहाँ तक कि हर्ष के साम्राज्य से प्रतिहारों का साम्राज्य बड़ा था। डॉ. आर. सी. मजूमदार का कथन है कि मुस्लिम विजय से पहले यह उत्तरी भारत का महान् साम्राज्य था। प्रतिहारों ने एक लम्बे समय तक (लगभग 300 वर्ष तक) उत्तरी भारत में अपना प्रभुत्व कायम रखा और उत्तरी भारत का राजनीतिक एकीकरण करने का प्रयत्न किया। वे तुर्क आक्रमणकारियों से बराबर संघर्ष करते रहे। उन्होंने तुर्कों का सफलतापूर्वक सामना किया और उन्हें भारत में अपना साम्राज्य प्रसार करने से रोका। यह प्रतिहारों की राजनीतिक दृष्टि से भारतीयों को सबसे बड़ी देन थी। इसके साथ उन्होंने भारतीय सभ्यता और संस्कृति को आगे बढ़ाने में अपने निर्माण कार्यों और साहित्य तथा कला-प्रेम के सहारे महत्वपूर्ण योगदान दिया।

कन्नोज के गहड़वाल—प्रतिहारों की शक्ति छिन्न-भिन्न होने पर कन्नौज पर गहड़वाल राजपूत वंश का प्रभुत्व स्थापित हुआ। लेकिन, अन्य कई राजपूत वंशों

की तरह गहड़वालों की उत्पत्ति का विषय भी विवादपूर्ण है । ऐसा माना जाता है कि इनका पहले राष्ट्रकूटों से सम्बन्ध था । इस वंश की शक्ति का संस्थापक चन्द्रदेव था, जिसने 1090 ई. में कन्नौज पर अधिकार किया । उसने इलाहाबाद और बनारस तक अपने राज्य का विस्तार किया और लगभग 1100 ई. तक राज्य किया ।

गोविन्दचन्द्र—चन्द्रदेव के बाद गहड़वालों का राजा मदनचन्द्र बना और उसके बाद गोविन्दचन्द्र शासक बना । गोविन्दचन्द्र ने गहड़वालों की शक्ति का खूब प्रसार किया । उसने उत्तर प्रदेश और मगध के एक विस्तृत भाग पर अधिकार किया तथा थोड़े समय के लिए पूर्व में मुंगेर तक अपने राज्य का विस्तार किया । उसने कश्मीर, गुजरात तथा दक्षिण में चोल शासकों से कूटनीतिक और मित्रता के सम्बन्ध स्थापित कर गहड़वालों की शक्ति में अभिवृद्धि की। गोविन्दचन्द्र साहित्य-प्रेमी शासक था । उसने अपने दरबार में कई विद्वानों को आश्रय प्रदान किया । उसके समय में कन्नौज एक बार पुनः उत्तरी भारत का गौरवपूर्ण राजनीतिक केन्द्र बना ।

जयचन्द—गोविन्दचन्द्र के पश्चात् विजयचन्द्र गहड़वालों का शासक बना । उसने मुसलमान आक्रमणकारी मलिक खुसरो को परास्त किया। इसके बाद 1176 ई. में जयचन्द्र (जयचन्द) गहड़वाल का राजा बना । जयचन्द पूर्व-मध्यकालीन भारतीय इतिहास का एक प्रमुख शासक था। चन्दवरदाई द्वारा रचित 'पृथ्वीराज रासो' नामक काव्य ग्रन्थ के आधार पर यह कहा जाता है कि जयचन्द और उसके समकालीन चौहान शासक पृथ्वीराज में अनबन थी । इसका मुख्य कारण जयचन्द की पुत्री संयोगिता को स्वयंवर स्थल से पृथ्वीराज द्वारा भगा ले जाना था। माना जाता है कि इसी शत्रुता के कारण पृथ्वीराज पर शाहबुद्दीन मुहम्मद गौरी के आक्रमण के समय जयचन्द ने पृथ्वीराज को सहयोग नहीं दिया । लेकिन इसका परिणाम स्वयं जयचन्द को भुगतना पड़ा । मुहम्मद गौरी के आक्रमणों से वह भी नहीं बच सका । सन् 1194 ई. में गौरी ने कन्नौज पर आक्रमण किया और उसके साथ चन्दावर के युद्ध में जयचन्द मारा गया । जयचन्द के बाद, उसका पुत्र हरिशचन्द्र गहड़वालों का शासक बना । किन्तु, अन्त में 1206 ई. इल्तुतमिश ने कन्नौज पर अधिकार कर लिया और इस प्रकार गहड़वाल वंश का अन्त हुआ ।

चौहान—आठवी शताब्दी से बारहवीं शताब्दी के बीच के भारतीय राजपूत वंशों में चौहान राजपूतों का स्थान भी प्रमुख है । माना जाता है कि चौहान 700 ई. में गुजरात एवं राजस्थान के कुछ भागों पर शासन करते थे । इनकी प्रमुख शाखा राजस्थान में अजमेर से उत्तर में साँभर में राज्य करती थी । किन्तु पहले चौहान प्रतिहारों के सामन्त के रूप में शासन करते थे । दसवीं शताब्दी में प्रतिहारों की शक्ति कमजोर पड़ जाने पर इन्होंने अपनी स्वतन्त्र शक्ति स्थापित कर ली । इस वंश का पहला स्वतन्त्र शासक विग्रहराज द्वितीय था ।

अरणोराज या अजयराज—विग्रहराज द्वितीय के पश्चात् साँभर के चौहान वंश में अरणोराज या अजयराज शासक बना । अजयराज ने उज्जैन तक के प्रदेश

पर चौहानों का आधिपत्य स्थापित किया। उसी ने अजमेर नगर बसाया और इसे अपने राज्य की राजधानी बनाया।

विग्रहराज चतुर्थ–चौहानों में सबसे प्रतापी शासक विग्रहराज चतुर्थ था उसके समय में चौहानों के राज्य का खूब विस्तार हुआ। उसने गुजरात के राजा को परास्त किया और राजस्थान में जालौर, नाडोल तथा पाली आदि रियासतों पर अपना आधिपत्य जमाया। सम्भवतया उसी ने दिल्ली के तोमरवंशी राजा को परास्त कर दिल्ली एवं उसके आस-पास के इलाकों पर अधिकार किया। विग्रहराज ने मुसलमान आक्रमणकारियों को भी सफलतापूर्वक परास्त किया। एक विजेता होने के साथ, विग्रहराज साहित्य एवं कला-प्रेमी शासक था। उसने स्वयं 'हरकेलि' नामक नाटक की रचना की थी। मुसलमानों के विरुद्ध उसकी विजयो का उल्लेख करते हुए उसके राज्य-कवि सोमदेव ने उसके समय में 'ललित-विग्रहराज' नामक नाटक लिखा। विग्रहराज ने कई निर्माण कार्य भी करवाए। उसने एक संस्कृत पाठशाला की स्थापना की। वस्तुतः विग्रहराज चतुर्थ का शासन काल सांभर के चौहान शासको का सबसे महत्त्वपूर्ण और उत्कर्ष का काल था।

पृथ्वीराज तृतीय–विग्रहराज के पश्चात् चौहानों का शासक पृथ्वीराज द्वितीय बना। लेकिन चौहानों का अन्तिम प्रतापी शासक पृथ्वीराज तृतीय था। वह 1177 ई में चौहान राज्य का अधिकारी बना। प्रारम्भ में उसने अपनी माता के संरक्षण में शासन किया। पृथ्वीराज तृतीय ने चन्देल राजा 'परमर्दी' को परास्त किया तथा गुजरात राजा के साथ भी संघर्ष किया। लेकिन, भारतीय इतिहास में पृथ्वीराज की प्रसिद्धि, उसके मुहम्मद गौरी के साथ किए गए संघर्ष के कारण अधिक है। पृथ्वीराज के समय मौहम्मद गौरी ने 1191 ई. में भारत पर एक भयंकर आक्रमण किया। पृथ्वीराज ने करनाल और थानेश्वर के मध्य स्थित तराइन के मैदान से मुहम्मद गौरी को बुरी तरह से पराजित किया। लेकिन, इस पराजय का बदला लेने के लिए मुहम्मद गौरी ने दूसरे वर्ष पुनः भारत पर आक्रमण किया। इस बार भी पृथ्वीराज ने तराइन के युद्ध-क्षेत्र में गौरी का मुकाबला किया। किन्तु कन्नौज के शासक जयचन्द की शत्रुता और राजपूत राज्यों के आपसी द्वेष के कारण पृथ्वीराज की तराइन के दूसरे युद्ध में गौरी के सामने पराजय हुई। वह मारा गया और चौहानों के राज्य पर मुसलमानों (तुर्कों) का अधिकार हो गया।

मालवा के परमार–हर्ष के पश्चात् राजनीतिक विघटन के युग में उत्तरी भारत में उठने वाले राजपूत बंश में मालवा के परमारों का भी प्रमुख स्थान है। चारण अनुश्रुतियों के अनुसार परमारों को आबू पर्वत के अग्नि-कुण्ड से उत्पन्न राजपूत माना जाता है। किन्तु परमारों के प्रारम्भिक अभिलेखों के आधार पर विद्वानों की मान्यता है कि परमार पहले दक्षिणी भारत के राष्ट्रकूट राजाओं के सामन्त थे और नवीं शताब्दी में परमारों की स्वतंत्र-राज्य-सत्ता की स्थापना हुई थी।

उपेन्द्रकृष्णराज—परमारों की शक्ति का संस्थापक उपेन्द्रकृष्णराज था। उसने नवीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल में मालवा में अपनी राज्य-सत्ता कायम की और धारा को अपनी राजधानी बनाया। उपेन्द्रकृष्णराज के बाद वैरीसिंह, सीयक प्रथम, वाक्पति प्रथम तथा वैरीसिंह द्वितीय क्रमशः परमारों के राजा बने। किन्तु, इन राजाओं के शासन काल के बारे में अधिक जानकारी नहीं हो पायी है।

हर्षसिंह सीयक—वैरीसिंह द्वितीय के बाद परमार वंश का प्रसिद्ध राजा हर्षसिंह सीयक हुआ। उसने परमारो की शक्ति को बढ़ाया और राष्ट्रकूट राजा को परास्त किया। उसने हूणों को भी हराया।

मुञ्ज—हर्षसिंह के पश्चात् उसका पुत्र मुंज परमारों का अधिपति बना। मुंज एक प्रतापी एवं प्रतिभावान शासक था। उसने अनेक युद्ध किए तथा राजस्थान के कई भागों पर अधिकार करते हुए मेवाड़ को भी जीता। मुंज का संघर्ष दक्षिणी भारत के चालुक्य राजाओं से भी हुआ और उन्हीं के साथ युद्ध में उसकी मृत्यु हुई।

भोज—मुंज के बाद उसका भाई सिन्धुराज मालवा का शासक बना और उसके पश्चात् भोज मालवा का राजा बना। भोज परमार वंश का सबसे प्रतापी शासक था। अपने शासन काल में भोज ने कई युद्ध किए, कई विजयें प्राप्त कीं और परमारों के राज्य का खूब विस्तार किया। उसने दक्षिणी भारत के चालुक्यों, चोलों और कल्चुरी शासकों के मिले-जुले संघ को भी विफल किया। सम्भवतया भोज ने महमूद गजनवी के विरुद्ध भी युद्ध किया तथा पंजाब के राजा आनन्दपाल को उसके विरुद्ध सहायता दी।

भोज भारतीय इतिहास में मात्र विजेता की तरह ही नहीं, बल्कि एक विद्या एवं कला-प्रेमी शासक की तरह प्रसिद्ध है। उसके शासन काल में साहित्य, कला एवं ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में काफी प्रगति हुई। भोज स्वयं बड़ा विद्वान् था और उसके दरबार में कई साहित्यकार एवं विद्वान आश्रय प्राप्त करते थे। स्वयं भोज ने ज्योतिष, साहित्य, आयुर्वेद एवं स्थापत्य-कला के कई ग्रन्थ लिखे, जिनमें 'राजमृगांक', 'व्यवहार समुच्चय', 'शब्दानुशासन','सरस्वती कण्ठाभरण','नाममालिका', समरांगण सूत्रधार 'आयुर्वेद सर्वस्व' आदि प्रमुख हैं। भोज ने कई स्थापत्य स्मारकों का भी निर्माण करवाया। वर्तमान भोपाल के पास उसने भोजपुर नगर बसाया। कई मन्दिरों, झीलों व तालावों का निर्माण करवाया तथा अपनी राजधानी में उसने एक ज्योतिष की वेधशाला तथा भोजशाला नामक संस्कृत विद्यालय की स्थापना की। वस्तुतः भोज का नाम पूर्व-मध्यकालीन भारत के राजपूत शासकों में बहुत ऊँचा है।

भोज के उत्तराधिकारी—भोज के बाद परमार वंश में जयसिंह, उदयादित्य लक्ष्मणदेव, नरवर्मा, यशोवर्मा, विन्ध्यवर्मा, समुद्रवर्मा, अर्जुनवर्मा, देवपाल आदि कई राजा हुए। लेकिन इनमें अन्तिम प्रतापी शासक उदयादित्य ही था। उसके बाद के शासकों के शासन काल में परमारों की शक्ति धीरे-धीरे क्षीण होती गई और अन्त

में अलाउद्दीन खलजी ने मालवा पर अधिकार कर परम्पराओं के राज्यों को पूर्णतया समाप्त कर दिया ।

गुजरात के चालुक्य या सोलंकी—दसवीं शताब्दी में गुजरात में 'अणहिल-पटन' नामक स्थान को केन्द्र बनाकर मूलराज नामक व्यक्ति ने चालुक्य या सोलंकी राजपूत राज्य की स्थापना की । ऐसा माना जाता है कि उसने अपने मामा का वध करके राज्य प्राप्त किया था । किन्तु मूलराज एक योग्य शासक था । उसने कच्छ, दक्षिणी गुजरात से लाट, सौराष्ट्र के वनस्थली एवं अजमेर के प्रदेशों को जीत कर अपने राज्य का विस्तार किया । मूलराज विजेता होने के साथ ही धर्मपरायण, विद्या-प्रेमी एवं कला-प्रेमी शासक था । उसने अपने राज्य में कई मन्दिर बनवाए । उसके दरबार में कई विद्वन् और ब्राह्मण आश्रय पाते थे ।

मूलराज के बाद चामुण्डराज चालुक्यों का शासक बना । किन्तु उसके समय में चालुक्यो की शक्ति को परमार शासक सिन्धुराज ने नहीं उठने दिया । चामुण्डराज के बाद दुर्लभ चालुक्यों का राजा बना । उसने अपने शत्रुओं को परास्त कर चालुक्यों की शक्ति को बढ़ाया ।

भीम—दुर्लभ के पश्चात् चालुक्यों का शासक भीम बना । भीम ने मालवा के परमार शासक भोज तथा कलचुरी शासक लक्ष्मणकर्ण को परास्त किया था । कहा जाता है कि उसने सिन्ध के मुसलमानों से भी संघर्ष किया था । भीम के शासन काल की सबसे बड़ी महत्त्वपूर्ण घटना महमूद गजनवी का 1224 ई. मे सोमनाथ पर आक्रमण था । लेकिन इस आक्रमण में भीम ने महमूद का सामना नहीं किया और भाग कर कन्या के दुर्ग में छिप गया । यद्यपि भारतीय जनता ने महमूद का वीरता से सामना किया, फिर भी अन्त में महमूद सफल रहा और उसने सोमनाथ के मन्दिर को खूब लूटा, मूर्ति को तोड़ डाला और अतुल धन-सम्पत्ति लेकर गजनी लौट गया । महमूद के लौट जाने पर भीम अपनी राजधानी में आया और उसने सोमनाथ के मन्दिर की मरम्मत करवाई ।

कर्ण और जयसिंह—भीम के बाद कर्ण शासक बना । उसने भी परमारों से संघर्ष किया । लेकिन कर्ण एक महान् निर्माता था । उसने कई मन्दिरों और तालाबों का निर्माण करवाया । कर्ण का उत्तराधिकारी जयसिंह सिद्धराज था । उसने 49 वर्ष तक शासन किया । अपने शासन काल में मालवा के परमार राजा नरवर्मा के साथ बीस वर्ष तक संघर्ष किया । अपने पिता की भाँति जयसिंह भी धर्मपरायण शासक था । उसने भी कई मन्दिरों का निर्माण करवाया । उसके दरबार मे प्रसिद्ध जैन आचार्य हेमचन्द रहता था ।

कुमारपाल—जयसिंह का उत्तराधिकारी कुमारपाल था । वह एक पराक्रमी राजा था । उसने कोंकण, अजमेर तथा सौराष्ट्र के राजाओ को परास्त किया । वह भी एक धार्मिक विचारधारा वाला शासक था । उसने सोमनाथ के मन्दिर का पुनः निर्माण करवाया । उसके शासन काल में जैनाचार्य हेमचन्द ने कई ग्रंथों की रचना की ।

कुमारपाल के पश्चात् चालुक्यों में कोई प्रतापी शासक नहीं हुआ। यद्यपि इस वंश के शासक 1232 ई. तक शासन करते रहे, किन्तु इसके बाद चालुक्यों के बघेल सामन्तों ने उनके राज्य पर अधिकार कर लिया और अन्त में 1297 ई० में अलाउद्दीन खिलजी का इस राज्य पर अधिकार हो गया।

उत्तरी भारत के अन्य राजपूत राज्य—प्रतिहारों, गहड़वालों, चौहानों तथा चालुक्यों के अतिरिक्त राजपूत युग में उत्तरी भारत के अन्य भागों से कई दूसरे राजपूत वंशों के भी राज्यों का उदय एवं पराभव हुआ। इनमें से बंगाल के पाल और सेन वंश ने शासन किया। पाल वंश मे कई योग्य शासक हुए, जिन्होंने समय समय पर प्रतिहारों एवं राष्ट्रकूटों से संघर्ष किया। बंगाल के अतिरिक्त जजोकभुक्ति (बुन्देलखण्ड) में चन्देल राजपूतों ने अपना प्रभुत्व जमाया। चन्देलों में "धंग" नाम का शासक सबसे प्रतापी हुआ। उसने दक्षिणी भारत के कई राज्यों को जीता और तुर्क आक्रमणकारी सुबुक्तगीन के विरुद्ध पंजाब के शाही वंश के शासक जयपाल को सहायता दी। इसी तरह चन्देल राज्य के दक्षिण में वर्तमान जबलपुर के निकट कलचुरी या चेदी राजपूतों ने अपने राज्य की स्थापना की और वे बारहवीं शताब्दी तक शासन करते रहे। इससे अलावा काश्मीर, पंजाब, सिन्ध, राजस्थान आदि भागों में भी कई अन्य राजपूतों ने अपने-अपने राज्य स्थापित किए।

राजपूतकालीन सभ्यता और संस्कृति

प्रशासन—राजपूत काल में प्रशासन का स्वरूप सर्वशक्तिमान राजतन्त्रात्मक था। शासन का सर्वोच्च अधिकारी राजा होता था। राजा को ईश्वर का अवतार माना जाता था। उसकी इच्छा सबसे अधिक महत्त्व रखती थी। राज्य-सिंहासन पर अधिकार वंश-परम्परानुसार होता था। राजपूत युग में प्रांतीय एवं स्थानीय प्रशासन की सामन्तवादी व्यवस्था का विकास हुआ। यह इस युग की अपनी विशेषता थी। सम्पूर्ण राजा अलग-अलग सामन्ती रियासतों में विभक्त होते थे, जिनके अधिपति सामन्त होते थे। अपनी-अपनी रियासत या क्षेत्र की शान्ति व्यवस्था, रक्षा एवं न्याय का उत्तरदायित्व सामन्तों पर होता था।

राजस्व एवं भूमि प्रबन्ध—राज्य की आय का मुख्य साधन भूमि-कर था। साधारण तौर पर उपज का छठा भाग भूमि-कर लिया जाता था। इसके अतिरिक्त सामन्ती कर, भेंट तथा व्यापारी एवं व्यवसायों पर कर से राज्य की आय होती थी। राज्य की आय प्रशासन तन्त्र के संचालन, सैनिक प्रबन्ध, निर्माण कार्य, दान-पुण्य तथा राज्य परिवार के खर्च के उपयोग में आती थी। सरकार कृषि एवं सिंचाई के लिए झीलें, नहरें, कुएँ, तालाब आदि का निर्माण करवाती थी।

न्याय—राजपूत काल में न्याय-व्यवस्था का भी सामन्तीकरण हुआ। प्रत्येक सामन्त को परोक्ष रूप में अपने-अपने क्षेत्र में न्यायिक कार्य के अधिकार प्राप्त हुए। यद्यपि इन सामन्तों के अपने अलग-अलग न्यायालय होते थे, फिर भी जनता को समान रूप में न्याय मिल सकने की सम्भावनाएँ राजपूत काल में कम हुई। दण्ड और

जुर्माने में भी अलग-अलग दरों और व्यवस्थाओं ने जन्म लिया। फलतः न्याय व्यवस्था की दृष्टि से जनता के कष्टों में वृद्धि हुई।

सैनिक प्रबन्ध—राजपूत काल में राज्य के अस्तित्व का आधार सैनिक शक्ति थी। अतः राजपूत राजा स्थायी सेना रखते थे। सामान्यतः प्रत्येक राजपूत राजा की सेना में पैदल, घुड़सवार, हाथी, रथ, तीरंदाज आदि होते थे। परन्तु स्थायी सेना के पर्याप्त संख्या में नहीं होने के कारण शासक सामन्तों की सेना पर आश्रित रहते थे। कभी-कभी सैनिकों की तत्काल भर्ती भी की जाती थी। यद्यपि राज्य की सेना को प्रशिक्षण दिया जाता था, फिर भी समग्र रूप में एक सैनिक अभियानों का युग होते हुए भी राजपूत युग की सेना में संगठन और अनुशासन का अभाव था।

सामाजिक जीवन—राजपूत युग में समाज परम्परागत चार वर्णों में विभक्त था और जाति-प्रथा का बोलबाला था। विदेशियों के सम्मिश्रण से कई नई जातियों का उदय होने लगा था और जातियाँ उप-जातियों में विभक्त होने लग गई थीं। किन्तु इस युग में जाति शुद्धि की विचारधारा भी पनपी। समाज में ब्राह्मणों का बड़ा सम्मान होता था। शासनिक शक्ति के अधिकारी होने के नाते क्षत्रिय प्रभुता सम्पन्न थे। किन्तु वैश्यों की स्थिति कमजोर होने लगी थी।

स्त्रियों की दशा—अलबरूनी के अनुसार राजपूत युग में स्त्रियाँ सुशिक्षित होती थीं। उन्हें कई प्रकार की कलाएँ सिखाई जाती थीं। राजपूत राजा स्त्रियों का सम्मान करते थे और उनकी रक्षा करना अपना कर्त्तव्य समझते थे। स्त्रियों का चरित्र उन्नत था। पति-भक्ति उनका आदर्श था। किन्तु सती-प्रथा प्रचलित थी।

विवाह—राजपूत युग में बहु-विवाह प्रथा प्रचलित थी। राजवंशों में स्वयंवर विवाह होते थे। बाल-विवाह का अधिक प्रसार था। विधवा-विवाह का प्रचलन समाप्त-सा हो गया था।

राजपूत चरित्र—राजपूत युग के शासक और सामन्त शौर्य, साहस, सहिष्णुता, त्याग और आत्मबल से पूर्ण होते थे। वे अपने वचन और आन-बान के पक्के होते थे। सामरिक प्रवृति उनके चरित्र का मुख्य गुण था। युद्ध-भूमि में प्राण देना उसके लिए गौरव की बात थी। शरण में आए हुए की जी-जान से रक्षा करना वे अपना परम कर्त्तव्य समझते थे। वे सत्य को अधिक प्रश्रय देते थे। उनकी राजनीति भ्रष्टाचार और कूटनीति से कोसों दूर थी। राजपूत स्त्रियों में भी देशप्रेम और वीरोचित गुण भरे पड़े थे। अपनी आन-बान और मान-मर्यादा की रक्षा में एक ओर राजपूत पुरुष जहां तलवार की धार से गला मिलाने में गौरव का अनुभव करते थे, वहाँ दूसरी ओर राजपूत स्त्रियाँ हँसते-हँसते जौहर की ज्वाला में कूदना खेल समझती थीं। अवसर आने पर राजपूत स्त्रियाँ युद्ध-भूमि में जाने को भी तैयार रहती थीं।

लेकिन, राजपूतों की शौर्य और त्याग की भावना में धीरे-धीरे विलासिता का

दुर्गुण घुस गया। उनमें पक्षपात, अनावश्यक क्रोध एवं शीघ्र आवेश में आ जाने की कुटेव पैदा हो गयी। अहंभाव और आत्म-प्रशंसा के दुर्गुणों ने घेर लिया। इन सब बातों ने उन्हें विदेशियों के सामने सफल होने से रोका। इसके अतिरिक्त भारी दहेज एव कन्या-वध आदि कुरीतियाँ उनके समाज में उत्पन्न हो गईं, जिससे उनके समाज का स्तर नीचे गिरा।

धार्मिक दशा--राजपूत युग पौराणिक धर्म के उत्थान का काल था। शंकराचार्य के अद्वैतवाद की अपेक्षा भक्ति मार्ग का इस युग में खूब अधिक प्रचार हुआ। शैव, भक्ति और वैष्णव धर्म का भी इस युग मे खूब प्रचार हुआ। स्थान-स्थान पर शिव, विष्णु और अन्य देवी-देवताओं के मन्दिरों का निर्माण करवाया गया। मन्दिर धनधान्यपूर्ण थे, जहां बड़े ठाट-बाट के साथ पूजा, उपासना होती थी। धार्मिक क्षेत्र में बाधाएँ मानने का बड़ा प्रचलन था। पूजा-पाठ, भजन कथा-कीर्तन आदि का रिवाज जोरों पर था। संन्यासियों के अलग-अलग मठों का विकास हो रहा था। बौद्ध धर्म क्षीण हो चुका था।

शिक्षा—विघटित राजनैतिक स्थिति में भी राजपूत युग में शिक्षा, साहित्य व कला के क्षेत्र मे पर्याप्त उन्नति हुई। इस युग में शिक्षा की व्यवस्था प्राचीन परिपाटी के अनुसार ही थी। सोमपुरी, ओदन्तपुरी, विक्रमशिला, जगछाला, धारा तथा नालन्दा शिक्षा के प्रमुख केन्द्र थे।

साहित्य—साहित्य के क्षेत्र में एक नवीन जागृति की लहर इस युग में उत्पन्न हुई। शृंगार, वीर व करुण रस प्रधान काव्यों तथा साहित्यिक रचनाओं का इस युग मे खूब सृजन हुआ। भवभूति, राजशेखर, दण्डी, माघ, जैनाचार्य, कल्हण, विल्हण, जयदेव भट्ट, नारायण, सोमदेव, भास्कराचार्य, चन्दवरदाई आदि इस युग के महान् साहित्यकार थे, जिन्होने अपनी विविध साहित्यिक कृतियों से भारत के साहित्य को समृद्ध किया। इसके अतिरिक्त चारण-भाटों द्वारा रचित अपने शासकों की विरुदावलियों और वंशावलियों के वर्णनों के रूप में शौर्य-साहित्य का भी राजपूत युग में काफी सृजन हुआ। इस युग के कई राजा स्वयं विद्वान और काव्यमर्मज्ञ थे, जिनमें मालवा के राजा भोज और मेवाड़ के महाराणा कुम्भा के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

कला—साहित्य के साथ राजपूत युग में कला का भी पर्याप्त विकास हुआ। उस युग की कला धर्म से प्रभावित थी। धार्मिक भावनाओं से प्रेरित होकर तत्कालीन राजपूत राजाओं ने कई मन्दिरों तथा मठों का निर्माण करवाया, जो उस युग के ही नही बल्कि सम्पूर्ण भारतीय स्थापत्य-कला के अद्भुत उदाहरण हैं। भुवनेश्वर का लिंगराज का मन्दिर, पुरी में कोणार्क का सूर्य मन्दिर और खुजराहो, आबू, उदयपुर के पास नागरा व जगत तथा मण्डोर (जोधपुर) के मन्दिर राजपूतयुगीन स्थापत्य एवं तक्षण कला के अद्वितीय प्रमाण हैं। उस समय में मन्दिर निर्माण में स्थापत्य की तीन शैलियां का विकास हुआ जिन्हें आर्य शैली, द्रविड़ शैली तथा मिश्रित शैली

कहा जाता है । उत्तर भारत में आर्य शैली के शिखर वाले ऊँचे मन्दिर बनवाए गए, जिनके गर्भगृह मे मूर्ति संस्थापित की जाती थी । द्रविड़ शैली के मन्दिर दक्षिण भारत में बने । ये मन्दिर कई मंजिलों के अलग-अलग मण्डपों के होते थे । इन मन्दिरों में सबसे ऊपर एक विमान होता था । मिश्रित शैली के मन्दिर दक्षिणी मध्य भारत में एलोरा के गुहा मन्दिरों के रूप में बनाए गए थे । राजपूत युग में पर्वतीय चट्टानों को काट-काट कर मन्दिर बनवाने की एक विशेष स्थापत्य-प्रवृत्ति पनपी, जो तत्कालीन कारीगरों की अद्भुत क्षमता और तकनीकी ज्ञान की परिचायक है। मन्दिरों के अतिरिक्त दुर्ग, किले और बड़े-बड़े भवन भी राजपूत युग की उन्नत स्थापत्य-कला का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं । चित्तौड़, माँडू तथा रणथम्भौर के किले राजपूत स्थापत्य कला की विशालता का परिचय कराते हैं । राजपूत युग के ये स्थापत्य स्मारक विशाल ही नहीं हैं, बल्कि उनमें पशु, पक्षी, लता-वृक्ष आदि की आकृतियों की बारीक कटाई को देख कर ऐसा लगता है मानो पाषाण में जीवन उतार दिया गया हो । वास्तव में स्थापत्य कला की दृष्टि से राजपूत युग ने भारत को वे स्मारक प्रदान किए है जिनका सानी बड़ी कठिनाई से मिल पाता है ।

स्थापत्य-स्मारकों के साथ मूर्तिकला के क्षेत्र में भी राजपूत युग में काफी प्रगति हुई । विभिन्न देवी-देवताओं की तथा बुद्ध की मूर्तियाँ इस युग में बनाई गई इसके अतिरिक्त शृंगार भावना की भिन्न-भिन्न अनुभूतियों को प्रकट करने वाली मूर्तियाँ भी बनीं । राजपूत युग की मूर्तियों में अंग-प्रत्यगों की वनावट, केश-विन्यास तथा आभूषणों की कटाई में बहुत बारीकी दिखाई देती है ।

मूर्तिकला की तरह ही राजपूत युग में चित्रकला का भी विकास हुआ । राजपूत काल की चित्रकला के अनुपम उदाहरण एलोरा तथा जवासिया राज्य के बाघग्राम की गुफाओं में मिलते हैं । इस युग की चित्रकला में रंगों की प्रधानता तथा अंकन की बारीकी की प्रमुख विशेषताएँ रही हैं । राजपूत काल में ही धार्मिक ग्रंथों तथा साहित्यिक कृतियों को चित्रित स्वरूप प्रदान किया गया था । इसके साथ ही उस युग में संगीत, नृत्य और वाद्य-कला की भी पर्याप्त उन्नति हुई ।

राजपूतों के पतन के कारण

राजपूत वीर और शूरमा थे । युद्ध से उन्हें डर नहीं था । लड़ कर मरना वे पुण्य समझते थे । ऐसे योद्धा होकर भी अपनी सत्ता अधिक दिन बनाए नहीं रख सके । विदेशी आक्रमणकारी मुसलमानों से वे देश की रक्षा भली प्रकार नहीं कर सके । वे उनसे हारे और उनकी सत्ता का पतन हुआ । ऐसे वीर और रण-बाँकुरे राजपूतों के पतन के कारण निम्नलिखित थे —

(1) राजपूतों में समान हित और एकता का अभाव था ।

(2) वे संकुचित अहम् और क्षेत्रीय भावना से अनुप्रेरित रहे थे और राष्ट्रीय हित का ध्यान नहीं रख सकते थे ।

(3) वे युद्ध में बलिदान होना राजपूत का धर्म समझ कर लड़ते थे। पर जीतने और हारने को कम महत्त्व देते थे।

(4) आक्रमणकारियों को हराने के लिए उन्होंने कभी कूटनीति का सहारा नहीं लिया, जबकि शत्रु कूटनीति से काम लेते रहे थे।

(5) जातीय व्यवस्था से भारत में युद्ध का भार राजपूतों का ही समझा गया और सैन्य बल की कमी होने पर भी उन्हें सैनिक शक्ति का सहारा नहीं दिया।

(6) राजपूतों के युद्ध के तरीके पुराने और कम गतिशील थे जबकि आक्रमणकारियों के तरीके अपेक्षाकृत नए और गतिशील थे।

(7) राजपूत सेना के हाथी और रथ उस समय के युद्धों के लिए उपयुक्त सिद्ध नहीं हुए।

(8) राजपूतों के सेनापति के मारे जाने अथवा घायल हो जाने से सेना का मनोबल टूट सा जाता था, जबकि मुसलमानों में उसका स्थान तुरन्त दूसरा ग्रहण कर लेता था।

(9) राजपूत मुसलमानों की तरह धार्मिक जोश नहीं रखते थे।

(10) राजपूतों की द्वितीय रक्षा पंक्ति कमजोर रहती थी।

(11) राजपूतों में बड़े-छोटे का ख्याल और आपस में सहयोग न कर सकने की प्रवृत्ति थी।

ऐसे कारणों से राजपूतों की सत्ता का पतन हुआ।

समग्र रूप में 'राजपूत युग' राजनीतिक दृष्टि से आपसी वैमनस्य के कारण उत्पन्न दुर्बलताओं का युग था। किन्तु, दुर्बलता और फूट के वातावरण में भी हर्ष की मृत्यु के बाद से लेकर मुस्लिम साम्राज्य की स्थापना तक कई छोटे-छोटे राज्यों में शासन करते हुए राजपूत काल के शासकों ने भारतीय साहित्य एवं कला के विकास में अनुपम कृतियाँ देकर भारतीय संस्कृति के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

अध्ययन का उपयोग

नीचे दिए गए प्रश्नों का उत्तर दीजिए एवं अपने अध्ययन को उपयोगी बनाइए—

1. 800 ई से 1200 ई. तक के काल को भारतीय इतिहास में राजपूत युग क्यों कहा जाता है ?
2. राजपूतों की उत्पत्ति के बारे में कौन-कौन से मत प्रचलित हैं ?
3. प्रतिहार वंश में कौन-कौन से प्रमुख शासक हुए और उन्होंने क्या-क्या महत्त्वपूर्ण कार्य किए ?
4. गहड़वाल वंश के प्रमुख शासकों ने क्या-क्या महत्त्वपूर्ण कार्य किए ?
5. मालवा के परमार और गुजरात के चालुक्य शासकों में से प्रसिद्ध शासकों के कार्यों का वर्णन कीजिए।
6. पृथ्वीराज तृतीय का नाम चौहान शासकों में क्यों प्रसिद्ध है ?

अध्ययन की जाँच

सही उत्तर का क्रमाक्षर कोष्ठक में लिखिये--

1. राजपूत युग ने भारतीय सभ्यता और संस्कृति को जिस क्षेत्र में सबसे महत्वपूर्ण देन दी, वह है —
   (क) धर्म (ख) दर्शन
   (ग) ज्ञान-विज्ञान (घ) स्थापत्य-कला ( )
2. पृथ्वीराज चौहान ने महमूद गजनवी को जिस युद्ध में परास्त किया, वह था—
   (क) प्लासी का युद्ध (ख) तराइन का प्रथम युद्ध
   (ग) तराइन का द्वितीय युद्ध (घ) पानीपत का प्रथम युद्ध ( )

सोच-विचार कर उत्तर लिखिए—

1. राजपूत युग में यदि आप किसी राज्य के शासक होते तो भारत में राजनीतिक एकता स्थापित करने के लिए आप क्या प्रयत्न करते ?
2. यह कैसे कहा जा सकता है कि विघटित राजनीतिक परिस्थितियों में भी राजपूत युग में भारतीय संस्कृति समृद्ध हुई ?

निम्नलिखित क्रियात्मक कार्य कीजिये और अपना कौशल बढ़ाइये—

1. राजपूतकालीन स्थापत्य-स्मारकों व चित्रकला के नमूने एकत्रित करके उन्हें अपने एलबम में लगाइये ।

पूरक अध्ययन-ग्रन्थ

1. बी. एन. लूनिया : भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का इतिहास
2 डॉ. वी. एस. भार्गव : प्राचीन भारत का इतिहास एवं विचार
3. डॉ. ओमप्रकाश : प्राचीन भारत का इतिहास
4. डॉ. पी. शरण : भारतवर्ष का संक्षिप्त इतिहास

अध्याय 15

दक्षिणापथा : दक्षिणी भारत के प्रमुख राज्य

दक्षिणी भारत की भौगोलिक परिस्थितियों के कारण प्राचीन काल में दक्षिणी भारत में राजनीतिक एकता स्थापत नहीं हो पायी । उत्तरी भारत की तरह दक्षिणी भारत में भी समय-समय पर कई छोटे-मोटे राज्यों का उदय एवं परावभ होता रहा । लेकिन उन राज्यों में से कई ने प्रभुता प्राप्त कर अपने समय में भारतीय इतिहास

ऊपर से नीचे



पल्लव शासकों का कालक्रम

पैमाना 1"=50 वर्ष

ई.

570 — सिंहविष्णु अवनिसिंह

महेन्द्र वर्मन प्रथम
(634 ई. में पुलकेशिन द्वितीय से युद्ध)

620

नरसिंह वर्मन प्रथम

फाह्यान की दक्षिण भारत यात्रा

670 — महेन्द्र वर्मन द्वितीय व परमेश्वर वर्मन

नरसिंह वर्मन द्वितीय

720

नन्दी वर्मन द्वितीय (चालुक्यों से संघर्ष)

770

पल्लव वंश का पतन

820

को राजनीतिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से बहुत प्रभावित किया। ऐसे राज्यों में पल्लव चोल, पाण्ड्य तथा राष्ट्रकूट प्रमुख थे।

पल्लव साम्राज्य

पल्लव वंश—पल्लव वंश की उत्पत्ति के बारे में विद्वानों में मतभेद है। डॉ. स्मिथ पल्लवों का सम्बन्ध पह्लवों (पार्थियनों) से जोड़ते हैं, किन्तु अन्य विद्वान् इन दोनों में नाम मात्र की समानता के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं स्वीकारते। डॉ. जायसवाल पल्लवों को उत्तरी भारत के ब्राह्मण मानते हैं, जिन्होंने बाद में क्षत्रिय धर्म स्वीकार कर लिया था। इसके विपरीत डॉ. कृष्णास्वामी आयंगर का मत है कि पल्लव नाग सामन्तों के वंशज थे और पहले सातवाहनों की अधीनता में सामन्त के रूप में शासन करते थे। कुछ विद्वान पल्लवों को मूलतः दक्षिणी भारत के ही मानते है। इस प्रकार पल्लवों की मूल-वंश परम्परा अभी तक विवादपूर्ण ही है।

पल्लव शक्ति का उदय—सातवाहन साम्राज्य के पतन के साथ ही चौथी शताब्दी में पल्लवों की शक्ति का उदय हो गया था। किन्तु वास्तविक राज्य शक्ति के रूप में उनका उदय छठी शताब्दी के अन्त में प्रारम्भ हुआ।

सिंहविष्णु—छठी शताब्दी में पल्लवों की शक्ति संस्थापना करने वाला सिंह-विष्णु था। उसने दक्षिण में कृष्णा और कावेरी के बीच नए रूप में पल्लवों के राज्य की नींव डाली और काँची को अपने राज्य की राजधानी बनाया। उसने दक्षिणी भारत में चालुक्य, राष्ट्रकुल एवं चोल शासकों से सफलतापूर्वक संघर्ष किया और चोल राज्य के एक बड़े भाग पर अधिकार कर अपने राज्य का विस्तार किया।

महेन्द्रवर्मा प्रथम—सिंहविष्णु के बाद महेन्द्रवर्मा प्रथम पल्लवों का शासक बना। इसके समय में पल्लवों का चालुक्यों के साथ संघर्ष चला और चालुक्यों ने पल्लव राज्य के उत्तरी भाग पर अधिकार कर लिया। महेन्द्रवर्मा प्रथम के शासन काल में साहित्य एवं कला की अच्छी प्रगति हुई।

नरसिंहवर्मा प्रथम (महामल्ल)—महेन्द्रवर्मा प्रथम के बाद नरसिंहवर्मा प्रथम पल्लवों का शासक बना। इस वंश का यह सबसे शक्तिशाली शासक था। उसने चालुक्यों को परास्त कर बादामी को जीत लिया। इसके अलावा उसने चोल, चेर तथा कदम्बों को भी हराया। किन्तु, अन्त में चालुक्य राजा विक्रमादित्य ने उसे परास्त किया। नरसिंहवर्मा के काल में पल्लव साम्राज्य में कई मन्दिरों का निर्माण हुआ।

नरसिंहवर्मा प्रथम के उत्तराधिकारी—नरसिंहवर्मा प्रथम का उत्तराधिकारी **महेन्द्रवर्मा द्वितीय** था। उसे चालुक्यों, गंगों और पाण्ड्य वंश के मिले-जुले संघ के आक्रमण का सामना करना पड़ा। संभवतया इसी युद्ध में वह मारा गया। उसके बाद **परमेश्वरवर्मा प्रथम** पल्लवों का शासक बना। उसे भी पाण्ड्यों और चालुक्यों की शक्ति का सामना करना पड़ा। प्रारम्भ में वह इनको परास्त नहीं कर पाया, किन्तु अन्त में परमेश्वरवर्मा ने पाण्ड्यों और चालुक्यों की मिली-जुली शक्ति को

परास्त किया। परमेश्वरवर्मा के पश्चात् **नरसिंहवर्मा द्वितीय** शासक बना। इसका शासन काल शान्तिमय गुजरा। फलतः उसने कांची, कुरम तथा महाबलिपुरम् में कई मन्दिरों का निर्माण करवाया। इसके शासन काल में साहित्य की भी प्रगति हुई। नरसिंहवर्मा द्वितीय के बाद **परमेश्वरवर्मा द्वितीय** शासक बना। उसके शासन काल में पल्लवों की शक्ति क्षीण होने लगी। उसके बाद **नन्दीवर्मा द्वितीय** शासक बना। वह परमेश्वरवर्मा का पुत्र न होकर उसका सम्बन्धी था। अतः उसे राज्य के दूसरे दावेदारों से संघर्ष करना पड़ा। अन्त मे, इस संघर्ष में वह विजयी रहा। नन्दीवर्मा द्वितीय को पाण्ड्यों, राष्ट्रकूटों और चालुक्यों के आक्रमणों का सामना भी करना पड़ा और उसमें वह सफल भी रहा। नन्दीवर्मा के बाद **दन्तिवर्मा, नन्दीवर्मा तृतीय नृपतुंगवर्मा और अपराजित** पल्लवों के शासक बने। किन्तु इनके समय में पल्लवों की शक्ति क्षीण होती गई और अन्त में चोल राजा आदित्य ने पल्लवों के राजा अपराजित को परास्त कर पल्लवों के राज्य का अन्त कर दिया।

चोल साम्राज्य

चोलवंश—चोल वंश दक्षिणी भारत के प्राचीन वंश में से था। इनका महाभारत और अशोक के अभिलेखों में एक स्वतन्त्र राज-वंश के रूप में उल्लेख मिलता है। मेगस्थनीज और चीनी यात्रियों के वर्णनो में भी चोलो का वर्णन मिलता है। इन साक्ष्यो के आधार पर ज्ञात होता है कि चोलों का राज्य दक्षिणी भारत के पूर्वी तट के सहारे पेन्नर एवं वेल्लार नदियों के बीच था और तमिलनाडु (मद्रास) एवं कर्नाटक (मैसूर) राज्य के कुछ भाग भी उनके राज्य में सम्मिलित थे।

चोल शासक—चोलवंश के इतिहास में पहले ऐतिहासिक शासक का नाम 'करिकाल' मिलता है। करिकाल बड़ा शक्तिशाली शासक था। उसने दक्षिणी भारत में कावेरी तक के भाग पर अधिकार कर लिया तथा अश्वमेध एवं राजसूय यज्ञ किए। किन्तु तीसरी शताब्दी से नवीं शताब्दी तक चोलों पर पल्लवों का प्रभुत्व रहा और उनके अधीनस्थ सामन्त के रूप में शासन करते रहे। नवीं शताब्दी में पल्लवों एवं पाण्ड्यों के संघर्ष का लाभ उठाकर चोलों ने अपनी शक्ति को बढ़ाया। इस समय चोलों का राजा **विजयालय** था, जो पल्लवों का सामन्त था।

आदित्य प्रथम—विजयालय के पश्चात् उसका पुत्र आदित्य प्रथम 880 ई. में चोलों का शासक बना। इसने पल्लव राजा अपराजित को हराकर चोलों के स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की और अपने साम्राज्य की सीमाओं का विस्तार किया। उसके समय में चोल साम्राज्य की सीमाएँ उत्तर में राष्ट्रकूटों के राज्य से छूती थीं। उसने राष्ट्रकूट राजा कृष्ण द्वितीय की राजकुमारी से विवाह किया था। वह शिव-भक्त था और उसने अपने राज्य में कई शिव मन्दिरों का निर्माण करवाया था।

परान्तक प्रथम—आदित्य प्रथम के पश्चात् उसका पुत्र परान्तक प्रथम चोलों का शासक बना। उसने पाण्ड्य राजा राजसिंह द्वितीय को हराकर मदुरा पर अपना अधिकार किया। दक्षिणी भारत में चोलों की शक्ति का वास्तविक संस्थापक यही

था । उसने अपने साम्राज्य को काफी बढ़ाया और लंका के राजा पर आक्रमण करने का असफल प्रयत्न किया ।

परान्तक के पश्चात् पाँच चोल शासक बहुत कमजोर हुए । परिणामस्वरूप, राष्ट्रकूटों, पाण्ड्यों और गंगों ने चोल साम्राज्य पर आक्रमण किए और लगभग 32 वर्ष तक चोलों की शक्ति दुर्बल रही ।

राजराजा प्रथम—परान्तक के बाद छठे राजा **उत्तम चोल** के पश्चात् 985 ई. में राजराजा प्रथम चोलों का शासक बना । वह बड़ा पराक्रमी एवं शक्तिशाली शासक था । उसने चेरों और पाण्ड्यों के राज्य व लंका के उत्तरी भाग को अपने राज्य में मिलाया । उसने वैंगी, कुर्ग और कलिंग को जीतकर अपने साम्राज्य का अंग बनाया । पश्चिमी चालुक्य राजा सत्याश्रय ने भी उसकी अधीनता मानी । विजेता होने के साथ ही वह एक कुशल प्रशासक एवं निर्माता भी था । वह शिव का उपासक था । उसने अपनी राजधानी तंजौर में एक शिव मन्दिर बनवाया । इसी मन्दिर की एक दीवार पर राजराजा का इतिहास खुदा है ।

राजेन्द्र प्रथम—राजराजा के पश्चात् उसका पुत्र राजेन्द्र प्रथम गंगकोण्ड चोलों का शासक बना । राजेन्द्र ने चोलों की कीर्ति को काफी बढ़ाया । उसने दक्षिणी भारत के कई राज्यों को जीता और लंका पर विजय प्राप्त की । उसने उड़ीसा, कलिंग एवं बंगाल के राजाओं पर विजय प्राप्त की । उसने पीगू, अण्डमान-निकोबार द्वीपों पर भी अधिकार किया । मलय प्रायद्वीप के राजा को भी उसने पराजित किया । उसने उत्तरी भारत में गंगाघाटी तक अपने साम्राज्य का विस्तार किया । अपनी विजयों की याद में उसने त्रिचनापल्ली में 'गंगकोण्डचोलपुरम्' नगर बसाया और उसे अपनी राजधानी बनाया । इसके अतिरिक्त उसने कई तालाब, मन्दिर, भवन आदि बनवाये और विशाल वैदिक विद्यालय की स्थापना की । इसकी मृत्यु 1044 ई. में हुई ।

राजाधिराज—राजेन्द्र के पश्चात् राजाधिराज शासक बना । उसने विद्रोही चेरों व पाण्ड्यों को दबाया और चालुक्यों को हराकर कल्याणी को लूटा । उसने लंका के विरुद्ध युद्ध किया । अपनी विजयों के उपलक्ष में उसने अश्वमेध यज्ञ किया । 1054 ई. में चालुक्य राजा सोमेश्वर से लड़ता हुआ वह मारा गया, किन्तु उसके छोटे भाई राजेन्द्र की वीरता से युद्ध में विजय चोलों को ही प्राप्त हुई ।

राजेन्द्र द्वितीय—अपने भाई की मृत्यु के पश्चात् राजेन्द्र, **राजेन्द्र द्वितीय** के नाम से चोल साम्राज्य का शासक बना । उसने चालुक्यों को करारी पराजय दी और कोल्हापुर को लूटकर वहाँ एक विजय-स्तम्भ बनवाया । उसने लंका के राजा पर भी आक्रमण किया । उसके शासन काल में चोल साम्राज्य में एक बहुत बड़ा अकाल पड़ा ।

राजेन्द्र द्वितीय के उत्तराधिकारी—राजेन्द्र द्वितीय के पश्चात् **वीर राजेन्द्र** शासक बना । उसके समय में चालुक्य शासक विक्रमादित्य षष्ठ ने चोलों का आधिपत्य स्वीकार किया । परन्तु वीरराजेन्द्र के पश्चात् उत्तराधिकारी के लिए संघर्ष

हुआ और विक्रमादित्य षष्ठ की मदद से अधिराजेन्द्र शासक बना। उसके समय में कोई महत्त्वपूर्ण घटना नहीं हुई।

अधिराजेन्द्र के पश्चात् चोल वंश की मूल परम्परा में कोई उत्तराधिकारी नहीं रहा। परिणामस्वरूप चोल साम्राज्य की राजगद्दी पर वेंगी का चालुक्य राजा राजेन्द्र द्वितीय, **कुलोतुंग** के नाम से 1070 ई. में बैठा। वह चोलों का भानजा था। उसकी माता चोल राजा राजेन्द्र प्रथम की पुत्री थी। उसके राजा बनने पर चोल तथा वेंगी के पूर्वी चालुक्यों के राज्य एक हो गए। कुलोतुंग के पश्चात् कई शासक चोल साम्राज्य के अधिकारी बने। किन्तु उनके समय में चोलों की शक्ति क्षीण होती गई। अन्त में पाण्ड्य-वंशी राजा सुन्दरपाण्ड्य ने अन्तिम चोल राजा राजेन्द्र तृतीय को हराकर चोल साम्राज्य को समाप्त कर दिया।

चोल प्रशासन—सुदूर दक्षिणी भारत के विभिन्न राज्यों में चोल साम्राज्य अधिक शक्तिशाली एवं संगठित था। चोल-शासक कुशल प्रशासक थे। उनके शासन काल में उन्होंने एक उत्तम और आदर्श शासन प्रणाली का विकास किया।

केन्द्रीय शासन—चोल शासकों का प्रशासन प्रत्यक्ष रूप में राजतन्त्रात्मक था और शासन-सत्ता राजा के हाथों में होती थी। राजा ही सभी उच्च अधिकारियों की नियुक्ति करते थे और राजा का पद वंश-परम्परागत था। किन्तु, चोल शासक निरंकुश नहीं थे। उनके साम्राज्य में प्रशासनिक अधिकार साम्राज्य की विभिन्न प्रशासनिक इकाइयों में विकेन्द्रित थे। राजा की सहायता के लिए एक मन्त्रि-परिषद् और प्रशासनिक अधिकारियों का एक मण्डल होता था। राजा स्वयं राज्य-कार्य में बड़ी रुचि लेते थे। वे प्रजा की भलाई का सदैव ध्यान रखते थे और समय-समय पर अपने राज्य के विभिन्न भागों का दौरा किया करते थे।

प्रान्तीय प्रशासन—चोल साम्राज्य प्रान्तों में विभक्त था। प्रान्तों को 'मण्डल' कहा जाता था। मण्डल का शासक चोल राजाओं का आधिपत्य स्वीकार करने वाला सामन्त शासक या राजवंश से सम्बन्धित व्यक्ति होता था। प्राचीन शासक को सहायता देने के लिए उसके नीचे कई अधिकारी होते थे। प्रत्येक मण्डल कई भागों में विभाजित था, जिन्हें 'कोट्टम' या 'बलनाडु' कहा जाता था। 'कोट्टम' से छोटी प्रशासनिक इकाई को 'नाडु' (जिला) कहा जाता था। ग्राम संघों को 'कुर्रम' कहा जाता था। साम्राज्य की सबसे छोटी इकाई 'ग्राम' होते थे।

स्थानीय स्वशासन—चोल साम्राज्य प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण तथा स्थानीय स्वशासन के लिए प्रसिद्ध था। उनके साम्राज्य में जिलों, नगरों, ग्रामों आदि में स्थानीय स्वशासन संस्थाएँ होती थीं। 'नाहर' जिला स्तर पर व्यवस्था करने वाली संस्था होती थी और गाँवों की व्यवस्था 'ग्राम-सभाएँ' करती थीं। ग्राम-सभाओं के सदस्य जनता द्वारा निर्वाचित होते थे और प्रशासन में सरकारी कर्मचारियों की मदद करते थे। इस संस्था पर गाँव के पूरे शासन का उत्तरदायित्व होता था। गाँव की जमीन की देखरेख, सिंचाई, लगान, कृषि, भूमि-सुधार तथा ग्राम की उन्नति के

कार्य यही सभा करती थी इसके अतिरिक्त दान-शालाएँ बनवाना, मंदिर बनवाना आदि का कार्य ग्राम-सभाएँ करती थीं। इस सभा का मुखिया प्रतिवर्ष चुना जाता था। ग्राम समूह 'कुर्रम' के प्रशासन के लिए भी कई समितियाँ होती थीं। इस प्रकार, चोल शासकों ने जनता के हित में शासन का विकेन्द्रीकरण कर रखा था और अपने हित-अहित को ध्यान में रखकर काम करने का अधिकार स्थानीय लोगों के हाथों में सौंप रखा था।

न्याय व्यवस्था—चोल शासकों की न्याय-व्यवस्था उच्चकोटि की थी। इसमें भी विकेन्द्रीकरण की व्यवस्था विद्यमान थी। गाँवों में न्याय-कार्य 'ग्रामसभा' करती थी। इन्हें दीवानी तथा फौजदारी मुकदमे सुनने और निर्णय देने का अधिकार था। मण्डल या प्रान्तों के शासकों के अपने अलग न्यायालय होते थे। चोल साम्राज्य में दण्ड-विधान कठोर नहीं था। किसी की जान कर हत्या कर देने पर ही मृत्यु-दण्ड दिया जाता था।

सैनिक व्यवस्था—चोल शासकों ने अपने विशाल साम्राज्य की रक्षा के लिए शक्तिशाली सेना का निर्माण किया था। स्थल सेना में धनुषधारी, घुड़सवार, हस्ति-सेना तथा वाहनों में युद्ध करने वाले सैनिक होते थे। चोल राजाओं के पास एक शक्तिशाली जल-सेना भी थी। सैनिकों को अनुशासन एवं युद्ध-विद्या की शिक्षा देने की व्यवस्था थी।

राजस्व-व्यवस्था एवं आय के साधन—चोल साम्राज्य में सरकार की आय का प्रमुख साधन 'भूमि-कर' था। कर वस्तु अथवा नकद के रूप में लिया जाता था। कुछ ब्राह्मणों को भूमि-कर से मुक्त कर दिया जाता था। किसानों को भूमि पर पूर्ण अधिकार था। करों को एकत्रित करने का कार्य ग्राम-सभाएँ करती थीं। भूमि-कर के सिवाय पानी पर कर, व्यापारिक चुंगी एवं जुर्मानों आदि से राज्य की आय होती थी। स्वर्णकार और बुनकरों पर भी कर थे। कर वसूल करने में राज्य की नीति उदार थी। इस प्रकार, आज से सैंकड़ों वर्ष पूर्व चोल शासकों ने प्रशासन में विकेन्द्रीकरण तथा प्रत्यक्ष जन-सहयोग के आदर्श को प्रस्तुत किया था।

पाण्ड्य साम्राज्य

पाण्ड्य वंश—पाण्ड्य वंश सुदूर दक्षिणी भारत का बहुत प्राचीन वंश था। इस वंश का उल्लेख कौटिल्य के अर्थशास्त्र तथा अशोक के शिला-लेखों मे मिलता है। ऐसा ज्ञात होता है कि प्रथम शताब्दी ईसवी में कृष्णा नदी के दक्षिण से लेकर कन्याकुमारी तक फैले प्रदेशों में पाण्ड्यों ने अपना राज्य स्थापित किया था। उनके राज्य की राजधानी मदुरा थी। लेकिन, दूसरी शताब्दी से छठी शताब्दी तक पाण्ड्य शासक पल्लवों के अधीन रहे थे।

पाण्ड्य शासक—पल्लवों की अधीनता से मुक्त होकर छठी शताब्दी के अन्तिम चरण में कुडुगन नामक शासक ने पाण्ड्य वंश के स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की। लेकिन स्वतन्त्र राज्य के अधिकारी बनने पर पाण्ड्य-वंशी राजाओं का पल्लवों तथा

चालुक्यों के साथ संघर्ष चलता रहा । पाण्ड्य वंश के चौथे राजा **अरिकेसरी मारवर्मा** ने पाण्ड्य राज्य का विस्तार किया । उसके बाद **कोच्चडयन, मारवर्मा और राजसिंह प्रथम** पाण्ड्य राज्य के शासक बने । इन्होंने भी अपने राज्य की शक्ति को बढ़ाया । राजसिंह के बाद **जटिल परान्तक** (वरगुणी प्रथम) शासक बना । उसने कई युद्धों में विजयी होकर अपने राज्य का विस्तार किया । वरगुणी प्रथम के पश्चात् **श्रीमार श्रीवल्लभ** पाण्ड्य वंश का प्रतापी राजा हुआ । उसने गंग, चोल, पल्लव, कलिंग तथा मगध के शासकों की संगठित शक्ति को परास्त किया । उसने लंका के राजा पर भी आक्रमण किया । लेकिन उसके शासन काल में उसके पुत्र **वरगुणीवर्मा द्वितीय** ने विद्रोह किया और उसी के बुलाने पर श्रीलंका के राजा ने पाण्ड्य राजा पर आक्रमण कर उनकी राजधानी मदुरा पर अधिकार कर लिया । **श्रीमार** के बाद **वरगुणीवर्मा** द्वितीय शासक बना । उसके समय में पल्लवों ने पाण्ड्यों के राज्य पर अधिकार कर लिया । इसके पश्चात् **वीरनारायण शड़यन, मारवर्मा और राजसिंह द्वितीय** शासक बने । राजसिंह के समय में चोलों ने पाण्ड्यों की राजधानी पर अधिकार कर लिया । किन्तु बारहवीं शताब्दी में चोल शक्ति के क्षीण हो जाने पर पाण्ड्य वंशी शासकों ने पुनः अपनी स्वतन्त्र शक्ति स्थापित कर ली । इस काल में पाण्ड्य वंश में **जटावर्मन सुन्दरपाण्ड्य** बड़ा पराक्रमी शासक हुआ । उसने चोल, होयसल, काकतायी और पल्लव राजाओं को हराया । इस वंश का अन्तिम प्रतापी राजा **मारवर्मा कुलशेखर** था । उसने अपनी शक्ति को अक्षुण्ण बनाए रखा । लेकिन, उसके बाद उत्तराधिकार के लिए झगड़ा हुआ । इसी समय अलाउद्दीन खिलजी का सेनापति मलिक काफूर अपने दक्षिण के विजय अभियान पर था । उसने पाण्ड्यों के झगड़े का लाभ उठाकर पाण्ड्यों की राजधानी मदुरा पर अधिकार कर लिया और पाण्ड्य वंश और उनके राज्य का अन्त हुआ ।

राष्ट्रकूट साम्राज्य

राष्ट्रकूट वंश—राष्ट्रकूट कौन थे और प्रारम्भ में उनका राज्य कहाँ था, इस विषय में निश्चयात्मक जानकारी का अभी तक अभाव है । प्रायः माना जाता है कि 'राष्ट्रकूट' शब्द राष्ट्र के मुखिया से बना है । पहले 'राष्ट्रकूट' राष्ट्र के मुखिया के रूप में सरकार में किसी पदाधिकारी का पद रहा होगा । कालान्तर में उस पद के वंशानुगत हो जाने पर एक खास सामन्ती वंश का यह स्थायी नाम बन गया और बाद मे उपयुक्त परिस्थितियों में शक्ति प्राप्त कर लेने पर राष्ट्रकूट वंश भारत की राजनैतिक एवं शासनिक शक्ति के रूप में प्रकट हुआ ।

राष्ट्रकूट शासक—752 ई. में चालुक्य सम्राटों के सामन्त दन्तिदुर्ग ने स्वतन्त्र राष्ट्रकूट साम्राज्य की नींव डाली । 753 ई. में उसने चालुक्य राजा कीर्तिवर्मा को परास्त कर सम्पूर्ण महाराष्ट्र पर अधिकार कर लिया । इससे पूर्व उसने गुर्जर राज्य तथा मालवा को भी जीता और पल्लवों को भी परास्त किया । 758 ई. में उसकी मृत्यु हुई ।

कृष्ण प्रथम—दन्तिदुर्ग के पश्चात् उसका चाचा कृष्ण प्रथम राष्ट्रकूटों का शासक बना। उसने कल्याणी के चालुक्यों, मैसूर के गंगों एवं वेंगी के पूर्वी चालुक्यों को परास्त किया। उसके समय में राष्ट्रकूटों का राज्य काफी फैल गया। उसने एलोरा में प्रसिद्ध कैलाश मन्दिर का निर्माण करवाया। कृष्ण प्रथम के बाद उसका पुत्र गोविन्द द्वितीय शासक बना। किन्तु, उसके छोटे भाई ध्रुवनिरूपम् ने 780 ई. में उसे हराकर राजगद्दी पर अधिकार कर लिया।

ध्रुवनिरूपम्—ध्रुव राष्ट्रकूट वंश का शक्तिशाली राजा था। उसने दक्षिणी भारत में गांगों और पूर्वी चालुक्यों को हराया और पल्लवों को दबाया। दक्षिणी भारत में अपना प्रभुत्व स्थापित कर उसने उत्तरी भारत के प्रतिहार राजा वत्सराज और पालवंशी शासक धर्मपाल को हराया। उसके समय में ही उत्तरी भारत में राष्ट्रकूटों, प्रतिहारों एवं पालों के मध्य साम्राज्य के लिए संघर्ष हुआ।

गोविन्द तृतीय—ध्रुव के पश्चात् गोविन्द तृतीय राष्ट्रकूटों का शासक बना। इसके राज्य काल के प्रारम्भ में उसके भाई स्तम्भ ने विद्रोह किया, जिसे गोविन्द ने दबाया। उसने मैसूर के गंग शासकों तथा काँची के पल्लव राजा दन्तिवर्मन को हराया। उसने वेंगी पर भी अपना आधिपत्य जमाया। धीरे-धीरे गोविन्द तृतीय की शक्ति इतनी बढ़ गई कि उसने उत्तरी भारत पर आक्रमण कर प्रतिहार राजा नागभट्ट को परास्त किया तथा मालवा और गुजरात पर अधिकार किया। इसी समय चोल, केरल, पाण्ड्य, पल्लव तथा गंग राजाओं ने गोविन्द के विरुद्ध दक्षिण में एक संघ बनाया। फलतः गोविन्द को दक्षिण में लौटना पड़ा। लेकिन गोविन्द ने दक्षिण में आकर इस संघ की संयुक्त शक्ति को नष्ट कर दिया। वस्तुतः गोविन्द एक चतुर शासक, साहसी योद्धा एवं कुशल राजनीतिज्ञ था। उसके शासन काल में राष्ट्रकूटों की शक्ति अपनी उन्नति की चरम सीमा छूने लगी थी।

शर्व या अमोघवर्ष—गोविन्द तृतीय के पश्चात् उसका पुत्र अमोघवर्ष 13 या 14 वर्ष की आयु में सिंहासन पर बैठा। उसके समय में वेंगी के चालुक्य ने विद्रोह किया। अमोघवर्ष ने विद्रोह को सफलतापूर्वक दबाया। अमोघवर्ष के समय में मैसूर का भाग राष्ट्रकूटों के हाथों से निकल गया। माना जाता है कि अमोघवर्ष ने अंग, बंग, मगध और मालवा के शासकों के विरुद्ध भी सफलता प्राप्त की। अमोघवर्ष ने अपने राज्य में शान्ति व्यवस्था स्थापित की। उसने 'मान्यखेत' नगर बसाया और उसे अपने राज्य की राजधानी बनाया, जो हैदराबाद में आज भी 'मल्खेद' नाम से विद्यमान है।

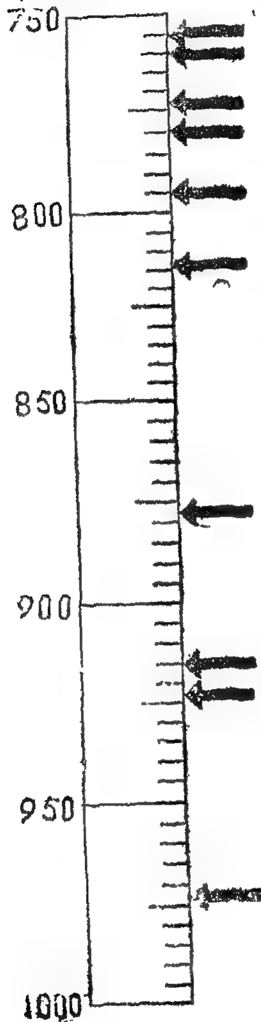
अमोघवर्ष के उत्तराधिकारी—अमोघवर्ष के पश्चात् कृष्ण द्वितीय राष्ट्रकूटों का शासक बना। उसने पूर्ववर्ती राजाओं की नीति को बनाए रखा और उत्तर में प्रतिहारों को परास्त किया। उसके पश्चात् इन्द्र तृतीय, अमोघवर्ष द्वितीय और गोविन्द चतुर्थ शासक बने। उसके बाद अमोघवर्ष तृतीय शासक बना। उसने दक्षिण के गंग-वंश और कलचुरी वंश से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किए। राष्ट्रकूटों का अन्तिम प्रतापी शासक अमोघवर्ष तृतीय का पुत्र कृष्ण तृतीय था। उसने चोलों पर

ऊपर से नीचे



राष्ट्रकूट शासकों का कालक्रम

ई. पैमाना 1" 50 वर्ष



दंतिदुर्ग द्वारा राज्य की स्थापना

कृष्ण प्रथम

गोविन्द द्वितीय

ध्रुव निरूपम

गोविन्द तृतीय

अमोघवर्ष प्रथम

कृष्ण द्वितीय

इन्द्र तृतीय

इन्द्र के उत्तराधिकारी

राष्ट्रकूट वंश का अन्त

आक्रमण किया तथा कांची और तंजौर पर अधिकार कर रामेश्वर तक जीत का डंका बजाया। अपनी विजयों की स्मृति में उसने वहाँ एक स्तम्भ बनवाया। उसने उत्तर भारत में भी आक्रमण किए और बुन्देलखण्ड होते हुए उज्जयिनी पर अधिकार किया। दक्षिणी भारत में उसने अपने साम्राज्य को इतना बढ़ाया जितना कोई राष्ट्रकूट राजा नहीं बढ़ा पाया था।

राष्ट्रकूटों का अन्त—कृष्ण तृतीय के पश्चात् राष्ट्रकूट साम्राज्य लड़खड़ाने लगा। कृष्ण के उत्तराधिकारी खोट्टिग का परमार राजा सीयक से भयंकर युद्ध हुआ। इसमें उसकी पराजय हुई और अपमान के आघात से उसकी मृत्यु हो गई। खोट्टिग के बाद कर्क द्वितीय शासक बना। किन्तु वह राष्ट्रकूट साम्राज्य को अपने अन्त से नहीं बचा पाया। उसके समय में चालुक्य वंशीय तैलप ने राष्ट्रकूटों के राज्य पर अधिकार कर लिया और राष्ट्रकूटों के राज्य का अन्त हुआ।

दक्षिणी भारत का समाज एवं संस्कृति

उत्तर भारत की तरह दक्षिण में भी 800 ई. से 1200 ई. तक राजनीतिक अस्थिरता बनी रही, लेकिन इसका प्रभाव देश के साँस्कृतिक उत्थान पर नहीं पड़ा। दक्षिण के विभिन्न राज्यवंशों के संरक्षण में भारतीय सभ्यता और संस्कृति का पर्याप्त विकास हुआ।

सामाजिक जीवन—दक्षिणी भारत में उस युग में वर्ण-व्यवस्था और जाति-प्रथा का प्रचार था। नगरों एवं गाँवों मे सभी वर्ण और जाति के व्यक्ति अपनी-अपनी बस्तियों में रहते थे। उनमें आपस में किसी प्रकार का ईर्ष्या-द्वेष नहीं था। सभी जातियों के लोग अपने-अपने रीति-रिवाजों के अनुसार जीवन व्यतीत करते थे। समाज में ब्राह्मणों एवं राज्याधिकारी क्षत्रियों का उच्च स्थान था। वैश्यों की स्थिति कमजोर होने लगी थी। शूद्रों को अछूत नहीं समझा जाता था। किन्तु चाण्डालो को अछूत माना जाता था और उनकी बस्तियाँ नगर या गाँव के बाहर होती थीं।

स्त्रियों का समाज में सम्मानजनक स्थान था। उन्हें सम्पत्ति प्राप्त करने और बेचने का अधिकार था। मन्दिरों में देवदासियाँ रहती थीं, लेकिन उनका जीवन नैतिकता के लिए होता था। सती प्रथा एवं पर्दा प्रथा नहीं के बराबर थी। कभी-कभी कोई स्त्री सती हो जाती थी।

अधिकाँशतः समाज में एक विवाह की प्रथा ही थी. अन्तर्जातीय विवाह को लोग बुरा मानते थे। ममेरी बहिन से विवाह किया जा सकता था। साधारणतया लड़के के सोलह वर्ष का होने पर और लड़की के बारह वर्ष की होने पर विवाह कर देने का रिवाज था।

आमतौर पर लोगों का जीवन स्तर अच्छा था और आचरण तथा नैतिकता का स्तर ऊँचा था। मजदूरों का जीवन स्तर अवश्य गिरा हुआ था। ह्वेनसाँग के वर्णनों से पता चलता है कि दक्षिणी भारत के लोग अपने साथ उपकार और

सद्व्यवहार करने वालों के साथ हमेशा कृतज्ञ बने रहते थे। वे शरण में आने वाले की जी-जान से रक्षा करना अपना कर्त्तव्य समझते थे। घोड़ों, मुर्गों, भेड़ों, हाथी, कबूतर आदि के युद्ध तथा जुआ आम लोगों के मनोरंजन के साधन थे। राजा और सामन्त शिकार खेलते थे और घोड़े की पीठ पर चढ़कर 'पोलो' के समान कोई खेल खेलते थे। त्यौहार के अवसर पर मेलों का आयोजन होता था।

आर्थिक जीवन—दक्षिण भारत की अधिकांश जनता गांवों में रहती थी। उसका मुख्य व्यवसाय कृषि था। शासक खेती को प्रोत्साहन देते थे और सिंचाई के लिए प्रबन्ध करते थे। राज्य भूमिकर लेता था, जो उपज का चौथाई भाग होता था। कृषि के साथ विभिन्न प्रकार के उद्योग-व्यवसाय भी उन्नत थे। मुख्यकर वस्त्र उद्योग की बहुत प्रगति हुई थी। इस युग में दक्षिण में उत्तम कोटि का बारीक कपड़ा तैयार होता था, जो विदेशों को भेजा जाता था। विभिन्न व्यापारियों की अपनी-अपनी अलग-अलग श्रेणियां बनी होती थीं जो बैंकों के रूप में भी कार्य करती थीं। दक्षिणी भारत में इस काल में व्यापार की भी पर्याप्त प्रगति हुई। मुख्य कर राष्ट्रकूट राजाओं के शासन में व्यापार-वाणिज्य की खूब प्रगति हुई। भारत से कपड़ा,चमड़ा, सुगन्धित सामग्री, नारियल, चन्दन आदि विदेशों को भेजा जाता था तथा सोना व अन्य धातुएं, शराब, कांच आदि चीजें बाहर से भारत में आती थी। व्यापार वस्तु-विनिमय तथा मुद्रा, दोनों माध्यमों से होता था। व्यापारियों की भी श्रेणियां होती थीं।

आर्थिक स्थिति—यह युग पौराणिक धर्म के उत्थान का युग था और दक्षिणी भारत के अधिकांश राज्य-वंशों के शासक पौराणिक धर्म के अनुयायी थे। अतः दक्षिण में भी वैदिक व पौराणिक धर्म का खूब प्रचार हुआ। दक्षिण भारत के कई राजाओं ने अश्वमेध,राजसूय आदि यज्ञ आयोजित करवाए। पल्लवों के काल में शिव मत के साथ वैष्णव मत का खूब प्रचार हुआ और धर्म के भक्ति प्रधान रूप का विकास हुआ। शिव, विष्णु और कार्तिकेय व गाय की पूजा का महत्व बढ़ा। मूर्ति-पूजा का प्रचार तीव्र हुआ तथा पूजागृह के रूप में बड़े-बड़े मन्दिर बनवाए जाने लगे। इसके साथ ही दान, पुण्य, तीर्थयात्रा, पुनर्जन्म, स्वर्ग-नरक आदि में सामान्य जनता का विश्वास बढ़ा।

पौराणिक धर्म के इस तीव्र विकास के परिणामस्वरूप सामान्य रूप में बौद्ध धर्म की अवनति हुई, किन्तु जैन धर्म की दक्षिणी भारत में प्रगति हुई। चालुक्य, पल्लव एवं राष्ट्रकूट शासकों ने जैन धर्म को भी पर्याप्त संरक्षण प्रदान किया। राष्ट्रकटों एवं पल्लवों की तुलना में चोल एवं पाण्डय शासक जैन धर्म के प्रति अनुदार रहे। फिर भी समग्र रूप में उस युग में दक्षिणी भारत में धार्मिक सहिष्णुता विद्यमान रही।

शिक्षा—इस काल में दक्षिणी भारत में शिक्षा की प्रगति हुई। ग्रामीण विद्यालयों में प्रारम्भिक शिक्षा तथा मठों और मन्दिरों में उच्च शिक्षा दी जाती थी।

विशेष शिक्षा के लिए अलग संस्थाएं होती थीं। शासक तथा धनी लोग शिक्षण संस्थाओं को दान देते थे तथा विद्यालयों का निर्माण करवाते थे। राजेन्द्र चोल प्रथम ने एण्णायिरम् नामक स्थान पर एक महाविद्यालय बनवाया था। वेद, पुराण, धर्म शास्त्र, दर्शन, व्याकरण, छन्दशास्त्र, ज्योतिष, तर्कशास्त्र, आयुर्वेद आदि शिक्षा के प्रमुख विषय थे।

साहित्य—पल्लवों, चोलों, पाण्डयों तथा राष्ट्रकूटों के साम्राज्य में साहित्य की भी पर्याप्त प्रगति हुई। इन राज वंशों के अधिकांश राजा विद्या एवं साहित्य के प्रेमी थे तथा उनमें से कई अच्छे साहित्यकार भी थे। पल्लव राजा महेन्द्रवर्मा स्वयं साहित्यकार था तथा उसने कई पुस्तकें लिखी थीं। इसी प्रकार राष्ट्रकूट राजा अमोघवर्ष संस्कृत का प्रकांड विद्वान था। उसने 'कविराज मार्ग' नामक पुस्तक लिखी थी। इन राज्य वंशों के दरबार में साहित्यकारों का सम्मान किया जाता था तथा उन्हें आश्रय प्रदान किया जाता था। महाकवि भारवी, दण्डी, मातृदत्त आदि पल्लवों के दरबार में थे। भारवी ने 'किरातार्जुनीयम्' नामक ग्रंथ लिखा था तथा दण्डी ने 'काव्यादर्श' एवं 'दशकुमारचरित' की रचना की थी। इसके अतिरिक्त राष्ट्रकूटों की राज्य सभा के साहित्यकार त्रिविक्रम ने 'नल चम्पू' सोमदेव ने 'यशस्तिलक' तथा 'नीति वाक्यामृत', जिनसेन ने 'हरिवंश', शटकायन ने 'अमोघवृत्ति' तथा वीराचार्य ने 'गणित सार संग्रह' नामक ग्रन्थों की रचना कर भारतीय साहित्य को समृद्ध किया। इन शासकों और साहित्यकारों के प्रयत्नों से दक्षिणी भारत में संस्कृत एवं प्राकृत भाषा का विकास हुआ। इसके साथ ही कन्नड़ भाषा में कवि पम्प द्वारा 'आदिपुराण' 'पम्प भारत' तथा रुद्र भट्ट द्वारा 'जगन्नाथ विजय' नामक ग्रन्थों की रचना की गई। चोल शासकों ने तमिल साहित्य को काफी प्रोत्साहन दिया। इस काल में दक्षिणी भारत में तमिल का महान कवि कम्बन हुआ जिसने 'रामावतारम्' नामक ग्रन्थ लिखा। वह तमिल साहित्य का महान् ग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त वैदिक एवं दार्शनिक, साहित्य, छन्दशास्त्र एवं शिल्पशास्त्र आदि के क्षेत्र में भी अनेक ग्रन्थों की रचना हुई। इन सबके परिणामस्वरूप भारतीय साहित्य की श्रीवृद्धि हुई।

स्थापत्य कला—कला के क्षेत्र में दक्षिणी भारत के इन राजवंशों और उनके शासन काल का अद्वितीय स्थान है और उनमें भी पल्लवों का अपने स्थापत्य-स्मारकों के निर्माण द्वारा विशेष महत्त्व है। पल्लव शासक महेन्दवर्मा, नरसिंहवर्मा, महामल्ल, राजसिंह तथा अपराजित ने कई मन्दिरों का निर्माण करवाया, जिसके परिणाम-स्वरूप इन राजाओं के नाम से जुड़ी चार स्थापत्य शैलियों—महेन्द्र शैली, मामल्ल शैली, राजसिंह शैली तथा अपराजित शैली का विकास हुआ इन शैलियों में चट्टानों को काट-काट कर बनवाए गए गुहा मन्दिर भारतीय स्थापत्य कला के अद्वितीय नमूने गिने जाते हैं। पल्लवों द्वारा निर्मित मन्दिर मूलतः स्थापत्य कला की द्रविड शैली का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन मन्दिरों का शिखर पिरामिड के आकार का ऊपर गुम्बदाकार छत वाला होता है, जिसे विमान कहा जाता है। ये मन्दिर विशाल अहाते में फैले हुए—पत्थर में खुदाई किए गए अनेक खम्भों वाले हैं, जिनकी तक्षण

कला दर्शनीय है। पल्लवों के काल में बने मन्दिर मन्दपगट्टु त्रिचनापल्ली, मोगलराजपुरम् मामल्लपुरम् आदि स्थानों पर आज भी विद्यमान हैं।

पल्लवों की भाँति चोल शासक भी कला-प्रेमी थे। उन्होंने पल्लवों की स्थापत्य कला को अपना कर कई मन्दिरों का निर्माण किया। चोल शासन काल में निर्मित मन्दिरों के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण तंजोर में राजराजा द्वारा बनवाया गया 'राजराजेश्वर का मन्दिर' तथा गंगकोण्डचोलपुरम् मे राजेन्द्र प्रथम द्वारा बनवाया गया 'गंगकोण्ड चोल चोलेश्वर' मन्दिर है।

पल्लवों और चोलों की तरह राष्ट्रकूट और पाण्ड्य राजाओ ने भी कई मन्दिरों का निर्माण करवाया। राष्ट्रकूटों के राजा कृष्ण प्रथम द्वारा एलोरा में बनवाया गया 'कैलाश मन्दिर' बहुत प्रसिद्ध है। ऊपर से चट्टान को काटकर बनवाया गया यह मन्दिर सयन शैली और भारतीय शिल्पियों की तक्षण कला भी क्षमता का उच्चतम नमूना है। पाण्डय शासकों द्वारा निर्मित 'श्रीरंगम् तथा 'चिदम्बरम्' के मन्दिर भी उस युग के दक्षिणी भारत के स्थापत्य स्मारकों में अपना प्रमुख स्थान रखते हैं।

मूर्तिकला—दक्षिणी भारत में स्थापत्य कला के साथ-साथ इन राज्यों के शासन काल में मूर्तिकला का भी विकास हुआ। पल्लवों के शासन काल की मूर्तियों से भावों और मुद्राओं के अलंकरण की बारीकी अनुपम है। उनकी मूर्तिकला के श्रेष्ठ नमूने कैलाश नाथ मन्दिर तथा महाबलीपुरम् के मन्दिरों में विद्यमान हैं। पल्लवों की तरह चोल शासकों ने भी मूर्तिकला के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया। उनके काल में शिव,विष्णु, ब्रह्मा, लक्ष्मी आदि की अनेक मुद्राओं में पत्थर और कांसे की मूर्तियां बनाई गईं। इन सब मे 'नटराज' की मूर्ति सबसे अधिक प्रसिद्ध है। मूर्तिकला विशेषज्ञ इसे मूर्तिकला का एक उत्कृष्ट नमूना मानते हैं। इसके अतिरिक्त चोल शासकों के काल में एलिफेण्टा की गुफा में निर्मित शिव की त्रिमूर्ति और कालिया नाग को नाथते हुए कृष्ण की मूर्ति भी बहुत प्रसिद्ध है। इन मूर्तियों में भावनाओं और शारीरिक भंगिमाओं का अंकन बड़ी दक्षता से किया गया है। वस्तुत: ऐसी मूर्तियों का निर्माण कर दक्षिणी भारत के शासकों ने भारतीय संस्कृति को स्थायित्व और अमरत्व प्रदान किया है। स्थापत्य और मूर्तिकला के साथ चोलों के काल में चित्रकला का भी पर्याप्त विकास हुआ।

पल्लव, चोल, राष्ट्रकूट तथा पाण्डयों के अतिरिक्त दक्षिणी भारत के अन्य शासकीय वंशों यथा—चालुक्य, गंग, होयसल आदि ने भी साहित्य और कला के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है, जिनमें चालुक्यों का स्थान विशेष महत्व रखता है। इन सब के प्रयत्न से दक्षिणी भारत में जिस रूप में भारतीय सभ्यता और संस्कृति पल्लवित-पुष्पित हुई है उसके कारण भारतीय सभ्यता के विकास में प्राचीनकाल के दक्षिणी भारत के राज्यों का योगदान महत्वपूर्ण एवं प्रशंसनीय स्वीकारा जाता है।

अध्ययन का उपयोग

निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर दीजिए तथा अपने अध्ययन को उपयोगी बनाइए—

1. छठी शताब्दी में पल्लव शक्ति की संस्थापना करने वाला कौन था तथा पल्लव वंश के प्रमुख शासक कौन-कौन थे ? उन्होंने क्या-क्या महत्त्वपूर्ण कार्य किये ?
2. चोल वंश के प्रमुख शासकों और उनके कार्यों को स्पष्ट कीजिये ?
3. पाण्ड्य वंश के प्रमुख शासकों तथा उनके कार्यों को समझाइये ?
4. राष्ट्रकूट वंश के प्रमुख शासकों तथा उनके कार्यों का उल्लेख कीजिये ?

अध्ययन की जाँच

सही उत्तर का क्रमाक्षर कोष्टक में लिखिए—

1. चोलवंशी शासक जिसने 'गंगकोण्डचोलपुरम्' नगर बसाया, उसका नाम था—
   (क) राजराजा प्रथम (ख) राजेन्द्र चोल
   (ग) परान्तक प्रथम (घ) कृष्ण प्रथम ( )
2. 'पल्लव शासकों ने कलात्मक दृष्टि से भारतीय संस्कृति के विकास में योग दिया' इस कथन को सत्य प्रमाणित करने वाले प्रतीक हैं—
   (क) पल्लव शासन काल के निर्मित मन्दिर
   (ख) पल्लव शासन काल में रचित साहित्य
   (ग) एलोरा के निर्मित कैलाश मन्दिर
   (घ) कोणार्क का सूर्य मन्दिर ( )

सोच-विचार कर उत्तर लिखिए—

1. यह कैसे कहा जा सकता है कि चोल शासकों ने अपने राज्य में शासन का विकेन्द्रीकरण कर रखा था ?
2 छठी शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक के दक्षिणी भारत की सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एवं कलात्मक जीवन की विशेषताएँ क्या थीं ?

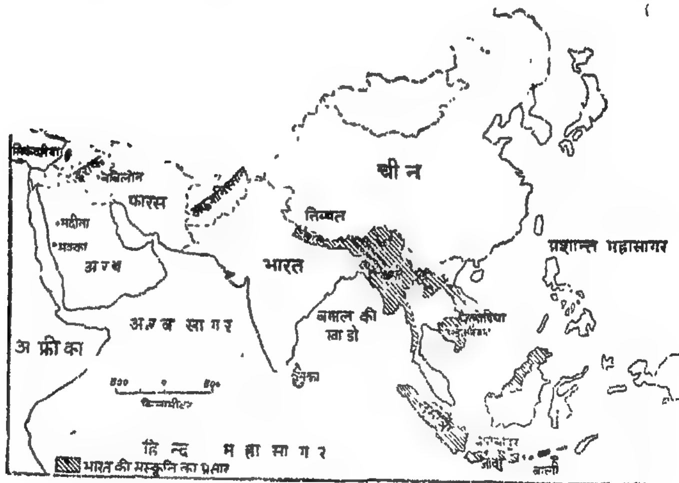
पूरक अध्ययन ग्रन्थ

1. डॉ. ओम प्रकाश : प्राचीन भारत का इतिहास
2. भगवतशरण उपाध्याय : प्राचीन भारत का इतिहास
3. डॉ. वी. एस. भार्गव : प्राचीन भारत का इतिहास एवं विचार
4. वृन्दावनदास : प्राचीन भारत में हिन्दू राज्य

अध्याय 16

भारतीय संस्कृति का विदेशों में प्रसार

कुछ समय पहले तक ऐसा माना जाता था कि प्राचीन काल में भारत का विदेशों से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं था। लेकिन पुरातात्विक एवं ऐतिहासिक खोजों से अब यह स्पष्ट हो चुका है कि सभ्यता के प्रारम्भिक काल से ही भारत-वासियों का संसार के अन्य देशों से व्यापारिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्ध था। पिछले अध्यायों में सिन्धु सभ्यता काल से लेकर गुप्त काल तक मिस्र, मेसोपोटामिया, यूनान, रोम आदि विदेशी राज्यों के साथ भारत के व्यापारिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्धों के बारे में आपने पढ़ा है। लेकिन प्राचीन काल में भारतवासियों का इससे भी कहीं



भारतीय संस्कृति का विदेशों में प्रसार क्षेत्र

अधिक घनिष्ठ सांस्कृतिक सम्बन्ध मध्य–एशिया, अफगानिस्तान, चीन, बर्मा तथा दक्षिणी-पूर्वी एशिया के देशों के साथ था। इन देशों में भारतीय सभ्यता और संस्कृति अपने मौलिक रूप में फैली हुई थी। इसलिए डॉ. राधाकुमुद मुकर्जी ने लिखा है कि प्राचीन भारत के इतिहास का एक रोचक पक्ष भारतीय सीमाओं के पार के देशों के जन-जीवन और संस्कृति पर भारतीय संस्कृति का प्रभाव है। इतिहास में भारतीय संस्कृति के इस प्रभाव क्षेत्र को 'वृहत्तर भारत' कहा जाता है। इसके अन्तर्गत भारतीय

भू-भाग के साथ उन देशों को सम्मिलित माना जाता है, जहां प्राचीन काल में भारतीयों का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक प्रभुत्व था।

भारतीय संस्कृति के विदेशों में प्रचार-प्रसार तथा प्रभाव के कारण

भारत की स्थिति—एशिया के विभिन्न भागों में भारतीय सभ्यता और संस्कृति के प्रचार-प्रसार के कई कारण थे। इसका सर्वप्रमुख कारण भारत की भौगोलिक स्थिति थी। पहले अध्याय में आप पढ़ चुके हैं कि भारत एशिया महाद्वीप के दक्षिणी भाग के मध्य में स्थित है। इस स्थिति के कारण भारत का अन्य देशों के साथ सम्बन्ध रहना स्वाभाविक था।

व्यापार—वस्तुतः विदेशों में भारतीय संस्कृति का प्रचार-प्रसार भी व्यापार से प्रारम्भ हुआ। प्राचीन काल में भारत एक उन्नत देश था और यहां के बने हुए सामान की विदेशों में मांग प्रचुर थी। भारतीय व्यापारी विदेशों में अपना माल बेचने जाते थे। भारत से जाने वाले कई व्यापारी विदेशों में जाकर बस गए थे और कई आते-जाते रहते थे। इन व्यापारियों के दूसरे देशों में आने-जाने और बसने के साथ उन्नत भारतीय सभ्यता और संस्कृति का उन देशों में प्रचार-प्रसार स्वाभाविक था।

धर्म प्रचार—आप पढ़ चुके हैं कि बौद्ध-धर्म के उदय के पश्चात् कई बौद्ध-धर्म प्रचारक समय-समय पर अन्य देशों में धर्म-प्रचार के लिए गए। इन धर्म-प्रचारकों ने विदेशों में मात्र धर्म को ही नहीं फैलाया, बल्कि भारतीय सभ्यता और संस्कृति का भी प्रचार किया। इस दृष्टि से सम्राट अशोक, कनिष्क आदि के प्रयत्नों से इस देश की संस्कृति का विदेशों में प्रचार-प्रसार हुआ। इसके अलावा दक्षिणी पूर्वी द्वीप-समूह में चोल राजाओं ने हिन्दू-धर्म के प्रचारक भेजे। उनके साथ कई भारतीय साहित्यकार, कलाकार आदि इन देशों में गए और उन सबने मिलकर वहां भारतीय संस्कृति भाषा, साहित्य, कला, धर्म आदि का प्रचार किया।

उपनिवेश स्थापना—प्राचीन-काल में भारतवर्ष के कई राजा और राजकुमार दक्षिणी-पूर्वी एशिया के भागों में गए और वहां वे अपने राज्य एवं उपनिवेश संस्थापित करने में सफल हुए। इन भागों में इस प्रकार के राज्यों तथा उपनिवेशों की स्थापना के साथ भारतीय विचारधारा, संस्कृति और सभ्यता का सरलतापूर्वक विदेशों में प्रचार हुआ।

भारतीयों का उदार दृष्टिकोण—व्यापारियों, धर्म-प्रचारकों तथा राजकुमारों आदि के माध्यम से भारतीय सभ्यता और संस्कृति विदेशों में गई। लेकिन वहां इसके प्रचार-प्रसार एवं प्रभाव को जमाने में भारतीय संस्कृति की उदारता ने बहुत काम किया। भारत से जो कोई धर्म-प्रचारक व्यक्ति या समूह विदेशों में गया, उसने अपने प्रचार कार्य में दबाव अथवा शक्ति का उपयोग नहीं किया। परिणामस्वरूप, स्थानीय लोगों पर उनकी श्रेष्ठ छाप पड़ी और उन्होंने मन से भारतीय सभ्यता और संस्कृति को अपनाया।

भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता—भारतीय संस्कृति के विदेशों में प्रचार-प्रसार एवं प्रभाव का एक प्रमुख कारण इस देश की संस्कृति की श्रेष्ठता भी था। प्राचीन

काल में भारत में धर्म-दर्शन, साहित्य, कला आदि के क्षेत्रों में जिस स्तर का विकास हुआ था, वैसा उस युग में विश्व के अन्य देशों में नहीं हो पाया था बल्कि कई देश तो बर्बरता और असभ्यता के युग में जी रहे थे। ऐसी स्थिति में जब उनका सम्पर्क उन्नत भारतीय संस्कृति से हुआ तो उसकी ओर आकृष्ट होना उनके लिए स्वाभाविक था।

इन सभी कारणों की पृष्ठभूमि में भारतीय सभ्यता और संस्कृति का मध्य-एशिया, उत्तरी-पूर्वी-एशिया तथा दक्षिणी-पूर्वी-एशिया के देशों में प्रसार हुआ।

मध्य-एशिया—मध्य-एशिया के प्राचीन इतिहास के विस्तृत अध्ययन से प्रकट होता है कि प्राचीन-काल में सांस्कृतिक दृष्टि से यह प्रदेश भारतवर्ष के पूर्ण प्रभाव में था। इस प्रदेश के खोतान, कूचा, काराशहर, तुर्फान आदि स्थल भारतीय संस्कृति के प्रमुख केन्द्र थे। इन प्रदेशों में हुई पुरातात्विक खुदाई में निकले अवशेषों, मूर्तियों, भित्ति-चित्रों तथा वहाँ के प्राचीन साहित्य में वर्णित गाथाओं और राजाओं के नाम आदि से स्पष्टतया ज्ञात होता है कि इन भागों में भारतीय धर्म, भापा, लिपि तथा कलात्मक प्रवृत्ति का अत्यधिक प्रचार था ?

खोतान भारतीय सभ्यता और संस्कृति का बहुत बड़ा केन्द्र था। वहाँ बौद्ध धर्म की महायान शाखा के अनुयायी अत्यधिक संख्या में रहते थे। लगभग 60 ई. में यहाँ के राजा ने एक बौद्ध भिक्षु से प्रभावित होकर बौद्ध धर्म की दीक्षा ली थी। उसके बाद बौद्ध धर्म का यह एक केन्द्र बन गया। यहाँ का गौतमी विहार नामक मठ उस काल में मध्य-एशिया का सबसे बड़ा व प्रसिद्ध बौद्ध मठ था। यहाँ इतनी अधिक संख्या में भारतीय बस चुके थे कि उन्होंने स्थानीय लोगों को भारतीय रंग में रंग दिया था। यहाँ की राज-भाषा प्राकृत और लिपि खरोष्ठी हो गई थी। इस प्रदेश में हुई खुदाई में भारतीय मूर्तियों, भारतीय भाषा एवं लिपि में लिखे गए लेख, बौद्ध विहारों व स्तूपों के अवशेष प्राप्त हुए हैं जिनसे पता चलता है कि इस प्रदेश में भारतीय संस्कृति का पूर्ण प्रभाव था। यहाँ के अन्वेषणकर्त्ता सर आरलेंस्टाइन ने तो इतना तक कह दिया कि 'खोतान के खोदे गए भागों में घूमते समय मुझे ऐसा लगता था कि मानो मैं भारत के पंजाब प्रदेश के किसी प्राचीन नगर के खण्डहरों में घूम रहा हूँ।'

खोतान की भाँति कूचा भी भारतीय संस्कृति का प्रमुख केन्द्र था। यहाँ की लगभग सम्पूर्ण जनता बौद्ध धर्म का पालन करने वाली थी। यहाँ लगभग एक हजार स्तूपों एवं विहारों का निर्माण किया गया था और संस्कृत भाषा, भारतीय ज्योतिष, आयुर्वेद एवं कला का प्रचलन था। यहाँ के शासकों के नाम भारतीय थे, जैसे—हरदेव, स्वर्गदेव आदि। बौद्ध धर्म के प्रचार एवं प्रसार के साथ-साथ यहाँ भारतीय कला एवं विज्ञान का बहुत प्रसार हुआ था।

खोतान एवं कूचा की भाँति ही काराशहर एवं तुर्फान भी भारतीय सभ्यता के प्रमुख केन्द्र थे। ये दोनों अलग-अलग प्रदेश थे। काराशहर के लिए कहा जाता है कि

यह कनिष्क के साम्राज्य का एक महत्त्वपूर्ण भाग था। फाह्यान तथा ह्वेनसाँग के वर्णनों से पता चलता है कि काराशहर में बौद्ध मतावलम्बियों की काफी संख्या थी। काराशहर भारतीय सभ्यता और संस्कृति से प्रभावित एक महत्त्वपूर्ण बस्ती थी।

तुर्फान प्रदेश में भी पाँचवीं शताब्दी तक बौद्ध धर्म का प्रचार हो चुका था। यहाँ पर हुई खुदाई में बौद्ध विहारों, स्तूपों तथा मूर्तियो के अवशेष प्राप्त हुए हैं, जिनसे इस क्षेत्र में भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता के प्रभाव का ज्ञान होता है।

इस प्रकार मध्य एशिया में भारतीय सभ्यता और संस्कृति का प्रभाव व्यापक था किन्तु आठवीं शताब्दी में जब से इस्लाम ने यहाँ प्रवेश किया, तो यहाँ से भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति बड़ी तेजी से लुप्त हो गई।

अफगानिस्तान—प्राचीन काल में अफगानिस्तान तो भारत का ही एक अंग था। ऋग्वैदिक काल में भारतीय आर्यों की बस्तियाँ यहाँ फैली हुई थीं। मौर्यकाल में भी अफगानिस्तान भारतीय साम्राज्य का अंग था तथा बाद के सम्राटों के समय में भी इस प्रदेश पर भारत का प्रभाव था। यूनानी लेखकों, फाह्यान तथा ह्वेनसाँग ने अपने वर्णनों में अफगानिस्तान को भारत का ही अंग स्वीकार किया है। वस्तुतः प्राचीन काल में अफगानिस्तान उत्तर भारत का एक भाग था। जहाँ के लोग मध्य भारत की भाषा बोलते थे, उनके भोजन, वस्त्रादि भी मध्य प्रदेश के लोगों के समान थे; बौद्ध धर्म यहाँ खूब फूला-फला था। बौद्ध धर्म के अतिरिक्त यहाँ हिन्दू धर्म का भी बड़ा प्रचार था। यहाँ बौद्ध विहार तथा कई हिन्दू मन्दिर बने हुए थे। आधुनिक समय में अफगानिस्तान में हुई खुदाई से प्राप्त पुरातात्विक सामग्री से यह स्पष्ट हो गया है कि कभी यह सम्पूर्ण प्रदेश भारतीय सभ्यता और संस्कृति का केन्द्र बना हुआ था।

चीन—चीन और भारत के प्राचीन सम्बन्धों का उल्लेख महाभारत, मनुस्मृति तथा कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' नाटक से प्रकट होता है। किन्तु ईसा की पहली शताब्दी से धार्मिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से चीन और भारत का प्रत्यक्ष आदान-प्रदान प्रारम्भ हो गया था। लगभग 65 ई. में चीनी सम्राट् मींगती धर्मरत्न तथा मातंग नामक दो बौद्ध भिक्षुओं को भारत से चीन ले गया था। इसके पश्चात् अगली कई शताब्दियों में चीन में भारत से कई बौद्ध-भिक्षु जाते रहे और बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद करते रहे। 401 ई. में कुमारजीव ने चीन में जाकर सौ से भी अधिक बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। किन्तु गुप्तकाल में फाह्यान की भारत-यात्रा तथा उसके द्वारा यहाँ से बौद्ध ग्रन्थों के चीन ले जाने के साथ भारत और चीन के सांस्कृतिक सम्बन्ध बहुत आगे बढ़े। इसी तरह सातवीं शताब्दी में भी चीनी-यात्री ह्वेनसाँग भारत आया और कई चीनी बौद्ध भिक्षुओं के साथ इत्सिंग ने भारत की यात्रा की। इन सबका परिणाम यह निकला कि बौद्ध धर्म और उनके माध्यम से भारतीय ज्ञान एवं कला का चीन पर काफी प्रभाव पड़ा। चीन में बौद्ध धर्म के व्यापक प्रसार के साथ भारतीय स्थापत्य कला, मूर्तिकला एवं चित्रकला का खूब प्रभाव पड़ा। भारतीय गणित, ज्योतिष, चिकित्सा तथा संगीत

का भी वहाँ काफी प्रचार हुआ । चीन में कई बौद्ध मन्दिर एवं गुहामन्दिर (दरीगृह) बनाए गए । भारतीय चित्र-शैली का अनुसरण कर कई भित्ति-चित्र बनाए गए तथा भारतीय शैली की कई मूर्तियाँ बनने लगीं । चीन से ही बौद्ध धर्म कोरिया और जापान तक फैला ।

तिब्बत—भारत के उत्तर में उसका निकटतम पड़ौसी तिब्बत भी सभ्यता और धर्म के क्षेत्र में भारत का ऋणी है । तिब्बत के राजा 'स्रोगसांग नेम्पो' ने भारत से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किए । वहां पर भी बौद्ध धर्म का खूब प्रसार हुआ तथा बौद्ध मन्दिर एवं विहार बनवाए गए । संस्कृत भाषा तथा भारतीय लिपि ब्राह्मी एवं खरोष्ठी उन्होंने अपनाई । इसके साथ ही कई तिब्बती छात्र भारतीय विद्यालयों में आकर अध्ययन करने लगे और इस प्रकार भारतीय संस्कृति का तिब्बत में प्रचार हुआ ।

कोरिया एवं जापान—चीन और तिब्बत की तरह कोरियां तथा जापान मे भी बौद्ध धर्म के सहारे भारतीय सभ्यता और संस्कृति का प्रचार हुआ । पांचवी शताब्दी तक कोरिया में बौद्ध धर्म का खूब प्रचार हुआ । कोरिया से ही जापान में भी बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ । जापान के सम्राट् ने महात्मा बुद्ध की साढ़े तिरेपन फीट ऊँची मूर्ति बनवाई थी । कोरिया एवं जापान मे बौद्ध धर्म का प्रचार इतनी दृढ़ता से हुआ कि आज भी इन देशों का प्रमुख धर्म बौद्ध धर्म है ।

दक्षिण व दक्षिणी पूर्वी देशों में भारतीय सभ्यता और संस्कृति

पुराणों एवं टालेमी आदि विद्वानों के वर्णनों से ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में भारतवासियों ने अपने देश के दक्षिण व दक्षिणी-पूर्वी भाग के देशो में अनेक उपनिवेश कायम किए थे । पुराणों के अनुसार भारत में अपनी मुख्य भूमि के अतिरिक्त आठ सामुद्रिक द्वीप सम्मिलित थे, जिनके नाम– इन्द्रद्वीप, अण्डमान, अशोक, ताम्रपूर्ण, नागद्वीप, निकोबार, दयस्तिमान, कटाई,मलय-द्वीप, सिंहल(श्रीलंका) और वारुण (बोर्नियो) थे । इन आठों द्वीपों में प्राचीन काल में भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति खूब फली-फूली थी । इनके अतिरिक्त स्वर्णद्वीप(सुमात्रा),यवद्वीप(जावा) और वलीद्वीप (बाली) ये तीन अन्य द्वीप और थे, जिनमें भी भारतीय सभ्यता व संस्कृति का खूब प्रभाव था ।

लंका—भारत और लंका का सम्बन्ध प्राचीन काल से हैं । भारतीय इतिहास में इसका सर्वप्रथम उल्लेख वाल्मीकि रामायण में आता है, जबकि राम ने लंका पर आक्रमण किया था । मौर्यकाल के इतिहास में यह प्रकट होता है कि सम्राट् अशोक ने बौद्ध धर्म के प्राचारार्थ अपने पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा को लंका भेजा था और यहाँ के राजा तिस्सा ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर उसे राजकीय संरक्षण प्रदान किया था फलतः बौद्ध धर्म वहां खूब पनपा था । धर्म के साथ-साथ पालि भाषा और ब्राह्मी लिपि का भी लंका में प्रचार हुआ था । साथ ही, लंका के साहित्य, कला तथा जन-जीवन पर भारतीय संस्कृति का पर्याप्त प्रभाव पड़ा जिसकी झलक आज

भी स्पष्ट दिखाई देती है। दक्षिणी भारत के प्राचीन राज्यों के इतिहास से पता चलता है कि लंका पर भारतीय राजनीति एवं संस्कृति का पूर्ण प्रभाव था।

बर्मा—बर्मा के निवासी 'मान' लोग भी प्राचीन काल में भारतीय संस्कृति में रंगे थे। मान लोगों का सबसे प्रसिद्ध राज्य द्वारावती था। इसके उत्तर में बर्मा में 'प्यू' लोगों का इरावती नामक राज्य था। किन्तु नवीं शताब्दी में भारी संख्या में 'अम्म' लोग तिब्बत से बर्मा पहुँचे और उन्होंने 'प्यू' लोगों को दबाकर वहां अपना राज्य स्थापित किया। बर्मा से अम्म वंश के राज्यकाल मे भारतीय संस्कृति का खूब प्रसार हुआ। अम्म लोगों के राजा 'अनिरुद्ध' ने बौद्ध धर्म के प्राचीन स्थविरवाद का बर्मा में खूब प्रचार किया। इस तरह उसके पुत्र 'क्यनजित्थ' के काल मे बर्मा और भारत का घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित हुआ। उसने भारत से बौद्ध एवं वैष्णव विद्वानों को बर्मा बुलाया और उनसे प्रेरणा पाकर 'आनन्द मन्दिर' बनवाया, जो बर्मा में भारतीय स्थापत्य कला का दर्शनीय नमूना है। वर्मा में नगरों और प्रदेशों के नाम भारतीय नामों के समान रखे गये थे, जैसे श्रीक्षेत्र, हंसवती, अवन्ती, वाराणसी, गाँधार आदि। इसके अतिरिक्त वहाँ पालि तथा संस्कृत भाषा का भी प्रचार हुआ तथा पालि एवं संस्कृत के कई ग्रन्थों का वहां संग्रह किया गया।

कम्बुज (कम्बोडिया)—कम्बोडिया को पहले 'फूनान' कहा जाता था। यहां ईसवी सन् की प्रथम शताब्दी में कौंडिन्य नामक भारतीय ने अपने राज्य की स्थापना की और वहां की नागी जाति की सोमा नामक कन्या से विवाह किया। इसी ने वहां के निवासियों को कपड़ा पहिनना सिखाया। इस वंश के शासन काल में कम्बोडिया की काफी प्रगति हुई और वहां भारतीय संस्कृति का प्रसार हुआ। इन भारतीय वंश के पश्चात् कम्बोडिया में कुछ समय के लिए जावा के राजा का आधिपत्य हो गया। किन्तु नवीं शताब्दी के प्रारम्भ में यहां का राजा 'जयवर्मा' द्वितीय स्वतन्त्र हो गया। उसने भारत से 'हिरण्यदास' नामक ब्राह्मण को बुलाया। जयवर्मा के वंशजों के काल में कम्बोडिया में भारतीय भाषा, संस्कृत, दर्शन, साहित्य, गणित तथा ज्योतिष का प्रचार हुआ। इसी वंश के राजा 'सूर्यवर्मा द्वितीय' ने अंगकोरवाट नामक प्रसिद्धविष्णु मन्दिर का निर्माण करवाया। यह मन्दिर भारतीय स्थापत्य कला का उत्तम नमूना है। इसी तरह जयवर्मा सप्तम ने'अंगकोरथाम'नामक वैष्णव के मन्दिर का निर्माण करवाया। कम्बोडिया के अभिलेखो तथा अन्य ऐतिहासिक अवशेषों से ज्ञात होता है कि वहां के नगरों के नाम भारतीय नगरों के समान थे, जैसे—ताम्रपुर, आढ्यपुर, विक्रमपुर आदि। कम्बोडिया में बौद्ध धर्म की तुलना में वैदिक धर्म का अधिक प्रचार था फिर भी, वेद-वेदांग के साथ वहां के लोगों का बौद्ध ग्रन्थों एवं साहित्य से पूर्ण परिचय था। उन्हें भारतीय संस्कृत काव्य शैली का भी पूर्ण ज्ञान था। कम्बोडिया में यज्ञादिक का भी प्रचार था एवं प्राचीन भारतीय शिक्षा प्रणाली के अनुरूप आश्रमों में शिक्षण-कार्य होता था। वहां शिव, विष्णु, उमा, ब्रह्मा, सरस्वती, गंगा, चण्डी, लक्ष्मी, गणेश आदि की पूजा प्रचलित थी और वेद, पुराण, रामायण, महाभारत आदि भारतीय साहित्य का प्रचार था। वहां के प्राचीन मन्दिरों में शिव और

विष्णु के मन्दिर अधिक हैं जिनकी निर्माण शैली गुप्तकालीन स्थापत्यकला के अनुरूप है। इन सब साक्ष्यों से स्पष्ट होता है कि यह देश, धर्म, भाषा तथा संस्कृति की दृष्टि से पूर्णरूपेण भारतीय संस्कृति के रंग में रंगा हुआ था।

चम्पा—कम्बोडिया या कम्बुज के पूर्व में प्राचीन काल में 'चम्पा' नामक राज्य था, जिसका आधुनिक नाम 'अनाम' है। यह भी प्राचीन काल में भारतीय उपनिवेश था। यहां का पहला राजा 'श्रीमार' हिन्दू था। इस राज्य में भी कई हिन्दू राज्य-वंशों ने लम्बे समय तक शासन किया था, जिनमें भद्रवर्मा, गगराज, पाण्डुरंग, भृगु और हरिवर्मा प्रमुख थे। चम्पा के प्राचीन ऐतिहासिक अवशेषों और परम्पराओं से ज्ञात होता है कि वहां भारत की भांति वर्ण-व्यवस्था विद्यमान थी और विवाह की पद्धतियाँ भारत की तरह ही थीं। वहां यज्ञोपवीत धारण करने की प्रथा भी थी। राजकुलों में सतीप्रथा प्रचलित थी और विधवाएँ सादा जीवन व्यतीत करती थीं। इस राज्य में भारतीय त्यौहार मनाए जाते थे। चम्पा की राज-भाषा संस्कृत थी। वहां के राजा संस्कृत के विद्वान थे और वहां भारतीय धर्म, दर्शन, साहित्य, व्याकरण आदि का खूब अध्ययन होता था। वहां शैव मत का सबसे अधिक प्रचार था। भद्रवर्मा ने 'माइसन' में एक शिव मन्दिर का निर्माण करवाया था। शिव के अलावा अन्य भारतीय देवता तथा राम व कृष्ण की भी वहां पूजा होती थी और उनके मन्दिर बनवाए थे। वहां के मन्दिरों में चालुक्यों की स्थापत्य निर्माण शैली का अनुसरण किया गया था। चम्पा के बाद में बौद्ध धर्म का भी व्यापक प्रचार हुआ और कई मन्दिरों का निर्माण हुआ। वहां पर बौद्ध धर्म का मुख्य केन्द्र 'डानडूओंग' था, जहां अब भी एक बहुत बड़े बौद्ध मन्दिर के खण्डहर विद्यमान हैं।

मलाया—मलाया द्वीप समूह में प्राचीन काल में कई हिन्दू राज्यों का विकास हुआ। इनमें कर्मरंग, कलशपुर, कटाह व पहंग आदि प्रमुख थे। इस प्रायद्वीप के अनेक भागों में प्राचीन मन्दिर के खण्डहर, मूर्तियां, संस्कृत भाषा में उत्कीर्ण लेख आदि प्राप्त हुए हैं जिनसे पता चलता है कि इस सम्पूर्ण प्रायःद्वीप में भारतीय संस्कृति का पूर्ण प्रभाव था। यहां के राजाओं में गौत्तम, समुद्र, विजयवर्मन आदि भारतीय नामों का उल्लेख मिलता है। यहां बौद्ध धर्म का भी प्रचार हुआ और बौद्ध स्तूप व विहारों का निर्माण हुआ था। यहां आज भी ऐसे ब्राह्मण परिवार मौजूद हैं, जिनके पूर्वज भारत से गये थे।

स्याम— स्याम को आजकल थाई जाति के नाम पर 'थाईलैण्ड' कहा जाता है, किन्तु थाई जाति का प्रभाव यहाँ तेरहवीं शताब्दी से पूर्व नहीं था। इसके पूर्व यहां भारतीयों का प्रभुत्व था और यहां पर भारतीय सभ्यता और संस्कृति का पूर्ण प्रभाव था। यहां वैदिक धर्म और बौद्ध धर्म की महायान विचारधारा का खूब प्रचलन था। यहां के शासकों ने बौद्ध मन्दिर और विहारों का निर्माण करवाया था। इस प्रदेश में पालि भाषा का प्रसार भी था और वहां की स्थापत्य कला एवं तक्षण कला पर भारतीय कला का पूरा प्रभाव पड़ा हुआ था।

जावा—एक चीनी अनुश्रुति के अनुसार 65 ई. पू. में भारतीयों ने जावा में उपनिवेश स्थापित कर लिया था। फाह्यान के वर्णन के अनुसार पांचवीं शताब्दी के आरम्भ में जावा में वैदिक धर्म फैल चुका था और वहां ब्राह्मणों का बोलबाला अधिक था। शिव के उपासकों की संख्या वहां अधिक थी। जावा में हजारों बौद्ध धर्म एवं हिन्दू मन्दिरों के अवशेष पाए गए हैं। इनमें 'लारा-जो-डारंग-का मन्दिर और 'बोरो-बुदूर' का बौद्ध स्तूप सबसे अधिक प्रसिद्ध है। जावा में हिन्दू राज्यवंशों एवं भारतीय संस्कृति का प्रभाव पन्द्रहवीं सदी में कुबलाखां के आक्रमण से पहले तक बना रहा। किन्तु कुबलाखां के आक्रमण के साथ वहां इस्लाम का प्रचार हुआ और भारतीय सभ्यता और संस्कृति का प्रभाव कम होता गया।

सुमात्रा—प्राचीन काल में यह द्वीप 'स्वर्ण-द्वीप' के नाम से जाना जाता था। इसका प्रसिद्ध नगर 'श्रीविजय' था। यहां चौथी शताब्दी से लेकर सातवीं शताब्दी तक विजय वंश का शासन रहा। यह हिन्दू वंश था। इस काल में सुमात्रा की बड़ी प्रगति हुई। श्रीविजय नगर भारतीय संस्कृति एवं धर्म का प्रमुख केन्द्र था। यहां बौद्ध धर्म का भी काफी प्रचार हुआ। पन्द्रहवीं शताब्दी में यहां के हिन्दू राजा ने भी इस्लाम धर्म ग्रहण कर लिया, जिससे भारतीय संस्कृति का प्रभाव नष्ट होता चला गया।

बाली—बाली में चौथी शताब्दी में हिन्दू राज्य की स्थापना हुई। यहां वैदिक धर्म और बौद्ध धर्म दोनों ही प्रचलित थे और शिव एवं विष्णु की पूजा होती थी। यद्यपि समय के साथ यहां भी इस्लाम का प्रवेश हुआ, किन्तु उनकी संस्कृति पर इस्लाम का प्रभाव अधिक नहीं पड़ा। फलतः आज भी हिन्दू धर्म व भारतीय संस्कृति के अवशेष यहां विद्यमान हैं।

बोर्नियो– चौथी शताब्दी में बोर्नियो (बकुलपुर) में भी हिन्दुओं ने अपना राज्य स्थापित कर लिया था। इस काल मे मूलवर्मा यहां का शासक था। वह प्राचीन भारतीय संस्कृति का भक्त था, अतः वहां भी भारतीय संस्कृति की जड़ें काफी जम गईं। बोर्नियो में शिव, गणेश, दुर्गा, नन्दी, महाकाल एवं बुद्ध की मूर्तियां प्राप्त हुई हैं। इनसे वहां पर भारतीय धर्म एवं संस्कृति के प्रभाव का स्पष्ट पता चलता है।

उपर्युक्त विवरणों से स्पष्ट होता है कि इस्लाम के उदय से पहले मध्य एशिया और दक्षिणी-पूर्व द्वीप-समूह में भारतीय सभ्यता और संस्कृति का खूब प्रचार-प्रसार हुआ था। भारतीयों ने प्रेम और सहानुभूति के बल पर अपने धर्म और संस्कृति का प्रचार किया था।

अध्ययन का उपयोग

नीचे दिये गये प्रश्नों का उत्तर दीजिये एवं अपने अध्ययन को उपयोगी बनाइये—

1. भारतीय सभ्यता और संस्कृति का प्राचीन काल में किन-किन देशों में प्रचार हुआ था ?

2. अफगानिस्तान एवं मध्य एशिया के भागों में भारतीय सभ्यता और संस्कृति के प्रभाव को बताने वाले तथ्य क्या हैं ?
3. चीन में भारतीय संस्कृति का सर्वाधिक प्रभाव किस क्षेत्र में पड़ा ?
4. कोरिया, जापान तथा तिब्बत में भारतीय संस्कृति का प्रसार किस प्रकार हुआ ?

अध्ययन की जाँच

सही उत्तर का क्रमाक्षर कोष्ठक में लिखिये—

1. भारतीय सभ्यता और संस्कृति के विदेशों में प्रचार का प्रमुख श्रेय जिन्हें दिया जाना चाहिए, वे हैं—
   (क) भारतीय सम्राट
   (ख) बौद्ध-धर्म प्रचारक
   (ग) विदेशों में लड़ने वाली भारतीय सेना
   (घ) भारत में आने वाले विदेशी। ( )

2. अंगकोरवाट का मन्दिर स्थित है—
   (क) जावा मे (ख) चम्पा में
   (ग) सुमात्रा मे (घ) बाली में ( )

सोच-विचार कर उत्तर लिखिये—

1. भारतीय सभ्यता और संस्कृति के प्राचीन काल में विदेशों में प्रभाव स्थापित हो सकने के क्या कारण थे ?
2. यह कैसे प्रमाणित किया जा सकता है कि प्राचीन काल में भारतीय सभ्यता और संस्कृति अपने मौलिक स्वरूप में मध्य एशिया, अफगानिस्तान एवं दक्षिणी-पूर्वी एशिया के भागों में फैली थी ?

निम्नलिखित क्रियात्मक कार्य कीजिए और अपना कौशल बढ़ाइये—

1. एशिया के मानचित्र में प्राचीन काल में जिन-जिन क्षेत्रों में भारतीय संस्कृति का प्रचार-प्रसार हुआ था, उन क्षेत्रों को एक सीमा-रेखा द्वारा अंकित कीजिए।
2. दक्षिणी-पूर्वी एशिया के भागों में स्थित भारतीय सभ्यता व संस्कृति को प्रकट करने वाले स्थापत्य, स्मारकों आदि के चित्र एकत्रित कीजिए तथा अपने एलबम में लगाइए।

पूरक अध्ययन ग्रन्थ

1. गुण कर मुले : भारत का इतिहास और संस्कृति
2. राधाकुमुद मुकर्जी : प्राचीन भारत
3. डॉ० वी. एस. भार्गव : प्राचीन भारत का इतिहास एवं विचार
4. बी. एम. लूनिया : भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का इतिहास

अध्याय 17

इस्लाम का उदय, प्रसार एवं भारत में इस्लाम का प्रवेश

इस्लाम धर्म का उदय पश्चिमी एशिया के दक्षिण में स्थित अरब प्रायद्वीप में छठी शताब्दी के अन्तिम चरण में हुआ। इसके जन्मदाता पैगम्बर हजरत मुहम्मद थे।

इस्लाम के उदय से पूर्व अरब प्रदेश की स्थिति

राजनीतिक दशा—हजरत मुहम्मद के जन्म के पूर्व अरबवासियों की राजनीतिक दशा अच्छी नहीं थी। उनका कोई राजनीतिक संगठन नहीं था। वे अलग-अलग कबीलों में विभक्त थे और प्रत्येक कबीला अपने-आप में पूर्णतया स्वतन्त्र और स्वायत्त इकाई के रूप में था। उनके कार्यों पर किसी का नियन्त्रण नहीं था। उनमें राष्ट्रीयता और एकता की भावना नहीं थी। वे आपस में एक दूसरे से लड़ते-झगड़ते रहते थे।

सामाजिक स्थिति—इस्लाम के उदय से पूर्व अरबवासी एक असंगठित कौम के रूप में थे। उनके जीवन में किन्हीं सामाजिक परम्पराओं और संस्थाओं का जन्म नहीं हो पाया था। वे इधर-उधर घूमते और खानाबदोश जीवन व्यतीत करते थे। उनके जीवन में अनेक बुराइयां विद्यमान थीं। बहुविवाह-प्रथा का खूब प्रचार था। शिकार करना, मांस-मदिरा का सेवन करना, जुआ खेलना और लूट-खसौट करना ही उनका धन्धा था। अरबवासियों का सामाजिक जीवन संगठित एवं व्यवस्थित नहीं हो पाया था।

धार्मिक स्थिति—धार्मिक दृष्टि से भी तत्कालीन अरबवासियों का जीवन अव्यवस्थित था। उनका न कोई धार्मिक दर्शन था और न ही कोई धर्म ग्रन्थ था। वे बहुदेववादी एवं मूर्तिपूजक थे। मक्का उनके धार्मिक विश्वासों का केन्द्र एवं मुख्य तीर्थ स्थान था। वहां अल-काबा नामक काला पत्थर था और अन्य कई देवताओं की मूर्तियां, उनके प्रतीक रखे थे। सभी अरबवासी प्रतिवर्ष मक्का में अल-काबा के दर्शन के लिए जाया करते थे और अलग-अलग मूर्तियो की पूजा किया करते थे। इसके अलावा भूत-प्रेत की भावना और जादू-टोना आदि कई अन्धविश्वास उनमें प्रचलित थे।

आर्थिक स्थिति –इस्लाम के उदय से पूर्व अरबवासियों की आर्थिक स्थिति भी अच्छी नहीं थी। उनको जीविका-उपार्जन के लिए कड़ा संघर्ष करना पड़ता था।

यद्यपि अरब प्रायद्वीप के समुद्रतटीय भाग पर कुछ नगर एवं बस्तियां बस चुकी थीं और वहाँ रहने वाले खेती और व्यापार भी करने लगे थे, फिर भी अधिकाँश अरब-वासी शिकार, पशुपालन एवं लूट-पाट से ही अपनी जीविका उपार्जित करते थे।

समग्र रूप से उस युग में अरब में अराजकता, अनियमितता, अव्यवस्था, गरीबी तथा अन्धविश्वास का साम्राज्य था।

मुहम्मद साहब का प्रारंभिक जीवन–इन्हीं परिस्थितियों में 570 ई. में मुहम्मद साहब का अरब के मक्का नगर में जन्म हुआ। उनके पिता का नाम अब्दुल्ला एवं माता का नाम अमीना था। शिशु अवस्था में ही उनके माता-पिता की मृत्यु हो गई, अतः उनका लालन-पालन उनके चाचा अबुतालिब ने किया। लेकिन, उनकी शिक्षा-दीक्षा भली प्रकार नहीं हो पाई। इस कारण बाल्यकाल में उनको भेड़ों व ऊंटों को चराने का काम करना पड़ा। बारह वर्ष की उम्र से वे अपने चाचा के साथ व्यापारिक काफिलों में सीरिया आदि दूर-दूर के प्रदेशों में जाने लगे और व्यापार का कार्य करने लगे। धीरे-धीरे वे व्यापार के काम में दक्ष हो गये और उनकी कुशलता तथा ईमानदारी की बातें फैलने लगीं। इससे प्रभावित होकर खदीजा नामक एक विधवा महिला ने उन्हें अपने यहां व्यापार का काम करने को बुलाया, वहीं पच्चीस वर्ष की उम्र में मुहम्मद साहब ने खदीजा से विवाह किया।

मुहम्मद की ईश्वरीय अनुभूतियाँ–मुहम्मद बाल्यकाल से ही बड़े विचारवान, चिन्तनशील एवं ईश्वर के प्रति आस्थावान थें। वे व्यापारिक काफिलों के साथ जाने से ईसाई धर्म के संपर्क में आए थे। उसका प्रभाव मुहम्मद साहब पर पड़ा था। उनके मस्तिष्क में अरबवासियों की हीन दशा और उससे उनको उबारने के विचार भी आया करते थे। इसलिए फुर्सत के समय में वे बहुधा एकान्त में जाकर ईश्वर और उसकी सत्ता के बारे में विचार किया करते थे और अरबवासियों की स्थिति को सुधारने के उपाय सोचा करते थे। ऐसा विश्वास किया जाता है कि चिन्तन-मनन के समय मुहम्मद को कई चमत्कारिक अनुभूतियाँ होती थीं। कहा जाता है कि एक बार मुहम्मद को यह अनुभव हुआ कि ईश्वर एक है और संसार में फैली अराजकता और धार्मिक अन्धविश्वासों को दूर करने के लिए ईश्वर ने उन्हें पृथ्वी पर भेजा है। इस अनुभूति से उनको बड़ी प्रेरणा मिली। उन्होंने इस घटना को अपनी पत्नी खदीजा एवं साथी अबूबकर व अली जैद को सुनाया। इन लोगों ने मुहम्मद के इस अनुभव को सत्य मानकर उन्हें ईश्वर का पैगम्बर (दूत) स्वीकार किया। इससे मुहम्मद का आत्मविश्वास बहुत बढ़ा और उन्होंने बहुदेववाद एवं मूर्ति पूजा को आडम्बर तथा झूठ बताते हुए यह घोषणा की कि 'ईश्वर एक है और मैं (मुहम्मद) उसका पैगम्बर हूँ।'

धर्म-प्रचार—इस घोषणा के साथ ही मुहम्मद ने अरबवासियों की धार्मिक रूढ़ियों, आडम्बरों और अन्धविश्वासों का खुलकर विरोध एवं आलोचना करना प्रारम्भ किया और ईश्वर की सत्ता तथा उसके समक्ष पूर्णतया समर्पण के विचारों

का प्रचार करना प्रारम्भ किया। लेकिन, प्रारम्भ में मक्कावासियों ने मुहम्मद के विचारों को स्वीकार नहीं किया। मक्का के कुरेशी पुजारी वर्ग के लोगों ने मुहम्मद के विचारों को अपने व्यवसाय में हानि पहुंचाने वाला समझ कर उनका घोर विरोध किया। यहाँ तक कि मुहम्मद को मार डालने के षड्यन्त्र होने लगे। मजबूर होकर 622 ई. में अपनी पत्नी और कुछ साथियों के साथ मुहम्मद मक्का से मदीना के लिए रवाना हुए। मुहम्मद की मक्का से मदीना की यात्रा को इस्लाम में 'हिज्रत' कहा जाता है। यहीं से इस्लामी पंचाँग का हिज्री सन् प्रारम्भ हुआ।

मदीना पहुंचने पर मुहम्मद साहब का भारी स्वागत हुआ। वहां उनके विचारों का बहुत प्रभाव पड़ा और धीरे-धीरे हजारों की संख्या में लोग उनके अनुयायी बन गए। मदीनावासियों ने उन्हे अपना शासक और न्यायाधीश स्वीकार किया। 629 ई. में मुहम्मद साहब ने मक्का पर सैनिक आक्रमण कर वहां अपना प्रभुत्व स्थापित किया। अन्त में मक्कावासियों ने भी मुहम्मद साहब के विचारों की सत्यता को पहिचाना और वे उनके अनुयायी बन गए। धीरे धीरे पूरे अरब प्रदेश के निवासी मुहम्मद साहब को मानने लगे तथा उन्होंने मुहम्मद साहब को अपना शासक और पैगम्बर स्वीकार किया। इस प्रकार 23 वर्ष तक अपने विचारों का प्रचार कर मुहम्मद साहब ने पूरे अरब प्रदेश को धार्मिक एवं राजनैतिक एकता के सूत्र में बांधा। 632 ई. में उनकी मृत्यु हुई।

मुहम्मद साहब की शिक्षाएँ— मुहम्मद साहब ने जिस विचारधारा को जन्म दिया, वह संसार में इस्लाम धर्म के नाम से प्रसिद्ध है। इस्लाम का अर्थ ईश्वर के प्रति समर्पण होता है। मुहम्मद साहब का मुख्य उपदेश भी यही था; वे कहते थे कि ईश्वर एक है। वह निराकार अल्लाह है जो दयालु एवं करुणावान है। हर व्यक्ति को उसकी सत्ता में विश्वास करते हुए अपने आपको पूर्णतया उसके प्रति समर्पित कर देना चाहिए। जीवन को सुखमय बनाने के लिए मुहम्मद साहब 'ईमान' पर बहुत जोर देते थे। ईमान प्राप्त करने के लिए मुहम्मद साहब ने प्रत्येक इस्लाम के अनुयायी के लिए निम्नलिखित पाँच बातों का पालन करने को कहा—

1. ईश्वर एक है तथा मुहम्मद उसका रसूल (ईश्वर का दूत) और पैगम्बर (नबी) है। अतः उसके उपदेशों को सभी को मानना चाहिए।

2. प्रत्येक इस्लाम के अनुयायी को दिन में पांच बार नमाज पढ़नी चाहिए।

3. हर मुसलमान को रमजान के महीने में रोजे (उपवास) रखने चाहिए।

4. हर इन्सान को अपनी आमदनी का 1/40 भाग जकात के रूप में दान करना चाहिए।

5. प्रत्येक इस्लाम के अनुयायी को जीवन में एक बार मक्का और मदीना की यात्रा (हज) करनी चाहिए।

इन बातों के सिवाय मुहम्मद साहब ने मूर्ति पूजा और बहुदेववाद को गलत बताया तथा एकता एवं भाईचारे की भावना पर बहुत जोर दिया। उनका कहना था

कि सब व्यक्ति समान है, कोई छोटा अथवा बड़ा नहीं है। मुहम्मद साहब ने सदाचार एवं नैतिकता का पालन करने पर भी बहुत जोर दिया। उनका कहना था कि प्रत्येक व्यक्ति को कयामत (मृतोत्थान) के दिन अल्लाह के सामने अपने कर्मों के लिए जवाब देना होगा। ऐसा कहकर मुहम्मद ने मनुष्यों को अच्छे कर्म करने की प्रेरणा दी। मुहम्मद साहब के इन उपदेशों से प्रकट होता है कि वे कर्मवाद' भाग्यवाद और आत्मा की अमरता में विश्वास करते थे। मुहम्मद साहब ने जन्नत (स्वर्ग) तथा दोजख (नर्क) की कल्पना भी की थी। नर्क में मिलने वाले कष्टों और स्वर्ग के सुखों को बताकर मुहम्मद साहब ने प्रत्येक व्यक्ति को अच्छे आचरण अपनाने की शिक्षा दी। इन शिक्षाओं के साथ मुहम्मद साहब ने अरबवासियों में फैली बुराइयों को दूर करने के लिए शराब पीने, जुआ खेलने और ब्याज लेने को भी इस्लाम के विरुद्ध बताया और इस्लाम के मानने वालों पर इन कामों को करने की रोक लगा दी। मुहम्मद साहब ने बहु-विवाह-प्रथा को कम करने के लिए प्रत्येक इस्लाम के अनुयायी के लिए चार पत्नियों से अधिक विवाह करने पर भी पाबन्दी लगाई।

कुरान—मुहम्मद साहब के ये सभी उपदेश जिस ग्रन्थ में संकलित हैं, उसे कुरान कहा जाता है। कुरान इस्लाम धर्म का पवित्र एवं सबसे प्रमुख ग्रन्थ है। प्रत्येक इस्लाम के अनुयायी के लिए कुरान की बातों को मानना और उसके अनुसार चलना आवश्यक है। हिन्दुओं के वेद, धर्मशास्त्र और गीता तथा ,ईसाइयों की बाइबिल की तरह कुरान का भी भारी धार्मिक महत्व है।

इस्लाम का विभाजन—मुहम्मद साहब की मृत्यु के पश्चात् अरब में उनके उत्तराधिकारी का प्रश्न पैदा हुआ। कुछ लोग मुहम्मद के दत्तक पुत्र अली को उनका उत्तराधिकारी बनाना चाहते थे और कुछ उनके प्रमुख अनुयायी अबूबकर को। इसी प्रश्न को लेकर मुहम्मद साहब के अनुयायियों में झगड़ा पैदा हुआ और वे शिया व सुन्नी कहे जाने वाले दो फिरकों में बँट गए। अली का समर्थन करने वाले शिया कहलाए एवं अबूबकर का समर्थन करने वाले सुन्नी कहे जाने लगे, किन्तु अन्त में जनता ने अबूबकर को मुहम्मद का उत्तराधिकारी चुना और मोहम्मद के उत्तराधिकारियों को खलीफा कहा जाने लगा।

इस्लाम का प्रचार—पहले यह बताया जा चुका था कि मुहम्मद साहब के समय इस्लाम पूरे अरब प्रदेश में फैल चुका था। किन्तु उनके बाद मुहम्मद साहब के उत्तराधिकारी खलीफाओं के समय में इस्लाम का पश्चिम और पूर्व के देशों में व्यापक प्रसार हुआ। खलीफाओं की मान्यता थी कि जो व्यक्ति इस्लाम के प्रचार के लिए युद्ध-भूमि में मरता है, उसे स्वर्ग मिलता है। इसी धारणा को अपने सैनिकों में भरकर मुहम्मद साहब के बाद खलीफाओं ने इस्लाम को सैनिक शक्ति के बल पर अन्य देशों में फैलाया। अरबों के तीसरे खलीफा उमर के समय में 636 ई. में अरबी सेनाओं ने सीरिया को जीता और वहां इस्लाम का प्रचार हुआ। इसके पश्चात् सेनाओं ने ईराक पर अधिकार किया और मुहम्मद साहब की मृत्यु के बाद दस वर्ष

इस्लामी साम्राज्य और उसका प्रसार क्षेत्र

के समय में ईरान से लेकर भारत के सिन्ध प्रान्त के पश्चिम के पूरे भाग पर इस्लाम का झण्डा फहराया। 640 ई. में इस्लामी सेनाओं ने मिस्र पर हमला किया और इस देश के अधिकांश भाग का इस्लामीकरण कर दिया। इसके पश्चात् तीसरे खलीफा उस्मान के समय में साइप्रस तथा रोड्स द्वीपों पर भी अरबों ने अधिकार किया और वहां इस्लाम धर्म को फैलाया।

खलीफा उस्मान के बाद लगभग पांच वर्ष तक अरब गृहयुद्ध में व्यस्त रहा।

किन्तु 661 ई. में खलीफा पद उमय्यद वंश के अधिकार में आया। उमय्यद खलीफाओं ने भी सैनिक शक्ति के बल पर इस्लाम का प्रसार जारी रखा। 670 ई. में उमय्यद खलीफा की सेनाएँ उत्तर-पश्चिम की ओर बढ़ीं और एशिया-माइनर को जीत कर उन्होंने कोस्टेन्टीनोपल पर आक्रमण किया किन्तु यहां उन्हें सफलता नहीं मिली। फलतः अरबी सेनाओं ने पुनः पश्चिम की तरफ अभियान किया। उन्होंने पूरे अफ्रीका पर अधिकार कर लिया और अफ्रीका के वर्तमान लीबिया, अल्जीरिया, ट्यूनिशिया और मोरक्को के भागों पर अधिकार कर लिया। यहां अरबों ने बड़ी संख्या में लोगों का धर्म-परिवर्तन करवा कर इस्लाम का प्रचार किया। इसके पश्चात् इस्लामी सेनाओं ने यूरोप में जिब्राल्टर तथा स्पेन पर अधिकार कर लिया। अपनी विजयों से उत्साहित होकर इस्लामी सेनाओं ने फ्रांस में भी प्रवेश किया, किन्तु चार्ल्स मर्टिल ने 732 ई. में उन्हें तुर्स या टर्स के युद्ध में परास्त किया और मुसलमानों को यूरोप में इससे आगे नहीं बढ़ने दिया। किन्तु स्पेन तक के भागों पर अरबों का आधिपत्य 1492 ई. तक बना रहा।

जब यूरोप में इस्लामी सैनिक स्पेन से आगे नहीं बढ़ पाए, तो उन्होंने अपना रुख पूर्व की ओर किया। फारस पर उसका पहले से ही अधिकार था, अतः इससे आगे बढ़कर अरबी सेनाओं ने तुर्किस्तान को जीता तथा समरकन्द और बुखारा पर अधिकार किया। इसी क्रम मे उन्होंने पश्चिमी चीन मे काफिला मार्ग तक अपना नियन्त्रण स्थापित किया और भारत के उत्तर-पश्चिम भाग में सिन्ध की घाटी तक के भाग को अपने साम्राज्य में मिला लिया। इस प्रकार मुहम्मद साहब की मृत्यु के पश्चात् लगभग सौ वर्ष की अवधि में अरबों ने यूरोप में स्पेन से लेकर भारत और चीन के पश्चिमी भाग तक एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की तथा इस सम्पूर्ण क्षेत्र में इस्लाम का प्रचार किया।

इस्लाम के शीघ्र प्रसार के कारण—दुनियाँ के अन्य धर्मों, जैसे—जैन, बौद्ध, ईसाई, पारसी आदि की तुलना में इस्लाम धर्म का प्रसार बहुत शीघ्र हुआ। उसके कई कारण थे, जिनमें से मुख्य निम्नलिखित हैं—

1. 'इस्लाम के प्रचार-प्रसार के लिए लड़ते-लड़ते मर-मिटने से स्वर्ग मिलता है, अल्लाह सब गुनाह माफ कर देता है।' इस्लामी पैगम्बर के इस सन्देश ने अरबी सैनिकों के मन में इस्लाम के प्रचार की तीव्र भावना पैदा की और उन्होंने जी-जान से इसके प्रचार के प्रयत्न किए।
2. अरबवासियों की जातीय कठोरता एवं युद्ध करने की प्रवृत्ति का लाभ उठा कर खलीफाओं ने उन्हें इस्लाम के प्रचार-प्रसार में लगाया। उन्होंने अपनी पूरी शक्ति और जोश से इसका प्रचार किया और इस कारण इस्लाम शीघ्र फैल गया।
3. अरबों की कमजोर आर्थिक स्थिति ने भी इस्लाम के प्रसार में योग दिया। अपनी आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए अन्य देशों की उपजाऊ भूमि एवं

समृद्ध भूमि पर अधिकार और लूट के धन प्राप्ति की अभिलाषा में इस्लामी सैनिक को अन्य प्रदेशों पर अधिकार करने की प्रेरणा दी और उन्होंने बड़े जोश-खरोश के साथ विजय-अभियानों में भाग लेकर इस्लाम का प्रसार किया।

4. इस्लाम धर्म के समानता और भ्रातृत्व के विचार ने भी इस धर्म के व्यापक और शीघ्र प्रसार में योगदान दिया। इस वर्ग में ऊँच-नीच, जाति-पाँति तथा गरीब-अमीर का भेद-भाव नहीं था। रूढ़िवादी धर्मों की तुलना में जनता का इस धर्म को स्वीकार करना स्वाभाविक था।
5. इस्लामी खलीफाओं की धर्म-परिवर्तन करवाने की नीति और इस्लाम को स्वीकार नहीं करने वाले पर धार्मिक कर 'जजिया' लगाने की व्यवस्था से भी कई लोगों ने डरकर इस्लाम को ग्रहण किया और यह धर्म फैला।
6. इस्लाम के उदय के समय पश्चिम में बाइजेन्टाइन एवं ससानी साम्राज्यों की कमजोर स्थिति ने भी इसके शीघ्र प्रसार में सहयोग दिया। जब इस्लामी सैनिक बाइजेन्टाइन तथा ससानी साम्राज्यों की भूमि में घुसे तब वे इनका दृढ़ता के साथ सामना नहीं कर पाए और अरबों ने सफलतापूर्वक उन पर विजय प्राप्त की।
7. ईसाई धर्म के दो फिरकों में पारस्परिक द्वेष तथा उनका गैर-ईसाइयों के प्रति असहिष्णुता का व्यवहार भी इस्लाम के प्रचार-प्रसार का एक कारण था। कारण कि फिर्कापरस्ती से असन्तुष्ट गैर ईसाई लोगों ने अपनी धार्मिक जिज्ञासा को शान्त करने के लिए सरल, सादे और इस नए धर्म-इस्लाम को तत्परता से अपनाया।

इन सब के साथ इस्लाम धर्म की सादगी, सरलता, नैतिकता, ईमानदारी, इसके जन्मदाता हजरत मुहम्मद के व्यक्तित्व की श्रेष्ठता तथा उसके व्यक्तित्व से जुड़ी चमत्कारिक घटनाओं ने भी इस्लाम के शीघ्र प्रचार-प्रसार में भारी योगदान दिया और अरबवासी थोड़े समय में ही प्राचीन रोम के साम्राज्य से भी बड़े इस्लामी साम्राज्य की स्थापना और उसमें इस्लाम के प्रचार-प्रसार में सफल हुए।

भारत में इस्लाम का प्रवेश : अरबों की सिन्ध विजय

पश्चिम में विशाल इस्लामी साम्राज्य की स्थापना के बाद अरबों ने भारत की ओर दृष्टि डाली और सातवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही अरबों के नेतृत्व में भारत पर इस्लामी आक्रमण होने लगे।

अरबी आक्रमणों से पूर्व भारत की स्थिति—साधारणतया ऐसा माना जाता है कि अरबी आक्रमण से पूर्व जन-जीवन के विभिन्न पक्षों में भारत की स्थिति बड़ी दयनीय हो गई थी। लेकिन, वास्तविकता यह है कि सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टि से देश कमजोर नहीं था। धर्म के क्षेत्र में भी देश में बौद्ध धर्म और वैदिक धर्म का प्रचार था और उनमें संघर्ष की स्थिति नहीं थी। इतना अवश्य था कि देश में कर्मकांड की प्राधनता थी और बहुदेववाद की भावना विद्यमान थी। किन्तु राजनैतिक

दृष्टि से देश अवश्य कमजोर हो रहा था। भारत कई छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था। राज्याधिकारियों में सामूहिक एवं सामाजिक हित के स्थान पर व्यक्तिगत हित एवं स्वार्थ की भावना बढ़ती जा रही थी। यद्यपि सैनिक दृष्टि से देश कमजोर नहीं था, किन्तु सैनिक शक्ति को बढ़ाने तथा किसी विदेशी आक्रमण के विरुद्ध सतर्क रहने के प्रति विभिन्न राज्य उदासीन थे। सैनिक अभियानों का उत्तरदायित्व मात्र राजदूतों पर था और वे आन्तरिक कलह एवं ईर्ष्या-द्वेष के कारण परस्पर लड़ते-झगड़ते रहते थे। ऐसी स्थिति में किन्हीं अन्य कारणों से प्रेरित होकर कोई भी विदेशी आक्रमणकारी भारत पर आक्रमण कर सफलता अवश्य प्राप्त कर सकता था।

हुआ भी यही, अपनी धर्म प्रचार की भावना, साम्राज्य प्रसार की अभिलाषा, और धन प्राप्ति की इच्छा से प्रेरित होकर इन्हीं परिस्थितियों में अरबों ने भारत पर आक्रमण किए और उन्हे सफलता मिली।

भारत पर अरबी आक्रमणों के कारण

धर्म-प्रचार की भावना—इस्लाम धर्म ने अरबवासियों को संगठित कर उनमें एक जातीयता तथा इस्लाम के प्रचार-प्रसार की तीव्र अभिलाषा उत्पन्न कर दी थी। इसी से प्रेरित होकर उन्होंने पश्चिम मे दूर-दूर तक विजयें कीं। पश्चिम की सफलताओं ने उन्हें पूर्व में आगे बढ़ने के लिए प्रेरित किया तथा पैगम्बर मुहम्मद के विचारों के विपरीत कर्मकाण्डी, बहुदेववादी, मूर्ति-पूजक, एकनिष्ठ भारत की धार्मिक स्थिति ने अरबी मुसलमानों में भारत पर आक्रमण करने की भावना पैदा की।

साम्राज्य प्रसार की भावना—भारत की तरफ साम्राज्य विस्तार करना मुहम्मद साहब के उत्तराधिकारी खलीफाओं की धर्म-प्रचार की योजना का एक अंग था। खलीफा इस्लाम जगत के धर्म-गुरु ही नहीं, राजनैतिक अधिकारी भी थे ऐसी स्थिति में उनमे साम्राज्य प्रसार की भावना होना स्वाभाविक था।

धन प्राप्ति की लालसा—इस्लाम को स्वीकार करने के पहले से ही अरबों और भारतीयों के बीच व्यापारिक सम्बन्ध थे और अरबवासी भारतीय समृद्धि से परिचित थे। इस्लाम के उदय से संगठित होकर उनमें भारतीय सम्पत्ति को प्राप्त करने की लालसा तीव्र हो गई और अरबों ने समृद्ध भारत पर आक्रमण करने प्रारम्भ किए।

अरबों के आक्रमण—भारत पर अरबी आक्रमणों का सिलसिला 636 ई. से प्रारम्भ हुआ। खलीफा उमर के शासन काल में 636 ई. में भारतीय प्रदेशों को लूटने के लिए बम्बई के थाना नामक स्थान पर अरबों ने आक्रमण किया। किन्तु इसमें उन्हें सफलता नहीं मिली। तत्पश्चात् अरब पर उम्मैया वंश के शासन काल में अब्दुल्ला के नेतृत्व में अरबी सेना ने सिन्ध के उस पार किरमार, सीस्तान व मकराना पर आधिपत्य कर लिया। किन्तु इसके आगे बढ़ने के लिए खलीफा ने अब्दुल्ला को अनुमति नहीं दी और अरबी आक्रमण यहीं तक सीमित रह गया। लेकिन सन् 711 ई. में सिन्ध के डाकुओं द्वारा अरबी जहाज को सिन्ध के बन्दरगाह देवल पर लूट लिये जाने तथा सिन्ध के तत्कालीन शासक दाहिर द्वारा इसके बारे में

उपयुक्त स्पष्टीकरण नहीं दिए जाने की घटना को तत्कालीन कारण बनाकर ईराक के तत्कालीन गवर्नर हज्जाज ने खलीफा वलीद की आज्ञा लेकर सिन्ध पर आक्रमण के लिए अपनी सेनाएँ भेजी। प्रारम्भ के दो आक्रमणों में हज्जाज के सेनापतियों की पराजय हुई। तत्पश्चात् तीसरी बार हज्जाज ने अपने भतीजे व दामाद सत्रह-वर्षीय युवक इमामुद्दीन मुहम्मद बिन कासिम को सिन्ध पर आक्रमण करने के लिए भेजा। उसने सिन्ध के बन्दरगाह देवल पर आक्रमण किया। किन्तु सिन्ध के राजा दाहिर ने बन्दरगाह की रक्षा का प्रबन्ध नहीं किया और देवल पर कासिम का अधिकार हो गया।

देवल से मुहम्मद बिन कासिम निरुन की ओर बढ़ा और बिना किसी युद्ध के उसने निरुन पर अधिकार किया। यहां से वह सेहवान की ओर बढ़ा, जहाँ दाहिर के चचेरे भाई बाझरा ने उसका विरोध करने का प्रयत्न किया। किन्तु, एक सप्ताह के बाद वह भाग गया और सेहवान के लोगों ने आत्मसमर्पण किया। इसके पश्चात् कासिम ने सीसम पर आक्रमण किया और उस पर अपना अधिकार कर लिया।

सीसम विजय के पश्चात् कुछ महीने निरुन में बिताकर मुहम्मद बिन कासिम ने ब्राह्मणवाद पर चढ़ाई की। उसका सामना करने के लिए दाहिर ब्राह्मणवाद से निकल कर रावर की ओर बढ़ आया और यहा 20 जून, 712 ई. को भारतीयों और अरबों की सेना में भयंकर युद्ध हुआ। अन्त में रावर के युद्ध म दाहिर की हार हुइ और वह मारा गया। यद्यपि दाहिर की पत्नी ने रावर के किले की रक्षा करने का प्रयत्न किया, किन्तु वह उसमें सफल नहीं हो पायी। उसने जौहर कर अपने मान-सम्मान की रक्षा की।

रावर में विजयी होकर कासिम ब्राह्मणवाद की ओर आगे बढ़ा। वहां पर दाहिर के पुत्र जयसिंह ने कासिम का मुकाबला किया, किन्तु वह असफल रहा और ब्राह्मणवाद पर अरबों का अधिकार हो गया। यहाँ कासिम को दाहिर की दूसरी रानी 'लादी' तथा दो कन्याएँ 'सूर्यदेवी' और 'परमलदेवी' हाथ लगीं। लादी से उसने स्वयं विवाह कर लिया और दोनों कन्याओ को खलीफा के पास भेज दिया।

ब्राह्मणवाद पर अधिकार कर लेने के बाद मुहम्मद बिन कासिम ने सिन्ध की राजधानी आरोर (आलोर) पर अधिकार किया और उसके बाद मुल्तान पर आक्रमण किया। एक देशद्रोही के सहयोग से कासिम मुल्तान पर अधिकार कर सका। यहां उसे अतुल धन-सम्पत्ति मिली।

मुहम्मद बिन कासिम का अन्त—मुल्तान विजय अरबों की भारत में अन्तिम विज'य थी कारण कि इसके बाद कासिम आगे नहीं बढ़ सका। चचनामा और मीर मासूम के वर्णनों के आधार पर कहा जाता है कि दाहिर की पुत्रियों ने खलीफा से यह शिकायत की कि मुहम्मद बिन कासिम ने उनके सतीत्व को नष्ट कर दिया है। इस पर क्रोधित होकर खलीफा ने कासिम को भारत से लौट आने तथा उसे बैल की कच्ची खाल में बन्द कर अपने सामने पेश करनें का आदेश दिया। कासिम नें

खलीफा की आज्ञा मानी और स्वयं को बैल की खाल में सिलवा दिया जिससे उसका दम घुटकर अन्त हो गया। यद्यपि बाद में यह ज्ञात हुआ कि दाहिर की पुत्रियों की शिकायत झूँठी थी और उसकी सजा भी उन्हें मिली, पर मुहम्मद बिन कासिम के दुःखद अन्त के बाद भारत में अरबी साम्राज्य का प्रसार रुक गया।

मुहम्मद बिन कासिम के बाद खलीफा ने याजिद और उसके बाद हबीब को सिन्ध का सूबेदार बनाकर भेजा। उसके बाद जुनियाद सिन्ध का सूबेदार बनकर आया और इस तरह 871 ई. तक सिन्ध अरबों के आधिपत्य में रहा। किन्तु योग्य सूबेदार के अभाव एवं अरबों के आपसी कलह के कारण मुहम्मद बिन कासिम के बाद भारत में आने वाले अरबी सूबेदार उनकी शक्ति और साम्राज्य को नहीं बढ़ा सके। अन्त में 871 ई. के बाद सिन्ध खलीफाओं के प्रभुत्व से मुक्त हो गया और वहां अरबों के दो स्वतन्त्र राज्य स्थापित हो गये, जो महमूद गजनवी के आक्रमणों तक चलते रहे।

अरबों की सफलता के कारण—सिन्ध पर विजय प्राप्त करने में अरबों की सफलता के कई कारण थे। इसमें पहला, सिन्ध की असंगठित राजनीतिक स्थिति तथा राज्य की जनता में आपसी मनमुटाव की भावना होना था; दूसरा, सिन्ध का सैनिक दृष्टि से कमजोर होना था और तीसरा राजा दाहिर की अदूरदर्शिता था। उसने न तो अपने सैनिक संगठन की ओर ध्यान दिया था और न ही अच्छा शासन स्थापित कर जनता का विश्वास प्राप्त किया, अतः आक्रमण के समय उसे जन-सहयोग नहीं मिल पाया। दाहिर ने कई स्थानों पर सैनिक भूलें भी कीं, जो सिन्धवासियों की पराजय का कारण बनीं। चौथा कारण भारत देश के अन्य राजाओं द्वारा दाहिर को सहयोग न देना था। अरबों की सिन्ध विजय का पाँचवां और सर्वप्रमुख कारण अरबों का धर्म-प्रचार का जोश, धन-प्राप्ति की प्रबल इच्छा और इसके लिए, खलीफा द्वारा मिलने वाला सैनिक सहयोग था। छठा कारण अरबों को भारत में कुछ देशद्रोही मिल जाना था। देश-प्रेम के अभाव में समय-समय पर इसी देश के कुछ गद्दारों ने, अरबों को सैनिक दृष्टि से कई राज बताकर, उसको सफल बनाने में सहयोग दिया। अरबों की सफलता का सातवाँ कारण मुहम्मद बिन कासिम की योग्यता, साहस तथा नेतृत्व शक्ति था। कासिम के इन गुणों के सहारे अरबों को भारत में सफलता मिल सकी।

अरबों की सिन्ध-विजय के परिणाम तथा भारत का पश्चिम से सम्पर्क

राजनैतिक आधिपात्य की दृष्टि से अरबों के भारतीय आक्रमणों के कोई परिणाम नहीं निकले। इतिहासकार हेग व लेनपूल के अनुसार अरबों की सिन्ध विजय भारत के इतिहास में गौण एवं महत्त्वहीन घटना थी। फिर भी इतना अवश्य हुआ कि थोड़े समय के लिए सिन्ध का भारत से सम्बन्ध टूट गया और वह भाग इस्लामी जगत का अंग बन गया। परिणामस्वरुप, भारत में इस्लामी प्रभुत्व की स्थापना का मार्ग खुला। लेकिन सांस्कृतिक क्षेत्र में इसके कई महत्वपूर्ण परिणाम

सामने आए। आपको जानकर आश्चर्य होगा कि राजनैतिक दृष्टि से विजित भारत ने विजेता अरबों पर सांस्कृतिक विजय प्राप्त की। भारतीय दर्शन, विज्ञान, गणित, ज्योतिष तथा चिकित्सा आदि का अरबों पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। बहुत से भारतीय ज्ञान-विज्ञान के ग्रन्थों का अरबी भाषा में अनुवाद करवाया गया। अरब वालों ने अंक व दशमलव पद्धति तथा चिकित्सा व खगोलशास्त्र के कई मौलिक सिद्धाँत भारतीयों से सीखे तथा साहित्य, कला आदि के क्षेत्र में भारतीय पद्धतियों को अपनाया। इतिहासकार हेवेल के अनुसार 'भारत ने इस्लाम को उसके यौवनकाल में प्रभावशाली शिक्षा दी तथा उसके दार्शनिक, साहित्यिक तथा कलात्मक पक्षों से उचित संस्कारों का निर्माण कर अरबी संस्कृति के महत्वपूर्ण पक्षों को प्रकाशित किया'। इतना ही नहीं, इस सम्पर्क से भारतीय ज्ञान का पश्चिमी देशों में प्रचार हुआ तथा भारतीय दर्शन, साहित्य तथा कला की अनेक बातें अरबों के माध्यम से यूरोप वालों ने सीखीं। इसलिए डॉ० ईश्वरी प्रसाद के शब्दों में, 'बिना किसी सकोच के कहा जा सकता है कि भारत और पश्चिम (यूरोप) का सांस्कृतिक सम्पर्क स्थापित करने की दृष्ठि से अरबों ने एक पुल का काम किया।'

अध्ययन का उपयोग

निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर दीजिये एवं अपने अध्ययन को उपयोगी बनाइये

1. मुहम्मद साहब के जन्म से पूर्व अरबवासियों की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक स्थिति कैसी थी ?
2. इस्लाम के जन्मदाता कौन थे ? इस्लाम के प्रवर्तक के जीवन की प्रमुख विशेषताएं क्या थीं ?
3. मुहम्मद साहब की प्रमुख शिक्षाएं क्या थीं ?
4. खलीफाओं ने इस्लाम के प्रचार-प्रसार में क्या योग दिया तथा इस्लाम का विश्व में किस प्रकार प्रचार हो सका ?
5. अरबों के भारत पर आक्रमण करने के क्या कारण थे ?
6. भारत में अरबी आक्रमणों का सफल नेतृत्व किसने किया, उसके व्यक्तित्व की प्रमुख विशेषताएँ क्या थीं ?

अध्ययन की जांच

सही उत्तर का क्रमाक्षर कोष्ठक में लिखिए—

1. 'ईश्वर एक है और मैं उसका पैगम्बर हूं।' यह उक्ति किसकी है ? —

   (क) महात्मा ईसा (ख) हजरत मुहम्मद ( )

   (ग) अबूबकर (घ) हजरत अली ( )

2. इस्लाम की प्रमुख विशेषता है—

   (क) एकेश्वरवाद (ख) बहुदेववाद

   (ग) काबा की पूजा (घ) मूर्ति-पूजा ( )

सोच-विचार कर उत्तर लिखिए—

1. विश्व में इस्लाम अन्य धर्मों की तुलना में शीघ्र फैला, इसके प्रमुख कारण क्या थे ?
2. 'मुहम्मद बिन कासिम भारत में अरबी आक्रमणों का सफल नेता था ।' यह कैसे कहा जा सकता है ?
3. भारत पर अरबी आक्रमणों के क्या परिणाम निकले ?

निम्नलिखित क्रियात्मक कार्य भी कीजिए और अपना कौशल बढ़ाइए—

1. विश्व के मानचित्र में इस्लाम के प्रसार-क्षेत्र को अंकित कीजिए ।

पूरक अध्ययन ग्रन्थ

1. डॉ० ईश्वरी प्रसाद : मध्यकालीन भारत का इतिहास
2. डॉ० ए. एल. श्री वास्तव : दिल्ली सल्तनत
3. ए. बी. पाण्डेय : पूर्व-मध्यकालीन भारत
4. शर्मा-व्यास : मध्यकालीन भारत

अध्याय 18

भारत पर तुर्की आक्रमण

(महमूद गजनवी और मुहम्मद गौरी)

आठवीं शताब्दी में होने वाले अरबी आक्रमणों के बाद लगभग 275 वर्ष तक भारत इस्लामी आक्रमणों से सुरक्षित रहा । परन्तु दसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारत पर इस्लामी आक्रमणों का सिलसिला पुनः प्रारम्भ हुआ । इस बार आक्रमण करने वाले अरबी न होकर तुर्क थे ।

सुबुक्तगीन—भारत पर आक्रमण करने वाले तुर्की आक्रमणकारियों का प्रथम नेता सुबुक्तगीन था । वह अलप्तगीन का गुलाम व दामाद था । अलप्तगीन जो कि ईरान के यामिनी वंश (जो इतिहास में साधारणतया गजनी वंश के नाम से पुकारा जाता है) की एक शाखा से सम्बन्धित था । उसने 962 ई० में मध्य एशिया में

ऑक्सस नदी के दक्षिण में एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की थी जिसकी राजधानी गजनी थी और उसका राज्य गजनी राज्य कहलाता था। 967 ई० में गजनी के राज्य का शासक सुबुक्तगीन बना। सुबुक्तगीन एक योग्य व्यक्ति था। उसने शासक बनने पर अपने राज्य की शक्ति और सीमाओं का प्रसार करना प्रारम्भ किया।

इस समय भारत के उत्तरी पश्चिमी भाग पर शाही वंश का राजा जयपाल राज्य करता था। वह भी एक योग्य एवं सावधान शासक था। उसका राज्य हिन्दूकुश तक विस्तृत था। वह अपने राज्य की सीमाओं पर कोई दूसरा शक्तिशाली राज्य नहीं देखना चाहता था और उधर सुबुक्तगीन भारत की उत्तरी-पश्चिमी सीमाओं पर आक्रमण करने लगा था। ऐसी स्थिति में सुबुक्तगीन एवं जयपाल के बीच संघर्ष प्रारम्भ हुआ। इसमें लम्बे समय के पश्चात् षड्यन्त्र एवं धोखे के सहारे सुबुक्तगीन विजयी रहा और उसने लमघान और पेशावर के मध्य तक के भारतीय प्रदेशों पर अधिकार कर लिया। सुबुक्तगीन की मृत्यु 977 ई० में हुई।

महमूद गजनवी—सुबुक्तगीन के बाद उसका छोटा पुत्र इस्माइल गजनी के राज्य की गद्दी पर बैठा। किन्तु उसके सात माह बाद ही सुबुक्तगीन के बड़े पुत्र महमूद ने इस्माइल को हराकर गजनी पर अधिकार कर लिया। यही वह महमूद था, जो भारत पर कई बार आक्रमण करने वाले महमूद गजनवी के नाम से प्रसिद्ध है।

महमूद बड़ा महत्त्वाकांक्षी एवं यश चाहने वाला व्यक्ति था। गजनी पर अधिकार करने के पश्चात् उसने समानी शासकों को परास्त कर मध्य एशिया में अपनी स्थिति को बहुत मजबूत बना लिया। बगदाद के खलीफा अल-कादिर-बिल्लाह ने प्रभावित होकर महमूद को हिरात, बल्ख, बस्त तथा खुरासान का शासक स्वीकार किया तथा यमीन-उद-दौला (साम्राज्य की दक्षिण भुजा) और आमीन-उल-मिल्ला (धर्म रक्षक) की उपाधियाँ प्रदान कीं। कहा जाता है कि इस प्रकार मध्य एशिया मे प्रतिष्ठा प्राप्त करने के पश्चात् उसने प्रति वर्ष भारत पर आक्रमण करने का निश्चय किया।

महमूद गजनवी के भारत पर आक्रमण के उद्देश्य—महमूद के दरबारी इतिहासकार उतबी के अनुसार महमूद के भारतीय आक्रमणों का उद्देश्य इस्लाम-धर्म का प्रचार करना था। लेकिन डॉ० हबीब, जफर, प्रो. निजामी एवं हेवेल आदि इतिहासकार महमूद को धर्मान्ध नहीं मान कर, धन प्राप्ति की इच्छा को महमूद के भारतीय आक्रमणों का मुख्य उद्देश्य मानते हैं। किन्तु इसके साथ गौण उद्देश्य के रूप में 'धर्म प्रचार' तथा 'साम्राज्य प्रसार' के उद्देश्य भी जुड़े हुए अवश्य थे। कारण कि अपने मुख्य उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसे अपने राज्य की कट्टर इस्लामी जनता के सहारे की आवश्यकता थी, जो इस्लाम के प्रचार के नाम पर उसके साथ मर-मिटने तक के लिए तैयार हो जाती। अतः अपनी जनता का पूरा-पूरा सहयोग प्राप्त करने

की दृष्टि से महमूद ने अपने आक्रमणों को 'जिहाद' (धर्म-युद्ध) नाम दिया। इसी के साथ महमूद एक ऐसे प्रदेश पर भी अधिकार करना चाहता था, जिसको आधार बनाकर वह हर वर्ष भारत के अन्य राज्यों पर आक्रमण करके यहाँ की सम्पत्ति लूट सके। इसके लिए भारत के उत्तरी-पश्चिमी भाग पर अधिकार करने की उसकी इच्छा थी। इसके पीछे अपने परम्परागत शत्रु पंजाब के शाही राज्य को समाप्त करने का भी महमूद का उद्देश्य था।

महमूद के आक्रमणों के समय भारत की स्थिति

महमूद के आक्रमणों के पूर्व ही भारत की राजनैतिक एकता छिन्न-भिन्न हो चुकी थी। सम्पूर्ण भारत छोटे छोटे राज्यों में विभक्त था। इन राज्यों में बहुत अधिक



महमूद गजनवी के आक्रमण के समय भारत

मात्रा में वैमनस्य विद्यमान था। विदेशी आक्रमणों के विरुद्ध देश की सुरक्षा के लिए संगठित होकर संयुक्त मोर्चा बनाने में वे असमर्थ थे। प्रान्तीय शासकों का ध्यान मात्र अपने व्यक्तिगत हितों की सुरक्षा तक सिमट कर रह गया था। सम्पूर्ण देश की सुरक्षा की बात वे भूल चुके थे। सैनिक दृष्टि से युद्ध शैली और शास्त्रों में कोई सुधार नहीं हुआ था। देश की सीमा सुरक्षा की ओर से भी भारतीयों की आँखें मुँदी हुई थीं। साधारण जनता अपने राजनैतिक कर्त्तव्यों के प्रति उदासीन थी। इसके साथ ही, सामाजिक और धार्मिक जीवन में संकीर्णता, जातीय-जटिलता, छुआ-छूत तथा कट्टरता बढ गई थी। इन परिस्थितियों में विदेशी आक्रमणकारियों का सफलता पूर्वक प्रतिरोध कर सकना भारतीयों के लिए कठिन था।

महमूद के आक्रमण--इतिहासकार मानते हैं कि इन्हीं परिस्थितियों का लाभ उठाकर महमूद ने भारत पर 17 बार आक्रमण किए, किन्तु उसके 12 आक्रमणों के बारे में ही प्रामाणिक जानकारी हैं। इनमें से उसका सबसे पहला आक्रमण पंजाव पर हुआ। पंजाब के शासक जयपाल ने वीरता के साथ उसका सामना किया, परन्तु वह पराजित हुआ। इस पराजय से जयपाल को इतना शोक हुआ कि वह चिता में जल कर भस्म हो गया। जयपाल के उत्तराधिकारी—अनंगपाल और त्रिलोचनपाल ने अगले 23 वर्षों तक महमूद के साथ संघर्ष जारी रखा, परन्तु महमूद के सामने वे भी असफल रहे और पंजाब का प्रान्त मुसलमानों के अधिकार में चला गया।

इसके बाद महमूद ने नगरकोट व थानेश्वर पर आक्रमण किए। उसने वहाँ के मन्दिरों को तोड़ा और अपार धन-सम्पत्ति प्राप्त की।

महमूद के आक्रमणों में उसके द्वारा मथुरा, कन्नौज तथा कालिंजर पर किए गए आक्रमण भी प्रमुख हैं। इन प्रदेशों पर उसने 1018 से 1019 ई० के बीच आक्रमण किए। इन आक्रमणों में उसने यहाँ के मन्दिरों को तोड़ा और वहाँ से अपार धन सम्पत्ति प्राप्त की।

सोमनाथ पर आक्रमण—महमूद गजनवी के आक्रमणों में उसका 1025 ई. में सोमनाथ पर किया गया आक्रमण सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। सोमनाथ का मन्दिर काठियावाड़ (गुजरात) में समुद्र के किनारे पर स्थित था, जिसमें भव्य तथा विशाल शिवलिंग प्रतिष्ठित था। मन्दिर में संचित अपार सम्पत्ति व वैभव की खबर सुन कर महमूद ने उस पर आक्रमण करने का निश्चय किया। गजनी से रवाना होकर राजस्थान के मरुस्थल को पार करता हुआ 1025 ई० के जनवरी मास में वह सोमनाथ पहुंचा। किन्तु शौर्य के प्रतिनिधि रणबाँकुरे चौहानों, परमारों और चालुक्यों ने उसका रास्ता तक रोकने का प्रयत्न नहीं किया। गुजरात का चालुक्य राजा भीमदेव तो अपनी राजधानी से भाग खड़ा हुआ। यद्यपि हजारों भारतीयों ने अपने देवता की रक्षा के लिए लड़ते हुए अपने प्राण त्यागे, परन्तु महमूद ने सरलता से मन्दिर पर अधिकार कर लिया। उसने मन्रिद में प्रतिष्ठित शिवलिंग

के टुकड़े-टुकड़े कर दिए। लूट में उसे अपार धन सम्पत्ति प्राप्त हुई। उसे जितना प्रचुर धन इस लूट में प्राप्त हुआ, शायद उतना धन उसे पहले कभी नहीं मिला।

सोमनाथ के आक्रमण के बाद महमूद गजनवी का अन्तिम आक्रमण 1027ई. में सिन्ध के जाटों के विरुद्ध हुआ। इसके तीन वर्ष बाद ही 1030 ई० में महमूद गजनवी की मृत्यु हो गई।

महमूद के आक्रमणों का प्रभाव—यद्यपि महमूद के आक्रमणों से भारत का अधिकाँश हिस्सा अछूता ही रहा, परन्तु उत्तरी-पश्चिमी सीमान्त तथा पंजाब पर मुसलमानों का अधिकार हो जाने से भारत को बहुत क्षति उठानी पड़ी। इसलिए यह कहा जाता है कि महमूद ने बाद में आने वाले मुसलमान आक्रमणकारियों के लिए भारत का मार्ग खोल दिया।

उसके आक्रमणों के परिणामस्वरूप ही सिन्ध, मुल्तान, कन्नौज और गंगा की घाटी तक इस्लाम का प्रसार हो गया।

महमूद के आक्रमण विध्वंसात्मक थे। इन आक्रमणों का प्रत्यक्ष प्रभाव हमारे देश के साहित्य तथा उन मन्दिरों और भवनों पर पड़ा, जिनके साथ भारत देश की सांस्कृतिक भावनाएँ लिपटी हुई थीं। महमूद के आक्रमणों के परिणामस्वरूप भारत की संस्कृति के प्रतीक कई मन्दिर और भवन नष्ट हो गए। बड़े-बड़े पुस्तकालयों और उनमे संचित साहित्य को जला दिया गया। फलस्वरूप थोड़े समय के लिए भारतीय शिल्पकला और साहित्य का विकास रुक गया। इसके अतिरिक्त उसके आक्रमणों से सदियों की संचित भारतीय धन-सम्पदा लूट ली गई और समस्त उत्तरी भारत निर्धन बन गया। इन आक्रमणों के परिणामस्वरुप भारत की अपार जन-हानि भी हुई, भारत सैनिक दृष्टि से दुर्बल हुआ तथा परोक्ष रूप में भारतीयों का मनोबल नीचे गिरा, जिसने भविष्य में भारत पर आक्रमण करने वालों की सफलता का मार्ग प्रशस्त किया।

महमूद की सफलता के कारण—अपने भारतीय आक्रमणों में महमूद गजनवी हर बार सफल रहा। उसकी सफलता के कारणों में भारत की फूटभरी राजनीतिक स्थिति, तुर्क सैनिकों में इस्लाम के प्रचार का जोश, उनकी एकता तथा भारतीय धन-सम्पदा प्राप्त करने की उनकी तीव्र लालसा तो थी ही, परन्तु महमूद की सफलता का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कारण उसकी सैन्य-संचालन विधि और नूतन युद्ध-प्रणाली का प्रयोग था। महमूद ने अपनी सेना को वर्गों में विभक्त कर रखा था, जिन्हें बारी-बारी से वह युद्ध में धकेलता था। इसके साथ ही, उसके तीरन्दाज और घुड़सवार सैनिकों का युद्ध कौशल भी बढ़ा-चढ़ा था और उसकी सेना का गुप्तचर बिभाग भी काफी सक्रिय था, जिसके सहारे आक्रमण से पहले वह अपने शत्रुओं की सही स्थिति का पता लगा लेता था। उसकी तुलना में भारतीयों की युद्ध तकनीक परम्परागत थी और वे इन दृष्टियों से पिछड़े हुए थे। इन्ही कारणों से महमूद हर बार सफल होता गया।

महमूद का मूल्यांकन—जिस युग और जाति के इतिहास की बात यहां आप पढ़ रहे हैं, उसके सन्दर्भ में महमूद गजनवी एक कुशल योद्धा, योग्य सैनिक और सेनापति के रूप में प्रकट होता हैं। वस्तुतः उसमें नेतृत्व करने और परिस्थितियों का लाभ उठाने की क्षमता थी तथा मानवीय इच्छाओं को परखने तथा उपयोग में लाने की प्रतिभा थी। इसी क्षमता और अपने बाहुबल के आधार पर उसने गजनी के छोटे से राज्य को विशाल साम्राज्य में बदला था। सैनिक और शासक के इन गुणों के साथ महमूद एक न्यायप्रिय तथा विद्या एवं कला से अनुराग रखने वाला शासक था। न्याय के क्षेत्र में वह निकट से निकट के सम्बन्धी और महत्त्वपूर्ण व्यक्ति को भी उपयुक्त दण्ड देने में नहीं हिचकता था। उसके दरबार में इतिहास, दर्शन, गणित, ज्योतिष तथा साहित्य आदि के कई विद्वान रहते थे। अलबरूनी, उतबी व बेहाकी जैसे इतिहासकार, फरीश्ता जैसे दार्शनिक, उजारी जैसे महान् कवि तथा तुसी, अस्जदी, फर्रुखी तथा 'शाहनामा' का लेखक फिरदोसी जैसे शिक्षक और विद्वान् उसके दरबार में रहते थे। महमूद ने गजनी में एक विश्वविद्यालय, एक पुस्तकालय तथा एक अजायबघर बनवाया था। विदेशों से कई कलाकारों को बुलाकर उसने गजनी में कई भव्य इमारतों का निर्माण करवाया था। लेकिन इन सब के साथ उसमें धन-लिप्सा और धार्मिक कट्टरता का दुर्गुण था और शासन प्रबन्ध की दृष्टि से वह एक कुशल प्रशासक भी नहीं था। इन्हीं दो अभावों के कारण एक तो वह इतिहास में लुटेरा कहलाया और दूसरे, उसका साम्राज्य स्थायित्व प्राप्त नहीं कर सका। फिर भी, इतिहास में उसका ऊंचा स्थान है।

शिहाबुद्दीन उर्फ मुईजुद्दीन मुहम्मद गौरी

महमूद ने भारत की अपार धन-सम्पत्ति को लूटा, किन्तु मात्र उत्तरी-पश्चिमी सीमा के छोटे से भाग पर अधिकार करने के सिवाय वह भारत में मुस्लिम साम्राज्य की स्थापना नहीं कर सका। महमूद के आक्रमणों के लगभग 150 वर्ष पश्चात् इस कार्य को गोरवंश के शासक मुहम्मद गौरी ने पूरा किया।

गोरवंश तुर्कों के जन-समुदाय के शंसन-बी-वंश (अफगान नहीं) से सम्बन्धित था, जो ईरान से आकर मध्य एशिया में गोर प्रदेश में बस गए थे। गोर प्रदेश गजनी और हिरात के बीच स्थित था। महमुद गजनवी के समय में गोर के शासक उसके अधीन थे। किन्तु उसकी मृत्यु के बाद धीरे-धीरे अपनी शक्ति का विस्तार कर गोर के शासक गजनी से स्वतन्त्र हो गए। 1173 ई. में गोर के शासक गियासुद्दीन ने गजनी पर अधिकार कर लिया और अपने छोटे भाई शिहाबुद्दीन को गजनी का शासक नियुक्त किया। यही शिहाबुद्दीन इतिहास में मुईजुद्दीन मुहम्मद गौरी के नाम से प्रसिद्ध है।

मुहम्मद गौरी भी महत्त्वाकाँक्षी था। गजनी का शासक बनने पर उसने भारत पर आक्रमण करने का निश्चय किया और अन्त में सफलता प्राप्त कर उसने भारत में मुस्लिम साम्राज्य की स्थापना का बीजारोपण किया।

मुहम्मद गौरी के भारत पर आक्रमण के उद्देश्य - मुहम्मद गौरी के भारतीय आक्रमणों का मुख्य उद्देश्य भारत में अपना साम्राज्य स्थापित करना था । इसी के साथ इन आक्रमणों के पीछे गौरी का एक अन्य ध्येय पंजाब में गजनी राजवंश की सत्ता और मुल्तान में इस्माइलिया वंश की सत्ता को नष्ट करना भी था । ऐसा करके वह गजनी राज्य के सम्भावित दावेदारों को हमेशा के लिए नष्ट कर देना चाहता था । इसके अतिरिक्त भारत की धन-सम्पदा को प्राप्त करना भी गौरी के आक्रमणों का एक कारण था और ऊपरी तौर पर धर्म प्रचार का उदेश्य भी था । लेकिन वह मात्र धर्म के नाम पर मर-मिटने वाले सैनिकों को बिना किसी प्रयत्न के सेना में एकत्रित करने का बहाना था ।

गौरी के आक्रमण के समय भारत की स्थिति—मुहम्मद गौरी के आक्रमणों के समय में भी भारत की स्थिति लगभग वैसी ही थी, जैसी महमूद के आक्रमण के समय थी । राजनैतिक दृष्टि से भारत अब भी छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था । यद्यपि इनमें से कुछ राजपूत राज्य शक्तिशाली थे, फिर भी उनमें ईर्ष्या-द्वेष तथा अहम् विद्यमान था और दुर्भाग्य तो यह था कि इसी फूट के कारण महमूद से बार-बार पराजित होने पर भी भारतीयों ने कोई सबक नहीं सीखा था। इस समय भी देश में केन्द्रीय शक्ति का अभाव था और प्रान्तीय राज्यों का बोलबाला था, जो सहयोग के स्थान पर एक दूसरे से मन-मुटाव रखते थे और एक दूसरे को नीचा दिखाने की चेष्टा किया करते थे ।

सामाजिक दृष्टि से भी स्थिति वही थी जो 148 वर्ष पहले महमूद के आक्रमण के समय थी । मात्र कुछ मुस्लिम बस्तियाँ भारत में स्थापित हो गई थीं । भारतीयों का नैतिक, धर्मिक एवं सैनिक जोश सूखा पड़ा था । ये परिस्थितियां मुहम्मद गौरी के आक्रमणों के लिए पूर्णतया अनुकुल थीं ।

मोहम्मद गौरी के आक्रमण —इन परिस्थितियों का लाभ उठाने की दृष्टि से भारत पर आक्रमण करने के लिए मुहम्मद गौरी ने सर्वप्रथम मुल्तान के राज्य को चुना तथा 1175 ई. में गोमल दर्रे से होकर उसने मुल्तान पर आक्रमण किया और उसे जीत लिया । इसके बाद चार-पाँच वर्षों में उसने उच्च और निचले सिन्ध को भी जीत लिया।

गुजरात पर आक्रमण–1178 ई. में मुहम्मद गौरी ने राजस्थान के रेगिस्तान को पार कर गुजरात पर आक्रमण किया । किन्तु आक्रमण में गुजरात के सोलंकी शासक मूलराज द्वितीय ने उसे आबू के पहाड़ों के पास बुरी तरह से हराया और गौरी कठिनाई से प्राण बचा कर भाग सका ।

इस पराजय के पश्चात् गौरी ने भारत पर उत्तर-पश्चिम से आक्रमण करने प्रारम्भ किए । 1179 ई. में उसने पेशावर पर आक्रमण किया और सरलता से उस पर अधिकार कर लिया । इसके बाद 1181 ई. में लाहौर पर अधिकार करने के

पश्चात् कुछ ही वर्षों में गौरी ने पूरे पंजाब पर अधिकार कर लिया और उत्तरी-पश्चिमी भारत से महमूद के वंशजों—यामिनी वंश के लोगों—के राज्य को समाप्त कर दिया।

मुहम्मद गौरी एवं पृथ्वीराज चौहान—मुहम्मद गौरी के आक्रमणों के समय उत्तरी भारत में दिल्ली व अजमेर का शासक पृथ्वीराज चौहान सबसे शक्तिशाली था। वह शूरवीर व पराक्रमी शासक था। उसने कई युद्ध जीते थे। पंजाब पर अधिकार कर लेने के बाद मुहम्मद गौरी ने पृथ्वीराज के साम्राज्य पर धावे करने प्रारम्भ किए। उसने सरहिन्द पर अधिकार कर लिया। सरहिन्द पृथ्वीराज के राज्य का अंग था। इससे दोनों के बीच युद्ध की स्थिति उत्पन्न हो गई। फलतः 1191 ई. में तराइन का प्रथम युद्ध हुआ। इस युद्ध में पृथ्वीराज ने गौरी को बुरी तरह पराजित किया। परन्तु गौरी के लिए यह पराजय असह्य थी, अतः 1192 ई. में एक विशाल सेना के साथ मुहम्मद गौरी ने पृथ्वीराज पर फिर आक्रमण कर दिया। तराइन के मैदान पर ही दोनों की पुनः टक्कर हुई। इस बार परिणाम विपरीत निकला। पृथ्वीराज हार गया और मारा गया तथा चौहानों के राज्य पर मुसलमानों का अधिकार हो गया। विद्वानों ने तराइन के दूसरे युद्ध को एक निर्णायक युद्ध माना है। इस युद्ध में विजय प्राप्त करने के बाद तुर्क भारत में शासन-सत्ता के अधिकारी बन सके।

मुहम्मद गौरी व जयचन्द—पृथ्वीराज चौहान के बाद उत्तरी भारत का सबसे शक्तिशाली शासक जयचन्द था। इस राज्य की राजधानी कन्नौज थी। उसने गौरी के विरुद्ध पृथ्वीराज को सहायता नहीं दी। परन्तु, 1194 ई. में गौरी ने जयचन्द पर आक्रमण कर दिया। चन्दावर नामक स्थान पर गौरी व जयचन्द के बीच युद्ध हुआ। युद्ध में जयचन्द पराजित हुआ और मारा गया। उसकी राजधानी कन्नौज तथा बनारस नगर को मुसलमानों ने खूब लूटा। इस विजय से मेरठ से लेकर बनारस तक के विस्तृत प्रदेश पर मुसलमानों का अधिकार हो गया।

कालिंजर एवं गुजरात विजय—जयचन्द के राज्य पर मुसलमानों के अधिकार हो जाने के पश्चात् मुहम्मद गौरी के तुर्क गुलाम कुतुबुद्दीन ऐबक ने अपने स्वामी द्वारा जीते गए प्रदेशों में मुस्लिम सत्ता को मजबूत बनाना प्रारम्भ किया। कुतुबुद्दीन गौरी के भारतीय साम्राज्य का राज्यपाल एवं प्रतिनिधि था। उसने 1202-3 ई. में बुन्देलखण्ड के चन्देलों पर आक्रमण किया तथा कालिजर के किले को जीत लिया। इसके अलावा कुतुबुद्दीन ने अन्हिलवाड़ा (गुजरात) और दिल्ली पर भी अपना अधिकार कर लिया।

बिहार व बंगाल विजय—मुहम्मद गौरी की कन्नौज विजय से तुर्कों के लिए पूर्वी भारत की ओर बढ़ना सुगम हो गया था। अतः जिस समय ऐबक मुस्लिम शक्ति को उत्तरी भारत में मजबूत कर रहा था, उसी समय उसके एक सेनापति बख्तियारुद्दीन खलजी ने एक छोटी सी सेना के साथ बिहार पर चढ़ाई कर दी। बिहार के बौद्धों ने

बिना लड़े ही मुसलमानों की अधीनता स्वीकार कर ली। इसके बाद बख्तियार ने बंगाल पर आक्रमण किया। बंगाल का शासक लक्ष्मणसेन मुसलमानों के आगमन की सूचना मिलते ही राजधानी से भाग गया और बिना किसी विशेष प्रतिरोध के बंगाल मुसलमानों के अधिकार में आ गया।

मुहम्मद गौरी की मृत्यु—मुहम्मद गौरी का अन्तिम भारतीय आक्रमण पंजाब के खोखरों को कुचलने के लिए किया गया। यद्यपि इस अभियान में गौरी ने खोखरों को दबाया, किन्तु अपने लक्ष्य में सफल होकर जब गौरी गजनी लौट रहा था, तो मार्च 1206 ई. में झेलम के किनारे खोखरों ने उसकी हत्या कर दी।

मुहम्मद गौरी का मूल्यांकन--पूर्व मध्यकालीन भारत के इतिहास में मुहम्मद गौरी का नाम भारत में मुस्लिम साम्राज्य की स्थापना करने वाले शासक के रूप में प्रसिद्ध है। उसकी इस उपलब्धि के कारण निःसन्देह वह साम्राज्य-निर्माता कहे जाने योग्य है। किन्तु, सैनिक दृष्टि से महमूद गजनवी की तुलना में वह उसके समान योग्य सैनिक और अभियानों का संचालक साबित नहीं हो पाया। क्योंकि महमूद ने जिस प्रकार सैनिक सफलताएँ प्राप्त की, वैसी गौरी नहीं कर पाया। उसे कई बार पराजयों का सामना भी करना पड़ा। किन्तु, इसके विपरीत गौरी में राजनैतिक दूरदर्शिता, समय और परिस्थिति को समझने की क्षमता और योग्य व्यक्तियों को परख-चुन कर उन्हें सदुपयोग में लाने की योग्यता थी। इसके कई गुलाम तथा दास, जैसे कुतुबुद्दीन ऐबक आदि के कार्य इस बात के साक्षी हैं। इसी के साथ, वह एक दृढ़-निश्चयी एवं चरित्रवान व्यक्ति था तथा प्रत्येक कार्य को सावधानी एवं योजनाबद्ध रीति से करता था। इसलिए, कुछ सैनिक अभियानों में असफल रहते हुए भी वह अपने उद्देश्यों को पूरा करने में सफल रहा। उसे अपने साम्राज्य में प्रशासन करने का अवसर नहीं मिला और न ही वह विद्या एवं कला के विकास के प्रति ध्यान दे पाया। ऐसी स्थिति में महमूद की तुलना में इस क्षेत्र में उसे पिछड़ा कहा जा सकता है। किन्तु उसकी साम्राज्य स्थापना की उपलब्धि महत्त्व रखती है। इससे भारतीय इतिहास में एक नए अध्याय की शुरुआत हुई।

तुर्की आक्रमणों के विरुद्ध भारतीयों की पराजय के कारण—तर्की आक्रमण-कारी महमूद गजनवी और मुहम्मद गौरी को भारत में जो सफलताएँ मिलीं, उनके बारे में जानकर यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि आखिर वे कारण कौन से थे, जिनसे भारतीय विदेशियों के समक्ष लगातार अपनी ही भूमि पर पराजित होते गए। वस्तुतः इसके मुख्य कारण निम्नलिखित थे—

राजनैतिक कारण—भारतीयों की पराजय का सबसे बड़ा कारण भारत में राजनैतिक एकता का अभाव था। केन्द्रीय शक्ति नष्ट हो चुकी थी। देश छोटे-छोटे स्वतन्त्र राज्यों में बंट चुका था। भारत के शासकों में एकता की भावना या देश-भक्ति का सर्वथा अभाव था। वे अपने छोटे-छोटे स्वार्थों के वास्ते एक दूसरे से लड़ने को सदा तत्पर रहते थे, परन्तु मिल-जुलकर विदेशी आक्रमणकारी का सामना करने से

कतराते थे। उनकी इस आपसी फूट का आक्रमणकारियों ने फायदा उठाया और एक-एक करके भारतीय शासकों को पराजित करने में सफलता प्राप्त की। इतना ही नहीं, जनसाधारण में भी राष्ट्रीयता की भावना का अभाव था। ऐसी स्थिति में विदेशियों का सफल होना स्वाभाविक था।

सैनिक दुर्बलता—भारत की सामाजिक व्यवस्था का ढाँचा कुछ ऐसा था कि देश की रक्षा और अस्त्र-शस्त्र धारण करने का दायित्व केवल राजपूत जाति पर ही आ पड़ा था, शेष जनता को इससे कोई मतलब नहीं रहा था। परन्तु लगातार लड़े जाने वाले आपसी युद्धों के कारण अस्त्र धारण करने वाले राजपूतों की संख्या में भारी कमी आ गई थी। इसके अतिरिक्त, ये गर्वीले राजपूत अपने कुल के अलावा अन्य किसी कुल के सेनापति के अधीन रह कर लड़ना भी पसन्द नहीं करते थे। हठधर्मी इतने थे कि प्रतिकूल ने प्रतिकूल स्थिति में भी युद्ध का मैदान छोड़कर पीछे की ओर लौटना कायरता समझते थे। भारतीय सैनिकों की सबसे बड़ी कमजोरी यह थी कि जिस समय भी राजा अथवा सेनापति दृष्टि से ओझल हो जाता था, उसी समय वे धैर्य खो बैठते थे। इस कमजोरी के कारण ही कई बार लगभग जीते हुए युद्ध भी हाथ से निकल गये। साथ ही भारतीय युद्ध-विधि और सैन्य संचालन योजना भी परम्परागत थी। उसमें कोई नवीनता नहीं लाई गई। युद्ध में हाथियों का प्रयोग भारतीय सेना के लिए प्रायः आत्मघातक ही सिद्ध हुआ। जिस समय भी यह भारी-भरकम पशु निरंकुश होकर मैदान से भाग निकलता था, उस समय भारतीय सेना की सम्पूर्ण व्यवस्था भंग हो जाती थी और इसका लाभ उठाकर शत्रु सेना तीव्रगामी प्रहार करती थी। फलस्वरूप उनकी विजय सुनिश्चित हो जाती थी।

सामाजिक कारण--किसी भी देश की शक्ति और आत्मबल उसकी सामाजिक व्यवस्था में निहित रहता है। दुर्भाग्यवश उस युग में भारतीय समाज संकीर्ण मनोवृत्ति से ग्रसित हो चुका था। सामाजिक एकता और संगठन बीते दिनों की बात बन कर रह गई थी। साधारण लोग अन्धविश्वास और भाग्यवाद के चक्कर में फँसे हुए थे। इस प्रकार के विचारों ने भारतीयों के आत्मविश्वास को ही समाप्त कर दिया। इसके अलावा जिन राजपूतों पर समाज की रक्षा का भार था, वे रनवास की विलासिता में, सौन्दर्य की गोद में, द्यूत-क्रीड़ा और आखेट में, अफीम और सुरापान में अपनी शक्ति को खोते चले जा रहे थे। वस्तुतः वह भारत के सामाजिक जीवन के पतन का युग था और उसका लाभ आक्रमणकारियों को मिलना आवश्यक था।

तुर्की आक्रमण के परिणाम

महमूद गजनवी के आक्रमणों ने भारत को निर्धन एवं सैनिक दृष्टि से निर्बल बनाकर विदेशी आक्रमणकारियों के लिए मार्ग खोला, तो मुहम्मद गौरी के आक्रमणों

का परिणाम भारत में इस्लामी राज्य की स्थापना के रूप में निकला। गौरी यद्यपि भारत में सुल्तान के रूप में शासक नहीं बना, लेकिन उसके दास और भारतीय साम्राज्य के सूबेदार कुतुबुद्दीन ऐबक ने भारत में स्वतन्त्र मुस्लिम साम्राज्य की स्थापना की जिसने आगे के युगों में भारतीय राजनीति, सभ्यता और संस्कृति को कई रूपों में प्रभावित किया।

अध्ययन का उपयोग

निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर दीजिए एवं अपने अध्ययन को उपयोगी बनाइए—

1. भारत पर आक्रमण करने वाला पहला तुर्क आक्रमणकारी कौन था ?
2. महमूद गजनवी के भारतीय आक्रमणों के उद्देश्य क्या थे ?
3. महमूद के आक्रमणों के समय भारत की स्थिति किस प्रकार की थी ?
4. महमूद के आक्रमणों के क्या परिणाम निकले ?
5. मुहम्मद गौरी के भारत पर आक्रमणों के क्या उद्देश्य थे ?

अध्ययन की जाँच

सही उत्तर का क्रमाक्षर कोष्ठक में लिखिए—

1. महमूद के भारतीय आक्रमणों एवं मुहम्मद गौरी के भारतीय आक्रमणों के प्रमुख उद्देश्य में जो अन्तर था, वह है—
   (क) महमूद धन चाहता था, गौरी साम्राज्य प्राप्त करना चाहता था।
   (ख) महमूद साम्राज्य-प्रसार करना चाहता था गौरी धन प्राप्त करना चाहता था।
   (ग) गौरी धर्म-प्रचार करना चाहता था, गौरी साम्राज्य प्रसार करना चाहता था।
   (घ) महमूद धर्म का प्रचार करना चाहता था, गोरी साम्राज्य प्रसार करना चाहता था। ( )
2. तुर्कों के सामने भारतीयों की पराजय का मुख्य कारण था—
   (क) युद्ध में हाथियों का प्रयोग (ख) सामाजिक असमानता
   (ग) सैनिकों की कमी (घ) योग्य सेनापतियों का अभाव ( )

सोच-विचार कर उत्तर लिखिए—

1. महमूद गजनवी एवं मुहम्मद गौरी के कार्यों की तुलनात्मक विवेचना करते हुए उनके व्यक्तित्व का मूल्यांकन कीजिए।
2. यह कैसे कहा जाता है कि मुहम्मद गौरी भारत में मुस्लिम साम्राज्य का संस्थापक था ?

निम्नलिखित क्रियात्मक कार्य कीजिए और अपना कौशल बढ़ाइये—

1. एशिया के मानचित्र में महमूद गजनवी और मुहम्मद गौरी के साम्राज्यों को अंकित कीजिए ?

पूरक अध्ययन ग्रन्थ

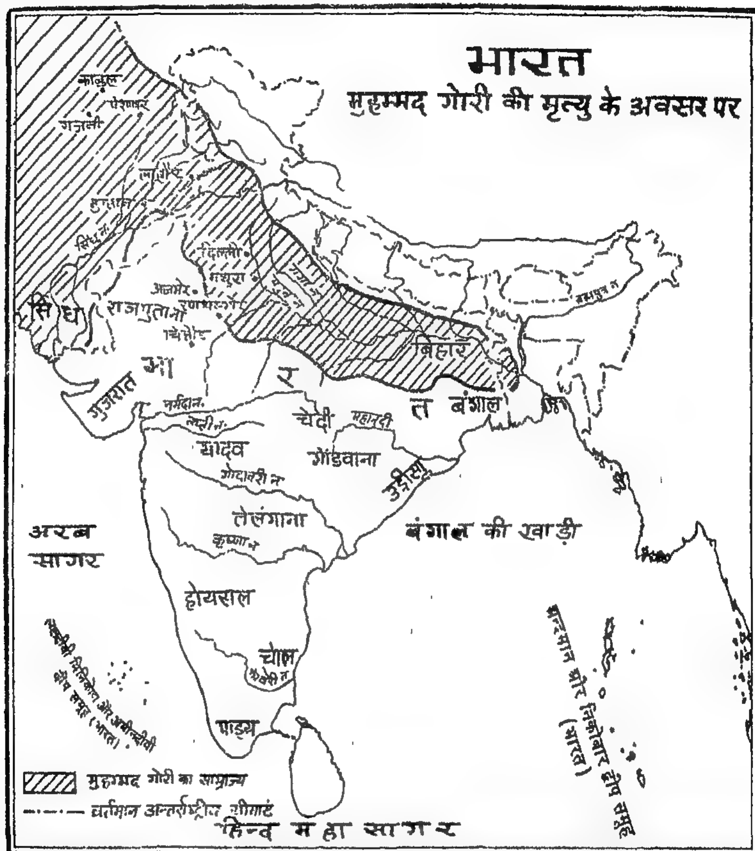
1. डॉ. ईश्वरी प्रसाद : मध्यकालीन भारत का इतिहास
2. डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव : दिल्ली सल्तनत
3. ए. बी. पाण्डेय : दिल्ली सल्तनत
4. शर्मा : व्यास : पूर्व मध्यकालीन भारत

अध्याय 19

दिल्ली सल्तनत : स्थापना और उत्थान

मुहम्मद गौरी के कोई पुत्र नहीं था और अचानक मृत्यु हो जाने के कारण वह अपने उत्तराधिकारी की भी कोई व्यवस्था नहीं कर पाया था। फलतः गौरी की मृत्यु के पश्चात उसका साम्राज्य विघटित हो गया। गजनी के सिंहासन पर पहले अलाउद्दीन बैठा, किन्तु कुछ समय के पश्चात उसे हटाकर महमूद बिन गयासुद्दीन गजनी का अधिकारी बना। गौरी के शेष साम्राज्य के विभिन्न भागों पर उसके दास सूबेदारों ने अपने आपको स्वतन्त्र शासक घोषित कर दिया। किरमान का सूबेदार ताजुद्दीन याल्दोज स्वतन्त्र बनकर अपने आपको गौरी के साम्राज्य का अधिकारी समझने लगा और उसने बाद में गजनी पर भी अधिकार कर लिया। इसी प्रकार उच्छ एवं मुल्तान के सूबेदार नासिरुद्दीन कुबेचा इन भागों का स्वतन्त्र शासक बन गया और मुहम्मद इब्न बख्तियार खलजी ने बंगाल में अपने आपको स्वतन्त्र घोषित कर दिया। इसके अतिरिक्त मुहम्मद गौरी के समय में जीते गये शेष उत्तरी भारत के भागों व दिल्ली का अधिकारी कुतुबुद्दीन ऐबक बना। किन्तु इन सब में कुतुबुद्दीन ऐबक ने जिन भागों पर अधिकार किया था, आंशिक रूप में वह वैधानिक था। कारण कि एक तो कुतुबुद्दीन को मुहम्मद गौरी ने अपने भारतीय साम्राज्य का प्रतिनिधि नियुक्त किया था, दूसरा—उसके अधिकार क्षेत्र वाले अधिकांश प्रदेश पर ऐबक ने स्वयं अधिकार जमाया था और तीसरा गौरी की मृत्यु के पश्चात् लाहौर के नागरिकों के आमन्त्रण पर कुतुबुद्दीन ने लाहौर में आकर शासन-सत्ता हाथ में ली थी। साथ ही, गौरी के उत्तराधिकारी गयासुद्दीन ने भी कुतुबुद्दीन को सुल्तान स्वीकार कर लिया था। ऐसी स्थिति में ऐबक ने अपनी योग्यता, प्रयत्न एवं शक्ति

के आधार पर भारत के जिन भागों पर अधिकार प्राप्त किया था, उनका वह अपने आपको स्वतन्त्र शासक समझता था तथा गौरी की मृत्यु के पश्चात् अपने अधिकार-क्षेत्र में वह किसी की साझेदारी या आधिपत्य-अधिकार स्वीकार करने को तैयार नहीं था। इस प्रकार कुतुबुद्दीन ऐबक ने किसी अन्य शासक के आधिपत्य-अधिकार से मुक्त एक स्वतन्त्र और प्रथम मुसलमानी राज्य की भारत में स्थापना की थी, जिसका पहला सुल्तान वह स्वयं ही था।



भारत के महासर्वेक्षक की अनुज्ञानुसार भारत सर्वेक्षण विभागीय मानचित्र पर आधारित। © भारत सरकार का प्रतिलिप्यधिकार, 1977
समुद्र में भारत का जलप्रदेश उपयुक्त आधार रेखा से मापे गये बारह समुद्री मील की दूरी तक है।
इस मानचित्र में दिये गये नामों का अक्षर-विन्यास विभिन्न सूत्रों से लिया गया है।

मुहम्मद गौरी की मृत्यु के अवसर पर भारत

दिल्ली सल्तनत के तुर्क सुल्तान और उनका शासन

तथाकथित दासवंश–कुतुबुद्दीन ऐबक द्वारा 1206 ई. में भारत में संस्थापित मुस्लिम राज्य को दिल्ली सल्तनत कहा जाता है तथा उसकी शासन परम्परा में 1290 ई. तक शासक बनने वाले मुसलमान शासकों का वंश इतिहास में दासवंश के

नाम से प्रसिद्ध है। इसका मुख्य कारण यह है कि इस समयावधि में दिल्ली के सिंहासन पर बैठने वाले ग्यारह मुसलमान सुल्तानों में से तीन प्रमुख सुल्तान ऐबक, इल्तुतमिश तथा बलबन अपने प्रारम्भिक जीवन में गुलाम या दास थे। लेकिन, मात्र इसी आधार पर इस शासक परम्परा के वंश को दासवंश कहा जाना भ्रामक है। वास्तविकता तो यह है कि तथाकथित दासवंश की परम्परा के ग्यारह शासक न तो एक ही कुल के थे और न ही सभी दास थे। उनमें आठ तो निश्चित रूप से दास नहीं थे और शेष तीन भी शासक बनने से पहले दासता से मुक्त हो चुके थे। मूलतः जाति परम्परा से ये सभी तुर्क थे। ऐसी स्थिति में इन्हें दास सुल्तान के स्थान पर तुर्क सुल्तान कहना अधिक उपयुक्त है।

कुतुबुद्दीन ऐबक—भारत में स्वतन्त्र तुर्की राज्य की स्थापना करने वाले कुतुबुद्दीन ऐबक का जन्म तुर्किस्तान में हुआ था। वह जाति से तुर्क था। बचपन में ही वह निशापुर के काजी फखरुद्दीन अब्दुल अजीज कूकी के हाथों एक दास के रूप मे बेच दिया गया था जिसने ऐबक को अपने पुत्रों के साथ भली प्रकार से सभी प्रकार की शिक्षा दी थी। किन्तु काजी की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्रों ने ऐबक को बेच दिया और अन्त में मुहम्मद गौरी ने उसे अपने दास के रूप में खरीदा। गौरी के पास रहते हुए अपनी योग्यता से ऐबक ने उसे बहुत प्रभावित किया। धीरे-धीरे वह गौरी का कृपापात्र बन गया और तरक्की करने लगा। गौरी ने उसे 'अमीरे आखूर' (घुड़शाला का अध्यक्ष) का महत्त्वपूर्ण पद दिया। यह सब ऐवक की स्वामी-भक्ति एवं कुशल-व्यवहार का परिणाम था। ऐबक ने गौरी को उसके भारतीय आक्रमणों में साथ रह कर उसे विजय बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की थी। फलतः तराइन के दूसरे युद्ध के पश्चात् गौरी ने ऐबक को 1192 ई. में अपने भारतीय प्रदेशों का सूबेदार या प्रतिनिधि नियुक्त किया। भारत में गौरी के प्रतिनिधि के रूप में रहते हुए ऐबक ने मात्र गौरी द्वारा जीते हुए प्रदेशों की रक्षा ही नहीं की, बल्कि दिल्ली, कालिंजर, महोबा, अलीगढ़ तथा राजस्थान के कुछ किलों को जीतकर मुस्लिम आधिपत्य की सीमा को बढ़ाया तथा अजमेर, मेरठ आदि स्थानों पर होने वाले विद्रोहों को दबाकर भारत में मुसलमानों की शक्ति को मजबूत किया। 1206 ई. में गौरी की मृत्यु के बाद वह उसके भारतीय साम्राज्य का अधिकारी बना और जून 1206 ई. में अपना राज्याभिषेक करवा कर उसने दिल्ली की स्वतन्त्र मुस्लिम सल्तनत की स्थापना की।

सुल्तान कुतुबुद्दीन ऐबक की कठिनाइयाँ—1206 ई. में स्वतन्त्र शासक बनने के साथ ही कुतुबुद्दीन को कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। उसकी सबसे बड़ी समस्या गौरी के साम्राज्य के अधिकारी होने का दावा रखने वाले, उसके समान गौरी के अन्य दासों के विरोध की थी। इनमें ताजुद्दीन याल्दोज और नासिरुद्दीन कुबेचा प्रमुख थे। बंगाल के खलजी शासक ऐबक के आधिपत्य को स्वीकार करने को तैयार नहीं थे। इसके अतिरिक्त भारत के राजपूत शासक अपनी खोई हुई सत्ता पुनः प्राप्त करना चाहते थे और स्थान-स्थान पर तुर्कों का विरोध कर उनकी सत्ता को समाप्त करने का प्रयत्न करने लगे थे। इसके साथ ही, ऐबक के सामने अपने भारत के राज्य

को मध्य एशिया की राजनीति से अलग रखकर अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को बनाए रखने का एक महत्त्वपूर्ण, लेकिन अत्यधिक कठिन कार्य भी था।

ऐबक के कार्य—उपर्युक्त सभी समस्याओं का कुतुबुद्दीन ऐबक ने बडी बुद्धिमानी से सामना किया। अपनी स्थिति को मजबूत बनाने के लिए उसने कुबेचा तथा याल्दोज से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किए। फलत: कुबेचा ने उसे दिल्ली का सुल्तान स्वीकार किया, किन्तु वह याल्दोज की ओर से निश्चित नहीं हो पाया। कारण कि ख्वारिज्म के शाह के दबाव के कारण याल्दोज ने गजनी छोड़कर पंजाब पर आक्रमण किया और कुबेचा से सुल्तान का प्रदेश छीन लिया। लेकिन कुतुबुद्दीन ने याल्दोज को युद्ध में परास्त किया और पंजाब से निकाल बाहर किया। इसी समय गजनी के नागरिकों के आमन्त्रण पर ऐबक ने गजनी पर भी अधिकार किया, किन्तु मात्र चालीस दिन के पश्चात् ही उसे गजनी छोड़कर जाना पड़ा। किन्तु अपने इन कार्यों से ऐबक अपने भारतीय राज्यों को मध्य एशिया की राजनीति से अलग रखने तथा उसका स्वतन्त्र अस्तित्व बनाए रखने में सफल रहा। इसी प्रकार बंगाल पर भी सैनिक शक्ति के बल पर कुतुबुद्दीन ने अधिकार किया और अलीमर्दान खां को वहां का सूबेदार बनाया। लेकिन ऐबक स्वतन्त्र सुल्तान की हैसियत से राजपूतों के खिलाफ कोई कार्यवाही नहीं कर सका। कारण की राजपूतों के खिलाफ वह कोई कदम उठाता, उसके पूर्व ही 1210 ई. में चौगान (पोलो) खेलते हुए घोड़े से गिरकर उसकी मृत्यु हो गई।

उपर्युक्त सैनिक कार्यों के अलावा शासनिक कार्य के लिए समय नहीं मिल पाने के कारण ऐबक प्रशासन की दृष्टि से कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं कर सका। लेकिन अपने स्थापत्य प्रेम के कारण उसने दिल्ली और अजमेर में क्रमश: 'कुवातुल इस्लाम' तथा 'ढाई दिन का झोंपड़ा' नामक दो मस्जिदों का निर्माण करवाया और दिल्ली की प्रसिद्ध 'कुतुबमीनार' के निर्माण का कार्य प्रारम्भ किया, जिसे इल्तुतमिश ने पूरा करवाया।

ऐबक का व्यक्तित्व एवं मूल्यांकन—कुतुबुद्दीन ऐबक के सम्पूर्ण कार्यों की जानकारी के आधार पर कहा जाता है कि वह एक स्वामीभक्त सेवक, कर्मठ सैनिक, कुशल सेनापति तथा व्यावहारिक बुद्धि वाला कूटनीतिज्ञ था। गौरी के लिए की गई उसकी सेवाएँ उसकी विजयें तथा सुल्तान बनने पर वैवाहिक सम्बन्धों की स्थापना आदि कार्य उसके इन गुणों का परिचय देते हैं। इसके साथ ही वह एक विद्या और कला से प्रेम रखने वाला न्यायप्रिय और उदार शासक था। उसने स्थापत्य-स्मारकों का निर्माण करवाया था तथा उसके दरबार में हसन निजामी तथा फक्र ए-मुदाविर जैसे विद्वान आश्रय पाते थे। हसन निजामी के अनुसार वह अपनी प्रजा को समान-रूप से न्याय देता था और खूब दान देता था। इसी कारण उसे 'लाख बक्ष' (लाखों रुपया देने वाला) कहा गया है। इन सबके ऊपर कुतुबुद्दीन ऐबक का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य यह था कि उसने भारत में एक मुस्लिम राज्य की स्थापना की थी।

आरामशाह—कुतुबुद्दीन ऐबक की मृत्यु के बाद आरामशाह दिल्ली सल्तनत का स्वामी बना। किन्तु वह एक वर्ष भी शासन न कर पाया। उसकी अयोग्यता के कारण दिल्ली के तुर्क सरदारों ने बदायूँ के सूबेदार इल्तुतमिश को दिल्ली कर अधिकार करने को बुलाया। इस पर इल्तुतमिश ने आरामशाह को परास्त पर दिल्ली पर अधिकार कर लिया और 'शमशुद्दीन इल्तुतमिश' के नाम से वह दिल्ली का शासक बना।

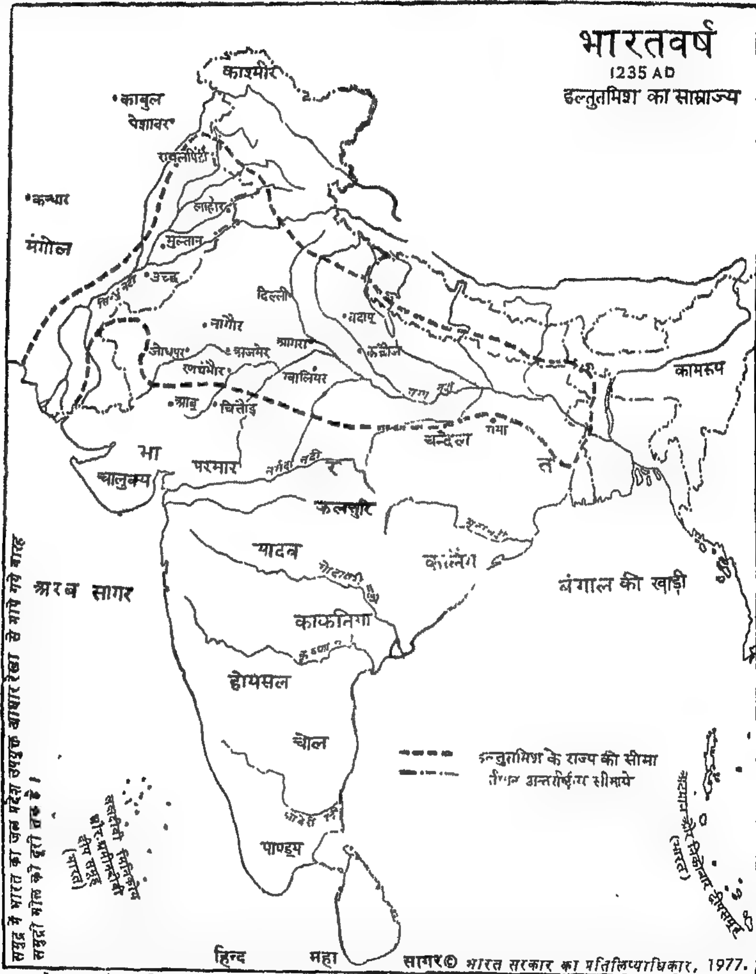
समशुद्दीन इल्तुतमिश—शमशुद्दीन इल्तुतमिश इल्वारी तुर्क जाति का था। वह आकृति से सुन्दर और बचपन से ही बुद्धिमान था। ईर्ष्यावश उसके भाइयों ने उसे एक दासों के व्यापारी के हाथों बेच दिया। बाद में कुतुबुद्दीन ने उसे दिल्ली में एक दास के रूप में खरीदा और उसे अपने अंगरक्षकों का प्रधान (सरेजांदार) बनाया। कुतुबुद्दीन के पास रहते हुंए इल्तुतमिश अपनी योग्यता, प्रतिभा और स्वामीभक्ति से निरन्तर तरक्की करता गया। ऐबक ने पहले उसे 'अमीरे-शिकार' का पद दिया तथा बाद मे उसे ग्वालियर, बुन्देलखण्ड और अन्त में बदायूँ के महत्त्वपूर्ण सूबे का सूबेदार बनाया। कुतुबुद्दीन ने उसके साथ अपनी पुत्री का विवाह किया और वह 1211 ई. में दिल्ली सल्तनत का तीसरा सुल्तान था।

इल्तुतमिश की कठिनाइयाँ—इल्तुतमिश को जो राज्य प्राप्त हुआ, वह मात्र एक सैनिक जागीर के रूप में था तथा उस पर कई लोगों की निगाह लगी हुई थी। गजनी का शासक याल्दोज दिल्ली के राजा को अपने अधीन मानता था। कुतुबुद्दीन की मृत्यु के बाद नासिरुद्दीन कुबेचा ने अपने राज्य का विस्तार करना आरम्भ कर दिया था। इसी प्रकार बंगाल, बिहार के सूबेदार अलीमर्दान खाँ ने अपने आपको स्वतन्त्र शासक घोषित कर दिया था। राजपूतों ने कई स्थानों से तुर्कों के अधिकार को समाप्त कर दिया था। ऐसे समय में ही इल्तुतमिश के शासन काल में चंगेजखाँ के नेतृत्व में मंगोल आक्रमण की समस्या भी उत्पन्न हुई थी।

इल्तुतमिश के कार्य—इल्तुतमिश के सामने आने वाली ये सभी समस्याएं बड़ी विकट थीं। लेकिन इल्तुतमिश ने इन सबका बड़े धैर्य, साहस, शक्ति एवं चतुराई के साथ सामना किया। उसने याल्दोज के साथ प्रारंभ में किसी प्रकार का झगड़ा मोल नहीं लिया। किन्तु 1215 ई. में ख्वारिज्म के शाह से पराजित होकर जब याल्दोज ने पंजाब पर अधिकार किया और दिल्ली के सिंहासन पर अपना दावा करने लगा, तो इल्तुतमिश ने उसे तराइन के मैदान पर परास्त कर कैद कर लिया और मरवा डाला। इसी तरह नासिरुद्दीन कुबेचा को भी सैनिक शक्ति के आधार पर परास्त कर इल्तुतमिश ने आत्म-समर्पण करने को कहा किन्तु कुबेचा ने सिन्धु नदी में डूब कर आत्महत्या करली और इल्तुतमिश की यह समस्या भी समाप्त हुई। बंगाल और बिहार की समस्या का समाधान भी सैनिक शक्ति के आधार पर ही किया गया और बंगाल के सूबे को अन्तिम रूप से दिल्ली साम्राज्य का अंग बनाया।

मंगोल आक्रमण—इल्तुतमिश को अपने शासन काल में मंगोलों के आक्रमण की एक भयकर आपत्ति का सामान करना पड़ा। मंगोलों ने अपने नेता चंगेजखाँ के

नेतृत्व में पूरे मध्य एशिया को रोंद डाला और ख्वारिज्म के राजकुमार जलालुद्दीन मगबरनी का पीछा करते हुए मंगोल भारत में सिन्धु नदी के किनारे पहुँच गए। इधर-उधर घूमते हुए जलालुद्दीन ने ऐसे समय में इल्तुतमिश से शरण मांगी, किन्तु इल्तुतमिश ने इसके भावी परिणामों को समझते हुए बड़ी विनम्रता के साथ जलालुद्दीन को शरण देने से इन्कार कर दिया। फलतः जलालुद्दीन पर्शिया भाग गया और



भारत के महासर्वेक्षक की अनुज्ञानुसार भारत सर्वेक्षण विभागीय मानचित्र पर आधारित।
इस मानचित्र में दिये गये भौगोलिक नामों का वर्णयोग प्रमाणिक नहीं है।

चंगेजखां जलालुद्दीन का पीछा करता हुआ भारत से लौट गया। इस प्रकार अपनी दूरदर्शिता से इल्तुतमिश ने एक भयंकर आपत्ति से अपनी सल्तनत को बचाया।

राजपूत राजाओं से संघर्ष—कुतुबुद्दीन के समय से ही राजपूत राजाओं ने तुर्कों का विरोध करना प्रारम्भ कर दिया था और इल्तुतमिश के शासन काल तक राजस्थान, मालवा व दोआब के कई प्रदेश तुर्की आधिपत्य से निकल गये थे। ऐसी स्थिति में राजपूत राजाओं को दबाने और तुर्की सल्तनत के खोए हुए भागों को पुन: प्राप्त करने के लिए इल्तुतमिश ने सैनिक आक्रमण की नीति अपनाई। उसने रणथम्भौर, मण्डोर, बयाना, थंगीर, नागौर, अजमेर, ग्वालियर, मालवा तथा कालिंजर आदि स्थानों पर अपना अधिकार कर लिया। किन्तु राजपूतो को दबाते समय इल्तुतमिश को राजस्थान में नागदा के गुहिलोत वंशी राजपूतों तथा गुजरात मे चालुक्यों के समक्ष सफलता नहीं मिली। फिर भी, इल्तुतमिश ने अपने इन सभी सैनिक कार्यों के सहारे एक विस्तृत सल्तनत कायम कर ली।

खलीफा द्वारा इल्तुतमिश को मान्यता—भारत में अपनी शक्ति और साम्राज्य को बढ़ाकर इल्तुतमिश ने बगदाद के खलीफा से सुल्तान पद की स्वीकृति देने की प्रार्थना की। खलीफा ने 1229 ई. में सुल्तान पद की स्वीकृति का पत्र भेजा। इल्तुतमिश के इस कार्य से दिल्ली सल्तनत वैधानिक रूप से एक स्वतन्त्र राज्य बन गया और स्वयं इल्तुतमिश एवं उसके उत्तराधिकारियों का सुल्तान पद कानून की दृष्टि से सुदृढ़ बन सका।

इल्तुतमिश की मृत्यु—1236 ई. में इल्तुतमिश ने बनियान के शासक सैफुद्दीन सहन (हेग के अनुसार खोखरों) पर आक्रमण किया। किन्तु अपने आक्रमण अभियान मार्ग में ही बीमार पड़ गया और उसे दिल्ली लाया गया। इसी बीमारी में अप्रेल 1236 ई. में इल्तुतमिश की मृत्यु हो गई।

इल्तुतमिश का व्यक्तित्व एव मूल्यांकन—इल्तुतमिश ने अपनी योग्यता एवं स्वामीभक्ति से एक दास से उन्नति करते-करते शासक का पद प्राप्त किया तथा 26 वर्ष तक शासन कर दिल्ली सल्तनत के लिए अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किए। अपने विरोध व प्रान्तीय मुसलमान सरदारों तथा राजपूत विद्रोहियों को दबाकर उसने सल्तनत का विस्तार किया तथा राजनीतिक एकता प्राप्त की। अपनी दूरदर्शिता से मंगोल आक्रमण से सल्तनत एवं उसके सुल्तानों के पद की प्रतिष्ठा और मर्यादा को बढ़ाया। इन सब कार्यों से स्पष्ट होता है कि इल्तुतमिश सहासी सैनिक, अनुभवी सेनापति तथा दूरदर्शी एवं कूटनीति-निपुण एक योग्य शासक था। इसके साथ ही, वह विद्वानों, कलाकारों तथा योग्य व्यक्तियों का सम्मान करने वाला एवं गरीबों को सहायता देने वाला, सुसम्य शासक था। कुतुबमीनार को उसने ही पूरा करवाया था। वह धार्मिक प्रवृत्ति एवं धार्मिक पुरुषों का आदर करने वाला शासक था। किन्तु वह धार्मिक दृष्टि से कट्टर था। उसका शासन प्रबन्ध कैसा था, इसके बारे में विशेष जानकारी नहीं हो पायी है, फिर भी उसके समस्त कार्यो का मूल्यांकन करते हुए डॉ. के. ए. निजामी ने कहा कि इल्तुतमिश ऐबक द्वारा भारत में संस्थापित शिशु तुर्की सल्तनत को मजबूती, सुरक्षा तथा वैधानिकता प्रदान करने वाला दिल्ली के तुर्क सुल्तानों में सर्वाधिक योग्य एवं महत्त्वपूर्ण शासक था।

इल्तुतमिश के उत्तराधिकारी

रुकनुद्दीन फीरोजशाह—इल्तुतमिश एक दूरदर्शी शासक था, इसलिए उसने अपने जीवन काल में ही अपने उत्तराधिकारी के बारे में सोच-विचार कर अपनी पुत्री रजिया को अपना उत्तराधिकारी मनोनीत किया। रजिया को उत्तराधिकारी चुनने का मुख्य कारण अपने पुत्र फीरोज का विलासी होना था। लेकिन इल्तुतमिश की यह इच्छा उसकी मृत्यु के बाद क्रियान्वित नहीं हो पायी। कारण की इल्तुतमिश के दूसरे पुत्र फीरोज की माँ शाहतुर्कान ने प्रान्तीय सूबेदारों और सरदारों से मिल कर सुल्तान की मृत्यु के दूसरे दिन ही फीरोज को 'रुकनुद्दीन फीरोजशाह' के नाम से दिल्ली सल्तनत का सुल्तान घोषित कर दिया। लेकिन रुकनुद्दीन अधिक समय तक शासन नहीं कर पाया। रजिया के अन्य अमीरों एवं जनता का सहयोग प्राप्त कर दिल्ली की गद्दी पर अधिकार कर लिया। फीरोज को कत्ल करवा दिया और अपने पिता की इच्छा के अनुसार रजिया सुल्तान बनी।

रजिया—रजिया एक योग्य स्त्री थी। किन्तु शासक बनते ही उसे बदायूँ, मुल्तान, हांसी तथा लाहौर के सूबेदारों के विद्रोह का सामना करना पड़ा। परन्तु रजिया ने इन विद्रोहियों को शक्ति एवं कुटनीति से दबा दिया। इसके पश्चात् रजिया ने कुशल शासन-व्यवस्था स्थापित करने के लिए साम्राज्य के विभिन्न पदों पर योग्य व्यक्तियों को नियुक्त कर सल्तनत को शक्तिशाली बनने का प्रयत्न किया। इसी कार्य में उसने अपने कृपापात्र एक अबौसीनियाई मलिक 'जमालुद्दीन याकूत' को अमीरे-आखूर' (घुड़शाला का प्रधान) का पद दिया। लेकिन, तुर्की सरदार इस नियुक्ति से नाराज हुए। इसके साथ ही, रजिया के पुरुषोचित व्यवहार—पर्दा छोड़ने, मर्दाना कपड़े पहनने तथा जनता के समक्ष खुले मुँह जाने से भी कुछ तुर्की सरदार रजिया से असन्तुष्ट होने लगे। धीरे-धीरे रजिया से कार्यो से अमीर, सरदार और प्रान्तीय सूबेदार यह महसूस करने लगे कि रजिया शासन शक्ति अपने हाथों में केन्द्रित कर तुर्की सरदारों की शक्ति को तोड़ने का प्रयत्न कर रही है। ऐसी स्थिति में गुलाम सूबेदार 'कबीरखाँ ने रजिया के विरुद्ध विद्रोह किया। यद्यपि रजिया ने शीघ्र ही उसे दबा दिया, परन्तु कुछ ही दिनों बाद भटिण्डा के सूबेदार अल्तूनिया ने विद्रोह किया। जब रजिया इस विद्रोह को दबाने गई, तो उसके तुर्क सरदारों ने उसके साथ धोखा किया। उन्होंने याकूत को मार डाला और रजिया को कैद कर लिया। इसकी सूचना पाते ही रजिया के विरोधियों ने इल्तूतमिश के तीसरे पुत्र बहराम को दिल्ली का सुल्तान बना दिया। यद्यपि सल्तनत पर पुनः अधिकार करने की दृष्टि से रजिया ने अल्तुनिया से विवाह कर उसके साथ दिल्ली पर आक्रमण किया, लेकिन वे सफल नहीं हो पाए और उन्हें पुनः लौटना पड़ा। लौटते समय ही मार्ग अल्तूनिया तथा रजिया, दोनों को डाकुओं ने मार डाला और इस प्रकार रजिया और उसके अल्प-कालीन शासन का अन्त हुआ।

रजिया एक योग्य महिला सुल्तान थी। वह सैनिक एवं शासकीय गुणों से सम्पन्न थी, फिर भी सफल नहीं हो पाई। कुछ इतिहासकार उसकी असफलता का

कारण उसका स्त्री होना और उसमें स्त्री-सुलभ कमजोरी तथा याकूत से प्रेम-सम्बन्ध होना मानते हैं। लेकिन वस्तुतः इसका मुख्य कारण तुर्की गुलाम सरदारों की महत्त्वाकाँक्षाएँ ही थीं, जिन्होंने योग्य होते हुए भी रजिया के विरुद्ध षड्यन्त्र किया और उसके शासन को समाप्त किया।

बहरामशाह एवं अलाउद्दीन मसूदशाह—रजिया के बाद बहरामशाह सुल्तान बना। किन्तु बहराम भी करीब दो वर्ष तक ही शासन कर पाया। उसका भी विद्रोहियों ने वध कर दिया और उसके स्थान पर फीरोजशाह के पुत्र अलाउद्दीन मसूदशाह को शासक बनाया गया। मसूदशाह ने चार वर्ष तक शासन किया। यद्यपि उसके शासन काल में शान्ति बनी रही, किन्तु सुल्तान का कोई प्रभाव नहीं रहा। उसके समय में धीरे-धीरे बलबन शक्तिशाली बनता गया और अन्त में उसने षड़यन्त्र कर मसूदशाह को हटा दिया और नासिरुद्दीन अहमद को सुल्तान बनाया।

नासिरुद्दीन महमूद—नासिरुद्दीन महमूद एक सरल एवं धर्मपरायण सुल्तान था। उसने लगभग बीस वर्ष तक शासन किया। उसके शासन काल में वास्तविक सत्ता उसके नाइब (प्रधान मंत्री) बलबन के हाथों में केन्द्रित रही। यद्यपि कुछ सरदारों एवं अपनी माँ के बहकाने में आकर नासिरुद्दीन ने बलबन को नाइब के पद से हटा दिया, किन्तु एक वर्ष बाद ही बलबन पुनः नाइब बना। नासिरुद्दीन के नाइब के रूप में कार्य करते हुए बलबन ने आन्तरिक विद्रोह को दबाने तथा दिल्ली सल्तनत की सीमाओं को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया। किन्तु इसके बावजूद भी नासिरुद्दीन के काल में बंगाल दिल्ली सल्तनत से अलग हो गया और मंगोलों ने आक्रमण कर पंजाब के उत्तरी-पश्चिमी भाग पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार नासिरुद्दीन के लम्बे शासन काल में भी दिल्ली सल्तनत की स्थिति अधिक सुदृढ़ नहीं हो पायी। मात्र बलबन के प्रयत्नों से दिल्ली का तुर्क साम्राज्य बचा रहा। ऐसी स्थिति में ही 1266 ई. नासिरुद्दीन की मृत्यु हो गई।

गियासुद्दीन बलबन—कुछ इतिहासकारों की मान्यता है कि सुल्तान पद के लोभ में बलबन ने नासिरुद्दीन को जहर देकर मार डाला। किन्तु प्रो. ए. बी. हबीबुल्ला के अनुसार नासिरुद्दीन की अचानक मृत्यु हो गई और क्योंकि उसके कोई पुत्र नहीं था, अतः बलबन ने राज्य-सिंहासन पर अधिकार कर लिया और वह 1266 ई. में गियासुद्दीन बलबन के नाम से दिल्ली सल्तनत का सुल्तान बना।

डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव के अनुसार बलबन तुर्किस्तान के इल्बारी तुर्क कबीले का था। बचपन में ही मंगोलों के हाथों पड़ गया, जिन्होंने उसे एक गुलाम के रूप में बगदाद में ख्वाजा जलालुद्दीन बसरी के हाथों बेच दिया। बाद में वह दिल्ली लाया गया, जहाँ इल्तुतमिश ने उसे खरीदा। लेकिन गुलाम होते हुए भी उसने इल्तुतमिश को बड़ा प्रभावित किया और इल्तुतमिश ने उसे अमीरे-शिकार का पद दिया। रजिया के शासन काल में वह रजिया का विरोधि रहा। किन्तु उसके पश्चात् बहराम के शासन काल में वह 'अमीरे-आखूर' बना तथा इसके बाद वह रेवाड़ी और हाँसी का

सूबेदार रहा और दिनोदिन तरक्की करता गया। सुल्तान नासिरुद्दीन के शासन काल मे वह नाइब बना और साम्राज्य की सम्पूर्ण सत्ता उसके हाथों में आ गई। अन्त में नासिरुद्दीन के बाद वह स्वयं सुल्तान बना।

सुल्तान बलवन की कठिनाइयाँ— सुल्तान बनने पर बलवन को कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। जिस समय वह शासक बना, उस समय साम्राज्य का खजाना रिक्त था। तुर्क सरदारों में विद्रोह की प्रवृत्ति विद्यमान थी। राजपूतों का विद्रोह एव मंगोलों के आक्रमणों की सम्भावनाएँ बलवती थी। शासन-व्यवस्था बिगड़ी हुई थी और अमीरों व सरदारों में अनुशासन नहीं था।

राज्य के आदर्श की स्थापना—बलवन एक योग्य शासक था। उसने प्रशासनिक व्यवस्था को सुधारने के लिए साम्राज्य के सरदारों में अनुशासन उत्पन्न करना आवश्यक समझा। इस हेतु सर्वप्रथम उसने सुल्तान के पद को अधिक प्रभावशाली बनाया। उसने सुल्तान को देवता का प्रतिनिधि घोषित किया तथा इस मान्यता को बल दिया कि राजा के आदेश का उल्लंघन ईश्वर के आदेशों का उल्लंघन है। सुल्तान के गौरव को प्रदर्शित करने के लिए उसने अपने दरबार को इरानी ढंग से सुसज्जित किया तथा सिजदा और पायबोस (बादशाह को झुककर सलाम एवं उसके पाँवों को चुमना) के नियम लागू किए। उसने सरदारों के षड्यन्त्रों को रोकने के लिए शराब पीकर दरबार में आने एवं हँसी-मजाक करने पर रोक लगा दी। इसके साथ ही अमीरों को दबाने के लिए बलवन ने चालीस गुलामों के दल की शक्ति को तोड़ा। उसने सामान्य अपराधों पर भी इस दल के सदस्यों को कठोर दण्ड देना प्रारम्भ किया तथा छोटे सरदारों को उच्च पद देने प्रारम्भ किए। इससे अमीरों का शासन में हस्तक्षेप कम हुआ और वे साम्राज्य के प्रति नतमस्तक रहने लगे।

सैनिक सुधार—बलवन ने साम्राज्य को मजबूत बनाने के लिए सेना में भी सुधार किए। उसने बूढ़े, अयोग्य व भ्रष्ट सैनिक को पेन्शन दे दी गई तथा उनकी जागीरें समाप्त कर दीं। उसके स्थान पर योग्य सैनिकों को भर्ती किया तथा नकद वेतन देने की प्रथा लागू की। उसने एक गुप्तचर विभाग का भी संगठन किया। इस विभाग से उसे साम्राज्य के हर प्रान्त में घटने वाली घटनाओं की सूचना मिलती रहती थी, जिससे वह अपने विरुद्ध उठने वाले कुचक्रों एवं षड्यन्त्रों को दबाने के लिए समय पर उचित कदम उठा सकता था।

विद्रोह दमन—बलवन की यह सम्पूर्ण व्यवस्था इसलिए थी कि उसके साम्राज्य में विद्रोह या बगावत न हो। किन्तु सुल्तान के पद ग्रहण करते समय कई हिन्दुओं ने विद्रोह कर उत्पात मचा रखा था। इनको दबाने और साम्राज्य में शान्ति स्थापित करने के लिए बलवन ने 'रक्त और लौह' की नीति को अपनाया। बलवन ने दिल्ली के पास उपद्रव करने वाले मेवातियों तथा दोआब के हिन्दू विद्रोहियों को क्रूरता से दबाया। किन्तु उसे राजपूताना एवं बुन्देलखण्ड के विद्रोहियों को दबाने में सफलता नहीं मिली। बलवन ने बंगाल के तुगरिलबेग के विद्रोह का भी दमन किया और यहाँ अपने पुत्र बुगराखां को राज्यपाल नियुक्त किया।

मंगोल नीति—बलवन के शासन काल में साम्राज्य की उत्तरी-पश्चिमी सीमा पर मंगोल बार-बार आक्रमण कर लाहौर तक घावे मारने लगे । मंगोलों की गतिविधियों को रोकने के लिए बलवन ने सीमान्त क्षेत्र के पुराने दुर्गों की मरम्मत करवाई तथा महत्त्वपूर्ण सैनिक स्थानों पर नए दुर्ग बनवाए, जहाँ पर अनुभवी और विश्वासपात्र अधिकारियों को सेना के साथ नियुक्त किया । यद्यपि इस व्यवस्था से मंगोल रावी नदी से आगे नही बढ़ सके, किन्तु बलवन को मंगोल आक्रमणों को रोकने में स्थाई सफलता नहीं मिली । उसका बड़ा पुत्र मुहम्मद मंगोल से संघर्ष में ही मारा गया और इसी संदर्भ से 1287 ई. में अस्सी वर्ष की उम्र में बलवन की मृत्यु हो गई

बलवन का व्यक्तित्व एवं मूल्यांकन—बलवन का दिल्ली सल्तनत के तुर्क शासकों में महत्त्वपूर्ण स्थान है । यद्यपि डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव, प्रो. हबीबुल्ला तथा प्रो. निजामी ने बलवन के सैनिक एवं शासनिक कार्यों में कई दोष बताए हैं, फिर भी बलवन को इतिहासकारों ने एक योग्य शासक के रूप में स्वीकार किया है तथा उसे अपनी सल्तनत में शान्ति-व्यवस्था स्थापित करने का श्रेय दिया है । वस्तुतः बलवन ने सुल्तान इल्तुतमिश के उत्तराधिकारियों के काल में पैदा होने वाली अराजकता को समाप्त किया तथा कई विद्रोहों को दरबार सुल्तान की प्रतिष्ठा को पुनः स्थापित किया । इसके अतिरिक्त उसमें एक कुशल सैनिक, यौद्धा एवं नीति-निपुर्ण प्रशासक के गुण भी विद्यमान थे । डॉ. ईश्वरीप्रसाद ने बलवन के कार्यों की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि बलवन ने घोर संकट की स्थिति में अल्पवयस्क मुसलमान राज्य को सुरक्षित रखा और उसे नष्ट होने से बचाया ।" वास्तव में बलवन की नीति और कार्यों में मौलिकता और व्यावहारिकता थी । उसने जिस रीति-नीति को संस्थापित किया, वह आगे आने वाले खलीज शासकों के लिए आदर्श साबित हुई और अलाउद्दीन ने उसी का अनुसरण किया । ऐसे स्थिति में जो भी सफलताएँ बलवन ने प्राप्त की थी, उसके आधार पर दिल्ली सल्तनत के तुर्क (तथाकथित गुलाम) सुल्तानों में बलवन का इल्तुतमिश के बाद दूसरा महत्त्वपूर्ण स्थान है ।

बलवन के उत्तराधिकारी और तुर्क सुल्तानों के शासन का अन्त—बलवन ने अपने जीलन काल में ही अपने सबसे बड़े पुत्र मुहम्मद के लड़के कैखुसराव को अपना उत्तराधिकारी मनोनीत किया था । किन्तु बलवन की मृत्यु के बाद कैखुसराव गद्दी पर नहीं बैठ सका । दिल्ली के कोतवाल फखरुद्दीन ने बलवन के दूसरे पुत्र बुगराखाँ के लड़के कैकुबाद को सुल्तान बनाया । किन्तु कैकुबाद सुल्तान बनते ही विलासिता में डूब गया और कोतवाल के दामाद निजामुद्दीन ने राजगद्दी पर अधिकार करने का प्रयत्न किया, किन्तु वह इसमें सफल न हो पाया । इसी समय कैकुवाद ने जलालुद्दीन फीरोज खलजी को अपना सेनापति नियुक्त किया । किन्तु, इससे तुर्क सरदार नाराज हुए और उन्होंने जलालुद्दीन को मारने का षड्यन्त्र किया । ऐसे समय में कैकुवाद को लकवा मार गया और तुर्क सरदारों ने उसके तीन वर्ष के पुत्र क्यूमर्स को शमशुद्दीन

के नाम से सुल्तान घोषित किया। तुर्क सरदारों ने जलालुद्दीन का अन्त करने की दृष्टि से इस अवसर को उपयुक्त मानकर जलालुद्दीन को दिल्ली आकर सुल्तान से मिलने का आदेश दिये। लेकिन जलालुद्दीन सब समझता था। उसने अपनी सेना के साथ दिल्ली की ओर प्रस्थान किया और दिल्ली पहुँचकर उसने दिल्ली के कोतवाल एवं सुल्तान के बच्चों को कैद कर लिया। सुल्तान के संरक्षक के रूप में शासन की बागडोर अपने हाथ में ले ली। इसके तीन माह बाद ही क्यूमर्स की हत्या कर दी गई और जलालुद्दीन ने दिल्ली सल्तनत की गद्दी पर अधिकार कर लिया। इसके साथ ही दिल्ली सल्तनत के राज्य से तुर्क (तथाकथित दास) सुल्तानों के शासन का अन्त हुआ।

दिल्ली सल्तनत के खलजी सुल्तान और उनका शासन
(खलजी वंश)

जलालुद्दीन खलजी —दिल्ली सल्तनत के राज्य-सिंहासन पर खलजी सत्ता को स्थापित करने वाला जलालुद्दीन तुर्क जाति का था। उसके पुरखे अफगानिस्तान के हेलमन्द इलाके के रहने वाले थे। मंगोलों के साथ बहुत पहले से ही वे भारत में आकर रहने लगे थे और तुर्क सुल्तानों की सेवा में थे। जलालुद्दीन भी तुर्कों की सेना में था। अपनी योग्यता के कारण तुर्क सुल्तानों से काल में उसने बड़ी उन्नति की। सुल्तान बनने से पहले वह समाना का सूबेदार था। बलबन की मृत्यु के बाद दिल्ली सल्तनत की बिगड़ती हुई स्थिति का लाभ उठाकर उसने दिल्ली की राजगद्दी पर अधिकार कर लिया तथा 3 जून 1290 ई. को अपना राज्याभिषेक करवाकर वह दिल्ली सल्तनत का सुल्तान बना। उसके राज्याभिषेक के साथ दिल्ली पर खलजी वंश का शासन प्रारम्भ हुआ।

जलालुद्दीन की नीति एवं उसके शासन काल की प्रमुख घटनाएं—सुल्तान बनने के समय जलालुद्दीन वृद्ध हो चुका था। उसकी उम्र 70 वर्ष की थी। अतः अब उसकी रुचि सैनिक अभियानों और युद्ध की नहीं रह गई थी। इसलिए सुल्तान बनने पर उसने शान्ति, उदारता और समझौते की नीति को अपनाया। उसने अपने सम्बन्धियों को उच्च पद दिए और तुर्की सरदारों को उसके पूर्व पदों पर बना रहने दिया।

किन्तु जलालुद्दीन की उदार नीति के परिणाम विपरीत निकले और राज्य में विद्रोह होने लगे। 1290 ई. में ही कड़ा-मानिकपुर के सूबेदार मलिक छज्जू ने विद्रोह किया। यद्यपि इस विद्रोह को दबा दिया गया, किन्तु जलालुद्दीन ने विद्रोहियों को दण्डित करने के स्थान पर उन्हें सम्मानित किया। इसी प्रकार एक शराब की दावत में उसके कुछ सरदारों ने ताजुद्दीन कूची को शासक बनाने की घोषणा की किन्तु इन सरदारों और ताजुद्दीन को भी जलालुद्दीन ने माफ कर दिया। उसके शासन काल में ईरान से आकर भारत में बसने वाले फकीर सिद्दीमौला ने सल्तनत की राजनीति में हस्तक्षेप कर सुल्तान से विरुद्ध षड्यन्त्र किया। षड्यन्त्र का पता

चलने पर सुल्तान ने सिद्दीमोला की हत्या करवा दी। जलालुद्दीन के शासन काल की मात्र यही एक क्रूरता-कठोरता की घटना थी। अन्यथा 1291ई. में रणथम्भौर को जीतने के लिए रणथम्भौर के किले तक पहुँच कर भी हजारों मुसलमानों की मृत्यु न हो, इस कारण वह बिना आक्रमण किए ही रणथम्भौर से वापस लौट आया। इसी प्रकार मंगोल आक्रमणकारियों को भी छोटी-छोटी लड़ाइयों में परास्त कर, कैद किए जाने वाले मंगोलों को दण्ड देने के स्थान पर उसने उनसे सन्धि की। इन मंगोलों में से चंगेजखाँ के वंशज उलगूखां ने अपने कई साथियों के साथ इस्लाम ग्रहण किया। ये मंगोल नए मुसलमान कहलाए।

जलालुद्दीन के शासन काल की घटनाओं में उसके भतीजे व दामाद अलाउदीन खलजी का मालवा में भिलसा पर आक्रमण और दक्षिणी भारत में देवगिरि की विजयें प्रमुख थीं। अलाउद्दीन कड़ा का सूबेदार था। उसने 1292 ई. में मालवा में स्थित भिलसा पर आक्रमण किया और वहाँ से बहुत-सी धन-सम्पत्ति लूट लाया। सम्पत्ति का एक भाग उसने जलालुदीन के पास भेजा। प्रसन्न होकर जलालुद्दीन ने अलाउद्दीन को अपने राज्य के महत्त्वपूर्ण सूबे अवध का सूबेदार नियुक्त किया। इससे उत्साहित होकर अलाउद्दीन ने दक्षिणी भारत के एक राज्य देवगिरि पर आक्रमण किया तथा वहाँ के राजा रामचन्द्र देव को परास्त कर अतुल धन-सम्पत्ति प्राप्त की। लेकिन, अपनी सफलताओं और विपुल धन-सम्पदा से अलाउद्दीन की महत्त्वाकाँक्षाएँ जाग उठीं और उसने कपट से जलालुद्दीन का वध कर दिल्ली पर अपना अधिकार कर लिया।

अलाउद्दीन खलजी—अलाउद्दीन जलालुद्दीन के भाई शिहाबुद्दीन मसूद खलजी का पुत्र था। जलालुद्दीन के साथ रहकर उसने कई महत्त्वपूर्ण सैनिक कार्यों में भाग लिया था। जलालुद्दीन उसको बहुत प्यार करता था। इसलिए, उसने अलाउद्दीन को आगे बढ़ाने में काफी सहयोग दिया था। किन्तु, अलाउद्दीन ने अपने चाचा के सहयोग, उदारता और विनम्रता का प्रतिफल भली प्रकार नहीं दिया। बल्कि इसके विपरीत उसने स्वयं को आगे बढाने वाले अपने चाचा और श्वसुर, सुल्तान जलालुद्दीन का वध कर दिल्ली पर अधिकार कर लिया। 1296 ई. में वह दिल्ली सल्तनत का सुल्तान बना।

अलाउद्दीन खलजी की कठिनाइयां—अलाउद्दीन खलजी शासक तो बन गया, किन्तु प्रारम्भ मे उसकी स्थिति अनिश्चितता की रही। उसके विश्वासघातपूर्ण कार्य से जनता उससे नाराज थी। जलालुद्दीन के समर्थक उसके विरोध में थे।। उत्तर-पश्चिम सीमा पर खोखरों और मंगोलों का खतरा बराबर बना हुआ था। राजस्थान और गुजरात के अधिकांश राजपूत राज्य स्वतन्त्र थे। मालवा और बुन्देलखण्ड के राजपूत भी शक्तिशाली थे। सल्तनत की शासन-व्यवस्था भी असंगठित थी।

अलाउद्दीन के प्रारम्भिक कार्य—इन विपरी परिस्थितियों में अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए अलाउद्दीन ने चतुराई एवं कूटनीति से काम लिया। जनता

को प्रसन्न करने के लिए अलाउद्दीन ने जनता में खूब धन वितरित किया। वफादार सरदारों को ऊँचे-ऊँचे पद दिए और विरोधी सरदार, जो उसकी सेवा में आए, उन्हें भी उसने अपने पूर्व पदों पर रहने दिया। इसके साथ ही राजगद्दी के दावेदारों का अन्त करने के लिए उसने जलालुद्दीन के पुत्रों और महत्त्वपूर्ण विरोधी सरदारों को मरवा डाला। इसके बाद 1297 ई. और 1299 ई. में होने वाले मंगोल आक्रमणों को अलाउद्दीन ने विफल किया तथा अकताखाँ, मंगूखाँ, हाजीमौला आदि विद्रोहियों को सफलतापूर्वक समाप्त किया। इस प्रकार, धन व पदों के वितरण और शक्ति के आधार पर अलाउद्दीन ने सुल्तान के रूप में अपनी प्रतिष्ठा स्थापित कर ली।

सरदारों पर प्रतिबन्ध—यद्यपि अलाउद्दीन अपनी शक्ति को संस्थापित करने में सफल हुआ और उसने अपने विरोधियों का कठोरतापूर्वक दबा दिया, फिर भी इसके लिए उसको जो कुछ करना पड़ा उससे अलाउद्दीन ने यह अनुभव किया कि साम्राज्य के अमीरों की सुख-सुविधा, धन-सम्पत्ति, उनका आपसी मेल-जोल आदि अमीरों व सरदारों को सुल्तान के विरुद्ध षड्यन्त्र करने को प्रेरित करते हैं। अतः तत्काल अलाउद्दीन ने अमीरों को दबाने के लिए कठोर कदम उठाए। उसने आर्थिक दबाव की नीति को अपनाया। उसने अमीरों पर राज्य की ओर से होने वाले खर्च पर पाबन्दी लगा दी तथा माफी की जागीरें जब्त कर लीं। सरदारों के पारस्परिक मिलन, दावतों, मदिरापान और बिना आज्ञा वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने पर रोक लगा दी। साथ ही, उसने साम्राज्य में गुप्तचरों का जाल बिछा दिया। अलाउद्दीन के इन कार्यों से सरदारों की शक्ति, षड्यन्त्र एवं विद्रोही प्रवृत्ति का अन्त हुआ।

हिन्दुओं का दमन—हिन्दुओं की विद्रोही प्रवृत्ति को दबाने के लिए भी अलाउद्दीन ने आर्थिक दबाव की नीति को अपनाया। उसने हिन्दुओं पर कर बढ़ा कर उपज का $\frac{1}{2}$ भाग कर दिया। इसके अतिरिक्त उन पर जजिया और दूसरे कर भी लगाए गए। साथ ही, हिन्दु अधिकारियों की सभी सुविधाएं समाप्त कर दी गईं। इससे हिन्दू शक्तिहीन हो गए।

अलाउद्दीन की महत्त्वाकांक्षा—अलाउद्दीन बड़ा महत्त्वाकांक्षी था। वह सिकन्दर की तरह विश्वविजयी तथा हजरत मुहम्मद की तरह नया धर्म-संस्थापक बनना चाहता था। किन्तु, दिल्ली के कोतवाल के समझाने पर उसने धर्म-संस्थापना और विश्व-विजय का विचार तो छोड़ दिया, पर सम्पूर्ण भारत को जीतने का निश्चय किया। अपने इस निश्चय की पूर्ति के लिए उसने उत्तरी एवं दक्षिणी भारत के विभिन्न राज्यों पर आक्रमण किए और अपने साम्राज्य का प्रसार किया।

अलाउद्दीन की विजयें

उत्तरी भारत की विजयें—अपनी साम्राज्यवादी मनोवृत्ति को शान्त करने के लिए अलाउद्दीन ने सबसे पहले गुजरात के बघेल राजा कर्ण पर आक्रमण किया। कर्ण बिना युद्ध किये ही युद्धभूमि से भाग गया और गुजरात अलाउद्दीन के साम्राज्य

का अंग बन गया। इसके पश्चात् अलाउद्दीन की सेनाओं ने रणथम्भौर पर आक्रमण किया। रणथम्भौर के शासक राणा हम्मीर ने इसका विरोध किया और अलाउद्दीन के सेनापति को परास्त किया। फलतः स्वयं अलाउद्दीन ने आकर रणथम्भौर पर आक्रमण किया। लम्बे युद्ध के बाद हम्मीर अपने भाई वीरम के साथ वीरगति को प्राप्त हुआ। उसकी रानी रंगादेवी ने कई राजपूत स्त्रियों के साथ 'जौहर' किया। रणथम्भौर पर अलाउद्दीन का अधिकार हो गया।



भारत के महासर्वेक्षक की अनुज्ञानुसार भारत सर्वेक्षण विभागीय मानचित्र पर आधारित। © भारत सरकार का प्रतिलिप्यधिकार, 1978
समुद्र में भारत का जलप्रदेश उपयुक्त आधार रेखा से मापे गये बारह समुद्री मील की दूरी तक है।
इस मानचित्र में दिये गये नामों का अक्षर-विन्यास विभिन्न सूत्रों से लिया गया है।

अलाउद्दीन खलजी का साम्राज्य

चित्तौड़ विजय—उत्तरी भारत के विजय अभियान में 1303 ई. में अलाउद्दीन ने चित्तौड़ पर आक्रमण किया। इस समय मेवाड़ का शासक रावल रत्नसिंह था। कहा जाता हैं कि रत्नसिंह की रानी पद्मिनी बड़ी रूपवती थी और उसको प्राप्त करने के लिए अलाउद्दीन ने चीतौड़ पर आक्रमण किया था। यद्यपी अधिकांश विद्वान इस

बात को ऐतिहासिक नहीं मानकर अलाउद्दीन के चित्तोड़ के आक्रमण का उसकी साम्राज्य प्रसार की नींति का ही अंग मानते हैं, किन्तु डॉ. दशरथ शर्मा—प्राचीन साहित्य के आधार पर इसे सत्य मानते हैं। कुछ भी हो, अलाउद्दीन ने चित्तोड़ पर आक्रमण किया। रत्नसिह ने राजपूत वीरों के साथ लगभग सात माह तक अलाउद्दीन से लोहा लिया। किन्तु अन्त में अलाउद्दीन विजयी हुआ। रत्नसिह राजपूत वीरो के साथ युद्ध में मारा गया। उसकी रानी पद्मिनी ने राजपूत वीरांगनाओं के साथ जौहर किया और चित्तोड़ के किले पर अलाउद्दीन का अधिकार हो गया। अलाउद्दीन ने अपने पुत्र खिज्रखां को चित्तौड का अधिकारी बनाया और चित्तौड़ का नाम बदलकर खिज्राबाद रखा गया। थोड़े समय के बाद खिज्रखाँ को हटाकर चित्तौड मालदेव के अधिकार में दे दिया गया। परन्तु अलाउद्दीन का चितौड पर अधिक समय तक अधिकार नहीं रह पाया। मेवाड़ के शासकों के वंश से सम्बन्धित राणा शाखा के एक वंशज हम्मीर ने 1321 ई. में चित्तौड पर अधिकार कर लिया और चित्तौड पुनः मेवाड़ की राजधानी बन गया।

उत्तरी भारत की अन्य विजयें—चित्तौड की विजय के पश्चात् अलाउद्दीन ने मालवा पर आक्रमण किया और माण्डु के किले पर अधिकार किया। इसी तरह उसने सिवाना पर भी अधिकार किया और जालौर पर आक्रमण किया। डॉ. दशरथ शर्मा के अनुसार जालौर के शासक कान्हणदेव ने मुसलमानों का कड़ा विरोध किया। किन्तु कई वर्षों के संघर्ष के बाद कान्हणदेव पराजित हुआ और मारा गया। जालौर पर अलाउद्दीन का अधिकार हो गया।

दक्षिणी भारत की विजय—उत्तरी भारत को जीतकर अलाउद्दीन ने दक्षिण में विजय अभियान प्रारम्भ किया। उसके दक्षिण के विजय अभियान का नेता मलिक काफूर था। मलिक काफूर ने निरन्तर विजय प्राप्त करते हुए देवगिरी के यादवों, तेलंगाना के काकताइयों, द्वारसमुद्र के होयसलों तथा मदुरा के पाण्डवों के राज्यों को रौंद डाला और मैदान पर मैदान जीतता हुआ वह रामेश्वरम् तक पहुँच गया। इन आक्रमणों में अलाउद्दीन को अपार धन-सम्पत्ति प्राप्त हुई और उसका साम्राज्य काफी विस्तृत हो गया।

मंगोल नीति—अलाउद्दीन के समय मंगोलों ने दिल्ली पर सीधे आक्रमण करने प्रारम्भ किए। किन्तु अलाउद्दीन ने बलवन की नीति का अनुसारण कर मंगोलों का सफलतापूर्वक सामना किया। उसने साम्राज्य की उत्तारी-पश्चिमी सीमा की सुरक्षा के लिए पुराने किलों की मरम्मत करवाई, नये दुर्ग बनवाए और उसमें योग्य व विश्वस्त अधिकारियों को नियुक्त किया। साथ ही, उसने मंगोलों पर भयंकर अत्याचार किए, जिससे मंगोल काँप उठे। फलतः मंगोल अलाउद्दीन के शासनकाल में भारत पर आक्रमण करना भूल गए।

राजत्व—अलाउद्दीन से पहले दिल्ली के राजसिंहासन पर बैठने वाले सभी सुल्तानों की शासन नीति धर्म से प्रभावित थी। किन्तु अलाउद्दीन अपनी शासन

नीति को मुल्ला-मौलवियों के अनावश्यक हस्तक्षेप से मुक्त किया। ऐसा करके उसने सुल्तान की शक्ति को बढ़ाया। वह राजा के दैवी अधिकारों का हामी था। उसका शासन पूर्णरूपेण निरंकुश था और सुल्तान ही सर्वेसर्वा था।

सैनिक सुधार—अलाउद्दीन यह समझता था कि उसके निरंकुश शासन का आधार सैनिक शक्ति हैं। अतः उसने प्रचलित सैनिक व्यवस्था में सुधार किए। उसने सैनिकों की सीधी भर्ती की व्यवस्था की तथा सैनिक जागीर—प्रथा को समाप्त कर नकद वेतन देना प्रारम्भ किया। उसने सैनिकों को नित्य कवायद (ड्रील) की परम्परा प्रारम्भ की। उसने घोड़ों को दागने की प्रथा को भी प्रारम्भ किया। इन सैनिक सुधारों से उसकी सेना सुदृढ़ हो गई तथा सैनिक भ्रष्टाचार समाप्त हुआ।

बाजार नियन्त्रण—सैनिक सुधार और सैनिकों की संख्या में अभिवृद्धि के कारण राजकोष पर भारी भार पड़ा। तब अलाउद्दीन ने वस्तुओं की दर कम करने की सोची तथा दैनिक उपयोग की वस्तुओं के मूल्य निर्धारित कर दिए। उसने व्यापारियों को निश्चित मूल्य पर व्यापार करने को विवश किया। किसानों से प्राप्त सारा अनाज, इन व्यापारियों को सरकारी भण्डार में देना पड़ता था। इस भण्डार से फुटकर दुकानदारों को माल दिया जाता था, जिने वे निर्धारित मूल्य पर ही जनता को बेच सकते थे। व्यापारियों के नाम रजिस्टर में दर्ज कर लिये जाते थे। दूकानदारो के नियन्त्रण के लिये गुप्तचरों और ईमानदार अधिकारियों को नियुक्त किया गया। कम तोलने वालों तथा निर्धारित मूल्य से अधिक मूल्य लेने वालों के लिए कठोर दण्ड की व्यवस्था की गई। उसकी यह व्यवस्था राजधानी दिल्ली तथा उसके आस-पास के क्षेत्र के लिए ही थी, परन्तु इसका प्रभाव समस्त साम्राज्य पर पड़ा।

भूमि सुधार—राज्य की आय वृद्धि के लिए अलाउद्दीन ने भूमि प्रबन्ध में भी सुधार किए। माफी और धार्मिक स्थानों को दी गई भूमि पर सरकार ने कब्जा कर लिया। उसने भूमि को मापकर लगान निर्धारित करवाना प्रारम्भ किया तथा दोआब के हिन्दुओं पर लगान 50 प्रतिशत कर लगा दिया, इससे राज्य की आय में वृद्धि हुई।

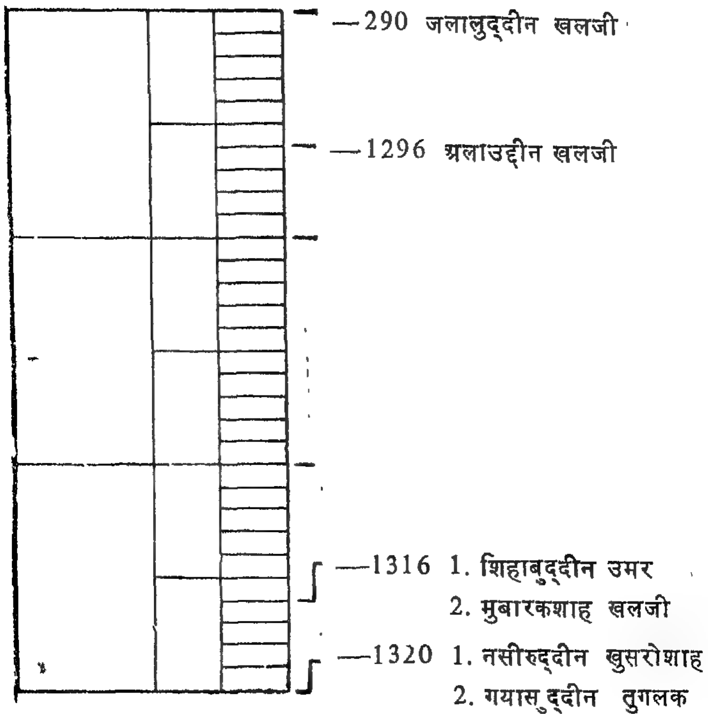
मृत्यु—शासक के रूप में कठोर निरंकुश सुल्तान अलाउद्दीन के अन्तिम दिन बड़े खराब बीते। धीरे-धीरे वह विलासी बन गया और वृद्धावस्था में उसके अशक्त हो जाने पर उसकी सम्पूर्ण व्यवस्था उसकी नजरों के सामने ही टूटने लगी। इन्हीं दुर्दिनों को देखते हुए 1316 ई. में अलाउद्दीन खलजी की मृत्यु हो गई।

व्यक्तित्व और मूल्यांकन—अलाउद्दीन के कार्यों से पता चलता है कि वह बड़ा महत्त्वाकांक्षी एवं धन-लोलुप था, किन्तु एक योग्य सैनिक एवं कुशल सेनापति था। उसमें शासन-संचालन और सैनिक संगठन की भी पूर्ण योग्यता थी। अलाउद्दीन खलजी ही पहला मुसलमान शासक था, जिसने समूचे भारत को जीतकर देश में राजनीतिक एकता कायम करने का प्रयत्न किया। उसने भारतवर्ष में मुसलमानों

उपर से नीचे



खलजी सुल्तानों के शासन का कालक्रम



पैमाना 1"—10 वर्ष

की राज्य शक्ति को सुदृढ बनाया। उसके सरदारों पर नियन्त्रण, मंगोलों से देश की रक्षा, शासन सुधार, बाजार नियन्त्रण आदि कार्य वास्तव में उसकी महत्त्वपूर्ण उपलब्धियां थीं। लेकिन, इन सबसे बढ़कर उसका महत्त्वपूर्ण कार्य राजनीति को धर्म के प्रभाव से मुक्त करना था। वस्तुतः यह उसकी बहुत बड़ी उपलब्धि थी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारत के मध्ययुगीन इतिहास का वह एक महान् शासक था।

अलाउद्दीन के उत्तराधिकारी एवं खलजी वंश का अन्त—अलाउद्दीन खलजी ने मलिक काफूर के प्रभाव से अपने जीवन काल में ही अपने बड़े पुत्र के स्थान पर अपने छोटे पुत्र शिहाबुद्दीन उमर को अपना अत्तराधिकारी मनोनीत किया। फलतः अलाउद्दीन की मृत्यु के बाद शिहाबुद्दीन खलजी शासक बना और काफूर ने उसका संरक्षक बनकर राज्य शक्ति अपने हाथों में ले ली। परन्तु 35 दिन के बाद अलाउद्दीन के तीसरे तुत्र मुबारक के प्रयत्नों से काफूर की हत्या कर दी गई और मुबारक 'कुतुबुद्दीन मुबारक खलजी' के नाम से शासक बना। वह भी चार वर्ष तक ही शासन कर पाया। उसके प्रिय सरदार खुसरव ने सत्ता के लोभ में आकर उसे मार डाला और वह 'नासिरुद्दीन खुसरवशाह' के नाम से शासक बना। लेकिन, चार माह और 23 दिन के पशचात् दीपालपुर के सूबेदार एवं सीमान्तरक्षक गाजी तुगलक ने खुसरव को परास्त कर दिल्ली के सिंहासन पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार अलाउद्दीन की मृत्यु के कुछ वर्षों बाद ही 1 20 ई. में खलजियों की सत्ता का अन्त हुआ।

अध्ययन का उपयोग

निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर दीजिये एवं अपने अध्ययन को उपयोगी बनाइये—

1. भारत में तुर्कों की राज्य सत्ता का संस्थापक कौन था ?
2. कुतुबुद्दीन ऐबक ने शासक के रूप में क्या-क्या महत्त्वपूर्ण कार्य किए ?
3. इल्तुतमिश को शासक बनने पर किन-किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा ? और उसने अपनी कठिनाइयों को किस प्रकार हल किया ?
4. रजिया असफल क्यों रही ?
5. बलबन ने राज्य-सत्ता और प्रशासन को शक्तिशाली बनाने के लिए क्या-क्या कार्य किए ?
6. जलालुद्दीन खलजी सफल शासक सिद्ध क्यों न हो पाया ?
7. शासक बनने पर अलाउद्दीन खलजी ने अपनी प्रतिष्ठा जमाने के लिए क्या-क्या कार्य किए ?
8. अलाउद्दीन ने उत्तरी भारत एवं दक्षिणी भारत के किन-किन राज्यों पर आक्रमण किए तथा उसके आक्रमणों के क्या परिणाम निकले ?
9. अलाउद्दीन खलजी ने शासनिक क्षेत्र में क्या-क्या सुधार किए ?

अध्ययन की जांच

सही उत्तर का क्रमाक्षर कोष्ठक में लिखिए—

1. इल्तुतमिस ने अपना उत्तराधिकारी रजिया को बनाया; इसका मुख्य कारण था—

(क) अमीरों व सरदारों द्वारा रजिया का समर्थन करना।
(ख) रजिया के अलावा इल्तुतमिश के अन्य सन्तान नहीं होना।
(ग) इल्तुतमिश के जीवित पुत्रों का अयोग्य होना।
(घ) रजिया द्वारा उत्तराधिकारी बनाये जाने की प्रार्थना करना ( )

2. बलवन ने राज्य-सत्ता की प्रतिष्ठा को बढाने के लिए सरदारों के परस्पर मिलने, दरबार में हँसी-मजाक एवं दावतों आदि पर प्रतिबन्ध लगाया, इसका प्रमुख कारण था —
(क) सरदारों को परेशान करना।
(ख) सरदारों को आतंकित करना।
(ग) सरदारों पर अपना प्रभुत्व जमाना।
(घ) सरदारों पर अनुशासनहीनता को समाप्त करना। ( )

3. अलाउद्दीन खलजी द्वारा किए गए बाजार नियन्त्रण का प्रमुख कारण था—
(क) जनता को राहत पहुँचाना।
(ख) अपने सैनिकों के खर्च को पूरा करना।
(घ) मूल्य वृद्धि को रोकना ( )

सोच-विचार कर उत्तर लिखिए—

1. कुतुबुद्दीन ऐबक द्वारा संस्थापित राज्यवंश को दासवंश कहना कहाँ तक युक्त-संगत है, तर्क प्रस्तुत करते हुए उत्तर लिखिए।
2. कुतुबुद्दीन ऐबक इल्तुतमिश एवं बलवन के कार्यों के आधार पर उनके व्यक्तित्व एवं सफलताओं का तुलनात्मक विवेचन कीजिए।
3. अलाउद्दीन खलजी के कार्यों के आधार पर शासक के रूप में उनका मूल्यांकन कीजिए।

निम्नलिखित क्रियात्मक कार्य कीजिये और अपना कौशल बढ़ाइये —

1. भारत के ऐतिहासिक मानचित्र में, इल्तुतमिश एवं अलाउद्दीन खलजी के साम्राज्यों तथा तत्कालीन प्रमुख राज्यों एवं नगरों को अंकित कीजिए।
2. दिल्ली सल्ततनत के तुर्क मुसलमानों एवं खलजी सुल्तानों की अलग-अलग समय रेखाएँ बनाइये ?

पूरक अध्ययन ग्रन्थ

1. डॉ. ईश्वरी प्रसाद : मध्यकालीन भारत का इतिहास
2. डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव : दिल्ली सल्तनत
3. ए. बी. पाण्डेय : पूर्व-मध्यकालीन भारत
4. शर्मा-व्यास : मध्यकालीन भारत

अध्याय 20

दिल्ली सल्तनत : विघटन और पतन

1. तुगलक वंश

दिल्ली पर अधिकार कर गाजी तुगलक गियासुद्दीन तुगलक के नाम से 8 सितम्बर 1320 ई० को दिल्ली का सुल्तान बना। इसके साथ ही दिल्ली पर एक नए वंश का शासन प्रारम्भ हुआ, जो इतिहास में 'तुगलक वंश' के नाम से प्रसिद्ध है।

गियासुद्दीन तुगलक तुगलक वंश का संस्थापक गाजी तुगलक उर्फ सुल्तान गियासुद्दीन एक साधारण परिवार का व्यक्ति था। उसका पिता मलिक तुगलक बलवन का एक तुर्क गुलाम था और माता हिन्दू जाट स्त्री थी। इस मिश्रित रक्त की सन्तान, गाजी तुगलक एक योग्य एव प्रतिभावान व्यक्ति था। वह एक सैनिक के रूप में दिल्ली के सुल्तानों की सेना में भर्ती हुआ था, किन्तु अपनी योग्यता के कारण उन्नति करता गया और अलाउद्दीन खलजी ने उसे दीपालपुर का सूबेदार और सीमान्त-प्रदेश का रक्षक नियुक्त किया। इस पद पर रहते हुए उसने कई सैनिक सफलताएँ प्राप्त कीं और अन्त में नासिरुद्दीन खुसरवशाह को युद्ध में परास्त कर वह दिल्ली का सुलतान बना।

गियासुद्दीन की कठिनाइयाँ—जिस समय गियासुद्दीन सुल्तान बना, उस समय दिल्ली सल्तनत की शक्ति एवं शासन व्यवस्था अस्त-व्यस्त थी। सरदार और अमीर राज्य के प्रति वफादार नहीं थे, जनता में सुल्तान के पद के प्रति सम्मान घट चुका था, राज्य का खजाना खाली था। ऐसी स्थिति में ही साम्राज्य के विभिन्न सूबों के शासक स्वतन्त्रता का व्यवहार करने लगे थे। समग्र रूप में सल्तनत का प्रभाव और शक्ति कमजोर हो रही थी।

गियासुद्दीन के आन्तरिक व्यवस्था सम्बन्धी कार्य—इन कठिनाइयों के बीच सुल्तान बनने पर गियासुद्दीन ने सल्तनत में शान्ति एवं शासन व्यवस्था स्थापित करने का प्रयत्न किया। इसके लिए उसने अपने सहयोगियों के साथ उदारता और विरोधियों के साथ कठोरता की नीति को अपनाया। उसने साम्राज्य के उच्च पदों पर योग्य एवं ईमानदार अधिकारियों को नियुक्त किया तथा उन लोगों को जागीरें वापस लौटा दीं, जिनसे अलाउद्दीन ने जागीरें छीनी थीं।

अपने प्रभुत्व की प्रतिष्ठा जमाने के इस कार्य के साथ गियासुद्दीन ने कृषि, लगान, न्याय एवं सैन्य व्यवस्था के क्षेत्र में भी सुधार किये। भूमि की पैमाइश के आधार पर लगान निर्धारित करने की प्रणाली को पुनः लागू किया, कर कम किए

और कृषि-योग्य भूमि का विस्तार करने का प्रयत्न किया । फलतः किसानों और सल्तनत की आर्थिक स्थिति अच्छी होने लगी । इसके अतिरिक्त उसने सड़कों और पुलों की मरम्मत करवा कर यातायात एवं डाक-व्यवस्था को श्रेष्ठ बनाया । अलाउद्दीन के काल की कठोर दण्ड-व्यवस्था को कम कर न्याय को उदार बनाया तथा सैन्य-प्रबन्ध में भी सुधार कर सेना को शक्तिशाली बनाया ।

विद्रोह-दमन—अलाउद्दीन खलजी की मृत्यु के बाद फैलने वाली अराजकता के कारण दिल्ली सल्तनत के विभिन्न भागों में विद्रोह होने लगे थे । गियासुद्दीन ने इन विद्रोहों का दृढ़तापूर्वक सामना किया । उसने देवगिरि के शंकरदेव, जिसने दिल्ली की आधीनता मानने से मना किया, को अपने अधीन किया । उसने तेलंगाना के विद्रोही शासक प्रतापरुद्रदेव को दबाने के लिए अपने पुत्र जूनाखाँ को भेजा, जिसने दूसरी बार आक्रमण में सफलता प्राप्त कर तेलंगाना को दिल्ली सल्तनत में सम्मिलित किया । इसी प्रकार गयासुद्दीन ने गुजरात के विद्रोह को भी दबाया और मंगोल आक्रमणकारियों को पराजित किया ।

बंगाल के विद्रोह का दमन और गियासुद्दीन की मृत्यु—अपने साम्राज्य में उठने वाले विद्रोहों को दबाने के क्रम में 1324 ई. में गियासुद्दीन स्वयं बंगाल में होने वाले विद्रोह को दबाने के लिए गया । इस अभियान में सफल रहा । उसने बंगाल में शान्ति स्थापित कर उसे अपने अधीन कर लिया और वहाँ से लौटते समय तिरहुत पर भी अधिकार कर लिया । किन्तु बंगाल और तिरहुत को अधीन कर जब गियासुद्दीन लौटा तो उसके स्वागत के लिए उसके पुत्र जूनाखाँ ने एक लकड़ी का महल बनवाया । उसी महल के गिर जाने से 1325 ई. में उसमें दब कर गियासुद्दीन और उसके छोटे पुत्र महमूद की मृत्यु हो गई । गियासुद्दीन की इस प्रकार होने वाली मृत्यु को लेकर इतिहासकारों में मतभेद है । डा. ईश्वरीप्रसाद का मत है कि जूनाखां ने गियासुद्दीन का अन्त करने के लिए ही लकड़ी का ऐसा महल बनवाया था, जो हाथियों की टक्कर से तुड़वा दिया गया और गियासुद्दीन उसमें दबकर मर गया । लेकिन, डॉ. मेंहदी हुसैन एवं डॉ. बी. पी. सक्सेना सुल्तान गियासुद्दीन की इस प्रकार होने वाली मृत्यु को एक मात्र दुर्घटना ही मानते हैं ।

मुहम्मद बिन तुगलक—गियासुद्दीन की मृत्यु के बाद 1325 ई. में उसका पुत्र जूनाखां 'मुहम्मद बिन तुगलक' के नाम से दिल्ली सल्तनत का सुलतान बना । मुहम्मद तुगलक एक योग्य प्रतिभा-सम्पन्न, महत्त्वाकाँक्षी तथा विद्वान् व्यक्ति था । उसके मस्तिष्क में विभिन्न दृष्टियों से अपने साम्राज्य को शक्तिशाली एवं समृद्ध बनाने की योजनाएं थीं । इसलिए सुलतान बनने पर प्रशासन को व्यवस्थित रखने एवं साम्राज्य को उन्नत करने के लिए उसने कई योजनाएँ बनाईं और उन्हें लागू करने का प्रयत्न किया ।

मुहम्मद तुगलक ने शासक बनने पर जिस रीति-नीति से कार्य किया तथा उसके क्रम में साम्राज्य में जो घटनाएं घटीं, उनको चार भागों में प्रस्तुत किया जा सकता है —(क) शासन सुधार के प्रयत्न अथवा योजनाएँ (ख) मंगोल आक्रमण,

(ग) सैनिक अभियान योजना और साम्राज्य विस्तार और (घ) विद्रोह और सल्तनत का विघटन।

(क) मुहम्मद तुगलक के शासन सुधार के प्रयत्न अथवा योजनाएँ

(1) **राजस्व सुधार**—मुहम्मद तुगलक के मस्तिष्क में मूलतः जन-कल्याण की भावना थी। वह अपने साम्राज्य की आर्थिक स्थिति सुधार कर इस ओर आगे बढ़ना चाहता था। अत. सर्वप्रथम उसने साम्राज्य के प्रांतों की आय-व्यय के रजिस्टर बनवाए तथा सूबों के अधिकारियों को अपना हिसाब भेजने के आदेश दिए। इससे साम्राज्य की आय तथा व्यय का उचित पता चला और कर विभाग के काम में सुधार आया।

(2) **कृषि की उन्नति के प्रयत्न व कृषि विभाग की स्थापना**—साम्राज्य की आय में वृद्धि करने हेतु मुहम्मद तुगलक ने कृषि की उन्नति पर ध्यान दिया। उसने एक कृषि विभाग की स्थापना की और बंजर भूमि पर खेती करवाने का प्रयत्न किया। किन्तु नई भूमि पर काफी पैसा लगाने पर भी आय अधिक नहीं हुई। इस कार्य में राज्य कर्मचारियों का उसे सहयोग नहीं मिला। परिणामस्वरूप उसकी यह योजना असफल रही।

(3) **दोआब पर कर-वृद्धि**—मुहम्मद तुगलक ने यह अनुभव किया कि गंगा और यमुना के मध्य का 'दोआब' का भू-भाग उपज की दृष्टि से समृद्ध है। वहाँ के लोगों से यदि कर अधिक लिया जाय तो उन पर भार नहीं पड़ेगा और राज्य की आय भी बढ़ेगी। इस दृष्टि से उसने दोआब पर कर की दरों में वृद्धि कर दी। किन्तु उसी वर्ष दोआब में अकाल पड़ा। जनता की स्थिति 'सामन्य कर' अदा करने की भी नहीं रही। भारी करों के भय से कृषि-कार्य छोड़ कर लोग भागने लगे और चारों ओर सुल्तान का विरोध होने लगा। सुल्तान ने विरोध को दबाया और अकाल की स्थिति का भान होने पर लोगों के दुःख दूर करने के प्रयत्नों में भी कसर नहीं छोड़ी। किन्तु भ्रष्ट कर्मचारियों के कारण राहत कार्य विफल रहे, सुल्तान अपनी योजना में असफल ही नहीं रहा, बल्कि बदनाम भी हुआ।

(4) **राजधानी परिवर्तन**—सुरक्षा की दृष्टि से मुहम्मद तुगलक ने अपने साम्राज्य की राजधानी देवगिरि ले जाने की योजना बनाई। देवगिरि की स्थिति साम्राज्य के मध्य में थी और वह स्थान मंगोल आक्रमणों से सुरक्षित था। पर, यह योजना भी सुलतान को मंहगी पड़ी। सुल्तान के आदेश पर दिल्ली की पूरी जनता राजधानी के लिए रवाना हुई। मार्ग में जनता को अनेक कष्ट सहने पड़े और इधर सुल्तान के दिल्ली छोड़ते ही उत्तरी भारत में अराजकता मच गई। इसी समय मंगोल आक्रमण भी प्रारम्भ हो गए। विवश होकर मुहम्मद तुगलक को पुन. दिल्ला को राजधानी बनाना पड़ा। इससे पुन· जनता को देवगिरी से दिल्ली आने का कष्ट हुआ। परिणामस्वरूप सुलतान की योजना विफल रही और आलोचना का विषय बन गई।

(5) **तांबे की सांकेतिक मुद्रा का प्रचलन** – अपनी विभिन्न याजनाओं को पूरा करने के प्रयत्न मे मुहम्मद तुगलक का राजकोष रिक्त हो गया। कोष मे सोने-चाँदी के सिक्कों की कमी पड़ गयी और अर्थ-व्यवस्था बिगड़ने लगी। तब सुल्तान ने ताँबे का नया सिक्का चलाने की योजना बनाई और उसका मूल्य चाँदी के सिक्के के बराबर रखा। किन्तु मुहम्मद तुगलक ने जाली सिक्कों पर नियन्त्रण रखने की तरफ कोई ध्यान नहीं दिया। अतः लोगों ने जी भरकर जाली सिक्के बनाना प्रारम्भ किया। इन्हीं सिक्कों में भूमि कर चुकाया जाने लगा। राजकोष ताँबे के सिक्कों से भर गया। किन्तु, विदेशी व्यापारियों ने इन सिक्को को लेने से मना किया। फलतः व्यापार वाणिज्य ठप्प होने लगा। विवश होकर सुल्तान ने ताँबे के सिक्कों को बन्द कर दिया और लोगों को ताँबे के स्थान पर सोने-चाँदी के सिक्के दिए गए। इससे राजकोष और खाली हो गया और आर्थिक-व्यवस्था सुधरने के स्थान पर बिगड़ गई और मुहम्मद तुगलक की यह योजना आलोचना का कारण बनी।

(ख) मंगोल आक्रमण

मुहम्मद तुगलक के काल में ट्राँसआक्सियाना के मंगोल नेता तर्मासिरिन ने भारत पर आक्रमण किया। इसामी के मतानुसार मुहम्मद तुगलक ने मगोल को परास्त कर भगा दिया। किन्तु फिरिस्ता के वर्णनों के आधार पर पर डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव एवं डॉ. ईश्वरीप्रसाद का मत हैं कि मुहम्मद तुगलक ने रिश्वत या भेंट देकर बिना युद्ध किए मंगोल आक्रमणकारियों को पुनः लौटाया। अधिकाँश इतिहास-कार इसी मत को स्वीकार करते हैं। यदि यह सत्य है तो स्पष्ट होता है कि मंगोलों के समक्ष भी मुहम्मद बिन तुगलक असफल रहा।

(ग) साम्राज्य विस्तार योजना और सैनिक अभियान

(1) **खुरासान एवं ईरान विजय योजना**—मुहम्मद तुगलक को उत्तराधिकार में एक विस्तृत साम्राज्य मिला था। किन्तु वह अपने मन में साम्राज्य-विस्तार का एक सुनहरा सपना सजोए हुए था, अतः उसने खुरासान और ईरान को जीतने की योजना बनाई और इसके लिए एक विशाल सेना एकत्रित की। किन्तु, मध्य एशिया की राजनीतिक परिस्थितियां बदल जाने से मुहम्मद तुगलक इस योजना को कार्यान्वित नहीं कर सका और उसका यह कार्य भी उसकी असफल योजनाओं में सम्मिलित हुआ।

(2) **नगरकोट विजय**—अपने साम्राज्य प्रसार कार्यक्रम के अन्तर्गत 1337 ई. में मुहम्मद तुगलक ने नगरकोट पर आक्रमण किया और उसे जीत लिया। किन्तु आधीनता मानने पर नगरकोट के शासक को उसका राज्य लौटा दिया गया।

(3) **हिमालय के पहाड़ी राज्यों पर आक्रमण**—मुहम्मद तुगलक ने 1337-38 ई. में हिमालय के पहाड़ी राज्यों पर आक्रमण किया (जिसे कुछ इतिहासकार काराजल अथवा चीन पर आक्रमण मानते हैं), किन्तु यहाँ भी मुहम्मद तुगलक सफल नहीं हो पाया। अत्यधिक वर्षा और शत्रु के आक्रमण के कारण सुल्तान की

सेना के बहुत कम (इब्नबतूता के अनुसार तीन अफसर) सैनिक जीवित लौट पाए। इससे सल्तनत को अपार जन-धन की हानी हुई और मुहम्मद तुगलक की सैनिक शक्ति कमजोर हो गई।

(4) **राजस्थान**—मुहम्मद तुगलक ने मेवाड़ पर आक्रमण करने के लिए भी एक सेना भेजी थी। पर मेवाड़ के तत्कालीन शासक हम्मीर ने उसे परास्त किया और मुहम्मद तुगलक इस अभियान में असफल रहा।

(5) **दक्षिणी भारत के राज्यों की विजय**—मुहम्मद तुगलक ने अपने शासन काल में दक्षिणी भारत के एक छोटे से राज्य कम्पिली कोढण तथा द्वारसमुद्र को जीत कर अपने साम्राज्य में मिलाया। कम्पिली पर उसने मलिक मुहम्मद को राज्य पाल नियुक्त किया।

(घ) विद्रोही एवं साम्राज्य का वघटन

अपने शासन काल के प्रारम्भिक वर्षों में अपनी विभिन्न योजनाओं को लागू करने में असफल रहने के कारण मुहम्मद तुगलक का अपने तुर्क व खिलजी सरदारों व अधिकारियों पर से विश्वास उठ गया। ऐसी स्थिति में उसने पदों में परिवर्तन कर पहले वाले अधिकारियों के स्थान पर नये अधिकारियों को नियुक्त किया। किन्तु वे भी वफादार साबित नहीं हो पाए। सल्तनत की स्थिति निरन्तर कमजोर होती गई और साम्राज्य में अव्यवस्था उत्पन्न होने लगी। इस स्थिति का लाभ उठाकर दक्षिणी भारत, बंगाल, सिन्धु, गुजरात आदि सूबों के शासक स्वतन्त्र होने का प्रयत्न करने लगे और इन भागों में विद्रोह भड़क उठे।

सन् 1326–27 ई. में गुलबर्गा के निकट सागर के जागीरदार बहाबुद्दीन गुर्सास्प ने विद्रोह किया। किन्तु, सुल्तान ने उसे बड़ी क्रूरता से दबा दिया। इसके दूसरे वर्ष ही उच्छ, सिन्ध और मुलतान के सूबेदार किशलूखां ने विद्रोह किया और सुल्तान ने इसे भी दबाने में सफलता पायी। इसी वर्ष बंगाल में भी विद्रोह हुआ और प्रारम्भ में सुलतान के भाई बहरामखां ने उसे दबाया। किन्तु अन्त में शमशुद्दीन ने 1340–41 ई. में बंगाल पर अपनी स्वतन्त्र सत्ता कायम कर ली और बंगाल दिल्ली सल्तनत से अलग हो गया। इसके अलावा कड़ा, बीदर, गुलबर्गा, अवध आदि स्थानों पर भी विद्रोह हुए, जिन्हें दबाया गया। किन्तु 1334–35 ई. में दक्षिणी भारत के सैयद हसनशाह के विद्रोह को नहीं दबाया जा सका और उसके नेतृत्व में मदुरा में स्वतन्त्र राज्य स्थापित हो गया। इसी प्रकार 1335 ई. में तेलंगाना भी स्वतन्त्र हो गया। दक्षिणी भारत में ही 1336 ई. में कृष्णा नदी के दक्षिणी तट पर पश्चिमी भाग में स्वतन्त्र विजयनगर के हिन्दू राज्य की स्थापना हुई और 1347 ई. में दक्षिण में ही दिल्ली सल्तनत से स्वतन्त्र मुसलमानी बहमनी राज्य अस्तित्व में आया। इसी प्रकार साम्राज्य के विभिन्न भागों में विद्रोह और स्वतन्त्रता की प्रवृत्ति से दिल्ली सल्तनत का विघटन होना प्रारम्भ हुआ। ऐसे समय में ही गुजरात में तांगी के नेतृत्व में एक भयंकर विद्रोह हुआ। सुल्तान मुहम्मद तुगलक स्वयं उसे दबाने के

लिए गया। सुलतान से परास्त होकर तांगी सिन्ध की ओर भागा। सुलतान ने उसका पीछा किया। किन्तु इसी दौरान मार्ग में सुल्तान बीमार पड़ गया और 1351 ई. में मुहम्मद तुगलक की मृत्यु हो गई। उसकी मृत्यु के साथ ही एक विरोधाभास के युग का अन्त हुआ।



मुहम्मद तुगलक की मृत्यु के अवसर पर भारत

मुहम्मद तुगलक का व्यक्तित्व एवं मूल्यांकन—सल्तनत कालीन शासकों में मुहम्मद तुगलक एक गुत्थीदार चरित्र वाले शासक के रूप में सामने आता है। इसलिए किन्हीं इतिहासकारों ने उसको मिश्रित गुणों वाला, तो किन्हीं ने उसे पागल और किन्हीं विद्वानों ने उसे अपने युग से आगे की सोचने वाला शासक कहा है। यथार्थ में उसके कार्यों के प्रमाणों से स्पष्ट होता है कि वह अत्यधिक महत्त्वाकांक्षी, किन्तु

तथा विद्वान् साबित होता है। उसके काल के ऐतिहासिक स्त्रोतों से स्पष्ट होता है कि वह विविध विद्याओं में पारंगत था तथा न्यायप्रिय, दानशील, धार्मिक, सहिष्णु और धर्मनिरपेक्षता के विचार रखने वाला शासक था। इस्लाम का अनुयायी होने पर भी उसमें धर्मान्धता और संकीर्णता नहीं थी। हिन्दुओं के प्रति वह सहिष्णु था और उन्हें उसमें उच्च पद दिए थे। वह अपने युग के सामान्य दुर्गुणों तथा व्यसनों से मुक्त था फिर भी वह असफल रहा। इसका कारण यह था कि उसमें सामान्य स्थिर बुद्धि,व्यावहारिक निर्णय शक्ति और संतुलन का अभाव था। उसके विस्तृत अध्ययन ने उसे आवश्यकता से अधिक आदर्शवादी, अभिमानी एवं क्रोधी बना दिया था। इसी कारण उसकी योजनायें विशाल, कुछ चमत्कार और कल्पना से भरी थी। और योजना के बनाने और क्रियान्वित करने वाले सुल्तान की अव्यवस्थित प्रकृति, विवेकहीनता, क्रोध और सामान्यज्ञान के अभाव के कारण वे असफल रहीं। उसके अधिकारियों और कर्मचारियों में निष्ठा के अभाव ने भी उसे असफल बनाने में बड़ा योग दिया। इसीलिए, इतिहास में वह योग्य होते हुए भी असफल शासन प्रमाणित हुआ और लोगों ने उसे 'प्रतिभाशाली पागल' की संज्ञा दी।

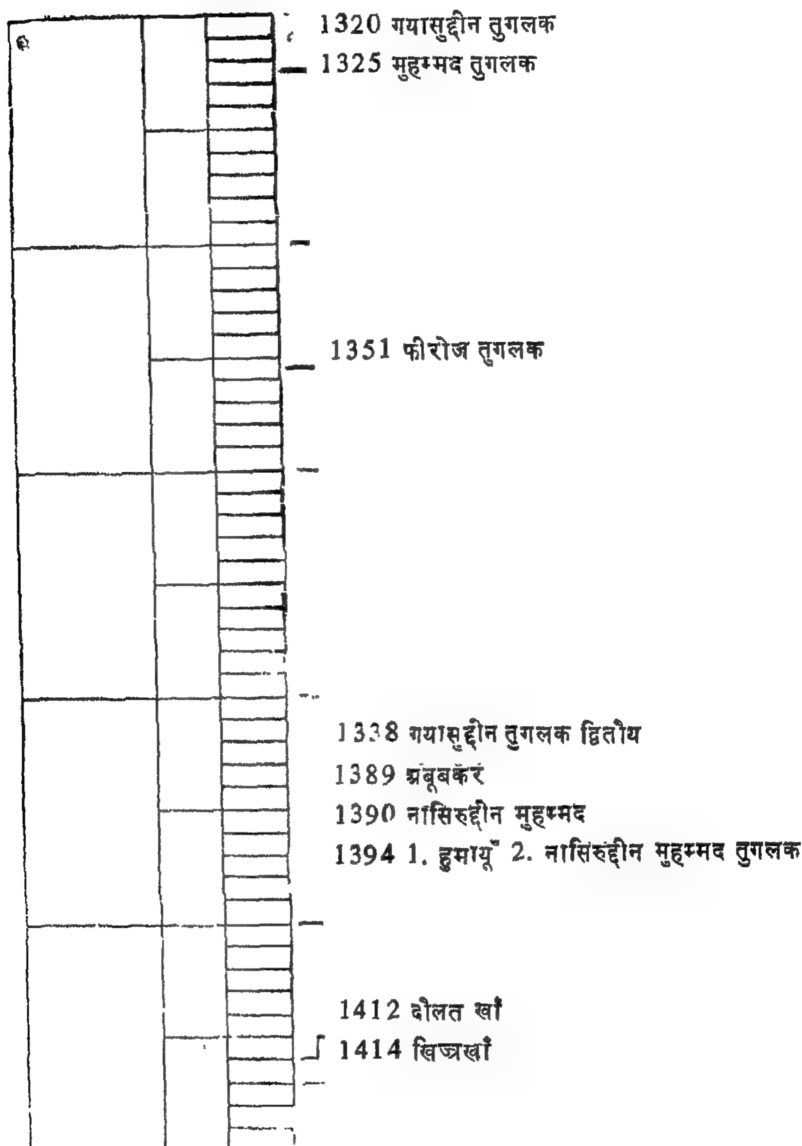
फीरोज तुगलक—मुहम्मद तुगलक के बाद उसका चचेरा भाई फीरोज तुगलक सिंहासन पर बैठा। वह दुर्बल, धर्मभीरु एवं ढिल-मिल नीति वाला व्यक्ति था। यद्यपि शासक बनने पर उसने मोहम्मद तुगलक के काल में साम्राज्य से अलग हो जाने वाले प्रदेशों को पुनः साम्राज्य में मिलाने का प्रयत्न किया। उसने बंगाल पर चढ़ाई की, पर वह असफल रहा। उसे उड़ीसा, नगरकोट व कटिहार पर भी आक्रमण किए तथा उड़ीसा व कटिहार में खूब हत्याएँ कीं। उसने सिन्ध पर भी आक्रमण किए, किन्तु वहां से निराश लौटा। समग्र रूप में सैनिक दृष्टि से फीरोज अधिक सफल नहीं हो सका।

शासन सुधार—साम्राज्य प्रसार एवं सैनिक अभियानों की तुलना में फीरोज का काल शासन सुधारों की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण था। उसे शासक का अनुभव था। वह मुस्लिम शासन में मुल्ला-मौलवियों के महत्व को समझता था और जानता था कि बिना उसके सहयोग से प्रशासनिक सफलता नहीं मिल सकती। अतः उसने मुल्ला-मौलवियों और अमीरों का प्रशासनिक कार्य में सहयोग लेना प्रारम्भ किया और प्रशासन के विभिन्न क्षेत्रों में सुधार के प्रयत्न किए।

आर्थिक सुधार—जनता को राहत पहुँचाने के लिए फीरोज ने जनता के राजकीय ऋणो को मांफ कर दिया और कई कर समाप्त कर दिए। मात्र जजिया, जकात, खिराज तथा खम्स नामक चार कर रहने दिये तथा नहरों से सिंचाई पर 1/10 भाग सिंचाई कर रखा। करों को हटाने से आय में होने वाली कमी की पूर्ति के लिए फीरोज ने उपज बढ़ाने हेतु सिंचाई का उचित प्रबन्ध किया और कई बाग लगवाए। उसने व्यापार को प्रोत्साहन दिया। इन सुधारों से समृद्धि व जनता में सुख-शान्ति बढ़ी।

ऊपर से नीचे
↓

तुगलक वंश के शासकों का कालक्रम



पैमाना 1"—20 वर्ष

न्यायिक सुधार—फीरोज ने अपने पूर्ववर्ती सुल्तानों के समय में प्रचलित कठोर न्याय विधान एवं दण्ड-व्यवस्था को बन्द कर दिया। उसने न्यायालयों का समुचित प्रबन्ध किया तथा जनता में कठोर दण्ड व्यवस्था में फैले आतंक को दूर किया। इससे जनता भय मुक्त हुई।

जनहित कार्य—प्रशासनिक सुधारों के साथ फीरोज ने जनहित के कई कार्य किए। उसनें बेकारों को रोजगार दिलाने का दफ्तर कायम किया तथा उन्हें यथा-सम्भव कार्य दिलाने का कार्य किया। उसने दवाखाने खुलवाए तथा गरीबों, विधवाओं तथा गरीब लड़कियों के विवाह के लिए सहायता देने हेतु एक दान विभाग खोला। फीरोज ने दासों के साथ भी उदारता का व्यवहार किया। उनकी शिक्षा एवं सैनिक प्रशिक्षण की व्यवस्था की। उसके समय में साम्राज्य में दासों की संख्या एक लाख अस्सी हजार हो गई थी, किन्तु, ये दास बाद में साम्राज्य के लिए घातक सिद्ध हुए।

निर्माण कार्य—अपने साम्राज्य की उन्नति के लिए फीरोज ने कई निर्माण कार्य भी किए। कई नगर, नहरें, कुएँ, बाग, महल, तालाब, पुल, मस्जिदें तथा सरायों का निर्माण फीरोज ने करवाया। उसके द्वारा बनवाये गये नगरों में हिसार, फिरोजाबाद, फतहाबाद, जौनपुर आदि प्रमुख हैं।

विद्या और शिक्षा का प्रसार—निर्माता होने के साथ फीरोज विद्या और शिक्षा का प्रेमी था। वह विद्वानों का आश्रयदाता था। 'बरनी' और 'अफीफ' जैसे इतिहासकार उसके दरबार में आश्रय पाते थे। उसने कई संस्कृत के ग्रन्थों का फारसी में अनुवाद करवाया और मदरसे खुलवाये। इससे उनके काल में विद्या और शिक्षा का प्रसार हुआ।

सैनिक सुधार—सुल्तान फीरोज ने सैनिक क्षेत्र में भी परिवर्तन किए। उसने सैनिक जागीर देने की प्रथा को पुनः प्रारम्भ किया तथा सैनिकों की वंश परम्परा के अनुसार नियुक्तियां प्रारम्भ कीं। किन्तु इससे साम्राज्य की सैनिक व्यवस्था निर्बल पड़ी और यही भविष्य में साम्राज्य के विघटन का एक कारण बनी।

फीरोज का व्यक्तित्व व मूल्यांकन—फीरोज के उपर्युक्त कार्यों का विश्लेषण करने से पता लगता है कि वह दयालु, न्यायप्रिय और धर्मभीरु शासक था। फिर भी उसमें जनहितैषी शासक के गुण थे। उसने सभी कार्य जनता को राहत देने की दृष्टि से किए। किन्तु इन गुणों के होने पर भी फीरोज में धार्मिक कट्टरता थी। यदि यह कमी उसमें नहीं होती तो इतिहासकार 'एलफिन्स्टन' का यह कथन कि 'फीरोज सुल्तान युग का अकबर था' अतिशयोक्ति न होकर सत्य प्रमाणित होता।

फीरोज के उत्तराधिकारी—1338 ई० में फीरोज का देहावसान हो गया उसके बाद उसका पोता गयासुद्दीन तुगलक द्वितीय गद्दी पर बैठा और उसके बाद इस वंश के नौ शासक गद्दी पर और बैठे। किन्तु ये सभी शासक योग्य नहीं थे।

अतः विद्रोह और षड्यन्त्र के युग में वे निरर्थक साबित हुए। इसके साथ ही 1398 ई. में दिल्ली पर तैमूर का आक्रमण हुआ। इससे साम्राज्य की जड़े हिल गईं तथा धीरे-धीरे विघटित होते हुए अन्तिम तुगलक सुल्तान महमूद की मृत्यु के बाद 1414 ई. में तुगलक साम्राज्य का अन्त हो गया।

तैमूर का आक्रमण (1398—99ई०)

तैमूर समरकन्द का शासक था। तथा वह बड़ा महत्वाकांक्षी था। साथ ही, वीरता और साहस उसमें कूट-कूट कर भरे थे। तैमूर के मन में साम्राज्य प्रसार और धन-प्राप्ति की अपार लालसा थी। इसके लिए उसने अपने साम्राज्यका काफी प्रचार किया। धन लोलुपता ने उसे भारत पर आक्रमण करने को प्रेरित किया। साथ ही उस समय की भारत की दुर्बल राजनीति अवस्था का भी उसे पता चल गया। इस परिस्थिति में उसने 1398 ई. में भारत पर आक्रमण किया। अपने आक्रमण-अभियान में मार्ग के गांवों व नगरों को ध्वस्त करता, लोगों को लूटता तथा कत्लेआम मचाता हुआ वह दिल्ली तक आ पहुँचा। उसके आक्रमण से भयभीत हो तत्कालीन तुगलक शासक महमूद भाग गया। शासक से शून्य दिल्ली को तैमूर ने पन्द्रह दिन तक खूब लूटा तथा हजारों लोगों को कत्ल करवा दिया। फिर वहां से अपार धन सम्पदा और अच्छे कारीगरों को लेकर वह समरकन्द लौट गया। जाते समय भारत में उसका सहयोगी बनने वाले 'खिज्रखां सैयद' नामक सरदार को भारत के उत्तरी-पश्चिमी भाग में मुल्तान, लाहौर व दोपालपुर का सूबेदार नियुक्त कर दिया।

तैमूर के आक्रमण का राजनैतिक दृष्टि से कोई प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पड़ा। मात्र भारत की धन सम्पदा लूटी गई, कई लोग जान खो बैठे, कई तबाह हो गए तथा कई गांव और नगर बरबाद होकर खण्डहर हो गए। इतनी तबाही करके और धन प्राप्ति का अपना उद्देश्य पूरा करके ही तैमूर तो लौट गया, किन्तु उसके आक्रमण के आघात से तुगलक साम्राज्य फिर नहीं सम्भल पाया और अन्त में धराशायी हो गया।

2. सैयद वंश

तुगलक वंश के अन्तिम सुल्तान महमूद की मृत्यु के बाद सल्तनत में पूर्ण अराजकता फैल गई। यद्यपि अमीरों ने दौलतखां को शासनाधिकार सौंपा, किन्तु वह व्यवस्था कायम नहीं कर सका। इस अराजकता का लाभ उठाकर तैमूर के सूबेदार खिज्रखां सैयद ने दिल्ली पर आक्रमण कर अपना अधिकार कर लिया और दिल्ली के साम्राज्य पर एक नये राज्य वंश की नींव डाली, जो इतिहास में सैयद वंश कहलाता है।

खिज्रखां—सैयद वंश का पहला शासक खिज्रखां था। दिल्ली पर अधिकार कर लेने पर उसका राज्य पंजाब, मुल्तान, सिन्ध, दोआब और मेवात तक फैल गया। लेकिन, इस राज्य का अधिकारी बन कर भी उसने अपने आपको सुल्तान घोषित नहीं किया। वह तैमूर के प्रतिनिधियों के रूप में रहा और तैमूर के

उत्तराधिकारी को भेंटें भेजता रहा। दिल्ली का अधिकार प्राप्त करने के पश्चात् कृषि भूमि पर अधिकार करने और जागीरदारों से कर वसूल करने तक ही सीमित रहा। प्रति वर्ष कर वसूल करने के लिए वह उत्तरी भारत की विभिन्न रियासतों पर आक्रमण करता रहा। 1421 ई. में खिज्रखाँ की मृत्यु हो गई।

मुबारकशाह—खिज्रखाँ के बाद उसका पुत्र मुबारकशाह गद्दी पर बैठा। उसने शाह की उपाधि धारण की तथा खलीफा से सुल्तान पद की स्वीकृति प्राप्त कर वह दिल्ली का स्वतन्त्र शासक बना। मुबारकशाह को अपने शासन काल में खोखरों, जौनपुर के शासक इब्राहीम तथा काबुल के सूबेदार शेखअली से प्रत्यक्ष संघर्ष करना पड़ा। इसके अतिरिक्त अपने पिता की तरह उसे भी कर वसूली के लिए विभिन्न स्थानों पर आक्रमण करने पड़े। इस प्रकार मुबारकशाह भी सैनिक संघर्षों में ही व्यस्त रहा। अन्त में 1434 ई. में उसके वजीर (प्रधान मन्त्री) ने उसके विरुद्ध षड्-यन्त्र कर उसका वध कर दिया।

मुबारकशाह के उत्तराधिकारी—मुबारकशाह के बाद मुहम्मदशाह सैयद वंश का शासक बना। वह मुबारकशाह के भाई का पुत्र था। उसके शासन काल में मालवा के शासक महमूद ने दिल्ली पर आक्रमण किया। महमूद के विरुद्ध मुल्तान के सूबेदार बहलोल लोदी ने मुबारक की सहायता की। मुहम्मदशाह ने सहायता के बदले बहलोल का सम्मान किया और पंजाब पर उसका अधिकार स्वीकार किया। किन्तु बहलोल स्वयं महत्त्वाकांक्षी था। वह स्वयं दिल्ली का सुल्तान बनने का प्रयत्न करने लगा। ऐसे समय में ही 1445 ई. में मुहम्मदशाह की मृत्यु हो गई और उसका पुत्र अलाउद्दीन आलमशाह शासक बना। किन्तु वह विलासी और आराम पसन्द था। सैयद शासकों में यह सबसे अयोग्य सिद्ध हुआ। उसके समय में 1451 ई. में बहलोल लोदी ने दिल्ली पर अधिकार कर लिया।

इस प्रकार मात्र सैंतीस वर्ष तक सैयद वंश का दिल्ली पर अधिकार रहा। इस छोटे से काल में सैयद शासक साम्राज्य प्रसार और प्रशासनिक सुधार की दृष्टि में कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं कर पाए।

3. लोदी वंश

1451 ई. में बहलोल लोदी के अधिकार के साथ दिल्ली पर एक नये राज्य वंश का शासन प्रारम्भ हुआ, जो इतिहास में लोदी वंश के नाम से प्रसिद्ध है। लोदी अफगानों की एक शाखा से सम्बन्धित थे तथा भारत में आकर मुल्तान के आस-पास के भागों में बसे थे। सैयद शासक मुबारकशाह के समय में बहलोल के चाचा व श्वसुर मलिक सुल्तान लोदी उर्फ इस्लाम खाँ को अपनी महत्त्वपूर्ण सेवाओं के बदले सरहिन्द की सूबेदारी मिली। इस्लाम खाँ का उत्तराधिकारी बहलोल बना और उसने चौथे सैयद शासक मुहम्मदशाह को प्रसन्न कर अमीर की उपाधि एवं सरहिन्द की सूबेदारी प्राप्त की और अन्त में अन्तिम सैयद शासक अलाउद्दीन को हटाकर उसने दिल्ली पर अधिकार किया।

बहलोल लोदी—दिल्ली पर अधिकार कर बहलोल 'बहलोलशाह गाजी' के नाम से दिल्ली का सुल्तान बना। सुल्तान बनने के समय उसके सामने कई समस्याएँ थीं। साम्राज्य सीमित था, शासक-ग्रस्त-व्यस्त था। जमींदार व जागीरदार विद्रोही थे। इन परिस्थितियों में अफगान सरदारों के सहयोग की उसे पूरी आवश्यकता थी। इसीलिए उसने अफगानों को सन्तुष्ट करने की नीति अपना कर उनको जागीरें व पद देकर उनके साथ उदारता व समानता का व्यवहार करते हुए अपनी शक्ति को बढ़ाने का प्रयत्न किया। उसने अफगानों के सहयोग से मेवात, संभल, इटावा आदि पर आक्रमण कर वहाँ अपना प्रभुत्व जमाया तथा जौनपुर से शर्की शासकों से संघर्ष कर इस राज्य को दिल्ली सल्तनत का अंग बनाया। इसी प्रकार उसने ग्वालियर को भी जीत कर अपने अधीन किया।

इस प्रकार अपनी व्यावहारिक बुद्धि, सैनिक योग्यता, कूटनीति, चतुराई और चालाकी से बहलोल ने सुल्तान बनकर दिल्ली सल्तनत की प्रतिष्ठा को पुनः स्थापित किया और सल्तनत को जीवित किया। 1489 ई. में बहलोल की मृत्यु हुई।

सिकन्दर लोदी—बहलोल के बाद उसका तीसरा पुत्र निजामखाँ 'सिकन्दर शाह लोदी' के नाम से सुल्तान बना। लोदी वंश का वह एक योग्य एवं प्रबल शासक था। उसे राज्य सिंहासन संघर्ष करके प्राप्त हुआ था, अतः सुल्तान बनने पर उसने अपने विरोधी सरदारों को समाप्त किया तथा अफगान सरदारों को अनुशासन में लाने के लिए उनकी शक्ति कम कर अपनी प्रतिष्ठा को बढ़ाया। उसके शासन काल में भी कतिपय विद्रोह को उसने दबाया और जौनपुर में अपने भाई बरबकशाह को दबाकर अपना आधिपत्य कायम किया इसके अलावा उसने बिहार, तिरहुत, चन्देरी, धौलपुर, नरवर, नागौर, चन्देल आदि राजपूत राजाओं के शासकों को भी परास्त किया। उसने ग्वालियर को जीतने का प्रयत्न किया, किन्तु इसमें वह असफल रहा। राजपूतों को नियन्त्रण में रखने की दृष्टि से उसने नया नगर आगरा बसाकर उसे अपने राज्य की राजधानी बनाया। उसने मुसलमान राज्यों के साथ संघर्ष नहीं करने की नीति अपनाई।

सिकन्दर ने प्रशासनिक कार्यों की ओर भी ध्यान दिया तथा भ्रष्ट अधिकारियों को दण्डित किया। उसने दरबार लगाना और सुल्तान के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने के कई नियम लागू किए। उसने गुप्तचर विभाग को भी सक्रिय किया तथा न्याय एवं दण्ड व्यवस्था पर विशेष ध्यान दिया। अपने इन कार्यों में सिकन्दरशाह प्रजा का हित चाहने वाला, न्यायप्रिय एवं परिश्रमी सुल्तान सिद्ध हुआ तथा उसके शासन काल में व्यापार, वाणिज्य की उन्नति से सल्तनत की समृद्धि बढ़ी। 1517 ई. में उसकी मृत्यु हुई।

इब्राहीम लोदी—सिकन्दरशाह लोदी के बाद उसका पुत्र 'इब्राहीम लोदी' शासक बना। सुल्तान बनने पर उसे अपना अधिकांश समय जौनपुर के शासक एवं अपने छोटे भाई जलालखाँ के साथ संघर्ष में बिताना पड़ा और अन्त में उसने

जलाल खाँ का वध करवा कर जौनपुर पर अधिकार किया। इसके पश्चात् उसने ग्वालियर पर आक्रमण किया और वहाँ के शासक विक्रमाजीत को परास्त कर ग्वालियर पर अधिकार किया। इससे उत्साहित होकर उसने मेवाड़ पर आक्रमण करने की सोची। किन्तु, मेवाड़ पर आक्रमण में उसे राणा संग्राम सिंह के हाथों करारी हार खानी पड़ी।

इब्राहीम में एक योग्य सैनिक एवं शासक के गुण थे। लेकिन वह निरंकुश सुल्तान बनना चाहता था। इसलिए उसने अपने सरदारों को दबाने का प्रयत्न किया। किन्तु उसके व्यवहार से उसके अमीर और सरदार नाराज हो गए। इब्राहीम के भाई जलालखाँ के विद्रोह के समय से इब्राहीम और उसके सरदारों के बीच सन्देह का वातावरण प्रारम्भ हुआ। धीरे-धीरे वह वातावरण विरोध में बदलता गया और उसने गृह युद्ध का रूप ले लिया। ऐसे समय मे ही बाबर भारत पर आक्रमण करने की योजना बना रहा था। इब्राहीम के अफगान सरदारों ने इब्राहीम के विरुद्ध बाबर को भारत पर आक्रमण करने के लिए आमन्त्रित-उत्साहित किया। फलतः अनुकूल अवसर देखकर 1526 ई० मे बाबर ने भारत पर आक्रमण कर पानीपत के मैदान में इब्राहीम को परास्त किया। इब्राहीम युद्ध में मारा गया। दिल्ली पर बाबर ने अधिकार कर लिया और इस प्रकार 321 वर्ष पूर्व कुतुबुद्दीन ऐबक द्वारा स्थापित दिल्ली सल्तनत का अन्त हुआ। उसके स्थान पर एक नये साम्राज्य की स्थापना हुई, जो भारतीय इतिहास में 'मुगल साम्राज्य' के नाम से प्रसिद्ध है।

अध्ययन का उपयोग

नीचे दिए गये प्रश्नों का उत्तर दीजिए एवं अपने अध्ययन को उपयोगी बनाइए—

1. गियासुद्दीन ने दिल्ली के सिंहासन पर कैसे अधिकार प्राप्त किया ?
2. मुहम्मद बिन तुगलक ने अपने साम्राज्य की उन्नति के लिए क्या योजनाएँ बनाईं और उनके क्या परिणाम निकले।
3. फीरोज तुगलक ने शासनिक क्षेत्र में क्या सुधार किये ?
4. सैयद वंश के प्रमुख शासकों व उनके कार्यों को लिखिए ?
5. बहलोल लोदी एवं सिकन्दर लोदी ने दिल्ली सल्तनत को शक्तिशाली बनाने के क्या प्रयत्न किए ?

अध्ययन की जांच

सही उत्तर का क्रमाक्षर कोष्ठक में लिखिए—

1. दिल्ली सल्तनत की शक्ति को क्षीण करने में जिस आक्रमणकारी का प्रमुख स्थान है, वह है—
   (अ) बाबर (ब) तैमूर (स) चंगेजखाँ (द) मंगोल ( )
2. दोआब में हिन्दुओं पर कर बढ़ाने के पीछे मुहम्मद तुगलक का जो प्रमुख लक्ष्य था, वह है—
   (अ) हिन्दुओं को दबाना।

(ब) राज्य की आय में वृद्धि करना।

(स) हिन्दुओं से खेती की जमीन छीनना।

(द) दोआब को मुस्लिम साम्राज्य में मिलाना। ( )

सोच-विचार कर उत्तर दीजिए—

1. मुहम्मद तुगलक को 'प्रतिभावान पागल' कहना कहाँ तक उपयुक्त है ?
2. इब्राहीम लोदी के स्थान पर आप होते तो दिल्ली सल्तनत को बचाने के लिए क्या काम करते ?

निम्नलिखित क्रियात्मक कार्य कीजिये और अपना कौशल बढ़ाइए—

1. तुगलक वंश के शासकों के कालक्रम को बताने वाली एक समय रेखा बनाइये।
2. भारत के मानचित्र में तुगलक वंश के साम्राज्य की सीमाओं को अंकित कीजिए।

पूरक अध्ययन ग्रन्थ

1. डॉ. ईश्वरी प्रसाद : मध्यकालीन भारत का इतिहास
2. डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव : दिल्ली सल्तनत
3. ए. बी. पाण्डेय : पूर्व-मध्यकालीन भारत
4. शर्मा : व्यास : मध्यकालीन भारत

अध्याय 21

सल्तनतकालीन प्रशासन, समाज एवं संस्कृति

दिल्ली सल्तनत की स्थापना तथा तीन शताब्दियों के मुसलमानी शासन का भारतीय प्रशासन, समाज एवं संस्कृति के विभिन्न पक्षों पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। इस काल में प्राचीन भारत की शासन पद्धति में परिवर्तन आया। समाज में एक अतिरिक्त वर्ग सम्मिलित हुआ तथा भारतीय जन-जीवन के विभिन्न पक्षों में नवीन व्यवस्थाओं व मान्यताओं ने जन्म लिया।

प्रशासन

राज्य सम्बन्धी अवधारणा—भारतवर्ष में मुसलमानों ने जो राज्य संस्था स्थापित की उसका स्वरूप धर्म-सापेक्ष था और प्रशासन पूर्णतया धर्म-प्रभावित

था। शासक राजनीति प्रधान तो थे, किन्तु उनका कर्त्तव्य इस्लाम धर्म की स्थापना और कुरान के नियमों और व्यवस्थाओं को लागू करना व उनका पालन करवाना था। वास्तव में सल्तनतकालीन राज्य संस्था का स्वरूप धर्माधारित राजतन्त्रात्मक था और शासन का मूल आधार इस्लाम के धर्मशास्त्र—कुरान एवं शरियत—थे। इसी कारण सल्तनत काल में इस्लाम राज्य धर्म था और उलेमा वर्ग—काजी, मुल्ला मौलवी—का प्रशासन में हस्तक्षेप रहता था।

इस्लामी धर्मशास्त्रों की व्यवस्थानुसार मुसलमानी राज्य संस्था का प्रधान एक मात्र खलीफा होता था और राज्य के अधिकारी 'खलीफा के नायब' (प्रतिनिधि) माने जाते थे। ऐसी स्थिति में सैद्धांतिक रूप में दिल्ली सल्तनत के सुल्तानों ने (कतिपय को छोड़कर) भारत में बगदाद के खलीफा के प्रतिनिधि के रूप में शासन किया। परन्तु व्यवहार में हर दृष्टि से वे अपनी स्वतन्त्र रीति-नीति के अनुसार कार्य करते रहे, खलीफा नाम मात्र के ही प्रधान रहे। अतः दिल्ली सल्तनत के काल में सुल्तानों की प्रभुत्ता बनी रही। प्रत्येक प्रतिभा सम्पन्न योग्य सुल्तान ने अपनी मान्याताओं और आदर्शों को प्रशासन में लागू किया।

केन्द्रीय शासन

सुल्तान—सल्तनत काल में सुल्तान प्रशासन की केन्द्रीय धुरी होता था। प्रशासन की समस्त शक्तियों, कानून, न्याय, सेना आदि का स्रोत सुल्तान माना जाता था। राजा की दैवी शक्तियों की धारणा को मान्यता प्राप्त थी। अतः सुल्तान स्वेच्छाचारी और निरंकुश होते थे। उलेमा, अमीर और सरदार सुल्तान की निरंकुशता की सीमा से बाहर जाने से रोकते थे, फिर भी सुल्तानों की सत्ता पर कोई कानूनी नियन्त्रण नहीं था। सुल्तान पद के लिए उत्तराधिकारी का भी कोई निश्चित नियम नहीं था। शासक द्वारा उत्तराधिकारी के मनोनयन और सरदारों द्वारा सुल्तान के चयन की प्रणाली प्रचलित थी,परन्तु शक्तिशाली व्यक्ति तलवार के बल पर राज्य-सिंहासन पर अधिकार भी कर सकता था। फिर भी, किसी भी रीति से सुल्तान बनने वाले व्यक्ति पर सल्तनत की सुरक्षा, इस्लाम का प्रचार तथा साम्राज्य में शांति व्यवस्था बनाये रखने का उत्तरदायित्व रहता था। इसमें सफलता-असफलता सुल्तान की योग्यता पर निर्भर करती थी।

प्रशासनिक विभाग, मन्त्री एवं अधिकारी—प्रशासनिक सुविधा की दृष्टि से सरकार कई विभागों में विभक्त थी। सबसे महत्वपूर्ण विभाग 'दीवाने वजारत' (माल विभाग) था। इसका अध्यक्ष 'वजीर' (प्रधानमन्त्री)होता था। साम्राज्य की आय-व्यय का हिसाब तथा सम्पूर्ण प्रशासन पर नजर रखना इस विभाग और वजीर का मुख्य कार्य था। दूसरा विभाग 'आरिज-ए-मुमालिकात'(सैन्य-विभाग)था। इसका मन्त्री 'दीवाने अर्ज' कहलाता था। यह विभाग सैनिकों की भर्ती से लेकर सम्पूर्ण सैन्य व्यवस्था की देख-रेख करता था। तीसरा विभाग 'दीवाने-ए-रसालात' था। वह विदेशी-विभाग की तरह था। अन्य राज्यों से कूटनीतिक सम्बन्ध, पत्र-व्यवहार आदि

यह विभाग करता था। चौथा महत्त्वपूर्ण विभाग न्याय था, जिसे 'दीवान-ए-कजा' कहा जाता था। इसके प्रधान को 'काजी-उल-कुजात' कहते थे। इसका मुख्य उत्तरदायित्व न्याय व्यवस्था करना था। इनके अतिरिक्त 'दीवान-ए-इन्शा' शाही पत्र-व्यवहार के विभाग का अध्यक्ष, 'सद्र-उस-सुदूर' धर्म विभाग का प्रधान तथा वारीद-ए-मुमालिक' गुप्तचर विभाग के प्रधानों के भी अपने-अपने विभाग थे। इन सभी विभागों के अध्यक्ष मन्त्री स्तर के होते थे और सम्पूर्ण विभाग उनके अधीन रहता था।

नायब—उपर्युक्त विभागों के मन्त्रियों के अतिरिक्त सल्तनत काल में सुल्तान बहरामशाह के समय में 'नाइब' के पद का विकास हुआ। नाइब का पद बड़ा महत्वपूर्ण था और सुल्तान के बाद वही सर्वाधिक शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति होता था। किन्तु, शक्तिशाली सुल्तानों के समय यह पद महत्वहीन था।

अन्य अधिकारी—नायब और विभागाध्यक्षों के अतिरिक्त विभागों से अलग अन्य कई अधिकारी भी होते थे। इनकी नियुक्ति सुल्तान करता था। इनमें 'दीवान-'ए-अमीर का ही' (प्रमुख कृषि अधिकारी), 'वकील-ए-दरे (महल और शाही कर्मचारियों की देखभाल करने वाला अधिकारी), 'सर-ए-जाँदार' (सुलतान के अंगरक्षकों की सहायता करने वाला अधिकारी), 'अमीर-हाजिब' (सुल्तान से मिलने वालों की देखभाल करने वाला). 'बारबक' दरबार की शान-शौकत की व्यवस्था करने वाला) तथा 'अमीर-ए-शिकार' 'अमीर-ए-मजलिस' आदि प्रमुख थे।

प्रान्तीय शासन

इक्ता—शासनिक सुविधा की दृष्टि से सल्तनत काल में साम्राज्य प्रान्तों में विभक्त था, जिन्हें 'इक्ता' कहा जाता था। इक्तों की संख्या निश्चित नहीं होती थी और न ही प्रत्येक इक्ते की शासन व्यवस्था समान थी। इक्तों के शासन का भार सैनिक सामन्तों पर था, जिनको प्रधान-मुक्ति, नाजिम, नाइब सुल्तान या वली कहा जाता था। इनका काम राजस्व वसूल करना, प्रान्तों में शान्ति-सुव्यवस्था बनाए रखना तथा आवश्यकता के समय सुल्तान को सैनिक सहायता देना होता था।

शिख और परगने—प्रत्येक इक्ता शिकों में विभक्त होता था। शिकों का अधिकारी 'शिकदार' कहलाता था, जो एक सैनिक अफसर होता था। शिकों को परगनों में विभाजित किया जाता था। परगनों में आमिल, मुशरिफ, खजान्ची, क्लर्क आदि रहते थे। ये लगान निश्चय करने व वसूल करने का मुख्य कार्य करते थे। प्रशासन की सबसे छोटी इकाई गाँव थी। गाँव में पंचायतें होती थीं तथा सरकारी कर्मचारी भी रहते थे, जो मिल कर लगान वसूली एवं अन्य व्यवस्थाओं का प्रबन्ध करते थे।

राजस्व प्रबन्ध—सल्तनत काल में राज्य की आय के साधन उस्र, खराज, खम्स, जकात और जजिया, ये पांच प्रकार के कर थे। 'उस्र' मुसलमानों से लिया जाने वाला भूमि कर था। गैर मुसलमानों से लिए जाने वाले भूमि कर को 'खराज'

कहते थे। लूट अथवा अप्रत्याशित रूप से प्राप्त धन के रूप में लिए जाने वाले भाग की खम्स कहते थे। 'जकात'—मुसलमानों से धार्मिक कर के रूप में लिया जाता था और 'जजियाँ' गैर मुसलमानों से लिया जाने वाला धार्मिक कर था। इनके मुख्य आय के साधन भूमि कर थे। भूमि कर घटता-बढ़ता रहता था। प्रारम्भिक सुल्तानों के समय उपज का 1/3 भाग भूमि कर के रूप में लिया जाता था परन्तु अलाउद्दीन ने उसे बढ़ाकर 1/2 कर दिया था। इसके अतिरिक्त व्यापारिक चुंगी, घोड़ों पर कर, चारागाह पर कर, तथा भेंट आदि भी आय के साधन थे।

न्याय सल्तनतकाल में सुल्तान न्याय का प्रमुख स्रोत था। उसके नीचे सल्तनत का प्रधान काजी अथवा काजी-उल-कुजात होता था,जो अधीनस्थ न्यायालयों की अपील सुनता। प्रन्तीय काजियों तथा अन्य न्यायाधिकारियों की नियुक्ति भी प्रधान काजी ही करता था।हिन्दुओं और मुसलमानों के आपसी झगड़ों की सुनवाई काजी के सामने ही होती थी। सल्तनतकालीन दण्ड व्यवस्था कठोर थी। प्रायः शारीरिक यातना तथा अंग-भंग सामान्य बात थी। किन्तु फीरोज तुगलक ने दण्ड विधान को काफी उदार बनाया था।

सेना —दिल्ली सल्तनत की स्थापना सैनिक शक्ति के आधार पर हुई थी, अतः सुल्तानों के लिए एक सुसज्जित स्थायी सेना रखना अनिवार्य था। इसके अतिरिक्त प्रान्तीय सूबेदारों की सेनायें भी होती थीं, जो आवश्यकता के समय उपयोग में आती थीं। सेना में मुख्यतया पैदल, घुड़सवार और हाथियों के दस्ते होते थे। किन्तु सल्तनतकालीन सैनिक व्यवस्था संगठित नहीं थी। अधिकाँशतः सैनिकों को वेतन जागीरों के रूप में मिलता था। बलबन और अलाउद्दीन ने नकद वेतन देने की प्रथा प्रारम्भ की थी। अमीर-ए-बार नामक अधिकारी के नीचे नावों का एक सैनिक दस्ता भी होता था।

सामाजिक जीवन

वर्ग विभाजन—मुसलमानों के भारत में आकर स्थाई रूप से बसने तथा राजनीतिक शक्ति के अधिकारी होने के कारण भारतीय समाज पर अभूतपूर्व प्रभाव पड़ा। भारतवर्ष में मोटे रूप से दो सामाजिक वर्ग बन गये – (1) मुसलमान और (2) हिन्दू। ये दोनों वर्ग भी अपने वर्ग में अलग-अलग विभाजित रहे।

मुसलमान वर्ग – मुसलमानों में सैद्धान्तिक दृष्टि से कोई वर्ग विभाजन नहीं था, लेकिन भारत में मुसलमान प्रमुख रूप से दो वर्गों में विभक्त थे—(1) विदेशी मुसलमान तथा(2)भारतीय मुसलमान। सल्तनत-काल में विदेशी मुसलमानों का वर्ग सर्वाधिक सम्मानित था। पद एवं स्तर की दृष्टि से विदेशी मुसलमान भी चार वर्गों में विभाजित थे। इनमें पहला, प्रशासक —दरबारी, अमीर, सरदार और सरकारी कर्मचारियों का, दूसरा, उलेमा—मुल्ला-मौलवी, विद्वान् और साहित्यकारों का, तीसरा सूफी—फकीर, सन्त-महात्माओं का और चौथा, साधारण जनता – दस्तकार कारीगर आदि का था। इनमें से पहले वर्ग में तुर्कों की प्रधानता थी। शासन की

बागडोर इस वर्ग के हाथों में थी। यह सम्पन्न वर्ग था। दूसरा—उलेमाओं का वर्ग भी प्रभावशाली था। अलाउद्दीन खलजी एवं मुहम्मद तुगलक को छोड़कर अन्य सभी सुल्तानों के काल में इस वर्ग का राजनीति में पूरा हस्तक्षेप था। तीसरे वर्ग की राजनीति और शासन में कोई रुचि नहीं थी। पर समाज में इस वर्ग का सम्मान था। चौथे वर्ग की स्थिति साधारण थी। इस वर्ग के लोग परिश्रम एवं काम-धन्धा कर अपना गुजर चलाते थे। मुसलमानों के प्रमुख दूसरे वर्ग, भारतीय मुसलमानों की स्थिति समाज में कमजोरी थी। इनको शासन में तथा मुसलमानसमाज में सम्मानित स्थान प्राप्त नहीं था।

हिन्दू वर्ग—सल्तनत काल में हिन्दू समाज परम्परागत ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्गों में विभक्त था तथा ये सभी वर्ग कई जातियों व उपजातियों में विभाजित थे। मुसलमानों के आगमन ने हिन्दुओं की जाति-प्रथा के नियमों को और अधिक कठोर बना दिया। फलतः उनके समाज में संकीर्णता एवं संकुचितता बढ़ गई तथा बाल-विवाह, पर्दा-प्रथा सती-प्रथा आदि ने अधिक जोर पकड़ा।

दास प्रथा—सल्तनत काल में भारतीय समाज में दास प्रथा विद्यमान थी। किन्तु दासों के साथ अच्छा व्यवहार किया जाता था। सुल्तान स्वयं बड़ी संख्या में दास रखते थे, उन्हें उच्च पद प्राप्त होते थे।

स्त्रियों की दशा—हिन्दू और मुसलमान, दोनों वर्गों में सल्तनत काल में स्त्रियों की स्थिति अच्छी नहीं थी।। दोनों वर्गों की स्त्रियों में पर्दा-प्रथा जोरों पर स्त्री-शिक्षा का प्रचार कम था।यद्यपि हिन्दू स्त्रियों को अपने परिवार में सम्मानजनक स्थान प्राप्त था, पर सामाजिक दृष्टि से उनका जीवन घर की चहार-दीवारी तक सीमित हो गया था। हिन्दू स्त्रियों में सती-प्रथा जोरों पर थी। तुलनात्मक दृष्टि से मुसलमान स्त्रियों की स्थिति हिन्दू स्त्रियों से अच्छी थी। उन्हें माता-पिता की सम्पत्ति पर अधिकार प्राप्त था।

विवाह—साधारण हिन्दू समाज में एक विवाह-प्रथा थी किन्तु धनवान व्यक्ति एक से अधिक विवाह करते थे। इनमें बाल-विवाह का प्रचार था एवं विधवा विवाह वर्जित था। निम्न जातियों में हिन्दुओं में तलाक एवं विधवा विवाह भी होते थे। मुसलमानों में नियमानुसार बहु-विवाह का प्रचलन था। साधारण मुसलमान चार स्त्रियों से विवाह कर सकता था। बड़े आदमी और शासक लोग कई पत्नियां रखते थे। मुसलमानों में विधवा-विवाह एवं तलाक-प्रथा प्रचलित थी

रहन-सहन और खान-पान— रहन-सहन तथा वेश-भूषा की दृष्टि से सल्तनत काल में भारतीय लोगों का स्तर उन्नत हुआ था। धोती, पाजामा, कुरता, अंगरखा और पगड़ी पुरुषों के प्रमुख वस्त्र थे। स्त्रियाँ पेटीकोट, चोली, आंगी तथा चुनरी पहनती थीं। लोग सोने, चाँदी तथा जवाहरात के आभूषण सिर से पाँव तक पहिनते थे। धनी वर्ग में शारीरिक सज्जा प्रचलित थी। खान-पान का दृष्टि से अन्न-फल,

मांस-मदिरा का प्रयोग हिन्दू और मुसलमान, दोनों में प्रचलित था किन्तु मुसलमानों में मांसाहार का अधिक प्रचार था।

हिन्दू और मुसलमान, दोनों वर्ग के लोग विविध प्रकार के खेलों—चौपड़, चौगान, द्वन्द्व-युद्ध, पशु-पक्षियों के युद्ध, शिकार आदि से मनोरंजन करते थे। वर्ष में विविध प्रकार के त्यौहार जैसे—हिन्दुओं के होली, दीवाली तथा मुसलमानों के ईद नौरोज, शब्बेरात आदि मनाए जाते थे।

आर्थिक स्थिति – आर्थिक दृष्टि से महमूद गजनवी एवं गौरी की लूट के कारण भारतीय धन बाहर गया था, फिर भी भारत एक समृद्धशाली देश था। कृषि, उद्योग एवं व्यापार उन्नत अवस्था में थे। विविध प्रकार के अन्न, फल, मसाले, सब्जियाँ, गन्ना, कपास आदि उत्पन्न किए जाते थे। वस्त्र, कागज तथा शक्कर बनाना एवं लकड़ी, हाथी-दाँत की कारीगरी, आदि विविध प्रकार के उद्योगों का प्रचार था। वस्त्र उद्योग सबसे प्रमुख एवं उन्नत था। आन्तरिक एवं बाह्य, दोनों प्रकार का व्यापार भी बढ़ा-चढ़ा था। एक दूसरे नगर सड़कों से जुड़े होते थे एवं नगरों में व्यापारिक मण्डियाँ होती थी। ईरान, अरब, अफ्रीका, अफगानिस्तान, मध्य एशिया, मलाया, चीन आदि से व्यापार होता था। विदेशी व्यापार स्थल एवं जल दोनों मार्गों से होता था। सम्पूर्ण रूप से भारत सल्तनत युग में भी एक समृद्धशाली देश था।

सांस्कृतिक प्रभाव

हिन्दू मुस्लिम समन्वय —भारत में इस्लाम के आगमन एवं मुसलमानों के स्थायी निवास का सामाजिक, साँस्कृतिक एवं धार्मिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। जन-जीवन और संस्कृति के इन पक्षों में दोनों में चाहे-अनचाहे आदान-प्रदान हुआ। परिणामस्वरूप भारत में एक नया साँस्कृतिक वातावरण बना और भारतीय तथा इस्लामी संस्कृतियों का समन्वय होकर एक मिली-जुली हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति का विकास हुआ।

भारत में हिन्दू-मुस्लिम समन्वय का श्रीगणेश सामाजिक रीति-रिवाजों के आदान-प्रदान से प्रारम्भ हुआ। हिन्दुओं के बीच रहने के कारण इस्लामी समाज में अनेक हिन्दू रीति-रिवाज घुस गए। मुस्लिम समाज में हिन्दू जाति-प्रथा के प्रभाव-स्वरूप वर्ग भेद उत्पन्न हुआ। कुछ संशोधनों के साथ हिन्दु संयुक्त-परिवार-प्रथा मुसलमानों ने अपनाई। बाल-विवाह का रोग भी मुसलमानों में फैला। मुसलमान स्त्रियाँ हाथ में चूड़ियाँ व नाक में नथ पहिनने लगीं-एवं मांग में सिन्दूर भरने लगीं। इसी तरह कई मुसलमानी प्रथाएँ हिन्दू समाज में अपनाई गई। मुसलमानी पोशाक पाजामा, अचकन आदि तथा खान-पान की वस्तुएँ—पूरी, समोसा, बूँदी आदि हिन्दुओं ने अपनाए। इस आदान-प्रदान ने हिन्दुओं और मुसलमानों को निकट लाने का काम किया। परिणामस्वरूप भारत में भाषा, साहित्य एवं कला का सम्मिश्रित स्वरूप में विकास हुआ।

भाषा एवं साहित्य—सल्तनत काल में होने वाले हिन्दू-मुस्लिम समन्वय ने भाषा एवं साहित्य के क्षेत्र में नए आयामों को जन्म दिया। फारसी एवं भारतीय

भाषाओं के मिश्रण से भारत में उर्दू भाषा का जन्म हुआ। इसी उर्दू एवं संस्कृत प्रधान भारतीय भाषाओं के मेल-जोल से आगे चलकर खड़ी बोली का विकास हुआ।

भारतीय इतिहास के अन्य युगों की भाँति यद्यपि सल्तनत काल साहित्यिक प्रगति की दृष्टि से मध्यम था, फिर भी इस युग में फारसी, संस्कृत, उर्दू, हिन्दी तथा प्रान्तीय भाषाओं में कई लेखक एवं रचनाकार हुए—जिन्होंने कई प्रकार के ग्रन्थों की रचना की। नरुद्दीन, खुसरव, मीरहसन, देहलवी, बदरुद्दीन मुहम्मद आदि विद्वान् एवं कवि इस युग में हुए। इन सब में खुसरव सबसे प्रसिद्ध कवि एवं लेखक था। उसने 'खजाने तुल-फतुह', 'तारीखे-अलाई', 'तुगलकनामा' आदि ग्रन्थ लिखे। इसके अतिरिक्त, बर्नी, अफीक, याहया आदि इतिहासकार भी इस युग में हुए। इसी काल में अलबरुनी ने कई संस्कृत ग्रन्थों का फारसी में अनुवाद किया। सल्तनत काल के साहित्यिक विकास की सबसे प्रमुख विशेषता यह थी कि प्रान्तीय भाषाओं में भी खूब साहित्य लिखा गया। इसी युग में बल्लभाचार्य और उनके शिष्यों ने ब्रज भाषा में, नामदेव ने मराठी में तथा चैतन्य ने बंगला में कई साहित्यिक रचनाएँ लिखीं।

कला—सल्तनत काल में कला के क्षेत्र में मुख्य रूप से स्थापत्य कला का विकास हुआ। इस युग में भारतीय एवं इस्लामी स्थापत्य शैलियों का समन्वय हुआ। इसलिए सल्तनत काल में विकसित होने वाली स्थापत्य कला को भारतीय इस्लामी स्थापत्य कला कहा जाता है। इस युग में इस्लामी एवं भारतीय स्थापत्य कला की विशेषताओं को सम्मिलित रूप में प्रकट करने वाले कई स्मारकों का निर्माण हुआ।

तुर्क शासकों में कुतुबुद्दीन ऐबक ने दिल्ली में 'कुबत-उल-इस्लाम' तथा अजमेर में 'ढाई दिन का झोंपड़ा' नामक दो मस्जिदों का निर्माण करवाया। ये पूर्व में बने भारतीय मन्दिरों को मस्जिद के रूप में परिवर्तित करके बनवाई गई थीं। अतः इसमें स्वभावतया इस्लाम और भारत की कला का सामंजस्य नजर आता है। इनके सिवाय ऐबक ने दिल्ली में 'कुतुबमीनार' के निर्माण का कार्य आरम्भ करवाया, जिसे इल्तुतमिश ने पूरा करवाया। इल्तुतमिश ने अपने पुत्र नासिरुद्दीन मुहम्मद का मकबरा—'सुल्तानगढ़ी' कुतुबमीनार के निकट स्वयं का मकबरा तथा कई अन्य मस्जिदें बनवाईं। उसने 'कुवत-उल-इस्लाम' तथा 'ढाई दिन का झोंपड़ा' नामक मस्जिदों का भी विस्तार करवाया। इसी तरह बलवन ने भी रायपिथोरा के निकट अपना स्वयं का मकबरा तथा 'लालमहल' बनवाए। बलवन का मकबरा भारत में इस्लामी कला का श्रेष्ठ नमूना गिना जाता है। सल्तनत काल के शासकों में अलाउद्दीन एक महान् निर्माता था। उसने कई स्मारकों का निर्माण करवाया जिनमें दिल्ली में निजामुद्दीन औलिया की दरगाह के अन्तर्गत 'जमैयत खाना मस्जिद' तथा कुतुबमीनार के निकट बना 'अलाई दरवाजा' अधिक प्रसिद्ध है। अलाई दरवाजे की स्थापत्य कला की प्रशंसा करते हुए जॉन मार्शल ने लिखा है कि 'अलाई दरवाजा इस्लामी स्थापत्य

के खजाने का सबसे सुन्दर हीरा है।' तुगलक शासकों के काल में भी कई इमरतें बनीं और मुख्यकर सुल्तान फीरोज तुगलक ने कई निर्माण कार्य करवाए। परन्तु तुगलकों के स्थापत्य स्मारक सुन्दर एवं भव्य नहीं हैं। फिर भी स्थापत्य कला की दृष्टि से 'तुगलकाबाद का किला', 'तुगलकशाह का मकबरा', 'लाल गुम्बद' आदि तुगलक सुल्तानों के काल में बने स्थापत्य स्मारकों में प्रमुख हैं। सैयद एवं लोदी शासकों के काल के स्मारकों में 'मोठ की मस्जिद' को सर्वोत्तम माना जाता है।

इन स्मारकों के अतिरिक्त सल्तनत काल में कई नगर, तालाब, किले आदि बनवाए गए। उनमें से अधिकांश नष्ट हो गए हैं, किन्तु तत्कालीन अवशिष्ट मस्जिदों, मकबरों, मीनारों आदि से प्रकट होता है कि मुस्लिम शासन काल में अधिकांश इमारतों का निर्माण तोड़ी गई भारतीय इमारतों की सामग्री से हुआ था, अतः स्वभावतया उनमें हिन्दू और मुस्लिम स्थापत्य शैलियों का मिश्रण हुआ। फिर भी इस काल की इमारतों में इस्लामी स्थापत्य की निजी विशेषताएँ थीं, जो प्रमुख रूप से निम्नलिखित हैं—(1) ऊपर गोल गुम्बज, (2) ऊँची मीनारें, (3) महराब (4) भूमि-गृह (तहखाना), (5) सम्पूर्ण इमारत चौड़ी, विशाल और खुली हुई होना।

उपर्युक्त विशेषताओं वाले स्मारकों के अलावा सल्तनत काल में प्रान्तीय राज्यों में भारतीय स्थापत्य की विशेषताओं वाली कई इमारतों का निर्माण हुआ। वैसे सल्तनत काल में बने भारतीय स्थापत्य कला के कई नमूने ध्वस्त हो गए हैं, फिर भी जो नमूने बच सके, वे राजस्थान, मध्य भारत तथा विजयनगर में पाए जाते है। मेवाड़ में राणा कुम्भा द्वारा बनवाया गया कीर्ति-स्तम्भ उस युग के स्मारकों में सबसे महत्त्वपूर्ण है, जो अपनी उन्नत कला से आकर्षित करते हैं। दक्षिणी भारत में विजयनगर के शासक कला-प्रेमी थे। स्वयं उनकी राजधानी विजयनगर की सुन्दरता की तत्कालीन यात्रियों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की थी और वर्तमान में भी उनका बनवाया हुआ 'विट्ठल स्वामी का मन्दिर'—उनके कला-प्रेमी और तत्कालीन उन्नत स्थापत्य का परिचय कराता है। इन हिन्दू स्थापत्य-स्मारकों की विशेषताएँ मुख्यतया निम्नलिखित है - (1) पतले और चौकोर खम्भे, (2) पुश्तें, (3) नोंकदार तथा कॉन्टी-लीवर सिद्धान्त पर बनी हुई (एक साथ सपाट न होकर ऊपर से नीचे) महराबें और (4) अलंकरण युक्त सजावट। हिन्दू इमारतों की एक मुख्य विशेषता यह थी कि वे रहस्यमयी होती थीं; चौड़ी तथा खुली हुई नहीं बनती थी।

धार्मिक दशा—सल्तनत काल में भारत में विकसित विभिन्न प्राचीन धार्मिक विचारधाराएँ—वैदिक, जैन व बौद्ध धर्म तथा वैष्णव, शैव, शाक्त एवं तांत्रिक सम्प्रदाय विद्यमान थे। इसके साथ इस्लाम के आवागमन से भारत में इस्लाम की शिया व सुन्नी विचारधाराओं को मानने वाले भी थे। इस्लाम के आवागमन के परिणाम स्वरूप प्रारम्भ में भारतीय धार्मिक विचारधारा एवं इस्लामी विचारधारा में संघर्ष होना स्वाभाविक था। किन्तु कालान्तर में इस्लाम और वैदिक दोनों धर्मों में परोक्ष आदान-प्रदान हुआ। इस्लाम में कुछ वैदिक धर्म के रीति-रिवाज स्थान प्राप्त करने

लगे और इसी प्रकार हिन्दू भी कतिपय इस्लाम धर्म की बातों को श्रद्धा से देखने लगे। लेकिन सल्तनतकालीन धार्मिक जीवन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष भारत में भक्ति-आन्दोलन का विकास था, जिसके अन्तर्गत मुसलमान सन्तों ने सूफीमत का प्रतिपादन किया और हिन्दू सन्तों ने भक्तिमत का प्रचार किया।

भक्ति आन्दोलन :

मध्ययुगीन भक्ति-आन्दोलन का भारतीय इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान है। लेकिन इस आन्दोलन के कारण अथवा पृष्ठभूमि क्या थी, इसके बारे में विद्वानों में मतभेद हैं। कुछ इतिहासकार इस्लाम के वैदिक धर्म पर पड़ने वाले प्रभाव को इसका कारण मानते हैं। इसके विपरीत कुछ विद्वान् भक्ति-आन्दोलन को वैदिक धर्म के अन्तर्गत मोक्ष प्राप्ति के लिए परम्परागत होने वाले प्रयत्न का प्रकट रूप मानते हैं। यद्यपि यह सही हैं कि यह आन्दोलन परम्परित वैदिक धर्म के अन्तर्गत था, किन्तु मध्य युग में इसके प्रकट रूप मे सामने आने के पीछे उस युग की भारत की सामजिक एव धार्मिक परिस्थितियों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। सामाजिक दृष्टि से हिन्दू और मुसलमान दो वर्ग भारत के स्थायी निवासी थे। किन्तु, धार्मिक दृष्टि से उनकी विचारधाराएँ भिन्न थी। और उनकी अपनी-अपनी जटिल धार्मिक मान्यताएँ उनमे सामंजस्य उत्पन्न करने में बाधक थीं। ऐसी स्थिति में उस युग के हिन्दू और मुसलमान, दोनों पक्षों के विचारकों ने यह अनुभव किया कि अब इस देश में दोनों जातियों का एक साथ रहना अनिवार्य है और दोनों में से किसी को दबाया या समाप्त नहीं किया जा सकता। अतः दोनों पक्षों के विचारवान महात्माओं ने इस प्रकार की विचारधारा को जन्म दिया, जिससे दोनों पक्षों मे सामंजस्य और एकता की धारणा उत्पन्न हो; वे जातिगत भेद-भाव और अपने-अपने धर्म की श्रेष्ठता के दुराग्रह से दूर रहकर, मानवता तथा एक ईश्वर की बात सोच सकें। इसके लिए हिन्दू और मुसलमान, दोनों पक्षों के विचारकों द्वारा ज्ञान और दर्शन की ऊँची वैचारिक उड़ानों से परे ईश्वर-प्रेम और भक्ति के सरल व सीधे मार्ग का प्रतिपादन किया गया। इस कार्य में इस्लाम के सूफी-सन्तों ने तथा हिन्दुओं के भक्तिमार्गी वैष्णव भक्तों ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

सूफी मत—सूफीमत इस्लाम की प्राचीन विचारधारा से सम्बन्धित था। इसमें उदारता, सहिष्णुता, मानवता और प्रेम को अधिक महत्त्व प्राप्त था। सूफी विचारकों की मान्यता थी कि मनुष्य मात्र की सेवा से ही ईश्वर की प्राप्ति होती है। भारतीय भक्तिमत की तरह सूफीमत में भी ईश्वर के प्रति प्रेम तथा आत्मा का परमात्मा (ईश्वर) में विलीन होना ही महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि सभी कुछ ईश्वरमय है, उसके बाहर कुछ नहीं। अतः सभी प्रकार से त्याग करके एक ईश्वर को प्रेम से प्राप्त करना या उसमें अपना विलीनीकरण करना जीवन का मुख्य लक्ष्य है। इस विलीनीकरण के लिए ईश्वर के गुणगान मे खो जाना ही सूफीमत की उपासना का प्रमुख विधान है, जो भारत के भक्तिमत से पूरा मेल खाता है। इस में धार्मिक कट्टरता को कहीं स्थान प्राप्त नहीं है।

सूफी विचारधारा के प्रवर्तकों में ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती, निजामुद्दीन औलिया, बाबा फरिदुद्दीन तथा बन्देनबाज के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें से की ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती अधिक प्रसिद्ध हैं। इन महात्माओं की दृष्टि में हिन्दू और मुसलमान समान थे। ये संसार के समस्त धर्मों का मूल एक मानते थे। इसी कारण हिन्दू और मुसलमान, दोनों पर इनके विचारों का समान प्रभाव पड़ा और आज भी वह प्रभाव विद्यमान है। आज भी अजमेर में ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती की दरगाह पर हजारों हिन्दू और मुसलमान जाते है और इसी तरह दिल्ली में औलिया साहब की दरगाह पर लगने वाले मेले में हजारों हिन्दू और मुसलमान भाग लेते है।

भक्तिमत – सूफी सन्तों की तरह ही जातीय भेदभाव से रहित एक ईश्वर, उसकी अनन्य भक्ति और उसकी भक्ति से सभी प्रकार के सुख की अनुभूति हो सकने की भक्तिमार्गी विचारधारा को आगे बढ़ाने में मध्यकाल में कई सन्तो ने अपना सारा जीवन समर्पित कर दिया। इनमें स्वामी रामानुज, रामानन्द, वल्लभाचार्य, चैतन्य, नामदेव, कबीर, रैदास, मीरा आदि प्रमुख थे।

रामानुज —रामानुज मध्यकाल में भक्ति-आन्दोलन के जनक माने जाते हैं। इन्होंने विष्णु-भक्ति का मार्ग चलाया। रामानुज ने शंकराचार्य के अद्वैतवाद के स्थान पर विशिष्टाद्वैत के नए सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इसके अनुसार परमात्मा और जीवात्मा एक होते हुए भी एक-दूसरे से भिन्न हैं और ईश्वर-भक्ति से जीवात्मा परमात्मा के निकट पहुँचता है। रामानुज ने ईश्वर को न्याय और प्रेम की मूर्ति के रूप में जनता के समक्ष प्रस्तुत किया, जिससे जनता में भक्ति भावना जाग्रत हुई।

रामानुज —मध्यकालीन भक्ति-आन्दोलन के एक प्रतिनिधि सन्त स्वामी रामानन्द थे। सीता-राम उनके उपास्यदेव थे। इन्होंने राम की निर्गुण-भक्ति पर अधिक जोर दिया। स्वामी रामानन्द ने जाति पाँति के भेद पर घोर प्रहार किया। उनके बारह प्रसिद्ध शिष्य थे जिनमें एक जुलाहा–कबीर, एक चमार–रैदास, एक राजपूत–पीपा, एक ब्राह्मण–अनन्तानन्द और एक नाई–सेना भी था। रामानन्द का महत्त्व इस बात में भी है कि उन्होंने अपने विचारों के प्रचार के लिए बोलचाल की भाषा को अपनाया।

वल्लभाचार्य—मध्यकाल में भक्ति-मार्ग की कृष्ण-भक्ति शाखा का भी जबरदस्त विकास हुआ। इस शाखा में आचार्य निम्बार्क का स्थान प्रथम है। किन्तु इस शाखा को जनप्रिय बनाने का श्रेय वल्लभाचार्य को है। उनका कथन था कि मनुष्य को इच्छाहीन हो जाना चाहिए। क्योंकि जब तक शरीर में वासना विद्यमान है तब तक ईश्वर से मिलन नहीं हो सकता। इसलिए उन्होंने ईश्वर के प्रति सर्वस्य समर्पण करने का विचार रखा।

चैतन्य — लगभग वल्लभाचार्य के समय में ही नवगाँव (बंगाल) में चैतन्य महाप्रभु का उदय हुआ। उन्होंने बंगाल और उड़ीसा में कृष्ण-भक्ति का प्रचार किया। उन्होंने कर्मकाण्ड को फलहीन बताया, जाति-पाँति का विरोध किया और हरि-भक्ति का उपदेश दिया। उनका भक्ति-विधान प्रेम और श्रीकृष्ण चरित्र का सतत्

गुणगान करना था। इसी में वे खोए रहते थे और बेसुध हो जाते थे। उनके व्यक्तित्व का लोगों पर भारी प्रभाव पड़ा और लोग इनमें श्रीकृष्ण-तत्त्व की अनुभूति करने लगे।

नामदेव– भारतीय भक्ति-आन्दोलन की इस परम्परा में कुछ ऐसे भी सन्त हुए, जिन्होंने जाति-पाँति के साथ-साथ बहुदेववाद और मूर्ति-पूजा की निन्दा की एवं राम और रहीम को एक बतलाया। ऐसे सन्तोंमें नामदेव का नाम सबसे पहले आता है। नामदेव ने ईश्वर की एकता का उपदेश दिया। मूर्ति-पूजा और आडम्बरों का खण्डन किया। उनका कहना था—'लोग मिट्टी की बनी मूर्ति की पूजा करते हैं, परन्तु एक जीवित प्राणी की हत्या करने के लिए शस्त्र धारण करते हैं। यह सब मिथ्या है, निरर्थक है। महत्त्व की एक बात ईश्वर के नाम का उच्चारण ही है।'

कबीर—महात्मा कबीर ने हृदय की शुद्धता और जीवन की पवित्रता पर जोर दिया। उन्होंने धार्मिक अन्धविश्वास, जाति-भेद और धार्मिक सहिष्णुता का डटकर विरोध किया। उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम एकता का खुलकर प्रचार किया। उन्होंने बतलाया कि धर्म का वास्तविक सम्बन्ध जिन मूल तत्त्वों से है, वे तत्त्व किसी एक धर्म की पूँजी नहीं हैं, उन तत्त्वों का निकास सभी धर्मों में है।

नानक—नानक ने कबीर की परम्परा को आगे बढ़ाया। उन्होंने भी जाति-पाँति तथा मूर्ति-पूजा का विरोध कर एकेश्वरवाद का प्रचार किया। हिन्दू-मुस्लिम एकता पर नानक ने बहुत जोर दिया। उनके शिष्यों में दोनों जातियों के लोग थे। नानक के अनुयायी आगे चलकर सिक्ख कहलाए।

नानक के बाद भी अनेक सन्त होते रहे। इनमें मीराबाई का नाम प्रमुख है। मीरा का जन्म राजस्थान (मेड़ता) में हुआ। मीराबाई ने कृष्ण-भक्ति का मार्ग अपनाकर अपने पदों में श्रीकृष्ण की लीलाओं का गुणगान किया। इसके माध्यम से मीरा ने जनता को ईश्वर-भक्ति के लिए प्रेरित किया।

महत्त्व मध्यकालीन भक्ति-आन्दोलन से भारत में सदियों से संचित आध्यात्मिक ज्ञान लोकभाषा के माध्यम से सरल रूप में जन-साधारण तक पहुँचा। इसने धर्म के बाह्य-आडम्बरों का विरोध किया और लोगों के सामने सरल और उन्नत जीवन का आदर्श रखा। जाति-पाँति के भेद से दूर रहकर आपसी स्नेह, मैत्री, करुणा और सदाचार का उपदेश देकर सूफी-सन्तों व भक्तिमत के प्रवर्तकों ने लोगों के नीरस जीवन में आशा और उत्साह का संचार किया। इस दृष्टि से भक्ति-आन्दोलन का भारी महत्त्व है।

अध्ययन का उपयोग

नीचे दिए गए प्रश्नों का उत्तर दीजिए और अपने अध्ययन को उपयोगी बनाइए—

1. सल्तनतकालीन शासन व्यवस्था का आधार क्या था ?
2. सल्तनतकाल में भारत में हिन्दू और मुस्लिम समाज की क्या स्थिति थी ?
3. सल्तनतकाल में साहित्य और कला के क्षेत्र में क्या प्रगति हुई ?
4. मध्यकाल में सूफी मत एवं भक्तिमत के प्रमुख प्रवर्तक कौन-कौन थे ?
5. भक्ति आन्दोलन का क्या महत्त्व है ?

अध्ययन की जाँच

सही उत्तर का क्रमाक्षर कोष्ठक में लिखिए—

1. अरबी, फारसी और भारतीय भाषाओं के मिश्रण से जिस भाषा का उदय हुआ वह थी—

   (अ) खड़ी बोली (ब) हिन्दुस्तानी

   (स) उर्दू (द) पालि ( )

2. यदि आपसे कोई विदेशी राजस्थान के उस नगर में ले जानेको कहे, जहाँ किसी ऐसे सन्त की समाधि है, जिसकी नजरों में हिन्दू और मुसलमान एक समान थे, तो आप उसे जिस नगर में ले जायेंगे, वह होगा—

   (अ) जयपुर (ब) उदयपुर

   (स) अजमेर (द) आमेर ( )

सोच-विचार कर उत्तर लिखिए—

1. यह कैसे कहा जा सकता है कि सल्तनतकाल में व्यक्ति का शासन था, न कि कानून का ?
2. 'भक्ति आन्दोलन तत्कालीन भारत की अनिवार्य आवश्यकता थी।' यदि भक्ति आन्दोलन नहीं होता, तो भारत में हिन्दू और मुसलमानों के बीच सामंजस्य की दशा में क्या कमी रह जाती ?

निम्नलिखित क्रियात्मक कार्य कीजिए और अपना कौशल बढ़ाइये—

1. ऐतिहासिक भारत के मानचित्र में उन स्थानों को अंकित कीजिए जहाँ सल्तनत काल में बने प्रसिद्ध स्थापत्य स्मारक विद्यमान हों।
2. सल्तनतकालीन स्थापत्य स्मारकों के चित्रों को संग्रहित कर अपने एलबम में लगाइए।

पूरक अध्ययन ग्रन्थ

1. डॉ० ईश्वरी प्रसाद : मध्यकालीन भारत का इतिहास
2. डॉ० ए. एल. श्रीवास्तव : दिल्ली सल्तनत
3. ए. बी. पाण्डेय : पूर्व-मध्यकालीन भारत
4. शर्मा : व्यास : मध्यकालीन भारत

अध्याय 22

प्रान्तीय राज्यों का उत्थान एवं विकास

सल्तनत काल में भारत में कतिपय प्रान्तीय राज्यों का उदय एवं पुनरुत्थान हुआ, जिन्होंने आगे आने वाले युग के भारतीय इतिहास को प्रभावित किया। ऐसे राज्यों में दक्षिणी भारत में विजयनगर का हिन्दू राज्य तथा बहमनी का मुसलमानी राज्य और राजस्थान में मेवाड़, मारवाड़, आमेर (जयपुर) तथा बूँदी (हाड़ौती) के राजपूत राज्यों का प्रमुख स्थान है।

दक्षिणी भारत के प्रमुख प्रान्तीय राज्य—अलाउद्दीन खलजी ने दक्षिणी भारत में मुसलमानी प्रभुत्व की स्थापना की और मुहम्मद तुगलक ने दक्षिणी भारत के राज्यों पर सीधा अधिकार जमाने की चेष्टा की। लेकिन, दक्षिणी भारत के राज्य दिल्ली सल्तनत के शासकों के साथ ताल-मेल नहीं बैठा पाए और चौदहवीं शताब्दी में दक्षिण में दिल्ली के आधिपत्य से मुक्त होने का आन्दोलन हुआ। इसी के परिणामस्वरूप दक्षिणी भारत में सन् 1336 ई. में विजयनगर के एक हिन्दू राज्य तथा सन् 1347 ई. में बहमनी के एक मुसलमानी राज्य का उदय हुआ।

विजयनगर राज्य की स्थापना

विजयनगर राज्य की स्थापना हरिहर और बुक्काराय नामक दो भाइयों ने की थी। ये दोनों भाई पहले दक्षिणी भारत के कम्पिली राज्य में मन्त्री थे। ऐसा माना जाता है कि कम्पिली पर आक्रमण के समय मुहम्मद तुगलक हरिहर एवं बुक्का, इन दोनों को पकड़ कर दिल्ली ले गया था। संभवतः दिल्ली में इन दोनों भाइयों का धर्म परिवर्तन कराया जाकर इन्हें मुसलमान बना दिया गया था। लेकिन इसी समय दक्षिणी भारत में द्वारसमुद्र के शासक वीरबल्लाल तृतीय ने दिल्ली सल्तनत से अपना सम्बन्ध तोड़कर कम्पिली पर आक्रमण किया। इस पर मुहम्मद तुगलक ने हरिहर और बुक्का को कम्पिली की रक्षा के लिए दक्षिण में भेजा। लेकिन दक्षिण में आकर विद्यारण्य नामक सन्त के प्रभाव से हरिहर और बुक्का पुनः हिन्दू बन गए और उन्होंने तुंगभद्रा नदी के दक्षिणी क्षेत्र में सन् 1336 ई. में हम्पी-हस्तिनावली राज्य की नींव डाली तथा विद्यानगर या विजयनगर नाम से एक नया नगर बसाकर उसे अपने राज्य की राजधानी बनाया। हम्पी-हस्तिनावली का यही राज्य इतिहास में 'विजयनगर राज्य' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

विजयनगर राज्य की शक्ति का विकास–विजयनगर राज्य का पहला शासक हरिहर था। उसने बीस वर्ष तक शासन किया और अपने राज्य का विस्तार करते हुए विजयनगर राज्य में एक व्यवस्थित शासनतन्त्र की स्थापना की। हरिहर के बाद

बुक्का विजयनगर का शासक बना। उसने भी राज्य विस्तार का कार्य जारी रखा तथा होयसल एवं मदुरा के राज्य पर अधिकार कर अपने साम्राज्य को बढ़ाया। हरिहर और बुक्का का वंश इतिहास में उनके पिता के नाम पर 'संगम वंश' कहलाता है।

बुक्का के उत्तराधिकारी—बुक्का के बाद उसका पुत्र हरिहर द्वितीय सिंहासन पर बैठा। उसने 'महाराजाधिराज' की उपाधि धारण की। इसने कई विजय कीं तथा उसके शासन काल में विजयनगर राज्य सुसंगठित, प्रबल और शक्तिशाली बन गया। हरिहर द्वितीय के बाद **विरूपाक्ष प्रथम व बुक्का द्वितीय** शासक बने और इनके बाद **देवराय प्रथम** शासक बना। देवराय प्रथम के शासन काल में विजयनगर राज्य की सांस्कृतिक उन्नति हुई और वह विद्या का केन्द्र बन गया। देवराय प्रथम के बाद रामचन्द्र और फिर वीरविजय शासक बने। किन्तु इस वंश का सबसे प्रतापी शासक **देवराय द्वितीय** था। उसने अपने राज्य की शक्ति को बढ़ाते हुए शासन-व्यवस्था व सैनिक संगठन को सुधारने का प्रयास किया और विजयनगर राज्य को प्रभुत्वशाली बनाया।

देवराय द्वितीय की मृत्यु के बाद **विजय द्वितीय, मल्लिकार्जुन और विरूपाक्ष द्वितीय** शासक बने। किन्तु उनके समय में विजयनगर शक्तिहीन होता चला गया और सन् 1485 ई. में चन्द्रगिरी के सरदार **नरसिंह सुलुव** ने विजयनगर के राज्यसिंहासन पर अपना अधिकार जमा लिया। इनका वंश विजयनगर राज्य के इतिहास में **सुलुव वंश** के नाम से प्रसिद्ध हुआ। नरसिंह स्वयं एक योग्य शासक था। उसने विजयनगर राज्य को काफी फैलाया और सुदृढ़ किया। किन्तु उनके उत्तराधिकारी अल्पायु थे, अतः राज्य के सेनापति **नरसनायक** को राज्य का संरक्षक बनाया गया। नरसनायक ने नरसिंह के पुत्र **तिम्मा** को शासक बनाया, पर उसके समय में साम्राज्य की पूरी शक्ति नरसनायक के हाथों मे केन्द्रित रही। इसका लाभ उठाकर नरसनायक के पुत्र **वीर नरसिंह** ने सन् 1505ई. में विजयनगर की गद्दी पर अपना अधिकार जमा लिया और विजयनगर पर तीसरे राज्य वंश का शासन प्रारम्भ हुआ। यह वंश विजयनगर के इतिहास में **तुलुव वंश** के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें **कृष्णदेवराय** (1509 से 29) नामक शासक बड़ा पराक्रमी हुआ। उसने विद्रोही सामन्तों को दबाया। उड़ीसा के विरुद्ध युद्ध कर अपने प्रान्तों को पुनः जीता और बहमनी, गोलकुण्डा और बीजापुर की सेनाओं को परास्त किया। कृष्णदेवराय एक योग्य सैनिक, सेनाध्यक्ष एवं कुशल प्रशासक था। उसने अपने राज्य में कृषि की उन्नति के लिए खूब प्रयत्न किया। वह साहित्य कला का भी प्रेमी था। उसके दरबार में कई विद्वान् एवं साहित्यकार रहते थे। उसने कई मन्दिरों, महलों और किलों का निर्माण करवाया। उसके समय में विजयनगर राज्य में कला और साहित्य का खूब विकास हुआ।

कृष्णदेवराय की मृत्यु के बाद अच्युत और फिर सदाशिव गद्दी पर बैठे, किन्तु सदाशिव के समय में साम्राज्य की शक्ति उसके मन्त्री रामराय के हाथों में केन्द्रित रही। रामराय ने अहमदनगर के राज्य को लूटा। परिणामस्वरूप बीजापुर,

गोलकुण्डा, अहमदनगर तथा बीदर के मुसलमानी शासकों ने संघ बनाकर विजयनगर के विरुद्ध आक्रमण किया। विजयनगर और इन राज्यों के बीच तालीकोटा के युद्ध (1565 ई.) में मुसलमानी राज्यों को शानदार सफलता मिली और विजयनगर का हिन्दू राज्य विघटित हो गया।

विजयनगर राज्य की शासन व्यवस्था— विजयनगर राज्य में शासन का सर्वोच्च अधिकारी स्वयं राजा होता था। उसके अधिकार असीमित थे। इस पर भी वह निरंकुश नहीं होता था और प्रजा-पालन तथा धर्म की रक्षा को अपना कर्त्तव्य समझता था। अपनी सहायता के लिए राजा मन्त्रियों की नियुक्ति करता था। मन्त्रियों का कार्य राजा को सलाह देना तथा अपने-अपने विभाग का प्रबन्ध करना था। मन्त्रियों के अतिरिक्त बहुत से अन्य पदाधिकारी भी होते थे, जिन्हें जागीरें मिली हुई थीं। पुलिस का अधिकारी मुगलों के कोतवाल के समान था। उसका काम शान्ति तथा व्यवस्था को कायम रखना था।

विजयनगर का पूरा राज्य प्रान्तों में विभाजित था। प्रान्तपति की नियुक्ति राजा करता था। उसे राजा को अपने प्रान्त की आय का एक नियत भाग देना पड़ता था। उसे नियत संख्या में सेना भी रखनी पड़ती थी और राजा को सैनिक सहायता भेजनी पड़ती थी। गाँवोंमें स्थानीय शासन की प्रथा थी और पंचायतें शासन चलाती थीं। ये पंचायतें बहुत से कार्य किया करती थीं और उन्हें काफीं अधिकार प्राप्त थे।

राज्य का दण्ड-विधान बहुत कठोर था। साधारण अपराधों के लिए अंग-भंग का दण्ड और गुरुत्तर अपराधों के लिए मृत्यु-दण्ड दिया जाता था। भूमिकर बहुत कम था जो पहले वस्तु रूप में और बाद में नकदी रूप में वसूल किया जाता था।

सामाजिक व्यवस्था—समाज परम्परागत चार वर्गों में विभक्त था। मुसलमान भी राज्यों में रहते थे। स्त्रियों की स्थिति अच्छी थी और उन्हें जीवन के हर क्षेत्र में पुरुषों की भाँति उन्नति करने के अवसर प्राप्त थे, लेकिन सती-प्रथा, बहु-विवाह और बाल-विवाह जैसी कुरीतियाँ मौजूद थीं। समाज में वेश्यावृत्ति काफी प्रचलित थी। वेश्याओं से राज्य कर वसूल करता था।

आर्थिक स्थिति-विदेशी यात्रियों ने विजयनगर की समृद्धि का विस्तृत वर्णन किया है। उनके वर्णनों से पता चलता है कि कृषि, उद्योग, एवं व्यापार उन्नत अवस्था में थे। दस्तकारों और व्यापारियों के अपने संघ बने हुए थे, जो देश के आर्थिक जीवन में बड़ा महत्त्व रखते थे। राज्य का विदेशी व्यापार बहुत उन्नत अवस्था में था। समुद्री व्यापार की सुविधा के लिए राज्य की तरफ से एक जहाजी बेड़ा रहता था। चीन, ब्रह्मा, मलाया द्वीप एवं अन्य देशों से व्यापार होता था। राज्य से लोहा, शक्कर, शोरा, आदि बाहर भेजे जाते थे और बाहर से घोड़े, हाथी, रेशम आदि लाए जाते थे।

कला और साहित्य—विजयनगर के शासक कला और साहित्य के प्रेमी थे। उनके समय में संस्कृत, तेलुगू, तमिल, कन्नड़ आदि सभी भाषाओं की उन्नति हुई।

कृष्णदेवराय स्वयं कवि, गायक और साहित्यक र था। उसके दरबार में आठ नामी साहित्यकार थे। विजयनगर के राजाओं को इमारतें बनवाने का भी शौक था। उन्होंने कई बड़े बड़े तालाव, हौज, झीलें, नहरें तथा सिचाई के अन्य साधनों का निर्माण कराया और भवन व मन्दिर बनवाए। विजयनगर राज्य के शासकों के काल में बनवाए गए 'हजारा' और 'विट्ठल स्वामी का मन्दिर' तत्कालीन भवन निर्माण कला के उत्कृष्ट उदाहरण माने जाते हैं। चित्रकला को भी विजयनगर राज्य में काफी प्रोत्साहन मिला।

बहमनी राज्य

स्थापना—मुहम्मद तुगलक के शासन काल में दक्षिणी भारत के विदेशी अमीरों ने विद्रोह कर सल्तनत से अपना सम्बन्ध तोड़ लिया और हसन गंगू नामक व्यक्ति के नेतृत्व में दौलताबाद पर अधिकार कर दक्षिणी भारत में 1347 ई. में एक स्वतन्त्र मुसलमानी राज्य की स्थापना की। यह राज्य इतिहास में बहमनी राज्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ। दक्षिण में इस नव संस्थापित बहमनी राज्य के नाम के सम्बन्ध में कई किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं, लेकिन उनकी ऐतिहासिकता में सन्देह होने के कारण यह विश्वास किया जाता है कि 1347 ई. में दिल्ली के आधिपत्य से मुक्त होकर हसन गंगू अब्बुल 'हसन मुजफ्फर अलाउद्दीन' के नाम से इस राज्य का शासक बना और अपने पूर्वज 'बहमन' के नाम पर अपने नाम के साथ 'बहमनशाह' की उपाधि जोड़ी। इसी से उसके नेतृत्व में संस्थापित यह राज्य 'बहमनी राज्य' कहलाया। हसन बहमनशाह ने इस राज्य पर लगभग दस वर्ष तक शासन कर अपने राज्य का विस्तार किया। उसका राज्य उत्तर में बाणगंगा से लेकर दक्षिण में कृष्णा नदी तक तथा पश्चिम में दौलताबाद से लेकर पूर्व में भोंगिरि तक विस्तृत था। हसन ने अपने राज्य को चार प्रान्तों में बाँट रखा था, जिनकी राजधानियाँ गुलबर्गा, दौलताबाद, बरार और बीदर थी। इस प्रकार एक शक्तिशाली राज्य की स्थापना कर 13`8 ई. में हसन की मृत्यु हो गई।

हसन बहमनशाह के पश्चात् उसका पुत्र मुहम्मदशाह बहमनी राज्य का सुल्तान बना। उसका अधिकांश समय अपने पड़ोसी वारंगल और विजयनगर के हिन्दू राज्यों के साथ संघर्ष में बीता। फिर भी, उसने अपने राज्य की शासन व्यवस्था को सुधारने का प्रयत्न किया। उसके बाद उसका लड़का मुजाहिदशाह शासक बना। किन्तु, उसके समय में अमीरों में असंतोष फैला और उसके चचेरे भाई दाऊद ने उसकी हत्या कर गद्दी पर अधिकार कर लिया। पर दाऊद को भी हत्या कर दी गई और उसके बाद मुहम्मद द्वितीय शासक बना। वह शान्तिप्रिय शासक था। उसने पड़ोसी राज्यों से मित्रता के सम्बन्ध रखे। उसके काल में बहमनी राज्य में विद्या व ललितकलाओं की उन्नति हुई। 1397 ई. मे उसकी मृत्यु हो गई। उसके बाद फीरोजशाह सुल्तान बना। उसने विजयनगर के साथ काफी संघर्ष किया, परन्तु अन्त में पराजित हुआ। उसके बाद अहमदशाह (1422–35 ई०) शासक हुआ। उसने बीदर को अपनी राजधानी बनाया। उसने विजयनगर को लूटा व मालवा पर सफल आक्रमण किया। उसके बाद तीन-चार अयोग्य शासक हुए। 1463 ई. मुहम्मदशाह

तृतीय बहमनी राज्य का शासक हुआ। वह इस वंश का अन्तिम प्रतापी शासक था। संयोग से उसे महमूद गवाँ जैसा योग्य प्रधान मन्त्री मिला। महमूद गवाँ के सहयोग से मुहम्मद शाह तृतीय ने कई प्रदेशों पर सफल आक्रमण किए और बहमनी राज्य की उन्नति हुई। लेकिन मुहम्मद तृतीय की मृत्यु के बाद बहमनी साम्राज्य का पतन प्रारम्भ हो गया। बहमनी वंश का अन्तिम शासक कलीमुल्लाह था। वह अपने प्रधान मन्त्री बरीद के हाथों की कठपुतली था। मौका पाकर बरीद ने उसे हटा दिया और स्वयं शासक बन गया। लेकिन लड़खड़ाता बहमनी राज्य शक्ति ग्रहण नहीं कर पाया और उसके भग्नावशेषों पर अहमदनगर, बीजापुर, गोलकुण्डा, बीदर और बरार के पाँच स्वतन्त्र मुसलमानी राज्यों का उदय हुआ।

बहमनी वंश के 14 शासकों में से कई शासक योग्य एवं अच्छे निर्माता थे। उन्हें भव्य-भवन बनवाने का शौक था। उन्होंने बहुत से राजमहलों, दुर्गों और मस्जिद का निर्माण करवाया। खेती की तरफ विशेष ध्यान दिया गया। अरबी और फारसी भाषा को विशेष रूप से प्रोत्साहित किया और कई विद्यालय तथा उच्च विद्यालय खोले, जहाँ मुल्ला, मौलवी आदि निःशुल्क शिक्षा देते थे। उन्हें राज्य की तरफ से अनुदान मिलता था, बीदर में एक महाविद्यालय और एक विशाल पुस्तकालय स्थापित किए गए।

बहमनी राज्य में सहानुभूति, सहिष्णुता और उदारता का वातावरण नहीं था। साधारण जनता का जीवन कष्टमय था। इसके विपरीत राज्य के अमीरों और पदाधिकारियों का जीवन बहुत अधिक विलासमय था। महमूद गवाँ ने सुधारों की तरफ ध्यान अवश्य दिया। उसने भूमि कर कम किया, किसानों को सुविधाएँ दीं, सिंचाई की व्यवस्था की, अकाल के समय में सस्ते अनाज दिये जाने का प्रबन्ध किया, परन्तु कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि बहमनी सुल्तानों ने जनता की आर्थिक दशा सुधारने के लिए तथा उद्योग-व्यवसायों के विकास के लिए किसी भी प्रकार की ठोस आर्थिक नीति नहीं अपनाई।

राजस्थान के प्रमुख प्रान्तीय राज्य—पूर्व मध्यकालीन एवं मध्यकालीन भारतीय इतिहास में राजस्थान के राजपूत राज्यों का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस प्रान्त के राज्यों ने समय-समय पर विदेशी तुर्क एवं मुगल आक्रमणकारियों का दृढ़तापूर्वक सामना किया तथा अपनी स्वतन्त्रता, आन-बान, मान-मर्यादा की रक्षा के लिए प्रयत्न किए। ऐसे राज्यों में मेवाड़ का स्थान प्रमुख है।

मेवाड़—अपनी स्वतन्त्रता व मान-मर्यादा पर मर-मिटने वाले राजस्थान के राज्यों में मेवाड़ राज्य का नाम सर्वोपरि है। मेवाड़ राजस्थान का एक प्राचीन एवं गौरवशाली राज्य था। इस राज्य की स्थापना गुहिल वंशी बापा रावल ने की थी। बापा रावल मूलतः किस जाति का था, इस प्रश्न पर इतिहासकारों में मतभेद हैं। कुछ इतिहासकार उसे सूर्यवंशी क्षत्रिय मानते हैं तो कुछ उसको ब्राह्मण होना स्वीकार

करते हैं। लेकिन इतना अवश्य स्पष्ट है कि बापा अपने समय का एक शक्तिशाली शासक था। उसने कई विजयें की थी और 620 ई. के लगभग वह मेवाड़ पर राज्य करता था। उसके राज्य की राजधानी चित्तौड़ थी।

बापा के बाद मेवाड़ के कई शासक हुए। सल्तनत काल में गुहिल वंश के शासक जैत्रसिंह ने दिल्ली के तुर्क सुल्तान इल्तुतमिश की सेनाओं का उसके नागदा पर किए गये आक्रमण के समय स्थान-स्थान पर विरोध किया और तुर्की सेना को भगा दिया। फरिश्ता के वर्णनों से यह भी ज्ञात होता है कि जैत्रसिंह ने दिल्ली-सल्तनत के तथाकथित गुलाम वंश के अन्तिम सुल्तान नासिरुद्दीन महमूद की सेनाओं को भी परास्त किया। जैत्रसिंह के पश्चात् तेजसिंह और उसके बाद समरसिंह मेवाड़ राज्य के शासक बने। समरसिंह के बाद रावल रत्नसिंह चित्तौड़ की गद्दी पर बैठा। रत्नसिंह के समय में (डॉ. दशरथ शर्मा के अनुसार रत्नसिंह की रानी पद्ममनी को प्राप्त करने के लिए) दिल्ली के सुल्तान अलाउद्दीन खलजी ने मेवाड़ की राजधानी चित्तौड़ पर आक्रमण किया और लगभग सात माह तक अलाउद्दीन चित्तौड़ का घेरा डाले पड़ा रहा। रत्नसिंह ने बड़ी दृढ़ता के साथ अलाउद्दीन का विरोध किया। अन्त में रत्नसिंह अपने कई राजपूत वीरों के साथ युद्ध में वीरगति को प्राप्त हुआ और उसकी रानी पद्ममनी ने जौहर कर कई राजपूत वीरांगनाओं के साथ अपनी मानमर्यादा की रक्षा की। अलाउद्दीन इस प्रकार चित्तौड़ पर अधिकार कर सका, पर विजय प्राप्त करने के बाद अंगारे और राख के ढेर के अतिरिक्त उसे चित्तौड़ में कुछ भी प्राप्त नहीं हो सका। अलाउद्दीन का चित्तौड़ पर अधिकार भी अधिक समय तक नहीं रह पाया। कारण कि रत्नसिंह के पश्चात् मेवाड़ के राजवंश से सम्बन्धित सिसोदा ग्राम के सरदार हम्मीर ने चित्तौड़ को पुनः अपने अधिकार में कर लिया। हम्मीर मेवाड़ के गुहिल वंश की राणा शाखा से सम्बन्धित था। उसके चित्तौड़ पर अधिकार के बाद मेवाड़ के शासक राणा कहलाने लगे और मेवाड़ के शासकों का वंश 'सिसोदिया' कहा जाने लगा। राणा हम्मीर ने मात्र चित्तौड़ पर ही अधिकार नहीं किया, बल्कि मुहम्मद तुगलक द्वारा भेजी गई सेना को भी परास्त किया। राणा हम्मीर के बाद क्षेत्रसिंह, लाखा तथा मोकल मेवाड़ के राणा बने। इन्होंने मेवाड़ राज्य की शक्ति और समृद्धि को बढ़ाया। उनकी शक्ति से भयभीत होकर दिल्ली सल्तनत के तत्कालीन तुगलक शासकों को मेवाड़ राज्य पर आक्रमण करने का साहस तक नहीं किया।

महाराणा कुम्भा—मोकल के पश्चात् उसका पुत्र कुम्भकरण (राणा कुम्भा) मारवाड़ के शासक रानमल के सहयोग से मेवाड़ के राज सिंहासन पर बैठा। जिस समय कुम्भा मेवाड़ का शासक बना, उस समय की परिस्थितियाँ बड़ी विकट थीं, पर, कुम्भा एक वीर, पराक्रमी एवं योग्य शासक था। उसने अपने विरोधियों का अन्त किया तथा अपने शत्रुओं को परास्त कर अपने राज्य का विस्तार किया। उसके समय में मेवाड़ और मारवाड़ के बीच संघर्ष चला, पर उसने मारवाड़ के अधिकांश प्रदेश को जीत लिया। महाराणा कुम्भा के प्रमुख शत्रु मालवा तथा गुजरात

के मुसलमान शासक थे। वे मेवाड़ को समाप्त करने के प्रयत्न में थे। किन्तु कुम्भा ने अपनी वीरता और पराक्रम से उनके मनसूबे पूरे नहीं होने दिए। उसने गुजरात और मालवा के शासकों को परास्त किया और अपनी विजयों की स्मृति मे चित्तौड़ का 'कीर्ति-स्तम्भ' बनवाया। इसके पश्चात् भी मालवा और गुजरात के शासकों ने मिलकर मेवाड़ पर आक्रमण किया, मगर कुम्भा ने उनकी सम्मिलित शक्ति को सफल नहीं होने दिया। लेकिन इस पराक्रमी और वीर शासक की, राज्य के लोभ में आकर उसके पुत्र उदयकरण ने हत्या कर दी। फिर भी कुम्भा के समय में मेवाड़ की शक्ति चरम सीमा को छूने लगी।

राणा कुम्भा मात्र वीर विजेता ही नहीं, बल्कि एक जन-हितैषी, विद्वान् एवं कला-प्रेमी शासक था। उसने अपने शासन काल में जनहित की ओर विशेष ध्यान दिया और एक सुव्यवस्थित शासन-तन्त्र की स्थापना की। अपने राज्य की शक्ति को बढ़ाने एवं व्यवस्था जमाने के साथ राणा कुम्भा ने मेवाड़ राज्य की सीमाओं को सुरक्षित रखने तथा अपने राज्य में साहित्य एवं कला की उन्नति पर भी पूरा-पूरा ध्यान दिया। वह स्वयं विविध विद्याओं का ज्ञाता था तथा विद्वानों का आश्रयदाता था। उसने स्वयं चार नाटकों की रचना की तथा जयदेव द्वारा लिखित गीत गोविन्द की टीका लिखी। साहित्य के साथ कुम्भा को संगीत से भी बड़ा अनुराग था। वह स्वयं एक संगीताचार्य था। उसने संगीत के क्षेत्र में 'संगीतराज', 'संगीत-मीमांसा' तथा 'रसिकप्रिया' नामक ग्रन्थ लिखे। इतना ही नहीं, कुम्भा ने स्थापत्यकला के क्षेत्र में अद्वितीय स्मारकों का निर्माण करवाकर मेवाड़ को ही नहीं, भारत को महत्त्वपूर्ण स्मारक प्रदान किए। उसने चित्तौड़ के 'कीर्ति-स्तम्भ' के अलावा मेवाड़ में कई मन्दिर, महल और किलों का भी निर्माण करवाया। उसने मेवाड़ मे 32 किलों का निर्माण करवाया और कुम्भलगढ़ में अनेक इमारतें बनवाईं। रणकपुर में कुम्भा के काल में बनवाया गया जैन मन्दिर तथा चित्तौड़ का कीर्ति-स्तम्भ स्थापत्य-कला की दृष्टि से अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। अपने इन सभी कार्यों से महाराणा कुम्भा का मध्यकालीन शासकों में उच्च स्थान है। वस्तुतः वह अपने युग का एक महान् शासक था।

कुम्भा का उत्तराधिकारी कुम्भा के पश्चात् उदयकरण या उदा मेवाड़ का शासक बना। उसने पाँच वर्ष तक शासन किया। लेकिन, वह अपने पिता का हत्यारा था, अतः सरदारों और प्रजा के विरोध के कारण उसे राजगद्दी छोड़कर भागना पड़ा। उसके पश्चात् रायमल मेवाड़ की गद्दी पर बैठा। रायमल ने अपने समय में मेवाड़ के गौरव को बढ़ाने का प्रयत्न किया तथा मालवा और गुजरात के शासकों के साथ सफल संघर्ष किए। रायमल के पश्चात् उत्तराधिकार के लिए संघर्ष में सफल होकर रायमल का तीसरा पुत्र संग्रामसिंह 1509 ई. में मेवाड़ का शासक बना।

राणा साँगा – संग्रामसिंह मेवाड़ के इतिहास में राणा साँगा के नाम से प्रसिद्ध है। वस्तुतः राणा साँगा भी वीर एवं पराक्रमी शासक था। वह महान् योद्धा एवं महत्त्वाकांक्षी था। उसने दिल्ली के सुल्तानों तथा गुजरात एवं मालवा के शासकों

के विरुद्ध कई युद्ध किए और अपने शत्रुओं को हराया। उनके समय में लगभग सम्पूर्ण राजस्थान मेवाड़ के आधिपत्य में था। यहाँ तक कि राणा साँगा दिल्ली पर भी अधिकार करने की इच्छा रखता था। वस्तुतः साँगा ने अपनी विजयों और पराक्रम से सम्पूर्ण भारत में मेवाड़ राज्य की धाक जमा दी और इस राज्य की प्रतिष्ठा को बढ़ाया था। लेकिन दुर्भाग्यवश 1527 ई. में अपने जीवन के अन्तिम समय में मुगल साम्राज्य के संस्थापक बाबर के साथ खानुवा के युद्ध में राणा साँगा को पराजय का सामना करना पड़ा। इसके बाद 1528 ई में उसका देहान्त हो गया।

महाराणा कुम्भा से लेकर राणा साँगा तक मेवाड़ राज्य का काल वस्तुतः मेवाड़ के उत्कर्ष का काल था। इस काल में मेवाड़ की शक्ति और प्रतिष्ठा की वृद्धि का मूल्यांकन करते हुए के० एम० पणिक्कर ने लिखा है कि 'कुम्भा और उसके उत्तराधिकारियों का प्रताप चारों ओर यहाँ तक फैल गया था कि हिन्दू जनता उन्हें 'हिन्दुत्व के पुनरुत्थान का कर्णधार' और 'हिन्दू गौरव की रक्षा की ढाल' मानने लगी थी। उन्होंने भारत के बड़े-बड़े प्रदेशों को सीधे ही मुसलमानों के हाथों में पड़ने से ही नहीं बचाया, अपितु उत्तरी भारत के अन्य क्षेत्रों की जनता को भी ढाढ़स और धीरज बँधाया।

मारवाड़—मेवाड़ में गुहिल वंश की शक्ति के उदय की भाँति राजस्थान में मारवाँड़ में मराठों की शक्ति का उदय हुआ। लेकिन राठौड़ों की उत्पत्ति भी विवाद-पूर्ण है। वैसे यह माना जाता है कि राठौड़ मूलतः प्राचीन राष्ट्रकूटों से सम्बन्धित थे। लेकिन मारवाड़ के राठौड़ों की वंश-परम्परा के सम्बन्ध में विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। कुछ इतिहासकार उसे कन्नौज के गहड़वालों से सम्बन्धित बतलाकर जयचन्द का वंशज मानते हैं तो कुछ इतिहासकार उन्हें बदायूँ के राठौड़ों के वंशधर मानते हैं। किन्तु अभी तक मारवाड़ के राठौड़ों की पूर्व वंश-परम्परा सुनिश्चित नहीं हो पायी है।

मारवाड़ (जोधपुर) राज्य की स्थापना और उत्थान—राठौड़ों की उत्पत्ति का विषय विवादास्पद होते हुए भी इतना तो स्पष्ट है कि तेरहवीं शताब्दी में मारवाड़ में राठौड़ों की शक्ति की संस्थापना राव सीहा ने की। उसने पाली के उत्तर-पश्चिम में मारवाड़के एक छोटे भाग पर अपना अधिकार स्थापित कर राठौड़ों के राज्यकी स्थापना की। लेकिन वह राठौड़ों की शक्ति का प्रसार नहीं कर पाया। सीहा के पश्चात् मारवाड़ के इस नव संस्थापित छोटे से राज्य की रक्षा और प्रसार का कार्य सीहा के उत्तराधिकारी करते रहे। लेकिन वस्तुतः मारवाड़ राज्य की शक्ति को महत्त्व प्रदान करने का श्रेय राव चूँडा को था। डॉ० वी० एस० भार्गव के अनुसार 'मारवाड़ की गद्दी पर चुँडा के बैठने के साथ राठौड़ों की महत्ता ने एक नए युग में प्रवेश किया।'

राव चूँड़ा—राव चुँड़ा वीरमदेव का पुत्र था। छोटी उम्र मे ही उसके पिता की मृत्यु हो जाने के कारण बाल्यकाल में उसे आल्हाचारण और मल्लिकानाथ

के पास रहना पड़ा। वहाँ अपनी प्रतिभा से उसने सालोड़ी की जागीर प्राप्त की। यहाँ से उसने अपनी शक्ति का संगठन कर अपने राज्य को बढ़ाया। अपनी शक्ति के प्रसार के क्रम में ही उसने मण्डोर, जो मालवा के सूबेदार के अधीन था, को जीता तथा नागौर, फलौदी, खाटू, डीडवाना, साँभर, अजमेर आदि को जीतकर अपने राज्य का प्रसार करते हुए मारवाड़ के राज्य को एक निश्चित स्वरूप प्रदान किया।

राव रानमल (रणमल)—चूँडा के बाद मारवाड़ का वास्तविक उत्तराधिकारी रानमल या रणमल था। पर उसे कान्हा के पक्ष में राज्य छोड़ना पड़ा और वह मेवाड़ चला गया। अतः कान्हा मारवाड़ का शासक बना। कान्हा के बाद सत्ता शासक बना। किन्तु वह अन्धा था, अतः मेवाड़ की सहायता से रानमल ने मारवाड़ पर अधिकार कर लिया। उसने 1438 ई. तक शासन किया। उसका प्रभाव मारवाड़ में ही नहीं, अपितु मेवाड़ पर भी रहा। किन्तु अपने राज्य में रानमल के कार्यों व उसके बढ़ते प्रभाव से रुष्ट होकर मेवाड़ के सरदारों ने षड़यन्त्र कर रानमल का वध कर दिया।

राव जोधा—रानमल के पश्चात् उसका पुत्र राव जोधा मारवाड़ का शासक बना। जोधा को अपने पिता के साथ रहकर सैनिक कार्यों एवं राजनीति का अच्छा अनुभव प्राप्त हुआ था। उसके समय में भी मेवाड़ और मारवाड़ के बीच संघर्ष चला, किन्तु बाद में उनमें सन्धि हो गई। तत्पश्चात् जोधा ने अपनी शक्ति और राज्य को खूब बढ़ाया और अपने राज्य के विभिन्न भागों को अपने सम्बन्धियों, पुत्रों आदि को सौंपा। इसी समय उसे अपने पुत्र बीका को बीकानेर की ओर बढ़ने को प्रेरित किया, जहाँ उसने बीकानेर राज्य की स्थापना की। जोधा ने 1459 ई. में अपने राज्य की नयी राजधानी जोधपुर नगर की स्थापना की। 1488 ई. में जोधा की मृत्यु हो गई।

जोधा के उत्तराधिकारी—जोधा के पश्चात् राव सातल मारवाड़ का शासक बना। सातल ने अपने राज्य को बढ़ाया और सातलमेर बसाया। उसके बाद सूजा शासक बना। किन्तु सूजा के समय में मारवाड़ राज्य के सामन्तों ने अपने-अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित किए और इस प्रकार मारवाड़ की केन्द्रीय शक्ति कमजोर हो गई।

राठौड़ों ने अपने राज्य की स्थापना से लेकर मुगल साम्राज्य की स्थापना के पहले तक दिल्ली के सुल्तानों, मालवा तथा गुजरात के अन्य प्रान्तीय राज्यों तथा स्थानीय शासकों से युद्ध कर अपने राज्य की शक्ति और सीमा का विस्तार किया तथा मध्यकालीन भारतीय इतिहास में अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान बनाया।

बीकानेर—बीकानेर राज्य की स्थापना मारवाड़ के शासक जोधा के पाँचवें पुत्र 'बीका' ने की थी। उसने अपने पिता की आज्ञा से जांगल प्रदेश के विभिन्न कबीलों पर प्रभुत्व स्थापित कर अपने राज्य का प्रसार किया। बीका ने लगभग तेईस वर्ष में जाँगल प्रदेश के विस्तृत भू-भाग पर अपना प्रभुत्व कायम रखा और अपने

राज्य-क्षेत्र को स्थायित्व प्रदान करने के लिए 1488 ई. में बीकानेर नगर की स्थापना की और उसे अपने राज्य की राजधानी बनाया।

बीका एक महत्त्वाकांक्षी, वीर एवं दृढ़-निश्चयी शासक था। बीकानेर राज्य के रूप में बीका ने मध्यकाल में राठौड़ों की सत्ता का एक दूसरा महत्वपूर्ण गढ़ स्थापित किया। बीका की मृत्यु 1504 ई. में हुई।

बीका के उत्तराधिकारी—बीका के बाद उसका पुत्र 'राव नरा' बीकानेर राज्य का उत्तराधिकारी बना। पर उसकी शीघ्र ही मृत्यु हो गई और उसके बाद उसका भाई 'राव लूणकर्ण' बीकानेर राज्य का शासक बना। लूणकर्ण भी वीर, साहसी एवं योग्य शासक था। उसने अपने पिता की मृत्यु के बाद विद्रोही बनने वाले लोगों को दबाया, रुद्रेवा के मानसिंह को हराया तथा फतहपुर के कायमखानियों को हराकर उसने 120 गाँव प्राप्त किए। राव लूणकर्ण ने चायलवाड़ा के बागी सरदारों से 440 गाँव प्राप्त किए। और नागौर के सूबेदार मुहम्मदखाँ को भी परास्त किया। उसने जैसलमेर पर भी आक्रमण किया और वहाँ के शासक से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किए। अपनी शक्ति के प्रसार के जोश में आकर राव लूणकर्ण ने नारनोल पर भी आक्रमण किया। किन्तु इसमें जोहियों एवं भाटियों के धोखे के कारण लूणकर्ण सफल नहीं हो पाया और 1526 ई. में युद्ध में मारा गया।

लूणकर्ण एक योग्य एवं साहसी शासक था। उसने बीकानेर राज्य का प्रसार किया। वह एक जनहितैषी शासक भी था तथा विद्वानों का आदर करता था। वह बड़ा दानी, उदार एवं धार्मिक प्रवृत्ति का व्यक्ति था।

लूणकर्ण के बाद राव जेतसी बीकानेर का शासक बना। किन्तु मुगल सम्राट बाबर के भारत में आगमन के साथ ही बीकानेर के कई भागों पर मुगलों का आधिपत्य हो गया और अन्त में बीकानेर राज्य मुगल साम्राज्य के अधीन हो गया।

आमेर (जयपुर)—राजस्थान के अन्य राजवंशों की भाँति आमेर के कछवाह वंश की उत्पत्ति भी विवादपूर्ण है, किन्तु, जनुश्रुतियों के अनुसार ऐसा माना जाता है कि कछवाहा अयोध्या के राजा रामचन्द्र के बड़े पुत्र कुश के वंशज थे। राजस्थान में कछवाहा वंश के राज्य की स्थापना दूलहराय ने 1137 ई. में ढूँढाड़ में की और सन् 1207 ई. में उसी के वंशज काकिलदेव ने आमेर पर अधिकार कर उसे अपने राज्य की राजधानी बनाया। अपने राज्य की संस्थापना और प्रसार में कछवाहों को मीणों और बड़गूजरों से संघर्ष करना पड़ा। पर वे धीरे-धीरे अपनी शक्ति के प्रसार में सफल होते गये और उन्होंने दौसा, रामगढ़, झोटवाड़ा, गेटोर, खोह आदि भागों पर अधिकार कर लिया। कछवाहा वंश के शासकों को कुछ समय तक चौहानों के सामन्तों के रूप में भी रहना पड़ा। किन्तु कछवाहा वंश में पंचवनदेव नामक एक शक्तिशाली राजा हुआ। उसने 24 वर्ष तक शासन किया और ढूँढाड़ के कछवाहों की शक्ति को बढ़ाया। उसके बाद ढूँढाड़ के कछवाहा राज्य पर दस शासक और बने। पंचवनदेव का दसवाँ उत्तराधिकारी चन्द्रसेन था। चन्द्रसेन के पश्चात् उसका

पुत्र पृथ्वीराज कछवाहों का शासक बना। किन्तु उसके समय में मेवाड़ के महाराणा का लगभग पूरे राजस्थान पर प्रभुत्व था, अतः वह उसके सामन्त के रूप में रहा। इसी कारण उसने खानुवा के युद्ध में राणा साँगा की ओर से बाबर के विरुद्ध युद्ध में भाग लिया। पृथ्वीराज कछवाहा की मृत्यु 1527 ई. में हुई। पृथ्वीराज के बाद आमेर के कछवाहों का आन्तरिक कलह प्रारम्भ हुआ और थोड़े समय तक राज्य में षड़यन्त्रों का बोलवाला रहा और एक के बाद दूसरे शासक बनते रहे। इसका लाभ उठाकर मुगलों व अफगानों ने इस राज्य में अपना प्रभाव क्षेत्र बढ़ाया। अन्त में 1547 ई. में असकरण को हटाकर भारमल आमेर का शासक बना जिसने अकबर के साथ वैवाहिक सम्बन्ध कायम किए और मुगलों की अधीनता स्वीकार करली।

बूँदी राज्य—अध्याय 4 में आपने चौहान राजपूतों के बारे में पढ़ा है। इन चौहान राजपूतों की कई शाखाएँ थीं। चौहानों की शाखाओं में से एक हाड़ा शाखा के सरदार देवसिंह, जो मेवाड़ के राणाओं का सामन्त था, ने 1241 ई. में राजस्थान के दक्षिणी-पूर्वी भाग में मीणों से बूँदी घाटी छीन कर चौहानों की हाड़ा शाखा के बूँदी राज्य की स्थापना की, जो हाड़ौती राज्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ। बूँदी पर अधिकार के पश्चात् देवसिंह ने खटकड़, पारम, गैणौली, लाखेरी तथा करवर पर अधिकार कर अपने राज्य का विस्तार किया। कहा जाता है कि देवसिंह ने तुर्कों को भी परास्त किया था। सन् 1243 ई. में अपने राज्य का विस्तार कर देवसिंह ने राज्य छोड़ दिया और उसका पुत्र समरसिंह बूँदी या हाड़ौती राज्य का अधिकारी बना।

समरसिंह—समरसिंह हाड़ा भी एक वीर, पराक्रमी एवं महत्त्वाकांक्षी शासक था। उसने अपने शासन काल में बूँदी राज्य का विस्तार किया, बूँदी और कोटा के विस्तृत राज्य का निर्माण किया। माना जाता है कि उसने तुर्क सुल्तान बलबन के साथ सफल संघर्ष किया। किन्तु अलाउद्दीन खलजी के साथ संघर्ष में वह मारा गया।

नाथूजी—समरसिंह के बाद नाथूजी बूँदी का उत्तराधिकारी बना। उसने भी अपने राज्य का विस्तार किया। नाथूजी भी अलाउद्दीन के साथ संघर्ष में मारा गया।

नाथूजी के उत्तराधिकारी—नाथूजी का उत्तराधिकारी हल्लू था। उसने बूँदी (हाड़ौती)के राज्य की रक्षा की। किन्तु उसके पश्चात् हाड़ौती का शासक बीरसिंह बना। वह एक अयोग्य शासक था। उसके समय में बूँदी राज्य में बड़ी अव्यवस्था फैल गई तथा मेवाड़ के राणा लाखा ने बूँदी राज्य के एक भाग पर अधिकार कर लिया। गुजरात के अहमदशाह और महमूद खलजी ने भी उसके शासन काल में बूँदी पर आक्रमण किए और इन्हीं आक्रमणों में बीरसिंह की मृत्यु हो गई। बीरसिंह के बाद उसके उत्तराधिकारियों में से बूँदी, ने पुनः शक्ति संचित करने का प्रयत्न

किया, किन्तु यह सफल नहीं हो सका। अन्त में राव सुर्जन हाड़ा ने मुगल सम्राट अकबर की अधीनता स्वीकार करली और बूँदी राज्य का स्वतन्त्र अस्तित्व समाप्त हुआ। मुगलों की अधीनता में बूँदी राज्य को बड़ा सम्मान मिला।

अध्ययन का उपयोग

नीचे दिए गए प्रश्नों का उत्तर दीजिए एवं अपने अध्ययन को उपयोगी बनाइए—

1. विजयनगर राज्य के उत्थान और विस्तार में किन-किन शासकों का किस प्रकार योनदान रहा ?
2. विजयनगर राज्य की प्रशासनिक व्यवस्था कैसी थी ?
3. बहमनी राज्य की स्थापना किस प्रकार हुई तथा उसके विकास-प्रसार में बहमनी राज्य के किन-किन सुल्तानों का योगदान रहा ?
4. मुगल साम्राज्य की स्थापना से पूर्व तक मेवाड़ राज्य में प्रमुख शासक कौन-कौन हुए तथा उन्होंने अपने राज्य की प्रतिष्ठा किस प्रकार बढ़ाई ?
5. मारवाड़ राज्य के प्रमुख शासकों ने किस प्रकार मारवाड़ को राठौड़ शक्ति का एक गढ़ बनाया ?
6. बीकानेर राज्य की संस्थापना कैसे हुई? मुगल साम्राज्य की स्थापना से पूर्व इस राज्य में कौन-कौन से प्रमुख शासक हुए ?
7. मुगल साम्राज्य की संस्थापना से पूर्व आमेर राज्य में प्रमुख शासक कौन-कौन हुए तथा उन्होंने राज्य को शक्तिशाली बनाने के लिए क्या-क्या कार्य किए ?
8. बूँदी (हाड़ौती) राज्य की संस्थापना करने वाला कौन था ? इस राज्य की शक्ति के प्रसार में हाड़ा वंश के किन-किन शासकों का योगदान रहा ?

अध्ययन की जाँच

सही उत्तर का क्रमाक्षर कोष्ठक में लिखिये—

1. विजयनगर राज्य की संस्थापना जिन व्यक्तियों ने की, उनका वंश इतिहास में कहलाता है—
   (क) सुलुव वंश (ख) तुलुव वंश (ग) संगम वंश (घ) बहमन वंश ( )
2. तालिकोट के युद्ध का जो महत्त्वपूर्ण परिणाम निकला, वह था—
   (क) विजयनगर राज्य की वृद्धि।
   (ख) विजयनगर राज्य का विघटन।
   (ग) बहमनी राज्य का विघटन।
   (घ) बहमनी राज्य का पाँच रियासतों में विभाजन। ( )
3. महाराणा कुम्भा ने कीर्ति-स्तम्भ का निर्माण करवाया, इसका प्रमुख कारण था—
   (क) कुम्भा का स्थापत्य निर्माण का शौक।
   (ख) अपनी विजयों की स्मृति को चिरस्थायी बनाना।
   (ग) चित्तौड़ को सुन्दर बनाना।
   (घ) धर्म गुरुओं का आदेश मानना।

सोच-विचार कर उत्तर लिखिये—

1. राजस्थान के मध्यकालीन राज्यों में मेवाड़ राज्य का महत्त्व क्यों है ?
2. कुम्भा को मध्यकालीन भारत का महान् शासक कैसे कहा जा सकता है ?
3. मारवाड़ और बीकानेर में राठौड़ों की शक्ति के उत्थान के उपाय के क्या परिणाम निकले ?

निम्नलिखित क्रियात्मक कार्य कीजिये और अपना कौशल बढ़ाइये—

1. भारत के ऐतिहासिक मानचित्र में दक्षिणी भारत में विजयनगर और बहमनी राज्यों के प्रसार-क्षेत्र को अंकित कीजिए।
2. राजस्थान के मानचित्र में मेवाड़, मारवाड़, आमेर तथा बूँदी राज्यों की राजधानियां अंकित कीजिए।

पूरक अध्ययन ग्रन्थ

1. डॉ० वी. एस. भार्गव : राजस्थान का इतिहास
2. डॉ० जी. एन. शर्मा : राजस्थान का इतिहास
3. पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा : राजपूताने का इतिहास

भारतीय इतिहास की
मूल धाराएँ

भाग : दो

[1526 से 1964 ई. तक]

1. मुगल साम्राज्य की स्थापना

बाबर और हुमायूँ

पृष्ठभूमि—मुहम्मद तुगलक के शासन काल के उत्तरार्द्ध में दिल्ली सल्तनत के विघटन का जो सिलसिला आरंभ हुआ, वह बढ़ता ही गया। 14वीं सदी के अन्त में भारत पर तैमूर के आक्रमण तथा राजधानी दिल्ली की लूट ने दिल्ली सल्तनत और तुगलक वंश की सत्ता एवं प्रभाव को लगभग समाप्त-सा कर दिया। दिल्ली सल्तनत के विशाल साम्राज्य के भग्नावशेषों पर अब देश के विभिन्न भागों में अनेक स्वतन्त्र राज्यों का उदय हुआ जिनमें अपने राज्य तथा प्रभाव का अधिक से अधिक विस्तार करने की होड़ लग गई। राज्य विस्तार की इस लालसा ने उन्हें कभी न समाप्त होने वाले संघर्षों में बुरी तरह से उलझा दिया।

बाबर के आक्रमण से पूर्व भारत की स्थिति—बाबर के आक्रमण के समय भारत की राजनीतिक अवस्था दुर्बल तथा अस्थिर थी। इस समय इब्राहीम लोदी दिल्ली का सुल्तान था। दिल्ली सल्तनत का पुराना वैभव समाप्त हो चुका था और उसका साम्राज्य भी विघटित होते-होते बहुत छोटा-सा रह गया था। इस छोटे से साम्राज्य में भी एकता और व्यवस्थित शासन का अभाव था। सुल्तान पद की प्रतिष्ठा काफी गिर गई थी। बिरादरी, श्रेणी या पद की परवाह न करके, सुल्तान पद की प्रतिष्ठा को कायम रखने के लिए जब इब्राहीम लोदी ने अपने द्रोही अड़ियल और उद्धत अमीरों के विरुद्ध कठोर व्यवहार किया तो सामन्तों में असन्तोष फैल गया। पूर्वी पंजाब और उत्तर प्रदेश में कई विद्रोह उठ खड़े हुए जिन्हें इब्राहीम ने कठोरता एवं सफलता के साथ दबा दिये। उसकी इस सफलता से भयभीत होकर ही बिहार के अफगान अमीर स्वतन्त्र होने के लिए प्रयत्नशील हुए और पंजाब के सूबेदार दौलत खाँ लोदी ने काबुल के शासक बाबर से सहायता माँगी और बदले में उसकी अधीनता स्वीकार करने का वचन भी दिया।

दिल्ली के अलावा उत्तर में बंगाल, मालवा, गुजरात, सिन्ध, कश्मीर, खानदेश और दक्षिण में अहमदनगर, बीजापुर, गोलकुण्डा, बरार और बीदर में स्वतन्त्र मुसलमानी राज्य थे। परन्तु इनमें से कोई भी राज्य अधिक दृढ़ तथा व्यवस्थित न था। इसके विपरीत, प्रत्येक राज्य आपसी संघर्ष और आन्तरिक विद्रोहों का केन्द्र बना हुआ था। राजवंशों और राजनीति में परिवर्तन तथा राज्य की सीमाओं का घटना-बढ़ना इन राज्यों के लिए एक सामान्य बात थी। राजस्थान में मेवाड़, मारवाड़, आमेर, बूँदी आदि स्वतन्त्र राज्य अपनी शक्ति बढ़ाने में संलग्न थे। मेवाड़ का महाराणा साँगा अपनी शूरवीरता और मुस्लिम शासकों के विरुद्ध प्राप्त विजयों के परिणामस्वरूप सम्पूर्ण राजपूत जाति का नेता बना हुआ था। वह अपने वंश का सर्वाधिक महत्त्वाकांक्षी राणा था। मालवा, गुजरात और दिल्ली के मुस्लिम

शासकों को पराजित करके उसने उत्तर भारत की राजनीति में अपना विशेष स्थान बना लिया था। दक्षिण भारत में कृष्णदेव राय के नेतृत्व में विजयनगर का संगठित और शक्तिशाली राज्य था। उड़ीसा में हिन्दू शासकों का प्रभाव पहले की भाँति कायम था।



मानचित्र–1525 ईसवी का भारत

इस प्रकार, बाबर के आक्रमण के समय भारत में राजनीतिक एकता का अभाव था। देश में कोई सार्वभौमिक सत्ता नहीं थी अपितु छोटे-बड़े अनेक महत्त्वाकांक्षी राज्यों का जमघट था, जो अपनी-अपनी सत्ता और श्रेष्ठता स्थापित करने के लिए पूर्णरूप से प्रयत्नशील थे। संक्षेप में इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि

भारत दुर्बल तथा विभाजित था । वह किसी ऐसे आक्रमणकारी का शिकार बन सकता था जिसमें विजय प्राप्ति के लिए आवश्यक शक्ति तथा दृढ़ संकल्प हो । इस परिस्थिति का लाभ बाबर ने अपने जीवन के अन्तिम दस वर्षों में उठाया और भारत में मुगल साम्राज्य की नींव रखने में सफल रहा ।

बाबर (1526–30 ई.)

प्रारम्भिक जीवन – 14वीं सदी के उत्तरार्द्ध में समरकन्द को केन्द्र बना कर तैमूर ने एक विशाल साम्राज्य का निर्माण किया जो रूस की वोल्गा नदी से लेकर भारत की यमुना नदी तक फैला हुआ था । तैमूर तुर्किस्तान के एक तुर्क सरदार अमीर तुरगे बरलास का पुत्र था । चगताई खाँ के परिवार से संबंधित रहने के कारण तुर्क अपने को चगताई मानने लगे । तैमूर की मृत्यु (1404 ई.) के पश्चात् उसके साम्राज्य का विघटन शुरू हो गया । तैमूर के तीसरे वंशज अबूसईद ने अपने साम्राज्य को चार पुत्रों में बाँट दिया । सबसे बड़े पुत्र सुल्तान अहमद मिर्जा को समरकन्द और बुखारा मिले । उसके छोटे महमूद मिर्जा को हिसार और बदखशाँ मिला । तीसरे पुत्र उलुगबेग को काबुल और गजनी तथा सबसे छोटे पुत्र उमरशेख मिर्जा को फरगना का राज्य मिला जिसकी राजधानी अन्दिजान थी । भारत में मुगल साम्राज्य का संस्थापक बाबर इसी उमरशेख मिर्जा का पुत्र था ।

बाबर का जन्म 14 फरवरी, 1483 ई. को फरगना में हुआ था । उसका पूरा नाम जहीरुद्दीन मुहम्मद बाबर था । पितृपक्ष की ओर से वह तैमूर का पाँचवाँ वंशज था । अपनी माँ कुतलुगनिगारखानम की ओर से वह चंगेज खाँ का चौदहवाँ वंशज था । इस प्रकार, संसार के दो प्रसिद्ध महान् विजेताओं का रक्त उसके शरीर में मिला हुआ था । बाबर का पिता उमरशेख मिर्जा एक असन्तोषी तथा झगड़ालू प्रवृत्ति का व्यक्ति था और उसे अपने राज्य को चारों ओर बढ़ाने की धुन थी । परिणाम यह निकला कि उसके संबंधी भी उसके विरोधी बन गये । 1494 ई. में अहमद मिर्जा और महमूद खाँ (यह उमरशेख का साला तथा ताशकन्द का शासक था) ने मिलकर फरगने पर दो तरफ से आक्रमण कर दिया । इस लड़ाई के दौरान 8 जून, 1494 ई. के दिन उमरशेख मिर्जा की मृत्यु हो गई । ऐसी संकटपूर्ण स्थिति में 11 वर्ष 4 मास की अल्पायु में बाबर फरगना का शासक बना । अपनी स्वामिभक्त प्रजा और अधिकारियों की सहायता से बाबर को इस संकट से शीघ्र ही मुक्ति मिल गई ।

बाबर वीर और महत्त्वकांक्षी तो था ही, साथ ही तैमूरी साम्राज्य की राजधानी समरकन्द पर शासन करने की बलवती अभिलाषा भी रखता था । यह नगर मध्य एशिया का शासनिक, व्यापारिक और सांस्कृतिक केन्द्र बना हुआ था । संयोगवश, जुलाई 1494 ई. में उसके चाचा अहमद मिर्जा की मृत्यु हो गई । चूँकि उसके कोई पुत्र न था अत: मध्य एशिया के सभी तैमूरी शासक समरकन्द की गद्दी के लिए लालायित हो उठे । बाबर भी अपना लोभ संवरण न कर सका, परन्तु उसका पहला प्रयत्न व्यर्थ रहा । 1497 ई. में उसकी मनोकामना पूरी हुई ।


बाबर

समरकन्द पर उसका अधिकार हो गया। परन्तु उसी समय फरगने में विद्रोह उठ खड़ा हुआ और विद्रोहियों ने उसके छोटे भाई जहाँगीर मिर्जा को शासक घोषित कर दिया। समरकन्द से बाबर ने फरगना की ओर कूच किया। मार्ग में उसे समाचार मिला कि उसके एक चचेरे भाई सुल्तान अली ने समरकन्द जीत लिया है। इस प्रकार, फरगना और समरकन्द–दोनों उसके हाथ से निकल गए। परन्तु उसमें आत्मविश्वास और दृढ़ संकल्प की कमी नहीं थी। 1498 ई. में उसने फरगना जीत लिया परन्तु 1500 ई. में वह फिर उसके हाथ से निकल गया और जीवन में दूसरी बार उसे बे-घरबार होकर पहाड़ियों में शरण लेते हुए घूमना पड़ा। 1500-1 ई. में उसने दूसरी बार समरकन्द जीता। परन्तु आठ महीने के बाद ही उजबेगों के नेता शेवानी खाँ ने सरेपुल के युद्ध में उसे पराजित करके समरकंद से खदेड़ दिया। बाबर तीसरी बार बे-घरबार होकर भटकने लगा। उधर शेवानी खाँ ने तैमूरी वंश के दो अन्य राज्यों—फरगना और हिसार को भी जीत लिया। ऐसी स्थिति में बाबर को अपनी मातृभूमि से विदा लेकर तैमूरी वंश के चौथे राज्य—काबुल और गजनी की तरफ भाग्य आजमाने को विवश होना पड़ा।

काबुल और गजनी की मौजूदा स्थिति बाबर के अनुकूल भी थी। 1501 ई. में उसके चाचा उलुगवेग मिर्जा की मृत्यु हो गई थी। चाचा का पुत्र अल्पायु था और मुकीम अर्गून नामक एक अधिकारी ने शासन सत्ता हस्तगत कर रखी थी। राज्य के कई अमीरों ने उसका विरोध किया। फलतः राज्य में अव्यवस्था और अराजकता फैल गई। 1504 ई. में बिना किसी विशेष विरोध के काबुल तथा गजनी पर बाबर का अधिकार हो गया। 1507 ई. में उसने बादशाह या सम्राट की पदवी धारण की। इससे पहले किसी तैमूरी ने यह पदवी धारण नहीं की थी। वे 'मिर्जा' कहलाते थे।

अब बाबर के सामने साम्राज्य विस्तार के लिए दो मार्ग थे। एक उत्तर-पश्चिम की दिशा में समरकन्द का और दूसरा दक्षिण-पूर्व की दिशा में भारत की

तरफ चूँकि तैमूर की राजधानी उसके लिए विशेष महत्त्व रखती थी, अतः काबुल का शासक बन जाने के बाद भी उसने समरकन्द वाला मार्ग पसन्द किया । 1511 ई. में ईरान के शाह इस्माइल सफवी की सहायता से उसने तीसरी बार समरकन्द पर अधिकार किया । बुखारा और खुरासान भी उसके अधिकार में आ गये । परन्तु मई, 1512 ई. में कूलेमलिक की लड़ाई में उजबेगों से हार कर उसे समरकन्द छोड़ना पड़ा । अगले वर्ष समूचा ट्रांस्‍स-आक्सियाना उसके हाथ से निकल गया और वह काबुल लौट आया । अब उसने पहला मार्ग त्याग दिया और दूसरे मार्ग अर्थात् भारत की ओर जाने वाले मार्ग पर बढ़ने का निश्चय कर लिया ।

बाबर—भारत में

बाबर अपने मध्य-एशियाई शत्रुओं को परास्त करने में असफल रहा । परन्तु उनके साथ लड़े गये युद्धों में बाबर को उनके युद्ध-कौशल सीखने का अवसर अवश्य मिला । उजबेगों से उसने 'तुलुगमा' पद्धति का प्रयोग सीखा । इसमें शत्रु सेना के दाएँ और बाएँ भाग का चक्कर लगाकर शत्रु पक्ष के पीछे की ओर से आक्रमण किया जाता था । मंगोलों और अफगानों से उसने सेना को छिपाकर रखने की चाल तथा शत्रु सेना को प्रलोभन देकर अपने मजबूत मोर्चे की तरफ लाकर चारों तरफ से आक्रमण करने का कौशल सीखा । अपने सजातीय तुर्कों से गतिशील अश्वारोही सेना का संचालन सीखा । ईरानियों से तोपखाने का प्रयोग सीखा । उसने उस्ताद अली और मुस्तफा नामक तोप-विशेषज्ञों की सेवाएँ प्राप्त कीं और अपनी सेना के लिए अनेक तोपें ढलवाईं और बन्दूकें तैयार करवाईं । रशब्रुक विलियम्स का कहना है कि "अगर किसी एक साधन से हिन्दुस्तान को जीतने में बाबर को सहायता मिली तो वह साधन उसका तोपखाना था ।" इस प्रकार, बाबर ने विविध जातियों की युद्ध-प्रणालियों का समन्वय करके एक ऐसी युद्ध-प्रणाली का प्रयोग किया जो भारतीय सेनाओं के लिए घातक सिद्ध हुई ।

भारत पर बाबर ने पाँच आक्रमण किए, परन्तु उसके प्रारम्भिक आक्रमणों का ध्येय भारत को जीतना नहीं था । उसका मुख्य उद्देश्य पश्चिमी पंजाब के उन इलाकों को जीतना था, जो उसके चाचा उलुगबेग मिर्जा के समय काबुल राज्य के अंग रह चुके थे । उसके चाचा की मृत्यु के बाद काबुल में व्याप्त अव्यवस्था का लाभ उठाते हुए भारत के अफगान अमीरों ने उन इलाकों पर अपना अधिकार जमा लिया था । इस सम्बन्ध में किये गए तीन आक्रमणों से बाबर को भारत की भौगोलिक, और राजनीतिक स्थिति की पर्याप्त जानकारी मिल गई । उसे यह मालूम हो गया कि सिन्धु को पार करने के बाद पंजाब विजय का मार्ग अधिक कठिन नहीं है और पंजाब के अफगान अमीरों में उसने लड़ने लायक साहस नहीं है अथवा वे लड़ने से हिचकिचा रहे थे ।

बाबर के चौथे आक्रमण का मुख्य कारण पंजाब के सूबेदार दौलत खाँ लोदी का निमन्त्रण था । दौलत खाँ लोदी के अपने सुल्तान इब्राहीम लोदी से सम्बन्ध बिगड़ चुके थे और वह उसे सिंहासन से हटाकर उसके चाचा आलम खाँ को सुल्तान

बनाना चाहता था। अपनी योजना को सफल बनाने के लिए उसने बाबर से सहायता माँगी और बदले में उसकी अधीनता स्वीकार करने का भी वचन दिया। 1524 ई. में बाबर ने लाहौर की तरफ कूच किया और लाहौर तथा दीपालपुर पर अधिकार जमा लिया। परन्तु दौलत खाँ लोदी के कपटपूर्ण व्यवहार के कारण उसने और आगे बढ़ना ठीक नहीं समझा और वापस काबुल लौट गया। अब बाबर को यह अनुभव हो गया कि हिन्दुस्तान को जीतने के लिए एक शक्तिशाली सेना की आवश्यकता है।

पानीपत का प्रथम युद्ध (21 अप्रेल, 1526 ई.)

नवम्बर 1525 ई. मे बाबर पूरी तैयारी के साथ काबुल से रवाना हुआ। मार्ग में बदख्शाँ से हुमायूँ भी अपनी सेना सहित अपने पिता से आ मिला। बाबर ने बिना किसी विशेष प्रतिरोध के सम्पूर्ण पंजाब पर अपना अधिकार जमा लिया और फिर दिल्ली की तरफ बढ़ा। उधर सुल्तान इब्राहीम लोदी भी अपनी सेना के साथ बाबर का सामना करने के लिए दिल्ली से कूच कर चुका था। 12 अप्रेल, 1526 ई. को जब बाबर पानीपत पहुँचा तो इब्राहीम पहले से ही वहाँ उपस्थित था। फिर भी आठ दिन तक दोनों सेनाएँ आमने-सामने पड़ी रहीं और किसी पक्ष ने आक्रमण नहीं किया। 21 अप्रेल को दोनों पक्षों में घमासान युद्ध हुआ। इब्राहीम लोदी परास्त हुआ और लड़ते हुए वीर गति को प्राप्त हुआ।

पानीपत का युद्ध निर्णायक सिद्ध हुआ। दिल्ली सल्तनत और लोदी वंश का नाश हो गया और उसके स्थान पर मुगल साम्राज्य और मुगल वंश का उदय हुआ। इस विजय के फलस्वरूप दिल्ली और आगरा बाबर के अधिकार में आ गये। डॉ. रामप्रसाद त्रिपाठी ने लिखा है, "बाबर की सफलता के कारण थे—नेतृत्व कौशल, वैज्ञानिक रणकला, उन्नत अस्त्र और सौभाग्य।"

पानीपत के बाद—पानीपत की इस विजय ने बाबर को दिल्ली का स्वामी अवश्य बना दिया था, परन्तु पूरे देश की बात तो दूर रही, उत्तरी भारत का स्वामी बनने के लिए भी अभी उसे बहुत कुछ करना था। अभी तो वह पुरानी लोदी सल्तनत पर भी पूरा अधिकार नहीं जमा पाया था। पूर्वी भारत में अफगान लोग अपनी बिखरी हुई शक्ति को इकट्ठा करने में लगे हुए थे। नसीर खाँ नोहानी और मारूफ फरमूली सरदार कन्नौज के पूर्वी जिलों के अधिकारी थे। इन्हें बिहार के नोहानी शासक का समर्थन प्राप्त था जो इब्राहीम के शासन काल में स्वतन्त्र बन बैठा था। संयोग से इब्राहीम का भाई महमूद लोदी राजगद्दी का दावा करने को जिन्दा था। पश्चिमी भाग में राजपूत जो अलाउद्दीन खिलजी की मृत्यु के बाद से ही स्वतन्त्र हो गये थे, अब अपने नेता महाराणा साँगा के नेतृत्व में संगठित होकर मुगलों के विरुद्ध तैयार खड़े थे। भारतीय जनता ने भी मुगलों का स्वागत नहीं किया और मुगलों को आवश्यक सामग्री मिलनी दुष्कर हो गई। बाबर के शब्दों में—"न हमें अन्न नसीब था, न हमारे घोड़ों को दाना।" परन्तु सबसे बड़ी समस्या बाबर के अपने साथियों की थी जो भारत की गर्मी से घबराकर वापस स्वदेश लौटने की इच्छा प्रकट करने लगे थे। उन्होंने हिन्दुस्तान को लूटने की जगह समझ रखा

पानीपत का पहला युद्ध
21 अप्रैल, 1526.

प्रथम स्थिति

A B C

इब्राहीम लोदी की सेना

D

(मुस्तफा) बन्दूकची तोपची (उस्ताद अली)

1

बाबर की सेना

3 4 5 6

पानीपत ग्राम

2 7

8

द्वितीय स्थिति

2 7

A B C

3 D 6

4 5

बन्दूकची तोपची

पानीपत ग्राम

था, न कि राज करने की जगह। बाबर ने अपने ओजस्वी भाषण द्वारा अपने साथियों को समझा कर और कुछ हठी साथियों को वापस भेजकर मुगल शिविर में एकता कायम की। इसीलिए लेनपूल ने लिखा है, "बाबर के जीवन की सबसे शानदार घटना विरोधी राज्यों के बीच भारत मे रहने का उसका दृढ़ संकल्प था, जिसका पुरस्कार उसे शीघ्र ही मिला।" अफगान सरदारों के प्रति बाबर की उदार नीति

अपनाई। उसने उन नेताओं को संरक्षण का वचन दिया और जागीरें दीं जिन्होंने उसकी अधीनता स्वीकार की। परिणामस्वरूप कई अफगान सरदार स्वेच्छापूर्वक बाबर के अनुयायी बन गये। शेष अफगानों के प्रति सैनिक कार्यवाही की गई और संभल, इटावा, कन्नौज, धौलपुर आदि पर अधिकार कर लिया गया। इस काम में हुमायूँ को काफी सफलता मिली और उसने जौनपुर तथा गाजीपुर भी अफगानों से छीन लिया।

खानुवा का युद्ध (16 मार्च, 1927 ई)

बाबर अभी अफगानों का पूर्ण रूप से दमन भी न कर पाया था कि उसे राजपूतों के साथ संघर्ष की तैयारी करनी पड़ी। मेवाड़ का महाराणा संग्रामसिंह, जो इतिहास में राणा साँगा के नाम से प्रसिद्ध है, एक कुशल कूटनीतिज्ञ और शूरवीर योद्धा था। मध्यकालीन राजपूत शासकों में वह पहला शासक था जिसे राजपूत शक्ति को संगठित करने तथा एक विशाल राज्य की स्थापना करने में सफलता मिली थी। मारवाड़ और आमेर के नरेश उसको बड़ा मानते थे। चन्देरी, कालपी, रणथम्भौर, बूँदी, सीकर, रायसीन आदि के नरेश उसके सामन्त थे। उसने मालवा, गुजरात और दिल्ली के मुस्लिम शासकों को पराजित करके अपने राज्य को बढ़ाया था। विविध युद्धों ने उसके शरीर पर 80 घावों के निशान बना दिये थे। अपने भाई के साथ झगड़े में उसकी एक आँख जाती रही थी। इब्राहीम लोदी के साथ युद्ध करते हुए उसका एक हाथ कट गया था। फिर भी, उसमें अपूर्व पराक्रम था। स्वयं बाबर के शब्दों में, "उसने (साँगा) अपनी तलवार और वीरता के द्वारा इन्हीं दिनों में बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त कर लिया है।"



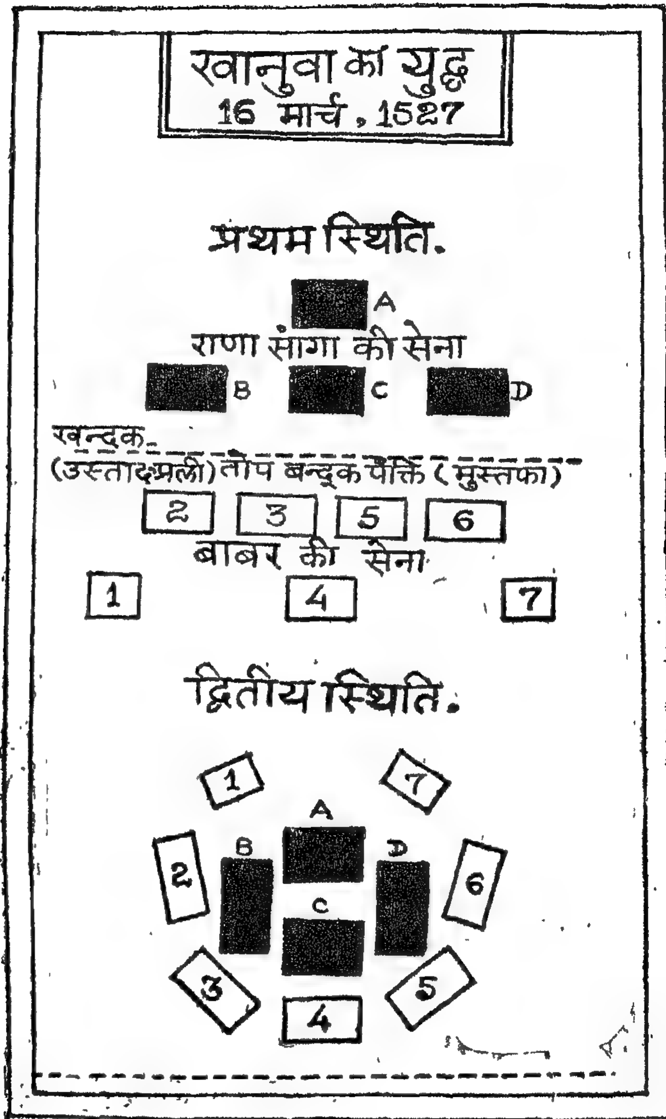
राजपूतों के विरुद्ध खानुवा के युद्ध का मुख्य कारण बाबर का भारत में रहने का निश्चय था। साँगा का विचार था कि तैमूर की भाँति उसका वंशज बाबर भी दिल्ली को लूटकर काबुल वापस चला जायेगा। शायद इसी कारण उसने इब्राहीम लोदी के विरुद्ध बाबर को सहायता देने का आश्वासन दिया होगा। परन्तु जब बाबर ने भारत में ही रहने का निश्चय कर लिया तो साँगा ने एक विदेशी की तुलना में स्थानीय अफगानों को अधिक ठीक समझा। इसी कारण साँगा ने हसन खाँ मेवाती से बाबर को भारत से बाहर निकालने के लिए सहायता माँगी और महमूद लोदी को दिल्ली का बादशाह स्वीकार किया। इसी कारण डॉ. श्रीराम शर्मा ने लिखा है कि "यह युद्ध मुसलमानों के विरुद्ध

हिन्दुओं का युद्ध न था, बल्कि यह एक विदेशी शत्रु के विरुद्ध संयुक्त राष्ट्रीय प्रयत्न था।" ऐसी स्थिति में बाबर से राजपूतों का युद्ध आवश्यक बन गया था। युद्ध के अन्य सभी कारण गौण थे। बाबर ने साँगा पर यह आरोप लगाया कि उसने इब्राहीम लोदी के विरुद्ध उसे सहायता नहीं दी और साँगा का आरोप था कि बाबर ने बयाना, धौलपुर और कालपी पर नाजायज अधिकार कर लिया है।

राणा साँगा ने पूरी तैयारी के साथ बयाना और आगरा की तरफ कूच किया। मार्ग में हसन खाँ मेवाती और महमूद लोदी भी उससे आ मिले। उधर बाबर भी पूरी तैयारी के साथ फतेहपुर सीकरी की तरफ बढ़ा। इस बार उसके सैनिकों में अज्ञात भय समाया हुआ था। प्रारम्भिक मुठभेड़ों में मुगलों के दो सैनिक दस्ते बुरी तरह से पराजित होकर लौटे। पूर्वी भारत से भी अशुभ समाचार आये कि अफगानों ने मुगल अधिकारियों को खदेड़ना शुरू कर दिया है। इसी समय काबुल से आये एक ज्योतिषी ने बाबर की पराजय की भविष्यवाणी कर दी जिससे मुगल सैनिकों का साहस टूट गया। ऐसी स्थिति में, अपने सैनिकों के मनोबल को बढ़ाने के लिए बाबर ने बहुत ही नाटकीय ढंग से एक प्रभावशाली भाषण दिया। उसने कभी भी शराब न पीने की सौगन्ध खाई, शराब के प्याले और बर्तन तुड़वा दिए और बची हुई शराब को जमीन पर उड़ेल दिया। मुसलमानों को 'तमगा' (व्यापारिक कर) से मुक्त कर दिया। उसके इन कार्यों का उचित प्रभाव पड़ा और उसके सैनिकों ने उसका साथ न छोड़ने की कसम खाई। 11 फरवरी, 1527 को 'जिहाद' (धर्मयुद्ध) घोषित कर दिया गया।

16 मार्च, 1527 को फतेहपुर सीकरी से 10 मील दूर खानुवा नामक स्थान पर दोनों पक्षों के मध्य घमासान युद्ध शुरू हुआ। राजपूत अपनी परम्परागत वीरता के साथ लड़े। शुरू में उनको काफी सफलता भी मिली। परन्तु बाबर के तोपखाने ने राजपूती साहस और वीरता को बेकार कर दिया और अन्त में तुलुगमा पद्धति के धावे ने उनकी कमर तोड़ दी। सूर्यास्त के पहले ही युद्ध का निर्णय हो गया। राजपूत पराजित हुए और मुगल जीत गये। राणा साँगा युद्ध के शुरू में ही घायल हो गया था। सुरक्षा की दृष्टि से उसे युद्ध-स्थल से दूर भिजवा दिया गया। परन्तु इस बात को गुप्त रखा गया और सेना में घबराहट रोकने के लिए झाला सरदार अज्जा ने साँगा का राजमुकुट धारण करके राजपूती सेना का नेतृत्व किया था। इस प्रकार, एक बार फिर श्रेष्ठ सेनापतित्व, श्रेष्ठ युद्धनीति, श्रेष्ठ सैन्य संचालन अवसर के अनुकूल साहस और तोपखाने के कारण बाबर की जीत हुई।

भारतीय इतिहास में खानुवा का युद्ध निर्णायक सिद्ध हुआ। इसके गम्भीर परिणामों का भारी प्रभाव पड़ा। इसने राजपूत शक्ति और संगठन की कमर तोड़ दी। विदेशियों को भारत से खदेड़ने तथा दिल्ली पर अपना अधिकार जमाने का राजपूती स्वप्न हमेशा के लिए समाप्त हो गया। इतना ही नहीं, अपितु आने वाली कई सदियों तक राजपूत शक्ति संगठित न हो सकी। राजपूतों की पराजय से पड़ोसी राज्यों (गुजरात, मालवा इत्यादि) के लिए राजपूताने पर आक्रमण करने का मार्ग



खुल गया। इस युद्ध ने दिल्ली पर बाबर के अधिकार को और अधिक मजबूत तथा स्थायी बना दिया। रशब्रुक विलियम्स ने लिखा है कि, अब "बाबर की शक्ति का केन्द्र काबुल नहीं रहा। अब उसका केन्द्र हिन्दुस्तान हो गया। उसने अपना शेष जीवन दृढ़ता के साथ भारत में बिताया।" इस युद्ध ने मुगल साम्राज्य के भावी

विस्तार का मार्ग प्रशस्त कर दिया क्योंकि राजपूतों की पराजय से अफगानों की शक्ति भी निर्बल पड़ गई।

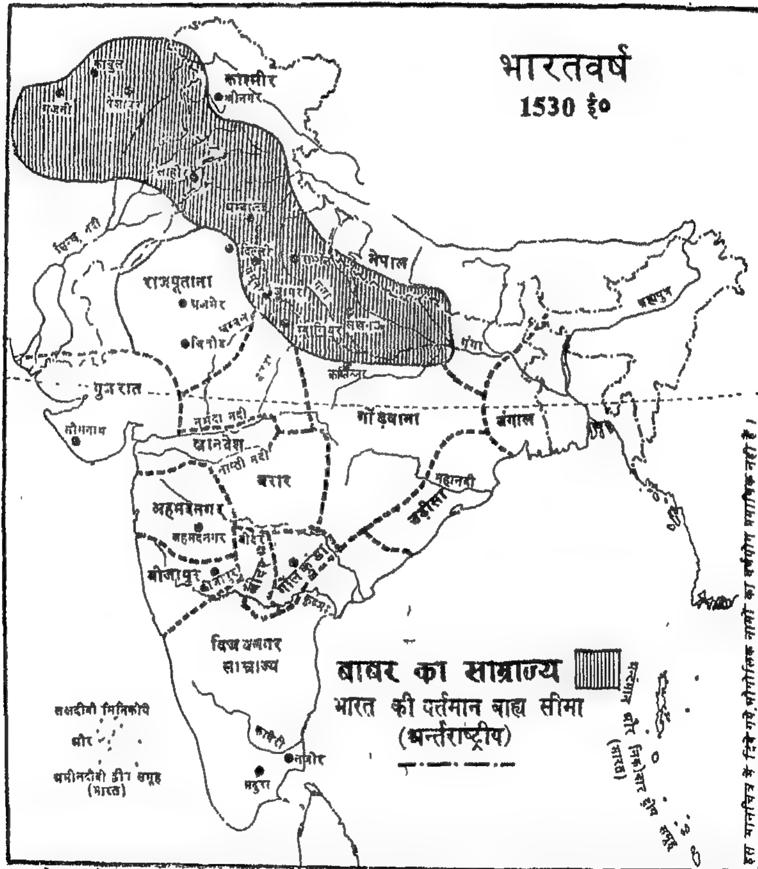
चन्देरी (1528 ई.) – चन्देरी व्यापार और राजनीति दोनों ही दृष्टि से महत्त्वपूर्ण था। यह नगर मालवा और बुन्देलखण्ड की सीमा पर था और उत्तर भारत की मुख्य सड़क वहाँ से गुजरती थी। चन्देरी पर पहले मालवा का अधिकार था, परन्तु बाद में वहाँ के शासक मेदिनीराय ने राणा साँगा की अधीनता स्वीकार कर ली और उसकी ओर से खानुवा के युद्ध में भाग लिया था। 1528 ई. के शुरू में बाबर ने चन्देरी पर आक्रमण कर दिया। 29 जनवरी, 1528 ई. को चन्देरी के दुर्ग पर बाबर का अधिकार हो गया। मेदिनीराय मारा गया। घायल राणा साँगा अपनी बची हुई सेना के साथ चन्देरी की सहायता के लिए रवाना हुआ था परन्तु मार्ग में उसके स्वजनों ने उसे जहर देकर समाप्त कर दिया। चन्देरी की विजय से बाबर ने राजपूतों की शक्ति को दूसरा घातक धक्का दिया।

घाघरा का युद्ध (1529 ई.) - पानीपत और खानुवा की विजयों से बाबर दिल्ली सल्तनत का स्वामी बन चुका था। फिर भी अभी उसका अधिकार निष्कंटक नहीं हो पाया था। पानीपत में पराजित अफगानों ने अपनी खोई सत्ता को पुनः प्राप्त करने का प्रयत्न शुरू कर दिया था। इब्राहीम लोदी के भाई महमूद लोदी के नेतृत्व में उन्होंने अपनी बिखरी हुई शक्ति को संगठित करके सम्पूर्ण पूर्वी भारत को अपने अधिकार में ले लिया था और अब मुगलों को भारत से खदेड़ने की तैयारी में लगे थे। सम्भवत: बंगाल का सुल्तान भी उनकी सहायता कर रहा था। अत: राजपूतों से निपटने के बाद बाबर ने अफगान शक्ति को कुचलने का निश्चय किया और एक शक्तिशाली सेना के साथ पूर्व की ओर कूच किया। 6 मई, 1529 ई. को घाघरा के तट पर अफगानों से युद्ध हुआ। बाबर को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई। अनेक अफगान सरदारों ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली।

मृत्यु – चार बड़े युद्धों को जीतकर बाबर ने भारत में सिन्धु नदी से लेकर बिहार तक और हिमालय से लेकर ग्वालियर तथा चन्देरी तक अपना राज्य स्थापित कर लिया था। परन्तु उसके भाग्य में साम्राज्य का सुख भोगना नहीं लिखा था। 26 दिसम्बर, 1530 ई. के दिन उसकी मृत्यु हो गई। यह कहानी कि बाबर ने अपने जीवन के बदले में बीमार हुमायूँ का जीवन ईश्वर से माँगा था, अब इतिहासकारों द्वारा स्वीकार नहीं की जाती है। डॉ. श्रीराम शर्मा ने यह सिद्ध कर दिया है कि हुमायूँ की बीमारी के ठीक हो जाने के 6 माह पश्चात् बाबर बीमार हुआ था। बाबर की बीमारी का हुमायूँ की बीमारी से कोई संबंध न था और बाबर की मृत्यु अपनी स्वयं की बीमारी से हुई थी। अधिकांश इतिहासकार इसी मत को स्वीकार करते हैं।

मूल्यांकन -- बाबर का जीवन मानवीय जीवन के उतार-चढ़ाव की एक रोमांचक कहानी है। अल्पायु में उसने शासन का उत्तरदायित्व संभाला और उसके पश्चात् उसका जीवन निरन्तर युद्धों, संकटों और संघर्षों का रहा। इसलिए विपत्ति

को सामने देखकर घबराने के स्थान पर उसने मुस्कराना सीखा था। वह महत्त्वाकाँक्षी और दृढ़ संकल्प वाला व्यक्ति था। किसी भी प्रकार का संकट उसे अपने मार्ग से विचलित नहीं कर पाया। यद्यपि उसकी रगों में तैमूर और चंगेज का साहस और पराक्रम था, फिर भी वह उनकी भाँति बर्बर, क्रूर और रक्त-पिपासु नहीं था। धार्मिक दृष्टि से वह सुन्नी मुसलमान था और ईश्वर में उसका पूर्ण विश्वास था। निस्सन्देह भारत में बाबर ने समय-समय पर धार्मिक असहिष्णुता का परिचय दिया था। साँगा और मेदिनीराय के विरुद्ध 'जिहाद' की घोषणा की थी। परन्तु बाबर



भारत के महासर्वेक्षक की अनुज्ञानुसार भारत सर्वेक्षण विभागीय मानचित्र पर आधारित © भारत सरकार का प्रतिलिप्याधिकार, 1977.
भारत में समुद्र का जल प्रदेश उपयुक्त आधार रेखा से मापे गये बारह समुद्री मील की दूरी तक है।

मानचित्र—बाबर का साम्राज्य

की भारत में अपनाई गई इस नीति का मूल उद्देश्य धार्मिक न होकर राजनीतिक था। डॉ० श्रीराम शर्मा ने लिखा है कि, "ऐसा कोई सबूत नहीं है कि उसने धर्म के

आधार पर कभी भी हिन्दू मन्दिर को नष्ट किया हो अथवा हिन्दुओं पर अत्याचार किया हो।"

बाबर एक सभ्य और सुसंस्कृत व्यक्ति था। फारसी और तुर्की भाषाओं पर उसका अच्छा अधिकार था। वह एक अच्छा कवि और श्रेष्ठ गद्य-लेखक था। उसके द्वारा लिखी गई उसकी आत्म-कथा जिसे 'तुजक-ए-बाबरी' अथवा 'बाबरनामा' कहा जाता है, विश्व साहित्य की अनमोल कृति है। अपनी आत्म-कथा में बाबर ने निष्पक्ष भाव से अपना, अपने मित्रों, सम्बन्धियों और शत्रुओं, नगरों, बाग-बगीचों आदि का सजीव विवरण प्रस्तुत किया है।

एक सैनिक और सेनापति के रूप में बाबर प्रशंसनीय था। एक राजनीतिज्ञ और कूटनीतिज्ञ के रूप में भी वह सफल रहा। भारतीय इतिहास में उसका स्थान मुख्यतः उसकी विजयों के कारण ही है। उसमें एक कुशल-शासन प्रबन्धक के गुणों की कमी थी। वह अपने विस्तृत साम्राज्य को न तो संगठित ही कर पाया और न किसी नयी प्रशासनिक व्यवस्था को ही लागू कर पाया। इसलिए प्रायः उस पर यह आरोप लगाया जाता है कि वह अपने पुत्र के लिए एक ऐसा सिंहासन छोड़ गया जो कांटों में भरा हुआ था। परन्तु यदि हम गहराई से देखें तो मालूम पड़ेगा कि बाबर के कारण भारतीय इतिहास को नया मोड़ मिला है। बाबर भारत से तैमूरी राज्य की सांस्कृतिक परम्पराओं को स्थापित कर गया और मध्य एशिया तथा भारत के सम्पर्क को जोड़ गया। बाबर के रण-कौशल की सफलता ने भारतीय रण-कौशल का ढांचा ही बदल दिया। अब, भारतीय शासकों को युद्ध में तोपों की निर्णायिक भूमिका समझ में आ गई। अन्त में उसने, भारत में एक ऐसे राजवंश और उसकी परम्परा की स्थापना की जिस पर आगे चलकर उसके पौत्र अकबर ने एक शानदार भवन खड़ा किया।

हुमायूँ (1530–40 और 1555–56 ई.)

बाबर के ज्येष्ठ पुत्र हुमायूँ का जन्म 6 मार्च, 1508 ई. को काबुल में हुआ था। उसकी माँ का नाम 'माहम सुलताना' था। हुमायूँ के अतिरिक्त बाबर के तीन पुत्र और थे। गुलरुख बेगम से कामरान और अस्करी तथा दिलदार बेगम से हिन्दाल उत्पन्न हुए थे। हुमायूँ की शिक्षा का अच्छा प्रबन्ध किया गया था। बाबर के समय में उसने अपनी सैनिक प्रतिभा का अच्छा परिचय दिया था। अपनी मृत्यु के अवसर पर बाबर ने उसे अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया था। 30 दिसम्बर, 1530 ई को हुमायूँ मुगल-सिंहासन पर बैठा।

सिंहासन पर बैठते ही हुमायूँ की विपत्तियों का आरम्भ हो गया। उसे अपने पिता से जो साम्राज्य विरासत में मिला था, वह नाममात्र का साम्राज्य था। ऐसे प्रदेशों मे बँटा हुआ था जिनमें कोई एकता नहीं थी और न सबके हित एक थे। सर्वत्र स्वार्थी अमीरों का बोलबाला था। मुगल राजवंश की जड़ें अभी भारतीय भूमि में जम नहीं पायी थीं। इसलिए इस साम्राज्य के प्रति सर्वसाधारण को निष्ठा और सहानुभूति भी नहीं थी। उस युग में साम्राज्य की स्थिरता या अस्थिरता

बादशाह के निजी चरित्र पर निर्भर रहती थी। हुमायूँ विद्वान और उदार था। कला और साहित्य का प्रेमी था। परन्तु उसमें अपने युग के अनुकूल सैनिक शक्ति, राजनीतिक दाव-पेच और समयानुसार ठोस निर्णय लेने सम्बन्धी गुणों की कमी थी। उसमें उचित-अनुचित का भेद करने, तर्क एवं विवेक से काम लेने तथा धैर्य और साहस की क्षमता का अभाव था। इसके अलावा वह विलासप्रिय, आरामपसन्द, आलसी व अफीमची भी था। इस प्रकार उसका व्यक्तिगत चरित्र भी उसके लिए हानिकारक सिद्ध हुआ।

हुमायूँ के सबसे प्रबल शत्रु अफगान थे। अफगान यह भूले न थे कि कुछ वर्षों पहले दिल्ली पर उनका अधिकार था। इब्राहीम लोदी का भाई महमूद लोदी अब बिहार पहुँच गया था, जहाँ सभी विद्रोही अफगान सरदार एकत्र हो रहे थे। बंगाल का सुल्तान खुले रूप में उनकी सहायता कर रहा था और गुजरात का शासक बहादुरशाह भी उन्हें प्रोत्साहन दे रहा था। अफगानों में से ही एक अफगान सरदार शेरखाँ धीरे-धीरे दक्षिण बिहार में अपनी शक्ति को प्रबल बनाने में लगा हुआ था। कुछ समय पश्चात् वही हुमायूँ का सबसे प्रवल शत्रु सिद्ध हुआ।

राजपूत भी खानुवा और चन्देरी का प्रतिशोध लेने की ताक में थे। गुजरात के शासक बहादुरशाह के रूप में हुमायूँ के लिए एक संकट उत्पन्न हो गया था। वह अफगानों से साँठ-गाँठ करके दिल्ली पर अधिकार जमाने का स्वप्न देख रहा था।

उपर्युक्त शत्रुओं के अतिरिक्त, घर में ही हुमायूँ के विरोधी और शत्रु थे। हुमायूँ के स्वार्थी सम्बन्धी 'मिर्जाबन्धु' थे जो हर समय उसे सिंहासन से हटाने की घात लगाये बैठे थे। उनमें से एक मोहम्मद जमान मिर्जा था। वह हिरात के सुल्तान हुसैन बैंकरा का पोता और हुमायूँ की सौतेली बहन मासूमा बेगम का पति था। दूसरा, मोहम्मद सुल्तान मिर्जा था। वह तैमूर का वंशज था और दिल्ली की राजगद्दी का आकाँक्षी था। हुमायूँ के अपने सौतेले भाई भी इस काम में पीछे नहीं थे। इनमें सबसे अधिक खतरनाक कामरान था। बाबर की मृत्यु के समय काबुल कंधार उसके अधिकार में थे। उसके अधिकार में एक लड़ाकू और शक्तिशाली देश था। उससे छोटे अस्करी और हिन्दाल थे, जिनमें असाधारण योग्यता और चरित्रबल का अभाव था। हुमायूँ के तीनों भाई उसकी कठिनाईयों में वृद्धि करने वाले सिद्ध हुए। हुमायूँ की सेना राष्ट्रीय सेना नहीं थी। न उनकी एक भाषा थी और न उनका एक देश। यह साहसी लोगों का एक झुण्ड था जिसमें चगताई, उजबेग मंगोल, ईरानी, अफगानी और हिन्दुस्तानी सब शामिल थे। ऐसी सेना केवल बाबर के समान प्रभावशाली सेनापति के नेतृत्व में ही उपयोगी सिद्ध हो सकती थी।

साम्राज्य का विभाजन—हुमायूँ उदार व्यक्ति था। वह अपने भाइयों के साथ शान्तिपूर्वक रहना चाहता था। अतः उसने क मरान को काबुल और कंधार अस्करी को संभल और हिन्दल को मेवात दे दिया। कामरान काफी महत्त्वाकांक्षी था। थोड़े निनों बाद ही उसने पंजाब पर अपना अधिकार जमा लिया। उसे दण्ड

देने के स्थान पर हुमायूँ ने पंजाब पर उसके अधिकार को मान्यता दे दी और हिसार-फिरोजा का प्रदेश भी उसे दे दिया। डॉ० आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव के अनुसार यह हुमायूँ की एक बड़ी भूल थी क्योंकि जबकि मुगल राज्य को एकता की आवश्यकता थी, हुमायूँ ने उसे टुकड़ों में बाँट दिया। परन्तु डा० त्रिपाठी का कहना है कि यह कार्य हुमायूँ को प्राचीन तुर्क मंगोल परम्परा के कारण मजबूरी में करना पड़ा। यदि वह ऐसा नहीं करता तो भाइयों में गृह-युद्ध छिड़ सकता था। बँटवारे का चाहे जो कारण रहा हो, विभाजन की सबसे बड़ी भूल यह हुई कि दगाबाज कामरान के अधिकार में ऐसा प्रदेश दे दिया गया जो बाबर के राज्य का प्राण था। इससे हुमायूँ के हाथ से सैनिक भर्ती के क्षेत्र निकल गये। अर्थात् जिन साधनों के द्वारा यह राज्य प्राप्त हुआ था और जिनके द्वारा इस पर अधिकार रखा जा सकता था, वे उसके हाथ से जाते रहे। इसलिए रशब्रुक विलियम ने लिखा है कि, "अब कामरान जब चाहे तब हुमायूँ की सैनिक शक्ति के स्रोत को काट सकता था।' वास्तव में यह हुमायूँ की बड़ी भारी भूल थी।

कालिंजर—कालिंजर के हिन्दू शासक प्रताप रूद्रदेव के बारे में मुगलों का यह अनुमान था कि वह अफगानों का मित्र तथा समर्थक है। इस समय वह कालपी पर अपना दबाव बढ़ा रहा था। हुमायूँ को कालपी की अधिक चिन्ता थी। अतः 1531 ई. में उसने कालिंजर पर आक्रमण कर दिया। कालिंजर का दुर्ग एक पहाड़ी पर कई सौ फीट की ऊँचाई पर बना हुआ एक मजबूत किला था। उसे जीतना सरल काम न था। हुमायूँ ने दुर्ग को घेर लिया। घेराबन्दी जारी थी कि हुमायूँ को सूचना मिली कि महमूद लोदी के नेतृत्व में अफगान लोग जौनपुर की तरफ बढ़ रहे हैं। अफगानों की प्रगति हुमायूँ के लिए ज्यादा खरतनाक थी। अतः उसने मामूली शर्तों के साथ कालिंजर के राजा से सन्धि कर ली और वापस चला गया।

महमूद लोदी—बिहार में महमूद लोदी अफगानों को संगठित कर चुका था। बीबन और वायजीद जैसे अफगान सरदारों की सहायता से उसने जोनपुर तक के प्रदेश पर अपना अधिकार जमा लिया था। हुमायूँ ने उसका दमन करने के लिए कूच किया। गोमती नदी के तट पर दौरोह अथवा दोहरिया नामक स्थान पर अफगानों ने हुमायूँ से टक्कर ली। परन्तु उनकी हार हुई। कई अफगान सरदार मारे गये। महमूद लोदी भाग गया। और इसके पश्चात् राजनीति से अलग हो गया।

चुनार का घेरा (1532 ई.)—महमूद को पराजित करने के बाद हुमायूँ ने चुनार का घेरा डाल दिया। चुनार का किला बड़ा विशाल और मजबूत था। उसकी सामरिक स्थिति भी महत्त्वपूर्ण थी। इस समय यह किला शेरखाँ के अधिकार में था। चार माह के घेरे के पश्चात् भी किले को जीतने की आशा दिखाई न दी। उधर गुजरात का बहादुरशाह राजस्थान में अपनी शक्ति बढ़ाने में लगा हुआ था। हुमायूँ को इस समय उसी से अधिक खतरा था। अतः उसने शेरखाँ के साथ सन्धि करली। चुनार शेरखाँ के अधिकार में ही रहने दिया गया। शेरखाँ ने मुगल

अधीनता स्वीकार कर ली। हुमायूँ वापस लौट गया। यह हुमायूँ की भूल थी। उसने शेरखाँ की शक्ति को नष्ट नहीं किया और इसी शेरखाँ ने आगे चल कर उसे भारत से खदेड़ बाहर किया।

चुनार से लौटकर हुमायूँ ने लगभग डेढ़ वर्ष का समय आगरा में ऐश-आराम में व्यतीत किया। दिल्ली में 'दीनपनाह' नामक एक किले को बनाने में काफी धन खर्च किया। इसी अवधि में मिर्जा-बन्धुओं ने मिलकर बिहार में विद्रोह किया, परन्तु वे असफल रहे और कैद कर लिए गए। यद्यपि बाद में वे कैद से भाग गए।

बहादुरशाह से संघर्ष (1535–36)—गुजरात का बहादुरशाह एक महत्त्वाकांक्षी शासक था और इस समय तक उसने अपनी शक्ति का काफी विकास कर लिया था। 1531 में उसने मालवा के समृद्ध प्रान्त को जीत लिया था। 1532 में उसने रायसीन के प्रसिद्ध दुर्ग को जीत लिया और 1533 में उसने मेवाड़ को सन्धि करने के लिए विवश किया था। तुर्की के एक प्रसिद्ध तोपची रूमी खाँ के सहयोग से उसने एक शक्तिशाली तोपखाना तैयार करवाया। वह दिल्ली के सिंहासन को हस्तगत करने की अभिलाषा रखता था। हुमायूँ के कई विद्रोही मुगल तथा अफगान शत्रुओं को उसने शरण दे रखी थी। मुहम्मद जमान मिर्जा, आलम खाँ लोदी और उसका पुत्र तातार खाँ उसकी शरण में पहुँच चुके थे। हुमायूँ ने मुहम्मद जमान मिर्जा को वापस माँगा, परन्तु बहादुरशाह ने इन्कार कर दिया। अतः हुमायूँ ने बहादुरशाह पर आक्रमण करने का निश्चय कर लिया और सेना सहित मालवा में प्रवेश किया।

इस समय बहादुरशाह ने चित्तौड़ पर आक्रमण कर रखा था। चित्तौड़ की राजमाता कर्मवती (कर्णावती) ने हुमायूँ के पास राखी भेजकर सहायता की प्रार्थना की। हुमायूँ सहायता के लिए चल तो पड़ा परन्तु रास्ते में वह धर्म संकट में फँस गया। एक मुसलमान शासक एक हिन्दू से लड़ रहा हो तो दूसरा मुसलमान उस पर कैसे आक्रमण करे? अतः यह सारंगपुर में ही पड़ाव डालकर विश्राम करने लगा। यह उसकी बहुत बड़ी भूल थी। यदि इस समय वह पीछे की तरफ से बहादुरशाह पर आक्रमण कर देता तो बहादुरशाह राजपूतों और मुगलों के बीच में मसाले की भाँति पिस जाता। हुमायूँ को न केवल बहादुरशाह से ही अवकाश मिल जाता अपितु पराक्रमी राजपूतों की मैत्री भी प्राप्त हो जाती जिनके सहयोग से वह अपना साम्राज्य सुदृढ़ बना सकता था, ठीक वैसे ही जैसे कि उसके पुत्र अकबर ने आगे चल कर किया था।

बहादुरशाह के तोपखाने के सामने राजपूतों को झुक जाना पड़ा। चित्तौड़ पर बहादुरशाह का अधिकार हो गया और तीन दिन तक वहाँ लूट मार जारी रही। चित्तौड़ के पतन की सूचना मिलते ही हुमायूँ आगे बढ़ा और मन्दसौर के निकट शिविर लगाया। बहादुरशाह भी मुकाबले के लिए पहुँच गया। अपनी विजयी सेना द्वारा मुगलों पर बहादुरी के साथ आक्रमण करने की अपेक्षा उसने रक्षात्मक स्थिति अपनाई, परन्तु वह अपने ही शिविर में फँस गया। हुमायूँ ने उसके

शिविर की नाकेबन्दी कर दी जिससे उसकी रसद में कमी पड़ गई और भुखमरी की स्थिति पैदा हो गई। ऐसी स्थिति में वह 25 अप्रैल, 1535 ई. की रात को छिपकर भाग निकला और माण्डू के दुर्ग में जाकर आश्रय लिया। हुमायूँ ने उसका पीछा किया। बहादुरशाह माण्डू से चम्पानेर चम्पानेर से काम्बे और काम्बे से ड्यू भाग गया। हुमायूँ ने काम्बे तक उसका पीछा किया। कुछ दिनों के भीतर ही मालवा और गुजरात जैसे विशाल और समृद्ध प्रान्तों पर हुमायूँ का अधिकार हो गया। परन्तु इन प्रान्तों में अपनी सत्ता सुदृढ बनाने की तरफ उसने कोई ध्यान नहीं दिया और अपने भाई अस्करी जैसे अयोग्य व्यक्ति को गुजरात सौंपकर लौट आया। उसके पीठ फेरते ही बहादुरशाह ने गुजरात जीत लिया। थोड़े दिनों बाद मालवा भी मुगलों के हाथ से निकल गया। डॉ० त्रिपाठी के अनुसार "इन दो बड़े सूबों का मुगलों के हाथों निकल जाने का दोष किसी व्यक्ति विशेष का नहीं था बल्कि मुगलों की आन्तरिक फूट, सेनापतियों का एकमत न होना और कुछ दैवी परिस्थितियों का था।" लेनपूल ने लिखा है कि, "मालवा और गुजरात के सूबे जो हुमायूँ के शेष सम्पूर्ण साम्राज्य के बराबर थे, एक पके फल की भाँति उसके हाथों में गिर गये थे। कोई भी विजय इतनी आसानी से नहीं हो सकती थी। साथ ही साथ कोई भी विजय इतनी लापरवाही से नष्ट नहीं की गई थी।"

शेरखाँ से संघर्ष (1537-40) — जिस समय हुमायूँ बहादुरशाह के साथ संघर्ष में उलझा हुआ, शेरखाँ अपनी शक्ति को सुदृढ़ बनाने में लगा हुआ था। लगभग समूचा दक्षिणी बिहार उसके अधिकार में आ चुका था। इस समय बंगाल की स्थिति ठीक नहीं थी। बंगाल का योग्य सुल्तान नुसरतशाह मर चुका था और उसका उत्तराधिकारी महमूदशाह अयोग्य निकला। इस स्थिति का लाभ उठाते हुए 1536 ई. में शेरखाँ ने बंगाल पर आक्रमण कर दिया। कमजोर महमूदशाह ने काफी धन देकर शेरखाँ से अपना पीछा छुड़ाया। हुमायूँ को शेरखाँ की इन गतिविधियों से थोड़ी चिन्ता हुई और उसने जौनपुर के मुगल सूबेदार हिन्दूबेग से विस्तृत विवरण माँगा। शेरखाँ ने पहले से ही हिन्दूबेग को भारी उपहार देकर अपने अनुकूल बना रखा था। अतः हिन्दूबेग ने हुमायूँ को सूचना भेजी कि शेरखाँ हुमायूँ का एक वफादार सेवक है। हुमायूँ ने इसे सही मान लिया और पूरे एक वर्ष तक आगरा में आराम करता रहा।

1537 ई. में शेरखाँ ने बंगाल पर दूसरी बार आक्रमण किया। अब हुमायूँ को स्थिति का भान हुआ और उसने शेरखाँ के विरुद्ध कूच किया। अक्टूबर में हुमायूँ ने चुनारगढ़ का घेरा डाल दिया। छह माह के पश्चात् मार्च 1538 में चुनार पर हुमायूँ का अधिकार हो पाया। इस अवधि में शेरखाँ ने बड़ी सरलता के साथ न केवल गौड़ (बंगाल की राजधानी) को जीत लिया अपितु रोहतासगढ़ का प्रसिद्ध दुर्ग भी हस्तगत कर लिया। चुनार-विजय में हुमायूँ ने जो समय लगाया वह उसकी बहुत बड़ी भूल थी। डॉ० त्रिपाठी ने लिखा है कि, 'यद्यपि चुनार को अफगानों के हाथ में छोड़कर बंगाल की ओर बढ़ जाना हुमायूँ के लिए उपयुक्त न था, परन्तु

अपनी सम्पूर्ण सेना को लेकर चुनार के किले के सामने पड़ा रहना भी एक भूल थी जिसके कारण शेरखाँ अपनी बंगाल-विजय को सरलता से पूर्ण कर सका था।'

चुनार से हुमायूँ गौड़ की तरफ बढ़ा। शेरखाँ अपनी सेना सहित बंगाल से हट गया। बंगाल के सुल्तान महमूद की मृत्यु हो गई थी और उसके पुत्रों को मौत के घाट उतारा जा चुका था। इस प्रकार बहुत सरलता के साथ बंगाल पर हुमायूँ का अधिकार हो गया। डॉ. श्रीवास्तव का कथन है कि हुमायूँ ने आठ महीने बंगाल में ऐश-आराम किया जबकि डॉ० त्रिपाठी ने लिखा है कि इस अवधि में हुमायूँ ने बंगाल में व्यवस्था कायम की और अपनी सेना का पुनर्गठन किया। जो भी सत्य हो, शेरखाँ ने इस अवधि का पूरा लाभ उठाया। उसने बनारस, कड़ा कन्नौज सम्भल आदि स्थानों पर अधिकार कर लिया। जौनपुर और चुनार को घेर लिया और हुमायूँ की वापसी का मार्ग बन्द कर दिया। उपर्युक्त सूचनाएं मिलने पर हुमायूँ ने वापस लौटने का निश्चय किया।

हुमायूँ गंगा नदी के उत्तरी तट पर स्थित चौसा नामक स्थान तक जा पहुँचा। शेरखाँ भी अपनी सेना सहित चौसा के निकट जा पहुँचा। तीन महीने तक दोनों सेनाएं एक-दूसरे के सामने पड़ी रहीं। ऐसे नाजुक अवसर पर भी हुमायूँ को अपने भाइयों से कोई सहायता न मिली। दोनों पक्षों में संधि की बातचीत भी चली परन्तु कोई परिणाम नहीं निकला। 26 जून, 1539 को शेरखाँ ने अचानक मुगल सेना पर आक्रमण कर दिया। मुगलों की सेना अपने डेरों से बाहर भी नहीं आयी थी कि अफगानी सेना उन पर जा चढ़ी। सेना में इतनी गड़बड़ मच गई कि हुमायूँ अपने परिवार को भी नहीं निकाल सका और बड़ी कठिनाई से एक भिश्ती की सहायता से गंगा पार करके अपने प्राण बचाये। हुमायूँ आगरे की ओर भाग गया। शेरखाँ ने मुगल बेगमों और स्त्रियों को सम्मान सहित वापिस भेज दिया।

चौसा के बाद शेरखाँ ने अपने आप को सुल्तान घोषित किया और 'शेरशाह' की उपाधि धारण की। इसके कुछ दिनों बाद ही उसने सम्पूर्ण बंगाल पर अपना अधिकार जमा लिया और कन्नौज जा पहुँचा।

चौसा से पराजित हुमायूँ आगरा वापस आया। संयोगवश सभी भाई वहाँ उपस्थित थे। परन्तु हुमायूँ ने कामरान का, जो अपनी सेना सहित आगरा में उपस्थित था, सहयोग प्राप्त करने का पूरा-पूरा प्रयत्न नहीं किया। कामरान की तबियत खराब हो गई। उसे सन्देह हुआ कि हुमायूँ की चाल से उसे जहर दिया जा रहा है। अतः वह अपनी अधिकांश सेना सहित लाहौर लौट गया। अन्त में हुमायूँ अपनी सेना सहित कन्नौज की तरफ बढ़ा। कन्नौज के निकट हुमायूँ और शेरखाँ की सेनाएँ लगभग डेढ़ माह तक एक दूसरे के सामने पड़ी रहीं। 17 मई, 1540 को अफगानों ने आक्रमण कर दिया। मुगल सेना के पैर उखड़ गये और वह भाग खड़ी हुई। हुमायूँ बड़ी कठिनाई से जान बचाकर भाग सका।

कन्नौज का यह युद्ध निर्णायक सिद्ध हुआ। हुमायूँ भाग कर आगरा पहुँचा परन्तु शेरशाह ने उसे विश्राम नहीं लेने दिया। आगरा से हुमायूँ लाहौर की तरफ

चला गया। दिल्ली और आगरा पर शेरशाह का अधिकार हो गया। उत्तरी भारत की प्रभुसत्ता मुगलों के हाथ से निकल गई।

निष्कासित जीवन—कामरान के विरोध के कारण हुमायूँ को पंजाब छोड़ कर सिन्ध की तरफ जाना पड़ा। सिन्ध को जीतने में भी वह असफल रहा। ऐसी स्थिति में भी 1541 ई. में उसने हमीदाबानू बेगम से विवाह किया। इससे पूर्व उसे मारवाड़ के शासक मालदेव का मैत्री सन्देश मिल चुका था। मालदेव ने उसे आमंत्रित किया था और शेरशाह के विरुद्ध पूरा-पूरा साथ देने का वचन भी दिया था। परन्तु हुमायूँ ने समय पर मालदेव के पास न पहुँच कर भूल की। क्योंकि यदि वह ठीक समय पर पहुँच जाता तो दोनों मिलकर शेरशाह को पराजित कर सकते थे। अभी शेरशाह की सत्ता सुदृढ़ नहीं हो पायी थी। परन्तु हुमायूँ सिन्ध से भटकने के बाद मालदेव के पास पहुँचा। इस समय हुमायूँ के पास सेना के नाम पर कुछ भी नहीं बचा था। शेरशाह ने अपनी सत्ता जमा ली थी और उसकी सेना मारवाड़ की तरफ बढ़ रही थी। ऐसी स्थिति में मालदेव ने हुमायूँ का साथ न देना ही अच्छा समझा। अतः हुमायूँ को वापस लौटना पड़ा।

भागते-भागते हुमायूँ अमरकोट जा पहुँचा। यहाँ हिन्दू शासक वीरसाल ने उसका स्वागत-सत्कार किया। यहीं पर उसके पुत्र का जन्म हुआ जो आगे चलकर अकबर महान के नाम से प्रसिद्ध हुआ। सिन्ध से हुमायूँ ने कंधार की तरफ कूच किया। कामरान के आदेश से कंधार के सूबेदार अस्करी ने हुमायूँ को पकड़ने का प्रयत्न किया। हुमायूँ और हमीदाबानू तो किसी प्रकार बच निकले, परन्तु अकबर अस्करी के हाथ लग गया। अन्त में हुमायूँ ईरान पहुँच गया। 1544 ई. में ईरान के शाह तहमास्प ने कंधार विजय के लिए हुमायूँ को सैनिक सहायता देना स्वीकार कर लिया। परन्तु इसके बदले में हुमायूँ को शिया धर्म अपनाने, अपने राज्य में शिया धर्म फैलाने तथा बाद में कंधार ईरान को सौंपने का वचन देना पड़ा। सितम्बर 1545 में कंधार पर हुमायूँ का अधिकार हो गया। नवम्बर 1545 ई. में काबुल भी उसके अधिकार में आ गया। कामरान सिन्धु की ओर चला गया। अगले वर्ष कामरान ने काबुल को छीन लिया, परन्तु 1547 में हुमायूँ ने पुनः काबुल पर अधिकार जमा लिया। अगले कुछ वर्षों तक दोनों भाइयों में काबुल के लिए संघर्ष चलता रहा। अन्त में कामरान पकड़ा गया और उसे अन्धा कर दिया गया। इस प्रकार हुमायूँ को अपने दुष्ट भाई से छुटकारा मिला और अफगानिस्तान पर उसका नियन्त्रण मजबूत हुआ।

भारत की पुनः विजय और हुमायूँ की मृत्यु (1555–56)—मई, 1545 ई. में शेरशाह की मृत्यु हो गई और नवम्बर 1553 ई. में उसके योग्य उत्तराधिकारी इस्लामशाह की भी मृत्यु हो गई। उसकी मृत्यु के बाद अफगान सरदारों में सर्वोच्च सत्ता के लिए संघर्ष चालू हो गया। मुहम्मद आदिलशाह ने दिल्ली पर, सिकन्दरशाह ने लाहौर पर, इब्राहीमशाह ने बयाना पर और मुहम्मदशाह ने बंगाल पर अधिकार जमा लिया। कुछ दिनों बाद इब्राहीमशाह ने दिल्ली पर अधिकार जमा लिया।

परन्तु सिकन्दरशाह ने उसे खदेड़ कर दिल्ली पर अधिकार जमा लिया । ऐसी स्थिति में हुमायूँ ने मच्छीवारा के युद्ध में अफगानों को पराजित करके सम्पूर्ण पंजाब पर अपना अधिकार जमा लिया । 22 जून, 1555 के दिन सरहिन्द के युद्ध में हुमायूँ ने सिकन्दरशाह सूर को पराजित किया । अफगानों के लिए यह युद्ध निर्णायक सिद्ध हुआ । उनके हाथ से दिल्ली की सत्ता हमेशा के लिए निकल गई । इसके बाद दिल्ली पर भी मुगलों का अधिकार हो गया । थोड़े ही दिनों में आगरा, सम्भल और आस-पास के क्षेत्रों पर भी मुगलों का अधिकार हो गया । खोया हुआ साम्राज्य फिर से प्राप्त हो गया । परन्तु हुमायूँ के भाग्य में साम्राज्य का सुख भोगना नहीं लिखा था । 24 जनवरी, 1556 की संध्या के समय दिल्ली में वह पुस्तकालय की सीढ़ियों से गिर पड़ा । उसकी खोपड़ी की हड्डी टूट गई । 27 जनवरी को वह इस संसार से कूच कर गया । उसकी मृत्यु के सम्बन्ध में लेनपूल ने लिखा है कि 'वह सारी जिन्दगी फिसलता रहा और आखिर फिसलते ही जिन्दगी से बाहर हो गया ।'

चरित्र और मूल्यांकन—हुमायूँ के हाथ से साम्राज्य का निकल जाना और फिर से साम्राज्य की प्राप्ति, उसके पिता के वीर कार्यों से कोई कम रोचक कहानी नहीं है । इससे हमको यह भी पता लगता है कि साम्राज्य की स्थिरता या अस्थिरता बादशाह के व्यक्तिगत चरित्र पर अवलम्बित होती है । मानवीय गुणों की दृष्टि से हुमायूँ प्रशंसा के योग्य था । बाबर की भाँति वह एक शिक्षित और सुसंस्कृत व्यक्ति था । तुर्की और फारसी साहित्य में तो उसको गहरी रुचि थी । भूगोल, गणित, ज्योतिष, मुस्लिम धर्म शास्त्र आदि विषयों में भी उसकी रुचि थी । निजामुद्दीन अहमद ने उसके चरित्र के विषय में लिखा है, "उसमें मानवोचित गुण थे और साहस एवं वीरता की दृष्टि से तो अपने समय के शासकों में उसका स्थान सबसे ऊँचा था । वह इतना उदार था कि भारतवर्ष की समस्त सम्पत्ति भी उसके लिए काफी नहीं थी । ज्योतिष और गणित के ज्ञान में उसकी बराबरी कोई नहीं कर सकता था । उसके राज्य में योग्य और गुणी लोगों का पूरा सत्कार किया जाता था ।" एल्फिस्टन ने उसके बारे में लिखा है, 'यद्यपि उसमें बुद्धि की कमी नहीं थी परन्तु शक्ति बहुत कम थी । स्वभाव से वह सन्तोषी था, महत्त्वाकाँक्षी नहीं ।' इतिहासकार मेलीसन ने उसके चरित्र का संतुलित चित्र प्रस्तुत किया है । वह लिखते हैं कि, 'हुमायूँ वीर' प्रसन्नचित्त, हँसमुख, मोहक मित्र, उच्च शिक्षा प्राप्त, उदार और दयावान था । उसमें गुण थे और साथ ही उनको दबाने के लिए अनेक दोष भी थे । वह विचारहीन, अदृढ़ और अस्थिर था । उसमें कर्त्तव्य परायणता अधिक नहीं थी । उसकी उदारता फिजूलखर्ची की हद तक बढ़ी हुई थी और उसका प्रेम निर्बलता की सीमा तक पहुँच गया था । वह किसी भी गम्भीर दिशा में अपनी शक्तियों को केन्द्रीभूत नहीं कर सकता था । व्यापक व्यवस्था बनाने के लिए न उसमें बुद्धि थी, न अनुरक्ति । उसके पिता ने जो साम्राज्य स्थापित किया था, उसके सूत्रीकरण के लिए वह नितान्त अयोग्य था' उपर्युक्त विवरणों के आधार पर हम इस

निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि हुमायूँ को वे प्राकृतिक योग्यताएँ प्राप्त नहीं थीं जिनसे वह उन भीषण समस्याओं का भार वहन कर पाता जो उसके सामने सुलझने के लिए प्रस्तुत हुईं। शायद हुमायूँ की बुद्धि एकांगी ही थी, जिस कारण मौलिक योजना के विफल होने पर परिवर्तित परिस्थिति से निपटना उसके लिए असम्भव हो जाता था। इससे यह भी पता चलता है कि न तो मानव तथा मानव प्रकृति का और न राजनीतिक स्थितियों तथा शासनिक समस्याओं का ही वह सच्चा पारखी था। कूटनीति और राजनीति में वह न बाबर की बराबरी कर पाया और न शेरशाह की ही।

अभ्यास के लिए प्रश्न

1. बाबर को भारत में मुगल साम्राज्य का संस्थापक क्यों माना जाता है ? उसके द्वारा स्थापित साम्राज्य में क्या कमियाँ रह गई थीं ?
2 खानुवा के युद्ध के मुख्य कारणों का उल्लेख कीजिए तथा भारत की राजनीति पर इसके परिणामों के प्रभाव की चर्चा कीजिए।
3. बाबर की चारित्रिक विशेषताओं और उपलब्धियों का उल्लेख करते हुए भारतीय इतिहास में उसका स्थान निश्चित कीजिए।
4. सिंहासन पर बैठने के बाद हुमायूँ को कौनसी समस्याओं का सामना करना पड़ा ? वह उन्हें हल करने में कहाँ तक सफल रहा ?
5. हुमायूँ की चारित्रिक कमजोरियों का उल्लेख कीजिए। अपनी सफलता तथा पराजय के लिए वह स्वयं कहाँ तक उत्तरदायी था ?

अपने अध्ययन की जाँच कीजिए

1. सही उत्तर का क्रमांक सामने के कोष्ठक में लिखिए—

(क) फरगना राज्य की राजधानी का नाम क्या था ?
(1) समरकन्द, (2) काबुल, (3) अन्दिजान, (4) कंधार ( )

(ख) पानीपत के प्रथम युद्ध में बाबर ने किसको पराजित किया था ?
(1) अफगानों को, (2) मंगोलों को
(3) उजबेगों को, (4) राजपूतों को। ( )

(ग) घाघरा का युद्ध किसके मध्य लड़ा गया था ?
(1) बाबर और शैबानी खाँ, (2) बाबर और अफगान,
(3) बाबर और राजपूत, (4) हुमायूँ और शेरखाँ। ( )

(घ) चौसा का युद्ध किस नदी के तट पर लड़ा गया था ?
(1) यमुना, (2) गंगा, (3) झेलम, (4) सोन। ( )

(ङ) अकबर का जन्म किस स्थान पर हुआ था ?
(1) दिल्ली (2) आगरा, (3) अमरकोट, (4) काबुल ( )

2. केवल एक पंक्ति में उत्तर दीजिए—

(क) बाबर की रगों में किन विजेताओं का रक्त था ?
(ख) बाबर को भारत पर आक्रमण करने का निमन्त्रण किसने दिया था ?

(ग) मिर्जाबन्धु कौन थे ?

(घ) हुमायूँ को किस राजपूत शासक ने सहायता का आश्वासन दिया था ?

(ङ) हुमायूँ ने किसके अधिकार से पुनः दिल्ली की सत्ता को प्राप्त किया था?

3. पाँच-सात पंक्तियों में उत्तर दीजिए—

(क) बाबर के आक्रमण के पूर्व दिल्ली सल्तनत की स्थिति कैसी थी ?

(ख) भारत पर बाबर के प्रारम्भिक अभियानों का मुख्य ध्येय क्या था ?

(ग) खानुवा का युद्ध क्या हिन्दुओं और मुसलमानों का आपसी संघर्ष था ?

(घ) हुमायूँ द्वारा अपने भाइयों में साम्राज्य को विभाजित करने के क्या परिणाम निकले ?

(ङ) हुमायूँ राजपूतों की मैत्री को क्यों नहीं प्राप्त कर सका ?

4. (क) भारत के मानचित्र में पानीपत, खानुवा, चौसा और कन्नौज की सही स्थिति अंकित कीजिए।

(ख) बाबर के साम्राज्य की सीमा अंकित कीजिए।

पूरक अध्ययन के लिए ग्रन्थ

1.	डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी	: मुगल साम्राज्य का उत्थान और पतन।
2.	एम. आर. शर्मा	: भारत में मुगल साम्राज्य।
3.	डॉ० आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव	: मुगलकालीन भारत
4.	डॉ० शर्मा और व्यास	: मध्यकालीन भारत।

---

2. शेरशाह और उसकी शासन-व्यवस्था

प्रारम्भिक जीवन—भारत से मुगलों को खदेड़कर दिल्ली पर पुनः अफगानों की सत्ता स्थापित करने वाला शेरशाह किसी राजा अथवा ऊँचे घराने का वंशज नहीं था। वह इतिहास के उन महान व्यक्तियों में से एक था, जो केवल अपने परिश्रम, योग्यता और बाहुबल के आधार पर सामान्य स्तर से उठकर राज्य पद तक पहुँचा था। उसका दादा इब्राहीम अपने पुत्र हसन के साथ रोटी-रोजी की तलाश में अफगानिस्तान से हिन्दुस्तान आया था। इधर-उधर भटकने के बाद बाप-बेटे ने अन्त में हिसार फिरोजा के अफगान सरदार जलाल खाँ के यहाँ सैनिक नौकरी कर ली। सम्भवतः यहीं हसन की अफगान पत्नी से 1472 ई० (डॉ० कानूनगो के अनुसार 1486 ई०) में शेरशाह का जन्म हुआ। उसका बचपन का नाम फरीद था। हसन के चार पत्नियाँ थीं जिनसे आठ पुत्र हुए। फरीद और निजाम पहली पत्नी से थे और सुलेमान तथा अहमद उसकी चौथी पत्नि से। हसन अपनी चौथी पत्नी के प्रभाव में था।

सिकन्दर लोदी के समय में जमालखाँ को जौनपुर की जागीर दी गई तो वह अपने साथ हसन को भी लेता गया और 500 घोड़ों की सरदारी के लिए सहसराम, हाजीपुर और टाँडा जागीर में दिये। यहाँ फरीद अपने पिता की उसके सौतेले भाइयों पर अत्यधिक कृपा से कुढ़ने लगा और निराशा की स्थिति में अपने पिता का घर छोड़ कर जौनपुर चला गया। यह नगर उस समय मे प्रान्तीय शासन का केन्द्र ही न था, इस्लामी विद्या, सभ्यता और सस्कृति का भी केन्द्र बना हुआ था। डॉ० कानूनगो के अनुसार जौनपुर में फरीद अपने 25 वर्ष की आयु तक रहा (सन् 1501 से 1511 तक) यहाँ रहते समय उसने अपने समय का सदुपयोग किया। अरबी और फारसी का ज्ञान प्राप्त किया। इतिहास का मनन किया। प्रान्त की दीवानी तथा फौजदारी शासन का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त किया और अपनी प्रतिभा से जमालखाँ को भी प्रभावित किया। जमाल खाँ ने बाप-बेटे में समझौता करा दिया और शायद उसी के सुझाव पर हसन ने अपनी जागीर का प्रबन्ध फरीद को सौंप दिया। यहीं पर फरीद ने शासन व्यवस्था का प्रथम सबक सीखा। नये-नये अनुभव किये जिनका उपयोग उसने अपने विस्तृत साम्राज्य की शासन-व्यवस्था में किया। परन्तु सौतेली माँ के कारण उसे पुनः अपने पिता का घर छोड़ना पड़ा। इस बार फरीद ने आगरे जाकर इब्राहीम लोदी के दरबार में शरण ली। 1520 ई. में उसके पिता हसन की मृत्यु हो गई और इब्राहीम लोदी ने हसन की जागीर फरीद को प्रदान करदी। इस प्रकार यह महत्त्वाकाँक्षी नवयुवक शाही फरमान लेकर सहसराम लौट आया।

बहारखाँ की सेवा—फरीद के सौतेले भाइयों ने अपने फिरके के सबसे शक्तिशाली सरदार मोहम्मद खाँ की शरण ली। अपनी स्थिति को मजबूत बनाने की दृष्टि से फरीद ने दक्षिणी बिहार के शासक बहार खाँ लोहानी (अथवा नूहानी) जिसने सुल्तान मुहम्मदशाह की उपाधि धारण कर रखी थी, की नौकरी कर ली। फरीद रात-दिन काम में लगा रहता था। इससे बहारखाँ उससे बहुत प्रसन्न था। एक दिन वह बहार खाँ के साथ शिकार में गया। वहाँ एक चीता



शेरशाह

झपट कर आया जिसको फरीद ने मार डाला। इस वीरता के लिए बहार खां ने उसको शेरखाँ अर्थात् 'शेरों का सरदार' की पदवी दी। उसने शेरखाँ को अपने छोटे पुत्र जलालखाँ का शिक्षक नियुक्त कर दिया। शेरखाँ की इस शीघ्र उन्नति से लोहानी सरदार जलने लगे और उन्होंने बहार खाँ के कान भरने शुरू कर दिए। परिणाम यह निकला कि शेरखाँ को अपनी जागीरी और नौकरी से हाथ धोना पड़ा।

इस समय तक भारत की राजनीति में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो चुका था। अफगानों के स्थान पर मुगल दिल्ली-आगरा के शासक बन गये थे। शेरखाँ जोनपुर के मुगल सूबेदार सुल्तान जुनैद बरलास की सहायता से आगरा में बाबर की नौकरी में नियुक्त हो गया। लगभग 15 माह (डॉ० कानूनगो के अनुसार, अप्रैल 1527 से जून 1528 तक) वह मुगलों के साथ रहा। इस प्रकार उसे मुगलों के रंग-ढंग, आदतें और शासन-प्रणाली के अध्ययन का सुअवसर मिला। बाबर के चन्देरी अभियान में सम्मिलित होने का अवसर उसे प्राप्त हुआ। फिर पूर्वी प्रान्तों में उसकी सैनिक गतिविधि देखने का मौका भी उसे मिला। बाबर ने शेरखाँ को उसकी छीनी हुई जागीर भी उसे दिलवा दी। शेरखाँ अपने अफगान साथियों से प्राय: कहा करता था, अगर भाग्य और समृद्धि ने मेरा साथ दिया तो मैं मुगलों को हिन्दुस्तान से बहुत आसानी से निकाल दूँगा।' उधर बाबर ने जिसे मनुष्य के चरित्र की अच्छी परख थी, शेरखाँ को देखकर अपने मन्त्री खलीफा से कहा था, 'यह अफगान छोटी-छोटी बातों से पीछे हटने वाला आदमी नहीं है, वह आगे चलकर बड़ा आदमी हो सकता है। शेरखाँ पर अच्छी तरह दृष्टि रखो। वह चतुर आदमी है और उसके मस्तक पर शाही चिह्न दिखाई देते हैं।' इसलिए प्रथम अवसर प्राप्त होते ही शेरखाँ बाबर के डेरे से चल दिया। एक बार पुन: वह बहारखाँ (सुल्तान मुहम्मदशाह) की सेवा में पहुँचा और उसे जलालखाँ का शिक्षक और अभिभावक नियुक्त कर दिया गया।

बिहार में सत्ता का दृढ़ीकरण—कुछ दिनों बाद ही सुल्तान मुहम्मदशाह (बहार खाँ) की मृत्यु हो गई और उसकी विधवा बेगम 'दूदू' ने शेरखाँ को अपना सहायक नियुक्त किया क्योंकि उसका लड़का जलालखाँ अभी अल्पायु था। इस पद पर रहते हुए शेरखाँ ने शासन-व्यवस्था का पुन: संगठन किया, सेना की कमियों को दूर किया और अपनी स्थिति को भी सुदृढ़ बनाया। इस समय उसे सबसे अधिक खतरा बंगाल के सुल्तान नुसरतशाह से था जो कि बिहार की तरफ अपने राज्य विस्तार के लिए प्रयत्नशील था। 1529 ई० में शेरखाँ ने उसे बुरी तरह से पराजित किया। इससे उसकी प्रतिष्ठा काफी बढ़ गई। परन्तु लोहानी सरदारों को उससे ईर्ष्या उत्पन्न हो गई और उन्होंने शेरखाँ से सत्ता छीनने तथा उसे मार डालने की योजना बनाई। असफल होने पर वे लोग अपने शिशु सुल्तान जलालखाँ को लेकर बंगाल के सुल्तान की सेवा में चले गये। इससे शेरखाँ का मार्ग साफ हो गया। फिर भी उसने 'हजरते आला' की सामान्य पदवी धारण कर राज-काज चलाना अधिक

उचित समझा। 1530 ई. में उसने चुनार के भूतपूर्व दुर्गरक्षक ताजखाँ की विधवा पत्नी लाड़ मलिका से विवाह कर चुनार का शक्तिशाली दुर्ग हस्तगत कर लिया। दुर्ग में छिपा बड़ा खजाना भी उसके हाथ लग गया जिससे उसने अपनी सैनिक शक्ति को सुदृढ़ बनाया। इब्राहीम लोदी के भाई महमूद लोदी के बिहार पहुँचने पर शेरखाँ का महत्त्व फिर कम हो गया। 1532 ई. में दौहरिया के युद्ध में शेरखाँ को महमूद लोदी का अनुयायी बन कर हुमायूँ के विरुद्ध अफगानों का साथ देना पड़ा। अफगान पराजित हुए और महमूद लोदी राजनीति से हट गया जिससे शेरखाँ को पुनः महत्त्व प्राप्त हो गया। इसी वर्ष हुमायूँ ने चुनार का घेरा डाला, परन्तु उसे सफलता न मिली और उसने शेरखाँ के साथ सन्धि कर ली।

जिस समय हुमायूँ गुजरात और मालवा में उलझा हुआ था, शेरखाँ ने बिहार में अपनी स्थिति को मजबूत बना लिया। जिन अफगान सरदारों ने उसकी सत्ता को मानने से इन्कार कर दिया उन्हें मौत के घाट उतार दिया गया। इसके बाद उसने बंगाल की तरफ ध्यान दिया। बंगाल का योग्य सुल्तान नुसरतशाह मर चुका था और उसका अयोग्य उत्तराधिकारी महमूदशाह शान्ति और व्यवस्था को कायम रखने में सफल नहीं हो पाया। इस स्थिति का लाभ उठाते हुए शेरखाँ ने बंगाल पर आक्रमण कर दिया। 1534 ई में सूरजगढ़ के युद्ध में उसने बंगाल को बुरी तरह पराजित किया और बंगाल से भूमि, धन, तोपखाना, हाथी, हथियार आदि प्राप्त किए। 1535 ई. में उसने फिर बंगाल पर आक्रमण किया और काफी धन वसूल किया। 1537 ई. में शेरखाँ ने तीसरी बार बंगाल पर आक्रमण किया। सुल्तान महमूदशाह ने गौड़ के दुर्ग में शरण ली और हुमायूँ से सहायता की प्रार्थना की। हुमायूँ ने शेरखाँ के विरुद्ध कूच किया। मार्ग में स्थित चुनारगढ़ को जीतने के बाद वह गौड़ की तरफ बढ़ा। तब तक शेरखाँ गौड़ को लूटकर बंगाल से हट चुका था। हुमायूँ गौड़ पहुँच कर ऐश-आराम में पड़ गया अथवा बंगाल की व्यवस्था में जुट गया। इस अवधि में शेरखाँ ने बड़ी चालाकी से एक हिन्दू शासक के अधिकार से रोहतासगढ़ का शक्तिशाली दुर्ग छीन लिया। यहाँ उसका परिवार और खजाना सुरक्षित रह सकता था। 1539 ई. में शेरखाँ ने चौसा के युद्ध में हुमायूँ को पराजित किया और 'शेरशाह सुल्तान-ए-आदिल' की उपाधि धारण की। इसके बाद उसने सम्पूर्ण बंगाल पर पुनः अपना अधिकार स्थापित किया। 1540 ई. में उसने कन्नौज के युद्ध में हुमायूँ को पुनः पराजित किया। इस युद्ध के बाद आगरा, दिल्ली, सम्भल, ग्वालियर, लाहौर आदि स्थानों पर भी उसका अधिकार हो गया। इस प्रकार उसने उत्तरी भारत से मुगलों को खदेड़ कर अफगान सत्ता की पुनः स्थापना की।

साम्राज्य विस्तार—झेलम और सिन्धु के उत्तर में गक्खर जाति का आधिपत्य था। गक्खर जाति मुगलों के प्रति मैत्री भावना रखती थी। इसलिए शेरशाह के साम्राज्य की उत्तर-पश्चिमी सीमा किसी भी समय खतरे में पड़ सकती थी और गक्खरों की सहायता से मुगल पुनः भारत में अपने पैर जमा सकते थे। जब

गक्खरों ने शेरशाह का आधिपत्य मानने से इनकार कर दिया तो शेरशाह ने उनके प्रदेश पर आक्रमण कर दिया। उनके मुख्य केन्द्रों को नष्ट कर दिया और गक्खर नेताओं को मौत के घाट उतार दिया गया। इससे गक्खरों की शक्ति कमजोर तो हो गई, परन्तु उनका प्रतिरोध जारी रहा। इसलिए शेरशाह ने झेलम कस्बे में एक विशाल दुर्ग का निर्माण करवाया और इसका नाम 'रोहतास' रखा। दुर्ग की रक्षा के लिए हैबत खाँ नियाजी और खवास खाँ जैसे योग्य अधिकारी नियुक्त किए गए।

इस समय बंगाल में विद्रोह के लक्षण प्रकट होने लगे। उसके अपने सूबेदार खिज्र खाँ ने बंगाल के स्वर्गीय सुल्तान महमूदशाह की लड़की से विवाह कर लिया। और एक स्वतन्त्र शासक की भाँति व्यवहार करने लगा। शेरशाह स्वयं बंगाल गया। खिज्र खाँ बन्दी बना लिया गया। भावी विद्रोहों को समाप्त करने की दृष्टि से उसने बंगाल में एक नई शासन-व्यवस्था लागू की। उसने बंगाल को कई 'सरकारों' (जिलों) में बाँट दिया और प्रत्येक जिले की व्यवस्था के लिए एक छोटे सैनिक अधिकारी 'शिकदार' को नियुक्त किया। शिकदारों की देखभाल के लिए एक असैनिक अधिकारी 'अमीर-ए-बंगाला' अथवा 'अमीन-ए-बंगाला' को नियुक्त किया।

अब उसने मालवा की तरफ ध्यान दिया। बिना किसी विशेष विरोध के अधिकांश मालवा उसके अधिकार में आ गया। मालवा से वापस आते समय रणथम्भौर का दुर्ग भी उसके हाथ लग गया। 1543 ई. में उसने मालवा के रायसीन राज्य पर आक्रमण किया। यहाँ के अल्पायु हिन्दू शासक के नाम पर इसका चाचा पूरणमल शासन करता था। पूरणमल ने चन्देरी को भी जीत लिया था। अब्बासखाँ लिखता है कि इस आक्रमण का कारण राजा पूरणमल द्वारा मुसलमान परिवारों को सताया जाना था परन्तु डॉ. कानूनगो के अनुसार आक्रमण का कारण राजनीतिक था। जो भी हो, इस अभियान में शेरशाह ने अपने वचन भंग और विश्वासघात का जो परिचय दिया, उससे उसकी जीवनी पर अत्यधिक गहरा धब्बा लग गया। यह बात दूसरी है कि उसे रायसीन और चन्देरी मिल गये। इसके बाद मुल्तान पर भी शेरशाह का अधिकार हो गया। सिन्ध पर इससे पूर्व ही अधिकार किया जा चुका था।

राजस्थान : मालदेव से युद्ध—खानुवा युद्ध और राणा साँगा की मृत्यु के बाद राजस्थान की राजनीति में मालदेव का प्रभाव बढ़ गया। वह मारवाड़ का नरेश था। जोधपुर उसकी राजधानी थी। मालदेव एक पराक्रमी और महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति था और तत्कालीन अव्यवस्थित स्थिति का लाभ उठाते हुए उसने अजमेर, बीकानेर, जालौर, बेदनूर आदि स्थानों पर अधिकार करके अपनी शक्ति एवं राज्य का विस्तार किया। उसके राज्य की सीमा दिल्ली साम्राज्य की सीमा से जा मिली। उसने निर्वासित हुमायूँ को शेरशाह के विरुद्ध सहायता का आश्वासन भी दिया था। अतः शेरशाह ने ऐसे शक्तिशाली शासक को समाप्त करने का निश्चय किया। परन्तु मालदेव को जीतने में उसे अपनी समस्त शक्ति, छल-कपट और बुद्धि को दाव पर लगाना पड़ा। जब शेरशाह अपनी सैनिक शक्ति से राठौड़ वीर मालदेव को परास्त

न कर सका, तो उसने छल-कपट का सहारा लेकर मालदेव के चित्त में अपने ही कुछ सरदारों के प्रति अविश्वास की भावना पैदा कर दी। इस पर मालदेव अपनी मुख्य सेना सहित वापस लौट गया, परन्तु जिन राजपूत सरदारों पर मालदेव ने अविश्वास किया था, वे अपने सैनिक दस्तों के साथ शेरशाह की सेना पर टूट पड़े। बहुत कठिन संघर्ष के बाद शेरशाह उन पर विजय प्राप्त कर पाया और तभी उसके मुँह से ये उद्गार निकले थे कि "एक मुट्ठी भर बाजरे के लिए मैं हिन्दुस्तान के साम्राज्य को प्रायः खो चुका था।" इसके बाद उसने सरलता के साथ अजमेर, जोधपुर, नागौर, मेड़ता आदि पर अपना अधिकार जमा लिया। मालदेव के अधिकार में मारवाड़ का थोड़ा सा भाग रह गया जिसे शेरशाह नहीं ले पाया। इसके बाद शेरशाह मेवाड़ की तरफ बढ़ा। वहाँ अल्पायु राणा उदयसिंह के मन्त्रियों ने बिना लड़े ही शेरशाह की अधीनता स्वीकार कर ली। शायद आमेर के कच्छवाह सरदारों ने भी उसकी प्रभुसत्ता को स्वीकार कर लिया था।

कालिंजर अभियान और मृत्यु—मालवा और राजस्थान की विजय के बाद शेरशाह ने बुन्देलखण्ड के कालिंजर दुर्ग को जीतने का निश्चय किया। क्योंकि वहाँ के शासक कीरतसिंह की सहानुभूति मुगलवंश के प्रति थी। नवम्बर 1544 ई. में कालिंजर दुर्ग का घेरा डाल दिया गया जो कई माह तक चलता रहा। 22 मई, 1545 ई. के दिन शेरशाह के बारूदखाने में आग लग गई जिसमें शेरशाह बुरी तरह जल गया और उसी दिन संध्या को उसकी मृत्यु हो गई। उसकी मृत्यु के पूर्व उसकी सेना ने कालिंजर दुर्ग अवश्य जीत लिया था।

शेरशाह की शासन व्यवस्था—डॉ. कानूनगो ने यह नवीन मत प्रतिपादित किया है कि शेरशाह अकबर महान् से अधिक रचनात्मक प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति और उससे बड़ा राष्ट्र-निर्माता था। इस प्रकार कई विद्वानों ने शेरशाह की शासन-संस्थाओं का गहन अध्ययन किया और यह राय प्रकट की कि वास्तव में वह एक व्यवस्था सुधारक था, मौलिक व्यवस्थापक नहीं था। इस विषय पर विद्वानों की जो राय हो, इतना निश्चित है कि वह पहला मुसलमान शासक था जिसने अपनी जनता की भलाई का ध्यान रखा। जो यह मानता था कि सरकार लोकप्रिय होनी चाहिए, शासक को न्याय और सहिष्णुता की नीति अपनानी चाहिए, भूमिकर उचित आधार पर निश्चित होना चाहिए और देश के आर्थिक विकास को प्रोत्साहन देना चाहिए। उसका कहना था कि "शासक को सदा काम में लगा रहना चाहिए और राज्य के छोटे-छोटे कामों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए और अपने मन्त्रियों पर बहुत अधिक भरोसा नहीं करना चाहिए। भ्रष्टाचारी मंत्री कभी नहीं रखने चाहिए। जो रिश्वत लेता है वह रिश्वत देने वाले पर आश्रित रहता है, वह मंत्री बनाने योग्य नहीं है क्योंकि ऐसे आदमी स्वार्थी होते हैं और जो स्वार्थी होते हैं उनमें राज्य शासन के प्रति न स्वामिभक्ति होती है और न सच्चाई।" आज की मानवता को, इतिहास इससे अधिक महत्त्वपूर्ण और क्या सबक सिखा सकता है।

केन्द्रीय शासन—यह सही है कि अपने युग के अन्य शासकों की भाँति शेरशाह

भी एक निरंकुश शासक था। उसके अधिकार असीमित थे। परन्तु उनके हृदय में लोक कल्याण की भावना थी। उसके राज्य की शासन-व्यवस्था के विभाग और उन विभागों के मंत्रियों की स्थिति सल्तनतकाल के समान ही थी। परन्तु शेरशाह प्रत्येक विभाग का स्वयं निरीक्षण करता रहता था। 'दीवाने वजारत' से वह वित्त और लगान तथा आय-व्यय सम्बन्धी समस्याओं और उनकी व्यवस्था की जाँच करवाता था। 'दीवाने आरिज' से सेना सम्बन्धी, 'दीवाने रसालत' से विदेशनीति सम्बन्धी और 'दीवाने इन्शा' से सरकारी पत्र-व्यवहार की पूरी-पूरी रिपोर्ट लेता था और इन विभागों की नीति वह स्वयं तय करता था। इन विभागों के मन्त्रियों को नीति-निर्धारण करने अथवा शासन-तन्त्र में किसी प्रकार का स्वतन्त्र परिवर्तन करने का कोई अधिकार नहीं था। शेरशाह की व्यक्तिगत रुचि और सक्रियता का परिणाम यह निकला कि केन्द्रीय मन्त्री, अधिकारी और कर्मचारी सतर्क, कर्मठ और कार्य कुशल बन गए।

प्रान्तीय शासन—शासन की मूल इकाई गाँव थी। शेरशाह ने गाँवों की परम्परागत पंचायती व्यवस्था में कोई परिवर्तन नहीं किया। गाँव की अपनी पंचायत होती थी जो गाँव की शिक्षा, सफाई, सुरक्षा आदि की व्यवस्था करती थी, गाँव के मुखिया (मुकद्दम), पटवारी तथा चौकीदार सरकारी कर्मचारी नहीं थे, परन्तु शासन संचालन में सरकार इनसे सहायता लेती थी। शेरशाह की व्यवस्था की विशेष बात यह थी कि गाँव के अधिकारियों को अपने कर्त्तव्य का पालन करना पड़ता था अन्यथा इनको सख्त सजा दी जाती थी।

गाँव से बड़ी इकाई 'परगना' थी। इसमें कई गाँव सम्मिलित थे। प्रत्येक परगने में सरकार की तरफ से शान्ति और व्यवस्था को बनाये रखने के लिए एक 'शिकदार', राजस्व वसूली के लिए एक 'अमीन' और आय-व्यय का लेखा रखने के लिए एक कोषाध्यक्ष नियुक्त किया जाता था। इसके अतिरिक्त, दो लिपिक भी रखे जाते थे—एक हिन्दी भाषा में काम करने के लिए तो दूसरा फारसी भाषा के लिए। शिकदार की सहायता के लिए एक छोटा सैनिक दस्ता रखा जाता था। अमीन (मुन्सिफ) को भूमि की पैमाइश तथा लगान का बन्दोबस्त के अलावा दीवानी मुकदमों का फैसला भी करना पड़ता था। उपर्युक्त अधिकारियों के अलावा 'कानूनगो' नामक एक अर्द्ध-सरकारी कर्मचारी भी होता था जो लगान सम्बन्धी मामलों की पूरी जानकारी रखता था।

परगने से बड़ी इकाई 'जिला' थी जिसे 'सरकार' कहा जाता था। इसके अन्तर्गत कई परगने होते थे। प्रत्येक सरकार (जिला) में दो मुख्य अधिकारी नियुक्त किए जाते थे, शिकदारे-शिकदारां (प्रमुख शिकदार) और मुन्सिफे-मुन्सिफान (प्रमुख मुन्शी)। प्रमुख शिकदारका पद अधिक महत्त्व का होता था। उसके अन्तर्गत एक बड़ा सैनिक दस्ता रहता था जिसकी सहायता से वह अपने जिले में शान्ति और व्यवस्था को कायम रखता था और विद्रोह तथा उपद्रवों का दमन करता था। परगने व शिकदारों के काम की देखभाल करना भी उसका मुख्य कर्त्तव्य था। प्रमुख

मुन्सिफ को दिवानी मामलों की सुनाई के अलावा परागनों के मुन्सिफों का काम भी देखना पड़ता था।

शेरशाह के साम्राज्य में जिले से बड़ी प्रशासनिक इकाई अर्थात् प्रान्त या सूबा थी या नहीं, इस प्रश्न पर विद्वानों में भारी मतभेद बना हुआ है। डॉ० कानूनगो का कहना है कि जिलों (सरकारों) से बड़ी इकाई नहीं थी। जबकि डॉ० परमात्माशरण और डॉ० श्री वास्तव का कहना है कि प्रान्त और फौजी गवर्नरों की व्यवस्था थी। केवल बंगाल प्रान्त को ही सरकारों में विभाजित किया गया था। सत्य जो भी रहा हो, इतना निश्चित है कि उसके साम्राज्य के सभी सूबों की शासन-व्यवस्था एक-समान नहीं थी।

शेरशाह की प्रान्तीय शासन-व्यवस्था की मुख्य विशेषता यह थी कि सभी उच्चाधिकारियों की नियुक्ति, पदोन्नति तथा पदच्युति केन्द्रीय सरकार करती थी। दूसरी यह है कि सैनिक अधिकारी और नागरिक प्रशासन अधिकारी एक दूसरे से स्वतन्त्र थे और दोनों को एक-दूसरे के कार्यों की रिपोर्ट केन्द्रीय सरकार को भेजनी पड़ती थी। तीसरी यह कि वह इन अधिकारियों को किसी एक ही स्थान पर दो-तीन वर्ष से अधिक नहीं रखता था और उनका स्थानान्तर कर देता था ताकि वे जनता से घनिष्ट सम्पर्क स्थापित करके, केन्द्र के विरुद्ध विद्रोह की बात न सोचें।

जागीर प्रथा—राजकीय सेवाओं के बदले में अमीरों, सरदारों, अधिकारियों कर्मचारियों तथा सैनिकों को जागीर देने की प्रथा, एक परम्परा सी हो गई थी। शेरशाह जागीर प्रथा के दोषों से भली-भाँति परिचित था। इसलिए उसने इस प्रथा को समाप्त करने का काफी प्रयत्न किया। कई पुरानी जागीरों को जब्त कर लिया गया। राजकीय अधिकारियों और कर्मचारियों को राजकोष से नकद वेतन दिया जाने लगा। फिर भी जागीरों के प्रति अफगान लोगों के प्रबल आकर्षण के कारण शेरशाह इस प्रथा को पूर्ण समाप्त नहीं कर पाया।

न्याय व्यवस्था—यद्यपि शेरशाह की मान्यता थी कि निष्पक्ष न्याय के बिना साम्राज्य स्थायी नहीं रह सकता और दण्ड के बिना न्याय व्यवस्था को ठीक से सचालित नही किया जा सकता, फिर भी वह पहला मुसलमान शासक था जिसने दण्ड व्यवस्था को उदार बनाने का प्रयत्न किया था। निष्पक्ष तो वह इतना था कि न्याय करते समय उसने अत्याचारियों का कभी पक्ष नहीं लिया, चाहे वे उनके रिश्तेदार हों, प्रिय पुत्र हों या उसके सरदार हों या उसकी जाति के लोग हों। अत्याचारियों को दण्ड देने में वह न देर करता था और न दया। उसने राज्य के विविध स्थानों पर न्यायालय स्थापित करा दिये थे। सबसे बड़ा न्यायाधीश वह स्वयं था। उसकी अदालतों में नीचे की अदालतों की अपीलें सुनी जाती थीं और नये मुकदमे भी आरम्भ किये जाते थे। यदि न्यायाधिकारी विलम्ब अथवा गबन के लिए दोषी पाये जाते तो शेरशाह उन्हें भी सजा देने से नहीं चूकता था।

सैन्य प्रशासन— शेरशाह इस सत्य से अच्छी तरह परिचित था कि किसी भी साम्राज्य की सुरक्षा और स्थिरता का मुख्य आधार उस साम्राज्य की सैनिक शक्ति

की श्रेष्ठता होती है। अतः उसने अलाउद्दीन खिलजी का अनुकरण करते हुए एक शक्तिशाली नियमित केन्द्रीय सेना का निर्माण किया जिसमें 1,50,000 घुड़सवार, 25,000 पैदल और 5,000 हाथी थे। अपने सैनिकों की भर्ती, वस्त्र, घोड़े, हथियार, वेतन, पदोन्नति आदि सभी की शेरशाह स्वयं देखभाल करता था। सैनिकों को नकद वेतन दिया जाता था। बेईमानी को रोकने के लिए 'घोड़ों को दागने' तथा 'सैनिकों की हुलिया रखने' की प्रथाएँ आरम्भ की गईं। केन्द्र की विशाल सेना के अलावा अधीनस्थ राजाओं तथा सूबेदारों की पृथक सेनाएँ भी थीं जिन्हें आवश्यकता पड़ने पर बुलाया जाता था। उपर्युक्त सुधारों का परिणाम यह निकला कि शेरशाह का अपनी सेना के साथ प्रत्यक्ष सम्पर्क बना रहा, सेना की दक्षता बढ़ गई और सुल्तान के प्रति सेना की स्वामिभक्ति बनी रही।

पुलिस और गुप्तचर—शेरशाह के समय में पुलिस विभाग की कोई पृथक व्यवस्था नहीं थी। पुलिस विभाग का काम सेना को ही करना पड़ता था। इस सम्बन्ध में शेरशाह ने स्थानीय उत्तरदायित्व के सिद्धान्त को अपनाया। अर्थात् विभिन्न क्षेत्रों में नियुक्त सैनिक अधिकारियों को अपने-अपने क्षेत्रों में शान्ति और व्यवस्था कायम रखनी पड़ती थी। गाँव के चौधरियों अथवा मुखियाओं को अपने अपने गाँवों में शान्ति और व्यवस्था रखनी पड़ती थी। जिस गाँव में चोरी या हत्या होती थी, उस गांव के मुखिया को अपराधी का पता लगाना पड़ता था। यदि नहीं लगा पाता तो चोरी गये माल की क्षतिपूर्ति करनी पड़ती थी और हत्या वाले मामले में उसे मृत्यु-दण्ड तक की सजा मिल सकती थी। शेरशाह ने गुप्तचर व्यवस्था में सुधार कर उसे एक उन्नत संस्था बना दिया। साम्राज्य के अधिकारियों तथा कर्मचारियों के पीछे भी गुप्तचर नियुक्त रहते थे और वे साम्राज्य में घटने वाली समस्त घटनाओं की जानकारी सुल्तान तक पहुँचाते रहते थे।

भूमिकर व्यवस्था—दिल्ली सल्तनत के सुल्तान सार्वजनिक हित की दृष्टि से भूमिकर की संतोषजनक व्यवस्था करने में असफल रहे थे। बाबर और हुमायूँ को इस तरफ ध्यान देने का समय या अवसर नहीं मिल पाया। शेरशाह ने पूरी निष्ठा के साथ इस पर ध्यान दिया और उसका यह कार्य उसकी ख्याति का एक प्रमुख आधार बन गया। राज्य और प्रजा—दोनों के हितों का समन्वय शेरशाह की लगान व्यवस्था की मुख्य विशेषता थी। लगान तय करते समय उदारता बरती जाती थी, परन्तु वसूली के समय कठोरता के साथ काम लिया जाता था। उसने किसानों को भूमि का स्थायी अधिकार प्रदान किया ताकि वे मन लगाकर अधिक परिश्रम कर सकें और अधिक उत्पादन कर सकें।

सर्वप्रथम सम्पूर्ण कृषि योग्य भूमि की नाप करवाई गई। जमीन नपवाने के लिए सम्पूर्ण राज्य में एक ही गज सिकन्दरी (32 कड़ी) का उपयोग किया गया। एक बीघा (जरीब) 3600 वर्ग गज का होता था। फिर, भूमि को पैदावार के आधार पर तीन श्रेणियों में बाँटा गया—अच्छी, साधारण और खराब। तीनों प्रकार की भूमि की उपज को जोड़कर प्रति बीघा औसत पैदावार निकाली जाती

थी। और औसत पैदावार का एक तिहाई हिस्सा लगान के रूप में वसूल किया जाता था। किसानों को नकद अथवा उपज के रूप में लगान चुकाने की सुविधा दी गई थी। यद्यपि शेरशाह नकद भूमिकर अधिक पसन्द करता था। नकदी के लिए अनाज का भाव स्थानीय बाजार भाव से लगाया जाता था क्योंकि सभी क्षेत्रों में एक समान भाव नहीं थे। भूमिकर के अलावा किसानों को कुछ अन्य कर भी चुकाने पड़ते थे। लगान वसूली का काम करने वाले मुकद्दमों और भूमि नापने वाले कर्मचारियों का मेहनताना किसानों से वसूल किया जाता था जो लगान का ढाई से 5 प्रतिशत होता था। अकाल इत्यादि प्राकृतिक प्रकोपों के समय राहत के नाम पर किसानों को लगान का 2½ प्रशतनि कर भी चुकाना पड़ता था।

किसानों को राज्य की ओर से भूमि का पट्टा दिया जाता था जिसमें उसके खेत (कृषि भूमि) का ब्यौरा और लगान का हिसाब लिखा रहता था। उसे 'कबूलियत' नामक एक अन्य पत्र पर दस्तखत करने पड़ते थे। जिनके अनुसार वह लगान अदा करने का वचन देता था। इस प्रकार शेरशाह ने किसानों के हितों तथा उनकी भलाई का पूरा-पूरा ध्यान रखा। उसका विश्वास था कि किसानों की समृद्धि और भलाई में ही राज्य की समृद्धि और कल्याण है। इसीलिए जो लोग किसानों को सताते थे उन्हें सजा देने में कभी नहीं चूका। सेनाओं के प्रयाण के समय यदि फसलों को किसी प्रकार की हानि पहुंचती तो उनके मालिकों को सरकार की तरफ से उचित मुआवजा दिया जाता था। शेरशाह ने अपनी लगान व्यवस्था के द्वारा किसान और सरकार के मध्य सम्पर्क जोड़ने वाले मुखियाओं के अधिकारों को काफी कम करके किसान और सरकार के मध्य सीधा सम्पर्क स्थापित रखने का प्रयत्न किया। इससे भ्रष्टाचार कम हो गया और किसानों को काफी सुविधा और राहत मिल गई।

आय के अन्य साधन—भूमिकर के अलावा राज्य की आमदनी के मुख्य साधन थे—जजिया, खम्स और चुंगी। जजिया हिन्दुओं से वसूल किया जाता था। हिन्दू जनता से तीर्थ यात्रा कर भी वसूल किया जाता था। इन करों से राज्य को काफी आमदनी हो जाती थी। लड़ाई में लूट का पांचवां भाग सरकारी कोष में जमा कराया जाता था। इसे 'खम्स' कहते थे। बहुत-सी वस्तुओं के उत्पादन तथा उनके उपभोग पर भी कर वसूल किया जाता था। कई प्रकार के पेशों पर भी कर लिया जाता था। जुआ आदि पर मनोरंजन कर लिया जाता था। शाही टकसाल भी आय का एक अच्छा स्रोत थी।

मुद्रा और व्यापार—शेरशाह ने प्रचलित मुद्रा-प्रणालियों में सुधार किया। मिश्रित धातु से बने सिक्कों का उत्पादन बन्द कर दिया गया और उनके स्थान पर शुद्ध सोने-चांदी और तांबे के अलग-अलग मूल्य के सुन्दर कलात्मक सिक्के जारी किये गये। चांदी का रुपया 180 ग्रेन का था जिसमें 175 ग्रेन विशुद्ध चांदी होती थी। व्यापार को प्रोत्साहन देने के लिए उसने बहुत से करों को हटा दिया। अब केवल दो कर रखे गये—एक उस समय लिया जाता था जबकि कोई वस्तु साम्राज्य की

सीमा के अन्दर लाई जाती थी और दूसरा उस वस्तु की बिक्री के समय वसूल किया जाता था।

सार्वजनिक कार्य—शेरशाह देश की आर्थिक उन्नति में विशेष रुचि रखता था। इसीलिए उसने व्यापार-वाणिज्य को प्रोत्साहन दिया। यातायात के साधनों को उन्नत बनाने का प्रयत्न किया। उसने कई सड़कों का निर्माण कराया और पुरानी सड़कों की मरम्मत कराई। सड़कों के दोनों तरफ छायादार पेड़ लगाये गये। उसकी सबसे प्रसिद्ध सड़क पूर्वी बंगाल में सोनारगाँव से आरम्भ होकर आगरा, दिल्ली और लाहौर होती हुई पंजाब में अटक तक आती थी। इस सड़क की लम्बाई लगभग 3000 मील थी। आजकल इसी का नाम ग्राण्ड ट्रन्क रोड है। सभी सड़कों पर चार-पांच मील के फासले पर सरायों का निर्माण करवाया गया। ये सराएँ मुसाफिरों, व्यापारियों तथा राजकीय कर्मचारियों के लिए तो विश्राम-गृहों का काम करती ही थीं, परन्तु सरकारी डाक चौकी का काम भी करती थीं। प्रत्येक सराय में डाक लाने-ले जाने के लिए दो घोड़े हमेशा तैयार रहते थे। इसलिए डॉ. कानूनगो का कहना है कि ये सराएँ उसके साम्राज्य रूपी शरीर की धमनियाँ थीं।

इमारतें—शेरशाह ने अपने अल्प शासनकाल में कुछ इमारतों का निर्माण कराया था। उत्तर-पश्चिम की सीमा की सुरक्षा के लिए "रोहतासगढ़" का दुर्ग बनवाया। दिल्ली का पुराना किला बनवाया। इस किले में उसके द्वारा बनवाई गई मस्जिद भारतीय और इस्लामी कला के समन्वय का एक अच्छा उदाहरण है। परन्तु उसकी सर्वश्रेष्ठ कृति सहसराम (बिहार) में स्थित उसका स्वयं का मकबरा है। झील के बीच में एक चबूतरे पर बना यह मकबरा भारत की श्रेष्ठतम इमारतों में से एक है। कनिंघम ने तो इस मकबरे को ताजमहल से भी सुन्दर कहा है।

हिन्दुओं के प्रति नीति—हिन्दुओं के प्रति शेरशाह की नीति के सम्बन्ध में भी विद्वानों में गहरा मतभेद बना हुआ है। डॉ० कानूनगो ने लिखा है कि "हिन्दुओं के प्रति उसका व्यवहार सहिष्णुतापूर्ण और आदर्शपूर्ण था।" इसके विपरीत श्रीराम शर्मा का कहना है कि "शेरशाह के विचार दिल्ली-सल्तनत के अन्य तुर्क या अफगान शासकों से भिन्न नहीं थे।" ऐसा प्रतीत होता है कि शेरशाह अपने युग की धार्मिक भावनाओं से अधिक ऊपर नहीं उठ पाया और राजनीतिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए धर्म का सहारा लेने में पीछे नहीं रहा। रायसीन और जोधपुर अभियान इस कथन की पुष्टि करते हैं। परन्तु एक शासक के रूप में वह धार्मिक कट्टरता की नीति में विश्वास नहीं करता था। उसने हिन्दुओं की उपासना की स्वतन्त्रता प्रदान की और कुछ हिन्दुओं को उच्च पदों पर भी नियुक्त किया था।

मूल्यांकन—शेरशाह एक योग्य शासक, सैनिक और सेनापति था। वह एक सफल व्यावहारिक राजनीतिज्ञ और कूटनीतिज्ञ था। उसमें संगठत की अद्भत क्षमता थी। एक सामान्य स्थिति से सुल्तान पद तक पहुँचना और जन-कल्याण की भावना से एक श्रेष्ठ शासन-व्यवस्था लागू करना, उसके महत्त्व को अपने आप स्पस्ट कर देते हैं। 'कीन' ने लिखा है—"किसी भी सरकार ने यहाँ तक कि अंग्रेजों तक ने

इतनी बुद्धिमत्ता का परिचय नहीं दिया जितना कि इस पठान ने।" उसने एक अच्छा शासन-प्रबन्ध स्थापित करके न केवल अकबर के शासन की आधारशिला ही रखी परन्तु शासन में कई ऐसे कार्य आरम्भ किये जिनसे अकबर को सहायता मिली। उदाहरणार्थ, शेरशाह की सैन्य व्यवस्था, अमीरों पर नियन्त्रण, न्याय व्यवस्था, जनकल्याण की भावना, राजपूत नीति, धार्मिक सहिष्णुता और भूमिकर व्यवस्था। इन सभी से अकबर को सहायता मिली और जिन्हें अपनाकर अकबर एक भव्य राष्ट्रीय राज्य स्थापित कर सका। इसलिए उसे प्रायः अकबर का अग्रसर अथवा पथ-प्रदर्शक कहा जाता है। जैसा कि डॉ. त्रिपाठी ने लिखा है, "निश्चय ही उसने अकबर की महान उदार नीति के मार्ग का निर्माण किया और वह उसका सही अर्थ में अग्रसर था।"

शेरशाह के उत्तराधिकारी—शेरशाह की मृत्यु के बाद उसका दूसरा पुत्र जलालखाँ 'इस्लामशाह' की उपाधि के साथ सिंहासन पर बैठा। वैसे वह एक योग्य शासक था और उसने अपने पिता की नीतियों को जारी रखा, परन्तु बार-बार घटित होने वाले विद्रोहों के कारण वह अपने पिता की भाँति शासन-व्यवस्था पर सख्त नियन्त्रण नहीं रख पाया। 30 अक्टूबर, 1553 (कुछ के अनुसार नवम्बर, 1554 ई.) के दिन इस्लामशाह की मृत्यु हो गई। उसके बाद उसका बारह-वर्षीय पुत्र फिरोज सिंहासन पर बैठा, जिसे उसके मामा मुबारिज खाँ ने कत्ल करवा दिया। मुबारिज खाँ 'मुहम्मद आदिलशाह' की उपाधि के साथ सिंहासन पर बैठा। सुप्रसिद्ध हेमू इसी का सेनानायक था। आदिलशाह के समय सूर साम्राज्य का विघटन हो गया। बंगाल और मालवा स्वतन्त्र हो गये। दिल्ली और आगरा पर इब्राहीम ने अधिकार जमा लिया। पंजाब में सिकन्दर सूर स्वतन्त्र शासक बन बैठा। उसने इब्राहीम को हराकर दिल्ली छीन ली। उधर हुमायूँ वापस लौट आया था। उसने लाहौर पर अधिकार जमा लिया और सरहिन्द के युद्ध में सिकन्दर सूर को पराजित करने के बाद दिल्ली-आगरा पर भी अधिकार कर लिया। इस प्रकार शेरशाह के वंशजों के हाथ से दिल्ली का साम्राज्य जाता रहा।

अभ्यास के लिए प्रश्न

1. सामान्य स्थिति से सिंहासन तक पहुँचने के लिए शेरशाह को जिन परिस्थितियों से गुजरना पड़ा, उनका उल्लेख कीजिए।
2. शेरशाह की शासन-व्यवस्था की मुख्य विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
3. यह कहना कहाँ तक सही है कि शेरशाह अकबर का पथ-प्रदर्शक था?

अपने अध्ययन की जाँच कीजिए

1. सही उत्तर क्रमांक कोष्ठक में लिखिए—

   1. दूसरी बार पिता का घर छोड़ने पर फरीद कहाँ गया था?
      (क) जौनपुर, (ख) पटना, (ग) आगरा, (घ) लाहौर। ( )

2. फरीद को शेरखाँ की उपाधि किसने प्रदान की थी ?
   (क) इब्राहीम लोदी, (ख) बाबर, (ग) हुमायूँ, (घ) बहार खाँ ।( )
3. सूरजगढ़ के युद्ध में शेरखाँ ने किसको पराजित किया था ?
   (क) महमूदशाह, (ख) हुमायूँ, (ग) मालदेव, (घ) पूरनमल । ( )
4. शेरखाँ ने 'शेरशाह' की उपाधि किस युद्ध के बाद धारण की ?
   (क) चौसा, (ख) कन्नौज, (ग) सूरजगढ़, (घ) दोहरिया । ( )

2. केवल एक-एक पंक्ति में प्रश्नों के उत्तर दीजिए—
   1. शेरशाह को अपने पिता का घर क्यों त्यागना पड़ा ?
   2. शेरशाह ने किसकी सहायता से मुगलों की नौकरी प्राप्त की थी ?
   3. शेरशाह ने चुनार का दुर्ग किस प्रकार से प्राप्त किया था ?
   4. शेरशाह ने पंजाब में कौन सा नया दुर्ग बनवाया था ?
   5. मालदेव बिना लड़े ही वापस क्यों लौट गया ?

3. पाँच-सात पंक्तियों में उत्तर दीजिए -
   1. शेरशाह के बारे में बाबर के विचारों का उल्लेख कीजिए ।
   2. गक्खर जाति पर शेरशाह के अभियान के कारण लिखिए ।
   3. शिकदारे-शिकदारां के मुख्य कर्त्तव्य समझाइये ।
   4. शेरशाह के समय में राज्य की आय के मुख्य साधनों का नाम लिखिये ।
   5. शेरशाह की मृत्यु कब और कैसे हुई ?

4. भारत के मानचित्र में शेरशाह द्वारा निर्मित सड़कों की जानकारी दीजिए ।

पूरक अध्ययन के लिए ग्रन्थ

1. डॉ. कालिका रंजन कानूनगो : शेरशाह और उसका समय ।
2. डॉ. रामप्रसाद त्रिपाठी : मुगल साम्राज्य का उत्थान और पतन ।
3. एस. आर शर्मा : भारत में मुगल साम्राज्य ।

3. अकबर महान् : राष्ट्रीय राज्य की स्थापना

जन्म और राज्याभिषेक—"अपने पुत्र-जन्म के अवसर पर मैं आप लोगों को यही भेंट दे सकता हूँ। मेरी कामना है कि एक दिन इस कस्तूरी की सुगन्धी की भाँति मेरे लड़के की कीर्ति की सुगन्धी भी सारे संसार में फैल जायेगी।" यह कामना थी हुमायूँ की। अपना साम्राज्य खोकर इधर-उधर भटकते हुए जब हुमायूँ सिन्ध में अमरकोट के हिन्दू राजा वीरसाल के आश्रय में पहुँचा तब उसकी नव-विवाहिता पत्नी हमीदाबानू ने अकबर को जन्म दिया। उस खस्ता हालत में हुमायूँ अपने साथियों को यथोचित पुरस्कार देना तो दूर रहा, प्रीतिभोज देने में भी समर्थ न था। अतः उसने इस शुभअवसर पर कस्तूरी के टुकड़े बाँटे और उपरोक्त कामना व्यक्त की थी। अकबर का जन्म 15 अक्तूबर 1542 ई के दिन अमरकोट में हुआ। (नोट : जौहर की रचना के आधार पर स्मिथ ने अकबर का जन्म 23 नवम्बर 1542 माना है जो अब स्वीकार्य नहीं है।) उसका पूरा नाम जलालुद्दीन मुहम्मद अकबर था।

अकबर का जन्म बड़ी कठिनाइयों में बीता। जब हुमायूँ ईरान के शाह की शरण में जा रहा था तो अस्करी ने उसे पकड़ने का प्रयत्न किया और हुमायूँ को प्राण बचाने के लिए भागना पड़ा। इस भगदड़ में एक वर्ष का शिशु अकबर पीछे छूट गया। चाचा अस्करी ने उसकी देखभाल की। तीन वर्ष की आयु में अकबर की अपने पिता से मुलाकात हुई। एक बार फिर उसे अपने पिता से बिछुड़ना पड़ा। इस बार जब हुमायूँ ने काबुल पर पुनः आक्रमण किया तो कामरान ने बच्चे अकबर को दुर्ग की दीवार पर लटका दिया। हुमायूँ की तोपें किले पर आग बरसा रही थीं। परन्तु होनहार अकबर बच गया। पाँच वर्ष की आयु से अकबर अपने पिता के साथ ही रहा। हुमायूँ ने उसकी शिक्षा का उत्तम प्रबन्ध किया, परन्तु अकबर ने लिखने-पढने में कोई रुचि नहीं दिखाई। उसे घुड़सवारी और अस्त्र शस्त्र चलाने में विशेष रुचि थी।

सरहिन्द की विजय के बाद अकबर को हुमायूँ का युवराज घोषित कर दिया गया और सुप्रसिद्ध सेनानायक बैराम खाँ को उसका संरक्षक नियुक्त किया गया। उन्हें पंजाब में सिकन्दर सूर की शेष शक्ति और सत्ता को समाप्त करने का काम सौंपा गया। 27 जनवरी, 1556 ई. के दिन हुमायूँ की मृत्यु हो गई, परन्तु अकबर को यह दुखद संवाद कुछ दिनों बाद मिला। समाचार मिलते ही बैराम खाँ ने कलानोर (पंजाब के गुरदासपुर जिले में) नामक स्थान पर बड़ी जल्दी से ईंटों का सिंहासन बनवाकर 14 फरवरी, 1556 ई. के दिन अकबर को बादशाह घोषित कर दिया। उस समय उसकी आयु 13 वर्ष 4 माह थी।

प्रारम्भिक कठिनाइयाँ—अकबर बादशाह तो बन गया परन्तु क्या था उसके पास ? पंजाब का अधिकांश क्षेत्र जो सिकन्दर सूर की उपस्थिति के कारण असुरक्षित था। दिल्ली आगरा का क्षेत्र जिसको पूर्णतः अधीनता में लाने के लिए मुगल सेना इधर-उधर बिखरी पड़ी थी। सूर वंश के तीन उत्तराधिकारी सिकन्दर सूर, इब्राहीम सूर और मुहम्मद आदिलशाह अभी जीवित थे और दिल्ली सिंहासन को हस्तगत करने की लालसा रखते थे। पूर्वी भारत में विद्रोही अफगानों का आधिपत्य था। राजस्थान में कई स्वतन्त्र राजपूत शासकों की सत्ता स्थापित हो चुकी थी। मालवा, मध्य भारत और गुजरात अस्त-व्यस्त स्वतन्त्रता की अवस्था में थे। बैराम खाँ के नेतृत्व में जो सेना थी वह भी ऐसी नहीं थी जिस पर पूरा विश्वास किया जा सके। बड़े-बड़े मुगल सरदारों की स्वामिभक्ति भी अधर में झूल रही थी। इस प्रकार बादशाह अकबर चारों तरफ से कठिनाइयों से घिरा हुआ था और उसके साम्राज्य की सुरक्षा भी अनिश्चित थी।

बादशाह बनते ही अकबर ने संरक्षक बैराम खाँ को अपना 'वकील' (वजीर) नियुक्त किया और उसे 'खानेखाना' की उपाधि से सम्मानित किया। बैराम खाँ इस पद के लिए सर्वथा योग्य भी था वह स्वामिभक्त, साहित्यिक प्रतिभा सम्पन्न, चतुर कूटनीतिज्ञ और पराक्रमी सेनानायक था परन्तु वह शिया था। इस कारण कई पुराने मुगल अमीर उसकी उन्नति से सन्तुष्ट नहीं थे। फिर भी, अगले चार वर्ष तक बैराम खाँ का महत्त्व बना रहा और उसने न केवल मुगल साम्राज्य को ही कायम रखा अपितु उसका विस्तार भी किया।

पानीपत का दूसरा युद्ध—जब अकबर पंजाब में ही था, उसको हेमू की सफलताओं की सूचना मिली। हेमू जाति का बनिया था। परन्तु वह एक साहसी, योग्य और रणकुशल सेनानायक था। इस समय वह मुहम्मद आदिलशाह का वजीर और सेनापति था। उसने ग्वालियर को जीतकर आगरा पर आक्रमण किया। वहाँ का मुगल अधिकारी भागकर दिल्ली चला गया। इसके बाद हेमू दिल्ली की तरफ बढ़ा। दिल्ली का सूबेदार तार्दीबेग भी उससे परास्त होकर पंजाब की तरफ भाग गया। इसके बाद हेमू ने मुगलों से सम्भल का इलाका भी छीन लिया। हेमू ने 'विक्रमादित्य' की उपाधि धारण की और अपने को दिल्ली का स्वतन्त्र शासक घोषित कर दिया।

ऐसी स्थिति में कई मुगल सरदारों ने यह प्रस्ताव रखा कि काबुल की ओर कूच कर देना चाहिए। परन्तु बैराम खाँ ने आगे बढ़ कर हेमू से लड़ने का निश्चय किया। अकबर ने उसका समर्थन किया। मुगल सेना दिल्ली की ओर बढ़ने लगी। 5 नवम्बर, 1556 ई. के दिन पानीपत के मैदान पर हेमू का मुगलों से घमासान युद्ध हुआ। हेमू का पलड़ा भारी था, परन्तु अचानक हेमू की आँख में एक तीर लगा और वह मूर्छित हो गया। उसकी सेना भाग गई। वह स्वयं भी पकड़ा गया और अकबर के सामने ले जाया गया। उसका सिर काट दिया गया। अकबर ने काटा या बैराम खाँ ने ? यह विवाद का विषय है। इतना सत्य है कि अकबर को इस अवसर

पर 'गाजी' की उपाधि अवश्य प्राप्त हो गई। इसके बाद दिल्ली और आगरा पर मुगलों का पुनः अधिकार हो गया। कुछ दिन बाद ही सिकन्दर सूर ने आत्मसमर्पण कर दिया। मुहम्मद आदिलशाह भी मर गया। बैराम खाँ के प्रयत्नों से ग्वालियर, अजमेर, मेवाड़ आदि क्षेत्रों पर भी अकबर का शासन कायम हो गया। 1560 ई० में अकबर ने अचानक अपने सरक्षक बैराम खाँ को त्याग दिया। बैराम खाँ के पतन के लिए कई कारण जिम्मेदार थे जिनमें उसका अहंकारपूर्ण व्यवहार, शाही हरम और राजदरबार के षड्यन्त्र तथा अकबर द्वारा शासन-सूत्र संभालने की अभिलाषा मुख्य थे। बैराम खाँ के पतन के बाद लगभग दो वर्ष तक अकबर पर शाही हरम का प्रभाव बना रहा जिसमें अकबर की धाय माँ माहम अनगा की भूमिका सर्वोपरि रही थी।

राजपूत नीति और साम्राज्य-विस्तार

दिल्ली के मुस्लिम सुल्तान अपनी सैनिक सफलताओं के बाद भी स्थायी राज्य कायम करने में असफल क्यों रहे ? वे जनता का विश्वास प्राप्त करने में असफल क्यों रहे ? उनके शासन काल में देश की उन्नति को लकवा क्यों मार गया ? कुछ इसी प्रकार के प्रश्न अकबर के मन में बार-बार उठते थे और वह उन पर विचार करता था। इन प्रश्नों का उत्तर ढूँढने का प्रयत्न करता क्योंकि इन उत्तरों के आधार पर ही उसे आगे बढ़ना था, एक राष्ट्रीय राजतन्त्र की स्थापना का मार्ग प्रशस्त करना था।

प्रश्नों के उत्तर भी मिल गये। पहला उत्तर था—अब तक के मुस्लिम शासकों ने इस देश को अपना देश नहीं समझा था। समझा था, विजय में प्राप्त लूट का माल। उन्होंने इस देश को लूटा। भोग-विलास में धन तथा शक्ति को नष्ट किया। इस देश के धन का देश की उन्नति के लिए अथवा जनता के कल्याण के लिए सदुपयोग नहीं किया। इस्लाम के प्रचार के निमित्त उन्होंने देश की बहुसंख्यक हिन्दू जनता को शक्ति के माध्यम से मुसलमान बनाने का तो प्रयत्न किया, परन्तु उनका विश्वास, सहयोग अथवा मैत्री प्राप्त करने की चेष्टा नहीं की। उल्टे उनकी भावना और विश्वासों पर प्रहार किया, जजिया और तीर्थ यात्रा कर लागू किए, मन्दिरों और मूर्तियों का ध्वंस किया और उन्हें सरकारी उच्च पदों से वंचित रखा। तब भला देश की बहुसंख्यक जनता उनके शासन को क्यों पसन्द करती ?

दूसरा उत्तर था मुसलमान सरदारों की अमर्यादित महत्त्वाकाँक्षाएँ। मुसलमानों में उत्तराधिकार का कोई नियम तो था नहीं। सैनिक सफलता ही भाग्य का निर्णायक नियम था। सरदारों को नियन्त्रण में रखने तथा उनकी शक्ति को सन्तुलित बनाये रखने के लिए शासकों के पास कोई दूसरी प्रतिस्पर्धा शक्ति भी नहीं थी। अतः अनेक विद्रोह उठते ही रहते और विद्रोहों को कुचलने में शासक की शक्ति भी कमजोर होती जाती थी और ऐसी स्थिति में किसी दूसरे शक्तिशाली व्यक्ति को सिंहासन हस्तगत करने का सुअवसर हाथ लग जाता था।

अकबर महत्त्वाकाँक्षी व्यक्ति था। वह चक्रवर्ती सम्राट बनना चाहता था।

इसके लिए देश के अनेक राज्यों को एक केन्द्रीय सत्ता के अन्तर्गत लाना जरूरी था परन्तु वे राज्य संघर्ष के बिना अपनी स्वतन्त्रता त्यागने को तत्पर नहीं थे। संघर्ष में सफलता प्राप्ति के लिए शक्तिशाली सेना की आवश्यकता थी। राजपूत इस कमी को पूरा कर सकते थे। अतः उनकी मैत्री और सहयोग आवश्यक था। उनको शत्रु बनाये रखने से तो दिल्ली साम्राज्य का अस्तित्व भी खतरे में पड़ सकता था। दूसरों के राज्यों को जीतना तो और भी कठिन था।

महत्त्वाकाँक्षी होने के साथ ही अकबर एक आदर्शवादी शासक भी था। उसमें राष्ट्रीयता की भावना कूट-कूट करके भरी थी। वह हिन्दू-मुस्लिम समानता और लोक-कल्याण की भावना पर राष्ट्रीय राज्य की स्थापना करना चाहता था। ताकि प्रत्येक व्यक्ति बिना किसी भेदभाव के अपनी योग्यतानुसार सरकारी पद प्राप्त कर सके, अपने विश्वास के अनुसार उपासना कर सके; न्याय के सम्मुख समानता का अनुभव कर सके और हिन्दू-मुस्लिम अलगाव समाप्त होकर एक राष्ट्रीय संस्कृति का अभ्युदय हो सके। इसके लिए हिन्दू धर्म, समाज और संस्कृति के कर्णधारों-राजपूतों—को मित्र बनाना जरूरी था।

अवसरवादी मुसलमान सरदारों को अनुशासन में रखने के लिए भी राजपूतों का सहयोग जरूरी था। क्योंकि राजपूत वचन के पक्के और सिंहासन पर वंशानुगत परम्परा में विश्वास रखते थे। इस प्रकार, अकबर इस निर्णय पर पहुँचा कि राजपूतों के सहयोग के बिना किसी प्रकार का कोई संगठन अथवा स्वप्न साकार नहीं हो सकता। इसी में उसकी महानता निहित थी क्योंकि उसकी नीति अन्य मुस्लिम शासकों से सर्वथा भिन्न रही।

सहयोग कैसे प्राप्त हुआ ?—अकबर को जिन राजपूत शासकों से निपटना पड़ा उनको तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। पहली, ऐसे शासक जिन्होंने स्वेच्छा से उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। दूसरी, वे शासक जिन्होंने उससे संघर्ष किया और बाद में उसके साथ सम्मानजनक शर्तों पर सन्धि कर ली। तीसरी श्रेणी उन शासकों की थी जिन्होंने किसी भी परिस्थिति में उसकी अधीनता स्वीकार करना पसन्द नहीं किया।

प्रथम और द्वितीय श्रेणी के राजपूत शासकों का सहयोग एवं मैत्री प्राप्त करने के लिए अकबर ने कई कदम उठाये जिनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कदम था—उसके साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करना। यह एक ऐसा कदम था जिससे एक तरफ तो राजपूत मुगलों के निकट सम्पर्क में आ गये और दूसरी तरफ मुगल सम्राट पूर्ण रूप से हिन्दुस्तानी बन गये। सर्वप्रथम, 1562 ई. में उसने आमेर के राजपूत राजा भारमल की पुत्री से विवाह किया। फिर बीकानेर और जोधपुर के शासकों की पुत्रियों के साथ विवाह किये। इसके बाद तो राजपूत शासकों में मुगलों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने की होड़-सी लग गई। अकबर का यह कदम सफल रहा।

दूसरा कदम था, राजपूतों को मुगल राज्य में उच्च पदों पर नियुक्त करना। यह एक महान् कूटनीतिक कदम था। इससे एक तरफ तो राजपूत शासकों का

अपने राज्यों की जनता से सम्पर्क टूट-सा गया क्योंकि सरकारी सेवा के लिए उन्हें मुगल दरबार में उपस्थित रहना पड़ा, दूसरी तरफ, राजपूतों में उच्च पद प्राप्त करने की प्रतिस्पर्द्धा शुरू हो गई। उच्च पद प्राप्त करने का एक ही रास्ता था—'स्वामिभक्ति तथा वीरता के प्रदर्शन द्वारा शाही कृपा प्राप्त करना।' अकबर यही तो चाहता था।

तीसरा कदम था, राजपूत शासकों को अपने-अपने पैतृक राज्यों में आंतरिक शासन की पूरी स्वतन्त्रता देना। उनके धर्म, समाज और संस्कृति में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करना। इन उपायों से अकबर ने राजपूतों की मैत्री प्राप्त करने में सफलता प्राप्त की। केवल मेवाड़ के मामले में वह सफल नहीं हो पाया।

परिणाम—अकबर की राजपूत नीति से मुगल साम्राज्य को उन राजपूतों की स्थायी मैत्री प्राप्त हो गई जिनका उत्तरी भारत में सबसे अधिक शक्तिशाली सैनिक और राजनीतिक संगठन था और जो अब तक मुसलमान शासकों के प्रबल विरोधी रहे थे। इससे हिन्दुओं का एक शक्तिशाली भाग मुगल साम्राज्य का समर्थक बन गया जिससे मुगल शासन के विदेशी रूप में कमी आ गई। इससे राष्ट्रीय राज्य की स्थापना सम्भव हो सकी। हिन्दु-मुस्लिम संस्कृतियों का समन्वय हो पाया और एक विशुद्ध भारतीय संस्कृति का विकास हुआ जो न हिन्दू थी और न मुस्लिम, सिर्फ भारतीय थी। इसके अलावा, मुगल साम्राज्य को राजपूतों की सैनिक एवं प्रशासनिक सेवाएँ प्राप्त हो गई। इन सेवाओं का उपयोग मुगल साम्राज्य का विस्तार करने में लाभदायक सिद्ध हुआ। राजपूतों के सहयोग से मुगल वंश स्थायी हो गया और मुसलमान सरदारों ने विद्रोह के माध्यम से राजवंश को हटाने का स्वप्न देखना बन्द कर दिया। इस दृष्टि से मुगल साम्राज्य के हित में अकबर की राजपूत नीति काफी महत्त्वपूर्ण रही। परन्तु राजपूतों के लिए इस नीति के कुछ दुष्परिणाम भी निकले। इससे राजपूतों की एकता खण्डित हो गई और उनकी स्वतंत्र राजसत्ता पर कुठाराघात हुआ। राजपूत शासकों को स्वार्थ-सिद्धि की नीति ने उन्हें और भी कमजोर तथा मुगल सत्ता पर अधिक आश्रित बना दिया।

हिन्दुओं के प्रति नीति—अकबर की राजपूत नीति ने हिन्दुओं के प्रति नीति को भी परिवर्तित किया। उस समय में भी मथुरा, वाराणसी, हरिद्वार, गया, पुष्कर आदि अनेक तीर्थ स्थानों पर यात्रियों से तीर्थ यात्रा कर वसूल किया जाता था जिसे हिन्दू लोग अपने धर्म पर एक निष्ठुर प्रहार मानते थे। अकबर ने हिन्दूओं की भावना को समझते हुए अपने साम्राज्य में स्थित सभी तीर्थ स्थानों पर 'तीर्थयात्रा' कर को समाप्त कर दिया। इसके बाद उसने हिन्दुओं पर से 'जजिया' कर भी हटा दिया। इन दो करों को हटाने से मुगल सरकार को राजस्व के एक अच्छे स्रोत से वंचित हो जाना पड़ा और कई कट्टर मुसलमानों को यह पसन्द भी न आया परन्तु राष्ट्रीय राज्य की स्थापना के लिए अनुकूल वातावरण बनाने की आवश्यकता थी। यह तभी सम्भव था जबकि देश की बहुसंख्यक हिन्दू जनता यह अनुभव करना छोड़ दे कि वे तो करदाता मात्र हैं। अपने ही देश में विदेशी हैं।

राजपूतों को साम्राज्य में उच्च पद प्रदान करने की नीति के साथ ही हिन्दुओं को साम्राज्य की सेवा में महत्त्वपूर्ण पदों पर नियुक्त करने की परम्परा भी अकबर ने शुरू की। इससे कुलीन एवं मध्यवर्गीय हिन्दुओं के लिए उन्नति का मार्ग प्रशस्त हो गया और वे मुगल साम्राज्य को अपना शत्रु न मानकर अपनी उन्नति का साधन मानने लगे। टोडरमल और बीरबल जैसे उच्च पदाधिकारी मध्यवर्गीय परिवार के ही थे। योग्य व्यक्ति को योग्य पद देने की नीति से मुगल साम्राज्य का साम्प्रदायिक स्वरूप बदल गया। वह राष्ट्रीय हो गया।

हिन्दुओं को अपने-अपने विश्वासों के अनुसार धार्मिक उपासना, मन्दिरों का निर्माण, पर्व और त्यौहार मनाने आदि की पूरी स्वतन्त्रता प्रदान की गई। स्वयं अकबर भी उनके धार्मिक समारोहों में भाग लेता था। इससे मुगल राजवंश तथा शासन को हिन्दू जनता का विश्वास तथा सहानुभूति प्राप्त हो गई।

उत्तरी भारत में साम्राज्य विस्तार—अकबर चक्रवर्ती सम्राट बनने की आकांक्षा रखता था। वह देश को राजनीतिक एकता के सूत्र में बाँधना चाहता था। इसके लिए विविध छोटे-बड़े स्वतंत्र राज्यों को जीतकर एक केन्द्रीय सत्ता की अधीनता में लाना आवश्यक था।

बैराम खाँ के पतन के बाद, सर्वप्रथम मालवा को जीता गया। यहाँ बाजबहादुर का शासन था। वह संगीत का उपासक था। रानी रूपमती और बाजबहादुर के किस्से सम्पूर्ण भारत में चर्चा का विषय बने हुए थे। 1561 ई० में सारंगपुर के युद्ध में मुगलों ने बाजबहादुर को परास्त कर सम्पूर्ण मालवा पर अधिकार जमा लिया। इसी वर्ष मुगल सेना ने चुनार के प्रसिद्ध दुर्ग पर अधिकार कर लिया। इससे मुगलों को पूर्व की ओर बढ़ने का आधार मिल गया।

जनवरी, 1562 ई. मे अकबर ने पहली बार अजमेर के शेख मुईनुद्दीन चिश्ती की दरगाह की यात्रा की। मार्ग में आमेर (जयपुर) के शासक भारमल ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली और उसको अपनी पुत्री विवाह में दी। वह पहला राजपूत शासक था जिसने मुगलों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया। उसकी इसी पुत्री से अकबर के उत्तराधिकारी 'जहाँगीर' का जन्म हुआ। इसके कुछ दिनों बाद मारवाड़ में स्थित मेड़ता का क़िला भी मुगल सेना के अधिकार में आ गया।

1564 ई. में गोंडवाना पर आक्रमण किया गया। यह मध्य प्रदेश का एक हिन्दु राज्य था। उस समय यहाँ का शासक वीरनारायण था और उसकी माँ रानी दुर्गावती बड़ी योग्यता के साथ राज्य का शासन चला रही थी। रानी ने अकबर के क्रोध को भड़काने वाला कोई कार्य नहीं किया था, परन्तु अकबर की साम्राज्यवादी नीति के अन्तर्गत स्वतन्त्र राज्यों को कोई स्थान प्राप्त न था। मुगल सेना को रानी से जबरदस्त मुकाबला करना पड़ा। रानी बड़ी बहादुरी के साथ लड़ी। अपने पक्ष की हार हो जाने पर उसने स्वयं अपना अन्त कर लिया। शेष स्त्रियों ने जौहर रचाया। गोंड़वाना का राज्य मुगल साम्राज्य में मिला लिया गया। 1565 ई. में मारवाड़ की राजधानी जोधपुर, 1567-68 में चित्तौड़ और 1569 ई. में रणथम्भौर

ग्रौर कालिंजर पर अकबर का अधिकार हो गया । 1570 ई. में मारवाड़ नरेश ने अकबर की अधीनता स्वीकार करली । 1570–73 ई. में सम्पूर्ण गुजरात भी मुगलों के अधिकार में आ गया । 1573–76 में बिहार और बंगाल को जीता गया । 1585 ई. में कश्मीर और 1591 ई. में सिन्ध पर मुगलों का अधिकार हो गया, 1592 ई. में जूनागढ़ सौराष्ट्र तथा उड़ीसा और 1593 ई. में कूच बिहार पर भी मुगलों की सार्वभौम सत्ता स्थापित हो गई ।

साम्राज्य की उत्तर-पश्चिमी सीमा की तरफ से अकबर को निरन्तर कठिनाई का सामना करना पड़ा । उसका सौतेला भाई मिर्जा हकीम जो काबुल का सूबेदार था, दिल्ली सिंहासन का स्वप्न देखा करता था । मुगल दरबार के कुछ कट्टर सुन्नी मुगल सरदार भी अकबर की धार्मिक उदारता से असन्तुष्ट होकर मिर्जा हकीम के साथ साँठ-गाँठ किए हुए थे । बंगाल तथा बिहार के विद्रोही मुगल सरदारों ने तो मिर्जा हकीम के पक्ष मे बाकायदा विद्रोह कर दिया था, जिसे अकबर ने सख्ती के साथ कुचल दिया । मिर्जा हकीम ने भी कई बार पंजाब पर आक्रमण किए । उसको नियन्त्रित करने की दृष्टि से 1566 से 1581 ई. के मध्य का अधिकांश समय अकबर को लाहौर में व्यतीत करना पड़ा । 1581 ई. में मिर्जा हकीम की मृत्यु हो गई और काबुल का सूबा मुगल साम्राज्य में मिला लिया गया । 1596 ई. तक बलुचिस्तान पर भी मुगलों की सत्ता कायम हो गई । इससे पूर्व 1595 ई. में कन्धार का प्रसिद्ध दुर्ग भी मुगलों के अधिकार में आ गया जिसके परिणामस्वरूप अकबर के साम्राज्य की सीमा भारत की प्राकृतिक सीमा तक पहुँची ।

मेवाड़ का प्रतिरोध– अपनी साम्राज्यवादी नीति के अन्तर्गत मेवाड़ के अतिरिक्त शेष उत्तर भारत के लगभग सभी शासकों एवं सामन्तों को जीतने में अकबर सफल रहा । परन्तु अपनी मृत्युपर्यन्त वह मेवाड़ के शासकों को अपने आधिपत्य में नहीं ला सका और उसे यह बात अन्त तक चुभती रही । मेवाड़ का सिसोदिया राजवंश अपना सब कुछ खोकर भी, अपनी आन पर शान के साथ टिका रहा ।'

मेवाड़–विजय न केवल अकबर की आंतरिक अभिलाषा थी परन्तु उससे कई महत्त्वपूर्ण प्रश्न जुड़े हुए थे । पहाड़ियों से घिरा हुआ मेवाड़ राज्य मध्यकालीन भारत में राजस्थान का सबसे शक्तिशाली राज्य रहा था । मेवाड़ के राणाओं ने दिल्ली के मुस्लिम शासकों से निरन्तर संघर्ष किया था । इसलिए वे हिन्दू धर्म और संस्कृति के पोषक माने जाने लगे । यही कारण है कि मेवाड़ के राणा जयपुर के शासकों को अनादर की दृष्टि से देखते थे, जिन्होंने सबसे पहले बिना किसी प्रतिरोध के न केवल मुगलों की अधीनता ही स्वीकार कर ली थी अपितु स्वेच्छा से उनके साथ वैवाहिक सम्बन्ध भी कायम कर लिए थे, । मेवाड़ को अपने अधीन किये बिना अकबर उत्तरी भारत में सही अर्थों में अपनी सर्वोच्च सत्ता का दावा नहीं कर सकता था । मेवाड़ पर नियन्त्रण स्थापित किए बिना दिल्ली और गुजरात के मुख्य मार्ग का नियन्त्रण प्राप्त न करना कठिन काम था और इसके अभाव में व्यापार तथा यातायात को सुरक्षा प्रदान करना असम्भव था ।

इन सब बातों से प्रभावित अकबर को मेवाड़-विजय की तरफ पूरा ध्यान देना पड़ा। मेवाड़ का तत्कालीन महाराणा उदयसिंह अपने पिता राणा साँगा की भाँति पराक्रमी नहीं था, फिर भी उसने अकबर की अधीनता स्वीकार करना अपने कुल की मर्यादा के विरुद्ध समझा। अक्तूबर, 1567 ई. में मुगलों की एक विशाल सेना ने मेवाड़ की तरफ कूच किया। अकबर स्वयं भी चित्तौड़ विजय करने के लिए वहाँ पहुँच गया। मुगल सेना ने चित्तौड़ दुर्ग का घेरा डाल दिया। चित्तौड़ की रक्षा का भार जयमल और पत्ता नामक सरदारों को सौंप कर महाराणा उदयसिंह जंगलों की तरफ कूच कर गये। उनका ध्येय छापामार युद्ध के द्वारा मुगलों के रसद साधनों को नष्ट करना था। 23 फरवरी, 1568 ई की मध्यरात्रि में जब जयमल राठौड़ दुर्ग की दीवारों की मरम्मत करवा रहा था तब अकबर की बन्दूक की गोली का निशाना बनकर मारा गया। दूसरे दिन, राजपूत सरदारों ने दुर्ग के फाटक खोलकर भंयकर युद्ध करते हुए वीरगति प्राप्त की। राजपूत ललनाओं ने जौहर रचाया। चित्तौड़ दुर्ग पर अकबर का अधिकार हो गया। राजपूती प्रतिरोध से कुपित अकबर ने दुर्ग में बचे 30,000 व्यक्तियों को कत्ल करवा कर अपना क्रोध शान्त किया। यह घटना अकबर जैसे सहिष्णु और उदार शासक के लिए अत्यधिक कलंक की बात थी।

चित्तौड़ छिन जाने पर महाराणा उदयसिंह ने शुरू में कुम्भलगढ़ को और बाद में उदयपुर को अपनी राजधानी बनाया। उसने अपनी मृत्युपर्यन्त मुगलों से संघर्ष जारी रखा। 1572 ई. में उसकी मृत्यु हो गई। उदयसिंह के पुत्र और उत्तराधिकारी राणा प्रताप ने भारतीय इतिहास में नया आदर्श प्रस्तुत किया।

जब प्रताप महाराणा बना था तब उसके पास न तो राजधानी थी, न व्यवस्थित राज्य और न ही पर्याप्त साधन थे। उसका एक भाई शक्तिसिंह तो मुगलों की सेवा में भी पहुँच गया था। इन सब बातों की चिन्ता न करते हुए उसने भारत के चक्रवर्ती और साधन-सम्पन्न सम्राट अकबर का दृढ़तापूर्वक सामना करने का निश्चय कर लिया। राणा प्रताप को अपने अधीन करने और उससे



महाराणा प्रतापसिंह

मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने के लिए अकबर ने चार बार राणा प्रताप के पास अपने राजदूत भेजे, परन्तु वह अपने उद्देश्य में विफल रहा। 1576 ई. में मानसिंह और आसफखाँ के नेतृत्व में एक शक्तिशाली मुगल सेना राणा प्रताप के विरुद्ध भेजी गई। 18 जून, 1576 ई. के दिन राणा प्रताप और मुगलों के मध्य हल्दी घाटी के ऐतिहासिक मैदान पर घमासान युद्ध हुआ। अपने से कहीं अधिक संख्या वाली मुगल सेना और तोपखाने का प्रताप की सेना ने कड़ा मुकाबला किया, परन्तु जीत मुगलों की रही। राणा प्रताप को जंगलों की राह पकड़नी पड़ी। उनकी स्थिति बिगड़ती गई। इतनी अधिक कि कई बार तो भूख से बिलखते बच्चों की उदरपूर्ति की गम्भीर समस्या आ खड़ी होती। फिर भी, उस वीर शिरोमणी ने आखिरी दम तक मुकाबला किया और मेवाड़ की शान को तनिक भी आँच न आने दी।

दानवीर भामाशाह की सहायता से राणा प्रताप ने नई सेना संगठित की और अपने खोये हुए राज्य को जीतना शुरू कर दिया। अपनी मृत्यु से पूर्व, चित्तौड़, और मांडलगढ़ के अलावा उसने अपना सम्पूर्ण राज्य मुगलों से वापस छीन लिया था। 1597 ई. में 57 वर्ष की कम आयु में ही उनका देहान्त हो गया। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि राणा प्रताप सम्पूर्ण हिन्दू जाति का गौरव, आत्म-सम्मान की सजीव मूर्ति और भारतीयों में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता एवं देश प्रेम की भावना को जाग्रत करने वाला एक महान नेता था। राणा प्रताप का संघर्षमय जीवन भारतीय इतिहास की एक गौरवपूर्ण कहानी है। उसकी मृत्यु के बाद उसके पुत्र महाराणा अमरसिंह ने सम्राट अकबर से संघर्ष जारी रखा और अकबर अपनी मृत्युपर्यन्त मेवाड़ के महाराणा को अपनी अधीनता में लाने में सफल नहीं हो पाया।

दक्षिण भारत— उत्तर भारत पर अधिकार कर लेने के बाद अकबर ने दक्षिण भारत ने राज्यों को अपनी अधीनता में लाने का निश्चय किया।। दक्षिण भारत में इस समय चार मुस्लिम राज्य थे—बीजापुर, गोलकुण्डा, अहमदनगर और खानदेश। चारों राज्यों में आपसी संघर्ष और धर्मान्धता का निरन्तर दौर चला करता था जिससे इन राज्यों में काफी अव्यवस्था फैल चुकी थी। इस स्थिति का लाभ उठाते हुए विदेशी पुर्तगाली व्यापारियों ने अपनी शक्ति को बढ़ाना शुरू कर दिया था।

अकबर की दक्षिण नीति कई उद्देश्यों से प्रेरित थी। वह सम्पूर्ण भारत को राजनीतिक एकता में आबद्ध करके स्वयं उसका चक्रवर्ती सम्राट बनने की महत्त्वाकांक्षा रखता था। पुर्तगालियों की बढ़ती हुई शक्ति से भी वह चिन्तित था और इनको रोकना चाहता था। उसे इस बात का भय था कि कहीं दक्षिण में व्याप्त अराजकता, धर्मान्धता और अव्यवस्था के तत्त्व उसके साम्राज्य की सीमाओं में प्रविष्ट होकर, उसके राष्ट्रीय राज्य की जड़ों को खोखली न कर दें। इसके अलावा, मुगल सेना को भी कहीं न कहीं व्यस्त रखना आवश्यक था। अतः उसने दक्षिण की तरफ बढ़ने का निश्चय किया। खानदेश के शासक ने अपनी सुरक्षा के विचार से मुगलों की

अधीनता स्वीकार कर ली, परन्तु शेष तीनों राज्यों ने अकबर की अधीनता स्वीकार करने से इन्कार कर दिया।

18 अप्रेल, 1595 ई. में अहमदनगर के शासक बुरहानुल्मुल्क का देहान्त हो गया और 16 अगस्त, 1595 ई. को उसका उत्तराधिकारी इब्राहीम भी एक युद्ध में मारा गया। इसके बाद उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर अहमदनगर में बड़ी अशांति फैल गई और गृह कलह शुरू हो गया। इस स्थिति का लाभ उठाते हुए मुगल सेना ने अहमदनगर दुर्ग को जा घेरा। इस समय दुर्ग की रक्षा का भार चाँद बीबी पर था। वह बुरहानुल्मुल्क की बहिन और बीजापुर के सुल्तान अली आदिलशाह की विधवा बेगम थी और अहमदनगर के मृत सुल्तान इब्राहीम के शिशु पुत्र

भारत
अकबर का साम्राज्य

भारत के महासर्वेक्षक की अनुज्ञानुसार भारत सर्वेक्षण विभागीय मानचित्र पर आधारित। © भारत सरकार का प्रतिलिप्यधिकार, 1978
समुद्र में भारत का जलप्रदेश उपयुक्त आधार रेखा से मापे गये बारह समुद्री मील की दूरी तक है।
इस मानचित्र में दिये गये नामों का अक्षर-विन्यास विभिन्न सूत्रों से लिया गया है।

बहादुर को सुल्तान बनाना चाहती थी। कई माह तक चाँदबीबी ने बड़ी योग्यता तथा बहादुरी से क़िले की सुरक्षा की और मुगल सेना के सभी घेराव बेकार कर दिये।

परन्तु अहमदनगर की भीतरी दलबन्दी के कारण चाँदबीबी ने मुगलों से सन्धि कर लेना ही ठीक समझा। सन्धि के अनुसार अहमदनगर ने बरार का सूबा मुगलों को सौंप दिया और मुगलों ने शिशु बहादुरशाह को अहमदनगर का सुल्तान स्वीकार कर लिया। परन्तु अहमदनगर के कई सरदारों को यह सन्धि पसन्द नहीं आई और उन्होंने बरार को मुगलों से छीनने का प्रयास किया। चाँदबीबी को मार दिया गया। इससे युद्ध पुनः शुरू हो गया। 1600 ई. में मुगलों को अहमदनगर दुर्ग जीतने में सफलता मिल गई। बहादुरशाह को बन्दी बनाकर ग्वालियर के दुर्ग में भेज दिया गया। परन्तु विरोधी सामन्तों ने मुगलों से संघर्ष जारी रखा और शाहजहाँ के शासन काल में मुगलों को अहमदनगर के सम्पूर्ण राज्य को जीतने में सफलता मिल गई।

अहमदनगर के संघर्ष से उत्साहित होकर खानदेश के नवयुवक शासक मीरन बहादुरशाह ने भी मुगल अधीनता को त्याग दिया। इस पर अकबर ने स्वयं उसके विरुद्ध अभियान किया। 1599 ई. में अकबर ने खानदेश की राजधानी बुरहानपुर को जीत लिया। मीरन बहादुरशाह असीरगढ़ के दुर्गम गढ़ में जा छिपा। अकबर की सेना ने असीरगढ़ का घेरा डाल दिया। परन्तु कई माह की घेराबन्दी के बाद भी मुगल सेना को सफलता नहीं मिल पाई। दुर्भाग्यवश, उसी समय युवराज सलीम (जहाँगीर) ने विद्रोह कर दिया था। इससे अकबर अत्यधिक चिंतित हो गया और उसने छल-कपट तथा घूँस-रिश्वत आदि निम्न साधनों से असीरगढ़ को जीतने का निश्चय किया। यद्यपि वह अपने ध्येय में सफल रहा, परन्तु उसकी यह सफलता उसके धवल यश पर कलंक का धब्बा बन गई। असीरगढ़ की विजय उसकी अन्तिम विजय थी। 1605 ई. में उसकी मृत्यु हो गई। अपनी मृत्यु के पूर्व, काबुल से लेकर बंगाल और कश्मीर से लेकर खानदेश एवं अहमदनगर तक के विस्तृत भू-भाग पर अपना अधिकार स्थापित करने में वह सफल रहा।

धार्मिक नीति

अकबर, जिसका जन्म और पालन-पोषण उदार वातावरण में हुआ था, इस्लाम की कट्टरता को कैसे अपना सकता था? उसकी माँ शिया थी। उसका जन्म अमरकोट के हिन्दू राजा के घर में हुआ था। उसके पिता ने ईरान के शिया शासक की सहायता से पुनः अपना साम्राज्य जीता था। उसका अभिभावक बैराम खाँ शिया था। उसका शिक्षक अब्दुल लतीफ अत्यधिक उदार मुसलमान था जिसने अकबर को 'सुलहकुल' (सबसे शान्ति रखने का सिद्धान्त) का पाठ पढ़ाया था। उसके साथी-शेख मुबारक, अब्दुल फजल और फैजी, सभी प्रगतिशील विचारों के थे। उसकी राजपूत पत्नियाँ हिन्दू मतावलम्बी थीं। इस प्रकार, अकबर के वंशानुगत संस्कार और उनके चारों तरफ विद्यमान वातावरण ने उसे धर्म के मामले में उदारवादी बनाने में महत्वपूर्ण योग दिया।

डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी ने लिखा है कि 'अकबर प्रथम शासक था जिसने अपने शासन के आरम्भ से धीरे-धीरे सभी धर्मों और आध्यात्मिक आन्दोलनों के प्रति-प्रगतिशील उदारता और सक्रिय सहानुभूति की नीति को अपनाया।" आरम्भ में

वह इस्लाम से ही सन्तुष्ट था। इस्लाम धर्म के बारे में और अधिक ज्ञान प्राप्त करने की लालसा से अकबर ने 1575 ई. में फतेहपुर सीकरी में 'इबादतखाने' का निर्माण कराया और इस्लाम धर्म के सिद्धान्तों पर वाद-विवाद करने के लिए उसने इस्लाम धर्म के सभी विद्वानों को आमन्त्रित किया। विवादों के अवसर पर उन विद्वानों के विचारों का अन्तर ही स्पष्ट नहीं हुआ अपितु उनकी संकीर्ण मनोवृत्ति का भी पता चल गया। इतना ही नहीं, ये लोग आपस में ही एक-दूसरे के व्यक्तित्व पर लांछन लगाते और गाली-गलोच पर उत्तर आते। इससे अकबर का इस्लाम की श्रेष्ठता से विश्वास उठ गया। 1578 ई. से हिन्दू, जैन, सिख, पारसी और इसाई सभी धर्मों के गणमान्य लोगों के लिए इबादतखाने के द्वार खोल दिए गए। अब धार्मिक विवादों का स्वरूप बदल गया। अकबर बड़े ध्यान से सभी विचार सुनता था। अकबर की जिज्ञासा और उत्साह से ईसाई पादरियों को यह भ्रम हो गया था कि वे अकबर को ईसाई बनाने में सफल हो जायेंगे। परन्तु शीघ्र ही उनका भ्रम टूट गया। इन धार्मिक विवादों का एक परिणाम यह निकला कि अकबर कट्टर इस्लाम से दूर चला गया। परन्तु वह न हिन्दू बना, न ईसाई।

दीन-ए-इलाही – मोहसिन फानी ('दबिस्तान मजहब' का लेखक), स्मिथ, बदायूँनी आदि विद्वानों का मत है कि 1582 ई. में अकबर ने एक धर्म चलाया जिसे "तोहिदे-इलाही" अथवा दीन-ए-इलाही कहा जाता है। यह कथन सही नहीं है। उसने किसी धर्म को नहीं चलाया। हुआ यह कि राष्ट्रीय विचार वाले जिज्ञासु अकबर ने सभी धर्मों की सभी अच्छी बातों को मानना शुरू कर दिया और बुरी बातों को छोड़ दिया। अकबर के कुछ मित्रों, सभासदों और अधिकारियों ने भी उसकी नीति को अपना लिया। इस प्रकार, कुछ खास विचार और व्यवहार पर चलने वालों का एक दल तैयार हो गया। इसी को प्राय: दीन-ए-इलाही कहा जाता है। यदि अकबर को कोई नया धर्म ही चलाना होता तो वह जोर-शोर के साथ जनता में इसका प्रचार करवाता। बलपूर्वक लोगों को इसे मानने पर मजबूर करता, उपासना स्थान बनवाता। पुरोहित और पुजारी नियुक्त करता। धर्म के आधारभूत ग्रन्थ रचवाता। परन्तु उसने ऐसा कोई कदम नहीं उठाया। सत्य यह है कि वह अपने समय के सभी धर्मों की साम्प्रदायिक कट्टरता और संकीर्णता से क्षुब्ध था। उसका विचार सभी धर्मों की अच्छी बातों को अपनाकर नैतिक एवं मानवीय मान्यताओं को निर्धारित करना था।

दीन-ए-इलाही में विश्वास रखने वाले संयम पर जोर देते थे। उदारता और परोपकार के समर्थक थे। सांसारिक वासनाओं से बचना चाहते थे। सत्य की खोज करना चाहते थे। हर काम में बुद्धि से काम लेने की सोचते थे। मृत्यु भोज में सम्मिलित नहीं होते थे। माँस-भक्षण से यथा सम्भव दूर रहते थे। नीच कर्म करने वालों यथा-मछुओं, कसाइयों और चिड़ीमारों के साथ भोजन नहीं करते थे। गर्भवती, वृद्धा और नाबालिग लड़कियों के साथ सहवास नहीं करते थे। ये थे उनके

कुछ आदर्श । यही था दीन-ए-इलाही । यह धर्म नहीं था । जीवन के कुछ आदर्शों का संग्रह था जो कोई भी व्यक्ति अपना सकता था ।

फिर भी विद्वानों ने अकबर की खूब आलोचना की है । मुस्लिम लेखकों विशेषकर मुल्ला बदायूँनी ने लिखा है कि अकबर ने मस्जिदों को अस्तबेल में बदल दिया । विरोधी शेखों और फकीरों को कन्धार भिजवा कर घोड़ों के भाव बिकवाया, हजरत मुहम्मद के नाम की मनाही करवा दी और जान-बूझ कर इस्लाम की खिल्ली उड़ाई । यह सब मिथ्या आरोप हैं । वस्तुतः अकबर ने इन कट्टरपंथी मुल्लाओं को मुँह लगाना छोड़ दिया था जिससे उनकी मुफ्त की रोटियां मारी गईं । इसके अलावा अकबर ने इस्लाम को दूसरे धर्मों की बराबरी की पंक्ति में बैठा दिया । इससे वे नाराज हो गये और अकबर को बदनाम करने लगे । इसी प्रकार ईसाई प्रचारक जो अकबर के ईसाई बन जाने की आशा करते थे, अपने उद्देश्य में असफल होकर अकबर को घमण्डी, पाखण्डी और इस्लाम को मानने वाला सिद्ध करने लगे । स्मिथ ने लिखा है "दीन-ए-इलाही उसकी अज्ञानता का स्मारक है, न की उसकी बुद्धिमता का ।" इस बात का खण्डन आधुनिक भारतीय इतिहासकारों ने किया है । उनका मानना है कि दीन-ए-इलाही अकबर की समन्वय प्रवृत्ति और उदार सहिष्णु प्रकृति की महान अभिव्यक्ति थी ।

दीन-ए इलाही साधारण लोगों को अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सका और न ही जनता में लोकप्रिय धर्म बन सका । अकबर की मृत्यु के साथ ही साथ दीन-ए-इलाही भी समाप्त हो गया ।

शासन-व्यवस्था

बुनियादी सिद्धान्त — किसी भी शासक की शासन-व्यवस्था कुछ बुनियादी सिद्धान्तों पर आधारित होती है । अकबर का बुनियादी सिद्धान्त था–राष्ट्रीय राज्य की स्थापना । एक ऐसा राज्य जिसके समस्त नागरिकों को बिना किसी भेदभाव के समानता के अधिकार पर उन्नति करने के समान अवसर मिल सके । न्याय के सम्मुख समानता का अनुभव हो सके । एक ऐसा राज्य जिसका ध्येय जनता का शोषण न होकर जन-कल्याण हो । जिसकी शासन व्यवस्था सुसंगठित और सुव्यवस्थित हो ।

अकबर की शासन-व्यवस्था इन्हीं बुनियादों पर टिकी हुई थी । उसके शासन-सम्बन्धी सिद्धान्तों में अरबी, ईरानी और भारतीय तत्वों का मिश्रण था । उसने शेरशाह की शासन-व्यवस्था से बहुत कुछ सीखा और उसे अधिक सुन्दर बनाने का प्रयत्न किया ।

केन्द्रीय शासन—अकबर केन्द्रीय शक्ति का मुख्य स्रोत था । उसके अधिकार असीमित थे । फिर भी वह निरंकुश नहीं था । वह अपने मन्त्रियों और अधिकारियों के साथ विचार-विमर्श किया करता था । उसका शासन वास्तव में केन्द्रीभूत राज्य सत्ता थी जो नौकरीशाही के यन्त्र से चलती थी । शासन की सुविधा के लिए राज्य में कई विभाग थे जिनमें निम्नलिखित मुख्य थे—

1. माल (भूमिकर) विभाग—यह वजीर अथवा दीवान के अधीन था।
2. शाही महल—इसका मुख्य अधिकारी 'खान-ए-सामा' कहलाता था।
3. सेना का वेतन और लेखा विभाग—यह मीर बख्शी के अधीन था।
4. धार्मिक कानून विभाग—यह प्रधान काजी के अधीन था।
5. खैरात (पुण्य) विभाग—यह 'सदर-ए-सुदूर' के अधीन था।
6. लोक चरित्र नियन्त्रण विभाग—इसका मुख्य अधिकारी 'मोहतसिब' कहलाता था।
7. तोपखाना—यह मीर आतीश (दरोगा-ए-तोपखाना) के अधीन था।
8. डाक चौकी और खबर विभाग—यह दरोगा-ए-डाक-चौकी के अधीन था।

सम्राट के बाद साम्राज्य का सबसे बड़ा अधिकारी वजीर या वकील कहलाता था। वस्तुतः वह प्रधान मन्त्री था। इसके अतिरिक्त वह माल विभाग का दीवान भी था। वह अन्य विभागों के अधिकारियों के कार्यों की देखभाल भी करता था।

प्रान्तीय-शासन—इतिहासकार जदुनाथ सरकार ने लिखा है कि "मुगल साम्राज्य में प्रान्तीय शासन की व्यवस्था केन्द्रीय सरकार का ठीक छोटा रूप थी। अकबर के शासन के अन्तिम वर्षों में मुगल साम्राज्य में 15 सूबे या प्रान्त थे। प्रान्त का सबसे बड़ा अधिकारी 'नाजिम' अथवा सूबेदार कहलाता था। इसका मुख्य काम प्रान्त में व्यवस्था रखना, मालगुजारी (भूमिकर) वसूल करना और शाही आदेशों को कार्यान्वित करवाना था। दूसरा महत्त्वपूर्ण अधिकारी 'दीवान' था। इसकी नियुक्ति भी केन्द्र द्वारा की जाती थी। जिले का मुख्य अधिकारी 'फौजदार' कहलाता था। प्रान्तों में 'सदर' और 'काजी' के पदों पर प्रायः एक अधिकारी को नियुक्त किया जाता था। अकबर ने ग्राम-पंचायतों को वैधानिक रूप से न्याय करने वाली संस्थाओं के रूप में स्वीकार कर लिया और इन पंचायतों के निर्णय को मान्यता प्रदान की। उसने ग्राम्य जीवन तथा ग्राम प्रशासन में हस्तक्षेप नहीं किया।

मनसबदारी प्रथा—अकबर के शासन की एक विशेषता मनसबदारी प्रथा थी। साम्राज्य के सबसे बड़े राज्य-कर्मचारियों की भर्ती सैनिक अफसर के रूप में की जाती थी चाहे उनका काम कुछ भी हो। ये लोग मनसबदार कहलाते थे। "मनसबदार" एक अरबी शब्द है जिसका अर्थ है "स्थान निश्चित करना। मंगल प्रशासन में बड़े राज्य-कर्मचारियों के पद व वेतन का निश्चय और शासन व दरबार में उनकी श्रेणी व सम्मान का निश्चिय 'मनसब' से किया जाता था। इस श्रेणी में दस से लेकर दस हजार तक के मनसबदार होते थे। (यह संख्या अकबर के अन्तिम दिनों में बारह हजार तक पहुँच गयी थी।) अब्दुलफजल लिखता है कि "सम्राट स्वयं दभाशी (दस) से दस हजार तक के मनसबदारों को नियुक्त करता था जिसमें से पाँच हजार से ऊपर के मनसबदार या तो उसके उच्च प्रतिष्ठित पुत्र होते थे या उच्च श्रेणी के उमराव।" मनसबदारी की प्रत्येक श्रेणी में पहला, दूसरा और तीसरा दर्जा होता था। जिस मनसबदार की सेना उसके मनसब के बराबर होती थी वह अपनी श्रेणी में प्रथम दर्जे का अफसर माना जाता था; यदि उसके

सैनिकों की संख्या मनसब की संख्या से आधी से अधिक होती थी तो वह द्वितीय दर्जे का अफसर गिना जाता था। असैनिक विभागों के अधिकारी सैनिक नहीं रखते थे, परन्तु आवश्यकता पड़ने पर उन्हें भी सैनिक सेवा करनी पड़ती थी। मनसबदारों को उनकी श्रेणी के अनुसार मासिक दर से नकद वेतन दिया जाता था अथवा वेतन के रूप में किसी भूमि-खण्ड का भूमिकर उनके सुपुर्द कर दिया जाता था। उनके वेतन में उनके सैनिकों का भी वेतन सम्मलित था। मजेदार बात यह थी कि सरकारी नौकरी किसी खास काम के लिए नहीं थी। अधिकारियों को दरबार में उपस्थित रहना पड़ता था और सम्राट जिसको जो काम सौंप दे, उसे वही काम करना पड़ता था। बड़े-बड़े राजा-महाराजाओं को भी कई बार शाही महलों की चौकीदारी की व्यवस्था का काम करना पड़ता था।

कोई भी मनसबदार समस्त मुगल सेना का नायक नहीं था। वास्तव में स्वयं सम्राट ही प्रधान सेनानायक था। वह किसी भी मनसबदार को किसी भी अभियान का मुख्य सेनापति नियुक्त कर देता था। सैनिक अभियानों के संचालन के अलावा अन्य सभी प्रकार की सैनिक व्यवस्था का दायित्व 'बख्शी' नामक अधिकारी का होता था। यह देखना उसका काम था कि लोग अपने-अपने मनसब के हिसाब से सैनिक रखते हैं या नहीं। क्योंकि अधिकारी लोग प्राय. कम सैनिक रखते थे और जाँच पड़ताल के समय इधर-उधर से माँगकर अथवा नई भर्ती करके काम चलाते थे। इसलिए अकबर ने शेरशाह का अनुकरण किया और घोड़ों को दागने तथा सैनिकों का हुलिया लिखने की व्यवस्था जारी रखी। फिर भी, वह अपने अधिकारियों की इस घोखेबाजी को पूरी तरह से समाप्त नहीं कर पाया। अकबर के समय में तोपखाने तथा बन्दूकचियों का महत्त्व बढ़ गया था। अश्वारोही सेना का महत्त्व बना रहा, परन्तु पदाति सेना का महत्त्व कम हो गया था।

भूमिकर व्यवस्था – भूमिकर साम्राज्य की आय का मुख्य स्रोत था। शेरशाह ने टोडरमल की सहायता से भूमिकर प्रणाली और व्यवस्था में कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये। जिस समय अकबर सम्राट हुआ, तब शेरशाह द्वारा गठित भूमिकर व्यवस्था प्रचलित थी। अपने शासन के प्रारम्भिक 15 वर्षों तक अकबर उसी भूमिकर प्रणाली से भूमिकर वसूल करता रहा। इसके बाद उसने भूमिकर व्यवस्था की ओर विशेष ध्यान दिया। इस काम में उसे राजा टोडरलल से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण सेवाएँ प्राप्त हुईं।

साम्राज्य की समस्त भूमि दो हिस्सों में विभाजित थी—जागीर भूमि और खालसा भूमि। जागीर भूमि वह थी जिसकी आय सरकारी अधिकारियों को वेतन के बदले में प्रदान करदी जाती थी। खालसा भूमि सम्राट की भूमि समझी जाती थी। 1575 ई. में अकबर ने राज्य में जागीर प्रथा को कम करने और सरकारी अधिकारियों को नकद वेतन देने की प्रथा प्रारम्भ की। इसके बाद राजस्व की दृष्टि से खालसा भूमि को 182 क्षेत्रों में विभाजित किया गया। ये क्षेत्र इस प्रकार से विभाजित थे कि प्रत्येक क्षेत्र के भूमिकर से प्राप्त आय एक करोड़ दाम या ढ़ाई

लाख रुपये हो। इसलिए इस क्षेत्र से भूमिकर वसूल करने वाले अधिकारी को 'करोड़ी' कहा जाने लगा था। 1580–81 ई. में राजा टोडरमल और मुजफ्फरखाँ तुरबती ने 'दहसाला प्रथा' या 'करार-ए-जामा दहसाला' शुरू की। इस व्यवस्था को लागू करने के पूर्व प्रत्येक परगने के कानूनगोओं से उस परगने की वास्तविक उपज व बाजार भाव की सूची तैयार करायी गई तथा बीघे-बार जो भी कर लिया जाता था, उसकी सूची बनायी गई। फिर दस वर्ष की उपज और दस वर्ष के भ.व का औसत निकाला गया। औसत उपज के एक तिहाई का औसत भाव से मूल्य निकाल कर राज्य का भूमि कर निश्चित कर दिया गया। इस प्रकार, दहसाला प्रथा पिछले दस वर्षों की वार्षिक औसत उ.ज पर आधारित थी। कुछ लेखकों ने इसे टोडरमल का बन्दोबस्त कहा है। यह नवीन प्रणाली साम्राज्य के 12 सूबों में से केवल 8 सूबों में ही चालू की गई। शेष चार सूबों बंगाल, बिहार, सिन्ध और कश्मीर तथा नवीन जीते हुए खानदेश के प्रदेशों में आन्तरिक व्यवस्था करने की छूट दे दी गई।

दहसाला प्रथा के अन्तर्गत सर्वप्रथम कृषि योग्य भूमि की पैमाइश करायी गई। 1586-87 ई. से भूमि को नापने के लिए 41 अंगुल वाले एक गज को प्रचलित किया गया और इसका नाम 'इलाही गज' रखा गया। खेतों को बीघों में नापा गया। एक बीघे में 3600 वर्ग गज माने गये। कृषि योग्य भूमि की पैमाइस करने के बाद इस भूमि को चार विभिन्न श्रेणियों में विभक्त किया गया। इस वर्गीकरण का आधार भूमि की किस्म या उसका उपजाऊपन नहीं था, अपितु उस पर होने वाली कृषि का निरन्तर जारी रहना था। इस आधार पर जो चार श्रेणियाँ बनाई गई थीं उनके नाम थे पोलज (प्रतिदिन कृषि योग्य), परती (एक या दो वर्ष खाली छोड़ना पड़ता था), चाचर (दो या तीन वर्ष खाली छोड़ना पड़ता था) और बंजर (पाँच या अधिक वर्षों तक खाली छोड़ना पड़ता था)। इसके बाद उपयुक्त चार श्रेणियों को उनकी उर्वरकता के आधार पर पुनः तीन भागों में विभिक्त किया गया उत्तम, मध्यम और निम्न। यह समस्त वर्गीकरण इसलिए किया गया कि भूमिकर निश्चित करते समय कृषकों के साथ किसी प्रकार का अन्याय न हो। इसके बाद भूमिकर की दर निश्चित कर दी गई। साधारण सिद्धान्त यह था कि औसत उपज का एक तिहाई भाग राज्य द्वारा भूमि कर के रूप में वसूल किया जाता था। पोलज भूमि पर इसी आधार से प्रति वर्ष कर लिया जाता था। परन्तु परती भूमि के लिए उसी वर्ष का कर माँगा जाता था जिस वर्ष उसमें खेती हो। चाचर भूमि पर सामान्य दर से भी कम भूमिकर लिया जाता और बंजर भूमि से नाममत्र का भूमिकर लिया जाता था। किसानों को भूमिकर नकदी में चुकाना पड़ता था। इसके लिए अलग-अलग क्षेत्रों में गल्ले की अलग-अलग कीमतें निश्चित की जाती थीं जो पिछले दस वर्षों की कीमतों के औसत पर आधारित होती थीं। परगनों में भूमिकर वसूल करने का कार्य आमिल या मालगुजार करते थे। उनकी सहायता के लिए कानूनगो, मुकद्दम, पटवारी इत्यादि होते थे। राज्य कर्मचारियों के भ्रष्ट.चार

को रोकने के लिए विशेष सावधानी से काम लिया जाता था और अपराधियों को कठोर दण्ड दिया जाता था। फसल बिगड़ने पर लगान माफ कर दिया जाता था।

उपर्युक्त सुधारों ने राज्य तथा कृषकों के बीच से मध्यम वर्ग को हटाकर दोनों में परस्पर सीधा सम्पर्क स्थापित कर दिया। कृषकों को मालूम हो गया कि उनको कितना भूमिकर देना है और राज्य को मालूम हो गया कि उसे भूमिकर से कितनी आय होनी है।

न्याय व्यवस्था - अपनी प्रजा के लिए अकबर स्वयं न्याय का स्रोत था। वह स्वयं जनता की फरियादें सुनता था। इसके लिए उसने दिन और समय निश्चित कर रखे थे। सम्राट के नीचे 'सदर-उस-सुदुर' (सद्रे-जहाँ अथवा प्रधान सदर) नामक पदाधिकारी था। उसके नीचे 'काजी-उल-कुजात' अर्थात् प्रधान काजी अथवा मुख्य न्यायाधीश था। वह नगरों और प्रान्तीय राजधानियों में काजियों (न्यायाधीशों) की नियुक्तियां करता था। और उसके निर्णयों के विरुद्ध अपीलों को सुनता था। उस युग में आजकल की भाँति नियमित न्यायालय न थे। लिखित कानून भी नहीं थे। न्ययाधीशों से निष्पक्ष न्याय की आशा की जाती थी। परन्तु तत्कालीन विवरणों से पता चलता है कि कई न्यायाधीशों का नैतिक स्तर गिरा हुआ था। मृत्यु दण्ड के लिए सम्राट से अनुमति लेना आवश्यक था। गांवों में ग्राम पंचायतें न्याय का काम करती थीं।

सामाजिक सुधार—अकबर ने हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्मावलम्बियों में उत्पन्न अनेक सामाजिक कुरीतियों को दूर करने का प्रयास किया। दास प्रथा समाप्त कर दी गई। बाल-विवाह विपिद्ध कर दिया और शती-प्रथा पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। स्वेच्छा से सती होने वाली स्त्रियों को नहीं रोका जाता था, अपितु बरबस सती होने को रोका गया। लड़के-लड़कियों के विवाह की आयु बढ़ादी गई तथा बहुपत्नी प्रथा को रोकने का प्रयास किया गया। विधवा विवाह को प्रोत्साहित किया गया। नर-बलि और पशु-बलि का निशेध किया गया। अन्तर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहित किया गया। मद्यपान पर प्रतिबन्ध लगाया गया। भिक्षावृत्ति को समाप्त करने का प्रयास किया गया। राजपूतों में व्याप्त कन्या वध को दूर करने का प्रयत्न किया गया। वेश्यावृत्ति को रोकने का प्रयास किया गया। इन सामाजिक सुधारों से हिन्दुओं में व्याप्त हीनता तथा दयनीयता की भावना कम हो गई और उन्होंने अकबर को अपना पूर्ण समर्थन और सहयोग दिया।

अकबर ने मुस्लिम समाज में प्रचलित दोषों को भी दूर करने का प्रयास किया। मद्यपान और बहुविवाह का निषेध, वेश्यागमन पर प्रतिबन्ध, युद्धबन्दियों को दास बनाने की प्रथा का निषेध किया गया। बारह वर्ष की आयु के पूर्व 'खतना' करने पर रोक लगा दी गई।

कला और साहित्य - अकबर ने सभी ललित कलाओं को संरक्षण दिया। उसका मुख्य ध्येय कला के क्षेत्र में हिन्दू मुस्लिम दोनों कला-शैलियों का सुन्दर समन्वय करना था। अकबर के दरबार में चित्रकारों का अच्छा जमघट था। उसने

ईरान से भी कई चित्रकारों को ग्रामन्त्रित किया जिसके परिणामस्वरूप ईरानी चित्रकला मुगल दरबार में प्रचलित हुई। अकबर ने ईरानी और भारतीय दोनों शैलियों का समन्वय किया और इससे एक नयी मुगल चित्र शैली का विकास हुआ। इस शैली में विभिन्न प्रकार के आकृति चित्र और मुगल दरबार तथा हरम के शाही जीवन के चित्र बनाये जाते थे। अब्दुल फजल ने जिन 17 प्रमुख चित्रकारों के नाम गिनाये हैं जिनमें 13 हिन्दू हैं। हिन्दू चित्रकारों में दसवन्त, बसावन, साँवलदास आदि प्रमुख माने जाते थे। इन चित्रकारों की प्रशंसा में अब्बुल फजल ने लिखा है कि 'ये वास्तविक वस्तु के सौन्दर्य को निखार कर रख लेते है और इस समस्त भू-मण्डल में उनकी बराबरी कोई नहीं कर सकता है।' ईरानी चित्रकारों में अब्दुलसमद सबसे प्रमुख था। उसे 'कलाकोविद' या 'शीरी कलम' (मधुर लेखनी) के नाम से पुकारा जाता था।

स्थापत्य कला के क्षेत्र में भी अकबर ने हिन्दू और मुस्लिम दोनों कला शैलियों का सुन्दर समन्वय करने का अथक् प्रयास किया। इस समय में प्रचलित हिन्दू स्थापत्य शैली की मुख्य विशेषयाएँ थीं—फटी हुई छतें, बाहर निकले हुए छज्जे, अत्यधिक अलंकृत स्तम्भ, नक्काशीदार महराबें आदि। मुस्लिम शैली की विशेषतायें थीं—खुली आयताकार इमारतें, अर्द्ध चन्द्राकार सादी महराबें, झरोखे, लम्बी-पतली मीनारें, गुम्बद आदि। अकबर ने दोनों शैलियों का समन्वय कर एक नवीन शैली को अपनाया। उसकी इस नवीन शैली की अभिव्यक्ति उसके फतेहपुर-सीकरी के भवनों दीवान-ए-खास, मरियम का महल, जोधाबाई का महल, पंचमहल, आगरे के किले में जहांगीर महल आदि देखने को मिलती हैं।

संगीत कला के क्षेत्र में भी अकबर ने समन्वय की नीति को अपनाया। उसके दरबार में हिन्दू और मुसलमान दोनों ही संगीतज्ञ रहते थे। इनमें तानसेन सबसे अधिक प्रसिद्ध था।

इस प्रकार, अकबर की समन्वय की नीति के फलस्वरूप कई नवीन शैलियों का प्रादुर्भाव हुआ तथा चित्रकला, स्थापत्यकला और संगीत में एक राष्ट्रीय शैली प्रचलित हुई जो अकबर के समन्वय और राष्ट्रीय विचारों की प्रतीक थी।

अकबर स्वयं शिक्षित न था, परन्तु उसने अपनी उदारता से उस वातावरण को स्थापित किया जिससे उसके समय में साहित्यिक प्रगति सबसे अधिक हुई। उसने फारसी भाषा को राजभाषा बनाया और संस्कृत, अरबी, तुर्की, यूनानी आदि भाषाओं की श्रेष्ठ पुस्तकों का अनुवाद करवाया। उसके समय में अनेक विद्वानों को राज्याश्रय प्राप्त था। बैराम खाँ का पुत्र अब्दुर्रहीम खानखाना एक उत्कृष्ट विद्वान, फारसी और हिन्दी का प्रसिद्ध कवि था। अब्बुल फजल और फैजी दोनों भाई थे जो अपने युग के प्रसिद्ध लेखक थे। अब्बुल फजल ने 'अकबरनामा' और 'आइने-ए-अकबरी' की रचना की। फैजी ने संस्कृत साहित्य का फारसी में अनुवाद करके नाम कमाया। राजपूत राजा पृथ्वीसिंह राठौड़ था, जिसने 'बेलीकृष्ण रुक्मनीरे' की रचना की। राजदरबार से दूर, महाकवि गोस्वामी तुलसीदास अपने अमर महाकाव्य की रचना

में लगे थे। ब्रज भाषा साहित्य में सूरदास और केशवदास जैसे कवि शिरोमणि उत्पन्न हुए। फारसी साहित्य की अत्यधिक उन्नति हुई। अब्बुल फजल के ग्रन्थों के अलावा निजामुद्दीन अहमद की 'तबकात-ए-अकबरी', गुलबदन बेगम का 'हुमायूँ नामा' और बदायूँनी का 'मुन्तखब-उत-तवारीख' अधिक प्रसिद्ध हैं।

मूल्यांकन—भारत पर मुसलमानों के आक्रमण से लेकर शेरशाह तक जितने भी शासक हुए हैं, उनमें अकबर पहला शासक था जिसने कि राष्ट्रीय राजतन्त्र की स्थापना की। इस सम्बन्ध में उसे शुरू से ही अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। यद्यपि वह निरक्षर था, परन्तु उसने सांसारिक जीवन की पाठशाला में अनुभव प्राप्त किया था और अपने इसी अनुभव के बल पर वह मार्ग में आने वाली कठिनाइयों को दूर कर अपनी मंजिल की तरफ अग्रसर होने में सफल रहा। वह पहला मुसलमान श सक था जिसने यह अनुभव किया था कि देश की बहुसंख्यक जनता के सहयोग के बिना कोई भी योजना सफलता पूर्वक कार्यान्वित नहीं की जा सकती। इसी विचार से प्रेरित होकर उसने गैर मुसलमानों के प्रति उदार एवं सहिष्णुता की नीति अपनायी जिसे 'सुलहे-कुल' की नीति भी कहते हैं। वह भारत का पहला मुसलमान शासक था जिसने अपनी सम्पूर्ण प्रजा के साथ समान व्यवहार किया और राज्य की नीति का आधार राष्ट्रीय हित को स्वीकार किया। अकबर का भारत को राजनैतिक एकता प्रदान करने का प्रयत्न, एक शासन-व्यवस्था, एक अर्थ और लगान-व्यवस्था, एक कर व्यवस्था, सभी को योग्यता के आधार पर राजकीय सेवाओं में उच्चतम स्थान प्राप्त करने की सुविधा, राजपूतों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध और सम्म न की नीति, सभी धर्मों को समान सुविधा और आदर तथा ध मिक दृष्टि से एकता लाने का प्रयत्न, सभी भाषाओं की प्रगति में सहयोग सांस्कृतिक एकता का प्रयत्न आदि सभी कार्य ऐसे थे जो राष्ट्रीय हित और प्रगति के आधार पर किये गये थे। इसलिए उसे एक राष्ट्रीय सम्राट कहा जाता है।

विभिन्न विद्वानों और इतिहासकारों ने अपने-अपने ढ़ंग से अकबर के गुणों का मूल्यांकन करते हुए उसे विश्व का एक महान् शासक बताया है। लेनपूल ने उसे 'भारत में हुए बादशाहों में सर्वश्रेष्ठ और साम्राज्य का वास्तविक संस्थापक एवं व्यवस्थापक कहा है। डॉ० ईश्वरी प्रसाद ने लिखा है कि 'अकबर भारत के इतिहास में ही नहीं वलिक विश्व इतिहास में हुए अद्वितीय बादशाहों में से एक है।' अकबर का आलोचक इतिहासकार स्मिथ भी इस निर्णय पर पहुँचता है कि 'वह मनुष्यों का जन्मजात बादशाह था, इतिहास के सर्वाधिक शक्तिशाली बादशाहों में से एक होने का उसका न्यायपूर्ण अधिकार है। निःसन्देह, उसके इस अधिकार का आ धार उसके प्रकृतिप्रद असाधारण गुण, उसके मौलिक विचार और उसकी अद्वितीय सफलताएँ थीं। प्रो० के टी. शाह ने लिखा है कि "अकबर इतना महान् इसलिए था कि वह समग्र रूप से भारतीय हो गया था। उसकी प्रतिभा ने हिन्दू और मुसलमानों दोनों जातियों को एक महान् शानदार साम्राज्य की समान सेवा और समान नागरिकता के बन्धनों द्वारा एक राष्ट्र में ढालने के कार्य की सम्भावना का अनुभव किया और

उसके साहस ने यह कार्य पूरा किया ।" वस्तुतः वह महान् सम्राट था, क्योंकि वह जानता था कि एक अच्छा शासक वह होता है जो एक साथ ही अपनी प्रजा की अधीनता, श्रद्धा और भक्ति पा सके तथा उसमें अपने प्रति भय उत्पन्न कर सके। वह सर्वप्रिय सम्राट था।

अभ्यास के लिए प्रश्न

1. आपके विचार से अकबर को महान् सम्राट क्यों कहना चाहिए ?
2. अकबर की राजपूत नीति की व्याख्या कीजिए। उसके क्या परिणाम निकले ?
3 अकबर के धार्मिक विचारों का उल्लेख करते हुए 'दीन-ए-इलाही' का महत्व समझाइए ।
4. अकबर की शासन-व्यवस्था का संक्षेप में उल्लेख कीजिए।

अपने अध्ययन की जाँच कीजिए

1. सही उत्तर का क्रमांक कोष्ठक में लिखिए—
   1. अकबर का जन्म किस स्थान पर हुआ था ?
      (क) नगरकोट (ख) अमरकोट
      (ग) स्यालकोट (घ) दिल्ली।
   2. अकबर के समय 'विक्रमादित्य' की उपाधि किस व्यक्ति ने धारण की थी ?
      (क) राणा प्रताप (ख) हेमू
      (ग) मानसिंह (घ) टोडरमल। ( )
   3. अकबर का सौतेला भाई कौन था ?
      (क) बैराम खाँ (ख) मिर्जा हकीम
      (ग) अब्बुल फजल (घ) तार्दीबेग । ( )
   4. दक्षिण के किस मुस्लिम राज्य ने सर्वप्रथम अकबर की अधीनता स्वीकार की ?
      (क) खानदेश (ख) अहमदनगर
      (ग) बीजापुर (घ) गोलकुण्डा । ( )
   5. 'शीरी कलम' के नाम से प्रसिद्ध कलाकार कौन था ?
      (क) दशवन्त (ख) बसावन
      (ग) अब्दुस् समद (घ) तानसेन।
2. केवल एक-एक पंक्ति में प्रश्नों के उत्तर दीजिए—
   1. कामरान ने बालक अकबर को किस दुर्ग की दीवार पर लटका दिया था ?
   2. बाजबहादुर कौन था ?
   3. जयमल राठौड़ किसकी गोली का निशाना बना ?
   4. अकबर ने असीरगढ़ का दुर्ग किन साधनों से जीता था ?
   5. मीर बख्शी किस विभाग का अधिकारी था ?

3. पाँच-सात पंक्तियों में उत्तर दीजिए—

1. बैराम खाँ कौन था ? उसके पतन के मुख्य कारण क्या थे ?
2. राजपूतों का सहयोग प्राप्त करने के लिए अकबर ने कौन-कौन से कदम उठाये थे ?
3. हल्दी घाटी का युद्ध क्यों प्रसिद्ध है ?
4. चाँदबीबी कौन थी ? उसकी मृत्यु कैसे हुई ?
5. इबादतखाने का निर्माण क्यों करवाया गया था ?

पूरक अध्ययन के लिए ग्रन्थ

1. व्ही. ए स्मिथ : महान मुगल अकबर
2. ए. एल. श्रीवास्तव : अकबर महान्, भाग 1–2
3. राहुल सांस्कृत्यायन : अकबर
4. जे. एम. शेलेट : अकबर, भाग 1–2

---

4. जहाँगीर और शाहजहाँ

1. जहाँगीर

जहाँगीर का जन्म बहुत से सन्तों और फकीरों की मिन्नतों तथा फतेहपुर सीकरी के शेख सलीम चिश्ती के आशीर्वाद का परिणाम था। 30 अगस्त, 1569 ई के दिन उसका जन्म हुआ था। उसकी माँ आमेर की राजकुमारी थी। जहाँगीर के जन्म के पहले अकबर के जितने भी पुत्र हुए थे वे सब बाल्यावस्था में ही चल बसे थे। इसलिए जहाँगीर का नाम शेख सलीम के नाम पर मुहम्मद सुल्तान सलीम रखा गया, परन्तु अकबर उसे प्यार से 'शेखू बाबा' ही कहता था।

यद्यपि अकबर स्वयं निरक्षर था, लेकिन उसने अपने पुत्रों की शिक्षा की कभी उपेक्षा नहीं की। सलीम को उस समय उत्तम विद्वानों और शिक्षकों के संरक्षण में रखा गया। परन्तु लाड़-प्यार के वातावरण में पला सलीम, मुसीबतों और संकटों का महत्व नहीं समझ पाया। अभाव और संघर्ष से जूझने का अवसर नहीं पा सका। अथक परिश्रम और साधन जुटाने की कला नहीं सीख पाया। इन्हीं बातों से तो चरित्र का निर्माण होता है और ये ही बातें वह प्राप्त नहीं कर सका। परिणाम यह निकला कि अच्छे से अच्छे शिक्षक से भली-भाँति पुस्तकीय ज्ञान प्राप्त करने के बाद भी वह जीवन भर इच्छा शक्ति और दृढ़ संकल्प का अभाव अनुभव करता रहा और अपने से प्रभावशाली व्यक्तित्व के सामने हमेशा झुकता रहा।

1585 ई. में सलीम का विवाह आमेर के राजा भगवानदास की पुत्री और राजा मानसिंह की बहिन मानबाई के साथ हुआ। सलीम का सबसे बड़ा लड़का खुसरो इसी की सन्तान था। 1586 ई. में उसका विवाह राजा उदयसिंह की पुत्री जोधबाई (जगत गोसाईं) से हुआ जिसने शाहजहाँ (खुर्रम) को जन्म दिया। सलीम के तीसरे लड़के परवेज का जन्म उसकी बेगम 'साहिब-ए-जमाल' से और छोटे पुत्र शहरयार का जन्म एक रखैल से हुआ था।

सलीम का विद्रोह—अकबर के अन्तिम वर्ष अपने लाड़ले पुत्र के विद्रोह के कारण दुःख और निराशा में गुजरे। सलीम प्रौढ़ हो चुका था और अकबर का स्वास्थ्य अभी अच्छा था। सलीम के सयम का बाँध टूट गया। बुरे तथा स्वार्थी साथियो की संगत ने उसे अपने बाप के विरुद्ध विद्रोह करके सिंहासन हथियाने के लिए उत्तेजित किया और उसने विद्रोह का झण्डा फहरा दिया। अवसर भी ऐसा खोजा गया जब बूढ़ा अकबर दक्षिण भारत के शक्तिशाली दुर्ग असीरगढ़ का घेरा डाले पड़ा था। सलीम के विद्रोह से मुगल सरकार का अस्तित्व खतरे में पड़ गया। यह तो अकबर की सुसंगठित शासन-पद्धति और उसके स्वयं का प्रभावशाली व्यक्तित्व ही था जिसने मुगल साम्राज्य को विनाश से बचा लिया। अन्त में, राज-परिवार की महिलाओं के बीच-बचाव से पिता-पुत्र में समझौता हो गया। हालांकि इससे कुछ दिन पहले ही सलीम ने अकबर के परमप्रिय मित्र अब्दुल फजल को वीरसिंह बुन्देले के हाथों मरवा डाला था। परन्तु चूंकि अकबर के दो अन्य पुत्रों—दानियाल और मुराद—की मृत्यु हो चुकी थी। इसलिए अकबर को विवश होकर सलीम को क्षमा करना पड़ा।

सलीम के इस प्रकार के व्यवहार से खिन्न होकर अकबर के कुछ प्रमुख अमीरों ने उसे उत्तराधिकार से वंचित करने का षड्यन्त्र भी रचा, परन्तु वह सफल नहीं हुआ। अकबर की मृत्यु के बाद 3 नवम्बर, 1605 ई. (पुराने हिसाब से 24 अक्तूबर) को आगरे के किले में सलीम 'नूरुद्दीन मुहम्मद जहाँगीर बादशाह गाजी' की उपाधि के साथ मुगल सिंहासन पर बैठा। अकबर की परम्परा को कायम रखते हुए जहाँगीर ने अपना शासन उदारता से आरम्भ किया।


जहाँगीर

खुसरो का विद्रोह—मुगलों में उत्तराधिकार का निश्चित नियम न होने से बाप-बेटे और भाई भाई में सिंहासन के लिए प्रायः भयंकर संघर्ष होते रहे थे। स्वयं जहाँगीर ने अपने पिता अकबर के विरुद्ध विद्रोह किया था। सिंहासन पर बैठते ही उसे अपने पुत्र खुसरो के विद्रोह का

सामना करना पड़ा। अपने अन्तिम दिनों में अपने दूसरे पुत्र शाहजहाँ का विद्रोह देखना पड़ा।

खुसरो का लालन-पालन अकबर की देखरेख में हुआ था। वह अत्यधिक सुन्दर, उदार, शिष्ट और अच्छे गुणों से सम्पन्न युवक था। अकबर के अन्तिम दिनों में उसके श्वसुर मिर्जा अजीज कोका और मामा राजा मानसिंह ने सलीम के स्थान पर उसे सिंहासन पर बैठाने की योजना बनाई थी परन्तु योजना विफल हो गई और सलीम बादशाह बन गया। इस घटना से पिता-पुत्र में तनाव पैदा हो गया जो कभी न मिट सका। जहाँगीर ने खुसरो को आगरा दुर्ग में नजरबन्द कर दिया। परन्तु एक दिन खुसरो आगरा दुर्ग से भाग निकला और विद्रोह का झण्डा फहरा दिया। भागते-भागते वह लाहौर की तरफ बढ़ा। मार्ग में उसे सिक्खों के पाँचवें गुरु अर्जुन से कुछ रुपया और आशीर्वाद भी मिला। जहाँगीर ने इस अवसर पर जितनी सतर्कता के साथ काम किया उतना शायद जीवन में कभी न कर पाया था। एक मास के अन्दर खुसरो का विद्रोह दबा दिया गया। उसके कई साथियों को प्राणदण्ड दिया गया। उत्तेजनावश जहाँगीर ने गुरु अर्जुन को भी प्राणदण्ड दे डाला। इसकी टीका करते हुए डॉ० बेनीप्रसाद ने लिखा है कि "जहाँगीर की भूल की गम्भीरता को कम न करते हुए हम यह बताना चाहते है कि यह न्यायपूर्वक कहना पड़ेगा कि यह एक ही प्राणदण्ड था और राजनीतिक कारणों से दिया गया था। अन्य सिक्खों को नहीं सताया गया। सिक्ख धर्म पर भी कोई पाबन्दी नहीं लगाई गयी।" जहांगीर ने ऐसा चाहे जिस आधार पर किया हो इसका परिणाम अच्छा नहीं निकला। सिक्ख सम्प्रदाय मुगलों का शत्रु बन गया। इस विद्रोह से उत्पन्न अव्यवस्था का लाभ उठाकर ईरान ने कंधार का दुर्ग छीनने का प्रयत्न किया था जो सफल नहीं हो पाया। खुसरो को सख्त निगरानी में रखा गया। जब जहांगीर काबुल में था तो खुसरो के पक्ष में एक और षड्यन्त्र रचा गया जो विफल रहा। परन्तु इससे जहाँगीर खिन्न हो गया। और उसने खुसरो को अन्धा करके कारागाह में डाल दिया कुछ अर्से बाद उसका इलाज करवाया गया जिससे उसको कुछ दिखने तो लग गया, लेकिन वह पूर्ण स्वतन्त्र कभी नहीं हो सका। उसके भाग्य में उसका दुःखद अन्त ही लिखा था।

मेवाड़ की स्वतन्त्रता का अन्त – मेवाड़ की स्वतन्त्रता का अन्त जहाँगीर के शासनकाल की महत्त्वपूर्ण घटनाओं में से एक है। जिस मेवाड़ को अकबर महान् अपनी समस्त शक्ति एवं कूटनीति से नहीं झुका पाया था, उसी मेवाड़ को जहाँगीर के शासनकाल में मुगलों की अधीनता स्वीकार करने के लिए विवश हो जाना पड़ा।

राणा प्रताप की मृत्यु (1597 ई.) के बाद उसका बड़ा पुत्र अमरसिंह उसका उत्तराधिकारी बना। यद्यपि वह अपने प्रसिद्ध पिता के समान शूरवीर तथा पराक्रमी नहीं था, फिर भी उसने अपने घराने की शान के अनुकूल व्यवहार करते हुए मुगलों से संघर्ष जारी रखा। जहाँगीर ने सम्राट बनते ही मेवाड़ विजय की तरफ ध्यान दिया और अपने योग्य सेनानायकों को भेजता रहा। 1605 से 1614

ई. तक महाराणा अमरसिंह ने उन सभी का दृढ़तापूर्वक मुकाबला किया, परन्तु अन्त में 1615 ई. में उसे शाहजादा खुर्रम के सामने नतमस्तक होना पड़ा और संधि करनी पड़ी। मेवाड़ और मुगलों का यह संघर्ष दो असमान पक्षों का युद्ध था। जहां पिछले 50 वर्षों में मुगल साम्राज्य दिन-प्रतिदिन शक्ति सम्पन्न बनता गया वहां मेवाड़ राज्य साधनहीन होता चला गया। मेवाड़ के राणाओं और सामन्तों को ही नहीं अपितु सर्व साधारण को भी काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा था। बार-बार होने वाले मुगल आक्रमणों से व्यापार-वाणिज्य ही नहीं अपितु कृषि कार्य भी चौपट हो गया था। अतः अमरसिंह और उसके सामन्तों ने दूरदर्शिता से काम लेते हुए सन्धि करना ही उचित समझा। क्योंकि अब अधिक समय तक मेवाड़ की स्वतन्त्रता को कायम रखना असम्भव हो गया था।

जहाँगीर ने भी उदारता का परिचय दिया और राणा अमरसिंह के साथ सम्मानजनक शर्तों पर संधि कर ली। इसमें दो बातें मुख्य थीं—एक मेवाड़ के राणा को व्यक्तिगत रूप में मुगल दरबार में उपस्थित होने से छूट मिलना और दूसरी मेवाड़ राजघराने से वैवाहिक सम्बन्ध पर जोर न देना। इस प्रकार, मेवाड़ के प्रतिरोध का अन्त हुआ और उसके साथ-साथ हिन्दू स्वतन्त्रता का आखिरी दीपक भी बुझ गया। अमरसिंह के पुत्र युवराज कर्ण को मुगल-दरबार में 5000 सवार और 5000 जात का मनसब प्रदान किया गया।

दक्षिण भारत—अकबर का ध्येय सम्पूर्ण भारत को एकछत्र शासन के अन्तर्गत लाना था। परन्तु वह अपने जीवनकाल में इस कार्य को पूरा न कर पाया। जहाँगीर ने उसके अधूरे कार्य को पूरा करने का प्रयत्न किया। मेवाड़ के मामले में उसे सफलता भी मिली। परन्तु दक्षिण भारत में लाख प्रयत्न करने के बाद भी सफलता न मिली। क्योंकि इस समय दक्षिण में एक ऐसे व्यक्ति का अभ्युदय हो चुका था जैसा उससे पहले कोई नहीं हुआ था। उस व्यक्ति का नाम था मलिक अम्बर।

मलिक अम्बर वैसे तो अबीसीनियन था परन्तु उसने दक्षिण भारत को ही अपना देश मान लिया था। एक सामान्य स्थिति से उन्नति करते-करते वह अहमदनगर राज्य का प्रधान मन्त्री बन गया था। जब राजधानी अहमदनगर पर मुगलों का अधिकार हो गया तो उसने खड़कीनगर को नई राजधानी बनाकर अहमदनगर राज्य के अस्तित्व को कायम रखा। वह एक महान् सेनानायक, राजनीतिज्ञ और प्रशासक था। उसने टोडरमल की लगान व्यवस्था के आधार पर राज्य की लगान व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण सुधार करके राज्य की आर्थिक स्थिति को सुधारा। उसने यह भली-भाँति समझ लिया था कि आमने-सामने के युद्धों में मुगल साम्राज्य की विशाल सेना का मुकाबला करना असम्भव है। इसलिए उसने उनके विरुद्ध 'छापामार युद्ध पद्धति' (गुरिल्ला युद्ध पद्धति) को अपनाया और इस काम के लिए स्थानीय निवासियों—मराठों-को अपनी सेना में भर्ती किया। उसने मराठों को शत्रु पर अचानक आक्रमण करना, शत्रु के रसद मार्गों को रोकना, उस पर असावधान स्थिति में आक्रमण करना और उसे प्रलोभन देकर अपनी सुविधा के अनुकूल स्थानों पर ले जाकर लड़ना आदि

विभिन्न छापामार युद्ध-नीति के तरीके समझाइए। इस प्रकार मराठों को प्रशिक्षित कर उसने मुगलों के विरुद्ध उनकी शक्ति का उपयोग किया दूसरी तरफ, मुगल सेनानायक और अधिकारी आपसी आलोचना तथा एक दूसरे को असफल बनाने में उलझ गए। नतीजा यह निकला कि खानखाना, आसफ खां, खानेजहान लोदी, महावतखां, अब्दुल्ला खाँ जैसे योग्य एवं पराक्रमी सेनानायकों के प्रयत्नों के उपरान्त भी मुगलों की प्रगति अवरुद्ध ही रही और मलिक अम्बर अहमदनगर की सीमाओं को बढ़ाने में सफल रहा।

1616 ई. में मेवाड़ अभियान के सफल सेनानी राजकुमार खुर्रम को 'शाह' की उपाधि एवं दक्षिण अभियान की सर्वोच्च कमान के साथ दक्षिण भेजा गया। अम्बर ने परिस्थिति को परखकर सन्धि कर ली। बालघाट का भू-क्षेत्र, अहमदनगर का किला तथा कुछ अन्य किले मुगलों को देने पड़े। खानखाना को दक्षिण कासूबेदार नियुक्त किया गया और खुर्रम वापिस लौट गया। मुगल दरबार में उसका शानदार स्वागत किया गया। उसे शाहजहाँ की उपाधि, 20,000 सवार और 30,000 जात का मनसब और गुजरात की सूबेदारी प्रदान की गई। परन्तु शाहजहाँ की दक्षिण की सफलता केवल नाम मात्र की थी। जैसा कि डॉ० त्रिपाठी ने लिखा है कि "मुगलशक्ति दक्षिण में वहीं पर थी जहां पर कि अकबर ने दक्षिण को छोड़ते समय छोड़ी थी।"

मलिक अम्बर ने बहुत समय तक इस सन्धि का पालन नहीं किया उसने सन्धि में खोए प्रदेशों पर पुनः अधिकार जमा लिया। अतः शाहजहाँ को पुनः दक्षिण भेजा गया। 1621 ई. में मलिक अम्बर ने पुनः सन्धि कर ली और मुगलों से जीते हुए सम्पूर्ण प्रदेश वापस कर दिए और 14 लाख वार्षिक आय का भू क्षेत्र भी मुगलों को सौंपना पड़ा। शाहजहां के विद्रोह ने मुगलों की सफलता पर पानी फेर दिया। 1626 ई. में मलिक अम्बर की मृत्यु हो गयी, परन्तु दक्षिण में मुगलों की स्थिति में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हो पाया।

नूरजहाँ—डॉ० बेनीप्रसाद ने लिखा है कि "मध्ययुगीन इतिहास में नूरजहाँ की तुलना में अन्य किसी का भी व्यक्तित्व इतनी रुचिकर प्रेमकथा के साथ जुड़ा हुआ नहीं है। जहांगीर के समय की किसी अन्य घटना ने इतना आकर्षित नहीं किया जितना कि नूरजहाँ के साथ उसके विवाह ने। 15 वर्ष तक यह विख्यात महिला मुगल साम्राज्य में सबसे अधिक शक्तिशाली और प्रभावशाली बनी रही।" नूरजहाँ का बचपन का नाम मेहरुन्निसा था और वह मिर्जा गियासबेग (गयासुद्दीन) की पुत्री थी। गियास फारस का रहने वाला था। स्वदेश में जब भाग्य ने उसका साथ नहीं दिया तो वह भारत चला आया। मार्ग में उसकी पत्नी ने एक पुत्री को जन्म दिया जिसका नाम मेहरुन्निसा रखा गया। 17 वर्ष की आयु में मेहरुन्निसा का विवाह एक ईरानी सैनिक अधिकारी अलीकुली जो मुगल दरबार की सेवा में था, के साथ कर दिया गया। आगे चलकर अलीकुली खाँ 'शेर अफगान' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। जहांगीर ने उसे बंगाल में बर्दवान की जागीर प्रदान की। कुछ दिनों बाद बंगाल के सूबेदार कुतुबुद्दीन के साथ शेर अफगान की झड़प हो गई और वे दोनों

मारे गए। विधवा मेहरुन्निसा और उसकी लड़की को दिल्ली लाकर शाही हरम में रखा गया। जहांगीर की उस पर दृष्टि पड़ गयी और अन्त में उसने उसके साथ विवाह कर लिया। मेहरुन्निसा साम्राज्य की मलिका बन गयी। उसका नाम भी बदल गया, पहले 'नूरमहल' और फिर 'नूरजहाँ'। अपनी योग्यता तथा प्रतिभा के बल पर वह मुगल साम्राज्य की वास्तविक शासक बन गई।

यह नूरजहाँ की विशुद्ध ऐतिहासिक कहानी है। परन्तु उसके बारे में जो रंगीन कहानी प्रचलित है, वह इससे काफी भिन्न है। इस रंगीन कहानी में सलीम



नूरजहाँ

और मेहरू की प्रेम-चर्चा, अकबर का असन्तोष, बादशाह बनने के बाद जहाँगीर द्वारा शेर अफगान की हत्या करवाना, मेहरुन्निसा द्वारा शुरू में जहाँगीर के प्रेम को ठुकराना और अन्त में उससे शादी कर लेने का उल्लेख है। इसमें सच्चाई कम और रंगीनी ज्यादा है। डॉ० बेनीप्रसाद, डॉ० त्रिपाठी, डॉ० एस आर. शर्मा आदि विद्वान भी ऐसा ही मानते हैं जबकि डॉ० ईश्वरीप्रसाद और डॉ० श्रीवास्तव सलीम और मेहरुन्निसा के पहले के प्रेम-सम्बन्धों को सही मानते हैं और जहांगीर को शेर अफगान की हत्या के लिए उत्तरदायी ठहराते हैं।

नूरजहाँ का प्रभुत्व काल जहाँगीर ने एक बार मजाक में कहा था कि "मुझे एक सेर शराब और आधा सेर माँस के अतिरिक्त कुछ और नहीं चाहिए।" निस्संदेह, ऐसी स्थिति में शासन पर नूरजहाँ का प्रभाव बढ़ना स्वाभाविक था। नूरजहाँ शिक्षित और तीक्ष्ण बुद्धि की अत्यधिक सुन्दर महिला थी। फारसी में उसने कविताएँ लिखी थीं। वस्त्र, श्रृंगार और आभूषणों का उसे शौक था और उसमें उसने नये-नये ढग और तरीके निकाले थे। शासन संचालन में वह निपुण थी। उसमें करुणा और उदारता भी थी। वह विद्वानों और निर्धनों की सहायता करती थी, परन्तु वह एक महत्त्वाकाँक्षी महिला थी। वह शासन सत्ता को अपने हाथ में रखना चाहती थी।

नूरजहाँ के प्रभुत्वकाल को दो हिस्सों में बाँटा जा सकता है--पहला, 1611 से 1622 ई तक और दूसरा 1622 से 1627 ई. तक। अपने विवाह के बाद कुछ वर्षों में ही नूरजहाँ ने अपना एक दल बना लिया था। जिसे 'नूरजहाँ' के नाम से पुकारा जाता था। इस दल में नूरजहाँ, उसका पिता एतमादुदौला, उसकी माँ अस्मत बेगम, उसका भाई आसफखाँ और शाहजादा खुर्रम था। इस अवधि में नूरजहाँ का प्रभाव और लोकप्रियता बढ़ी। उसके सम्बन्धियों को उच्च पद प्राप्त हुए। किसी भी व्यक्ति को भूमि उस समय तक दान नहीं की जाती थी जब तक नूरजहाँ की स्वीकृति न ली गयी हो। उसने जहाँगीर के साथ 'झरोखा दर्शन' में भाग लेना शुरू कर दिया। सिक्कों पर उसका नाम उत्कीर्ण होने लगा और जहाँगीर के आदेश पत्रों पर जहाँगीर के हस्ताक्षरो के अतिरिक्त बेगम नूरजहाँ का नाम भी आने लगा। नूरजहाँ के माँ-बाप उसकी महत्त्वाकाँक्षाओं को नियन्त्रित करने में सफल रहे। इसलिए प्रथमकाल में नूरजहाँ को पर्याप्त सफलता मिली। मुगल साम्राज्य का विकास हुआ और देश में शान्ति एवं समृद्धि रही।

परन्तु दूसरे काल में उसका गुट छिन्न-भिन्न हो गया। उसके माँ-बाप चल बसे। अब उसकी महत्त्वाकांक्षाओं को नियन्त्रित करने वाला कोई न था। उधर जहाँगीर का स्वास्थ्य भी खराब रहने लगा और उसने शासन-कार्यों में नूरजहाँ को बहुत अधिक स्वतन्त्रता दे दी। शाहजहाँ और नूरजहाँ भी एक दूसरे के विरोधी बन गए। इसकी शुरूआत 1621 ई. में ही हो गई थी। जबकि नूरजहाँ ने शेर अफगान से उत्पन्न अपनी पुत्री लाड़ली बेगम की शादी जहाँगीर के सबसे छोटे पुत्र शहरयार से कर दी। वह जहाँगीर के बाद शहरयार को बादशाह बनाकर शासन सत्ता अपने हाथ में रखना चाहती थी। शाहजहाँ के बादशाह बन जाने पर नूरजहाँ ऐसा नहीं कर सकती थी क्योंकि शाहजहाँ स्वयं योग्य और प्रभावशाली व्यक्ति था डॉ० बेनीप्रसाद ने लिखा है कि, "एक ही साम्राज्य में नूरजहाँ और शाहजहाँ जैसे दो सत्ताप्रिय व्यक्तियों के लिए स्थान नहीं हो सकता था।" ऐसी स्थिति में नूरजहाँ ने शाहजहाँ की शक्ति को नष्ट करने का प्रयत्न किया। शाहजहाँ अपने आपको भावी बादशाह समझता था। वह अपने बड़े भाई खुसरो को पहले ही रास्ते से हटा चुका था। परन्तु नूरजहाँ ने शहरयार को बादशाह बनाने की सोची तो शाहजहाँ को

विद्रोह करना पड़ा। इस अवसर पर नूरजहाँ का भाई आसफखाँ ऊपरी तौर पर तो बहिन के पक्ष में बना रहा, परन्तु गुप्त रूप से अपने दामाद शाहजहाँ का समर्थन करता रहा। अतः नूरजहाँ ने अपने प्रमुख विरोधी अमीर महाबतखाँ से समझौता कर लिया और उसकी सहायता से शाहजहाँ के विद्रोह को दबा दिया गया। शाहजहाँ को आत्म-समर्पण करना पड़ा। परन्तु इससे महाबतखाँ की प्रतिष्ठा बढ़ गई। वह जहाँगीर का मित्र था, परन्तु नूरजहाँ का शत्रु था। अतः अब नूरजहाँ महाबतखाँ को दबाने का प्रयत्न किया। उस पर गबन और घूँस के झूठे आरोप लगाये गए। महाबतखाँ इस आरोप को सहन न कर सका और मार्च, 1626 ई. में झेलम नदी पर सम्राट जहाँगीर को बन्दी बना लिया। नूरजहाँ वहाँ से भाग निकली थी, परन्तु फिर कुछ सोचकर उसने अपने आपको महाबतखाँ के हवाले कर दिया। महाबतखाँ अपने समय का योग्यतम सेनानायक था और जहाँगीर के लिए वफादार मित्र था परन्तु कुछ दिनों बाद ही नूरजहाँ और जहाँगीर दोनों महाबतखाँ की कैद से भाग निकले। महाबतखाँ भाग कर दक्षिण चला गया और शाहजहाँ से मिल गया। इस प्रकार मुगल राजनीति में नूरजहाँ के प्रभाव ने दो विद्रोहों को जन्म दिया जिन्होंने सम्राट की शक्ति और सम्मान को कम किया।

7 नवम्बर, 1627 ई. (पुराने हिसाब से 28/29 अक्तूबर, 1627 ई) को जहाँगीर की मृत्यु हो गई। लाहौर के निकट एक बाग में उसे दफना दिया गया जहाँ बाद में नूरजहाँ ने एक सुन्दर स्मारक बनवाया। जहाँगीर की मृत्यु के बाद शहरयार और शाहजहाँ के मध्य उत्तराधिकार का संघर्ष लड़ा गया जिसमें शाहजहाँ सफल रहा। नूरजहाँ ने राजनीति से संन्यास ले लिया। 1645 ई. में उसका स्वर्गवास हो गया।

जहाँगीर का यूरोपियों से सम्बंध— वैसे तो वास्को-डि-गामा की यात्रा के साथ ही भारत का यूरोपियन लोगों के साथ सम्बन्ध शुरू हो गया था, परन्तु जहाँगीर के शासनकाल में यह सम्बन्ध काफी बढ़ गया। पुर्तगालियों के साथ उसका झगड़ा हो गया और उसने उनकी समस्त व्यापारिक सुविधाओं को छीन लिया। जैसुएट पादरियों के अनुरोध तथा बीच-बचाव के बाद ही उन्हें फिर से व्यापारिक सुविधाएँ उपलब्ध हो पायीं।

अंग्रेजों की तरफ से भी दो राजदूत जहाँगीर के दरबार में आये थे। अंग्रेजों के लिए भारत में व्यापारिक सुविधाएँ प्राप्त करना ही उसका मुख्य ध्येय था। 1608 ई. में विलियम हॉकिन्स इंग्लैंड के बादशाह जेम्स प्रथम का पत्र लेकर आया। वह तुर्की और फारसी दोनों भाषाएँ जानता था। पुर्तगालियों ने उसके मार्ग में कई प्रकार की बाधाएँ डालीं परन्तु जहाँगीर ने उससे मिलना तथा जेम्स प्रथम द्वारा भेजे गए उपहार लेना स्वीकार कर लिया। हॉकिन्स तीन वर्ष तक जहाँगीर के दरबार में रहा। जहाँगीर उसके व्यवहार तथा बातचीत के ढंग से काफी प्रभावित हुआ था। दूसरा अंग्रेज राजदूत सर टॉमस रो था। वह भी जेम्स प्रथम का पत्र लेकर आया था। उसे एशियाई शासकों के दरबारी शिष्टाचार का काफी

अनुभव था। वह तीन वर्ष तक जहाँगीर के दरबार में रहा और उसे अपने काम में हॉकिन्स की अपेक्षा अधिक सफलता मिली। एक शाही फरमान द्वारा अंग्रेजों को सूरत में व्यापार करने की आज्ञा मिल गई। हॉकिन्स और टॉमस रो दोनों ने ही मुगल दरबार तथा सम्राट के बारे में बहुत कुछ लिखा है।

धार्मिक नीति—जहाँगीर उदार था। उसकी रगों में हिन्दू रक्त था। फिर भी वह अपने पिता की भाँति सहिष्णु नहीं बन पाया था। वह कभी-कभी इस्लाम की कट्टरता और मर्यादा के आगे झुक जाता था। मेवाड़ और कांगड़ा के हिन्दू मन्दिर उसी के आदेश से तोड़े गए थे। उसी के आदेश से अजमेर के वराह मन्दिर की मूर्तियों को नष्ट करके तालाब में फिकवा दिया गया। शिया मुसलमानों को भी कभी कभी उसके क्रोध का शिकार बनना पड़ता था। सिक्खों के साथ उसके संबधों की चर्चा हम पहले कर चुके हैं। परन्तु यह सभी उदाहरण उसकी क्षणिक उत्तेजित मनोवृत्ति के परिणाम थे। अन्यथा उसने प्रत्येक धर्म के प्रति सहिष्णुता की नीति अपनाई थी और अकबर की उदार नीति को जारी रखने का प्रयत्न किया था।

कला और साहित्य—जहाँगीर सौन्दर्य-प्रेमी था। उसे बाग-बगीचों, पेड़-पौधों तथा पशु पक्षियों में अधिक रुचि थी। अतः उसके समय में चित्रकला को विशेष प्रोत्साहन मिला। यह स्वयं भी एक अच्छा चित्रकार था। चित्रकला का श्रेष्ठ पारखी था। सर टॉमस रो ने भी जहाँगीर की इस योग्यता की प्रशंसा की है। उसके दरबार में हिरात के आगारजा और उसका पुत्र अब्दुल हसन, समरकन्द के मुहम्मद नादिर और मुहम्मद मुराद तथा उस्ताद मन्सूर प्रमुख चित्रकार थे। जहाँगीर के संरक्षण के कारण मुगल चित्रकला अपनी चरम सीमा तक पहुँच गई थी।

चित्रकला के प्रति अधिक झुकाव के कारण जहाँगीर वास्तुकला की तरफ विशेष ध्यान नहीं दे पाया। फिर भी उसके समय में जो इमारतें बनीं, वे कला की दृष्टि से अनुपम थीं। सिकन्दरा में अकबर के मकबरे का काम जहाँगीर ने ही पूरा करवाया था। नूरजहाँ ने अपने पिता का आगरे में जो मकबरा बनवाया, वह सौन्दर्य एवं कला की दृष्टि से अनुपम है। उसके द्वारा बनवाई गई लाहौर की मस्जिद भी एक सर्वश्रेष्ठ इमारत है।

जहाँगीर विद्वानों एवं साहित्यकारों का भी आश्रयदाता था। उसके दरबार में कई विद्वान, कवि एवं लेखक थे। जहाँगीर स्वयं भी एक अच्छा लेखक था और उसने अपने परदादा के समान 'तुजुके जहाँगीरी' नाम की आत्मकथा लिखी। निशापुर का नासरी जहाँगीर के दरबार में फारसी का सबसे योग्य कवि था। मौतमिदखाँ ने 'इकबाल नामा-ए-जहाँगीरी' लिखा जो उसके शासन का मान्य ग्रन्थ है। सूफी शरीफ ने योगवशिष्ठ का अनुवाद किया तो गिरधरदास कायस्थ ने रामायण का भाषान्तर किया। बिहारीदास खत्री और किशनदास तम्बोली ने

'सिंहासन बत्तीसी' की रचना की। शेख अब्दुर्रहमान ने गीता का अनुवाद किया। लोकभाषा के कवियों और लेखकों को प्रोत्साहन दिया गया।

व्यक्तित्व और मूल्यांकन— जहाँगीर के चरित्र के विषय में काफी विवाद है। यूरोपियन इतिहासकार प्राय: उसे विलासी तथा असफल शासक बताते हैं जबकि भारतीय इतिहासकारों ने उसे एक न्यायप्रिय और प्रजापालक शासक बताया है। उदाहरणार्थ स्मिथ ने लिखा है कि 'वह कोमलता और निष्ठुरता, न्याय और बुद्धि की चंचलता, सुसभ्यता और पशुता, बुद्धिमत्ता और बचपनेपन का अजीब मिश्रण था।" सर हैनरी इलियट ने कहा है कि "उनके बनाए हुए कानून न नवीन थे और न व्यवहार में ही लाये गये थे।"

जहाँगीर स्वभाव से उदार, दानशील और स्नेही था, परन्तु उसमें शराब पीने की बुरी आदत थी। उसे अफीम का भी शौक था। फिर भी, उसने अपने राज्य में शराब और मादक वस्तुओं के प्रयोग के विरुद्ध नियम लागू किए थे। अपनी प्रजा के प्रति उसका व्यवहार बहुत दयापूर्ण था। वह एक न्यायप्रिय शासक था। अपीलों की सुनवाई के लिए उसने महल के बाहर एक जंजीर लटकवा दी थी जिसे खींचने पर घण्टियां बजती थीं। उसकी न्यायप्रियता के किस्से आज भी प्रचलित हैं। परन्तु जहाँगीर एक अच्छा सैनिक तथा सेनानायक नहीं था। वह आरामपसन्द था और अन्य मुगल शासकों की भाँति युद्ध स्थल पर जाना और सैन्य संचालन करना उसके बस की बात न थी।

जहाँगीर एक सफल और प्रजापालक शासक माना जा सकता है। उसकी सफलता इसी में थी कि उसने अकबर के साम्राज्य को और उनकी शासन-व्यवस्था को कायम रखा। डॉ० बेनीप्रसाद ने उसका मूल्यांकन करते हुए लिखा है कि "सर्वांगीण रूप से जहाँगीर का शासन काल साम्राज्य के लिए शान्ति और समृद्धि का रहा। उसकी संरक्षता में उद्योग और व्यापार की उन्नति हुई, स्थापत्य-कला ने महत्त्वपूर्ण सफलता पायी, चित्रकला अपने उच्चतम शिखर तक पहुँच गई, साहित्य की इतनी प्रगति हुई जितनी पहले कभी नहीं हुई। फारसी और प्रादेशिक भाषाओं को अनेक कवियों की रचनाओं ने मिलकर इस युग को मध्ययुगीन भारतीय साहित्य का 'आगस्टन-युग' बना दिया। जहाँगीर के समय का राजनीतिक इतिहास रोचक है, परन्तु उसका मुख्य आकर्षण उसकी साँस्कृतिक प्रगति है।"

2 शाहजहाँ

अपने भाइयों और भतीजों का खून बहाकर मुगल सिंहासन पर बैठने वाला शाहजहाँ, मारवाड़ के राजा उदयसिंह की पुत्री जगत गुसाईं का पुत्र था। वह अपने दादा अकबर का लाड़ला था। अपने सभी भाइयों में वह सबसे अधिक योग्य, साहसी और चरित्रवान था। उसका जन्म 5 जनवरी, 1592 ई. में लाहौर में हुआ था। 1612 ई. में उसका विवाह नूरजहाँ की भतीजी तथा आसफखाँ की पुत्री अर्जुमन्द बानू बेगम (मुमताज महल) से हुआ। जहाँगीर की मृत्यु के समय वह दक्षिण में था। इस अवसर पर साम्राज्य के वकील तथा उसके श्वसुर आसफखाँ ने उसकी

पूरी-पूरी सहायता की और उसकी कूटनीति के कारण नूरजहां परास्त हुई और उसका दामाद शहरयार मारा गया। 1628 ई. के फरवरी मास में वह "अब्दुल मुजफ्फर शहाबुद्दीन मुहम्मद साहिब किरन-ए-सानी" की उपाधि लेकर मुगल राजगद्दी पर बैठा।


शाहजहां

विद्रोह का दमन—शाहजहां के शासन काल में होने वाले विद्रोहों में दो प्रमुख हैं—एक बुन्देलखण्ड के शासक जुझारसिंह का और दूसरा दक्षिण के सूबेदार खानेजहां लोदी का। अब्दुल फजल के हत्यारे ओरछा नरेश वीरसिंह बुन्देले पर जहांगीर की विशेष कृपा रही। उसने इसका लाभ उठाकर अपनी शक्ति बढ़ाई। उसका लड़का जुझारसिंह उग्र मिजाज का निकला। उसने अपनी प्रजा पर अनेक कर लगाये और कठोरता से धन एकत्र किया। शाहजहाँ ने उसकी धन-सम्पत्ति की जाँच का आदेश दिया। शायद शाहजहाँ की दृष्टि जुझारसिंह की धन-सम्पत्ति पर रही हो। जुझारसिंह दरबार से भाग गया। 1628 ई. में उस पर आक्रमण किया गया और उसने आत्मसमर्पण कर दिया। शाहजहाँ ने भारी हर्जाना लेकर उसे माफ कर दिया। परन्तु 1635 ई. में उसने पुनः विद्रोह का झण्डा फहरा दिया। इस बार उसके विद्रोह को बलपूर्वक कुचल दिया गया। जुझारसिंह और उसका एक लड़का विक्रमजीत मारे गए। दो लड़कों को मुसलमान बना लिया गया। बुन्देला स्त्रियों को शाही हरम अथवा सरदारों की सेवा में भेज दिया गया। ओरछा का भव्य मन्दिर तोड़ दिया गया और ओरछा राजकोष की समस्त धन-सम्पत्ति शाहजहाँ ने हथिया ली।

पीरखाँ (खानेजहाँ लोदी) मुगल दरबार का एक योग्य एवं सम्मानित अफगान सरदार था। जहांगीर के अन्तिम दिनों में वह दक्षिण की सूबेदारी के महत्वपूर्ण पद पर था। शाहजहाँ ने जब जहाँगीर के विरुद्ध विद्रोह किया उस समय खानेजहाँ लोदी उदासीन रहा और उसने शाहजहाँ को किसी प्रकार सहायता नहीं दी। खानेजहां लोदी ने अहमदनगर के सुल्तान से तीन लाख रुपये घूंस लेकर बालाघाट का प्रदेश उसे सौंप दिया। शाहजहां ने बादशाह बनते ही खानेजहां लोदी को बालाघाट प्रदेश पर पुनः अधिकार करने को कहा। परन्तु उसने कोई सक्रिय कदम नहीं उठाया। अतः उसे दरबार में बुला लिया गया। परन्तु कुछ मास बाद ही वह दरबार से भाग खड़ा हुआ और विद्रोह कर बैठा। अन्त में वह अपने साथियों सहित मारा गया।

मध्य एशिया—बाबर अपनी मृत्यु पर्यन्त समरकंद जीतने की इच्छा को त्याग न सका था। हुमायूं, अकबर और जहांगीर को भी मध्य एशिया जीतने की इच्छा बनी रही, परन्तु परिस्थितिवश वे इस दिशा में कोई महत्वपूर्ण कदम न उठा सके।

शाहजहाँ के समय में मध्य-एशिया जीतने की सुनिश्चित योजना बनाई गई। मूल कारण तो महत्वाकांक्षा और भावना थी। मुगलों के लिए अपनी पैतृक भूमि मध्य एशिया की लालसा को छोड़ना कठिन काम था तो उनके शत्रु उजबेगों के लिए काबुल और कन्धार की लालसा को समाप्त करना मुश्किल था। परन्तु झगड़े का मुख्य कारण बल्ख और बदख्शां के प्रदेश थे जो काबुल और मध्य एशिया की विजय के प्रवेश द्वार थे। मुगल और उजबेग दोनों ही इन स्थानों को अपने अधिकार में रखने को उत्सुक थे उजबेग समय-समय पर मुगल साम्राज्य के उत्तर-पश्चिमी सीमान्तों पर धावा मारा करते थे। मुगलों के लिए उत्तर-पश्चिम की सीमा को सुरक्षित रखना बहुत आवश्यक था।

इस समय मध्य एशिया में उजबेग नेता इमामकुली का शासन था। 1641 ई. में इमामकुली अन्धा हो गया और उसके भाई नजर मोहम्मद ने उसके सिंहासन पर अधिकार कर लिया। उसे भी अपने अमीरों तथा अपने पुत्र अब्दुल अजीज के विद्रोह का सामना करना पड़ा। उजबेगों के आपसी झगड़ों के परिणामस्वरूप मध्य एशिया में अव्यवस्था फैल गई। ऐसी स्थिति में नजर मोहम्मद ने शाहजहां से सहायता मांगी। शाहजहां के लिए यह एक सुअवसर था। 1645 से 1647 ई. के मध्य शाहजहां ने मुराद, सादुल्लाखां और औरंगजेब को भेजकर संघर्ष जारी रखा। मुगलों को सैनिक सफलताएं भी मिलीं। बल्ख और बदख्शां पर उनका अधिकार हो गया। परन्तु मुगलों को स्थायी लाभ न मिल सका। क्योंकि कोई भी मुगल सेनानायक अथवा शाहजादा भारत की राजधानी से इतनी दूर, मध्य एशिया की खुश्क जलवायु और बंजर प्रदेश में अधिक समय के लिए रहने को तैयार नहीं था। इसके अलावा उजबेगों ने अपने छापामार युद्धों से मुगलों को परेशान कर रखा था। मुगलों को रसद की कठिनाई का भी सामना करना पड़ा। ऐसी स्थिति में शाहजहां ने नजर मोहम्मद के साथ समझौता कर लेना ठीक समझा। उजबेग भी समझौते के लिए तैयार थे। 1647 ई. में समझौता हो गया और औरंगजेब काबुल वापिस आ गया। मध्य एशिया के इस युद्ध में मुगलों को भारी धन हानि हुई और वे कोई प्रादेशिक लाभ भी प्राप्त न कर पाये। परन्तु इससे मुगलों को यह स्पष्ट हो गया कि मध्य एशिया में साम्राज्य स्थापित करने की लालसा व्यर्थ थी। इससे उजबेगों की शक्ति को भी भारी धक्का लगा। उन्हें एक अच्छा सबक मिल गया था। उन्हें विश्वास हो गया कि मुगलों पर आक्रमण करना सरल न था।

कन्धार— कन्धार मुगल और ईरानी (फारस) साम्राज्यों की सीमा पर था। राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक दृष्टियों से दोनों साम्राज्यों के लिए कन्धार का विशेष महत्व था। राजनीतिक दृष्टि से यह जिसके भी अधिकार में रहता, उसे अपने साम्राज्य की सुरक्षा और दूसरे के राज्य पर आक्रमण करने की सुविधा थी। आर्थिक दृष्टि से कन्धार भारत और पश्चिमी एशिया तथा यूरोप तक के व्यपार के स्थल मार्ग पर था। इसलिए मुगल बादशाह और फारस के शाह दोनों ही कन्धार की लालसा रखते थे।

जहाँगीर के अन्तिम दिनों में कन्धार मुगलों के हाथ से निकल गया था। परन्तु शाहजहाँ के शासन (1638 ई.) में कन्धार पुनः मुगलों के अधिकार में आ गया। हुआ यह कि कन्धार के ईरानी गवर्नर अली मर्दान खाँ का ईरान के मन्त्रियों से झगड़ा हो गया और उसने मुगल दरबार में उच्च पद के बदले में कन्धार का दुर्ग मुगलों को सौंप दिया। मध्य एशिया में शाहजहाँ की विफलता का तथा मध्य एशिया से मुगल सेनाओं की वापसी का लाभ उठाकर 1648 ई. में ईरान ने कन्धार पर आक्रमण कर दिया। मुगल गवर्नर दौलत खाँ घबरा गया और फरवरी 1649 ई. में उसने आत्मसमर्पण कर दिया। इस प्रकार कन्धार पर पुनः ईरान का अधिकार हो गया।

शाहजहाँ ने कन्धार को पुनः जीतने का भरसक प्रयत्न किया। 1649, 1652 और 1653 ई. में उसने अपनी पूरी शक्ति के साथ कन्धार पर सैनिक अभियान भेजे। परन्तु विशेष सफलता न मिल पायी। मुगलों के पास दुर्गभेदी तोपें नहीं थीं जबकि ईरानी तोपखाना मुगलों से कहीं अधिक अच्छा था। इन तीन अभियानों में शाहजहाँ ने लगभग 12 करोड़ रुपया व्यय कर डाला। इससे उसकी आर्थिक स्थिति को भारी धक्का लगा और उसकी प्रतिष्ठा में भी कमी आ गई। कन्धार के हाथ से निकल जाने से मुगल साम्राज्य की उत्तर-पश्चिमी सीमा असुरक्षित हो गई और इसकी सुरक्षा के लिए उन्हें सदैव सतर्क रहना पड़ा।

दक्षिण भारत—शाहजहाँ भी एक महत्त्वकांक्षी शासक था और दक्षिण भारत को जीतकर अपना साम्राज्य बढ़ाना चाहता था। इसके अलावा दो अन्य महत्त्वपूर्ण कारण भी थे। पहला यह था कि दक्षिण भारत के मुस्लिम राज्य मुगल दरबार के राजद्रोहियों के आश्रयस्थल बने हुए थे। दूसरा, दक्षिण के शासक शिया सम्प्रदाय के थे। जबकि शाहजहाँ कट्टर सुन्नी मुसलमान था। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण यह बात थी कि दक्षिण भारत के शिया शासक भारत के मुगल सम्राटों के प्रति राजनीतिक निष्ठा न रखकर ईरान के शिया शाहों के प्रति श्रद्धा एव निष्ठा रखते थे। यह बात शाहजहाँ को बहुत अखरती थी क्योंकि एक तो ईरानी शाह मुगलों के शत्रु थे और दूसरे वे विदेशी थे।

शाहजहाँ की दक्षिण नीति को दो भागों में बाँटा जा सकता है—पहला भाग 1628 से 1651 ई. तक और दूसरा भाग 1652 से 1657 ई. तक। पिछले अध्याय में यह बताया गया था कि मलिक अम्बर अपने स्वामी और उसके राज्य के लिए जीया और मरा। परन्तु इसका लड़का फत्ते खाँ स्वामीद्रोही और देशद्रोही निकला। वह मुगलों से मिल गया। सर्वप्रथम उसने अपने स्वामी अहमदनगर के सुल्तान निजामशाह का बध करवाया और दौलताबाद का शक्तिशाली दुर्ग तथा नाबालिग सुल्तान हुसैनशाह को भी मुगलों के हवाले कर दिया। इसके बदले में फत्ते खाँ को 2 लाख रुपये प्रति वर्ष की पेन्शन मिल गई। जो काम मुगल सैनिक-शक्ति से सम्पन्न न हो पाया था, वह धन-दौलत के माध्यम से सहज ही में पूरा हो

गया। अहमदनगर के निजामशाही राजवंश का अन्त हो गया। फिर भी, शाहजी भौंसले तथा कुछ अन्य निजामशाही सरदारों ने एक बच्चे (मुर्तजा तृतीय) के नाम से मुगलों से कई वर्ष तक संघर्ष किया। 1636 ई. में शाहजी भौंसले को भी विवश होकर मुर्तजा तृतीय को मुगलों को सौंपना पड़ा। इसके साथ ही अहमदनगर का स्वतन्त्र अस्तित्व हमेशा के लिए समाप्त हो गया।

1636 ई. में दक्षिण के शेष दो राज्यों—बीजापुर और गोलकुण्डा—को जीतने की दृष्टि से शाहजहाँ स्वयं दक्षिण गया। दौलताबाद पहुँचने के बाद उसने बीजापुर और गोलकुण्डा के सुल्तानों को अधीनता स्वीकार करने तथा वार्षिक खिराज चुकाने को कहा। गोलकुण्डा के सुल्तान ने तत्काल शाहजहाँ की अधीनता स्वीकार करली, परन्तु बीजापुर का सुल्तान टालम-टोल करता रहा। इस पर शाहजहाँ ने बीजापुर पर आक्रमण की तैयारियाँ शुरू कर दीं। शाहजहाँ का दृढ़-संकल्प देखकर सुल्तान घबरा गया और मई 1636 ई. में उसने शाहजहाँ के साथ सन्धि कर ली। सन्धि के अनुसार बीजापुर ने मुगलों की अधीनता स्वीकार कर ली और बीस लाख रुपया वार्षिक खिराज देना स्वीकार किया। इस प्रकार दक्षिण के दोनों राज्यों ने शाहजहाँ की प्रभुसत्ता स्वीकार कर ली।

नवम्बर 1652 ई. में औरंगजेब को दूसरी बार दक्षिण का सूबेदार नियुक्त किया गया। औरंगजेब बीजापुर और गोलकुण्डा के स्वतन्त्र अस्तित्व को समाप्त करके उन्हें मुगल साम्राज्य का अंग बनाना चाहता था। उधर शाहजहाँ को भी धन की आवश्यकता थी क्योंकि मध्य एशिया तथा कन्धार की लड़ाइयों में करोड़ों रुपया व्यय हो चुका था। गोलकुण्डा धन-सम्पन्न राज्य था और उसने कुछ वर्ष पूर्व ही कर्नाटक प्रदेश जीतकर अपना राज्य भी बढ़ा लिया था। औरंगजेब को गोलकुण्डा के विरुद्ध युद्ध का बहाना मिल गया। 1636 ई. की सन्धि के अनुसार गोलकुण्डा पिछले दस वर्षों तक वार्षिक खिराज पूरा अदा न कर पाया था। परन्तु असली कारण दूसरा ही था। गोलकुण्डा के सुल्तान और उसके प्रधान मन्त्री मीर जुमला के आपसी सम्बन्ध बिगड़ गये थे। सुल्तान ने उसके पुत्र को कैद कर लिया और उसकी सम्पत्ति जब्त कर ली। मीर जुमला ने औरंगजेब से सहायता की याचना की। औरंगजेब ने शाहजहाँ से आज्ञा प्राप्त करके तत्काल गोलकुण्डा पर आक्रमण कर दिया। गोलकुण्डा के सुल्तान को विवश होकर औरंगजेब की सभी शर्तें माननी पड़ीं। मीर जुमला को उसकी सम्पत्ति लौटानी पड़ी। उसके पुत्र को रिहा करना पड़ा और मुगलों को लगभग एक करोड़ रुपया युद्ध का हर्जाना देना पड़ा। इसके अलावा खिराज का पिछला सारा बकाया हिसाब चुकाना पड़ा। गोलकुण्डा के सुल्तान को अपनी लड़की का विवाह औरंगजेब के लड़के के साथ करना पड़ा। इस अवसर पर उसने दस लाख रुपये का दहेज दिया। औरंगजेब की सिफारिश पर मीर जुमला को मुगल दरबार में एक उच्च पद प्रदान किया गया।

अब औरंगजेब ने शाहजहाँ से बीजापुर के विरुद्ध आक्रमण की अनुमति माँगी,

क्योंकि अवसर अनुकूल था । नवम्बर 1656 ई. में बीजापुर के योग्य सुल्तान मोहम्मद आलिदशाह की मृत्यु हो गई । उसका 18 वर्षीय पुत्र अली आदिलशाह द्वितीय सुल्तान बना । उसके शासन काल में बीजापुर आन्तरिक संघर्षों एवं षड्यन्त्रों का केन्द्र बन गया । ऐसी स्थिति में औरंगजेब ने बीजापुर पर आक्रमण कर दिया । इस आक्रमण में उसे काफी सफलता मिली और वह बीजापुर को हमेशा के लिए समाप्त करने की तैयारियाँ भी कर चुका था । परन्तु 1657 ई० में शाहजहाँ के आदेश से उसे युद्ध बन्द करके सन्धि करनी पड़ी । औरंगजेब का बड़ा भाई दाराशिकोह उसकी सफलता को सहन नहीं कर पाया और उसी के कहने पर शाहजहाँ ने संधि करने के आदेश भिजवाये थे । इस घटना को औरंगजेब कभी नहीं भूल सका और भावी उत्तराधिकार संघर्ष के कारणों में यह भी एक कारण बन गया ।

औरंगजेब ने अपनी दूसरी सूबेदारी की अवधि (1652–58) में दक्षिण के प्रान्तों का अच्छा शासन-प्रबन्ध किया । उसे इस काम में मुर्शिदकुली खाँ से बहुत सहयोग मिला । उसने 'टोडरमल के बन्दोबस्त' को दक्षिणी प्रान्तों में लागू किया जिससे किसानों को काफी राहत मिली ।

उत्तराधिकार संघर्ष—6 सितम्बर 1657 ई० को शाहजहाँ बीमार पड़ा और इतना अधिक बीमार हो गया कि उसने दरबार और झरोखा-दर्शन में आना बन्द कर दिया । उसकी बीमारी का समाचार तुरन्त समस्त साम्राज्य में फैल गया । शाहजहाँ का प्रत्येक पुत्र सिंहासन प्राप्त करने को उत्सुक था । विभिन्न सरदार अलग-अलग शाहजादों का पक्ष लेने के लिए तैयार थे । शाहजहाँ ने अपने सभी सरदारों के सम्मुख अपने सबसे बड़े लड़के दाराशिकोह को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया । परन्तु उत्तराधिकार के मामले में मुस्लिम कानून बहुत लचीला था और सामान्यतः तलवार की शक्ति के आधार पर ही निर्णय हुआ करता था ।

शाहजहाँ की सभी उल्लेखनीय सन्तानें उसकी बेगम मुमताजमहल से उत्पन्न हुई थीं । उसकी 14 सन्तानों में से 7 सन्तानें जिनमें 4 लड़के—दाराशिकोह, शाहशुजा, औरंगजेब और मुराद तथा तीन लड़कियाँ—जहानआरा, रोशनआरा, गौहनआरा जीवित रहीं । सबसे बड़ा लड़का दाराशिकोह शिक्षित और सुसभ्य, और उदार विचारों का था । वह सच्चरित्र, दयालु तथा पितृभक्त था । वैसे वह पंजाब का सूबेदार था, परन्तु सामान्यतः शाहजहाँ के साथ ही रहता था । शाहशुजा इस समय बंगाल का सूबेदार था । वैसे वह एक आकर्षक व्यक्ति और योग्य सेनानायक था परन्तु अत्यधिक विलासी और आराम पसन्द था । धार्मिक दृष्टि से वह शिया था । औरंगजेब दक्षिणी भारत का सूबेदार था । वह साहसी, कट्टर, परिश्रमी और योग्य सेनानायक था । कूटनीति में वह अपने सभी भाइयों से श्रेष्ट था और कट्टर सुन्नी होने के कारण समस्त सुन्नी सरदारों का समर्थन उसे प्राप्त था । मुराद भावुक और अव्यवहारिक व्यक्ति था । व बहादुर भी था और आराम पसन्द भी । उसमें व्यवहारिक राजनीति का ज्ञान नहीं था । इस समय वह गुजरात का सूबेदार था ।

चारों भाई ही सिंहासन के लिए प्रयत्नशील न थे, बल्कि तीनों बहिनों ने भी किसी न किसी भाई का पक्ष लिया। जहानआरा दाराशिकोह के पक्ष में थी; रोशनआरा औरंगजेब की मदद कर रही थी और गौहनआरा मुरादबख्श की मदद कर रही थी।

दारा के तीनों भाई दारा से ईर्ष्या करते थे आपस में पत्र-व्यवहार भी कर रहे थे। मुराद के साथ तो औरंगजेब का साम्राज्य विभाजन सम्बन्धी समझौता भी हो गया। तीनों शहजादों ने बादशाह को देखने के बहाने राजधानी की ओर बढ़ने का आग्रह किया। शाहजहाँ ने अपने हस्ताक्षरों से उनके पास पत्र भेजे और उन्हें सेना सहित राजधानी न आने को कहा गया। परन्तु कोई परिणाम न निकला। मुराद और शुजा ने अपने को स्वतन्त्र बादशाह घोषित कर दिया। सर्वप्रथम शाह शुजा अपनी सेनाओं को लेकर राजधानी की ओर बढ़ा। फरवरी, 1658 ई० में मुराद भी आगरा की ओर बढ़ा। औरंगजेब भी अपनी सेना सहित मुराद से जा मिला। उसने संयम से काम लिया था। अपने आपको बादशाह घोषित नहीं किया था। शाहजहाँ ने दाराशिकोह के लड़के सुलेमान शिकोह और राजा जयसिंह को पूरब की तरफ शुजा के विरुद्ध भेजा। उन्होंने बनारस के निकट शाहशुजा को पराजित किया। शुजा बंगाल की तरफ भाग गया।

राजा जसवन्तसिंह और कासिम खाँ को मुराद और औरंगजेब के विरुद्ध भेजा गया। उज्जैन से 14 मील दूर धरमट नामक स्थान पर दोनों सेनाओं का मुकाबला हुआ। इस अवसर पर कासिम खाँ ने जसवन्तसिंह को पूरा सहयोग नहीं दिया और युद्ध के बीच में भाग खड़ा हुआ। जसवन्तसिंह अपने राठौड़ सैनिकों के साथ डटकर लड़ा। फिर भी उसकी हार हुई और उसे युद्धस्थल से भागना पड़ा। धरमट की विजय के बाद मुराद और औरंगजेब ग्वालियर होते हुए आगे बढ़े। आगरा से 8 मील दूर सामूगढ़ नामक स्थान पर दाराशिकोह ने उनका मुकाबला किया। दारा की हार हुई और उसे भागना पड़ा। अब औरंगजेब आगरे की तरफ बढ़ा। आगरा पर उसका अधिकार हो गया और शाहजहाँ बन्दी बना लिया गया। मुराद को धोखे से पकड़ कर बन्दी बना लिया गया। बाद में अपने दीवान की हत्या करने के आरोप में उसे मृत्युदण्ड दिया गया। इस बीच शाहशुजा ने एक बार पुनः भाग्य आजमाया। परन्तु वह पराजित हुआ और अराकान की तरफ भाग गया, वहाँ अराकानियों ने उसे मार डाला। इधर-उधर भटकने के बाद दारा भी पकड़ा गया और उसे भी मृत्युदण्ड की सजा दी गई। दाराशिकोह का लड़का सुलेमान शिकोह भी पकड़ा गया और उसे जहर देकर मारा गया। इस प्रकार औरंगजेब का मार्ग साफ हो गया।

कारावास में सात-आठ वर्ष बिता कर 1666 ई० में शाहजहाँ भी चल बसा। उस महान् मुगल सम्राट का मृतक संस्कार भी ढंग से नहीं हो पाया। साधारण नौकरों ने ही उसकी लाश को ले जाकर ताजमहल में उसकी पत्नी के निकट ही दफना दिया।

धार्मिक नीति—औरंगजेब को प्रायः असहिष्णुता की नीति अपनाने का दोषी माना जाता है। परन्तु अकबर की नीति को त्याग कर असहिष्णुता की नीति अपनाने की शुरूआत शाहजहाँ ने ही की थी। वह कट्टर सुन्नी मुसलमान था। उसने गैर-मुसलमानों, हिन्दू, सिक्ख और ईसाई सभी के साथ बहुत बुरा व्यवहार किया। उदार शिया मुसलमान भी उसके क्रोध से नहीं बच पाए। उसकी आज्ञा से बनारस के 76 हिन्दू मन्दिर तोड़े गये। तीर्थयात्रा कर को पुनः लागू किया गया। इस्लाम के प्रसार के लिए सभी सम्भव उपायों का सहारा लिया गया। इसका परिणाम बहुत बुरा निकला। उसके शासन काल के अन्तिम बर्षों में जो थोड़ी बहुत उदारता देखने को मिलती है, वह उसके बड़े लड़के दाराशिकोह के प्रभाव के कारण है। दारा अपने परदादा अकबर की भांति सभी धर्मों का संरक्षक था।

कला और साहित्य—शाहजहाँ ऐश्वर्य-पसन्द था। उसे सभी ललित कलाओं का शौक था। चित्रकला के क्षेत्र में उसकी विशेष रुचि नहीं थी, फिर भी उसने जहाँगीर की परम्परा को स्थापित रखने का प्रयत्न किया। संगीत के क्षेत्र में वह गाने का शौकीन था और स्वयं भी अच्छा गायक था। उसने सूरसेन, सुखसेन, जगन्नाथ आदि गायकों को संरक्षण प्रदान किया था।

उसके समय में सर्वाधिक उन्नत वास्तुकला (स्थापत्य कला) की हुई। इस दृष्टि से उसका युग निःसन्देह मुगलकाल का स्वर्ण-युग था। उसने अनेकों इमारतें बनवायीं जिनमें दिल्ली का लाल किला और जामा मस्जिद, आगरा के किले में मोती मस्जिद, दीवाने-आम, दीवाने-खास और संसार प्रसिद्ध ताजमहल, लाहौर के किले में दीवाने-आम, शीशमहल आदि विशेष प्रसिद्ध हैं। मोती-मस्जिद ऊंची और समतल भूमि पर बनी हुई है। भीतर संगमरमर का एक विस्तृत चौक है जो चारों ओर उसी पत्थर के खम्भों एवं बरामदों से घिरा हुआ है। उसके सफेद तथा लालित्यपूर्ण आकृति के गुम्बद लाल और ठोस मुंडेरों में ऊपर उठे हुए हैं। इस इमारत को 'भावपूर्ण पत्थर की कविता' कहा जाता है। ऐसा लगता है मानो यहाँ एक रहस्यमयी आत्मा परमानन्द और हर्षोन्माद के बीच नृत्य कर रही हो।

जब कोई दर्शक विशाल दरवाजों तथा फुलवारी और फव्वारों से सटे रास्तों से होकर ताज के निकट पहुँचता है, तो ऐसा लगता है मानो वह दूसरे लोक में चला आया हो। ताज की ऊंची मीनारों और मेहराबों, ऊंचे जालीदार पर्दों और गहरे नीरव तहखानों के सौंदर्य और अनुराग, रोमांस और वेदना, तथा जगत पर जीवन की झलक दृष्टिगत होती है। भावना और कला का ऐसा सुन्दर संगम और कहीं देखने को नहीं मिलता। शाहजहाँ ने अपनी प्रिय पत्नी मुमताज महल की स्मृति में यमुना के किनारे इस पुण्य स्मारक को बनवाया था। कहा जाता है कि इसको बनवाने में 22 वर्ष लगे और तीन करोड़ रुपया खर्च हुआ। यह इमारत स्थापत्य, नक्काशी और जड़ाई की कला का जीता जागता उदाहरण है।

कला के सम्बन्ध में हम शाहजहाँ के 'तख्त-ए-ताऊस' की उपेक्षा नहीं कर

सकते। यह सिंहासन तीन गज लम्बा, ढाई गज चौड़ा, पांच गज ऊंचा और बारह खम्भों वाला था। इस स्वर्ण सिंहासन में हीरा, मोती, पन्ना, लाल आदि अनेकों बहुमूल्य नगीने जड़े हुए थे।

साहित्यिक दृष्टि से शाहजहाँ के शासन काल में फारसी, संस्कृत, हिन्दी आदि सभी भाषाओं को राजकीय संरक्षण मिला और उनकी प्रगति हुई। संस्कृत साहित्य की उन्नति का श्रेय दाराशिकोह को है। इस समय में संस्कृत भाषा के सबसे विख्यात कवि पण्डित जगन्नाथ थे जिन्हें शाहजहाँ ने 'कविराज' की उपाधि से विभूषित किया था। 'रसगंगाधर' और 'गंगालहरी' उनकी श्रेष्ठ रचनाएँ थीं। दूसरे विद्वान लेखक और कवि आचार्य कवीन्द्र सरस्वती थे। वे दारा के गुरु और शाहजहाँ के मित्र थे। शाहजहाँ ने अपने दरबार में उनका स्वागत-सम्मान किया था। हिन्दी के कवियों को भी शाहजहाँ ने संरक्षण प्रदान किया था जिनमें बनारसी दास, कवि सुन्दर और शिरोमणि मिश्र मुख्य थे। फारसी भाषा में भी अच्छे ग्रन्थों की रचना हुई। अब्दुलहमीद लाहौरी ने 'पादशाहनामा' लिखा तो अमीन कजवानी ने 'शाहजहाँनामा' की रचना की। साहित्य के अलावा ज्योतिष-शास्त्र, अंकगणित, बीजगणित और रेखागणित आदि की भी प्रगति हुई।

मूल्यांकन—शाहजहाँ के चरित्र और कार्यों के बारे में काफी मतभेद रहा है। उसके चरित्र और व्यक्तित्व के दो पहलू हैं। एक तरफ वह चरित्रवान, उदार, सभ्य, न्यायप्रिय, प्रजापालक, कलाप्रेमी और साहित्य की उन्नति में सहयोग प्रदान करने वाला था तो दूसरी तरफ वह निर्दयी, स्वार्थी, धर्मान्ध, और कामुक था। इसलिए श्रीराम शर्मा ने लिखा है कि "कुछ मामलों में शाहजहाँ में विरोधाभास था।

शाहजहाँ एक योग्य सैनिक और सेनानायक था और उसने अनेक युद्धों में सफलता प्राप्त की थी। एक साम्राज्य-निर्माता की दृष्टि से इसने अहमदनगर राज्य को जीतकर मुगल साम्राज्य का विस्तार किया और बीजापुर तथा गोलकुण्डा को मुगलों की अधीनता मानने के लिए बाध्य किया। मध्य एशिया और कंधार की पुनः प्राप्ति के लिए भी उसने पूरा प्रयास किया था। वह एक न्यायप्रिय और प्रजापालक शासक था। उसे शासन-प्रबन्ध में रुचि थी और उसने मनसबदारी प्रथा में पर्याप्त सुधार किये। धार्मिक क्षेत्र में वह सहिष्णु नहीं रह पाया, फिर भी उसने हिन्दुओं तथा ईसाइयों के दैनिक धार्मिक जीवन में हस्तक्षेप नहीं किया और वह उनके उत्सवों तथा त्यौहारों में भाग लेता था। राजपूत शासकों के साथ भी उसका व्यवहार सम्मानजनक रहा।

परन्तु उसके चरित्र का दूसरा पहलू भी है। उसने अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह किया था और अपने भाइयों तथा भतीजों को मौत के घाट उतार कर सिंहासन प्राप्त किया था। पिता के रूप में उसने दाराशिकोह के प्रति अधिक प्रेम प्रदर्शित किया और अपने पुत्रों को नियन्त्रित करने में असफल रहा। मध्य एशिया

और कंधार के सैनिक अभियानों ने उसकी अयोग्यता को प्रकट कर दिया । इसीलिए स्मिथ का मत है कि "शाहजहाँ मनुष्य और शासक दोनों ही रूप में असफल रहा था ।"

शाहजहाँ का शासनकाल मुगलकाल का स्वर्ण-युग था अथवा नहीं, यह विवाद का प्रश्न है । अनेक विद्वान उसके काल को स्वर्ण-युग मानते हैं क्योंकि उसके काल में अपेक्षाकृत शान्ति और समृद्धि रही, व्यापार-वाणिज्य में प्रगति हुई, उद्योग-धन्धों का विकास हुआ, कला और साहित्य की उन्नति हुई और साम्राज्य का भी विस्तार हुआ । परन्तु अनेक इतिहासकारों का मत है कि बाह्य चमक-दमक के भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए । जिसके शासनकाल में मनुष्य-मनुष्य के बीच भेदभाव रखा जाय, जो अपने आपको प्रजा के एक वर्ग अथवा धर्म की उन्नति के लिए ही जिम्मेदार समझे और जिस शासक का स्वयं का चरित्र कलुषित हो, उसके शासन-काल को स्वर्ण-युग कैसे कहा जाय ? जिसके शासन में प्रजा करों के बोझ से अधमरी हो जाय, अमीर और अधिकारी वर्ग व्यभिचारी तथा विलासी हों और सरकारी कर्मचारी भ्रष्ट तथा घूँसखोर हों उसका शासनकाल स्वर्ण-युग कैसे माना जाय ? वस्तुतः शाहजहाँ अकबर की नीतियों को ठीक से समझ नहीं पाया । उसने 'सुलहकुल' का मार्ग छोड़ दिया । नतीजा यह निकला कि वैभवशाली मुगल साम्राज्य के कई महत्त्वपूर्ण स्तम्भ टूट गए और औरंगजेब के आँख मूँदते ही साम्राज्य-रूपी भवन लड़खड़ाकर गिर पड़ा ।

अभ्यास के लिए प्रश्न

1 मुगल राजनीति में नूरजहाँ के प्रभाव का उल्लेख कीजिए प्रथा उसके परिणाम बताइए ।
2. जहाँगीर और शाहजहाँ की दक्षिण नीति का मूल्यांकन कीजिए ।
3. उत्तराधिकार संघर्ष क्यों लड़ा गया ? उसके क्या परिणाम निकले ?
4. शाहजहाँ का शासन काल मुगल-कालीन भारत का स्वर्ण-युग था अथवा नहीं इस विषय पर अपने विचार व्यक्त कीजिइ ।

अपने अध्ययन की जाँच कीजिए

1. सही उत्तर का क्रमांक कोष्ठक में लिखिए ।

1. अब्दुल फजल की हत्या किसने की थी ?

(क) जुझारसिंह बुन्देला (ख) वीरसिंह बुन्देला
(ग) महाबत खाँ (घ) आसफ खाँ ( )

2. मेवाड़ विजय का श्रेय किसको मिला ?

(क) राजा मानसिंह (ख) खुर्रम
(ग) महाबत खाँ (घ) खुसरो ( )

3. किस व्यक्ति के प्रयत्नों से अंग्रेजों को सूरत में व्यापार करने की आज्ञा मिल गई थी ?

(क) हाकिन्स (ख) टामस रो
(ग) पीटर मुंडी (घ) क्लाइव ( )

4. धरमट के युद्ध में किस सेनानायक ने जसवन्तसिंह को पूरा सहयोग नहीं दिया था ?

(क) राजा जयसिंह (ख) मीर जुमला
(ग) कासिमखाँ (घ) सुलेमान शिकोह ( )

5. रोशनआरा ने उत्तराधिकार संघर्ष में किसका पक्ष लिया था ?

(क) दाराशिकोह (ख) शुजा
(ग) औरंगजेब (घ) मुराद । ( )

2. केवल एक-एक पंक्ति में उत्तर दीजिए—

1. अकबर सलीम को 'शेखू बाबा' क्यों कहता था ?
2. 'साहित्य-ए-जमाल' कौन थी ?
3. मलिक अम्बर किस राज्य का प्रधान मंत्री था ?
4. लाडली बेगम किसकी लड़की थी ?
5. सामूगढ़ के युद्ध में किसकी पराजय हुई थी ?

3. पाँच-सात पंक्तियों में उत्तर दीजिए—

1. खुसरो के विद्रोह का मुख्य कारण बताइये।
2. राणा अमरसिंह ने किन शर्तों पर मुगलों से संधि की थी ?
3. नूरजहाँ और शाहजहाँ के सम्बन्धों के विकास के क्या कारण थे ?
4. मध्य एशिया में मुगलों की असफलता का मुख्य कारण क्या था ?
5. गोलकुण्डा की पराजय में मीर जुमला की भूमिका का वर्णन कीजिए।

4. (क) भारत के मानचित्र में शाहजहाँ के समय तक की मुगल साम्राज्य की सीमाएँ अंकित कीजिए।

(ख) भारत के मानचित्र में उन स्थानों को दिखाइये जहाँ उत्तराधिकार संघर्ष से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण युद्ध लड़े गए थे।

पूरक अध्ययन के लिए ग्रन्थ

1. डॉ. बेनीप्रसाद : हिस्ट्री ऑफ जहाँगीर
2. डॉ. बनारसी प्रसाद सक्सेना : मुगल सम्राट शाहजहाँ।
3. एस. आर. शर्मा : भारत में मुगल साम्राज्य।

5. औरंगजेब

अपने भाइयों का रक्त बहाकर और जीवित पिता को जेल में ठूँसकर 1658 ई. में मुगल सिंहासन पर बैठने वाले औरंगजेब का जन्म 24 अक्तूबर, 1618 ई. को हुआ था। उसकी शिक्षा का अच्छा प्रबन्ध किया गया था और उसने सैनिक शिक्षा के अलावा धार्मिक ग्रन्थों, अरबी, फारसी, तुर्की और हिन्दी भाषा का भी पर्याप्त ज्ञान अर्जित किया था। बादशाह बनने के पूर्व वह विभिन्न उच्च पदों पर कार्य कर चुका था। उसका प्रथम राज्याभिषेक 31 जुलाई, 1658 ई. को और दूसरा 15 जून, 1669 ई. को हुआ था। उसने 'अब्दुल मुजफ्फर मुइनुद्दीन मुहम्मद औरंगजेब बहादुर आलमगीर पादशाह गाजी' की उपाधि धारण की थी।



औरंगजेब

राजत्व सिद्धान्त : धार्मिक असहिष्णुता—औरंगजेब बादशाह के कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्वों से भली-भाँति परिचित था। उसके जीवन का मुख्य ध्येय अपनी प्रजा की भलाई करना था। अपनी प्रजा की सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और नैतिक स्थिति को उन्नत बनाना था। सिंहासन पर बैठते ही उसने लगभग 80 करों (आबवाब) को समाप्त कर दिया था। शाहजहाँ को प्रेषित अपने एक पत्र में औरंगजेब ने लिखा था कि 'जहाँपनाह अच्छी तरह जानते हैं कि अल्लाह उसी को उत्तरदायित्व सौंपते हैं जो अपनी प्रजा की भलाई और उसकी रक्षा करने के कर्त्तव्य को निभाता है.........सम्प्रभुता का अर्थ प्रजा की रक्षा है न कि भोग-विलास और अफीम।' वह अति परिश्रमी व्यक्ति था। प्रातःकाल पाँच बजे से देर रात तक वह शासन कार्यों में व्यस्त रहता था अतः इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसके राजत्व सिद्धान्त महान् थे और एक महान् शासक होने के सभी गुण उसमें थे।

परन्तु तब भी औरंगजेब असफल हुआ। उसकी असफलता का मुख्य कारण उसका चरित्र और धार्मिक असहिष्णुता थी। औरंगजेब कट्टर सुन्नी मुसलमान था। उसका राजत्व-सिद्धान्त इस्लाम का राजत्व-सिद्धान्त था। उसकी प्रजा का अर्थ केवल मुस्लिम प्रजा थी। वह भारत को 'दार-उल-हर्ब' (काफिरों का देश) से 'दार-उल-इस्लाम' (इस्लाम का देश) में परिवर्तित करना चाहता था। उसकी शासन नीति इसी महान् ध्येय पर आधारित थी। उसने हर संभव उपाय से गैर मुसलमानों पर दबाव डालने का प्रयत्न किया ताकि निवश होकर वे इस्लाम स्वीकार करने के लिए

तत्पर हो जाएँ। इस प्रकार की नीति ने उसके राजत्व-सिद्धान्त को संकीर्ण बना दिया और वह अपनी बहुसंख्यक प्रजा का बादशाह न रहा।

सर्वप्रथम, उसने मुगल दरबार से शिया और हिन्दू रीति-रिवाजों को समाप्त किया। सिक्कों पर कलमा खुदवाना निषिद्ध कर दिया, नौरोज का पर्व मानना बन्द कर दिया, तुलादान और झरोखा-दर्शन बन्द कर दिया, दरबार से गाने-नाचने वालों को विदा कर दिया, मद्यपान और जुआ खेलना निषिद्ध कर दिया, सती-प्रथा की रोक-थाम की, वेश्याओं को पेशा छोड़ देने के आदेश दिए गए और दरबार में हिन्दू त्यौहारों को मनाना बन्द कर दिया। उसने बड़े-बड़े नगरों में धर्म-निरीक्षकों (मुहतसिबों) को नियुक्त किया जिनका मुख्य काम यह देखना था कि मुसलमान लोग ठीक ढंग से अपने धर्म का पालन करते हैं अथवा नहीं। इस्लाम-द्रोहियों को दण्ड देना भी उनका कर्त्तव्य था।

इसके बाद उसने गैर मुसलमानों की तरफ ध्यान दिया। एक शाही फरमान जारी किया गया—"हिन्दू मन्दिरों, मूर्तियों और विद्यालयों को तोड़ दिया जाय।" परिणामस्वरूप समूचे साम्राज्य में यहां तक कि कई अधीनस्थ हिन्दू राज्यों में भी असंख्य मन्दिर तोड़ दिए गये जिनमें बनारस का विश्वनाथ का मन्दिर, मथुरा का केशवराय का मन्दिर, पाटन का नवनिर्मित सोमनाथ का मंदिर मुख्य थे। कई स्थानों पर मन्दिरों के स्थान पर मस्जिदें खड़ी कर दी गई। 1671 ई. में एक नया शाही फरमान जारी हुआ-"सरकारी दफ्तरों से हिन्दू कर्मचारियों को निकाल दिया जाय।" परन्तु उनके स्थान पर इतनी बड़ी संख्या में मुस्लिम कर्मचारी कहाँ से आते? निदान औरंगजेब को इसमें संशोधन करना पड़ा। मुस्लिम व्यापारियों को सीमा-शुल्क से मुक्त कर दिया गया और हिन्दू व्यापारियों पर कर को बढ़ा दिया गया। 1679 ई. में उसने हिन्दुओं पर सबसे जबरदस्त चोट की। सभी हिन्दुओं पर घृणित 'जजिया' कर लागू कर दिया गया। इस प्रकार, उसने हिन्दुओं पर हर सम्भव दबाव डालने का प्रयत्न किया ताकि वे इस्लाम अपनाने को विवश हो जायें। इसमें कोई सन्देह नहीं कि औरंगजेब अपने आदर्श की पूर्ति में पूर्ण निष्ठा के साथ लगा रहा। परन्तु जैसा कि श्रीराम शर्मा ने लिखा है कि "यह सभी कार्य एक योग्य शासक अथवा एक निर्माणकर्ता राजनीतिक के नहीं बल्कि एक अन्धी धर्मान्धता का फूट पड़ना था जो निस्सन्देह अन्य सभी क्षेत्रों में मेधावी औरंगजेब के लिए शोभनीय न थी।" वस्तुतः उसकी धर्मान्धता ने उसकी सम्पूर्ण योग्यता, गुण और नीति को दबा दिया। उसने अकबर की धार्मिक सहिष्णुता की नीति को त्याग कर भयंकर भूल की। इसके घातक परिणाम निकले और उसकी मृत्यु के तत्काल बाद मुगल साम्राज्य छिन्न-भिन्न होकर नष्ट हो गया।

जाटों का विद्रोह—औरंगजेब की धर्मान्धता को हिन्दू जनता चुपचाप सहन न कर सकी। पहला संगठित विद्रोह जाटों ने किया। मथुरा के मुगल अधिकारी अब्दुल नबी ने हिन्दू मन्दिरों को तोड़ा और हिन्दू स्त्रियों को अपमानित किया तथा

हिन्दू जनता पर नाना प्रकार के अत्याचार किए जाने लगे। इस पर 1669 ई. में स्थानीय जाटों ने गोकुल के नेतृत्व में विद्रोह कर दिया। उन्होंने अब्दुल नबी को मार दिया और कई परगने लूट लिए। अन्त में, तिलपत के युद्ध में जाट पराजित हुए। गोकुल पकड़ा गया और उसका बध कर दिया गया। उसके परिवार के सदस्यों को बलपूर्वक मुसलमान बना दिया गया। परन्तु जाटों का विद्रोह फिर भड़क उठा। 1686 ई. राजाराम के नेतृत्व में जाटों ने विद्रोह किया। उसने आगरा तक लूट-मार की और अकबर के मकबरे को हानि पहुँचाई। मनुची ने लिखा है कि राजाराम ने अकबर की कब्र को खोदकर उसकी हड्डियों को जला दिया। 1688 ई. में जाट परास्त हुए और राजाराम मारा गया। परन्तु विद्रोह की ज्वाला बुझी नहीं। राजाराम के भतीजे चूड़ामण जाट ने औरंगजेब को आखिरी समय तक परेशान रखा और जाटों ने अन्त में भरतपुर में अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने में सफलता पाई।

सतनामियों का विद्रोह—दूसरा महत्त्वपूर्ण विद्रोह सतनामियों का हुआ। वे लोग नारनौल और मेवात के जिलों में बसे हुए थे। 'सतनाम' उनका धार्मिक नारा था। वे सीधे-सादे गृहस्थ लोग थे और खेती-बाड़ी तथा छोटा-मोटा व्यापार करते थे। एक दिन एक मुगल सैनिक ने एक सतनामी को मार डाला। इस घटना ने भयकर विद्रोह को जन्म दे दिया। सतनामियों ने नारनौल के फौजदार को मार डाला और उनके विद्रोह को कुचलने के लिए जो मुगल सैनिक दस्ते भेजे गये थे, उन्हें भी उन्होने परास्त कर दिया। अन्त में उनके विद्रोह को कुचल दिया गया। बहुत बड़ी संख्या में सतनामियों को तलवार के घाट उतार दिया गया।

सिक्खों से संघर्ष—सिक्ख सम्प्रदाय के संस्थापक और प्रथम गुरु नानक (1469–1538) थे। इस सम्प्रदाय का संगठन और विकास धीरे-धीरे हुआ। दूसरे गुरु अंगद (1539–52) ने गुरुमुखी लिपि का प्रचार किया। तीसरे गुरु अमरदास (1552–74) ने धर्म के प्रचार के लिए बाइस 'मन्झी' (गद्दी) कायम की। चौथे गुरु रामदास (1574–81) ने अमृतसर बसाया। पाँचवें गुरु अर्जुन (1581–1606) ने स्वधर्म की रक्षा में प्राण त्यागे। उनके आत्म-बलिदान ने सिक्ख सम्प्रदाय की काया पलट दी। छठे गुरु हरगोविन्द (1606–45) ने माला और कण्ठी को छोड़ कर दो तलवारें धारण कीं। एक आध्यात्मिक शक्ति का प्रतीक बनी तो दूसरी भौतिक शक्ति का। अब सिक्ख अनुयायियो को गुरु की सेवा में घोड़े और अस्त्र-शस्त्र प्रस्तुत करने का आदेश हुआ। इससे 500 सिक्ख सैनिकों का दल खड़ा हो गया। लोहगढ़ का दुर्ग बनवाया गया। अकाल तख्त कायम किया गया। शाहजहाँ के शासन काल में मुगलों से लड़ाई लड़ी गई जिसमें सिक्ख प्रायः सफल रहे जिससे उनमें आत्मविश्वास की शक्ति बढ़ी। सातवें गुरु हरराय (1645-61) और आठवें गुरु हरकिशन (1661-64) के समय में संगठन का कार्य जारी रहा। नवें गुरु तेग-बहादुर (1664-75) को औरंगजेब की धर्मान्धता के कारण चाँदनी चौक मे शहीद होना पड़ा। उन्होंने औरंगजेब की धार्मिक नीति के विरोध में प्रचार किया था।

गुरु गोविन्दसिंह सिक्खों के दसवें और अन्तिम गुरु हुए। अपनी मृत्यु के पूर्व उन्होंने गुरु की गद्दी को समाप्त कर दिया और अपने अनुयायियों से कहा 'जहाँ भी गुरु के उपदेश को मानने वाले पाँच सिक्ख उपस्थित होंगे, मैं वहाँ उपस्थित रहूँगा।' उसका समस्त समय (1675-1708) धर्म की रक्षा के लिए मुगलों से संघर्ष करने में व्यतीत हुआ। वे गुरु तेगबहादुर के पुत्र थे। संस्कृत, हिन्दी और फारसी भाषाओं पर उनका पूरा अधिकार था। अल्पायु में ही सिक्ख सम्प्रदाय का भार उनके कन्धों पर आ पड़ा था। शुरू में उन्हें पहाड़ी रियासतों के राजाओं से संघर्ष करना पड़ा, जिसमें उन्हें सफलता मिली। इस संघर्ष से उन्होंने सबक सीखा। भावी संघर्ष के लिए 'खालसा दल' (सैनिक संगठन) का निर्माण किया। सिक्खों को अपने नाम के आगे 'सिंह' लगाने का आदेश दिया और प्रत्येक सिक्ख को केश, कंघा, कृपाण, कच्छी और कड़ा रखने के आदेश दिए। उन्होंने सिक्खों को पूर्ण सैनिक शिक्षा दी, उनमें आत्मविश्वास और साहस उत्पन्न किया और बहुत शीघ्र सिक्खों की एक शक्तिशाली खालसा सेना तैयार कर ली।

1701 ई. से मुगलों के साथ जमकर लड़ाई शुरू हो गई। सरहिन्द का सूबेदार एक बड़ी सेना के साथ गुरु के गढ़ आनन्दपुर पर चढ़ आया। सिक्ख बहादुरी से लड़े, परन्तु उन्हें आनन्दपुर से हटना पड़ा। 1704 ई. में अम्बाला के निकट फिर घमासान युद्ध हुआ जिसमें गुरु गोविन्दसिंह के दो लड़के मारे गए। दो छोटे लड़के मुगलों के हाथ में पड़ गये जिन्हें सरहिन्द के सूबेदार ने जीवित ही दीवार में चिनवा दिया क्योंकि उन शूरवीर बच्चों ने भी आतंक से डरकर इस्लाम स्वीकार नहीं किया था। इस पर भी गुरु गोविन्दसिंह विचलित नहीं हुए। राणा प्रताप की भाँति कष्ट उठाते रहे। जंगलों में भटकते रहे। खिदराना के युद्ध में गुरु ने मुगलों को बुरी तरह से परास्त किया। अन्तमें गुरु गोविन्दसिंह दक्षिण भारत चले गये और औरंगजेब की मृत्यु के बाद पुनः उत्तर भारत में चले आये। जब औरंगजेब के बड़े पुत्र बहादुरशाह ने अपने भाइयों के विरुद्ध गुरु से सहायता का अनुरोध किया तो वे उसकी तरफ से युद्ध करने के लिए दक्षिण भारत चले गये। वहीं पर गोदावरी नदी के तट पर एक हत्यारे पठान ने गुरु पर घातक हमला किया जिससे उनका स्वर्गवास हो गया। उनके योगदान की चर्चा करते हुए कनिंघम ने लिखा है कि "सिक्खों के अन्तिम गुरु अपने लक्ष्य की पूर्ति अपने जीवन में न देख सके, परन्तु उन्होंने एक पराजित व्यक्ति समूह की सोयी हुई शक्तियों को जाग्रत कर दिया और उन्हें सामाजिक स्वतन्त्रता और राष्ट्रीय महत्ता की उत्कृष्ट अभिलाषा के श्रेष्ठ और उपयुक्त आदर्श से प्रेरित किया।"

राजपूतों से संघर्ष—अकबर का मानना था कि राजपूतों के सहयोग के बिना कोई भी योजना सफल नहीं हो पायेगी। इसलिए उसने राजपूतों का सहयोग प्राप्त किया। उन्हें उनके राज्य में स्वतन्त्र रहने दिया गया। उनके साथ सम्मान और मित्रता का व्यवहार करके अकबर ने उन्हें मुगल साम्राज्य का दृढ़ स्तम्भ बना लिया

था ।। जहाँगीर और शाहजहाँ ने इस सम्बन्ध में उसकी नीति का अनुकरण किया। परन्तु औरंगजेब उसकी नीति का महत्त्व नहीं समझ पाया। वह उनके स्वतन्त्र अस्तित्व को समाप्त करना चाहता था। उनके राज्यों की सीमाओं को मुगल साम्राज्य की सीमाएँ बनाना चाहता था। वह राजपूत शासकों को अपनी धार्मिक नीति के व्यावहारिक प्रयोग में सबसे बड़ी बाधा समझता था। उनकी शक्ति को नष्ट किये बिना औरंगजेब की धार्मिक नीति सफल नहीं हो सकती थी। परन्तु जैसा कि टॉड ने लिखा है कि "चालाक बादशाह शस्त्र-प्रयोग के संदिग्ध परिणाम की अपेक्षा कूटनीति के प्रयोग को अधिक पसन्द करता था।" राजपूतों को भी उसके लक्ष्य का पता चल गया और उन्होंने भी अपनी रक्षा के लिए हथियार उठा लिए।

इस समय राजपूत राजाओं में तीन शासक प्रमुख थे। एक मेवाड़ का राणा राजसिंह, दूसरा मारवाड़ का जसवन्तसिंह और तीसरा था आमेर (जयपुर) का जयसिंह। जसवन्तसिंह और जयसिंह दोनों ही मुगल दरबार के प्रतिष्ठित सरदार थे। उत्तराधिकार संघर्ष के प्रारम्भ में दोनों ने दाराशिकोह का पक्ष लिया था। यह बात औरंगजेब कभी नहीं भूल सका। यद्यपि सामूगढ़ के युद्ध के बाद पहले जयसिंह और बाद में जसवन्तसिंह भी औरंगजेब की सेवा में आ गये थे। औरंगजेब और शाहशुजा के युद्ध के समय जसवन्तसिंह औरंगजेब का शिविर लूटकर चला आया था। जयसिंह के समझाने पर वह पुनः औरंगजेब की सेवा में आ गया था, परन्तु औरंग-जेब को इन दोनों पर विश्वास नहीं रहा। उसने इन दोनों को गुप्त रूप से खत्म करने की बात सोची। जुलाई 1666 ई. में दक्षिण के कठिन अभियान में राजा जयसिंह की मृत्यु हो गई। कुछ लोगों का मानना है कि औरंगजेब के इशारे पर उन्हें विष देकर मार डाला गया था। इसके बाद राजा जसवन्तसिंह को अफगानिस्तान की कठिन मुहिम पर भेजा गया। कहा जाता है कि जब तक राजा जसवन्तसिंह जीवित रहा, औरंगजेब ने संतोष की साँस नहीं ली। दिसम्बर 1678 ई. जमरूद नामक स्थान पर जसवन्तसिंह की मृत्यु हो गई।

महाराजा जसवन्तसिंह का कोई पुत्र जीवित नहीं बचा था। अतः औरंगजेब ने उसके राज्य को मुगल साम्राज्य में मिला लेने की योजना बनाली और सेना भेज दी गई। मारवाड़ की राठौड़ सेना और प्रमुख सरदार अफगानिस्तान में थे। अतः बिना किसी विशेष विरोध के मुगलों ने मारवाड़ पर अधिकार कर लिया। जसवन्त-सिंह की मृत्यु के बाद राठौड़ सरदार अफगानिस्तान से स्वदेश के लिए रवाना हुए। रास्ते में जसवन्तसिंह की दो विधवा रानियों ने दो पुत्रों को जन्म दिया एक तो रास्ते में ही मर गया, परन्तु दूसरा जीवित रहा। उसका नाम अजीतसिंह रखा गया। दिल्ली पहुँचने पर राठौड़ सरदारों ने औरंगजेब से प्रार्थना की कि बालक अजीत को मारवाड़ का शासक स्वीकार कर लिया जाय। परन्तु औरंगजेब की नियत साफ न थी। उसने अजीतसिंह को सौंपने की माँग की और कहा कि यदि वह इस्लाम स्वीकार कर ले तो उसे मारवाड़ का राज्य वापस कर दिया जायेगा। इस पर

दुर्गादास राठौड़ के नेतृत्व में राठौड़ लोग अपने शिशु राजा को लेकर मारवाड़ भाग आये। परन्तु इसके लिए उन्हें भारी मूल्य चुकाना पड़ा। हजारों राठौड़ मुगलों से संघर्ष करते हुए रास्ते में मारे गये।

मारवाड़ पहुँचते ही राठौड़ों ने मुगलों के विरुद्ध रणभेरी का घोष कर दिया। मारवाड़ के राजपूत अपने शिशु राजा की रक्षा के लिए शस्त्र लेकर खड़े हो गये। दुर्गादास राठौड़ इस युद्ध की आत्मा सिद्ध हुआ। जदुनाथ सरकार ने उसके बारे में लिखा है कि "भीषण विपत्तियों से संघर्ष करते हुए, चारों तरफ से शत्रुओं से घिरे हुए अपने देश के निवासियों के द्वारा आत्म-विश्वास खो देने और उनके अनिश्चित होने के बाद भी उसने अपने स्वामी के पक्ष को विजयी रखा। मुगलों का स्वर्ण उसे लालच न दे सका और मुगल शस्त्र उनके साहस को न तोड़ सके। राठौड़ों में वह अकेला ही था जिसने एक राजपूत सैनिक के साहस और शूरत्व तथा एक मुगल मंत्री की चतुरता, कूटनीतिज्ञता और संगठनकर्त्ताओं की मिली-जुली योग्यता का परिचय दिया।"

राठौड़ों के विद्रोह को कुचलने के लिए औरंगजेब स्वयं अजमेर जा पहुँचा ताकि निकट रहकर मुगल सेना पर नियन्त्रण रख सके। राठौड़ हार गये। परन्तु उन्होंने हिम्मत नहीं हारी। तभी मेवाड़ का राणा राजसिंह भी युद्ध में कूद पड़ा क्योंकि यह स्वधर्म की बात थी। औरंगजेब ने राणा के राज्य से भी जजिया की माँग की थी। फिर अजीतसिंह मेवाड़ के राजघराने का भानजा था। परन्तु इससे अधिक महत्त्वपूर्ण बात राजनीति की माँग थी। मारवाड़ के पतन के बाद मेवाड़ की सुरक्षा खतरे में पड़ जाती। इसलिए मेवाड़ ने मारवाड़ का साथ दिया। अब मुगलों को दो मोर्चों पर लड़ना पड़ा। औरंगजेब खुद उदयपुर की तरफ गया। राणा को पराजित किया। उदयपुर पर अधिकार जमा कर तथा अपने बड़े लड़के अकबर को पहाड़ियों में छिपे राणा की शक्ति नष्ट करने के आदेश देकर औरंगजेब वापस अजमेर आ गया। राजपूत जब सम्मुख युद्ध में मुगलों के विरुद्ध न टिक सके तो उन्होंने छापामार युद्ध का सहारा लिया और मुगलों को कठिन परिस्थिति में धकेल दिया। औरंगजेब के तीन पुत्र—अकबर, आजम और मुअज्जम राजपूतों का मान-मर्दन करने के लिये जीतोड़ प्रयत्न कर रहे थे, परन्तु सफलता दूर खिसकती जाती थी। उधर अजमेर में बैठा औरंगजेब अपने पुत्रों की भर्त्सना करता रहा। अकबर को यह अपमान सहन नहीं हुआ। उसे अपने पिता की राजपूत विरोधी नीति भी पसन्द नहीं आई। उसने राजपूतों की सहायता से दिल्ली का सिंहासन प्राप्त करने का स्वप्न देखा। राजपूतों ने अवसर का लाभ उठाया। 11 जनवरी 1681 ई. के दिन शाहजादा अकबर ने अपने आपको भारत का सम्राट घोषित कर दिया। चार मुल्लाओं ने भी औरंगजेब की पदच्युति का फतवा दे दिया। औरंगजेब अजीब संकट में फँस गया। अजमेर में उसके पास थोड़े से सैनिक थे। यदि अकबर ने शीघ्रता से कदम उठाकर अजमेर पर आक्रमण कर दिया होता तो इतिहास की धारा ही बदल जाती। परन्तु उसने अजमेर पहुँचने में काफी देर लगा

दी । तब तक साधन-सम्पन्न औरंगजेब ने अपनी स्थिति मजबूत बना ली थी। फिर उसने शक्ति के स्थान पर छल कपट का सहारा लिया । अकबर के पक्ष के कुछ मुगल सरदारों को फुसलाया। फिर कुछ जाली पत्रों के द्वारा अकबर और राजपूतों में सन्देह पैदा कर दिया । परिणाम यह निकला कि युद्ध के पूर्व राजपूत अचानक उसका साथ छोड़ कर चले गये । बेचारे अकबर को प्राण बचाने के लिए उन्हीं की शरण में जाना पड़ा। दुर्गादास ने उसे दक्षिण में मराठों के पास पहुँचा दिया । वहाँ से वह फारस भाग गया और वहीं उसकी मृत्यु हुई ।

इस घटना के बाद युद्ध में शिथिलता आ गई । मेवाड़ का वीर राणा राजसिंह का अकबर के विद्रोह के पूर्व ही देहान्त हो चुका था और उसके उत्तराधिकारी राणा जयसिंह ने अधिक समय तक युद्ध को जारी रखना पसन्द नहीं किया । उसने औरंगजेब के साथ सन्धि कर ली । परन्तु दुर्गादास लड़ता रहा । उस वीर पुरुष ने तब तक अपनी तलवार को म्यान में नहीं रखा जब तक कि औरंगजेब के उत्तराधिकारी बहादुरशाह ने अजीतसिंह को मारवाड़ का शासक स्वीकार नहीं कर लिया ।

औरंगजेब की राजपूत नीति से मुगल साम्राज्य को जन-धन की अपार हानि तो उठानी पड़ी, परन्तु उसने राजपूतों का सहयोग भी खो दिया । जिन राजपूत शूरमाओं के बल-पराक्रम पर उसके बाप, दादा और परदादा ने साम्राज्य का विस्तार किया था, उन्हीं की सैनिक सेवाओं से वह वंचित हो गया । वह मुगल साम्राज्य के लिए दुर्भाग्य की बात थी ।

दक्षिण भारत—औरंगजेब ने चाहे अकबर की सभी नीतियाँ त्याग दी हों, परन्तु भारत के राजनीतिक एकीकरण की नीति को नहीं त्यागा । जब वह बादशाह बना, उस समय दक्षिण भारत का बहुतसा भाग मुगल साम्राज्य में सम्मिलित न था । उस समय दक्षिण में तीन मुख्य शक्तियाँ थीं—बीजापुर, गोलकुण्डा और मराठे । बीजापुर और गोलकुण्डा शिया राज्य थे। पहले में आदिलशाही वंश का और दूसरे में कुतुबशाही वंश का शासन था । अपने पिता की भांति वह भी शियाओं के इन स्वतन्त्र राज्यों को सहन नहीं कर सकता था । क्योंकि राजनीतिक दृष्टि से यहाँ के शासक ईरान के शिया शासक के प्रति निष्ठा रखते थे । इस प्रकार इन राज्यों पर आक्रमण करने के पीछे औरंगजेब के राजनीतिक तथा धार्मिक – दोनों उद्देश्य थे ।

औरंगजेब दक्षिण भारत में मराठों की नवोदित शक्ति को भी कुचलना चाहता था। दक्षिण के शिया राज्यों ने मराठों को चौथ देना स्वीकार कर लिया था और वे गुप्त रूप से मराठों को मुगलों के विरुद्ध सहायता भी देते रहते थे । इसलिए औरंगजेब शिया राज्यों के साथ-साथ मराठों को भी समाप्त करना चाहता था । मराठे हिन्दू थे और औरंगजेब की धार्मिक नीति हिन्दुओं की एक और नई शक्ति को विकसित होते नहीं देख सकती थी । शुरू में उसने अपने सेनानायकों को भेजा । परन्तु जब उसका विद्रोही भगोड़ा बेटा अकबर शंभाजी की शरण में जा पहुँचा तो वह स्वयं दक्षिण भारत में आया और अपने जीवन के शेष पच्चीस वर्ष

दक्षिण विजय करने में व्यतीत कर दिये, किन्तु दक्षिण उसके लिए एक ऐसा जहरीला फोड़ा सिद्ध हुआ जिसने उसका सर्वनाश कर दिया।

बीजापुर और गोलकुण्डा—दक्षिण की ये दोनों शिया रियासतें इस समय तक बिलकुल दुर्बल और खोखली हो चुकी थीं। बीजापुर का शासक सिकन्दर शाह एक अयोग्य तथा भोग-विलासी व्यक्ति था। उसके सामन्तों में गहरी फूट थी और वे अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए कोई भी कुकर्म करने को तैयार रहते थे। यही कारण है कि जब 1685 ई में औरंगजेब ने बीजापुर पर आक्रमण किया तो बीजापुरी सेना अधिक समय तक मुगलों का प्रतिरोध न कर सकी और उसे आत्म-समर्पण करना पड़ा। सुल्तान सिकन्दरशाह को एक लाख रुपया वार्षिक पेन्शन देकर दौलताबाद दुर्ग में नजरबन्द कर दिया गया और बीजापुर को मुगल साम्राज्य में मिला लिया गया।

इसके बाद औरंगजेब ने गोलकुण्डा की तरफ ध्यान दिया जिस पर इस समय सुल्तान अबुल हसन का शासन था। अबुल हसन भी अयोग्य और भोग-विलासी व्यक्ति था। राज्य के शासन की बागडोर मदना और अकन्ना नामक दो मराठे ब्राह्मणों के हाथ में थी। 1687 ई. में औरंगजेब ने गोलकुण्डा पर आक्रमण किया और गोलकुण्डा के दुर्ग का घेरा डाल दिया गया। आठ मास की घेराबन्दी के बाद भी जब सफलता न मिली तो औरंगजेब ने दुर्ग रक्षकों को घूंस देकर दुर्ग के फाटक खुलवा लिए। मुगल सेना ने दुर्ग पर अधिकार कर लिया। सुल्तान अबुल हसन पकड़ा गया और उसे भी दौलताबाद के दुर्ग में रखा गया। गोलकुण्डा को भी मुगल साम्राज्य में मिला लिया गया। कुछ विद्वानों का मत है कि इन राज्यों को समाप्त कर औरंगजेब ने घातक भूल की, क्योंकि वे मुगलों के लिए मराठों के विरुद्ध दीवार का काम करते थे और अब मराठों का मुगल साम्राज्य से सीधा सम्पर्क हो गया। परन्तु इस प्रकार की मान्यता में कोई विशेष बल नहीं।

मराठों के संघर्ष—दक्षिण भारत में शिवाजी के नेतृत्व में मराठा शक्ति का तेजी के साथ विस्तार होना शुरू हो गया था। उन्होंने सुसंगठित 'मराठा स्वराज्य' की नींव रख दी थी। पूना को केन्द्र बनाकर शिवाजी ने मावल प्रदेश, सिंहगढ़, चाकन, तोरण, जावली, पुरन्दर आदि दुर्गों पर अपनी सत्ता स्थापित कर ली थी। इससे उनकी प्रसिद्धि और सैनिक-शक्ति दोनों का विकास हुआ। बीजापुर के सुल्तान ने शिवाजी के विरुद्ध अपने प्रसिद्ध सेनानायक अफजल खाँ को भेजा जिसे शिवाजी ने चतुराई के साथ मौत के घाट उतार दिया। इसके बाद शिवाजी ने मुगल प्रदेशों में लूटमार शुरू कर दी। तब औरंगजेब ने अपने मामा शाइस्ता खाँ को शिवाजी के विरुद्ध भेजा। शाइस्ता खाँ ने पूना तक का प्रदेश जीत लिया। एक रात जबकि वह पूना में डेरा डाले हुए था, शिवाजी ने अचानक उस पर धावा बोल दिया। इस अचानक आक्रमण से शाइस्ता खाँ घबरा गया। भागदौड़ में उसके हाथ की अंगुलियाँ कट गईं। शाइस्ता खाँ पर किये गये इस साहसिक धावे से शिवाजी की लोकप्रियता बढ़ गई और समूचे भारत में उनका नाम फैल गया।

अब औरंगजेब ने जयपुर के मिर्जा राजा जयसिंह को शिवाजी के विरुद्ध भेजा। जयसिंह अपने समय का कुशल सेनानायक और दक्ष कूटनीतिज्ञ था। उसने शिवाजी को चारों तरफ से घेर लिया। विवश होकर शिवाजी को मुगलों के साथ पुरन्दर की सन्धि करनी पड़ी और जयसिंह के आग्रह-अनुरोध पर सम्राट औरंगजेब से मिलने के लिए आगरा जाने के लिए रजामन्द होना पड़ा। आगरा पहुँचने पर औरंगजेब ने उन्हें बन्दी बना लिया, परन्तु शिवाजी मुगल पहरेदारों की आँखों में धूल झोंक कर भाग निकले और सकुशल पूना पहुँच गये। पूना आने के बाद उन्होंने मुगलों के साथ घमासान युद्ध छेड़ दिया। औरंगजेब को विवश होकर शिवाजी के साथ सन्धि करना पड़ी और शिवाजी को एक स्वतन्त्र राजा मानना पड़ा। कुछ वर्षों तक शांति रही, परन्तु 1672 ई० से पुनः युद्ध प्रारम्भ हो गया। 1680 ई० में शिवाजी का देहान्त हो गया। परन्तु मुगलों के साथ मराठों का संघर्ष जारी रहा।

जब औरंगजेब का विद्रोही लड़का शाहजादा अकबर दक्षिण में मराठा छत्रपति शम्भाजी (शिवाजी का पुत्र) के आश्रय में पहुँचा तो औरंगजेब चिंतित हो उठा। उसे इस बात का भय था कि कहीं मराठा अथवा दक्षिण के शिया राज्य अकबर का पक्ष लेकर कोई नया संकट न पैदा कर दें। इसलिए, वह स्वयं सेना सहित दक्षिण जा पहुँचा। सर्वप्रथम उसने बीजापुर और गोलकुण्डा को जीता और उसके बाद मराठों की शक्ति को नष्ट करने में अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा दी। शम्भाजी ने अपने पिता की भांति मुगलों से संघर्ष जारी रखा। परन्तु 1689 ई० में वह पकड़ा गया। उसे इस्लाम स्वीकार करने को कहा गया। अस्वीकार करने पर उसे घोर यातनाएँ दी गई और 11 मार्च, 1689 ई० के दिन उसका बध कर दिया गया। शम्भाजी की हत्या ने मराठा जनता में अपूर्व साहस उत्पन्न कर दिया। औरंगजेब का विश्वास था कि अब मराठा शक्ति अपने आप समाप्त हो जायेगी। परन्तु उसका अनुमान गलत सिद्ध हुआ। उसे मराठों की जनशक्ति से जबरदस्त लोहा लेना पड़ा। एक छत्रपति के स्थान पर अब हजारों लोग शस्त्र लेकर उसके विरुद्ध उठ खड़े हुए और औरंगजेब की सम्पूर्ण रणकुशलता पर पानी फेर दिया। शिवाजी के द्वितीय पुत्र राजाराम और उसकी पत्नी ताराबाई के नेतृत्व में मराठों ने मुगल प्रान्तों पर धावे मारने शुरू कर दिये। इन धावों में मिलने वाली सफलताओं से प्रोत्साहित होकर अब वे शाही शिविरों पर धावे मारने लगे। औरंगजेब ने उन्हें कुचलने का बहुत प्रयत्न किया, परन्तु नाकामयाब रहा और मार्च, 1707 ई० में दक्षिण में ही उसकी मृत्यु हो गयी।

औरंगजेब की दक्षिण नीति मुगल साम्राज्य के लिए प्राण घातक सिद्ध हुई। 1682–1707 ई० की अवधि में उसे दक्षिण में निरन्तर संघर्ष करना पड़ा और इस लम्बी अवधि में वह अपनी राजधानी से दूर दक्षिण भारत में ही बना रहा।

1. मराठा शक्ति के अभ्युदय का विस्तृत विवरण आगे दिया गया है।

राजधानी से उसकी लम्बी अनुपस्थिति में उत्तर भारत की शासन व्यवस्था भी लड़खड़ा गई और चारों तरफ अशांति तथा अव्यवस्था फैल गई। राजकोष रिक्त हो गया और सरकार की आर्थिक स्थिति शोचनीय हो गई। स्वयं औरंगजेब का स्वास्थ्य भी बिगड़ गया। लगातार की असफलताओं से उसकी सेना का नैतिक पतन हो गया और कई बड़े-बड़े मुगल सेनानायक और उच्चाधिकारी भी गुप्त रूप से औरंगजेब की योजनाओं को असफल बनाने में लग गये। इस प्रकार दक्षिण नीति ने मुगल साम्राज्य की प्रतिष्ठा और समृद्धि का सर्वनाश कर डाला।

मूल्यांकन—औरंगजेब का व्यक्तिगत चरित्र बहुत ही उच्चकोटि का था। वह अपने युग के दुर्व्यसनों से दूर था। न तो उसे शराब का शौक था और न नृत्य-संगीत का और न हरम की भोग-विलासिता का। उसका सम्पूर्ण जीवन सादगी का प्रतीक था। इस दृष्टि से वह इस्लाम का आदर्श अनुयायी था। उसे फारसी, तुर्की और हिन्दी का अच्छा ज्ञान था और उसने इस्लाम के धर्म-ग्रन्थों का गहन अध्ययन किया था।

जहाँ तक योग्यता का प्रश्न है, शायद वह अपने वंश का सर्वाधिक योग्य सम्राट था। एक सैनिक की दृष्टि से वह साहसी और पराक्रमी तो था ही, परन्तु प्रत्येक अस्त्र-शस्त्र चलाने में भी कुशल था। वह एक सेनापति की दृष्टि से बहुत चालाक और रणकुशल सेनानायक सिद्ध हुआ था। वह एक परिश्रमी और दृढ़ निश्चयी प्रशासक था। कठिनाई से 3 या 4 घण्टे सो पाता था। शासन का कोई ऐसा विभाग न था, अधिकारी की कोई ऐसी नियुक्ति न थी और युद्ध की कोई ऐसी योजना न थी जिसे औरंगजेब स्वयं न देखता हो। उसने मुगल शासन तंत्र में सुधार कर शासन में व्याप्त अनुशासनहीनता और दोषों को दूर करने का प्रयास किया। प्रांतीय अधिकारियों पर कठोर नियन्त्रण स्थापित किया। कई प्रकार के करों को समाप्त कर दिया गया। शराब, भाँग, गाँजा आदि मादक वस्तुओं के सेवन और जुआ खेलने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। उसमें एक योग्य शासक के सभी गुण थे।

परन्तु औरंगजेब न एक अच्छा पुत्र, न एक अच्छा पिता, न एक अच्छा भाई, न एक अच्छा मित्र और न एक अच्छा बादशाह था। इसके लिए वह स्वयं ही उत्तरदायी था। प्रथमतः राजनीति में उदार होना उसकी नीति के विरुद्ध था। और दूसरे वह सन्देही प्रकृति का व्यक्ति था। उसने अपने जीवन में कभी किसी पर भरोसा नहीं किया। परिणामस्वरूप उसे शासन के सभी कार्य देखने पड़े। कोई भी व्यक्ति उसके प्रति स्वामिभक्त और निष्ठावान नहीं हो सका और किसी भी व्यक्ति को उसके समय में योग्यता प्राप्त न हो सकी। क्योंकि सन्देही औरंगजेब किसी की बढ़ती हुई योग्यता को सहन नहीं कर सकता था।

औरंगजेब कट्टर सुन्नी मुसलमान था। धर्मान्धता उसके लिये एक पवित्र आदर्श था। वह जीवन भर अपने इसी आदर्श पर दृढ़तापूर्वक आगे बढ़ता गया, परन्तु इसका परिणाम घातक निकला। जब वह मरा तब दक्षिण में मराठे और उत्तर में

सिक्ख उसके विरुद्ध उठ खड़े हुये थे और मुगल साम्राज्य के दृढ़ स्तम्भ समझे जाने वाले राजपूत, मुगल साम्राज्य का दामन छोड़ चुके थे। विफलता, विनाश और व्यथा का भार लेकर 1707 ई० में उसकी अन्तिम साँस निकली।



भारत के महासर्वेक्षक की अनुज्ञानुसार भारत सर्वेक्षण विभागीय मानचित्र पर आधारित।
समुद्र में भारत का जलप्रदेश उपयुक्त आधार रेखा से मापे गये बारह समुद्री मील की दूरी तक है।
इस मानचित्र में दिये गये नामों का अक्षर-विन्यास विभिन्न सूत्रों से लिया गया है।

अकबर और औरंगजेब—मुगलवंश के इतिहास में अकबर और औरंगजेब दोनों का विशिष्ट स्थान है। दोनों वीर, साहसी और महत्त्वाकांक्षी सम्राट थे और दोनों ने मुगल साम्राज्य का विस्तार किया। परन्तु दोनों की नीति, विचारधारा और कार्यप्रणाली एक-दूसरे से सर्वथा प्रतिकूल थी।

अकबर की धमनियों में विदेशी रक्त था फिर भी वह विशुद्ध भारतीय बन गया और भारत के समस्त नागरिकों की उन्नति का प्रयत्न किया। औरंगजेब विशुद्ध भारतीय था, परन्तु उसके चरित्र और कार्यों पर नाम की भी भारतीय छाप न

लगी। अकबर अशिक्षित था फिर भी उसने कला और साहित्य की उन्नति में अभूतपूर्व योगदान दिया। औरंगजेब सुशिक्षित था, परन्तु उसने कला और साहित्य को प्रोत्साहन नहीं दिया।

राज्याभिषेक के समय अकबर अल्पायु एवं अनुभवहीन था। फिर भी, वह एक सहिष्णु तथा उदार शासक सिद्ध हुआ। सिंहासन पर बैठते समय औरंगजेब 40 वर्ष का प्रौढ़ एवं अनुभवी व्यक्ति था, परन्तु कट्टर धर्मान्ध और अनुदार निकला। अकबर ने हिन्दू-मुस्लिम समन्वय स्थापित करने का अथक् प्रयत्न किया। परन्तु औरंगजेब ने इस्लाम की श्रेष्ठता सिद्ध करने तथा हिन्दुओं को कुचलने में अपनी सारी शक्ति लगा दी।

अकबर सही अर्थों में राष्ट्र-निर्माता था। औरंगजेब ने राष्ट्रीय भावना की अवहेलना की। वह केवल सुन्नी मुसलमानों का बादशाह बन पाया। अकबर ने राजपूतों से मैत्री सम्बन्ध कायम किये। औरंगजेब ने एक तरफ तो इस मैत्री को खो दिया और दूसरी तरफ मराठों तथा सिक्खों को शत्रु बना लिया। इस प्रकार जहाँ अकबर मुगल साम्राज्य का निर्माता सिद्ध हुआ, वहीं औरंगजेब उस साम्राज्य का विनाशक बना।

मुगल साम्राज्य के पतन के कारण

लगभग 175 वर्ष के गौरवपूर्ण समय के बाद मुगल साम्राज्य का पतन हो गया। महान् मुगलों के उत्तराधिकारी अन्य व्यक्तियों के हाथों में कठपुतली बन कर सिंहासन की शोभा मात्र रह गये और अन्त में उनका सिंहासन भी छिन गया। यूरोपीय इतिहास में जिस प्रकार तुर्क साम्राज्य एक रोगग्रस्त व्यक्ति की भांति घुट-घुट कर समाप्त हुआ, ठीक उसी प्रकार मुगल साम्राज्य का भी अन्त हुआ।

मुगल साम्राज्य के पतन के लिए निम्नलिखित कारण और परिस्थितियाँ उत्तरदायी थीं—

1. औरंगजेब की नीतियां—औरंगजेब की संदेही प्रकृति, उसकी धर्मान्धता की नीति और उसकी दक्षिणी नीति ने मुगल साम्राज्य की एकता और शासन-व्यवस्था को नष्ट कर दिया। उसकी संदेही प्रकृति के कारण न तो वह स्वयं शासन के सभी कार्यों की ठीक प्रकार से देखभाल कर सका और न अपने शहजादों तथा सरदारों को योग्य बना सका। उसकी इस प्रकृति ने मुगल सिंहासन के प्रति सरदारों की वफादारी और निष्ठा की भावना को भी समाप्त कर दिया। उसकी धर्मान्धता की नीति के फलस्वरूप हिन्दुओं को अपने धर्म की रक्षा के लिए तलवार उठानी पड़ी। उसकी दक्षिण नीति भी असफल रही। मराठा स्वतन्त्रता संग्राम ने उसकी कमर तोड़ दी। राजधानी से उसकी लम्बी अनुपस्थिति ने उत्तर भारत की शासन व्यवस्था को भी कमजोर बना दिया। वास्तव में, औरंगजेब की असफलता ने मुगल साम्राज्य की जड़ों को खोखली कर दिया।

2. अयोग्य और कमजोर उत्तराधिकारी—भारत में मुगलों ने जिस निरंकुश

राजतन्त्र की स्थापना की थी। उसमें प्रशासन के समस्त अधिकार सम्राट के हाथ में होते थे। उसकी सत्ता पर किसी का नियन्त्रण नहीं होता था। ऐसे शासन का अस्तित्व सम्राट के व्यक्तित्व की कीली पर घुमता था। औरंगजेब के बाद एक भी मुगल सम्राट इतना योग्य नहीं निकला कि केन्द्रीयकरण पर आधारित शासन-व्यवस्था का सफलतापूर्वक संचालन कर सके। शासन संचालन की बात तो दूर रही, उन्होंने शासक के सामान्य कर्त्तव्य भी भुला दिये और शाही हरम की विलासिता में डूब गये। जहाँदारशाह और अहमदशाह तो इतने निर्लज्ज निकले कि वे हफ्तों तक रनिवास से बाहर निकलने का नाम भी नहीं लेते थे। परिणाम यह निकला कि शासन की बागडोर स्वार्थी और लोलुप सरदारों के हाथों में चली गई जिन्होंने अपनी महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए साम्राज्य के हितों की उपेक्षा की। ऐसी स्थिति में एक विशाल साम्राज्य का अधिक दिनों तक कायम रहना असम्भव था।

3. **स्वार्थी मुगल सरदार**—मध्ययुग में सामन्त प्रथा की उपयोगिता अथवा अनुपयोगिता सम्राट के व्यक्तित्व पर निर्भर करती थी। अकबर, जहाँगीर और शाहजहां ने अपने सामन्तों के सहयोग से ही साम्राज्य का विस्तार किया था। बैराम खां, मुनीम खां, राजा मानसिह, महावत खां, आसफ खां और सादुल्ला खां जैसे सरदारों ने मुगल साम्राज्य की महत्त्वपूर्ण सेवाएँ की थीं। परन्तु औरंगजेब के बाद योग्य सरदारों का अभाव हो गया और जो हुए भी, वे वफादार न निकले। उन्होंने मुगल साम्राज्य की सत्ता से मुक्त होकर स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना का प्रयत्न किया। बंगाल, हैदराबाद, दक्षिण और अवध में स्वतन्त्र मुस्लिम राज्यों की स्थापना इसी प्रयत्न का परिणाम थी। इसमें कोई संदेह नहीं कि उतरकालीन मुगल सरदार अपने शासकों के पद चिन्हों पर चल रहे थे और उनके जीवन में शराब, स्त्री, षड्यन्त्र, पद-लोलुपता आदि ही मुख्य लक्ष्य रह गये थे।

4. **सैनिक दुर्बलता**—मुगल साम्राज्य की नींव सैनिक शक्ति के आधार पर रखी गई थी। जब तक सैनिक शक्ति सबल रही, साम्राज्य का अस्तित्व भी कायम रहा। औरंगजेब की मृत्यु के बाद मुगल सेना की शक्ति दिन प्रतिदिन क्षीण होती चली गई। मुगल सेना विभिन्न सरदारों, मनसबदारों और सूबेदारों के द्वारा संगठित की गई सेना थी जो शक्तिशाली शासक की शक्ति का आधार तो हो सकती थी परन्तु दुर्बल एवं अयोग्य शासक के अन्तर्गत आपसी फूट, संघर्ष और प्रतिस्पर्द्धा को बढ़ावा देने वाली थी। बादशाहों और सामन्तों की दिनचर्या का प्रभाव मुगल सैनिकों पर भी पड़ा। अब उन्हें अपने और घोड़ों के प्राण बचाने की चिन्ता अधिक रहती थी। मुगलों के सैनिक अभियानों का स्वरूप भी बदल गया। बड़े-बड़े शिविर, दास-दासियां, गाने-नाचने वालियाँ, दूकानदार आदि हजारों गैर सैनिक सेना के साथ चलते थे जिससे एक चलते-फिरते नगर का भ्रम होता था। इससे मुगल सेना की गति को लकवा मार गया। मुगल सेना की कमजोरी का एक अन्य कारण समयानुकूल अस्त्र-शस्त्रों का अभाव था। युग तेजी के साथ आगे बढ़ रहा था और पश्चिमी

देशों ने आग्नेय शस्त्रों में व्यापक सुधार कर लिया था। परन्तु मुगल पुराने शस्त्रों से चिपके थे।

5. **शोचनीय आर्थिक स्थिति**—मुगल साम्राज्य के पतन का एक मूल कारण उसकी शोचनीय आर्थिक स्थिति थी। शाहजहाँ ने मध्य एशिया और कंधार के युद्धों तथा अपनी इमारतों और वैभव-प्रदर्शन पर राजकोष खाली कर दिया था। औरंगजेब के समय में होने वाले विद्रोहों, दक्षिण के लम्बे युद्धों तथा शासन की अव्यवस्था ने इस स्थिति को और भी अधिक शोचनीय बना दिया। उत्तरकालीन मुगलों के समय में आर्थिक दृष्टि से मुगल साम्राज्य का दिवाला निकल गया। परिणामस्वरूप वे न अच्छी सेना रख सके, न शासन को ठीक ढ़ग से चला सके और न अपनी शाही प्रतिष्ठा कायम रख सके।

6. **अन्य कारण**—उत्तराधिकार के निश्चित नियम के अभाव में होने वाले उत्तराधिकार संघर्ष, मुगल दरबारियों की गुटबन्दियां और षड्यन्त्र, बौद्धिक पतन, नौ-सेना की दुर्बलता, मराठों का उत्थान और विदेशी आक्रमण भी मुगल साम्राज्य के पतन के लिए उत्तरदायी हुए। 1739 ई० में नादिरशाह ने भारत पर आक्रमण किया। उसने राजधानी दिल्ली को लूटा और नागरिकों का कत्ले-आम किया। बाद में, उसके एक सेनानायक अहमदशाह अब्दाली ने कई बार भारत पर आक्रमण किये। मराठे भी पीछे नहीं रहे और रही-सही कमी अंग्रेजों ने पूरी कर दी। इस प्रकार, महान् मुगल साम्राज्य का अन्त हुआ। औरंगजेब के बाद मुगल साम्राज्य इतने वर्षों तक टिक गया, यही आश्चर्य की बात है।

अभ्यास के लिए प्रश्न

1. औरंगजेब की धर्मान्धता के विरुद्ध होने वाले विद्रोहों का उल्लेख कीजिए। उसका मुगल साम्राज्य पर क्या प्रभाव पड़ा ?
2. औरंगजेब की राजपूत नीति की व्याख्या कीजिए तथा उसके दोषों पर प्रकाश डालिए।
3. "औरंगजेब की दक्षिण नीति एक जहरीला फोड़ा सिद्ध हुई।" इस कथन की समीक्षा कीजिए।
4. मुगल साम्राज्य के पतन के लिए आप औरंगजेब को किस सीमा तक उत्तर-दायी मानते हैं ? अपने विचार प्रकट कीजिये।

अपने अध्ययन की जांच कीजिये

1. सही उत्तर का क्रमांक कोष्ठक में लिखिये—

   1. जाटों का पहला संगठित विद्रोह किसके नेतृत्व में हुआ था ?
      (क) राजाराम (ख) चूड़ामणि (ग) गोकुल (घ) सूरजमल ( )
   2. दिल्ली के चाँदनी चौक में सिक्खों के कौन से गुरु शहीद हुए थे ?
      (क) गुरु अर्जुन (ख) गुरु तेगबहादुर
      (ग) गुरु गोविन्दसिंह (घ) गुरु हरराय ( )

3. महाराजा जसवन्तसिंह की मृत्यु किस स्थान पर हुई थी ?
(क) दिल्ली (ख) जोधपुर (ग) जमरूद (घ) धरमट ( )
4. औरंगजेब ने बीजापुर और गोलकुण्डा के पदच्युत सुल्तानों को किस दुर्ग में रखा था ?
(क) आगरा (ख) ग्वालियर (ग) दौलताबाद (घ) चुनारगढ़ ( )
5. शिवाजी ने पूना में रात्रि के समय किस मुगल अधिकारी पर आक्रमण किया था ?
(क) अफजल खाँ (ख) मिर्जा राजा जयसिंह
(ग) सादुल्ला खाँ (घ) शाइस्ता खाँ ( )

2. केवल एक-एक पंक्ति में उत्तर दीजिए—
1. औरंगजेब ने मुहतसिब नामक अधिकारियों की नियुक्ति किस प्रयोजन से की थी ?
2. राजाराम जाट के विद्रोह के सम्बन्ध में मनूची ने किस विशेष प्रसंग का उल्लेख किया है।
3. राजकुमार अकबर ने औरंगजेब के विरुद्ध किस लिए विद्रोह किया था ?
4. शम्भाजी की मृत्यु के बाद मराठों का नेतृत्व किसने किया था ?
5. औरंगजेब ने दक्षिण भारत में कितने वर्ष व्यतीत किये थे ?

3. पाँच–सात पंक्तियों में उत्तर दीजिए—
1. औरंगजेब का राजत्व-सिद्धान्त समझाइये।
2. सतनामी विद्रोह का मूल कारण बताइए।
3 गुरु गोविन्दसिंह ने सिक्ख सम्प्रदाय को कैसे सबल बनाया ?
4. मेवाड़ ने औरंगजेब के विरुद्ध मारवाड़ का साथ क्यों दिया ?
5. अकबर का विद्रोह असफल क्यों हुआ ?

4. भारत के मानचित्र में उन क्षेत्रों की स्थिति अंकित कीजिए जहाँ के निवासियों में औरंगजेब की धर्मान्धता के विरुद्ध विद्रोह किया था।

पूरक अध्ययन के लिए ग्रन्थ

1. जदुनाथ सरकार : (क) औरंगजेब ।
(ख) शिवाजी और उनका काल।
2. सर देसाई : मराठों का नवीनतम इतिहास, भाग 1–3.
3. श्रीराम शर्मा : भारत में मुगल साम्राज्य।

6. मुगलों की देन : शासन–व्यवस्था, समाज और संस्कृति

मुगल साम्राज्य की सबसे बड़ी देन भारत के अधिकांश भू-प्रदेश को एक लम्बे समय तक राजनैतिक एकता और एक शासन-व्यवस्था प्रदान करने की थी। भारत के विस्तृत भू-भाग में और विशेषकर विन्ध्य के उत्तर में आंतरिक शांति की स्थापना की। राजनैतिक एकता, स्थायित्व और शासन की एकता प्रदान की। सरकारी दफ्तरों की भाषा, शासन प्रणाली तथा सिक्कों में एकरूपता आ गई। मुगल साम्राज्यों के सूत्रों में एक जैसी ही शासन प्रणाली अपनाई गई थी। अफसरों के पद भी समान थे और कार्य भी एक ही ढंग से होता था। सरकारी कर्मचारी तथा सैनिकों के तबादले बहुधा एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त को होते रहते थे। व्यापारी तथा यात्री एक नगर से दूसरे नगर को, एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त को सरलता से आया-जाया करते थे। इस प्रकार इस विशाल देश में उच्च कोटि की एकता पाई जाती थी।

मुगलों की एक अन्य प्रमुख देन विदेशों से सम्बन्ध स्थापित करने और भारतीय नौ–सेना तथा समुद्री व्यापार को पुनः चालू करना था। एक लम्बे समय तक अफगानिस्तान भारतीय साम्राज्य का अंग रहा। इससे स्थल मार्ग से उत्तर-पश्चिम और यूरोप के देशों तक से व्यापारिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित हुए। जदुनाथ सरकार ने लिखा है कि "सत्रहवीं सदी के आरम्भ में जहाँगीर के शासन काल में बोलन दर्रे द्वारा, व्यापारिक सामिग्री से लदे हुए 14,000 ऊँट प्रतिवर्ष भारत आते थे।" गुजरात और बंगाल के विभिन्न बन्दरगाह समुद्री मार्ग से विदेशों से सम्बन्ध स्थापित करने में सहायक हुए।

मुगलों ने भारतीय-अरबी कला का विकास किया, जिसमें हिन्दू तथा चीनी पद्धति एक हो गई। अरबी कला का भारतीयकरण करने का काम अकबर के समय में शुरू हुआ जो उसके बाद तक चलता रहा। इसके अतिरिक्त नवीन प्रकार की गृह-निर्माण कला, पच्चीकारी, शाल, किमखाब, मलमल, गलीचे इत्यादि की उत्कृष्ट कला का आविर्भाव हुआ। हिन्दुस्तानी अथवा 'रेखता' नाम की एक मिली-जुली समान भाषा और सरकारी गद्य शैली का विकास हुआ। इसे अधिकांश में फारसी लिखने वाले हिन्दू मुन्शियों ने जन्म दिया। मुगल साम्राज्य की शांति तथा आर्थिक समृद्धि के कारण हमारे भाषा साहित्य की उन्नति हुई। ऐतिहासिक साहित्य का निर्माण हुआ। जाति-धर्म के भेद भाव के बिना उच्च वर्ग में सामाजिक आचार तथा वेशभाषा और विशेष कर सुसंस्कृत रहन-सहन में समानता आई।

मुगलों ने युद्ध के तरीकों और साधनों में वृद्धि की। तुर्की, फारसी और मध्य एशिया से प्राप्त युद्धनीति को उन्होंने भारत में आरम्भ किया। बाबर की तुलुगमा युद्ध पद्धति, उसका तोपखाना और गतिशील अश्वारोही सेना भारत के लिए नवीन चीजें थीं। बाद के मुगल शासकों ने उन सभी को और आगे बढ़ाया। दुर्गों का निर्माण, सुरक्षा के प्रयत्न, मनसबदारी-प्रथा, शिविर-व्यवस्था आदि मुगलों की अपनी अलग विशेषताएँ थीं जिन्होंने भारत में युद्ध के नवीन साधनों और रण-कौशल आरम्भ किया।

शासन-व्यवस्था

भारतीय इतिहास में मुगलों की शासन-व्यवस्था का अपना विशिष्ट स्थान है। अकबर ने मूलतया इस शासन-व्यवस्था का निर्माण किया और थोड़े से परिवर्तनों के अतिरिक्त यह व्यवस्था औरंगजेब के समय तक जारी रही थी। मुगल विदेशी थे और उनकी शासन-व्यवस्था में विदेशी तत्त्व विशेषकर फारस और अरब की व्यवस्था के चिह्न विद्यमान थे। परन्तु उसमें भारतीय शासन-व्यवस्था और भारतीय आदर्श भी घुल-मिल गए थे इसमें कोई सन्देह नहीं कि मुगल शासन-व्यवस्था का मूलाधार सैनिक था और यह विशेषता अन्त तक कायम रही। परन्तु मुगल शासकों ने अपनी प्रजा के लिए अच्छी और सुरम्य जीवन की परिस्थितियों का निर्माण करना भी अपना कर्त्तव्य समझा था। संक्षेप में, उनकी शासन-व्यवस्था की रूपरेखा निम्नलिखित प्रकार की थी—

सम्राट की स्थिति— मुगल साम्राज्य में सम्राट की स्थिति सर्वोच्च थी। उसके अधिकार असीमित थे, वही राज्य का अन्तिम कानून-निर्माता, शासन-व्यवस्थापक, सर्वोच्च न्यायाधीश और सेनापति था। अकबर के समय से मुगल शासक 'राजत्व में देवत्व' का विश्वास करने अर्थात् वे अपने आपको ईश्वर का प्रतिनिधि मानने लगे। अकबर शासक को ईश्वर की परछाई (जिल्लेइलाही) मानता था और इसी आधार पर उसने झरोखा-दर्शन, तुलादान आदि प्रथाओं को शुरू किया था। इसी प्रकार मुगल शासक पूर्णतया निरंकुश थे। परन्तु वे स्वेच्छाचारी अथवा अत्याचारी न थे और प्रजा की भलाई करना अपना प्रमुख कर्त्तव्य मानते थे। डॉ० ताराचन्द ने मुगल शासन को कुलीनों का शासन बताया है।

केन्द्रीय अधिकारी—शासन संचालन में अपनी सहायता के लिए मुगल सम्राट विभिन्न मन्त्रियों को नियुक्त करता था। ये मन्त्री आधुनिक प्रजातन्त्रीय शासन के मन्त्रियों से सर्वथा भिन्न थे। वे सम्राट की आज्ञा पालन करने और उसकी इच्छानुसार शासन चलाने वाले अधिकारी मात्र थे। न तो वे नीति-निर्माता थे और न ही उनके पास विशेषाधिकार थे। उनकी पदावधि सम्राट की कृपा पर निर्भर करती थी। वे सम्राट को सलाह दे सकते थे, परन्तु उनकी सलाह बादशाह के लिए मान्य न थी। कुछ प्रमुख केन्द्रीय अधिकारी निम्नलिखित थे—

1. वजीर--(प्रधानमन्त्री, वकील-ए-मुतलक, दीवान)—सम्राट के बाद शासन का सर्वोच्च अधिकारी वजीर था। सम्राट की अनुपस्थिति में शासन का सारा

भार और उत्तरदायित्व उसी को सम्भालना पड़ता था । वह सम्राट और दूसरे अधिकारियों के बीच की कड़ी था । दीवान होने के नाते उसका मुख्य कार्य राज्य की आय और व्यय की देखभाल करना था । वह राज्य के अन्य विभागों पर नियंत्रण रखता था और सूबों से सूचनाएँ प्राप्त करता था तथा सरकारी आदेश वहाँ भेजता था । उसकी सहायता के लिए अनेक अधिकारी तथा कर्मचारी होते थे ।

2. **मीरबख्शी**—मीरबख्शी सैन्य विभाग का सर्वोच्च अधिकारी था। राजकीय सेवा के अन्तर्गत सभी नियुक्तियाँ उसी के विभाग द्वारा की जाती थीं । वह समस्त मनसबदारों का रजिस्टर रखता था । जिसमें प्रत्येक मनसबदार के अन्तर्गत रहने वाले सैनिकों की संख्या और उनकी हुलिया आदि लिखी रहती थी । उसे मनसबदारों के सैनिकों का निरीक्षण करने का अधिकार भी था । मनसबदारों के वेतन का भुगतान भी उसी के द्वारा किया जाता था ।

3. **खानेसामां** (खान-ए-सामां)—खानेसामां बादशाह के परिवार, उसके महल और उसकी व्यक्तिगत तथा दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति की देख-भाल करता था । सम्राट के निजी नौकर एवं दास तथा राजकीय भोजन भण्डार उसी की देख-रेख में रहते थे । । शाही कारखानों जहाँ नाना प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन होता था, उनकी देख-भाल भी उसी के नियन्त्रण में थी । अतः इस पद पर प्रायः अत्यधिक विश्वस्त एवं निष्ठावान लोगों को ही नियुक्त किया जाता था ।

4 **प्रधान काजी**—मुगल शासन पद्धति में सम्राट ही सर्वोच्च न्यायाधीश होता था, परन्तु समयाभाव के कारण वह सभी अपीलों की सुनवाई नहीं कर सकता था अतः उसने अपना यह कर्त्तव्य और अधिकार प्रधान काजी को सौंप रखा था। इस दृष्टि से वह साम्राज्य का सर्वोच्च न्यायाधीश था । वह अभियोगों की सुनवाई करता था और इस्लामी कानून के आधार पर उसका निर्णय करता था । प्रान्तों, जिलों और नगरों से काजियों को नियुक्त करना और उनके निर्णयों के विरुद्ध अपीलों की सुनवाई करना उसका मुख्य कार्य था।

5. **प्रधान सद्र** (सद्र-उस-सुद्दूर)—इसका मुख्य कार्य धार्मिक मामलों पर सम्राट को सलाह देना था। राजकीय दान-पुण्य की व्यवस्था, धार्मिक शिक्षा की व्यवस्था, विद्वानों और साधु-सन्तों के लिए राजकीय अनुदान की व्यवस्था करना उसके प्रमुख कर्त्तव्य थे । प्रान्तीय सद्रों की नियुक्ति के सम्बन्ध में सम्राट को सलाह देना और उनके काम का निरीक्षण करना भी उसका कर्त्तव्य था ।

6. **मुहतसिब**—इस पदाधिकारी का सामान्य कर्त्तव्य जनता में नैतिक आदर्शों को बनाये रखना था । परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से इसका मुख्य कार्य मुसलमानों से इस्लाम की शिक्षाओं का पालन करवाना था तथा उन्हें शरिअत के विरुद्ध आचरण करने से रोकना था । औरंगजेब के शासनकाल में इस पदाधिकारी का महत्त्व काफी बढ़ गया, क्योंकि औरंगजेब को इस्लामी परम्परा को बनाये रखने में अत्यधिक रुचि थी ।

मीर-आतिश (दरोगा-ए-तोपखाना) और दरोगा-ए-डाक चौकी के पद मन्त्री-पद के न होते हुए भी शासन के महत्वपूर्ण पद माने जाते थे ।

प्रान्तीय शासन व्यवस्था—सम्पूर्ण साम्राज्य प्रान्तों (सूबों) में बंटा हुआ था । अकबर के शासन काल में 15 सूबे थे तो औरंगजेब के समय में 20 सूबे थे । प्रांतीय शासन व्यवस्था का ढांचा केन्द्रीय शासन-व्यवस्था के समान ही था । जदुनाथ सरकार ने लिखा है कि "मुगल सूबों में शासन-व्यवस्था केन्द्रीय शासन-व्यवस्था का लघु रूप थी ।" सम्राट की भांति सूबेदार (निजाम अथवा सिपहसालार) प्रान्त का सर्वोच्च अधिकारी होता था । उसकी नियुक्ति सम्राट स्वयं करता था और यह पद प्रायः राजवंशीय लोगों अथवा उच्च मनसबदारों को ही दिया जाता था । सूबेदार का मुख्य काम अपने प्रान्त में शांति और व्यवस्था को कायम रखना, राजकीय आज्ञाओं का पालन करवाना तथा प्रांत की राजस्व बसूली के काम में सहायता देना था । प्रान्त में उठने वाले विद्रोहों को दबाने का दायित्व भी उसी का होता था । अतः उसे हर समय अपनी सेना को संगठित एवं तैयार रखना पड़ता था ।

सूबेदार के बाद, प्रान्तीय शासन-व्यवस्था का दूसरा मुख्य अधिकारी 'दीवान' होता था । राजस्व बसूल करना तथा राजस्व वसूली के लिए अधिकारियों तथा कर्मचारियों की नियुक्ति करना उसके मुख्य कर्त्तव्य थे । दीवान की नियुक्ति भी सम्राट के द्वारा की जाती थी और बह सूबेदार के समान स्तर का अधिकारी माना जाता था । प्रांतीय शासन-व्यवस्था में ये दोनों अधिकारी एक दूसरे के कार्यों पर निगरानी रखते थे और अपनी रिपोर्ट सीधी सम्राट के पास भेजा करते थे । इस दृष्टि से यह व्यवस्था मुगल शासन की विशेषता कही जा सकती है ।

प्रान्त के अन्तर्गत कई जिले (सरकार) होते थे । प्रत्येक जिला "फौजदार" नामक अधिकारी के अन्तर्गत रखा जाता था । उस का पद और कार्य आजकल के जिला कलक्टर के समान था । वह प्रान्तीय सूबेदार के प्रति उत्तरदायी होता था । जिले में शांति व्यवस्था को बनाये रखने के लिए उसके अधिकार में एक छोटी सी सेना रखी जाती थी । नगरों में शान्ति और व्यवस्था को कायम रखने के लिए 'कोतवाल' नामक अधिकारी नियुक्त किये जाते थे । गांव में परम्परागत पंचायतों का शासन था । सरकार उनके कार्यों में बहुत कम हस्तक्षेप करती थी ।

मुगल शासन पद्धति की एक विशेषता यह थी कि किसी भी अधिकारी को सैनिक अथवा असैनिक कार्य सौंपा जा सकता था । कई ऐसे अधिकारी भी होते थे जिन्हें कभी कोई कार्य सौंपा ही नहीं जाता था । उनका एक मात्र काम दरबार में उपस्थित होना होता था । सरकारी अधिकारियों को साम्राज्य के किसी भी हिस्से में स्थानान्तरित किया जा सकता था ।

वित्त और लगान व्यवस्था—मुगल साम्राज्य की आय के कई साधन थे जैसे कि व्यापारिक कर, खान कर, पैतृक सम्पत्ति कर, नमक कर, चुंगी कर, युद्ध से लूटी गई सम्पत्ति का 1/5 वां भाग, टकसाल, अधीन राजाओं से प्राप्त होने वाले उपहार राजकीय कारखानों की आय और भूमि कर । बाबर और हुमायूं ने मुसलमानों से

'जकात' नामक धार्मिक कर और हिन्दुओं से 'जजिया' और 'तीर्थयात्रा कर' लिए थे। अकबर ने इनको समाप्त कर दिया था। परन्तु औरंगजेब के समय में यह कर फिर से लगाए गए। आय के साधनों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमि कर था।

बाबर और हुमायूँ के समय सल्तनकालीन लगान व्यवस्था जारी रही। सम्पूर्ण भूमि को जागीरों में बाँट दिया गया और भूमि अथवा पैदाबार की जांच पड़ताल कराए बिना ही पुराने हिसाब से लगान बसूल किया जाता रहा। शेरशाह ने नया भूमि बन्दोबस्त लागू किया। अकबर ने उसके काम को आगे बढ़ाया, उसके शासन काल में जो पद्धति लागू की गई थी, उसे 'टोडरमल का बन्दोवस्त' अथवा 'दहसाला-प्रबन्ध' पुकारा गया है। इस पद्धति के अन्तर्गत सर्वप्रथम समस्त कृषि योग्य भूमि की सही पैमाइश करवाई गई। भूमि की पैमाइश के लिए रस्सों के स्थान पर लोहे की जजीरों से बंधे बांसों का प्रयोग किया गया। पैदावार की दृष्टि से सम्पूर्ण कृषि योग्य भूमि को चार भागों में बाँटा गया [पोलज, परौती (परती), चच्चर (छच्चर) और बंजर]। प्रत्येक श्रेणी की भूमि की प्रति बीघे की पैदाबार का अनुमान लगा कर फिर सभी श्रेणियों की पैदाबार का औसत निकाला जाता था और इस औसत पैदावार का 1/3 भाग किसान से लगान लिया जाता था। किसानों से लगान सिक्कों के रूप में लिया जाता था। प्रत्येक किसान को उसकी भूमि का पट्टा दिया जाता था और बदले में उसके कबूलियत (स्वीकृति) लिखवाली जाती थी। पट्टे में उसकी भूमि का विवरण उसे कितना लगान देना है, आदि बात लिखी होती थी।

जहाँगीर के समय में अकबर की लगान व्यवस्था बिना किसी विशेष परिवर्तन के जारी रही। शाहजहाँ के समय में व्यवस्था में गिरावट आ गई। डॉ. बनारसी प्रसाद सक्सैना के मतानुसार राज्य की 70% भूमि जागीरदारों को दे दी गई जिससे राज्य का जागीरी किसानों से सम्पर्क टूट गया। इसके अतिरिक्त लगान की दर भी बढ़ा दी गई। अब 30% से 50% तक लगान लिया जाने लगा। लगान बसूली का काम ठेकेदारों को देने की प्रथा का आरम्भ भी शाहजहाँ के समय में ही हुआ। इससे किसानों को काफी क्षति पहुँची क्योंकि ठेकेदार लोग नियम से अधिक लगान वसूल करते थे। औरगजेब के समय में उपर्युक्त सभी दोष तो कायम रहे ही, परन्तु लगान वसूली के लिए कठोरता बरती जाने लगी और किसानों से सम्पूर्ण भूमि से लगान लिया जाने लगा, चाहे उस पर खेती की गई हो अथवा नहीं। इससे किसानों की स्थिति खराब हो गई।

सामाजिक जीवन

मुगलकालीन भारतीय समाज मुख्यत: दो वर्गों में विभाजित था—हिन्दू और मुसलमान। दोनों वर्ग अनेक उपवर्गों में बिभाजित थे। बहुसंख्यक हिन्दू परम्परागत जातियों में बँटे हुए थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अब भी समाज के मुख्य वर्ग थे। जाति बन्धन पहले के समान कठोर थे और सामान्यत: अन्तर्जातीय खान-पान और विवाह सम्बन्ध अनुचित माना जाता था। मुसलमान स्पष्ट रूप से दो वर्गों में विभाजित थे-विदेशी और भारतीय। विदेशी मुसलमानों में अरब, ईरानी, उजबेग,

अफगान, तुर्क, हब्शी इत्यादि मुख्य थे जो नौकरी अथवा व्यापार के लिए भारत में बसे थे। भारतीय मुसलमान वे थे जो शुरू से ही हिन्दू थे और बाद में मुसलमान बना लिए गये अथवा मुगलों के आगमन के पूर्व हिन्दू से मुसलमान बने लोगों की सन्तान थे। विदेशी मुसलमानों की तुलना में भारतीय मुसलमानों की संख्या अधिक थी, परन्तु राज दरबार तथा शासन-तन्त्र में विदेशी मुसलमानों का प्रभाव अधिक था। मुगल राज परिवार में विदेशी मुसलमानों को बहुत अधिक प्रतिष्ठित समझा जाता था। धार्मिक भेदों के आधार पर मुसलमान लोग, सुन्नी, शिया, खोजा, बोहरा आदि सम्प्रदायों में विभाजित थे। मुसलमानों में एक महत्वपूर्ण वर्ग सूफियों का भी था। सुन्नियों की संख्या अधिक थी और सुन्नी एवं शिया मुसलमानों में प्रायः प्रतिस्पर्द्धा चलती रहती थी।

भारत में विदेशियों के आने और यहां आबाद होने पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं था। परिणाम स्वरूप देश के कई भागों में यहूदी, चीनी, पुर्तगाली, अंग्रेज, फ्राँसीसी आदि भी बसे हुए थे।

सामाजिक श्रेणियाँ—मुगलकालीन भारतीय समाज को तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है—उच्च, मध्यम और निम्न। उच्च श्रेणियों में शाही परिवार के सदस्य, अमीर-उमराव, मनसबदार तथा कुलीन वर्ग के लोग होते थे। इस वर्ग की तड़क-भड़क और चमक-दमक आंखों को चकाचौंध कर देने वाली थी। सुन्दर वस्त्रों और मूल्यवान आभूषणों के प्रदर्शन के लिए लोगों में होड़ लगी रहती थी। कोई अमीर लाखों रुपयों का दान करता था तो कोई कवियों और कलावन्तों का आश्रयदाता बना हुआ था। जाफर खां जैसे अमीर भी थे जो अपने घोड़ों को प्रतिदिन गुलाबजल से स्नान कराते थे। सर टामस रो ने आसफ खाँ द्वारा दी गई एक दावत का सुन्दर वर्णन किया है। इस दावत में बुखारा समरकन्द से फल मँगाये गये थे। बड़ी बड़ी दावतों में बर्फ का प्रयोग भी किया जाता था। इस वर्ग का प्रत्येक व्यक्ति अत्यधिक खर्चीला था। शाइस्ता खां दक्षिण के मोर्चे पर 400 वेश्याओं तथा नर्तकियों को साथ ले गया था। इन लोगों का भोजन बड़ा ही स्वादिष्ट तथा, मूल्यवान होता था। माँस भोजन का सामान्य अंग था। शराब भी खूब पी जाती थी। हिन्दुओं के उच्च वर्ग ने भी मुगलों की आदतें और चाल ढाल को सीख लिया था।

उच्च वर्ग के लोगों को अनेक प्रकार के खेल तमाशों में रुचि थी। शिकार पोलो, पशु युद्ध जैसे मनोरजन के साधन अधिक लोकप्रिय थे। शतरंज और चौपड़ एवं ताश के खेल भी मनोरंजन के साधन थे। अकबर को हाथी पालने का बड़ा शोक था। उसे हाथियों की लड़ाई देखने का बड़ा चाव था। जहाँगीर और शाहजहां के समय में उच्च वर्ग की विलासिता बहुत अधिक बढ़ गई थी।

मध्यम वर्ग में राज्य कर्मचारी, व्यापारी, समृद्ध शिल्पकार, साहित्यकार, चिकित्सक आदि थे। इनके जीवन में दिखावा कम था। यह वर्ग सीधा-साधा जीवन

व्यतीत करता था। इस वर्ग पर सरकार का अंकुश रहता था। करों के कारण वे अपने धन को छिपाने की चेष्टा किया करते थे। एक विदेशी यात्री टेरी ने लिखा है कि "यह उनके लिए सुरक्षित न था कि वे अपने को धनी दिखाते। इन्हें स्थानीय अधिकारियों का भय रहता था कि कहीं वे उनके धन का अपहरण न करलें।"

निम्न श्रेणी में मजदूर, ग्रामीण तथा कारीगर सम्मिलित थे। मजदूरों का जीवन दयनीय था। उन्हें कठोर परिश्रम करना पड़ता था और बहुत कम मजदूरी मिलती थी। कई बार बलपूर्वक बेगार ली जाती थी। यह वर्ग अपनी दैनिक आवश्यकताओं को भी कठिनाई से जुटा पाता था। इनका जीवन दासों से थोड़ा ही अच्छा था। न तो उनके पास अच्छे मकान थे और न ही अच्छे वस्त्र। किसानों का जीवन भी अधिक सुखी नहीं था। वे नाना प्रकार के करों के भार से दबे हुए थे। उन लोगों से भी बलात बेगार ली जाती थी। कई बार उन्हें अपने खेतों से बेदखल कर दिया जाता था और कभी कभी उनकी सम्पत्ति जब्त कर ली जाती थी। उनमें शिक्षा का प्रसार नाममात्र का ही था। अधिकाँश किसान अपने परम्परागत अन्धविश्वासों में जकड़ें हुए थे फिर भी, उनका नैतिक स्तर उच्चकोटि का था।

स्त्रियों की स्थिति – मुगल काल में अनेक स्त्रियाँ ऐसी हुईं जिन्होंने अपने समय की राजनीति, साहित्य और कला में योगदान दिया था। रानी कर्णावती, रानी जोधाबाई, रानी दुर्गावती, रानी रूपमति, चाँदबीबी, नूरजहाँ, अस्मत बेगम, मुमताज महल, जहांआरा, रोशनआरा, जैबुन्निसा, जीजाबाई, ताराबाई आदि ने अपने समय की राजनीति और समाज को प्रभावित किया था। परन्तु जनसाधारण में स्त्रियों की स्थिति बहुत गिरी हुई थी। हिन्दू और मुसलमान दोनों सम्प्रदायों में कठोर पर्दा प्रथा जारी थी। बड़ें घरों की स्त्रियां तो सामान्यतः घर से बाहर ही नहीं निकलती थीं और जब कहीं उन्हें बाहर जाना पड़ता तो वे पालकी में बैठकर जाया करती थीं। साधारणतया स्त्रियों को शिक्षा नहीं दी जाती थी। समाज में उनका विशेष आदर तथा सम्मान नहीं था। वस्तुतः मुगल शासकों, सरदारों और धनिकों की बढ़ती हुई विलासिता ने स्त्री को केवल विलास पूर्ति का साधन-मात्र बना दिया था। शासकों और सरदारों के हरम में हजारों स्त्रियां रखैलों अथवा उप पत्नियों और दासियों के रूप में रहा करती थी अकबर के हरम में करीब 5000 हजार स्त्रियां थी। राजा मानसिंह के हरम में 1500 स्त्रियां थीं। मुसलमानों को चार स्त्रियां रखने का धार्मिक अधिकार था, परन्तु सामान्यतः मुसलमान एक ही पत्नी रखता था, मुसलमानों में तलाक प्रथा थी। हिन्दू स्त्रियों की स्थिति और भी खराब थी। पर्दा-प्रथा बाल-विवाह, विधवाओं का विवाह न होना, लडकी के जन्म को अपशकुन मानना, सती-प्रथा आदि सामाजिक दोषों के कारण हिन्दू स्त्रियों का स्थान समाज में निम्न हो गया था। इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य बात यह है कि मुगल सभ्यता और उसका प्रभाव मुख्यतया नगरों तक ही सीमित रहा और ग्रामीण क्षेत्र में मध्यम परिवारों की स्त्रियों को परम्परागत स्थान प्राप्त था।

वेशभूषा—मुगलकाल में वेशभूषा, खान-पान तथा शृंगार प्रसाधनों में बहुत परिवर्तन हुए। उच्च एवं माध्यम श्रेणी के हिन्दू तथा मुसलमान दोनों ही अंगरखा और चूड़ीदार पजामा पहिनते थे। सामान्य हिन्दू धोती पहिनता था। दोनों सम्प्रदाय के लोग पगड़ी या साफा बाँधते थे। परन्तु बांधने के तरीके अलग-अलग थे। सम्पन्न लोग वस्त्रों पर सोना, कशीदा, हीरा-मोती आदि का कार्य कराते थे। स्त्रियाँ और पुरुष दोनों को आभूषणों का शौक था। हिन्दू स्त्रियां धोती और विभिन्न प्रकार की चोलियों का उपयोग करती थी और मुसलमान स्त्रियाँ पजामा, घाघरा, जाकट और दुपट्टे का प्रयोग करती थीं। शृंगार के लिए विभिन्न प्रकार के लेप, तेल, इत्र, काजल महावर आदि का प्रयोग किया जाता था।

इस युग के सामाजिक जीवन की सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि हिन्दू और मुसलमान एक-दूसरे के काफी अधिक निकट आ गये थे। भक्ति-आन्दोलन के धर्म प्रचारकों, सूफी सन्तों और अकबर की सहिष्णुता ने इस कार्य में बहुत सहयोग दिया था। इससे भारत का सामाजिक जीवन उदार और शांतिपूर्ण बन गया था।

धार्मिक जीवन—मुगलकाल में हिन्दू, इस्लाम, सिक्ख, जैन, बौद्ध, पारसी, ईसाई आदि विविध धर्मों के अनुयायी देश के विभिन्न भागों में फैले हुए थे। हिन्दुओं की संख्या सबसे अधिक थी। हिन्दुओं में भक्ति-मार्ग की प्रधानता थी जिसमें वैष्णव सम्प्रदाय मुख्य था। इस सम्प्रदाय के अनुयायी चार प्रमुख शाखाओं में विभाजित थे—(1) रामानुज के समर्थक जो लक्ष्मीनारायण की पूजा करते थे, (2) चैतन्य अथवा 'गौरांग-महाप्रभु' के अनुयायी जो श्रीकृष्ण की भक्ति में विश्वास रखते थे। (3) बल्लभाचार्य के अनुयायी जो श्रीकृष्ण की भक्ति विशेषकर मूर्तिपूजा में विश्वास रखते थे और (4) रमानन्द के अनुयायी जो राम-सीता के पुजारी थे। इन सभी ने भक्ति मार्ग पर जोर दिया और जात-पांत का विरोध किया। गोस्वामी तुलसीदास ने 'रामचरित मानस' और विनय-पत्रिका' की रचना करके रामभक्ति को अत्यधिक लोकप्रिय बनाया। भक्ति-मार्ग ने भारतीय संस्कृति को दर्शन, भजन, गान, मन्दिरों आदि के निर्माण से समृद्ध बनाया और भाषाओं की उन्नति की।

मुसलमानों में सुन्नी, शिया, बोहरा और खोजाओं के अलावा एक मुख्य सम्प्रदाय सूफियों का था। मुगलकाल में सूफी विचारधारा का काफी विकास हुआ। सूफियों ने व्यक्ति और ईश्वर के सम्बन्धों को एक प्रेमिका और प्रेमी के रूप में व्यक्त किया। यह हिन्दू धर्म के भक्ति-मार्ग का प्रभाव था। सूफी विभिन्न सम्प्रदायों में बँटे हुए थे जिनमें चिश्ती, सुराहवर्दी, कादिरी और नक्श बंदी मुख्य थे। जदुनाथ सरकार का मत है कि 'सूफी दर्शन ने शासक वर्ग और शासित प्रजा को निकट लाने का प्रयत्न किया।' सिन्ध के करीमशाह, शाह इनायत और शाह लतीफ ने अपना जीवन सब जातियों और सम्प्रदायों के एकीकरण में लगा दिया था। पंजाब के बाबरी साहब और यारी साहब ने अल्लाह के साथ-साथ राम का नाम जपने की परम्परा को विकसित किया।

मुगलकाल की मुख्य विशेषता सिक्ख-सम्प्रदाय की उत्पत्ति और विकास था। दूसरी विशेषता ईसाई धर्म का भारत में पैर जमाना था। परन्तु सर्वाधिक विशेष बात यह थी कि हिन्दू-मुस्लिम सन्तों के प्रयास से इसमें हिन्दु और मुसलमान एक-दूसरे के काफी निकट आ गये थे। लड़ने और बचाव करने का काम पण्डितों और उलेमाओं तक ही सीमित रह गया था। सामान्य मुसलमान मूर्तियों और मजारों की मिन्नतें करने लगे। चेचक से बचने के लिए शीतला माता को पूजने लगे। होली, दीपावली पर खुशियाँ मनाने लगे। सौभाग्यशाली मुस्लिम स्त्रियाँ माँग में सिन्दूर भरने लगीं। मुसलमानों में भी मृतक भोज की परिपाटी चल पड़ी। हिन्दू भी पीछे नहीं रहे। वे भी पीरों की पूजा करने लगे। दरगाहों पर मत्था टेकने लगे। ताजियों में सम्मिलित होने लगे। इस प्रकार, साधारण वर्ग में धार्मिक कट्टरता जाती रही और कुछ अपवादों को छोड़कर सभी धर्मों में समानता और समन्वय का स्वर गूँजने लगा था।

आर्थिक जीवन—मुगलकाल में भारत आत्म-निर्भर कृषि प्रधान देश था। खेती के लिए परम्परागत साधन ही काम में लाये जाते थे। सिंचाई के लिए कुएँ और तालाबों से काम लिया जाता था। नहरों की संख्या कम थी। खाद्यान्नों के अलावा देश के कुछ भागों में नील, गन्ने, कपास और अफीम की खेती भी की जाती थी। कपड़े की जरूरत पूरी करने तथा विदेशों को भेजने के लिए कपास की खेती पर विशेष ध्यान दिया जाता था। रेशम भी तैयार किया जाता था।

अनाज, कपास, गन्ना और अफीम के अलावा मुगलकाल की अन्य पैदावार शराब, मछली, शोरा, नमक, तम्बाकू, ताँबा, लोहा आदि थी। कुमायूँ और पंजाब की खानों से लोहा निकाला जाता था। राजस्थान में अनेक प्रकार का पत्थर निकलता था। जयपुर के पास मकराना की खानें संगमरमर पत्थर के लिए, बयाना और फतेहपुर की खानें लाल पत्थर के लिए और सिन्ध की खानें पीले पत्थर के लिए प्रसिद्ध थीं। गोलकुण्डा की खानों से हीरे निकलते थे। साँभर झील के पानी से नमक बनाया जाता था।

मुगलकाल में अनेक उद्योग-धन्धों की प्रगति हुई। इनमें से कुछ घरेलू थे जो छोटे पैमाने पर उत्पादन करते थे। कुछ बड़े कारखानों के रूप में थे। मुगल सरकार के अपने कारखाने भी थे जिनमें नाना प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन होता था। अकबर ने उद्योग-धन्धों को राजकीय संरक्षण और प्रोत्साहन देने की जो नीति अपनाई थी वह औरंगजेब के समय तक जारी रही। प्रान्तीय सूबेदार अपने प्रान्तों के उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन देते थे और प्रान्तों में बनने वाली वस्तुएँ बतौर भेंट सम्राट की सेवा में भेजा करते थे। अमीर-उमरा वर्ग को अपनी शान-शौकत तथा विलासिता के लिए विभिन्न प्रकार की चीजों की जरूरत पड़ती थी। अतः वे भी उद्योग-धन्धों के संरक्षक बन गये।

उस युग में देश का सबसे बड़ा उद्यम कपास पैदा करना था। सूती वस्त्र

उद्योग काफी विस्तृत एवं समृद्ध हो गया था। जुलाहे करघों पर बढ़िया सूती कपड़ा तैयार करते थे। सूती वस्त्र उद्योग के प्रमुख केन्द्र जौनपुर, पटना, बुरहानपुर, अकबरपुर, खैराबाद, लखनऊ, बनारस, ढाका और अहमदाबाद थे। कालीकट का छपा वस्त्र विशेष रूप से प्रसिद्ध था। यह एशिया और यूरोप के विभिन्न देशों को भेजा जाता था। बाद में, ढाका का केन्द्र भी विख्यात हो गया। यहाँ नरम रेशे वाली कपास से जो मलमल तैयार की जाती थी वह सम्पूर्ण एशिया और यूरोप में विख्यात थी। गोलकुण्डा, सिरोंज और बुरहानपुर की छपी हुई छींटें और बनारस की जरी भी प्रसिद्ध थी। राजस्थान में साँगानेर की छपाई का काम भी प्रसिद्ध हो रहा था। अकबर की सहायता एवं संरक्षण से भारत में रेशमी वस्त्र उद्योग की काफी प्रगति हुई। गुजरात, फतेहपुर सीकरी, आगरा, लाहौर इस उद्योग के मुख्य केन्द्र थे। कश्मीर और बंगाल भी रेशमी वस्त्र उद्योग के प्रमुख केन्द्र थे। बंगाल के कासिम बाजार का रेशम विदेशों को भेजा जाता था। बाद में पटना भी प्रसिद्ध हो गया।

आगरा, फतेहपुर सीकरी और अमृतसर की ऊनी दरियां, कश्मीर के पट्टू और शॉल और बीकानेर की कम्बलें प्रसिद्ध थीं। भड़ौंच की तलवारें, धनुष-बाण, भाले, बर्छी और बन्दूक बनाने के उद्योग थे। लाहौर में कटारें तथा भाला बनते थे। राजस्थान के प्रमुख नगरों में भी अस्त्र-शस्त्र बनाये जाते थे। शोरे की मांग काफी थी क्योंकि यह गोला-बारूद बनाने के काम में आता था। आगरा, थट्टा, पटना और अहमदाबाद इसके प्रमुख केन्द्र थे। शक्कर विदेशों को भेजी जाती थी। अहमदाबाद और आगरा इस उद्योग के प्रमुख केन्द्र थे। बुरहानपुर और बंगाल में तम्बाकू की खेती बहुत अधिक होती थी। बंगाल में जूट और कश्मीर में केसर पैदा की जाती थी। मालवा, बनारस, बिहार, बंगाल और राजस्थान में अफीम तैयार की जाती थी। इत्र उद्योग भी प्रगति पर था। दैनिक आवश्यकताओं से सम्बन्धित अनेक वस्तुओं के उद्योग-धन्धे भी संतोषजनक स्थिति में थे।

व्यापार-वाणिज्य—मुगल शासक एक लम्बे समय तक देश के विस्तृत भू-भाग में शान्ति और व्यवस्था कायम रखने में सफल रहे थे। व्यापार-वाणिज्य को पनपने का पर्याप्त अवसर उपलब्ध हुआ। देश के प्रमुख नगर और बन्दरगाह सड़कों द्वारा सम्बन्धित थे। शेरशाह ने कई सड़कें बनवाई थीं। मुगलों ने उसके काम को आगे बढ़ाया और अनेक पुल तथा सड़कों का निर्माण करवाया। उन्होंने एक तरफ तो मार्गों की सुरक्षा की व्यवस्था की और दूसरी तरफ मार्गों को अधिक आरामप्रद तथा सुविधाजनक बनाने का प्रयत्न किया। सड़कों के दोनों ओर छायादार वृक्ष लगवाये, मुसाफिरों तथा व्यापारियों के लिए धर्मशालाएँ बनवाईं और जगह-जगह पर प्याऊ की व्यवस्था की। सड़कों के अतिरिक्त नदियों के द्वारा भी व्यापार होता था। इलाहाबाद से बंगाल तक गंगा नदी में नौकाओं द्वारा सामान पहुँचाया जाता था। लाहौर, आगरा, दिल्ली, अजमेर, पाली इलाहाबाद और बनारस प्रमुख व्यापारिक केन्द्र थे।

विदेशों से व्यापार जल और थल दोनों मार्गों से होता था। मुख्य थल मार्ग दो थे—एक लाहौर से काबुल होकर, दूसरा मुल्तान से कन्धार तक। जल मार्ग के लिए लाहरीबन्दर, सूरत, भड़ौंच, बेसीन, चौल, गोवा, कालीकट, मछलीपट्टम, चटगांव, सुपारगांव आदि देश के प्रमुख बन्दरगाह और व्यापारिक केन्द्र थे। अकबर के समय में जल मार्ग से होने वाले विदेशी व्यापार पर पुर्तगालियों का लगभग एकाधिकार था। परन्तु बाद में डच, अंग्रेज और फ्रांसीसी भी इसी ओर अग्रसर हुए जिससे पुर्तगालियों का प्रभाव कम हो गया।

विदेशों से कई प्रकार का सामान आता था। नेपाल से पशुओं के सींग, कस्तूरी, औषधियां आदि, फारस से चांदी, मोती, शराब, सुगन्धित वस्तुएँ, दरियां, कालीन और फल तथा अरब देशों से घोड़े, सुगन्धित पदार्थ और औषधियां आती थीं। अफ्रीकी देशों से हाथीदांत, अम्बर और दास, जावा-सुमात्रा से मिर्च, मसाले, चीन से कच्चा रेशम और पारा, यूरोपीय देशों से सीसा, कांच के बर्तन, दवाइयां, ऊनी वस्त्र इत्यादि आयात किया जाता था। इन वस्तुओं के बदले में सूती और रेशमी कपड़ा, नमक, धातुएँ, शक्कर, मिर्च-मसाले, लोहे की वस्तुएँ, शोरा, नील, अफीम इत्यादि निर्यात किया जाता था। मुगल शासक आयात-निर्यात की वस्तुओं पर साढ़े तीन प्रतिशत से अधिक व्यापारिक कर नहीं लेते थे।

जन-जीवन—मुगलकालीन जन-जीवन में बड़ी विषमता थी। कुछ लोगों के पास बेशुमार धन-सम्पदा थी और कुछ लोग अपना भोजन भी ठीक से नहीं जुटा पाते थे। अमीर लोग अपनी शान-शौकत, दास-दासियां, भोग-विलास और दान-पुण्य में पानी की तरह रुपया बहाते थे। निपुण कारीगरों की आय भी काफी थी। परन्तु मजदूर, सेवक और छोटे दुकानदारों की स्थिति अच्छी नहीं थी। इन लोगों के पास जीवनोपयोगी वस्तुएँ भी बहुत कम मात्रा में होती थीं। उस समय में आज की भांति मजदूरों के संगठन इत्यादि नहीं थे और न कोई उनकी माँगों को सुनने वाला ही था।

मुगलकाल में वस्तुएँ इतनी सस्ती थीं कि कम आय वाले व्यक्ति को भूखों नहीं मरना पड़ता था। इसके अलावा एक बात और भी थी। वह यह कि उस युग के सामान्य व्यक्ति की आवश्यकताएँ भी सीमित थीं और इसलिए वह आज की अपेक्षा अधिक संतुष्ट था। वर्षा की कमी अथवा बाढ़ों के कारण कभी-कभी देश में भयंकर अकाल पड़ जाते थे। उस समय हजारों स्त्री पुरुष मर जाते थे। शासक और सम्पन्न लोग अकाल-पीड़ितों की पर्याप्त सहायता करते थे, परन्तु अकाल के परिणामों की रोकथाम करना सरल काम नहीं था। कुल मिलाकर मुगलों के समय में आर्थिक जीवन समृद्ध था। उद्योग-धन्धे उन्नत थे, व्यापार-वाणिज्य प्रगति पर था और सामान्य जन-जीवन संतोषजनक था।

शिक्षा—मुगल शासकों ने शिक्षा की ओर काफी ध्यान दिया था। बाबर के समय 'शुहरते आम' नामक एक विभाग शिक्षण संस्थाओं की उन्नति की व्यवस्था करता था। हुमायूँ इस दिशा में अधिक ध्यान नहीं दे पाया। परन्तु अकबर ने

शिक्षा की उन्नति के लिए बहुत काम किया था। उसने बहुत से मकतब (प्राथमिक विद्यालय) और मदरसे (विद्यालय) खोले। जनता के धनी-मानी वर्ग ने भी बहुत से विद्यालय खोले। इन विद्यालयों में आचार-शास्त्र, समाज-शास्त्र, नीति-शास्त्र, गणित, ज्योतिष, कृषि-शास्त्र, शासन-व्यवस्था, चिकित्सा-शास्त्र, तर्क-शास्त्र, भूगोल इत्यादि की शिक्षा दी जाती थी। मुस्लिम शिक्षण संस्थाओं में फारसी और उर्दू भाषा का माध्यम था तो हिन्दू संस्थाओं में संस्कृत और लोकभाषाओं का। हिन्दुओं की पाटशालाएँ मन्दिरों में चलती थीं तो मुसलमानों की मस्जिद में। चार-पाँच वर्ष की आयु में बच्चों को पढ़ने के लिए भेज दिया जाता था। छात्रों से किसी प्रकार का शुल्क नहीं लिया जाता था। मुसलमान बच्चों को कुरान कण्ठस्थ कराई जाती थी तो हिन्दू बच्चों को रामायण, गीता इत्यादि। छपी हुई पुस्तकों का प्रचलन नहीं था। बच्चे अक्षर तथा गिनती पट्टियों पर लिखा करते थे। प्रारम्भिक गणित पर ज्यादा जोर दिया जाता था। शरारती तथा आलसी बच्चों की खूब पिटाई की जाती थी। कान तो प्रायः खींचे ही जाते थे।

उच्च कोटि के विद्यालयों का अभाव न था। यहाँ धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक, साहित्यिक आदि की शिक्षा दी जाती थी। काशी और नदिया हिन्दुओं के शिक्षा केन्द्र थे तो आगरा, दिल्ली, लाहौर, जौनपुर आदि मुस्लिम शिक्षा के केन्द्र थे। उच्च विद्यालयों में हिन्दू और मुसलमान दोनों साथ-साथ पढ़ते थे।

लड़कियों की शिक्षा के लिए अलग से स्कूल नहीं थे। सम्पन्न लोग अपने घरों पर अध्यापक रखकर अपनी पुत्रियों को पढ़ाते थे। राजकुमारियों की शिक्षा के लिए काफी अच्छी व्यवस्था की जाती थी। यही कारण है कि इस युग में हमें अनेक विद्वान स्त्रियों के नाम सुनने को मिलते हैं जिनमें गुलबदन, सलीमा, सुल्ताना, रूपमती, जैबुन्निसा इत्यादि प्रमुख थीं। लड़कियों को अस्त्र-शस्त्र संचालन की शिक्षा भी दी जाती थी। रानी कर्णवती, दुर्गावती, चाँदबीबी, ताराबाई आदि इस बात के जीवन्त प्रमाण हैं।

साहित्य—मुगलकाल में विभिन्न भाषाओं के साहित्य की प्रगति हुई। फारसी, हिन्दी, संस्कृत के अतिरिक्त उर्दू भाषा और प्रादेशिक भाषाओं की भी उन्नति हुई। मुगलकाल में राजभाषा होने के कारण फारसी भाषा की अधिक उन्नति हुई। मुगल शासक स्वयं विद्वान थे और विद्वानों को संरक्षण प्रदान करते थे।

बाबर ने अपनी आत्मकथा 'तुज्क-ए-बाबरी' तुर्की भाषा में लिखी थी। उसका फारसी भाषा में अनुवाद किया गया। हुमायूँ अपने समय का श्रेष्ठ विद्वान था। अकबर स्वयं शिक्षित न था, परन्तु उसने अपनी उदारता के द्वारा ऐसा वातावरण तैयार किया जिससे साहित्यिक प्रगति सबसे अधिक हुई। उसने विभिन्न भाषाओं की श्रेष्ठ रचनाओं का फारसी भाषा में अनुवाद कराने के लिए 'अनुवाद विभाग' स्थापित किया। जहाँगीर ने भी अपनी आत्मकथा का अधिकांश भाग स्वयं लिखा

था। शाहजहाँ का पुत्र दाराशिकोह प्रकाण्ड पंडित था और उसके प्रयत्नों से संस्कृत के अनेक ग्रन्थों का फारसी में अनुवाद किया गया।

फारसी भाषा में आत्मकथाओं और ऐतिहासिक ग्रन्थों की रचना अधिक हुई। तुज्क-ए-बाबरी, अकबरनामा, आइने-अकबरी, तबकाते-अकबरी, हुमायूँनामा, तारीखे शेरशाही, तारीखे-अलफी, मुन्तखब-उत-तवारीख, तारीखे-फरिश्ता, बादशाह नामा, शाहजहाँनामा, आलमगीरनामा इत्यादि इस युग की प्रमुख रचनाएँ थीं। जिन संस्कृत ग्रन्थों का फारसी में अनुवाद किया गया उनमें महाभारत, रामायण, अथर्ववेद, लीलावती, राजतरंगिणी, नल दमयन्ती, उपनिषद्, गीता, योगवशिष्ठ इत्यादि प्रमुख हैं।

मुगलकाल में हिन्दी भाषा साहित्यिक भाषा बन गई। इस काल में जिन हिन्दी ग्रन्थों की रचना हुई उनमें पद्मावत, युगामृत, रामचरितमानस, विनयपत्रिका, प्रेमबाटिका, सुन्दर-श्रृंगार, कवित्त रत्नाकर, कविप्रिया, रसिकप्रिया, आदि प्रमुख हैं। हिन्दी साहित्यकारों में गोस्वामी तुलसीदास, सूरदास, अब्दुर्रहीम खानखाना, रसखान, सुन्दर कविराय, कविन्द्र आचार्य, बिहारी, केशव आदि प्रमुख थे।

इस युग में संस्कृत साहित्य में भी मौलिक रचनाएँ की गई थीं। सल्तनत काल में उर्दू भाषा का निर्माण हो चुका था, परन्तु मुगल युग में इसकी अच्छी प्रगति हुई। इसमें अनेक लोकप्रिय शायर हुए और दिल्ली तथा उत्तर प्रदेश में यह भाषा बहुत लोकप्रिय हो गई।

उपर्युक्त भाषाओं के अतिरिक्त मुगलकाल में विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं जैसे बंगाली, गुजराती, तमिल, तेलगू, मराठी, पंजाबी आदि की भी प्रगति हुई। पृथ्वीराज राठोर राजस्थानी का महान कवि हुआ तो बंगला साहित्य में कृष्णदास कविराज और वृन्दावनदास ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

कला

कला की दृष्टि से मुगलकाल उन्नति का युग था। कलाप्रेमी मुगल शासकों और सरदारों ने कला तथा कलाकारों को राजकीय संरक्षण देकर उनको प्रोत्साहित किया और कला की उन्नति में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

चित्रकला : मुगल शैली—मुगलकाल में चित्रकला के क्षेत्र में तीन प्रमुख शैलियों का विकास हुआ— मुगल शैली, राजस्थानी शैली और पहाड़ी शैली। इस्लाम धर्म में चित्रकला का निषेध है। परन्तु ईरान के शिया शासकों ने मंगोलिया और चीन की चित्रकला को संरक्षण दिया। बाद में ईरान ने अपनी स्वतन्त्र चित्रकला शैली का विकास किया। बाबर और हुमायूँ ने इसी ईरान (फारसी) शैली का भारत में प्रसार किया। अकबर ने भारतीय कलाकारों को भी संरक्षण दिया। इस प्रकार फारसी और भारतीय चित्र शैलियाँ एक-दूसरे के घनिष्ठ सम्पर्क में आईं। कालान्तर में दोनों के समन्वय से एक नई शैली का जन्म और विकास हुआ जो 'मुगल शैली' के नाम से प्रसिद्ध हुई।

मुगल शैली के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के चित्रों का निर्माण हुआ। चित्रकारों के मुख्य विषय थे—बादशाहों और अमीरों की आकृतियाँ, दरबार और शिकार के दृश्य, पशु-पक्षियों की आकृतियाँ, स्वर्ग-पाताल, परलोक, तिलिस्म, नायिकाएँ इत्यादि। इस युग के चित्रकार इतने प्रवीण थे कि बारीक से बारीक वस्तुओं का अंकन एक छोटे से चित्र में कर देते थे। पुस्तकों पर चित्र बनाना और सुन्दर लेखन शैली भी इनकी अपनी विशेषता रही। हमजाहनामा, बाबरनामा, रज्मनामा. शाहनामा, अकबरनामा आदि हस्तलिखित ग्रन्थों को सफलतापूर्वक चित्रों द्वारा प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया। रायकृष्णदास का मत है कि मुगल चित्रकला में दरबारी अदब-कायदे, जकड़बन्दी और शाही दबदबे के कारण भावाभिव्यक्ति का सर्वथा अभाव है।

राजपूत कलम—राजस्थानी शैली अथवा राजपूत कलम भारत की राष्ट्रीय कला से उत्पन्न हुई थी। इसका प्रारम्भिक क्षेत्र मालवा और राजस्थान था। राजस्थान में मेवाड़, बीकानेर, जोधपुर, किशनगढ़, जयपुर और बूँदी इसके मुख्य केन्द्र थे। विषय की दृष्टि से इस शैली में मुख्यतः राग माला, नायिका-भेद, कृष्ण-लीला, बारह-मासा आदि पर चित्र बने हैं। राजपूत कलम में धार्मिकता भी है और शृंगार भी। आदर्श प्रेम का चित्रण तो बहुत ही खूबी के साथ किया गया है। स्त्री चित्रों में आदर्श सौन्दर्य की छटा देखने को मिलती है। कमल नयन, लम्बे केश, उन्नत उरोज, पतली कमर और गुलाबी हाथ – स्त्री-चित्रों की खास विशेषताएँ हैं।

पहाड़ी कलम—पंजाब और हिमालय की तराइयों में विकसित होने वाली चित्रकला को पहाड़ी अथवा काँगड़ा शैली कहा जाता है। इस शैली के चित्रों का विषय बहुत व्यापक है, परन्तु कृष्ण-लीला का मनोहर रूप, बाल स्वभाव आदि का अंकन बहुत ही मनमोहक है। शृंगार और नायिका भेद से सम्बन्धित चित्र तो बहुत उच्चकोटि के हैं।

स्थापत्य कला—मुगलों की स्थापत्य कला मध्य एशिया की इस्लामी कला और भारतीय हिन्दू कला का मिश्रित रूप है। इसलिए इस युग में बनी इमारतों पर हिन्दू और मुस्लिम वास्तुकला का मिला-जुला प्रभाव स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। इस मिश्रित कला में इस्लामी कला से गोल गुम्बद, ऊँची-ऊँची मीनारें और मेहराबें तथा हिन्दू कला से चौरस छतें, खम्भे और नुकीली मेहराबें ली गई थीं। इस प्रकार मुगलकाल में जिस स्थापत्य कला का विकास हुआ, वही सही अर्थों में राष्ट्रीय स्थापत्य कला थी।

बाबर और हुमायूँ अधिक इमारतें नहीं बनवा पाए। शेरशाह की एक इमारत—स्वयं उसी का मकबरा जो सहसराम में स्थित है, बहुत ही भव्य है। यह एक सरोवर के बीच में एक ऊँचे चबूतरे पर स्थित है। योजना तथा सौन्दर्य की दृष्टि से इसे भारत की प्रमुख इमारतों में से एक माना जाता है। इसका गुम्बद ताहमहल के गुम्बद से भी चौड़ा है। अकबर का शासनकाल तो भवन निर्माण के

लिए प्रसिद्ध ही है। उसके समय में बने भवनों की चर्चा हम कर चुके हैं। जहाँगीर के समय मे बनने वाली इमारतों में दो प्रमुख हैं—एक सिकन्दरा में स्थित अकबर का मकबरा और दूसरा नूरजहाँ के पिता ऐतादुदौला का मकबरा। ये दोनों भवन कला और सौन्दर्य के नमूने हैं। शाहजहाँ का समय तो भवन-निर्माण कला के इतिहास का स्वर्ण-युग था। उस समय की इमारतों का वर्णन पिछले अध्याय में पढ़ चुके हैं। औरंगजेब को ललितकलाओं में रुचि नहीं थी। अतः उसके समय में प्रगति अवरुद्ध हो गई।

मुगल युग में हिन्दू राजा-महाराजाओं तथा धनिकों ने भी भव्य भवनों का निर्माण करवाया। उनके निवास स्थानों के निर्माण में काफी प्ररिवर्तन आ गये। मुगल शैली की नकल पर उनमें 'दीवान-ए-खास', 'दीवान-ए-आम'। 'शीशमहल' आदि की लोकप्रियता बढ़ी। वीरसिंह बुन्देला का विशाल राजप्रासाद, जयपुर, जोधपुर और उदयपुर के शासकों के भवन आज भी उस युग के वैभव की कहानी सुना रहे हैं।

दक्षिण के मुस्लिम सुल्तानों ने भी वहुत से भव्य भवन वनवाये थे। बीजापुर का गोल गुम्बज, इब्राहीम का रोजा, ताज सुल्ताना का मकबरा इत्यादि भवन बीजापुर की शान थे। गोल गुम्वज का रंग शहद जैसा था। गोलकुण्डा के भवनों की ख्याति दूर-दूर तक फैली हुई थी। यहाँ के मकबरों के हरे-हरे गुम्बद, चित्त को हरने वाली मस्जिदें और राजप्रासाद जिसमें जल के फव्वारे जलकणों को बिखेरते रहते थे, कला के सुन्दर नमूने थे।

संक्षेप में, मुगलकाल में कला अपनी उन्नति की चरम सीमा तक पहुँच सकी थी। उस पर जो विदेशी प्रभाव था, वह धीरे-धीरे घटता गया और उसकी आत्मा तथा शरीर दोनों विशुद्ध भारतीय बन गए। इस प्रकार राष्ट्रीय कला का उत्थान हुआ।

अभ्यास के लिए प्रश्न

1. मुगलकालीन शासन-व्यवस्था की मुख्य विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।
2. मुगलकालीन भारत की सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक स्थिति का उल्लेख कीजिए।
3. कला के क्षेत्र में मुगल शासकों के योगदान का उल्लेख कीजिए तथा बताइये मुगल शासकों ने एक राष्ट्रीय कला के विकास के लिए क्या प्रयास किया ?

अपने अध्ययन की जाँच कीजिए

1. सही उत्तर का क्रमांक कोष्ठक में लिखिए—
   1. 'झरोखा-दर्शन' की प्रथा किसने शुरू की थी ?

      (क) हुमायूँ (ख) अकबर
      (ग) जहाँगीर (घ) शाहजहाँ ( )

2. मुगल साम्राज्य में राजकीय दान-पुण्य व्यवस्था किस अधिकारी के जिम्मे थी ?

(क) वजीर (ख) खानेसामाँ

(ग) प्रधान काजी (घ) प्रधान सद्र ( )

3. लगान-व्यवस्था में 'दहसाला प्रबन्ध' किसके समय में लागू किया गया था ?

(क) बाबर (ख) शेरशाह

(ग) अकबर (घ) शाहजहाँ ( )

4. 'गौरांग-महाप्रभु' के नाम से कौनसा सन्त प्रसिद्ध था ?

(क) रामानुज (ख) चैतन्य

(ग) रामानन्द (घ) वल्लभाचार्य ( )

5. राजस्थान का साँगानेर नगर किस उद्योग के लिए प्रसिद्ध था ?

(क) कपड़े की छपाई (ख) लोहे का सामान

(ग) इत्र उद्योग (घ) ऊनी उद्योग ( )

2. केवल पाँच-सात पंक्तियों में उत्तर दीजिए—

1. मुगलों ने किस प्रकार की रणनीति भारत में आरम्भ की थी ?
2. मुगलकाल में वजीर के क्या कर्त्तव्य होते थे ?
3. शाहजहाँ और औरंगजेब के समय में लगान-व्यवस्था में क्या परिवर्तन हुए ?
4. मुगलकाल में स्त्रियों की स्थिति कैसी थी ?
5. सूफी सन्तों ने सांस्कृतिक जीवन की उन्नति में किस प्रकार का योगदान दिया ?

3. भारत के मानचित्र में उन स्थानों को बताइये जो वस्त्र उद्योग के क्षेत्र में प्रसिद्ध थे ?

पूरक अध्ययन के लिए ग्रन्थ

1. हुमायूँ कबीर : हमारी परम्परा।
2. रामधारीसिंह दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय।
3. जदुनाथ सरकार : मुगलकालीन शासन-पद्धति।
4. आर. नाथ : मध्यकालीन भारतीय कलाएँ एवं उनका विकास।

7. मराठों का उत्कर्ष एवं उनका युग

मराठों का परिचय—मराठा शब्द की उत्पत्ति के विषय में कहा जाता है कि इसकी उत्पत्ति सम्भवतः 'राठा' और 'महारट्ठ' या 'राष्ट्र' शब्दों से हुई है। मराठों के प्रसिद्ध इतिहासकार गोविन्द सखाराम सरदेसाई के अनुसार 'मराठा' शब्द की उत्पत्ति 'राठा' शब्द से हुई प्रतीत होती है। 'राठा' या 'राष्ट्र' शब्द दक्षिणी भारत में उस प्रदेश के लिए प्रयोग में लाया जाता था जो एक त्रिभुज के समान स्थिर है और जिसके अन्तर्गत बम्बई के दक्षिणी-पूर्वी और पूर्वी पठारों का समस्त प्रदेश आता है। इस प्रदेश को 'मराठा-वाद' के नाम से भी पुकारा जाता था। अतः इस बात की पूरी सम्भावना है कि इस प्रदेश में रहने के कारण यहाँ के निवासी मराठे कहलाये। इन लोगों की मुख्य भाषा मराठा थी। यहीं पर मराठा शक्ति का उत्कर्ष हुआ।

मराठों का उत्थान एक आकस्मिक घटना नहीं थी और न ही किसी एक व्यक्ति अथवा विशेष व्यक्ति समूह का कार्य था। उसका आधार महाराष्ट्र के सम्पूर्ण निवासी थे जिन्होंने जाति, भाषा, धर्म, साहित्य और निवास-स्थान की एकता के आधार पर राष्ट्रीयता की भावना को जन्म दिया। यह भावना भी वर्षों की पृष्ठभूमि का परिणाम थी। महाराष्ट्र प्रदेश की भौगोलिक स्थिति ने भी उसकी उन्नति में महत्वपूर्ण योगदान दिया। इस प्रदेश के अन्तर्गत अनेक प्राकृतिक दुर्ग विद्यमान हैं। प्रदेश की भूमि का समतल न होना भी मराठों के लिए एक वरदान सिद्ध हुआ। पर्वतीय प्रदेश के कष्टप्रद जीवन ने उन्हें परिश्रमी, आत्मविश्वासी, साहसी और निर्भीक बना दिया था। इन परिस्थितयों में रहकर इस प्रदेश के निवासी परिश्रमी तथा स्वतन्त्रता प्रेमी हो गये।

महाराष्ट्र के सन्तों और उपदेशकों ने मराठों की सामाजिक और धार्मिक प्रयासों में सुधार करके उनमें नैतिक जागृति की। 15वीं और 16वीं सदी के धर्म-सुधार और भक्ति आन्दोलन ने महाराष्ट्र में सामाजिक, धार्मिक तथा जातीय समानता को शक्तिशाली बनाया। महाराष्ट्र का यह आन्दोलन किसी एक वर्ग का न था अपितु जन-साधारण का आन्दोलन था। तुकाराम, रामदास, वामन पण्डित और एकनाथ जैसे सन्त और विचारक इस आन्दोलन के प्रेरक थे। इस आन्दोलन ने महाराष्ट्र के निवासियों में धार्मिक और सामाजिक एकता स्थापित की और जन-जीवन को संगठित किया। जदुनाथ सरकार ने लिखा है कि "एक सशक्त आन्दोलन उठा जिसने प्रदेश की लम्बाई-चौड़ाई को अपने में लपेट लिया। चरित्र का महत्त्व बतलाते हुए यह स्पष्ट किया गया कि जन्ममात्र से ही मनुष्य श्रेष्ठ नहीं बन जाता।

धार्मिक रीतियों की अपेक्षा, व्यक्तिगत विश्वास अधिक प्रशंसनीय हैं। ईश्वर के सम्मुख सभी व्यक्ति समान है।"

दक्षिण भारत की तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों ने मराठा शक्ति के उत्थान में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। दक्षिण भारत के मुस्लिम शासक शिया थे। उन्हें सुन्नी मुगल शासकों से संघर्ष करना पड़ा। अतः उन्हें स्थानीय हिन्दुओं की सेवाएँ स्वीकार करनी पड़ीं। इसके अतिरिक्त एक कारण यह भी था कि दक्षिण के शिया शासक उत्तर भारत के मुसलमानों की भांति कट्टर न थे इसलिए उनके शासन काल में मुस्लिम समाज हिन्दुओं के काफी निकट आ चुका था। अहमदनगर के योग्य मन्त्री मलिक अम्बर ने मुगलों के विरुद्ध मराठों की शक्ति का उपयोग किया। उसने मराठों को प्रशासन, कूटनीति तथा छापामार युद्ध पद्धति में पारंगत बना दिया। उसकी नीति का अच्छा परिणाम निकला और दक्षिण की मुस्लिम रियासतों में मराठे सैनिकों, सेनानायकों तथा अधिकारियों की संख्या बढ़ती गई। इतिहासकार ग्रान्ट डफ ने लिखा है कि 'शिवाजी के उत्कर्ष से पहले ही कम से कम आठ मराठा परिवार ऐसे थे जिनका दक्षिण की राजनीति में काफी प्रभाव था।

इस प्रकार मराठा शक्ति के उत्थान की पृष्ठभूमि तैयार हो चुकी थी। आवश्यकता थी इन तत्त्वों के आधार पर मराठों को सुसंगठित करने तथा स्वतन्त्र हिन्दू राज्य की स्थापना के लिए प्रयत्न करने की। शिवाजी ने इस कार्य की पूर्ति की। इसलिए वह मराठा-राष्ट्र और एक स्वतन्त्र हिन्दू राज्य के संस्थापक बन सके।

1. छत्रपति शिवाजी

वंश परिचय तथा प्रारम्भिक जीवन—श्री सावरकर और श्री सरदेसाई इस बात को मानते हैं कि शिवाजी के भौंसले परिवार और राजपूतों के मध्य खून का सम्बन्ध था। जनश्रुति के आधार पर कई विद्वान भौंसलों को मेवाड़ के सिसोदिया वंश का वंशज मानते हैं, परन्तु अभी इसे प्रामाणिक नहीं माना गया है। शिवाजी का दादा मालोजी पहले अहमदनगर राज्य में और बाद में बीजापुर राज्य में एक सरदार था। मालोजी के पुत्र शाहजी भौंसले ने अपने परिवार की शक्ति और प्रतिष्ठा को आगे बढ़ाया। शुरू में शाहजी भौंसले अहमदनगर राज्य की सेवा में थे। शाहजहाँ के शासनकाल में अहमदनगर के पतन के पश्चात् शाहजी भौंसले ने वहां के एक बालक शासक (मुर्तजा तृतीय) की तरफ से काफी समय तक मुगलों से संघर्ष किया था और 1636 ई. में उन्होंने बीजापुर की सेवा स्वीकार कर ली। बीजापुर राज्य की सेवा में उन्होंने काफी शक्ति और सम्मान प्राप्त किया था।

शिवाजी इसी शाहजी भौंसले और उनकी पत्नी जीजाबाई के पुत्र थे। उनकी जन्म-तिथि के विषय में काफी मतभेद हैं। कुछ विद्वान 6 अप्रैल, 1627 ई., कुछ 10 अप्रैल, 1627 ई. कुछ 19 फरवरी, 1630 ई. और कुछ 30 मार्च, 1630 ई. मानते हैं। परन्तु इससे उनकी महानता में कोई अन्तर नहीं पड़ता है।


शिवाजी

शिवाजी की माँ जीजाबाई धार्मिक प्रकृति की महिला थी। उसी ने शिवाजी का लालन-पालन किया था। उसने बालक शिवाजी के सामने शुरू से ही प्राचीन क्षत्रियों का आदर्श रखा। हिन्दू धर्म के प्रति श्रद्धा और निष्ठा की भावना विकसित की यद्यपि उनका बड़ा पुत्र शम्भाजी (शिवाजी का बड़ा भाई) युवावस्था में ही युद्ध में मारा गया था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि शिवाजी के चरित्र-निर्माण में उनकी माँ जीजाबाई का सबसे बड़ा हाथ था। समर्थ रामदास के सम्पर्क में शिवाजी का व्यक्तित्व और भी निखर गया।

शाहजी को महाराष्ट्र और कर्नाटक दोनों प्रदेशों में जागीर मिली हुई थी। महाराष्ट्र में पूना, सूपा और चाकन से लेकर इन्द्रपुर तक का इलाका उनकी जागीर में था। यह जागीर उन्होंने शिवाजी को सौंप दी और कर्नाटक की जागीर अपनी दूसरी पत्नी तुकाबाई मोहते से उत्पन्न पुत्र व्यंकोजी को दे दी। चूँकि शिवाजी अभी अल्पवयस्क थे अतः जागीर की व्यवस्था के लिए दादाजी कोणदेव को नियुक्त किया गया। दादाजी कोणदेव अनुभवी राजनीतिज्ञ थे। उन्होने शिवाजी को सैनिक प्रशिक्षण दिया और प्रशासन तथा राजनीति का पाठ पढ़ाया।

शिवाजी का उद्देश्य—शिवाजी के मूल उद्देश्य की चर्चा करते हुए एम. जी. रानाडे ने लिखा है कि आरम्भ के 6 वर्षों में शिवाजी का उद्देश्य आस-पास के मराठा सरदारों को अपनी सत्ता में लेकर एकत्रित करना और अपनी रक्षा का प्रयत्न मात्र करना था। इस समय वे न तो मुगलों से और न ही बीजापुर से लड़ना चाहते थे। अगले दस वर्षों तक अपनी रक्षा करना, राष्ट्रीय तत्त्वों को एकत्र करना और अपनी सीमाओं में विस्तार करना उनका प्रमुख उद्देश्य रहा। इस अवधि में उन्हें बीजापुर से संघर्ष करना पड़ा जिसमें वे सफल रहे। अपने जीवन के तीसरे समय (1662–72) में उनका लक्ष्य मुगलों के प्रभाव को रोकना था। अपने अंतिम समय (1674–80) में उनका मूल ध्येय अपने स्वतन्त्र राज्य को कानूनी ढंग से स्थापित करना था। इस प्रकार, स्वरक्षा और स्वतंत्र राज्य की स्थापना उनका मूल्य उद्देश्य रहा और इसीलिए उन्हें बीजापुर राज्य तथा मुगल साम्राज्य से संघर्ष करना पड़ा।

प्रारम्भिक असफलताएँ—दादाजी कोणदेव की संरक्षता के समय में शिवाजी ने अपनी गतिविधियों को शुरू किया और आस-पास के दुर्गों को जीतना आरम्भ कर दिया। 1643 ई. में उनको पहली शानदार सफलता मिली जबकि बीजापुर के प्रसिद्ध दुर्ग सिंहगढ़ पर उनका अधिकार हो गया। इससे बाद चाकन, पुरन्दर,

बारामती, तोरना, सूपा, तिकोना, लोहगढ़, रायरी आदि किलों पर भी शिवाजी का अधिकार हो गया। यह वह समय था जबकि बीजापुर का सुल्तान मुहम्मद आदिलशाह बीमार पड़ा हुआ था और शिवाजी ने उसके कई दरबारियों को घूँस देकर अपने पक्ष में मिला रखा था। अतः बीजापुर की तरफ से उन्हें विशेष चिन्ता न रही। परन्तु 1648–49 में शिवाजी की कार्यवाहियों से क्रोधित होकर बीजापुर के सुल्तान ने उसके पिता शाहजी भौंसले को कारावास में पटक दिया। इसलिए शिवाजी को कुछ समय के लिए शान्त बैठना पड़ा।

1656 ई. में शिवाजी ने एक अन्य महत्त्वपूर्ण सफलता प्राप्त की। उन्होंने बीजापुर के निष्ठावान मराठा सरदार चन्द्रराव से जावली का मजबूत किला छीन लिया। चन्द्रराव अपने पुत्रों सहित मारा गया। जावली की विजय से शिवाजी को दक्षिण-पश्चिम की ओर बढ़ने का मार्ग उपलब्ध हो गया। 1657 ई. में पहली बार शिवाजी का मुगलों से संघर्ष हुआ। उन्होंने औरंगजेब के आक्रमण के विरुद्ध बीजापुर की सहायता की। औरंगजेब इस समय दक्षिण का सूबेदार था। उसे शिवाजी की गतिविधियों से चिन्ता हो गई थी। परन्तु वह कुछ कर पाता उससे पहले ही उसे उत्तराधिकार संघर्ष में भाग लेने के लिए उत्तर की ओर लौट जाना पड़ा परन्तु लौटते समय वह अपने अधिकारियों को चेतावनी देता गया था कि "शिवाजी पर निगाह रखना, वह सिर्फ अवसर की प्रतीक्षा में है।"

अफजल खाँ का वध - दक्षिण भारत से औरंगजेब के लौटते ही बीजापुर ने शिवाजी की शक्ति को कुचलने की तरफ ध्यान दिया। 1659 ई. में अफजल खाँ नामक एक विख्यात सेनानायक को एक शक्तिशाली सेना के साथ शिवाजी को कुचलने के लिए भेजा गया। मार्ग में अफजल खाँ ने शिवाजी को आतंकित करने की दृष्टि से गाँवों को उजाड़ दिया और मन्दिरों को तोड़ा। फिर उसने कूटनीति का सहारा लिया और धोखे से शिवाजी को पकड़ने की योजना बनाई और शिवाजी को वार्तालाप के लिए आमन्त्रित किया। शिवाजी को अफजल खाँ की योजना का संकेत मिल गया था। वैसे भी अफजल खाँ इससे पूर्व कस्तूरी रंगा, खान मुहम्मद, शम्भाजी (शिवाजी का बड़ा भाई) आदि लोगों की धूर्तता से हत्या कर चुका था। शिवाजी ने उसकी धूर्तता का उत्तर धूर्तता से देने का निश्चय किया और अपनी आत्म-रक्षा की पूरी व्यवस्था करके अफजल खाँ से मिलने जा पहुंचे। ज्योंही अफजल खाँ ने शिवाजी पर आक्रमण करने का प्रयत्न किया, शिवाजी ने अपने बघनख और कटार से अफजल खाँ का काम तमाम कर दिया। इस घटना से शिवाजी की कीर्ति चारों तरफ फैल गई और उन्होंने बीजापुर के कई किलों जिनमें पन्हा, वसन्तगढ़, खेलना, रंगना आदि मुख्य थे, पर अधिकार कर लिया। 1662–63 में शाहजी के हस्तक्षेप करने के कारण शिवाजी ने बीजापुर के साथ एक समझौता कर लिया।

शाइस्ता खाँ पर आक्रमण - इस बीच औरंगजेब मुगल साम्राज्य का बादशाह बन चुका था। 1660 ई. में उसने अपने मामा तथा दक्षिण के सूबेदार शाइस्ता खाँ

(शायस्त खाँ) को शिवाजी की शक्ति कुचलने का आदेश दिया । जोधपुर नरेश जसवन्तसिंह को भी उसकी सहायता के लिए नियुक्त किया गया । दो वर्ष के युद्ध में शाइस्ता खाँ ने पूना, चाकन सहित शिवाजी के कई किलों पर अधिकार कर लिया । 1663 ई में शाइस्ता खाँ ने पूना में वर्षाऋतु बिताने की योजना बनाई । तब शिवाजी ने सोच-समझ कर अपने चुने हुए साथियों के साथ, अप्रैल मास की एक रात्रि में पूना महल में सोते हुए शाइस्ता खाँ पर आक्रमण कर दिया । शाइस्ता खाँ बड़ी कठिनाई से भागकर अपने प्राण बचा पाया । परन्तु शत्रु के शिविर में घुसकर इस प्रकार आक्रमण करना जबकि जसवन्तसिंह अपनी सेना सहित शिविर के बाहर पड़ाव ड ले हुए था, असाधारण साहस और प्रखर बुद्धि का काम था । हो सकता है, जैसा कि कुछ विद्वानों का मत है कि शिवाजी की इस सफलता में जसवन्तसिंह का गुप्त योगदान रहा हो ।

पुरन्दर की सन्धि- इस घटना के बाद शाइस्ता खाँ को दक्षिण बंगाल भेज दिया गया और जयपुर के मिर्जा राजा जयसिंह और दिलेर खाँ को शिवाजी के विरुद्ध भेजा गया । राजा जयसिंह अपने समय का योग्यतम सेनानायक और कूटनीतिज्ञ था । उसने अपनी कूटनीति के द्वारा बीजापुर को शिवाजी से पृथक् कर दिया और कई मराठा सरदारों को उच्च पदों का प्रलोभन देकर मुगल समर्थक बना लिया । इसके बाद उसने बज्रगढ़ को जीतकर पुरन्दर के आस-पास के क्षेत्रों में शिवाजी को घेर लिया । ऐसी स्थिति में शिवाजी को आत्म-समर्पण करना पड़ा और जून 1665 ई. में पुरन्दर की सन्धि करनी पड़ी । संधि की शर्तों के अनुसार शिवाजी को अपने 23 किले और करीब चार लाख हूण (अर्थात् बीस लाख रुपया) की वार्षिक आय की भूमि मुगलों को देनी पड़ी । शिवाजी के पास रायगढ़ सहित 12 किले रहने दिये गये । शिवाजी ने मुगलों की अधीनता स्वीकार कर ली, परन्तु मुगल दरबार में अपने स्थान पर अपने पुत्र शम्भाजी को भेजना स्वीकार किया । अन्तिम शर्त के अनुसार शिवाजी ने बीजापुर के विरुद्ध मुगलों को सहायता देने का वचन दिया । पुरन्दर की सन्धि से शिवाजी को काफी हानि उठानी पड़ी ।

आगरा की यात्रा— पुरन्दर की सन्धि के बाद शिवाजी ने मुगलों की तरफ से बीजापुर के पन्हाला दुर्ग को जीतने का प्रयत्न किया । परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली । उल्टे उनकी उपस्थिति से मुगल शिविर में तनाव पैदा हो गया । तब कूटनीतिज्ञ जयसिंह ने शिवाजी को आगरा जाने के लिए तैयार कर लिया । कहा जाता है कि उसने शिवाजी को मुगल दरबार में मान-सम्मान का प्रलोभन और उनकी सुरक्षा का आश्वासन दिया । शिवाजी अपनी माँ जीजाबाई को अपने राज्य की अभिभाविका बनाकर तथा अपने अधिकारियों को अपना-अपना कार्य समझाकर अपने पुत्र शम्भाजी को लेकर आगरा चले । आगरा के शाही दरबार में औरंगजेब ने उनकी उपेक्षा की । उन्हें पंच हजारी मनसबदारों की पंक्ति में खड़ा कर दिया गया । शिवाजी इस अपमान को सहन न कर सके और वे शाही दरबार से चले आये । बाद में उनको नजरबन्द कर दिया गया । औरंगजेब फूला न समाया कि

उसने कितनी सरलता के साथ मराठा समस्या का समाधान कर लिया, परन्तु शिवाजी भी कम चालाक न थे। किसी प्रकार अपने मुगल पहरेदारों को चकमा देकर शम्भाजी सहित उसकी कैद से भाग निकले। औरंगजेब ने उन्हें पकड़ने का बहुत प्रयत्न किया, परन्तु वे सकुशल दक्षिण पहुँच गये।

बाद की घटनाएँ—आगरा से वापस लौटने के बाद शिवाजी तत्काल ही मुगलों से संघर्ष करने की स्थिति में नहीं थे। उधर औरंगजेब भी उत्तर-पश्चिम के उपद्रवों मे फँसा हुआ था। अतः 1668 ई. में दोनों पक्षों के मध्य सन्धि हो गई। सन्धि के अनुसार औरंगजेब ने शिवाजी को 'राजा' की उपाधि प्रदान की और चाकन का दुर्ग लौटा दिया। शिवाजी ने 5000 सैनिकों के साथ अपने पुत्र शम्भाजी को बादशाह की सेवा में भेज दिया। 1670 ई. में शिवाजी ने मुगलों के विरुद्ध पुनः संघर्ष छेड़ दिया। उन्होंने अपने खोये हुए किलों पर पुनः अधिकार जमा लिया। बीजापुर राज्य के बहुत से किलों पर भी शिवाजी ने अधिकार जमा लिया। 1674 ई. में शिवाजी ने विधिवत् ढंग से अपना राज्याभिषेक किया। छत्रपति की उपाधि धारण की और रायगढ़ को अपनी राजधानी बनाया। 1677–78 की अवधि में शिवाजी ने पूर्वी कर्नाटक पर आक्रमण किया। तुंगभद्रा नदी से लेकर कावेरी नदी तक के कर्नाटक प्रदेश पर उनका अधिकार हो गया। मुगलों से बचाव के लिए तथा एक दूसरी रक्षा पंक्ति के निर्माण की दृष्टि से उन्होंने जिंजी को अपने इस भाग की राजधानी बनाया। व्यंकोजी से भी शिवाजी ने पैतृक जागीर का आधा भाग हस्तगत किया। 1680 ई. में शिवाजी का स्वर्गवास हो गया।

सफलता के कारण—दक्षिण के मुस्लिम राज्य बीजापुर और मुगल साम्राज्य के सबल विरोध के होते हुए शिवाजी ने एक विस्तृत भू-प्रदेश पर अपने स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की। उनकी यह सफलता मध्यकालीन इतिहास की एक आश्चर्यजनक घटना मानी जाती है। जिन तथ्यों और परिस्थितियों ने उनकी सफलता में योगदान दिया, उनमें से कुछ इस प्रकार थे—महाराष्ट्र की भौगोलिक परिस्थितियाँ, शिवाजी के द्वारा हिन्दुओं की धार्मिक भावना और मराठों की राष्ट्रीय भावना का सदुपयोग, दक्षिण के अनेक सन्तों के शिष्यों द्वारा शिवाजी का समर्थन और उन्हें सहयोग देना, शिवाजी का कुशल गुप्तचर विभाग, बीजापुर की दुर्बलता, गोलकुण्डा द्वारा शिवाजी को सहयोग देना, औरंगजेब द्वारा व्यक्तिगत रूप से दक्षिण की तरफ ध्यान देना, मुगल अधिकारियों का भ्रष्ट चरित्र और आपसी कलह तथा शिवाजी का अपना व्यक्तित्व और चरित्र उनकी सफलता के लिए उत्तरदायी थे।

शिवाजी की शासन-व्यवस्था

मध्ययुग के अन्य शासकों की भाँति शिवाजी भी एक प्रभुत्व सम्पन्न निरंकुश शासक थे। उनके अधिकार असीमित थे। राज्य की समस्त शक्तियाँ उन्हीं में केन्द्रित थीं। फिर भी, वे अपने समय की आवश्यकता को अच्छी तरह समझते थे और उनकी शासन-प्रणाली का ध्येय लोक-कल्याण की भावना थी।

अष्ट प्रधान—शासन संचालन में सहायता के लिए शिवाजी ने आठ मंत्रियों अथवा उच्चाधिकारियों को नियुक्त कर रखा था। इन्हें 'अष्ट प्रधान' के नाम से पुकारा जाता है। प्रत्येक मन्त्री अपने-अपने विभाग का अध्यक्ष था और शिवाजी के आदेशानुसार अपने-अपने विभाग के कार्यों को सम्पन्न करता था। जदुनाथ सरकार ने लिखा है कि "लुई 14वें तथा फ्रेड्रिक महान् की भाँति शिवाजी स्वयं ही अपना प्रधान मंत्री था और प्रशासन के सभी सूत्रों को अपने ही हाथों में केन्द्रित रखता था। आठों प्रधान उसके व्यक्तिगत मन्त्रियों की भाँति काम करते थे, उनमें न तो मौलिक क्षमता थी, न ही नीति निर्धारक शक्ति।" अष्ट प्रधानों में निम्नलिखित मंत्री होते थे—

1. **पेशवा**—प्रधान मन्त्री। राज्य के सामान्य कार्यों की देखभाल करना। छत्रपति की अनुपस्थिति में उसका प्रतिनिधित्व करना। अन्य मन्त्रियों के कार्यों में सहयोग देना।

2. **अमात्य (मजमुआदार)**—राज्य के आय-व्यय की देखभाल करना।

3. **मन्त्री (वाकिया नवीस)**—छत्रपति के दैनिक कार्यों को लिखना। छत्रपति की सुरक्षा करना और उनसे मिलने आने वाले की देखभाल करना।

4. **सचिव (शुरु-नवीस)**—राजकीय पत्रों की शैली और भाषा को ठीक करना, महाल (परगने) के लेखा पत्रों की जाँच करना।

5. **सुमन्त (दबीर)**—परराष्ट्र मन्त्री का दायित्व। राजा को सन्धि अथवा युद्ध के बारे से परामर्श देना देना, विदेशी राजदूतों से मिलना, विदेशों की जानकारी रखना।

6. **सेनापति (सर-ए-नौबत)**—सैनिकों की भर्ती, उनका प्रशिक्षण और सेना के लिए आवश्यक वस्तुओं की व्यवस्था करना।

7. **पंडितराव (सद्र अथवा मुहतसिब)**—राजकीय दान-पुन्य की व्यवस्था करना, धार्मिक वाद-विवादों को निबटाना और पाप के लिए दण्ड देना।

8. **न्यायाधीश (प्रधान काजी)**—हिन्दू कानून के आधार पर सैनिक तथा असैनिक झगड़ों का फैसला करना। भूमि सम्बन्धी झगड़ों का निर्णय करना।

पंडितराव और न्यायाधीश के अलावा, अन्य सभी मंत्रियों को सैनिक सेवायें देनी पड़ती थीं। इन आठों के अलावा, राज्य के पत्र-व्यवहार की देखभाल करने वाले चिटनिस और मुन्शी भी उच्चाधिकारी थे। इन सभी अधिकारियों की सहायता के लिए अनेकों अन्य कर्मचारी होते थे। इस प्रकार शिवाजी ने हिन्दू और मुस्लिम दोनों परम्पराओं के आदर्श को अपनी अष्ट-प्रधान परिषद् में प्रस्तुत किया। परन्तु उन्होंने अधिकारियों को जागीर नहीं दी बल्कि नकद वेतन की व्यवस्था की थी। वे जागीर-प्रथा के पक्ष में नहीं थे। इस प्रकार शिवाजी ने वंशानुगत पद-प्रथा को समाप्त करके योग्य व्यक्तियों के लिए सरकारी पदों का मार्ग प्रशस्त कर दिया था।

सैन्य व्यवस्था—अश्वारोही और पदाति सैनिक शिवाजी की स्थायी एवं नियमित सेना के मुख्य अंग थे। उसके पास एक छोटा-सा तोपखाना और एक नौ-सेना भी थी।

पागा या शाही अश्वारोही सैनिक को 'बरगीर' के नाम से पुकारा जाता था। इन्हें राज्य की ओर से घोड़े और शस्त्र दिये जाते थे जबकि 'सिलेदार' घुड़सवार अपने घोड़ों और शस्त्रों को स्वयं खरीदते थे। शाही घुड़सवारों का नियमित संगठन था। 25 घुड़सवारों के ऊपर एक हवलदार, 5 हवलदारों के ऊपर एक जमादार, 10 जमादारों के ऊपर एक हजारी और 5 हजारियों के ऊपर एक पंच हजारी अधिकारी होता था। सबसे ऊपर सर-ए-नौबत होता था, जो घुड़सवार सेना का प्रधान होता था। इसी प्रकार का विभाजन पदाति सेना में था। 9 पाइकों (सैनिकों) का अधिकारी नायक, दस नायकों के ऊपर एक हवलदार, दो या तीन हवलदारों के ऊपर एक जुमलादार, दस जुमलादारों के ऊपर एक हजारी और सात हजारियों के ऊपर एक सात हजारी अधिकारी होता था। सम्पूर्ण पदाति सेना का प्रधान सर-ए-नौबत होता था। शिवाजी की अंगरक्षक सेना अलग थी जिसमें लगभग 2000 मालवी सैनिक थे। उनकी सेना में मुसलमान सैनिक भी थे। शिवाजी के पास एक जल सेना भी थी जिसका मुख्य केन्द्र 'कोलाबा' था।

शिवाजी की सेना अनुशासित एवं संगठित थी। सैनिकों की भर्ती, प्रशिक्षण और अनुशासन पर पूरा-पूरा ध्यान रखा जाता था। सैनिकों और उनके अधिकारियों को नकद वेतन दिया जाता था। किसी सैनिक को अपने साथ अनावश्यक सामान रखने की छूट नहीं दी जाती थी। स्त्रियों तथा नौकरों को सेना के साथ ले जाने की आज्ञा भी न थी। नियम भंग करने वालों को कठोर सजा दी जाती थी। वर्षा ऋतु के चार महीने सैनिक छावनियों में रहते थे और शेष आठ महिने आक्रमण करने तथा रसद एकत्र करने के लिये बाहर गुजारते थे। छावनी छोड़ते समय प्रत्येक सैनिक की वस्तुओं और सामान को गिन लिया जाता था और छानवी में वापस आते ही उसके सामान की पुनः गिनती की जाती थी ताकि कोई भी सैनिक लूट का माल छिपा कर अपने पास न रख सके।

शिवाजी की सैनिक व्यवस्था में किलों की व्यवस्था भी मुख्य स्थान रखती थी। उसके पास लगभग 240 किले थे जो उसकी सुरक्षा और आक्रमणकारी नीति के मुख्य आधार थे। मराठे सैनिक अपने किलों को अपनी माता के समान सम्मान देते थे। प्रत्येक किले में तीन मुख्य अधिकारी होते थे—हवलदार, सबनिस और सर-ए-नौबत। किले की रक्षा और शासन में तीनों का संयुक्त उत्तरदायित्व था। किलों के फाटक खोलने और बन्द करने का समय निश्चित होता था।

अर्थ-व्यवस्था और लगान व्यवस्था— भूमि कर और व्यापारिक कर शिवाजी के राज्य की आय के मुख्य साधन थे। परन्तु इस आय से उनकी सेना और शासन का खर्चा नहीं चल पाता था। अपना खर्च पूरा करने के लिये उन्होंने 'चौथ' और 'सरदेशमुखी' वसूल करना शुरू किया। जिन प्रदेशों या नगरों से यह कर वसूल

किये जाते थे वे शिवाजी के राज्य की सीमाओं के अन्तर्गत नहीं आते थे। अर्थात् अपने राज्य के अलावा दूसरे स्थानों से वसूल किये जाते थे। चौथ उस क्षेत्र या प्रदेश की वार्षिक आय का चौथाई भाग होता था और 'सरदेशमुखी' वार्षिक आय का 1/10 वाँ भाग होता था। जिस प्रदेश अथवा क्षेत्र से यह कर वसूल किये जाते थे, उन्हें मराठा आक्रमणों से सुरक्षा का आश्वासन दिया जाता था। यह कर सैनिक शक्ति के सहारे वसूल किये जाते थे और इनका ध्येय शत्रु राज्य की धन-सम्पदा से अपनी सेना तथा शासन का व्यय पूरा करना था। आगे चलकर यह कर मराठा साम्राज्य के विस्तार में सहायक हुए।

शिवाजी की लगान व्यवस्था टोडरमल और मलिक अम्बर की व्यवस्था पर आधारित थी। इस व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक गाँव की भूमि की पैमाइश की जाती थी। पैमाइश के आधार पर प्रत्येक किसान की भूमि की पैदावार का अनुमान लगाया जाता था और इस अनुमान के आधार पर उससे लगान लिया जाता था। शुरू में वे कुल पैदावार का 33% लगान लेते थे। परन्तु जब शिवाजी ने किसानों पर लागू अन्य विविध करों को समाप्त कर दिया तो उन्होंने लगान की दर बढ़ाकर 40% कर दी। इससे किसानों को लाभ हुआ क्योंकि वे विविध अनिश्चित करों की वसूली से मुक्त हो गये। प्रत्येक किसान को उसकी भूमि का पट्टा दिया जाता था और बंजर भूमि पर खेती करने वाले किसानों को राज्य की तरफ से विशेष सहायता दी जाती थी।

लगान-वसूली की दृष्टि से शिवाजी का सम्पूर्ण राज्य 16 प्रान्तों में विभाजित था। प्रांत 'तर्फों' में और 'तर्फ' गाँव में विभाजित थे। प्रांत का अधिकारी 'सूबेदार' और तर्फ का 'कार्कुन' कहलाता था। गाँवों में पटेल और कुलकर्णी होते थे। इस प्रकार शिवाजी ने लगान व्यवस्था के लिए नये अधिकारियों की नियुक्ति की। पिंगले कैनेडी ने लिखा है कि 'किसान यह जानते थे कि उन्हें क्या देना है और वह उतना बिना किसी बड़ी कठिनाई के देने की स्थिति में थे।"

मूल्यांकन— मराठा इतिहासकार सर देसाई ने लिखा है कि "निस्सन्देह शिवाजी का व्यक्तित्व अपने ही युग में नहीं अपितु सम्पूर्ण आधुनिक युग में भी असाधारण है।" वास्तव में, शिवाजी का चरित्र आदर्श माना जा सकता है। वह एक अच्छे पुत्र, पति और पिता थे। उनमें दयालुता, सहिष्णुता, साहस, दृढ़ निश्चय, आदि सभी गुण थे। अकबर की भांति वे भी निरक्षर थे। परन्तु उनका व्यावहारिक ज्ञान बढ़ा-चढ़ा था। उनमें धर्मान्धता की गन्ध न थी। हिन्दू धर्म और गौ-ब्राह्मण के रक्षक होते हुए भी उन्होंने सभी धर्मों का सम्मान किया। तत्कालीन इतिहासकार खाफी खाँ, जिसे शिवाजी से भारी जलन थी, ने भी उनकी प्रशंसा में लिखा है कि "उसने सरदारों में लूट के समय नियम बना दिए थे कि वे मन्दिर, मस्जिद, कुरान आदि को नुकसान नहीं पहुँचायेंगे।" स्त्रियों के प्रति वे आदर और सम्मान की भावना रखते थे। इस प्रकार, उनमें सभी मानवीय गुण थे।

शिवाजी की महानता इस बात में है कि उन्होंने प्रतिकूल परिस्थितियों में भी एक स्वतन्त्र हिन्दू राज्य की स्थापना करने में सफलता प्राप्त की थी। उस समय औरंगजेब विशाल मुगल साम्राज्य की समस्त शक्ति के साथ सम्पूर्ण दक्षिण भारत को अपनी अधीनता में लाने के लिए तत्पर था। बीजापुर और गोलकुण्डा जैसे शक्तिशाली राज्यों का अस्तित्व नष्ट हो गया था। परन्तु शिवाजी द्वारा स्थापित राज्य का अस्तित्व कायम रहा। उन्हें बीजापुर और मुगल साम्राज्य, दोनों से युद्ध करने पड़े। इस सम्बन्ध में उन्हें छल-कपट तथा चालाकी का सहारा भी लेना पड़ा। परन्तु जैसा कि जदुनाथ सरकार ने लिखा है कि, "दक्षिण की सुरक्षात्मक-व्यवस्था पूर्ण रूप से नष्ट हो चुकी थी। अतः उसकी सुरक्षा के लिए उन्हें छल-बल की महान् आवश्यकता थी। मुगल बादशाह उस प्रदेश को हड़प जाना चाहते थे। इसलिए शिवाजी देश और जाति की रक्षा के लिए कोई भी मार्ग अपना सकते थे। उनके ये समस्त कार्य नैतिकतापूर्ण ही कहे जायेंगे।"

शिवाजी एक सफल शासन-प्रबन्धक थे। यद्यपि उनमें रचनात्मक प्रतिभा का अभाव था, परन्तु उन्होंने दूसरों के ज्ञान से लाभ उठाकर अपनी सुविधानुसार उसमें परिवर्तन किए। सैनिक शक्ति पर निर्मित राज्य की शासन-व्यवस्था में असैनिक अधिकारियों को महत्त्व देना और एक ऐसी शासन-व्यवस्था स्थापित करना जो उनकी अनुपस्थिति में भी ठीक ढंग से चल सके, उनकी शासन नीति की श्रेष्ठता को सिद्ध करती है।

शिवाजी एक कुशल और साहसी सैनिक तथा सेनानायक थे। उन्होंने अनेक युद्धों और अवसरों पर अपना जीवन संकट में डाला था। उन्हें अपने देश की भौगोलिक स्थिति का पूरा ज्ञान था और इसलिए उन्होंने छापामार युद्ध पद्धति को अपनाया तथा किलों के निर्माण पर ज्यादा जोर दिया।

शिवाजी की महानता एक राष्ट्र-निर्माता के रूप में है। उनकी महानतम देन हिन्दू-मराठा राष्ट्र का निर्माण और मराठों को स्वतन्त्रता की भावना प्रदान करना था। उन्होंने अकेले ही अपने संघर्ष की शुरूआत की, अपने आप ही अपने समर्थकों को एकत्र किया, अपनी सेना का संगठन किया और बिना किसी की सहायता के एक सुसंगठित स्वतन्त्र राष्ट्र का निर्माण किया। जदुनाथ सरकार ने लिखा है कि "शिवाजी ने यह सिद्ध करके दिखा दिया कि हिन्दुत्व का वृक्ष वास्तव में मरा नहीं बल्कि सदियों की राजनीतिक दासता, शासन से पृथकता और कानूनी अत्याचार के उपरान्त भी फिर उठ सकता है, उसमें नवीन पत्ते और शाखाएँ आ सकती हैं और वह एक बार पुनः आकाश में सिर उठा सकता है।"

2. शम्भाजी (1680–89 ई०)

शम्भाजी शिवाजी का सबसे बड़ा पुत्र था। वह बचपन से ही अभिमानी, क्रोधी तथा विलासी था। युवावस्था में वह मुगलों की कैद में रहा। मुगलों की संगति ने उसे और विलासी बना दिया इसलिए शिवाजी उससे प्रसन्न नहीं थे। जब

सम्भाजी ने एक मुगल सेनापति की सहायता प्राप्त करने का प्रयास किया तब शिवाजी ने उसे पन्हाला दुर्ग में नजरबन्द कर दिया। अपनी मृत्यु के कुछ समय पहले शिवाजी ने यह इच्छा प्रकट की थी कि वे अपनी युवा पत्नी सोयरा बाई से उत्पन्न पुत्र राजाराम को महाराष्ट्र तथा शम्भाजी को कर्नाटक का राज्य देंगे। शिवाजी की मृत्यु पर अनेक सरदारों ने राजाराम को छत्रपति घोषित किया किन्तु सेनापति हम्मीरराव मोहिते की सहायता से शम्भाजी ने अपने विरोधियों को परास्त किया। उस समय महाराष्ट्र के सामने गम्भीर संकट था। एक ओर वह आन्तरिक संघर्ष में उलझा हुआ था तथा दूसरी ओर निकट भविष्य में मुगलों के आक्रमण की संभावना थी। सर देसाई के अनुसार ऐसे संकट के समय में शिवाजी जैसे महान् पुरुष का उत्तराधिकारी बनने की पूर्ण योग्यता शम्भाजी में नहीं थी।

शम्भाजी ने अपने विरोधियों को हरा कर उनका क्रूरता के साथ दमन किया। 16 जून, 1681 ई. को उसने रायगढ़ में अपना राज्याभिषेक किया। आंतरिक विरोधियों से कुछ समय के लिए निश्चित होकर शम्भाजी ने तत्परता के साथ मुगलों के इलाकों पर छापे मारे। बुरहानपुर व अहमदनगर को मराठा सैनिकों ने लूटा। इस समय औरंगजेब का विद्रोही पुत्र अकबर महाराष्ट्र की सीमा में आ गया। यद्यपि शम्भाजी ने उसे शरण दी यह उसकी एक महान् भूल थी, किन्तु उसे विशेष सहायता प्रदान नहीं की। 1682 में औरंगजेब दक्षिण आ पहुँचा। उसने बीजापुर व गोलकुण्डा को विजय करने के पश्चात् महाराष्ट्र पर आक्रमण किया। शम्भाजी ने एक मुगल सेना को रामसेज नामक स्थान पर परास्त किया। इसके पश्चात् शम्भाजी विलासिता में पड़ गया। उस पर उसके मुख्य मन्त्री कवि कलश का प्रभाव बढ़ने के कारण मराठा सरदार उससे अप्रसन्न हो गये। फरवरी, 1689 ई० में संगमेश्वर नामक स्थान पर शम्भाजी व कवि कलश को मुगलों ने कैद कर लिया।

मुगलों की कैद में शम्भाजी ने वीरता और निडरता का प्रदर्शन किया। औरंगजेब ने शम्भाजी को अपने तमाम किले और खजाने सौंपने की माँग की। कुछ विद्वानों के अनुसार उसे इस्लाम स्वीकार करने को भी कहा गया। शम्भाजी ने इन अपमानजनक शर्तों को स्वीकार करने की अपेक्षा मृत्यु का आलिंगन करना पसन्द किया। उसे पन्द्रह दिन तक अनेक यातनाएँ दी गईं और फिर उसके शरीर के टुकड़े टुकड़े कर दिये गये। कवि कलश का निर्दयता के साथ वध कर दिया गया।

शम्भाजी का यह बलिदान निरर्थक नहीं गया। एच. एन. सिन्हा के अनुसार उसके बलिदान ने मराठों को एक सूत्र से बाँध दिया तथा उनमें वह साहस, स्फूर्ति और जागृति भर दी जिसे औरंगजेब भी अपने विशाल साधनों के साथ दबा नहीं सका उल्टे स्वयं उसकी कब्र तैयार हो गई।

3. मराठा स्वतन्त्रता संग्राम : राजाराम और ताराबाई

शम्भाजी की मृत्यु से औरंगजेब को बहुत अधिक प्रसन्नता हुई थी। उसने सोचा था कि अब मराठा शक्ति का सर्वनाश हो गया। शिवाजी की राजधानी रायगढ़

पर मुगलों का अधिकार हो गया था और शम्भाजी का एक मात्र शिशु पुत्र शाहू मुगलों का बन्दी था। परन्तु उसका ऐसा सोचना भ्रम साबित हुआ।

समर्थ रामदास की शिक्षाओं, शिवाजी की प्रेरणा और शम्भाजी के बलिदान ने मराठों की क्षणिक निराशा और तन्द्रा को दूर कर दिया। शहीद शम्भाजी के रक्त का प्रतिशोध लेने और मराठा राष्ट्र की स्वतंत्रता की रक्षा के लिए वे शीघ्र ही उठ बैठे। उन्होंने शिवाजी के छोटे पुत्र राजाराम को छत्रपति घोषित कर दिया और उसे मुगलो की पहुँच से बहुत दूर जिंजी के दुर्ग में भेज दिया। इसके बाद मराठा छापामार सक्रिय हुए। अब संघर्ष का पहलू बदल गया। इससे पूर्व मुगल सम्राट और मराठा छत्रपति का मुकाबला था। अब मुगल सम्राट और उसकी सेना को मराठा जनता से लोहा लेना पड़ा। मराठों के पास न संगठित सरकार थी, न संगठित फौजें थीं और उनके लगभग सभी दुर्गों,कार्यों पर भी मुगलों का अधिकार था। परन्तु मराठों के पास अदम्य उत्साह और साहस था। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की रक्षा करने का दृढ़ संकल्प था। महाराष्ट्र की एक-एक घाटी युद्ध का मोर्चा बन गई। सौभाग्य से संकट की इन वेला में रामचन्द्र पन्त, परशुराम प्रतिनिधि, सन्ताजी घोरपडे और धन्नाजी जाधव जैसे राजनीतिज्ञों और सेनानायकों का उदय हुआ जिन्होंने मुगल सम्राट औरंगजेब की आशाओं पर पानी फेर दिया। उधर राजाराम ने मराठा सरदारों को अपनी सेना एकत्र करने, मुगलों से अपनी इच्छानुसार युद्ध करने और जिस भूमि को वह जीत सके उस भूमि को अपनी जागीर बनाने की स्वतन्त्रता और अधिकार दे दिया। उससे अनेक मराठा सरदारों को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। वे जगह-जगह पर मुगल सेना पर आक्रमण करने लगे। अवसर मिला तो मुगलों को परास्त कर देते, उनके रसद मार्गों को काट देते और अवसर न मिला तो भाग जाते थे। मुगल सेना इस प्रकार के युद्ध की अभ्यस्त न थी और न इस युद्ध में मराठों का सफल प्रतिरोध कर सकी। स्वयं बूढ़ा औरंगजेब इधर से उधर भाग-दौड़ करता रहा, दुर्गों पर आक्रमण करता और उनको जीतता। किन्तु ज्योंही वह आगे बढ़ता, जीते हुए दुर्ग मराठों के अधिकारमें चले जाते। वह फिर उन दुर्गों को जीतने के लिए वापस लौटता, ऐसी स्थिति में 1700 ई० में राजाराम की आकस्मिक मृत्यु हो गई।

औरंगजेब काफी बूढ़ा और अशक्त हो गया था। परन्तु राजाराम की मृत्यु से उसका साहस फिर लौट आया और उसने पूरी ताकत के साथ मराठों पर प्रहार किया। उधर राजाराम की मृत्यु के बाद उसकी विधवा पत्नी ताराबाई ने मराठों का नेतृत्व सम्भाल लिया, ठीक उसी तरह से जैसे कि रानी दुर्गावती या चाँदबीबी ने सम्भाला था। उस वीरांगना ने तीन-तीन बार औरंगजेब के संधि प्रस्तावों को ठुकरा कर आजादी की लड़ाई को जारी रखा। वह अपने पुत्र शिवाजी द्वितीय के नाम पर स्वयं शासन संचालन करने लगी। उसने अपने मराठा सरदारो को मुगल प्रान्तों में लूटमार करने तथा अशान्ति फैलाने को प्रोत्साहित किया जिससे युद्ध का नक्शा ही बदल गया। अपने अन्तिम दिनों में औरंगजेब ने शम्भाजी के पुत्र शाहू जिसका लालन-पालन मुगल शिविर में ही हो रहा था, को मुक्त करके, मराठों में गृह-कलह

पैदा कर उन्हें कमजोर बनाने का विचार किया। परन्तु अपनी सन्देही प्रकृति के कारण वह अपने विचार को कार्यान्वित न कर पाया। निरन्तर कठोर परिश्रम और असफलताओं से उसका साहस भंग हो गया और घोर निराशा तथा गहरी व्यथा के मध्य 3 मार्च, 1707 ई० के दिन उसकी मृत्यु हो गई।

4. पेशवाओं के नेतृत्व में मराठा शक्ति का प्रसार

शाहू—मराठों की राजधानी रायगढ़ के पतन के समय शहीद शम्भाजी का पुत्र 7 वर्षीय शाहू और उसकी माँ येसूबाई मुगलों के हाथों में पड़ गए थे जिन्हें औरंगजेब ने अपने ही शिविर में बंदी बनाकर रख छोड़ा था। उसका विचार शाहू को मुसलमान बनाने अथवा उसका वध कर देने का था, परन्तु उसकी पुत्री जीनतुन्निसा की कृपा से शाहू जीवित रहा और एक हिन्दू के रूप में ही उसका लालन-पालन भी किया गया।

औरंगजेब की मृत्यु के बाद उसके पुत्रों में उत्तराधिकार संघर्ष शुरू हो गया। उस समय उसका एक लड़का आजमशाह दक्षिण के मुगल शिविर में ही था। सबसे बड़ा लड़का बहादुरशाह उत्तर में था। आजमशाह अपने बड़े भाई से युद्ध लड़ने के लिए दक्षिण से उत्तर की ओर चल पड़ा। मार्ग में आजमशाह के सलाहकार और सेनानायक जुल्फिकार खाँ ने उसे राय दी कि "बन्दी रहने की अपेक्षा मुक्त शाहू मराठों के विरुद्ध अधिक शक्तिशाली हथियार सिद्ध होगा।" शाहू को मुक्त करने का अर्थ था मराठों को गृह-युद्ध की ज्वाला में झोंक देना। क्योंकि ताराबाई पिछले सात वर्षों से जो स्वतंत्रता संग्राम चला रही थी, वह अपने पुत्र शिवाजी द्वितीय की उन्नति के लिए ही चला रही थी। यह निश्चित तौर पर नहीं कहा जा सकता कि आजमशाह ने क्या निर्णय लिया था। कुछ लोगों का मानना है कि इन बदली हुई परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए उससे शाहू को मुक्त कर दिया था। शाहू ने उसके करद सामन्त के रूप से शासन करना स्वीकार कर लिया था और बदले में आजम ने उसे दक्षिण के 6 सूबों से चौथ और सरदेशमुखी वसूल करने का अधिकार प्रदान किया। जबकि कुछ अन्य विद्वानों की मान्यता है कि आजमशाह किसी प्रकार का निर्णय नहीं कर पाया था परन्तु जब 18 मई, 1707 ई० को शाहू उसके शिविर को छोड़ कर स्वयं महाराष्ट्र की ओर चल दिया तो आजमशाह ने उसे रोकने का कोई प्रयत्न भी नहीं किया। जो भी हो, शाहू महाराष्ट्र की ओर लौट आया था।

महाराष्ट्र में पहुँचने पर कई मराठा सरदारों ने उसका स्वागत किया और उसको सैनिक समर्थन भी दिया। परन्तु ताराबाई ने उसे मराठा छत्रपति मानने से इन्कार कर दिया। ताराबाई ने पहले उस पर छलिया होने का आरोप लगाया और इसमें सफलता न मिलने पर उसने कहा कि शिवाजी का राज्य उसके पिताजी शम्भाजी ने खो दिया था। मौजूदा मराठा राज्य उसके पति राजाराम और स्वयं उसने अपने बाहुबल से खड़ा किया है। तब भला शाहू का इस राज्य पर कैसा अधिकार ? परन्तु मराठा सरदार एक औरत के प्रभुत्व से उकता चुके थे। ताराबाई का

स्वभाव भी प्रतिशोधात्मक था। इसके विपरीत शाहू उदार तथा विनम्र था। सरदारों को अपने स्वार्थों की चिन्ता थी और इस समय ताराबाई की अपेक्षा शाहू को उनकी सेवाओं की अधिक आवश्यकता थी। अतः उन्हें शाहू से अधिक लाभ मिलने की आशा थी। इसलिए धीरे-धीरे अनेक प्रमुख मराठा सरदार शाहू के पक्ष में आने लग गये। नवम्बर, 1707 ई. में भीमा नदी के किनारे खेड़ नामक स्थान पर एक निर्णायक युद्ध हुआ, जिसमें शाहू को सफलता मिली और ताराबाई हार गई। 12 जनवरी, 1708 ई को सतारा में शाहू ने अपना राज्याभिषेक किया। शाहू छत्रपति बन गया। ताराबाई कोल्हापुर चली गयी। वह हार अवश्य गई थी, परन्तु हिम्मत नहीं हारीं थी। उसने अपने पुत्र का दावा नहीं छोड़ा। सामन्तों को अच्छा अवसर हाथ लगा, कभी शाहू की सेवा में तो कभी ताराबाई के पक्ष में हो जाते थे।

उधर उत्तराधिकार के संघर्ष में आजमशाह मारा गया और बहादुरशाह दिल्ली के सिंहासन पर बैठा। शाहू ने उसकी सेवा में भेंट-उपहार भेजकर उसके प्रति अपना सम्मान प्रकट किया और दक्षिण के 6 सूबों से चौथ और सरदेशमुखी वसूल करने का अधिकार प्रदान किए जाने की प्रार्थना की। परन्तु ताराबाई ने मुगल सम्राट से ऐसा ही अनुरोध अपने पुत्र शिवाजी द्वितीय के नाम पर किया। सम्राट ने अवसर का लाभ उठाते हुए उत्तर दिया था कि "पहले दोनों आपस में लड़कर तय कर लो कि असली अधिकारी कौन है?" इस प्रकार, शाहू चारों तरफ से परेशान था।

ऐसी स्थिति में शाहू को एक ऐसे व्यक्ति को तलाश थी जो कि उसके शत्रुओं को परास्त करके उसकी स्थिति को सुदृढ़ बना सके, देश में शान्ति और व्यवस्था कायम कर सके, उद्दण्ड मराठा सरदारों को अनुशासन में रख सके और मुगल सम्राट से चौथ और सरदेशमुखी का शाही फरमान ला सके। ऐसा व्यक्ति उसे बालाजी विश्वनाथ भट्ट के रूप में मिला। शाहू ने उसे अपना पेशवा बनाया। तब से पेशवा पद उसके परिवार में वंशानुगत बन गया।

बालाजी विश्वनाथ—पेशवा घराने के संस्थापक और प्रथम पेशवा बालाजी विश्वनाथ का जन्म कोंकण प्रदेश के श्रीवर्धन गाँव के 'चितपावन' ब्राह्मणों के भट्ट परिवार में 1660 ई. के लगभग हुआ था। वह गाँव जंजीरा के सीदियों के शासन के अन्तर्गत था। सीदियों में कलह हो जाने के परिणामस्वरूप बालाजी विश्वनाथ को अपने परिवार सहित अपने गाँव से भागकर महाराष्ट्र में आना पड़ा। इधर-उधर के कुछ काम-काज के बाद वह धन्नाजी जादव की सेवा में चला गया और 1699 से 1708 ई. के बीच वह पूना और दौलताबाद का सर-सूबेदार रहा। इस पद पर काम करते हुए वह शाहू के सम्पर्क में आया जो उन दिनों औरंगजेब की नजरबंदी में था। शाहू के महाराष्ट्र आने पर बालाजी विश्वनाथ की सलाह से सेनापति धन्नाजी जादव शाहू की सेवा में चला आया। बालाजी भी शाहू की सेवा में आ गया। इस समय से अपनी मृत्युपर्यन्त बालाजी विश्वनाथ हृदय, बुद्धि और कर्म से शाहू का निष्ठावान सेवक बना रहा।

धन्नाजी जादव की मृत्यु के बाद शाहू ने उसके पुत्र चन्द्रसेन को अपना सेनापति नियुक्त किया। परन्तु वह उसका पूरा भरोसा नहीं कर सका क्योंकि चन्द्रसेन गुप्त रूप में ताराबाई से पत्र-व्यवहार किया करता था। इसलिए 1708 ई. में उसने बालाजी विश्वनाथ को 'सेनाकर्ते' के पद पर नियुक्त किया ताकि वह सेना के संगठन के साथ चन्द्रसेन की कार्यवाहियों पर भी निगाह रख सके। 1711 ई. में चन्द्रसेन शाहू का पक्ष छोड़ कर ताराबाई से जा मिला। उसकी प्रेरणा से शाहू की सेना का 'सर-ए-लश्कर' हैबतराव निम्बालकर भी ताराबाई से जा मिला शाहू का मंत्री परशुराम पन्त भी ताराबाई से मिला हुआ था। उसे कैद में पटक दिया गया। इसी समय मराठों के सर्वाधिक शक्तिशाली सरदार कान्होजी आंग्रे ने शाहू के पेशवा को परास्त कर अपनी कैद में डाल दिया और सेना सहित सतारा पर आक्रमण की तैयारी करने लगा। कन्होजी भी ताराबाई का समर्थक था। ऐसी संकटमय स्थिति में केवल बालाजी विश्वनाथ ही विश्वासपात्र सिद्ध हुआ। अतः 1713 ई. में शाहू ने उसको अपना पेशवा नियुक्त किया।

पेशवा बनते ही, बालाजी शाहू की स्थिति को सुदृढ़ बनाने के प्रयत्न में जुट गया। सर्वप्रथम उसने अपनी कूटनीति से कन्होजी आँग्रे को शाहू के पक्ष में लाने में सफलता प्राप्त की। कन्होजी आँग्रे मराठा नौ-सेना का सर्वोच्च अधिकारी था और सम्पूर्ण पश्चिमी घाट पर उसका नियन्त्रण था। इसके बाद उसने कोल्हापुर में ताराबाई के विरुद्ध चल रहे षड्यंत्र को सफल बनाया। ताराबाई के गुरु और मराठा स्वतंत्रता-संग्राम के सर्वोच्च नेता आमात्य रामचन्द्र पन्त ने ताराबाई को हटा कर राजाराम की दूसरी पत्नी राजसबाई और उसके पुत्र शम्भाजी को सत्ता सौंपने का षड्यन्त्र रचा। षड्यंत्र सफल रहा। ताराबाई और उसके पुत्र शिवाजी द्वितीय को कैद में डाल दिया गया। इससे शाहू के मार्ग का सबसे बड़ा काँटा निकल गया। ताराबाई के पतन के बाद सेनापति चन्द्रसेन भी कोल्हापुर से भाग कर निजाम की सेवा में चला गया।

परन्तु बालाजी विश्वनाथ की सबसे महत्त्वपूर्ण उपलब्धि शाहू के लिए दक्षिण के 6 मुगल सूबों से चौथ और सरदेशमुखी वसूल करने का शाही फरमान प्राप्त करना था। बहादुरशाह की मृत्यु के बाद जहाँदारशाह दिल्ली के सिंहासन पर बैठा परन्तु 1713ई. में सैय्यद बन्धुओं, अब्दुल्लाखाँ और हुसैन अली की सहायता से फर्रुखशियर जहाँदारशाह को हटा कर मुगल बादशाह बनने में सफल रहा। परन्तु फर्रुखशियर की सैय्यद बन्धुओं से नहीं बनी और उसने उन्हें समाप्त करने की योजना बनाई। छोटे सैय्यद हुसैन अली जो अधिक चतुर था, को दक्षिण का सूबेदार बनाकर दिल्ली से दूर भेज दिया गया। दक्षिण के सूबेदार के रूप में हुसैन अली ने मराठों का दमन करने का प्रयत्न किया। परन्तु जब दिल्ली से उसके बड़े भाई के प्राण संकट में पड़ गए तो उसने फर्रुखशियर के विरुद्ध अपनी स्थिति को मजबूत बनाने तथा मराठों की सहायता प्राप्त करने की दृष्टि से मराठों के साथ सन्धि कर ली। पेशवा बालाजी विश्वनाथ की दूरदर्शिता और राजनीतिज्ञता के कारण ही यह

सन्धि सम्भव हो पाई थी। 1719 ई. में सम्पन्न इस सन्धि के द्वारा मुगलों ने शाहू को वे प्रदेश और किले जो शिवाजी के 'स्वराज्य' के अन्तर्गत थे, देने का वचन दिया। शाहू को दक्षिण के सूबों से चौथ और सरदेशमुखी वसूल करने का अधिकार देने का वचन दिया गया। शाहू की माता, पत्नी, भाई आदि जो भी अभी तक मुगलों की कैद में थे, को छोड़ने का वायदा किया गया। बदले में शाहू ने मुगल बादशाह को 10 लाख रुपया वार्षिक भेंट देने और मुगल बादशाह की सेवा में 15,000 घुड़सवार सैनिक रखने का वचन दिया।

इसके बाद सैय्यद हुसैन अली, मराठा सेना को साथ लेकर दिल्ली पहुँचा। बालाजी विश्वनाथ भी मराठा सेना के साथ दिल्ली गए। दिल्ली पहुँचने के बाद सैय्यद बन्धुओं ने फर्रुखशियर को पदच्युत करके रफी-उद-दाराजत को सम्राट बनाया। मराठों की यह दिल्ली यात्रा अत्यधिक महत्वपूर्ण सिद्ध हुई। उन्हें मुगल साम्राज्य का खोखलापन स्पष्ट हो गया। अतः दिल्ली से वापस आने के बाद बालाजी विश्वनाथ ने उत्तर भारत में मराठा शक्ति के विस्तार की योजना बनाई, परन्तु योजना कार्यान्वित करने से पूर्व ही 1720 ई. में उसकी मृत्यु हो गई।

बालाजी विश्वनाथ अपने समय का एक योग्य कूटनीतिज्ञ था। उसने शाहू की शक्ति को मजबूत बनाया, परन्तु इसके साथ-साथ पेशवा के पद और सम्मान में इतनी अधिक वृद्धि कर दी कि अन्त में पेशवा मराठा छत्रपति से भी अधिक शक्तिशाली हो गये। उसने मराठों को एक भयंकर गृह-युद्ध से बचा कर छत्रपति के अन्तर्गत मराठा शक्ति को संगठित किया। मराठा-संघ के निर्माण और मुगलों के साथ संधि करके उसने मराठा-शक्ति के विस्तार का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

पेशवा बाजीराव – बालाजी विश्वनाथ की मृत्यु के बाद, शाहू ने उसके बीस वर्षीय बड़े पुत्र बाजीराव को अपना पेशवा नियुक्त किया। बाजीराव को शासन तथा अर्थ-व्यवस्था में अधिक रुचि नहीं थी। परन्तु सैन्य संचालन और कूटनीति में वह दक्ष था। वह एक योग्य सैनिक और सेनानायक था। अपने पिता के साथ रहकर उसने राजनीतिक और कूटनीति के दांव-पेच समझ लिए थ। यही योग्यता उसकी सफलता का आधार बनी। बाजीराव शुरू से ही साम्राज्यवादी नीति का पोषक था। उसका ध्येय सम्पूर्ण भारत में मराठा-शक्ति का विस्तार करना था। वह मुगल साम्राज्य के तने पर चोट करना चाहता था। उसने कहा था कि "हमें इस जर्जर वृक्ष के तने पर आक्रमण करना चाहिए। शाखाएं तो स्वयं ही गिर जायेंगी।" परन्तु उसे अपनी नीति को सफलतापूर्वक कार्यान्वित करने के लिए दस वर्ष तक प्रतीक्षा करनी पड़ी, क्योंकि दक्षिण भारत में ही उसके मार्ग में तीन मुख्य अवरोध आ खड़े हुए थे—(1) हैदराबाद दक्षिण का निजाम उल-मुल्क, (2) कोल्हापुर का शम्भाजी, और (3) सेनापति दाभाड़े।

निजाम-उल-मुल्क अपने समय का योग्य प्रशासक, निपुण राजनीतिज्ञ और पराक्रमी सेनानायक था। सैय्यद भाइयों से असंतुष्ट होकर निजाम स्वेच्छा से दिल्ली छोड़कर दक्षिण चला आया और दक्षिण के तत्कालीन सूबेदार को परास्त

कर दक्षिण भारत के 6 सूबों पर अधिकार जमा लिया। इसी समय सैय्यद-बन्धुओं का पतन हुआ और वे मारे गये। निजाम ने 1719 ई. की सधि के अनुसार मराठों को चौथ और सरदेशमुखी देने से इन्कार कर दिया। परन्तु परिस्थितियाँ ऐसी बदलीं कि 1724 ई. में निजाम को अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए मराठों से सहायता लेनी पड़ी और उसने 1719 ई. की सन्धि को मान्यता दे दी। अपनी स्थिति के मजबूत बनते ही निजाम ने हैदराबाद दक्षिण में अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने का निश्चय किया। इसके लिए मराठों से संघर्ष अनिवार्य था। 1728 ई. में बाजीराव ने पालखेद नामक स्थान पर निजाम को घेर लिया और निजाम को बिना लड़े ही सन्धि करनी पड़ी। 1738 ई. में भोपाल के निकट एक बार पुनः निजाम को बाजीराव के हाथों परास्त होना पड़ा। इस बार उसने बाजीराव को उत्तर की तरफ बढ़ने का रास्ता दे दिया। सम्पूर्ण मालवा और नर्मदा तथा चम्बल नदी के बीच का सम्पूर्ण प्रदेश बाजीराव को दे दिया तथा कोल्हापुर में शम्भाजी का साथ छोड़ दिया। इस प्रकार बाजीराव को अपने मार्ग से एक अवरोध दूर करने में सहायता मिल गई।

कोल्हापुर का शम्भाजी, ताराबाई की सौत राजसबाई का पुत्र था। ताराबाई की सत्ता का तख्ता पलटने और शम्भाजी को कोल्हापुर की गद्दी पर बैठाने से पेशवा बालाजी विश्वनाथ का सक्रिय योगदान रहा था। परन्तु जब शाहू ने कर्नाटक पर आक्रमण करने शुरू किये तो शम्भाजी जल गया। वैसे भी उसे शाहू की बढ़ती हुई सत्ता से जलन हो रही थी। निजाम के भड़काने पर उसने शाहू से शिवाजी के स्वराज्य के आधे भाग की माँग की और दक्षिण के 6 सूबों से चौथ और सरदेशमुखी की वसूली के लिए भी अपना दावा प्रस्तुत किया। इतना ही नहीं बल्कि वह मराठों के घोर शत्रु निजाम के साथ मिलकर शाहू का विरोध करने लगा। पालखेद में निजाम की पराजय से उसका एक प्रमुख सहयोगी कम हो गया। फिर भी वह शाहू का विरोध करता रहा। अन्त में 1730 ई. में वार्ना नदी के निकट शम्भाजी बुरी तरह पराजित हुआ और उसे शाहू से संधि करनी पड़ी। शम्भाजी ने शाहू को महाराष्ट्र का छत्रपति मान लिया और शाहू की सत्ता को स्वीकार कर लिया। दोनों के राज्यों की सीमायें भी तय कर दी गईं। इसके बाद शम्भाजी ने कभी शाहू को चुनौती देने का साहस नहीं किया।

जिस समय शाहू और शम्भाजी के मध्य वार्ता की संधि की रूपरेखा तैयार हो रही थी उस समय पेशवा बाजीराव और सेनापति त्र्यम्बकराव एक दूसरे से निर्णायक युद्ध की तैयारी के जुटे हुए थे। कारण यह था कि पेशवा बाजीराव मराठा-संघ में एक ऐसी स्थिति का निर्माण करना चाहता था जिससे विभिन्न मराठा सरदार एक दूसरे पर निर्भर हो जायें और उस निर्भरता के कारण एक दूसरे के साथ सहयोग करें। बाजीराव चाहता था कि किसी भी मराठा सरदार को स्वतन्त्र रूप से एक जागीर न मिले बल्कि एक जागीर पर दो या तीन सरदारों का अधिकार रहे ताकि कोई भी सरदार स्वतन्त्र बनने की आकांक्षा न रख सके। सेनापति

खाण्डेराव दाभादे बाजीराव की इस नीति का घोर विरोधी था। शाहू ने खाण्डेराव को गुजरात की तथा बाजीराव को मालवा की चौथ और सरदेशमुखी की आय प्रदान कर रखी थी। । बाजीराव की माँग थी कि दोनों प्रदेशों की आय दोनों में बराबर बाँट दी जानी चाहिए। यही दोनों के झगड़े का मूल कारण था। परन्तु दाभादे ने बाजीराव के विरुद्ध निजाम से साँठ-गाँठ कर रखी थी, इससे बाजीराव और भी अधिक असन्तुष्ट हो गया। 1730 ई. में खाण्डेराव की मृत्यु हो गई और उसका पुत्र त्र्यम्बकराव दाभादे सेनापति बना। त्र्यम्बकराव ने निजाम के साथ मिलकर बाजीराव के विरुद्ध षड्यन्त्र रचा। अप्रैल 1731 ई. में दाभादे के पास पेशवा और सेनापति के मध्य घमासान युद्ध हुआ जिसमें सेनापति हारा और मारा गया। इस विजय ने पेशवा को मराठा संघ का प्रमुख बना दिया। डॉ. एच. एन. सिन्हा ने लिखा है कि "दाभादे की विजय बाजीराव के लिए नि.सन्देह दोहरे लाभ की थी। वह उसकी नीतिपरक विजय के साथ-साथ उसके उत्कर्ष की भी विजय थी।"

दक्षिण भारत में अपनी सत्ता मजबूत बनाने के बाद बाजीराव ने पूरी लगन के साथ उत्तरी भारत में मराठा शक्ति का प्रसार करने का प्रयत्न किया। इस कार्य में उसे राजपूतों, विशेष कर जयपुर के शासक सवाई जयसिंह से बहुत मदद मिली। सवाई जयसिंह उत्तर भारत में हिन्दू शक्ति के पुनरुत्थान में सक्रिय रूप से जुटा हुआ था। बाजीराव का दूसरा शुभचिन्तक बुन्देलखण्ड का शासक छत्रसाल सिद्ध हुआ। 1735 ई. तक प्रायः सम्पूर्ण गुजरात पर मराठों का अधिकार हो गया। मालवा में बाजीराव ने कई बार आक्रमण किये। उसने अपने तीन प्रमुख सेनानायकों मल्हारराव होल्कर, रानोजी सिन्धिया और उदाजी पँवार को मालवा पर अधिकार जमाने का दायित्व सौंपा। अन्त में 1738 ई. में तत्कालीन मुगल सम्राट के वजीर निजाम-उल-मुल्क ने मालवा मराठों को सौंप दिया। 1728 ई. बुन्देलखण्ड के शासक छत्रसाल ने मुगल सूबेदार के विरुद्ध बाजीराव से सहायता की याचना की। बाजीराव स्वयं सहायता के लिए गया और मुगलों को परास्त किया। इस सहायता के बदले छत्रसाल ने अपने राज्य का एक भाग बाजीराव को दे दिया। इस प्रकार गुजरात, मालवा और बुन्देलखण्ड में मराठों का आधिपत्य स्थापित हो गया।

इसके बाद मराठों ने दोआब, राजस्थान तथा दिल्ली के पास-पास के प्रदेश पर धावा मारना शुरू किया। 1737 ई. में बाजीराव ने दिल्ली तक धावा मारा, परन्तु राजधानी को लूटे बिना ही वापस लौट आया। उसका ध्येय मुगल बादशाह तथा उसके अधिकारियों को आतंकित करना मात्र था।

बाजीराव की पेशवाई के समय में कोंकण प्रदेश पर मराठों का प्रभुत्व कायम किया गया। इसके लिए उन्हें जंजीरा मे सीदियों को परास्त करना पड़ा। गोआ के पुर्तगालियों से भी मराठों का संघर्ष हुआ और 1739 ई. में मराठों ने बेसीन पर अधिकार जमा लिया, तथा पुर्तगालियों को संधि करनी पड़ी। दक्षिण में कर्नाटक पर भी मराठों का प्रभुत्व कायम हो गया। दुर्भाग्यवश 40 वर्ष की अल्पायु में ही

1740 ई. में पेशवा बाजीराव का देहान्त हो गया। उसकी मृत्यु का एक कारण अद्वितीय सुन्दरी मस्तानी के प्रति उसका अगाध प्रेम था। बाजीराव के परिवार वालों को यह पसन्द न आया और उन्होंने मस्तानी को बाजीराव से पृथक् कर दिया। डॉ. एच. एन. सिन्हा ने लिखा है कि 'बहादुरों में सर्वश्रेष्ठ, सुन्दरतम बाजीराव एक प्रेम प्रसंग में आकर्षक व्यक्ति के समान मर गया।"

बाजीराव अपने समय का एक महान सेनानायक था और छापामार युद्ध-पद्धति में तो उसकी टक्कर लेने वाला कोई न था। उसने मराठा शक्ति को भारत की प्रमुख शक्ति बना दिया और हिन्दू जाति के सामने एक बार फिर नवीन लक्ष्य प्रस्तुत किया। मुगल साम्राज्य के पतन से भारत की राजनीतिक स्थिति में जो शून्यता आ गई थी, उस कमी की पूर्ति करने का प्रयत्न बाजीराव ने किया। उसकी विदेश नीति और मराठा-विस्तार की नीति मौलिक ही नहीं, दूरदर्शिता की भी थी। इसलिए कुछ लोग उसे मराठा-साम्राज्य का दूसरा संस्थापक मानते हैं।

बालाजी बाजीराव—बाजीराव की मृत्यु के बाद शाहू ने उसके 18 वर्षीय बड़े पुत्र बालाजी बाजीराव (वह नाना साहब के नाम से प्रसिद्ध था) को अपना पेशवा नियुक्त किया। उसे पेशवा नियुक्त करते समय शाहू ने उसे आदेश दिया कि "अपने घोड़े अटक के उस पार ले जाओ।" अर्थात् भारत के उत्तरी-पश्चिमी सीमांत तक मराठा-शक्ति का प्रसार करो। बालाजी शाहू की अभिलाषा और अपने पिता के अधूरे कार्य को पूरा करने का प्रयत्न किया और इसमें उसे अस्थाई सफलता भी मिली।

बालाजी बाजीराव अपने पिता की भाँति पराक्रमी सेनानायक नहीं था। परन्तु उसमें व्यवहारिक कुशलता थी। संयोगवश उसे शुरू से ही दक्षिण की समस्या में उलझ जाना पड़ा। शाहू निःसन्तान था। मरने की तैयारी में था। विशाल मराठा साम्राज्य का उत्तराधिकारी किसे बनाया जाय? यह एक कठिन और गंभीर समस्या थी। ताराबाई अभी जीवित थी। उसने शाहू को कहा कि उसके पुत्र शिवाजी द्वितीय का पुत्र अभी जीवित है। शाहू ने उसे बुलवा भेजा और शाहू की मृत्यु (1749 ई.) के बाद वह "रामराजा" के नाम से मराठों का छत्रपति बना। ताराबाई ने उसको अपने नियन्त्रण में रखकर पहले की भाँति शासन संचालन करने का प्रयत्न किया। परन्तु अब परिस्थितियां बदल चुकी थीं। पेशवा की शक्ति बहुत अधिक बढ़ गई थी और उसे सत्ता से पृथक् करना सरल काम न था। उधर पेशवा ने रामराजा को समझाकर समस्त अधिकार अपने हाथ में ले लिए। असफल ताराबाई ने सत्य स्थिति बतलाते हुए रामराजा को छलिया व्यक्ति घोषित कर दिया। अर्थात् वह ताराबाई का पोता नहीं था। बेचारे रामराजा का सारा जीवन कारावास में गुजरा, यद्यपि पेशवा उसके नाम पर शासन चलाता रहा। अब पेशवा महाराष्ट्र का सर्वोच्च नेता बन गया। यह पेशवाओं की शक्ति का चरमोत्कर्ष था।

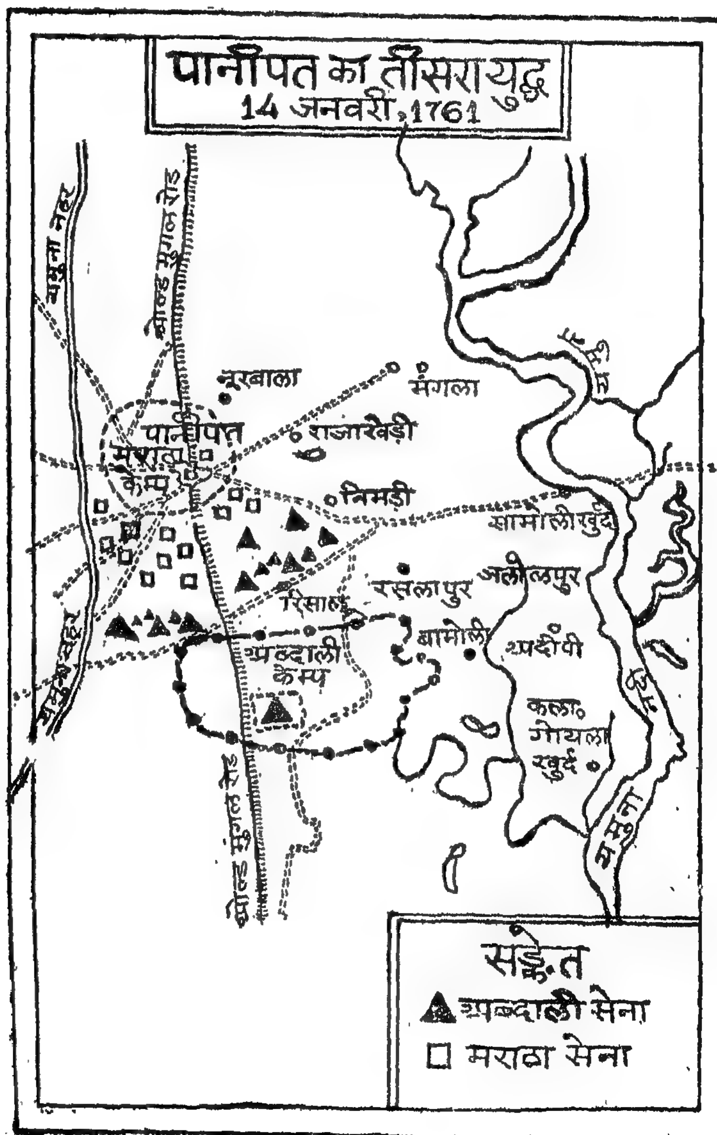
बालाजी दक्षिण में उलझा रहा, परन्तु उसके मराठा घुड़सवार उत्तर भारत के प्रान्तों को रौंदते रहे। वे चारों तरफ फैल चुके थे। इससे पूर्व उत्तर भारत की

ओर प्रसार का कार्यक्रम पेशवा के व्यक्तिगत निरीक्षण में होता आया था, अब सेनानायकों के निरीक्षण में होने लगा। होल्कर ने इन्दौर में, सिंधिया ने ग्वालियर में और पँवार ने धार में अपने-अपने मुख्यालय स्थापित कर लिए थे। नागपुर के भौंसले ने उड़ीसा जीत लिया और बंगाल तथा बिहार पर धावे बोलने शुरू कर दिए। जिन राजपूत राजाओं के सहयोग से मराठे उत्तर भारत की ओर अग्रसर हो पाए थे, उनके राज्य भी मराठों की लूटमार तथा आक्रमणों से नहीं बच पाए। उन पर भी चौथ थोप दी गई। इससे राजपूत शासक असन्तुष्ट हो गए और इसका परिणाम यह निकला कि मराठों को राजपूतों की मैत्री और सहयोग से वंचित हो जाना पड़ा। मराठों की नीति और व्यवहार ने जाटों को भी असन्तुष्ट कर दिया।

दिल्ली दरबार की राजनीति बड़ी तेजी के साथ करवट बदल रही थी। 1752 ई. में मुगल बादशाह और मराठों के बीच एक समझौता हुआ जिसके अनुसार मराठों को सम्पूर्ण भारत से चौथ वसूल करने का अधिकार प्राप्त हो गया और बदले में मराठों ने मुगल बादशाह को सैनिक सहायता देने एवं साम्राज्य की सुरक्षा करने का वचन दिया। इस समझौते ने मराठों को दिल्ली दरबार की गन्दी राजनीति के जाल में फँसा दिया। उस समय दिल्ली के दरबार में मुख्यतः दो परस्पर विरोधी दल थे। एक भारतीय मुसलमानों का और दूसरा तूरानी अथवा विदेशी मुसलमानों का। मराठों ने भारतीय मुसलमानों का साथ दिया और सम्राट-निर्माता बन गए। विदेशी मुसलमानों ने अपनी स्थिति को मजबूत बनाने के लिए भारत के बाहर से सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न किया। संयोग से उन्हें यह सुविधा उपलब्ध हो गई। अफगानिस्तान का शासक अहमदशाह अब्दाली पंजाब, मुलतान और कश्मीर को हड़पने की योजना बना रहा था। इसलिए जब उसके पास विदेशी मुसलमानों का निमंत्रण पहुँचा तो उसने सहर्ष भारत पर आक्रमण करने एवं दिल्ली की राजनीति में हस्तक्षेप करना स्वीकार कर लिया। इसका परिणाम यह निकला कि मराठों और अब्दाली में संघर्ष शुरू हो गया।

1752 ई. में अब्दाली ने भारत पर आक्रमण किया। उस अवसर पर मुगल बादशाह ने पंजाब और मुलतान उसे सौंप दिया। 1756 ई में मुगलों ने पंजाब पर पुनः अधिकार कर लिया। वर्ष के अन्त में अब्दाली ने पंजाब पर पुनः अपना अधिकार कर लिया और दिल्ली को लूटा तथा जाते समय रुहेला सरदार नजीबुद्दौला को साम्राज्य का मीर बख्शी तथा अपने पुत्र तैमूरखाँ को पंजाब का सूबेदार बना गया। अब्दाली की वापसी के बाद मराठों ने तैमूरखाँ को परास्त कर पंजाब छीन लिया। और पेशावर एवं अटक तक का इलाका अपने अधिकार में कर लिया। अब्दाली ने पूरी तैयारी के साथ भारत पर आक्रमण किया। पंजाब से मराठों को मार भगाया। दिल्ली के निकट दत्ताजी सिंधिया को परास्त किया और दिल्ली पर अधिकार जमा लिया। इस पर दक्षिण से पेशवा बालाजी बाजीराव के बड़े पुत्र विश्वासराव और चचेरे भाई सदाशिवराव भाऊ के नेतृत्व में एक शक्तिशाली सेना उत्तर भारत को भेजी गई। अब्दाली और मराठों की इस सेना का निर्णायक युद्ध 14 जनवरी,

1761 ई के दिन पानीपत के मैदान में हुआ । यह 'पानीपत का तीसरा युद्ध' के नाम से प्रसिद्ध है । मराठे पराजित हुए । पेशवा का लड़का मारा गया । प्रधान सेनापति सदाशिवराव भाऊ भी मारा गया । अनेक प्रमुख सरदार और हजारों मराठा सैनिक तलवार के घाट उतार दिए गए । इस भयंकर विनाश की सूचना पेशवा को इस प्रकार मिली थी, "दो मोती नष्ट हो गए, सत्ताइस मोहरें खो गई, चाँदी और ताँबे के सिक्कों की गिनती असंभव है ।"



पानीपत युद्ध के परिणाम—पानीपत का तीसरा युद्ध भारतीय इतिहास के निर्णायक युद्धों में से एक रहा है। इस भयंकर युद्ध में मराठों को अपार जनक्षति उठानी पड़ी और महाराष्ट्र अचानक अपने चुने हुए लोगों की सेवाओं से वंचित हो गया। परिणाम यह निकला कि मराठों की राजनैतिक और सैनिक प्रतिष्ठा में भारी कमी आ गई और आगामी दस वर्षों तक वे भारत की राजनीति में उतना सक्रिय भाग नहीं ले सके जितना कि अब तक लेते आये थे। इस युद्ध से युद्ध के विजेता अब्दाली को भी कोई विशेष लाभ नहीं हुआ और युद्ध के बाद वह वापस स्वदेश लौट गया और फिर कभी वापस नहीं आया।

यह ठीक है कि इस युद्ध के दस वर्षों के भीतर ही मराठे पुनः भारत की एक प्रमुख शक्ति बन गए। परंतु इस बार उन्हें एक तीसरी शक्ति से लोहा लेना पड़ा। वस्तुतः पानीपत के युद्ध का वास्तविक महत्त्व एक सर्वथा भिन्न दिशा में निहित है। इस युद्ध ने मुगल-मराठा दोनों को निर्बल बनाकर एक तीसरी शक्ति—अंग्रेजों को भारत में अपना साम्राज्य स्थापित करने का स्वर्ण अवसर प्रदान किया। इस दृष्टि से, पानीपत का युद्ध भारतीय इतिहास में एक मोड़ सिद्ध हुआ।

मराठों की पराजय के कारण—पानीपत के युद्ध में मराठों की पराजय के मुख्य कारण अग्रांकित हैं—

(1) मराठों का प्रधान सेनापति सदाशिवराव भाऊ अहमदशाह अब्दाली की तुलना में काफी कमजोर था। वह पहली बार उत्तर भारत की तरफ आया था। अतः यहाँ की समस्याओं, जलवायु और लोगों के व्यवहार का उसे व्यक्तिगत अनुभव नहीं था। इसके विपरीत, अब्दाली अपने युग का सर्वोच्च एशियाई सेनानायक था। उसका अनुभव बढ़ा-चढ़ा था। उसका सैन्य संचालन भी उच्चकोटि का था। उसने व्यक्तिगत रूप से किसी सैनिक दस्ते का नेतृत्व न करके, संपूर्ण युद्ध पर गिद्धदृष्टि रखी। उसने अपनी सफलता के लिए दस हजार सैनिक पृथक् रख छोड़े थे और अन्तिम समय में उनका उपयोग करके उसने युद्ध का पासा ही पलट दिया।

(2) अब्दाली की सेना में जहानखाँ, शाहपसन्दखाँ, अताईखाँ, नाजिबखाँ, शाहवलीखाँ जैसे एक से एक बढ़-बढ़कर सेनानायक थे। भाऊ के पास प्रथम श्रेणी के सेनानायकों का अभाव था। मल्हारराव होल्कर बूढ़ा हो चुका था और जनकोजी भौंसले इत्यादि कई बार अब्दाली की सेना से पिट चुके थे।

(3) मराठा अधिकारियों में आपसी एकता का अभाव था। युद्ध शैली की बात पर मल्हारराव और इब्राहीम गार्दी (मराठा तोपखाना का सेनानायक) में भारी मतभेद उत्पन्न हो गया था। होल्कर और सिंधिया भी एक दूसरे के विरोधी थे। होल्कर पर तो यह आरोप भी लगाया जाता है कि वह शत्रु पक्ष के नाजिबखाँ से मिला हुआ था और उसने युद्ध में विशेष भाग नहीं लिया।

(4) मराठों की पराजय का एक कारण उनकी सैनिक अनुशासनहीनता थी। पानीपत के युद्ध में लड़ने वाली मराठा सेना एक भड़ैत सेना के समान थी जिसमें राष्ट्रीय भावना का अभाव था। ये भड़ैत सैनिक प्रायः लूटमार और

अनाचार में उलझे रहते थे, क्योंकि उन्हें शायद ही कभी नियमित रूप से वेतन चुकाया गया हो। इसके विपरीत अब्दाली की सेना कठोर अनुशासन में बंधी हुई थी।

(5) मराठा सेना अब्दाली की सेना की तुलना में न केवल संगठन और अनुशासन की दृष्टि से ही कमजोर न थी, अपितु संख्या की दृष्टि से भी कम थी। अब्दाली के 60,000 सैनिकों की तुलना में मराठों के पास केवल 45,000 सैनिक ही थे। इसके अतिरिक्त जहाँ अब्दाली के पास अग्रिम पंक्ति के पीछे द्वितीय श्रेणी के 80,000 सैनिक थे। जहाँ मराठों के पास केवल 15,000 पिंडारी मात्र थे।

(6) खाद्य-पदार्थों की अपर्याप्त व्यवस्था भी मराठों की पराजय का एक मुख्य कारण था। दिसम्बर 1760 ई. के बाद मराठा शिविर में खाद्य-पदार्थों तथा घास दाने का अकाल पैदा हो गया। हजारों की संख्या में घोड़े और ऊँट मरने लगे। सैनिकों का जीवन भी दयनीय हो गया। पानीपत के मैदान पर एशिया की सर्वोच्च अश्वारोही सेना का सामना करने वाली सेना, जोश से ओत-प्रोत एक शक्तिशाली सेना नहीं थी बल्कि अधमरे देशी टट्टुओं पर कमर झुकाए भूखे सैनिकों का समूह था।

(7) मराठों का तोपखाना भी घटिया किस्म का था। उनकी तोपें इतनी भारी थीं कि उन्हें खींचने के लिए बैलों की आवश्यकता पड़ती थी। उन्हें जल्दी से इधर-उधर घुमाना तथा निशाना साधना सरल काम नहीं था। इसके अलावा युद्ध के बहुत पहले ही मराठों ने निरर्थक गोलाबारी करके अपना बारूद लगभग समाप्त कर दिया था। अब्दाली का तोपखाना हल्का और गतिवान था।

(8) मराठों की पराजय का अन्तिम परन्तु महत्त्वपूर्ण कारण उनकी कूटनीतिक असफलता थी। मराठों ने अपनी नीतियों के द्वारा उत्तरी भारत की लगभग सभी प्रमुख शक्तियों की सहानुभूति को खो दिया था। राजपूत, जाट, सिक्ख और अवध का शुजाउद्दौला – ये सभी मराठों से दूर खिसक गए थे। शुजा तो मराठों के विरुद्ध अब्दाली से जा मिला था। अतः पानीपत के मैदान में मराठों को अब्दाली तथा उसके भारतीय मुसलमान मित्रों के विरुद्ध अकेले ही युद्ध लड़ना पड़ा था।

पानीपत पराजय के सदमे से पेशवा बालाजी बाजीराम अधिक समय तक जीवित न रह पाया और 23 जून, 1761 के दिन उसकी मृत्यु हो गई। उसका शासन काल जहाँ एक तरफ भारी सफलताओं का था, वहीं दूसरी तरफ महान् असफलताओं का भी। उसके समय से मराठा–शक्ति का प्रसार अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया, परन्तु उसी के शासनकाल में मराठों को पानीपत के तीसरे युद्ध में भारी विनाश का सामना भी करना पड़ा।

5. माधवराव प्रथम और मराठा शक्ति का पुनरुद्धार

बालाजी बाजीराव का बड़ा पुत्र विश्वासराव पानीपत के युद्ध में मारा गया था। अतः बालाजी की मृत्यु के बाद उसका 16 वर्षीय दूसरा पुत्र माधवराव प्रथम पेशवा बना। उसका चाचा रघुनाथराव उसका संरक्षक बना। युवक पेशवा योग्य, अनुभवशील, महत्त्वाकांक्षी एवं स्वतन्त्र प्रकृति का एक अत्यन्त दृढ़ संकल्प वाला

व्यक्ति था। जबकि उसका चाचा रघुनाथराव एक दुर्बल, अस्थिर बुद्धि वाला एवं विलासी व्यक्ति था। उसकी आन्तरिक अभिलाषा मराठा शासन की बागडोर अपने ही हाथ में रखने तथा माधवराव को नाममात्र का पेशवा रखने की थी। अपने स्वप्न को साकार बनाने के लिए उसने मराठा-हितों का बलिदान करके मराठों के शत्रुओं से मिलकर पेशवा के विरुद्ध षड़यन्त्र भी रचे।

माधवराव के शासनकाल की प्रमुख घटनायें चार भागों में बाँटी जा सकती हैं—(1) निजाम के साथ मराठों के सम्बन्ध, (2) हैदरअली के साथ मराठों का संघर्ष, (3) अंग्रेजों के साथ कूटनीतिक सम्बन्ध और (4) उत्तर भारत में मराठा प्रभुत्व की पुनः स्थापना। रघुनाथराव के षड़यन्त्रों का इन्हीं के अन्तर्गत विचार किया जा सकता है।

(1) **निजाम** - पानीपत में मराठों की पराजय से लाभ उठाने वाला पहला व्यक्ति हैदराबाद दक्षिण का निजाम निजामअली था। उसने पेशवा के शत्रु मराठा सरदारों को अपने पक्ष में मिलाकर 60,000 की सेना लेकर पूना की ओर अभियान किया। मार्ग में कई हिन्दू मन्दिरों को नष्ट करने पर मराठा सरदार उसका साथ छोड़ गए। अन्त में 'उरुली' नामक स्थान पर पेशवा की सेना ने निकाम को बुरी तरह से पराजित किया (जनवरी, 1762)। निजाम को सन्धि करने के लिए विवश होना पड़ा। परन्तु रघुनाथराव ने उदार शर्तों के साथ सन्धि कर ली क्योंकि वह पूना में शक्ति प्राप्त करने के भावी संघर्ष में एक शक्तिशाली सहायक चाहता था परन्तु इससे चाचा-भतीजे में तनाव बढ़ गया और रघुनाथराव भागकर निजाम के आश्रय में चला गया। नागपुर का जनकोजी भौंसले भी राघोबा (रघुनाथराव) से मिल गया। इसके बाद राघोबा ने पूना पर अभियान किया। 7 नवम्बर, 1762 के दिन 'घोड़' नदी के तट पर चाचा-भतीजे के मध्य अनिर्णायक युद्ध हुआ। एलगाँव नामक स्थान पर राघोबा ने पेशवा को पराजित किया। माधवराव ने अपने चाचा के सामने आत्मसमर्पण कर दिया। इस अवसर पर रघुनाथराव ने 'उदगिर की सन्धि' द्वारा निजाम से प्राप्त प्रदेश वापस निजाम को लौटा दिए।

परन्तु निजामअली महत्त्वाकांक्षी था। उसने पुनः मराठों पर आक्रमण कर दिया। रगुनाथराव और पेशवा भी सेना सहित आगे बढ़े। 10 अगस्त 1763 के दिन 'रक्षाभुवन' (राक्षस भुवन) नामक स्थान पर निजाम को बुरी तरह पराजित होना पड़ा। इस युद्ध में पेशवा माधवराव ने अपूर्व शौर्य और पराक्रम का परिचय दिया। निजाम को 'उदगिर' वाले समस्त प्रदेश लौटाने पड़े। उसको ऐसा सबक मिला कि आगामी 32 वर्ष तक उसने मराठों को चुनौती देने का साहस नहीं किया। इस युद्ध के बाद रघुनाथराव का संरक्षण भी समाप्त हो गया। अब उसे एक पेन्शनर के रूप में रख दिया गया और शासन की सम्पूर्ण बागडोर पेशवा ने सम्भाल ली।

(2) **हैदरअली**—अपनी योग्यता और साहस से हैदरअली एक सामान्य सैनिक की स्थिति से मैसूर राज्य का शासक बन गया था। पानीपत में मराठो की

पराजय से उत्साहित होकर हैदरअली ने कर्नाटक में अपने राज्य का विस्तार करना शुरू किया और मराठा सरदारों के कई किले और प्रदेश छीन लिए। पेशवा माधव राव हैदरअली के उत्कर्ष की अवहेलना नहीं कर सकता था। जनवरी 1772 ई. में निजामअली के साथ सन्धि सम्पन्न होते ही, रघुनाथराव को हैदरअली के विरुद्ध भेजा गया, परन्तु उसे अधिक सफलता न मिली। रक्षाभुवन(राक्षस भुवन) में निजाम की पराजय और चाचा रघुनाथराव के संरक्षण से मुक्त होने के बाद पेशवा ने हैदरअली पर आक्रमण किया और उसे बुरी तरह पराजित किया। पेशवा ने सन्धि वार्ता के समय रघुनाथराव को बुलाकर घातक भूल की। रघुनाथराव ने भविष्य में हैदर की सहायता पाने की लालसा में उदार शर्तों के साथ सन्धि कर ली। पेशवा को चाचा के द्वारा किया गया समझौता मानना पड़ा।

जनवरी 1767 ई. में पेशवा ने हैदरअली पर पुनः आक्रमण किया, क्योंकि हैदरअली ने रायदुर्ग, चीतल दुर्ग, बिलारी आदि के शासकों को लूटा-खसोटा और उन्होंने पेशवा से सहायता की याचना की थी। इस अवसर पर निजाम ने भी हैदर पर आक्रमण कर दिया। हैदरअली को दोनों से समझौता करना पड़ा। मराठों को महत्त्वपूर्ण दुर्ग देने के अलावा 31 लाख रुपये भी देने पड़े। पेशवा ने अपना दबाव जारी रखा और 1770 ई. के आरम्भ में हैदर पर पुनः आक्रमण किया। बीमारी के कारण पेशवा को शीघ्र ही वापस लौट जाना पड़ा। परन्तु 1771 ई. की जनवरी में पेशवा ने पुनः आक्रमण किया और यद्यपि इस बार भी बीमारी के कारण माधव-राव को वापस लौट जाना पड़ा परन्तु उसके सेनानायक ने हैदर को बुरी तरह पराजित करके सन्धि करने को विवश किया। अप्रैल 1772 ई. में सम्पन्न सन्धि के अनुसार हैदरअली को अपना बहुत-सा भू-क्षेत्र देना पड़ा। इसके अलावा 25 लाख नकद और 6 लाख के जेवर देने पड़े और तीन किस्तों में 19 लाख रुपये और देने का वायदा करना पड़ा। मराठे विजयी रहे फिर भी हैदरअली पर वह फन्दा न डाल सके जिससे वह स्थायी रूप से तटस्थ हो जाता।

(3) **अंग्रेज**— सन् 1757 और 1764 ई. में प्लासी तथा बक्सर के युद्धों में अंग्रेजों ने क्रमशः नवाब सिराजुद्दौला तथा मीरकासिम को घोर पराजय देकर बंगाल तथा बिहार में अपना काफी प्रभाव बढ़ा लिया था। उधर कर्नाटक में उत्तरा-धिकार संघर्ष दीर्घकाल से फ्रांसीसी तथा अंग्रेज विदेशियों की स्वार्थपूर्ति का अखाड़ा बना हुआ था। तीसरे कर्नाटक युद्ध में अंग्रेजों ने फ्रांसीसियों को पूर्णरूप से पराजित कर दिया। इसके बाद वे निजाम के राज्य में उत्पन्न उत्तराधिकार संघर्ष और मराठा हैदरअली संघर्ष में अनुचित हस्तक्षेप करके मराठों को क्षति पहुँचाने की ताक में थे। परन्तु वे लोग मराठों के विरुद्ध सिवाय आत्मरक्षा के खुल्लमखुल्ला युद्ध करने के पक्ष में नहीं थे। शुरू में उन्होंने मराठों के विरुद्ध निजामअली से मित्रता करने का प्रयत्न किया, परन्तु वह विश्वसनीय सिद्ध नहीं हुआ। बाद में उन्होंने हैदर का उपयोग करना चाहा, परन्तु वह निजाम से भी अधिक चतुर और खतरनाक प्रमाणित हुआ। अतः अंग्रेजों का एक ही ध्येय रह गया था और वह यह कि मराठा दक्षिण की दोनों

स्थानीय शक्तियों—निजाम तथा हैदरअली—से मैत्री सम्बन्ध स्थापित न कर पायें। इसलिए 1767 ई. में अंग्रेजों ने अपने राजदूत टॉमस मास्टिल को पूना भेजा। वह पेशवा तथा रघुनाथराव के लिए कीमती भेंट ले गया था। पेशवा ने उसके सामने दो बातें रखीं। पहली यह कि अंग्रेज पेशवा के शत्रुओं, चाहे वे उसके सम्बन्धी ही क्यों न हों, सहायता न करेंगे और दूसरी यह कि हैदरअली से विदनूर और सौदा के इलाके प्राप्त करने में पेशवा को सहायता दें। मास्टिन ने उसे वम्बई के अंग्रेज अधिकारियों से बातचीत करने को कहा और पेशवा को यह विश्वास दिलाया कि जब तक पेशवा अंग्रेजों के प्रति मित्रता कायम रखेगा, तब तक अंग्रेज पेशवा के शत्रुओं का न तो समर्थन करेंगे और न ही किसी प्रकार की सहायता देंगे।

(4) **उत्तर भारत**—दक्षिण की तीनों समस्याओं से अवकाश मिलते ही माधवराव ने अपना पूरा ध्यान उत्तर की तरफ केन्द्रित कर दिया। सर्वप्रथम उसने बरार के जनकोजी भौंसले को सबक सिखाने का निश्चय किया। जनकोजी पेशवा के विरुद्ध रघुनाथराव, निजाम तथा हैदरअली से मिला हुआ था। रक्षाभुवन के युद्ध (1763 ई.) के उपरान्त पेशवा ने उसे 32 लाख रु. वार्षिक आय का प्रदेश देकर अपने पक्ष में मिला लिया था। फिर भी, वह पेशवा के विरुद्ध साँठ-गाँठ करता रहता था। 1765 ई. में पेशवा और निजाम ने मिलकर उस पर आक्रमण किया और उसके 24 लाख रु. वार्षिक आय का प्रदेश छीन कर दोनों ने आपस में बाँट लिया।

उत्तर भारत में, पानीपत में मराठों की पराजय के बाद, कई स्थानीय शक्तियों ने स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी। इनमें हिन्दुओं में से राजपूत, जाट तथा बुन्देले थे और मुसलमानों में रुहेले तथा अवध के नवाब थे। सेना तथा धन की दृष्टि से सूरजमल जाट सबसे अधिक शक्तिशाली था। नजीबखाँ (नसीजबउद्दौला) अपनी मृत्यु के समय (1770 ई) तक दिल्ली का तानाशाह बना रहा और उसके भय से मुगल सम्राट शाहआलम दिल्ली आने का नाम नहीं लेता था। अवध का नवाब शुजाउद्दौला इस ताक में था कि नजीबउद्दौला को हटाकर शाहआलम को फिर से दिल्ली लाया जाय, क्योंकि वह सम्राट का बजीर भी था।

पानीपत के युद्ध के बाद उत्तर में मराठा शक्ति के पुनरुद्धार के लिए सफलता पूर्वक लड़ने वाला पहला व्यक्ति मल्हारराव होल्कर था। उसने राजपूतों, अवध के शुजा, जाट तथा सिक्खों के विरुद्ध अपनी मृत्यु के समय (मई, 1766 ई.) तक सफलतापूर्वक संघर्ष किया। परन्तु पंजाब मराठों के हाथ से स्थायी रूप से निकल गया था। वहाँ सिक्खों ने अपने पैर जमा लिए थे। मल्हारराव की मृत्यु के बाद उत्तर भारत की स्थिति, मराठों के लिए बिगड़ गई। तब पेशवा ने महादजी (माधवजी) सिन्धिया और तुकोजी होल्कर को भेजा। परन्तु इन दोनों में एकता का अभाव था। लूट के माल को व्यक्तिगत रूप से हथियाने के झगड़े में वे अपने मूल कार्य को बिलकुल भूल गए तथा पेशवा ने रामचन्द्र गणेश और वीसाजी-कृष्ण विनीवाले को एक नयी सेना के साथ उत्तर भारत भेजा। उसने स्थिति को और भी बिगाड़ दिया तुकोजी की सलाह पर रामचन्द्र ने जाटों के विरुद्ध मराठों के घोर शत्रु

नजीबउद्दौला से समझौता कर लिया। महादजी सिन्धिया ने इसका घोर विरोध किया। 1770 ई. में नजीब को मृत्यु हो गई तो रामचन्द्र तथा तुकोजी ने नजीब के पुत्र जाविता खाँ से मैत्री जारी रखी। परन्तु महादजी सिन्धिया और वीसाजी-कृष्ण विनी वाले ने सम्राट शाहआलम द्वितीय को दिल्ली लाने का निश्चय किया और इसमें सफल रहे। जब शाहआलम को अवध के शुजा और अंग्रेज दिल्ली के सिंहासन पर नहीं बैठा सके तो वह महादाजी सिन्धिया की ओर अग्रसर हुआ। 6 जनवरी 1772 ई. को शाह आलम मराठों की छत्रछाया में दिल्ली पहुँच गया। उसने मराठों को मेरठ, कड़ा और कोरा के जिलों के अतिरिक्त 40 लाख रुपये देने का वायदा किया। परन्तु तुकोजी होल्कर तथा वीसाजी की सलाह से जाविता खाँ को मीरबक्शी का पद और रुहेलखण्ड, सहारनपुर आदि के इलाके पुनः दे दिए गए। महादाजी को यह पसन्द नहीं आया। परन्तु इसी समय 18 नवम्बर, 1772 ई. को पेशवा माधवराव की मृत्यु हो गई। उसकी आकस्मिक मृत्यु से पूर्व, जैसाकि स्ट्रेची ने लिखा है कि "मराठे इस समय इतने प्रबल हो गए थे, जितने वे पानीपत के नाश से पूर्व थे।" इस दृष्टि से पेशवा से माधवराव की उपलब्धियाँ महान् थीं और उसे पेशवाओं की पंक्ति में अंग्रिम स्थान दिया जाता है।

6. पेशवाओं की शासन-व्यवस्था और समाज, और संस्कृति

शासन-व्यवस्था—अपने आधिपत्य के समय मराठों ने जिस शासन-व्यवस्था को अपनाया था, उसके बारे में मतभेद है। कुछ लोग उसे लूटमार के युद्धों का परिणाम बतलाते हैं। डॉ० एस. एन. सेन का यह कथन कि "यह समझना कठिन प्रतीत होता है कि एक साम्राज्य लूट-मार के बल पर ही किस प्रकार प्रायः डेढ़ शताब्दी तक चलता रहा, जबकि उसके पास निश्चित दृढ़ शासन का आधार न रहा हो," अधिक सही मालूम पड़ता है।

उपर्युक्त मतभेद को समझने के लिए 'स्वराज्य' तथा 'साम्राज्य' के भेद को समझ लेना जरूरी है। स्वराज्य का अर्थ मराठों के घरेलू प्रदेशों से है और साम्राज्य के अन्तर्गत महाराष्ट्र के बाहर के प्रदेश सम्मिलित थे। स्वराज्य का संगठन अधिक अच्छे प्रकार का था, परन्तु साम्राज्य के विभिन्न भागों की व्यवस्थाओं में इतना अन्तर था कि उनमें एकरूपता तथा संगठन की आशा नहीं की जा सकती थी।

साधारण रूप से हम कह सकते हैं 'स्वराज्य' का संगठन शिवाजी ने किया तथा साम्राज्य का पेशवाओं ने। शिवाजी ने व्यक्तिगत रूप से शासन-व्यवस्था का संचालन तथा निरीक्षण किया था। उनकी सहायता के लिए आठ मन्त्रियों की एक समिति (अष्ट-प्रधान) थी। राजाराम ने दो नए पद कायम किए—प्रतिनिधि और हुकूमत पनाह। परन्तु शाहू के समय में पेशवाओं की शक्ति का उत्थान हुआ। उन्होंने एक ओर छत्रपति को दबा दिया और दूसरी ओर राज्य-मण्डल (अष्ट-प्रधान) के अपने साथियों को श्रीहीन कर दिया। अब सम्पूर्ण शासन-व्यवस्था की बागडोर पेशवा के हाथों में चली गई।

शिवाजी ने जहाँ तक सम्भव हो सका, सामन्तशाही तथा पैतृक पदों का अन्त करने का प्रयत्न किया था। परन्तु राजाराम के समय में, अराजकतापूर्ण स्थिति के कारण शिवाजी की नीति को त्याग दिया गया। पेशवाओं के समय में इसे और अधिक बढ़ावा मिला तथा अनेकों सरदारों को बड़ी बड़ी जागीरें दी गईं। स्वयं पेशवा सबसे बड़े जागीरदार थे। जागीर-प्रथा ने पैतृक पदों की व्यवस्था को मजबूत बनाया। पेशवाओं के कमजोर पड़ते ही, मराठा सरदार केन्द्रीय अनुशासन में न रह सके और इसके घातक परिणाम हुए।

पेशवाओं की शासन सत्ता स्थापित करने का सबसे प्रमुख साधन था–पेशवा दफ्तर जिसे मराठे लोग हुजूर-दफ्तर के नाम से पुकारते थे। अब अष्ट प्रधानों के स्थान पर सीधे पेशवा द्वारा नियुक्त पदाधिकारी ही शासन के प्रमुख कार्यकर्ता बन गये थे। पहले का 'फड़नवीस' अब केवल फड़नबीस ही न रह कर सारे हुजूर-दफ्तर का प्रधान कार्यवाहक (मुख्य सचिव) बन गया था, क्योंकि वह अब पेशवा का भी प्रधान कारबारी था।

इस समय में भी शासन व्यवस्था की सबसे नीची इकाई ग्राम-समुदाय थे। पटेल ग्रामीण शासन का आधार था उसकी सहायता के लिए एक कुलकर्णी एवं एक पंचायत होती थी। महार और पोतदार अन्य दो कर्मचारी थे। ये लोग लगान वसूल करने में महत्त्वपूर्ण सहायता प्रदान करते थे।

सेना में प्रधान रूप में पैदल तथा घुड़सवार ही थे, यद्यपि बाद में अन्य साधनों हाथी, ऊँट आदि का भी प्रयोग किया जाने लगा। बाजीराव के समय से तोपखाने का प्रयोग धीरे-धीरे बढ़ने लगा। शिवाजी के समय में मराठा सेना एक राष्ट्रीय देश-रक्षक सेना के रूप में थी परन्तु पेशवाओं के समय में सभी जातियाँ जिनमें (विदेशी पठान, अरब तथा यूरोपियन सम्मिलित थे) ये भड़ैती सैनिक भर्ती किये जाने लगे। पहले की भाँति अब भी सैनिकों की दो श्रेणियाँ थीं—स्थाई बारगीर (जिन्हें सरकार अस्त्र-शस्त्र देती थी) और दूसरे, सिलेदार जो अपना घोड़ा, हथियार आदि रखते थे। ये सिलेदार स्थानीय सरदारों द्वारा भर्ती किये जाते थे, जिनके व्यय के लिए वे अपनी जागीर की मालगुजारी में से समुचित धनराशि उपलब्ध कराते थे। इससे मराठा सेना में राष्ट्रीय भावना तथा अनुशासन में भारी कमी आ गई। इसके अतिरिक्त मराठा सेना में एक दोष और आ गया था। पहले, सैनिक अभियानों के समय सैनिकों को कम सामान लेकर चलने के आदेश थे। स्वयं शिवाजी का शिविर बहुत ही मामूली होता था। सेना के साथ स्त्रियों आदि को नहीं रखा जाता था। परन्तु अब मुगलों की भाँति मराठे भी सैनिक अभियानों के समय सुख-सुविधा तथा मनोरंजन के अनेक साधनों एवं स्त्रियों, गाने-नाचने वालियों आदि को साथ रखने लगे, जिससे मराठा सेना की गति को लकवा मार गया। बाजीराव के बाद मराठों ने 'छापामार पद्धति' के स्थान पर 'सम्मुख' युद्धों को प्रोत्साहन दिया। इसका परिणाम भी प्रतिकूल सिद्ध हुआ। पेशवाओं के प्रारम्भिक काल में मराठा

जल सेना ने काफी प्रसिद्धि प्राप्त की थी। परन्तु कान्होजी आंग्रे की मृत्यु के बाद उसके परिवार में चलने वाले गृह-युद्ध ने मराठा जल-शक्ति को कमजोर बना दिया।

चौथ और सरदेशमुखी से मिलने वाली आय को छोड़ कर राज्य की आमदनी के मुख्य साधन थे—भूमिकर, जकात एवं एक प्रकार का आयकर, 'वन-सम्पत्ति' टकसाल और अर्थदण्ड इत्यदि। चौथ से प्राप्त आय का 25 प्रतिशत तथा सारी सरदेशमुखी की आय छत्रपति के खजाने में जाती थी। चौथ की बाकी की आय बालाजी विश्वनाथ की व्यवस्था के अनुसार अन्य व्यक्तियों में बँट जाती थी, 6 प्रतिशत 'सहोत्र' पंत सचिव का 5 प्रतिशत 'नद्‌गौड़' राजा की इच्छानुसार अन्य व्यक्तियों को तथा शेष आय जागीरदारों (मराठा सरदारों) को दे दी जाती थी। भूमिकर आय का प्रमुख साधन था। पेशवाओं ने किसानों के हितों का ध्यान रखते हुये भूमिकर की दरों में एकाएक कभी भी वृद्धि न होने दी। बंजर भूमि को कृषि योग्य बनाने वाले से 6–7 वर्षों तक मालगुजारी नहीं ली जाती थी। उन्हें राज्य की तरफ से तकावी आदि की भी सुविधा दी जाती थी। शिथिल अथवा लालची अधिकारियों को, जो या तो कृषि की उन्नति में शिथिलता दिखाते थे अथवा किसानों से घूंस लेने का प्रयत्न करते थे दण्ड दिया जाता था। बालाजी बाजीराव ने नये सिरे से कृषि योग्य भूमि की नाप करवाई थी। लगान दर भूमि से पैदा की जाती सकने वाली फसलों का परीक्षण करके निश्चित की जाती थी। यह काम 'अमीन' नामक कर्मचारी करते थे और अमीनों की निगरानी के लिए 'पाहणीदार, नामक अधिकारी नियुक्त किये जाते थे। (पेशवाओं की लगान-व्यवस्था की विशेषता यह थी कि पैदावार घट-बढ़ के अनुसार लगान की दरों में वृद्धि अथवा कमी की जा सकती थी।)

पेशवाओं की न्याय-व्यवस्था उच्चकोटि की थी। माधवराव प्रथम के समय में रामशास्त्री के न्यायाधीश नियुक्त होने के समय से, विशेष रूप से शिवाजी की परम्परा को फिर से कायम करने का प्रयत्न किया गया। अपील का सबसे बड़ा न्यायालय पूना (पेशवाओं का केन्द्र) में था। उसके अन्तर्गत अन्य स्थानों पर अनेक छोटे-बड़े न्यायालय थे। इन न्यायालयों के अतिरिक्त 'हुजूर पंचायतें' 'ब्रह्म-सभाएं' तथा 'जाति-पंचायतें' भी थीं। वकीलों के लिए कोई स्थान न था। प्राचीन परम्परा के अनुसार पेशवा जांच के लिए दौरों पर जाता था, लोगों की फरियादें सुनता था तथा अपराधियों को दण्ड देता था। राजनीतिक बन्दियों के साथ प्रायः कठोरता का व्यवहार किया जाता था क्योंकि वे सत्ता के प्रतिद्वन्द्वी होते थे।

समाज और संस्कृति—परिवर्तनशीलता मराठा समाज की जातीय विशेषता थी और इस विशेषता ने उन्हें प्रगतिशील बनने में योग प्रदान किया था। फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं है कि पेशवाओं के समय में अनेकानेक अन्ध-विश्वासों का प्रचलन था। दैवी विपत्तियों, भूचाल, महामारी, बिजली गिरने आदि के समय शान्ति पाठ तथा अनुष्ठान किये जाते थे और ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता था। सरकार की ओर में भी इन्द्रजाल, जादू तथा मन्त्र-तन्त्रादिक उपाय किये जाते थे। समाज के कई वर्ग ऐसे थे जो जाति-पांति का भेद-भाव मानते थे और परम्परागत

विचारों तथा मान्यताओं का उल्लंघन करने वालों को असहिष्णु दृष्टि से देखते थे। सरकार की तरफ से कई बार सामाजिक जीवन में हस्तक्षेप किया जाता था जिसे अधिकांश लोग सन्तोषपूर्वक सहन नहीं करते थे। वैसे प्रगतिशील पेशवाओं ने अपने देशवासियों के सर्वांगीण विकास के लिए अनेक उपाय किये थे, किन्तु समाज के विघटनकारी तत्वों को समाप्त करने में वे असफल रहे।

महाराष्ट्र में जो धार्मिक एवं आध्यात्मिक आन्दोलन हुआ था उसने मराठों में धार्मिक रुढ़िवाद के विरुद्ध विद्रोहात्मक भावना को जन्म दिया। परिणामस्वरूप जातीय रुढ़ियाँ भी लड़खड़ा गईं और प्रारम्भ में मराठा जीवन प्रगतिवादी विचार-धारा के अत्यन्त निकट आ गया। परन्तु ब्राह्मण पेशवाओं के सत्तारूढ़ हो जाने के बाद जातीय रूढ़ियाँ पुनः बलवती हो गईं। वैसे ब्राह्मण होने के नाते पेशवाओं को कट्टर हिन्दू समझा जाता था तथापि बाजीराव ने मस्तानी को अपने ब्राह्मण परिवार में सम्मिलित करने का असफल प्रयास किया था।

इस युग की धार्मिक विशेषता मराठा समाज में व्यापक धर्म-सहिष्णुता की भावना थी। मराठों ने मुस्लिम शक्तियों के विरुद्ध जो निरन्तर युद्ध किये उसका कारण धार्मिक न होकर राजनीतिक था। पेशवाओं ने आन्तरिक क्षेत्र में न तो मुस्लिम नागरिकों को अपनी सैनिक अथवा असैनिक सेवाओं में सम्मिलित होने से ही वंचित होने दिया और न ही उन पर किसी प्रकार के प्रतिबन्ध लगाये। इसी प्रकार से उन्होंने उनके धार्मिक व्यक्तियों को भी संरक्षण दिया तथा उनके उत्सवों में भी भाग लिया। पेशवाओं ने गैर-मराठों को भी योग्यता के आधार पर राज्य की सेवाओं में सहयोगी होने का अवसर प्रदान करके सामाजिक सामजस्य-स्थापित करने का प्रयत्न किया था।

राज्य कर्मचारियों के लिए मादक द्रव्यों का प्रयोग करना सर्वथा अवैध था। देश में गौ-वध का पूर्ण निषेध था। महादाजी सिंधिया ने तो मुगल सम्राट से इस आशय का फरमान भी प्राप्त कर लिया था।

मराठा स्वराज्य में जनता की जान-माल की सुरक्षा की उत्तम व्यवस्था थी। पूना के विषय में एक महोदय ने लिखा है कि "इसकी प्रसिद्धि और किसी बात के लिए इतनी नहीं जितनी कि उसकी पुलिस के लिए है।" अंग्रेज एजेन्ट एवं इतिहास-कार एल्फिस्टन ने भी पेशवाओं के शासन में "सम्पत्ति की अरक्षा की शिकायत कभी भी नहीं सुनी थी।"

एस. आर. शर्मा ने लिखा है "पेशवाओं की एक पक्षपात-रहित नीति, विद्वानों को संरक्षण देना था।" पेशवाओं की ओर से अधिक समृद्धशाली नगरों की सीमा बढ़ाने के निमित्त उदार सुविधाएँ दी गईं, उन लोगों को जिन्होंने विदेश में बसने वालों को जाने तथा उन्हें घर बनाने तथा नये बाजार खोलने के लिए राजी करने का वायदा किया, उन्हें भूमि करों से मुक्त तथा वचन दिये गये। परिणाम-स्वरूप भारत के सभी कोनों से अनेकानेक विद्वान पूना की ओर आकर्षित हुए और यह नगर विद्या एवं व्यापार का प्रमुख केन्द्र बन गया।

मराठा-शक्ति के उत्तर-भारत में विस्तार के परिणामस्वरूप उत्तर तथा दक्षिण भारत के मध्य सामाजिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्धों में नवीन स्फूर्ति आने लग गई। अपने सैनिक, कूटनीति एवं धार्मिक लक्ष्यों को लेकर असंख्य व्यक्ति अपने-अपने स्वदेश से बाहर, अपने पद दायित्व एवं सुविधानुसार एक स्थान से दूसरे स्थान को चल-फिर कर स्थायी रूप से रहने लगे। इससे उनके सामाजिक जीवन में पर्याप्त अन्तर आ गया उनकी भाषा, वेशभूषा एवं रहन-सहन, खानपान आदि में भी परिवर्तन आया। अब महाराष्ट्र में भी उत्तर भारत की भांति रहने एवं धार्मिक कृत्यों को सम्पन्न करने के निमित्त ऊँची-ऊँची अट्टालिकाएँ तथा राजप्रसाद निर्मित किये जाने लगे। उत्तर भारत के तीर्थों की यात्रा भी मराठों के लिए सामान्य-सी बात बन गई थी।

कला के क्षेत्रों में पेशवाओं की देन के सम्बन्ध में कुछ विद्वानों की धारणा है कि "इस प्रकार के कार्यों के लिए उन्हें न तो समय मिला, न शान्ति और धन। परन्तु साहित्य के क्षेत्र में उन्होंने अवश्य प्रोत्साहन दिया। भाषा-भाषी विद्वानों ने जिन साहित्य-शैलियों को प्रादुर्भूत किया, उनमें 'अभंग' और 'ओह्वी' के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। अभंग साहित्य धार्मिक गीतों तथा सूक्तों से अत्यधिक साम्य रखता है, परन्तु ओह्वी साहित्य अपने आधारभूत काव्यात्मक सौन्दर्य के लिए प्रसिद्ध माना गया है। इन्हें संगीत की लय के साथ ही गाया अथवा बोला जा सकता है। ओह्वी और अभंग का प्रचार 13 वीं सदी के सन्त कवियों से प्रारम्भ होकर 17 वीं सदी के अन्त तक जारी रहा। 18 वीं सदी में वामन पंडित, मोरो पंत पिंगले, श्रीधर आदि साहित्यकारों एवं कवियों ने साहित्य के क्षेत्र में काफी ख्याति अर्जित की। 17 वीं सदी तक मराठों के जन-जीवन में वीर-गाथाओं को लिखने-पढ़ने और सुनने की प्रधानता रही। परन्तु 18 वीं सदी से 'लावनी' प्रेमपूर्ण शृंगार प्रधान लोकगीतों का प्रारम्भ श्रीराम जोशी नामक विद्वान द्वारा हुआ। इस युग में ऐतिहासिक साहित्य की भी अच्छी प्रगति हुई। परमानन्द, भूषण, जयराम, आदि ने काव्य के माध्यम से इतिहास लिखने का प्रयास किया। मराठों ने 'बखरों' के रूप में अपना जो इतिहास प्रस्तुत किया है, उसमें से कुछ अत्यन्त विश्वनीय है जैसे कि, सभासद बखर।

भारतीय संस्कृति को मराठों की चिरस्थाई अमूल्य देन उनकी स्वतन्त्रता की भावना है। यह महान् राष्ट्रीय भावना उनके जीवन के प्रायः समस्त क्षेत्रों को ओत-प्रोत करती रही। परन्तु कालान्तर में मराठों ने अपनी इस परम्परागत भावना को त्याग दिया और नेतृत्व तथा नवीनतम शस्त्रों के लिए विदेशी सहायता पर निर्भर रहने लगे। फलतः उनका राजनीतिक पतन हो गया। एस. आर. शर्मा ने ठीक ही लिखा है कि "मराठों में आत्मभिमान एवं विशिष्टता की भावनाएँ गुप्त शुरू से बढ़ती रहीं, और अन्त में इन के कारण राष्ट्रीयता छिन्न-भिन्न हो गई।"

अभ्यास के लिए प्रश्न

1. शिवाजी को एक राष्ट्र-निर्माता तथा सफल प्रशासक क्यों माना जाता है ?

2. पेशवाओं के नेतृत्व में मराठा-शक्ति का प्रसार का वर्णन कीजिए।
3. पानीपत के तीसरे युद्ध में मराठों की पराजय के कारणों का उल्लेख कीजिए। इस युद्ध का भारतीय इतिहास मे क्या महत्व है ?
4. माधवराव प्रथम को मराठा-शक्ति का दूसरा संस्थापक क्यों माना जाता है ? उसने मराठा शक्ति को पुनः सबल बनाने के लिए क्या-क्या प्रयास किये ?
5. पेशवाओं के समय की सामाजिक तथा सांस्कृतिक स्थिति का वर्णन कीजिए।

अपने अध्ययन की जांच कीजिए

1. सही उत्तर का क्रमाँक कोष्ठक में लिखिए—

   1. शिवाजी के बड़े भाई का क्या नाम था ?
      (क) मालोजी (ख) शम्भाजी
      (ग) व्यंकोजी (घ) राजाराम ( )
   2. किस दुर्ग की विजय से शिवाजी को दक्षिण-पश्चिम की ओर बढ़ने का मार्ग मिल गया ?
      (क) सिंहगढ़ (ख) रायगढ़
      (ग) जावली (घ) कोलाबा ( )
   3. शिवाजी के राज्य का आय-व्यय देखने का दायित्व किस मंत्री पर था ?
      (क) पेशवा (ख) अमात्य
      (ब) मंत्री (घ) सुमंत ( )
   4 ताराबाई के पुत्र का क्या नाम था ?
      (क) शम्भाजी (ख) शिवाजी द्वितीय
      (ग) राजाराम (घ) शाहू ( )
   5. मराठों की सहायता से सैय्यद-बन्धुओं ने कौन से मुगल सम्राट को पदच्युत किया था ?
      (क) जहाँदारशाह (ख) फर्रुखसियर
      (ग) शाहआलम (घ) मुहम्मदशाह ( )

2 एक-एक पंक्ति में उत्तर दीजिए—

   1 दक्षिण में सूबेदार की हैसियत से औरंगजेब शिवाजी के विरुद्ध कोई कदम क्यों नहीं उठा पाया ?
   2. पुरन्दर की संधि के अनुसार क्यों शिवाजी ने मुगल-दरबार में रहना स्वीकार कर लिया था ?
   3. औरंगजेब ने शाहू को मुसलमान क्यों नहीं बनाया ?
   4. सैय्यद हुसैन अली ने मराठों से क्यों समझौता कर लिया था ?
   5. भारत पर आक्रमण करने के लिए अहमदशाह अब्दाली को किसने आमंत्रित किया था।

3. पाँच-सात पंक्तियों में उत्तर दीजिए—
   1. महाराष्ट्र में सामाजिक तथा धार्मिक एकता स्थापित करने का काम किसने किया ?
   2. शिवाजी के अष्ट-प्रधानों का उल्लेख कीजिए।
   3. पेशवा बाजीराव और सेनापति दाभादे के मध्य युद्ध का क्या कारण था?
   4. माधवराव को अपने चाचा रघुनाथराव के हाथों किस प्रकार की कठिनाइयाँ उठानी पड़ीं ?
   5. सम्राट शाहआलम द्वितीय निर्वासित जीवन क्यों बिता रहा था ? वह वापस दिल्ली कैसे पहुंचा ?
4. भारत के मानचित्र में उन स्थानों को दिखाइए जो मराठों के प्रसिद्ध युद्धों से सम्बन्धित हैं।

पूरक अध्ययन के लिए ग्रन्थ

1. सरदेसाई	:	मराठों का नवीन इतिहास, भाग 1–3
2. जदुनाथ सरकार	:	शिवाजी और उनका काल
3. दामोदर तामस्कार	:	मराठों का उत्थान और पतन
4. एच. एन. सिन्हा	:	राइज आफ दी पेशवाज

---

8. भारत में यूरोपीय बस्तियों का उत्कर्ष

1. तत्कालीन भारत की स्थिति (1707–1761)

1707 ई. में औरंगजेब की मृत्यु हुई और उसकी मृत्यु के लगभग 50 वर्षों के भीतर ही मुगलों का महान् साम्राज्य लड़खड़ा गया। मुगल साम्राज्य के भग्नावशेषों पर विभिन्न स्थानीय राज्यों का विकास हुआ जिससे देश की राजनैतिक एकता लोप हो गई और केन्द्रीय सत्ता का महत्व और प्रभाव क्षीण हो गया। एकबार फिर हमारे देश की वही स्थिति हो गई जैसी कि मुसलमानों के प्रारम्भिक आक्रमण के समय उत्पन्न हो गयी थी। देश के भिन्न-भिन्न हिस्सों में कई शक्तियों का अभ्युदय हुआ जिन्हें अपने-अपने क्षेत्रों में सफलतायें अवश्य मिलीं, परन्तु समूचे भारत का नेतृत्व किसी एक को प्राप्त न हो सका। मराठे अवश्य सम्पूर्ण भारत पर अधिकार करने की स्थिति में थे, परन्तु अन्त में वे ऐसा करने में असफल रहे।

वस्तुतः इस युग में एक भी नेता ऐसा नहीं हुआ जो सम्पूर्ण भारत के हितों की बात सोच सके। सभी का मुख्य ध्येय अपने-अपने व्यक्तिगत, जातीय एवं पारिवारिक स्वार्थों को पूरा करने तक ही सीमित रहा। अपने ध्येय की प्राप्ति के लिए उन्होंने यूरोपीय शक्तियों से भी सहयोग लेने का प्रयत्न किया। ऐसी स्थिति में भारत में व्यापार करने के लिए आने वाली यूरोपीय जातियों को भारत की राजनीति में हस्तक्षेप करने का अवसर मिल गया। भारतीय शासकों ने उनके बढ़ते हुए हस्तक्षेप का सही मूल्यांकन न करके, उल्टे उनका सहयोग लेकर उनकी महत्वाकांक्षाओं को प्रोत्साहित किया।

यह सब कुछ कैसे घटित हो गया, इसकी कहानी काफी लम्बी है। संक्षेप में इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि इसका मुख्य दायित्व औरंगजेब के अयोग्य उत्तराधिकारियों का रहा था। औरंगजेब के उत्तराधिकारी बहादुरशाह के शासनकाल (1707–12) में तो विशेष परिवर्तन नहीं हुआ, परन्तु बाद के सम्राटों के शासन काल में शासन तथा राजनीति की बागडोर मुगल सरदारों और दरबारियों के हाथों में चली गई। जहांदारशाह (1712–13) और फर्रुखसियर (1713–19) दोनों ही अयोग्य निकले और मौत के घाट उतार दिये गये। रफीउदाराजात और रफीउद्दौला दोनों अपनी स्वाभाविक मौत मरे, परन्तु वे 'सम्राट-निर्माता' सैय्यद बन्धुओं के हाथ की कठपुतली मात्र थे। सैय्यद-बन्धुओ ने शासन की सम्पूर्ण बागडोर अपने हाथों में ले ली और मुगल सम्राटों के साथ उनका निरन्तर विवाद चलता रहा। परन्तु अन्त में सैय्यदों के विरोधी मुगल सरदारों ने मुगल सम्राट का पक्ष लेना शुरू कर दिया। अपनी स्थिति को मजबूत बनाने के लिए सैय्यदों ने एक तरफ तो मराठों को दक्षिण के सूबों से चौथ और सरदेशमुखी वसूल करने का अधिकार देकर अपना मित्र बना लिया और दूसरी तरफ राजपूतों और जाटों के साथ सम्बन्ध सुधार कर उनका सहयोग प्राप्त करने का सफल प्रयत्न किया। फिर भी 1720 ई. में सैय्यद-बन्धुओं का पतन हो गया।

सैय्यदों के पतन के बाद, मुगल साम्राज्य के विघटन की गति तेज हो गयी। यद्यपि सम्राट मुहम्मदशाह ने दीर्घकाल (1719-48) तक शासन किया, परन्तु वह अयोग्य और विलासी निकला। साम्राज्य के विघटन को रोकना उसके बस की बात नहीं थी। उसके शासनकाल की मुख्य घटना उत्तरी भारत में मराठा शक्ति का प्रसार था जिसका विस्तृत विवरण हम पिछले अध्याय में पढ़ आये हैं। दूसरी प्रमुख घटना मुसलमान सरदारों द्वारा दिल्ली की प्रभुसत्ता को त्याग कर अथवा नाममात्र की अधीनता स्वीकार करके अपने-अपने स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना करना था। दक्षिण भारत में निजाम-उल-मुल्क नामक मुगल अधिकारी ने ठीक मराठों की बगल में अपने पृथक् राज्य की स्थापना की जो आगे चलकर हैदराबाद-दक्षिण के राज्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ। बंगाल में मुर्शिदकुली खां ने भी पृथक् सूबे की स्थापना की। उसकी मृत्यु (1727 ई) के बाद उसका दामाद शुजाउद्दीन बंगाल का नवाब बना। उसने बिहार को भी अपने सूबे मिला लिया। उड़ीसा का प्रदेश पहले से ही बंगाल

के सूबे का अंग बन चुका था। इस प्रकार बंगाल, बिहार और उड़ीसा अर्थात् पूर्वी भारत के तीनों समृद्ध प्रान्त मुगल साम्राज्य के नियन्त्रण से निकल गये। शुजाउद्दीन का उत्तराधिकारी सरफराज खां अयोग्य निकला। 1740 ई. में अलीवर्दी खां नामक सरदार ने उसे मार डाला और स्वयं तीनों प्रान्तों का नवाब बन गया। तीसरी प्रमुख घटना राजपूत शक्तियों के उत्थान की है। मुगल दरबार में विद्यमान दलबंदी से उसका कार्य और भी अधिक सरल हो गया। जयपुर और जोधपुर के शासकों ने अपने राज्यों का विस्तार करने में विशेष सफलता प्राप्त की। जयपुर के राजा सवाई जयसिंह ने जयपुर का गुलाबी नगर बसाया। वह हिन्दू शक्ति के पुनरुत्थान का स्वप्न देखा करता था। उसी के सहयोग से मराठे उत्तरी भारत में अपनी शक्ति का प्रसार करने में सफल हो पाये थे। जोधपुर के अभयसिंह ने मारवाड़ राज्य की सीमाओं को बढ़ाने का प्रयत्न किया। परन्तु बाद में, राजपूत राज्यों में उठने वाले उत्तराधिकार संघर्षों तथा आपसी मतभेदों ने राजपूत शक्ति को कमजोर बना दिया। परिणाम-स्वरूप उत्तरी भारत की राजनीति में वे अधिक सक्रिय भाग नहीं ले पाये और उन्हें मराठों की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी।

1739 ई. में मुगल साम्राज्य पर एक प्राणघातक प्रहार हुआ। ईरान के शासक नादिरशाह ने भारत पर आक्रमण कर दिया। करनाल के समीप मुगल सेना को पराजित करके वह राजधानी दिल्ली जा पहुंचा। दिल्ली में उसने कत्लेआम करवाया। नगर को लूटा गया। मुगल साम्राज्य के वैभव के प्रतीक बहुमूल्य रत्न-जड़ित तख्तेताऊस और विश्व-विख्यात कोहिनूर हीरा तथा अपार-धन-सम्पदा के साथ वह ईरान वापस लौटा। इस अवसर पर मुगल सम्राट को काश्मीर से सिन्ध तक का भू-क्षेत्र भी नादिरशाह को सौंपना पड़ा।

नादिरशाह के आक्रमण ने दिल्ली के राजकोष को पूर्ण रूप से खाली कर दिया। उसके अभियान ने मुगलों की सैनिक शक्ति के खोखलेपन को भी स्पष्ट कर दिया। इससे मराठों को उत्तर में सक्रिय होने तथा दिल्ली की राजनीति में भाग लेने का अवसर उपलब्ध हो गया। अवध के सूबेदार तथा साम्राज्य के वजीर सआदत खां ने अवध में अपने स्वतन्त्र राज्य की नींव रख दी। पजाब जो कि ईरानियों के अधिकार में चला गया था, अब सिक्खों, मुगलों और मराठों के द्वारा बुरी तरह से रौंदा जाने लगा। रुहेलखण्ड के रुहेले सरदारों ने अपनी स्वतन्त्र सत्ता कायम कर ली और जब अवध के नवाब ने मराठों की सहायता से उन्हें कुचलने का प्रयत्न किया तो रुहेलों ने अफगानिस्तान के शासक अहमदशाह अब्दाली से सहायता की याचना की।

उधर दिल्ली में मुहम्मदशाह की मृत्यु के बाद अहमदशाह सम्राट बना। उसने इमाद-उल-मुल्क को अपना वजीर बनाया। उस जैसे नीच और विश्वासघातक व्यक्ति कम ही मिलते हैं। उसने अहमदशाह को सिंहासन से हटाकर उसे अन्धा कर दिया। फिर आलमगीर द्वितीय को सम्राट बनाया और उसका भी वध कर दिया (1759 ई.)। अपना मुगल-सम्राट शाहआलम द्वितीय लम्बे समय तक निर्वासित अवस्था में इधर-उधर भटकता रहा।

चूँकि मराठे इमाद-उल-मुल्क के समर्थक थे. अतः वे भी इमाद के जघन्य कार्यों के लिए उत्तरदायी माने जाने लगे। उनसे मुक्ति पाने के लिए विरोधी मुस्लिम पक्ष ने अब्दाली को आमन्त्रित किया। 1761 ई में पानीपत के मैदान में अब्दाली ने मराठों को बुरी तरह से पराजित किया। मराठे तो फिर भी एक बार सम्भल गये, परन्तु पतनोन्मुख मुगल साम्राज्य फिर कभी न उठ सका। इस प्रकार की स्थिति में भारत में यूरोपीय जातियाँ अपने पैर मजबूत करने में लगी हुई थी।

2. भारत में यूरोप के निवासियों का आगमन

भारत में यूरोपीय जातियों के आगमन का मुख्य ध्येय व्यापार तथा धन की लालसा थी। 15वीं सदी में तुर्कों ने सम्पूर्ण दक्षिण-पश्चिम एशिया और दक्षिण पूर्वी यूरोप पर अधिकार कर लिया। यूरोप और एशिया के मध्य व्यापार का स्थल मार्ग इन्हीं भू-क्षेत्रों से होकर गुजरता था। इस पर तुर्कों के एकाधिपत्य से यूरोप का एशिया के साथ व्यापार नष्ट हो गया। चूंकि गर्म-मसालों के लिए यूरोप दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों पर निर्भर करता था, अतः यूरोपीय देशों को भारत और पूर्वी एशिया के लिए जल-मार्ग खोजने की आवश्यकता हुई। इस विषय में पुर्तगाल के लोगों ने यूरोप की अन्य जातियों का मार्ग प्रशस्त किया। इस सम्बन्ध में एक बात ध्यान देने योग्य है कि पोप एलेक्जेण्डर षष्ठ ने 1492 ई. में एक आज्ञा-पत्र के अनुसार पुर्तगाल को पूर्वी समुद्रों में व्यापार करने का एकाधिपत्य दे दिया था। चूंकि उन दिनों में पोप की शक्ति और प्रभाव काफी बढ़ा-चढ़ा था, अतः उसकी आज्ञा की अवहेलना करने का साहस यूरोप का कोई भी ईसाई राज्य नहीं कर सकता था। यही कारण है कि एक लम्बे समय तक पुर्तगालियों के अलावा अन्य यूरोपीय जातियों ने पूर्व की ओर अपने कदम नहीं उठाये।

पुर्तगाली - यूरोप से भारत के लिए समुद्री मार्ग की खोज करने वाला पहला यूरोपीयन वास्को-डी-गामा था। वह पुर्तगाली था और मसालों के द्वीपों को खोजने के सिलसिले में 17 मई, 1448 ई. के दिन कालीकट के समुद्र तट पर जा पहुँचा था। कालीकट के राजा जमोरिन ने उसका और उसके साथियों का भारतीय परम्परा के अनुकूल स्वागत किया। वास्को-डी-गामा ने उससे पुर्तगालियों के लिये व्यापार करने की सुविधा माँगी। जमोरिन ने स्वीकृति प्रदान कर दी और उस समय से पुर्तगालियों का भारत से व्यापार



वास्को-डी-गामा

आरम्भ हुआ। परंतु किसे पता था कि इस सामान्य घटना से भारत के इतिहास में एक नये युग का सूत्रपात होगा।

पुर्तगालियों ने जमोरिन को उसके शत्रु राज्यों-विशेषकर कोचीन राज्यों के विरुद्ध सहायता भी देना आरम्भ किया और इस प्रकार भारत की राजनीति में यूरोपीय जातियों के हस्तक्षेप की शुरूआत हुई। 1500 ई. में केब्राल नामक दूसरा पुर्तगाली कालीकट आया। उसका जमोरिन के साथ झगड़ा हो गया और पुर्तगालियों को कालीकट छोड़ना पड़ा। परन्तु कोचीन के राजा, जो जमोरिन का शत्रु था, ने केब्राल को आश्रय दिया। इससे पुर्तगालियों को कोचीन बन्दरगाह में पैर जमाने का अवसर मिल गया। उन्हें भारतीय शासकों की आपसी फूट तथा दुर्बलता का आभास भी हो गया।

1502 ई. में वास्को-डी-गामा एक विशाल बेड़े के साथ फिर भारत आया। कोचीन में व्यापारिक कोठी स्थापित करके वह वापस लौट गया। इसके बाद पुर्तगालियों ने स्थानीय राजनीति, युद्ध और सन्धियों में सक्रिय भाग लेना शुरू कर दिया। 1505 ई में पुर्तगाल ने फ्राँसिस्को डी आलमीडा (अलमिडा) को पहले पुर्तगाली गवर्नर बनाकर भारत भेजा। वह 1509 ई. तक भारत में रहा। उसने कोचीन, कन्नोनोर आदि स्थानों पर किले बनवाये तथा भारत में पुर्तगाली राज्य स्थापित करने के प्रयत्न आरम्भ किये। यद्यपि उसका मूल ध्येय पुर्तगाल के दक्षिण पूर्व एशिया के व्यापार की सुरक्षा करना था। उसका उत्तराधिकारी अलबुकर्क था जो 1509 से 1515 ई. तक भारत में रहा। उसने भारत में पुर्तगाली शक्ति को मजबूत बनाने का प्रयत्न किया। 1610 ई में उसने बीजापुर के सुल्तान से गोआ का प्रदेश छीन लिया। गोआ को उसने अपना केन्द्र बनाया और उसकी मजबूत किलेबन्दी की। शीघ्र ही गोआ व्यापार का प्रमुख केन्द्र बन गया। अलबुकर्क ने भारत में स्थायी रूप से पुर्तगाली उपनिवेश बसाने के उद्देश्य से पुर्तगालियों को भारतीय स्त्रियों से विवाह करने के लिए प्रोत्साहित किया। परन्तु पुर्तगालियों की धार्मिक असहिष्णुता के कारण इस नीति के लाभदायक परिणाम नहीं निकले। 1534 ई. में पुर्तगालियों ने बेसीन और 1537 ई. में ड्यू पर अधिकार कर लिया। परन्तु इसके बाद उन्होंने भारत की मुख्य भूमि में प्रवेश करने का कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया। 1539 ई. में मराठों ने उनसे साल्सट और बेसीन छीन लिया और पुर्तगालियों के अधिकार में केवल गोआ, डामन और ड्यू की बस्तियाँ रह गईं।

पुर्तगाली भारत में असफल हुए। उनकी असफलता के कई कारण थे। 1580 ई. में स्पेन ने पुर्तगाल पर अपना अधिकार जमा लिया था, इससे भारत में उनका प्रभाव शिथिल पड़ गया। डच, फ्रेन्च और अंग्रेजों की चुनौती ने समुद्र पर उनका आधिपत्य समाप्त कर दिया। मुगल साम्राज्य तथा मराठों के विरोध ने उनको कई प्रकार के खतरों में डाल दिया। बुरे शासन और धार्मिक असहिष्णुता ने उनकी आन्तरिक शक्ति को क्षीण कर दिया। व्यापार के प्रति उदासीन होने तथा राजनीति में अधिक हस्तक्षेप करने से उनकी आर्थिक शक्ति समाप्त हो गई।

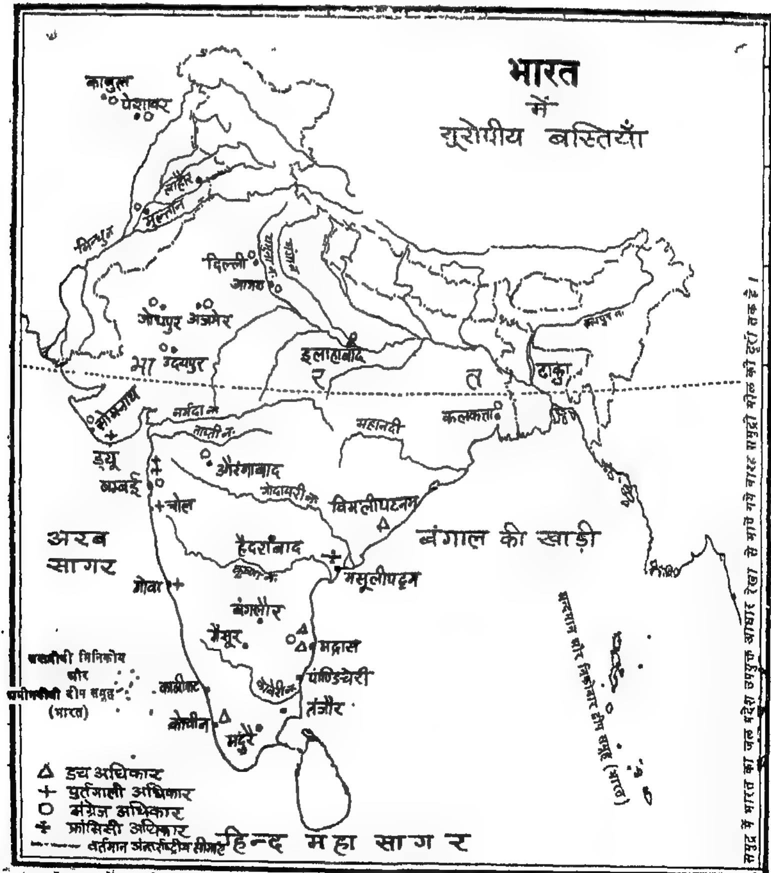
फिर भी पुर्तगालियों ने भारतीय जीवन में अपना कुछ विशेष योग प्रदान किया था। पुर्तगाली भाषा के सैकड़ों शब्द जैसे कि कमरा, नीलाम, पादरी, मेज, कुर्सी, कमीज, आलमारी आदि भारतीय भाषाओं में इस प्रकार घुल-मिल गये कि आज उन्हें अलग करना सम्भव नहीं रहा। उनकी दूसरी महत्त्वपूर्ण देन हुक्का-तम्बाकू है जो समूचे भारत में लोकप्रिय हो गये। अनन्नास, पपीता, अमरूद, गोभी आलू इत्यादि भी पुर्तगालियों की ही देन है। भारत के फल-फूल और पौधों का पहला विवरण भी उन्हीं लोगों ने तैयार किया था। भारत में पहला छापखाना भी गोआ में ही खुला था। विद्यालयों की व्यवस्था करके उन्होंने आध्यात्मिक ज्ञान के क्षेत्र में एक नई लहर पैदा की। पश्चिम की स्थापत्य कला का प्रसार किया और बंगलानुमा इमारतों की निर्माण शैली का सूत्रपात किया। भारत में ईसाई धर्म को फैलाने का प्रयत्न किया। इस प्रकार से उन्होंने यहाँ की संस्कृति को प्रभावित किया।

डच—भारतीय व्यापार से पुर्तगालियों ने खूब धन कमाया जिसे देखकर यूरोप की अन्य जातियों के मन में भी पूर्वी देशों के साथ व्यापार करने की इच्छा उत्पन्न हुई। सर्वप्रथम हॉलैण्ड के डच निवासियों ने पुर्तगाल के एकाधिकार को चुनौती दी। 1602 ई. में उन्होंने "ईस्ट इण्डिस के कम्पेगीन" नामक एक कम्पनी की स्थापना की और पूर्वी द्वीप समूह की तरफ अपना ध्यान केन्द्रित किया। डचों की नाविक शक्ति काफी सबल थी और धीरे-धीरे उन्होंने पुर्तगाली शक्ति को कमजोर बना दिया। उन्होंने मल्लका, जावा और श्रीलंका पुर्तगालियों से छीन लिए पूर्वी द्वीप समूह में भारतीय माल की माँग अधिक थी, अत. डचों ने भारतीय व्यापार की तरफ ध्यान दिया। भारत में उन्होंने कालीकट, सूरत, चिनसुरा कासिमबाजार पटना बालोसोर, नागापट्टम और चीन में व्यापारिक केन्द्र स्थापित किये। चूंकि डचों का मुख्य ध्येय दक्षिण-पूर्वी एशियायी द्वीपों में व्यापार करने का रहा, अतः भारत में उन्होंने राजनीतिक प्रभाव बढ़ाने का प्रयत्न नहीं किया।

अंग्रेज—अंग्रेज वणिक शुरू से ही भारत के साथ व्यापार करने के इच्छुक थे परन्तु 16वीं सदी में उन्हें अपने देश की सुरक्षा के लिए स्पेन जैसे शक्तिशाली राष्ट्र से दीर्घकाल तक संघर्ष करना पड़ा। अतः वे इस तरफ विशेष ध्यान न दे सके। स्पेन के शक्तिशाली जहाजी बेड़े आर्मेडा' पर अंग्रेजों की विजय ने उनके साहस को बढ़ा दिया। वस्तुतः इस सफलता ने इंगलैंड की सामुद्रिक शक्ति और व्यापारिक प्रभुत्व की नींव डाल दी थी। 1600 ई. में लन्दन के कुछ व्यापारियों को पूर्वी देशों के साथ व्यापार करने वाले गवर्नर तथा "लन्दन के व्यापारियों की कम्पनी" नामक एक कम्पनी की स्थापना की जो आगे चल कर "ईस्ट इण्डिया कम्पनी" के नाम से विख्यात हुई। कम्पनी ने अपने एक कप्तान विलियम हॉकिन्स को जहाँगीर के दरबार में भेजा ताकि अंग्रेजों को भारत के साथ व्यापार की स्वीकृति एवं सुविधा मिल सके। हॉकिन्स तीन वर्ष तक भारत में रहा, परन्तु पुर्तगालियों के प्रभाव तथा उनके कुचक्रों के कारण उसे सफलता नहीं मिली। 1612 ई. में अंग्रेजों ने सूरत के निकट पुर्तगालियों को पराजित करके मुगल दरबार में अपनी प्रतिष्ठा को बढ़ाने का प्रयत्न

किया। अगले वर्ष सूरत के स्थानीय अधिकारियों ने अंग्रेजों को सूरत में व्यापारिक कोठी स्थापित करने की आज्ञा प्रदान कर दी।

1615 ई. में सर टॉमस रो इंगलैण्ड के तत्कालीन बादशाह जेम्स प्रथम के राजदूत की हैसियत से जहाँगीर के दरबार में आया। परन्तु पुर्तगालियों के प्रभाव के कारण उसे भी पर्याप्त सफलता नहीं मिली। हां, गुजरात के तत्कालीन सूबेदार राजकुमार खुर्रम से गुजरात में व्यापार करने की सुविधा अवश्य मिल गई। पुर्तगालियों के प्रभाव के समाप्त होते ही अंग्रेजों ने धीरे-धीरे आगरा, अहमदाबाद, भडोंच, अजमेर, बुरहानपुर आदि नगरों में अपनी व्यापारिक कोठियाँ कायम कर लीं। परन्तु उन्हें प्रादेशिक लाभ 1639 ई. में मिला जबकि वाण्डेवाश के एक स्थानीय हिन्दू राजा ने उन्हें मद्रास का इलाका प्रदान किया था। अंग्रेजों ने इस स्थान पर एक सुन्दर नगर और किला बनवाया। बंगाल और उड़ीसा में भी अंग्रेजों ने अपनी



भारत के महासर्वेक्षक की अनुज्ञानुसार भारत सर्वेक्षण विभागीय मानचित्र पर आधारित।
इस मानचित्र में दिये गये भौगोलिक नामों का वर्णयोग प्रामाणिक नहीं है।

कोठियां कायम कर लीं । 1656 ई. में बंगाल के सूबेदार शाहशुजा ने उन्हें बंगाल में व्यापार करने की सुविधा प्रदान कर दी थी, परन्तु बंगाल में उनके पैर 1690 ई. की सन्धि के बाद जमे । इस सन्धि के अनुसार अंग्रेजों को 4000 रु. वार्षिक भेंट के बदले में सभी प्रकार के स्थानीय करों से मुक्त कर दिया गया । इस सन्धि के बाद ही अंग्रेजों ने सतनाती नामक स्थान पर अपना किला बनवाया और इसके आस-पास की बस्ती आगे चलकर 'कलकत्ता' के नाम से प्रसिद्ध हुई ।

इंगलैण्ड के राजा चार्ल्स द्वितीय ने पुर्तगाल की राजकुमारी से विवाह किया । दहेज में 'बम्बई' का प्रसिद्ध बन्दरगाह मिला । चार्ल्स ने यह बन्दरगाह कम्पनी को सौंप दिया । कम्पनी ने इसका विकास किया । इस प्रकार अंग्रेजों ने देश के विभिन्न भागों में अपनी कोठियां कायम कर लीं । धीरे-धीरे इनमें कई कोठियाँ सुदृढ़ किलों के रूप में बदल दी गईं । जो समय आने पर अंग्रेजों के सैनिक अड्डे बन गये जिन्हें आधार बना कर वे भारतीय शासकों को चुनौती देने लगे । 1717 ई० में कम्पनी को बंगाल एवं दक्षिण के मुगल सूबों में बिना चुंगी चुकाये व्यापार करने की महत्त्वपूर्ण सुविधा मिल गई । इससे भारत में उनके पैर मजबूती से जम गये ।

फ्रांसीसी—यद्यपि फ्रांसीसी भारत में अंग्रेजों से पहले आ गये थे किन्तु उनकी व्यापारिक कम्पनी की स्थापना अंग्रेज कम्पनी के बाद ही सम्भव हो पायी थी । लुई चौदहवें के मन्त्री कोलबर्ट के प्रोत्साहन से 1664 ई. में सरकार की सहायता से भारत से व्यापार करने के लिए प्रथम फ्रांसीसी कम्पनी की स्थापना हुई । इस प्रकार, फ्रांसीसी कम्पनी सरकारी कम्पनी थी । इस कम्पनी ने भारत में अपनी प्रथम कोठी 1668 ई. में सूरत में स्थापित की । अगले वर्ष मछलीपट्टम में कोठी कायम की । 1673 ई. में उन्होंने पाण्डिचेरी (पाण्डुचेरी) की स्थापना की जो भारत में फ्रांसीसियों का मुख्य केन्द्र बन गया । बंगाल में उन्होंने हुगली के किनारे चन्द्रनगर बसाया । कालीकट, माही, कारीकल आदि स्थानों पर भी उन्होंने अपनी व्यापारिक कोठियां कायम कीं । पुर्तगाली और डच शक्ति के क्षीण हो जाने से यूरोपीय जातियों में से फ्रांसीसी ही रह गए जिन्होंने भारत की सत्ता के लिए अंग्रेजों से संघर्ष किया ।

यूरोपीय लोगों के आगमन का प्रभाव—यूरोपीय जातियों के आगमन से भारत की सामुद्रिक शक्ति का खोखलापन स्पष्ट हो गया । भारत का सामुद्रिक व्यापार यूरोपीय जातियों के एकाधिकार में चला गया । परिणामस्वरूप भारत की धन-सम्प्रदा पश्चिम की ओर अग्रसर हो गई । यह तो आर्थिक प्रभाव की बात है । राजनीतिक क्षेत्र में तो आगे चलकर इससे भी विनाशकारी परिणाम निकले । वैसे यूरोपीय जातियों की आपसी सैनिक हलचलों से शुरू में ही यह बात स्पष्ट हो गई थी कि जब तक उनको अपनी नौ-सेना की तोपों का संरक्षण प्राप्त है, तब तक उन्हें समुद्र तटीय स्थानों में हटाना दुष्कर कार्य हैं । यह बात भी साफ दिखाई पड़ रही थी कि अनुकूल अवसर मिलते ही वे लोग हमारे देश पर अपना पंजा फैलाने से नहीं चूकेंगे । किन्तु दुःख इस बात का है कि इन तथ्यों की पूर्ण जानकारी होते

हुए भी भारतीय शासकों ने न तो अपनी सामुद्रिक शक्ति को सुदृढ़ बनाने का और न ही इन लोगों का स्थलीय प्रभाव रोकने का प्रयत्न किया। उल्टे अपने आपसी झगड़ों में इन लोगों की सहायता लेने का प्रयत्न किया और सहायता लेने के बदले में इन लोगों को महत्त्वपूर्ण व्यापारिक सुविधाएँ एवं भू-क्षेत्र देकर भारतीय व्यापारियों तथा स्वयं अपने विनाश को आमन्त्रित करते रहे। समय आते ही ये लोग तराजू की डंडियों को छोड़कर, शस्त्र धारण कर मैदान में कूद पड़े और अपनी सूझ-बूझ, एकता तथा छल-कपट आदि साधनों से भारतीय घटनाओं का रुख अपनी स्वार्थ पूर्ति के लिए मोड़ने में सफल रहे।

3. अंग्रेजों और फ्रांसीसियों में प्रतिस्पर्द्धा

पुर्तगालियों और डचों की शक्ति क्षीण हो जाने के बाद, भारतीय व्यापार के एकाधिपत्य के लिए अंग्रेजों और फ्रांसीसियों में प्रतिस्पर्द्धा शुरू हो गई। फिर भी, यह आश्चर्य की बात है कि प्रारम्भ में दोनों जातियों में मैत्री सम्बन्ध कायम रहे। यद्यपि यूरोप में दोनों जातियाँ एक-दूसरे के विरोध में खड़ी थीं। इसके मुख्य कारणों में से एक तो मुगल सम्राटों का भय था, दूसरा दोनों कम्पनियों की स्थिति अधिक मजबूत नहीं हो पायी थी और आपसी युद्धों से आर्थिक हानि उठानी पड़ती जबकि दोनों का ध्येय धन कमाना था। इसलिए यूरोपीय राजनीति के दाव-पेचों के उपरांत भी भारत में दोनों जातियों में शान्ति और मैत्री कायम रही।

परन्तु मुगलों की केन्द्रीय सत्ता के पतन के साथ-साथ दोनों जातियों की राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाएँ जाग उठीं। इस समय अंग्रेजों की स्थिति फ्रांसीसियों की अपेक्षा अधिक ठीक थी। उनके पास कलकत्ता, मद्रास और बम्बई की महत्वपूर्ण बस्तियाँ थीं। फ्रांसीसियों के पास चन्द्रनगर और पाण्डिचेरी की बस्तियाँ थीं जिनका महत्त्व अंग्रेज बस्तियों से कम था। व्यापार के क्षेत्र में भी अंग्रेजों का पलड़ा भारी था। फ्रांसीसी भी इस बात से परिचित थे कि व्यापार के क्षेत्र में अंग्रेजों को मात देना सम्भव नहीं है। अतः उन्होंने भारत की राजनीतिक अर्थव्यवस्था से लाभ उठा कर अंग्रेजों को मात देने का निश्चय किया। परन्तु अंग्रेज पहले से ही इसके लिए भी तैयार बैठे थे। दोनों जातियों ने यह अनुभव कर लिया था कि भारत में अपनी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति कूटनीतिक तथा सैनिक शक्ति के द्वारा ही सम्भव हो सकेगी। अतः दोनों ने स्थानीय भारतीयों को अपनी सेना में भर्ती करके अपनी-अपनी सैनिक शक्ति को बढ़ाना शुरू कर दिया।

प्रतिस्पर्द्धा के कारण—भारत से व्यापार करने के लिए भारत में आने वाले अंग्रेजों तथा फ्रांसीसियों की प्रतिस्पर्द्धा के कारण निम्नलिखित थे—

1. दोनों जातियों में व्यापारिक स्पर्द्धा थी। दोनों ही भारत के विदेशी व्यापार पर अपना एकाधिपत्य कायम करना चाहते थे।

2. भारत की तत्कालीन राजनीतिक अव्यवस्था से दोनों ही अपनी राजनीतिक महत्वाकांक्षाएँ पूरी करना चाहते थे।

3. यूरोप की राजनीति में दोनों शक्तियों के मध्य प्रतिस्पर्द्धा थी। दोनों में यूरोप के प्रभुत्व और यूरोप के बाहर उपनिवेशों के विस्तार को लेकर तीव्र शत्रुता विद्यमान थी।

इस प्रकार, यूरोप की यह दो प्रमुख शक्तियाँ एक-दूसरे की विरोधी बनी हुई थीं और दुनिया के उस प्रत्येक भाग में जहाँ दोनों जातियाँ एक साथ बस गई थीं, एक दूसरे को वहाँ से निकालने के लिए प्रयत्नशील थीं। इसलिए भारत में भी, दोनों जातियों में संघर्ष होना स्वाभाविक था। भारत में दोनों का संघर्ष चार कालों में हुआ—1746 से 1748 तक, 1749 से 1754 तक, 1758 से 1763 तक और 1778 से 1815 तक। प्रथम तीन कालों में उनका संघर्ष मुख्यतया दक्षिण भारत तक सीमित रहा और फ्राँसीसी शक्ति भारत में समाप्त हो गई और फ्राँसीसियों ने यह अनुभव कर लिया कि अंग्रेजों के साथ सीधे संघर्ष के द्वारा भारत की सत्ता प्राप्त करना असम्भव है। अतः चौथे काल में उन्होंने अंग्रेजों के विरुद्ध भारतीय शासकों को सहयोग देकर अंग्रेजों की शक्ति को समाप्त करने का प्रयत्न किया। इस सम्बन्ध में उनका सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान निजाम, टीपू, महादाजी सिन्धिया आदि शासकों की सेनाओं को यूरोपीय ढंग से प्रशिक्षित करना था। परन्तु इस ध्येय में भी उनको सफलता नहीं मिल पायी।

कर्नाटक—दक्षिण भारत का कर्नाटक प्रदेश अपनी धन-सम्प्रदा के लिए प्रसिद्ध था। औरंगजेब ने इस प्रदेश को मुगल साम्राज्य में मिलाने का प्रयत्न किया था, परन्तु उसे अधिक सफलता न मिली। उसकी मृत्यु के बाद इस प्रदेश में कई छोटे-छोटे स्वतन्त्र राज्यों का अभ्युदय हुआ। जिंजी, तंजोर, गुट्टी, बेलगांव, वेलारी बंगलोर, कोलर, बेल्लोर आदि पर मराठों के विविध घरानों का शासन था तो करनूल, कुड़प्पा, सुवन्नूर, सेरा और अर्काट के राज्यों पर मुसलमान नवाबों का शासन था। हैदराबाद का शासक निजाम और मराठे दोनों ही समूचे प्रदेश पर अपना प्रभुत्व कायम करना चाहते थे। शुरू में निजाम को सफलता मिली, परन्तु 1739–40 ई. में मराठों ने कर्नाटक पर आक्रमण किया और नवाब दोस्तअली को युद्ध में मार दिया। दोस्तअली के लड़के सफदरअली की भी बाद में हत्या कर दी गई। 1743 ई. में निजाम ने कर्नाटक पर आक्रमण किया और मराठों को निकाल कर सफदरअली के अल्पायु लड़के सईद मुहम्मद को कर्नाटक का नवाब तथा अनवरुद्दीन को उसका अभिभावक बनाया। सईद मुहम्मद की भी हत्या कर दी गई और अनवरुद्दीन नवाब बन गया। परन्तु दोस्तअली के दामाद चांदा साहब ने उसका विरोध किया। इस प्रकार की स्थिति में कर्नाटक में अंग्रेजों और फ्रांसीसियों का संघर्ष भी प्रारम्भ हो गया।

कर्नाटक का प्रथम युद्ध (1746–48)—कर्नाटक के पहले युद्ध का भारतीय राजनीति से कोई सम्बन्ध न था। यह यूरोपीय संघर्ष का परिणाम था। 1740 ई० में यूरोप में ऑस्ट्रिया राज्य के उत्तराधिकार के प्रश्न पर युद्ध भड़क उठा था। इस युद्ध में इंगलैण्ड ने एक पक्ष का साथ दिया तो फ्रांस ने उसके विरोधी पक्ष का

कर्नाटक १७४६ - ६३



साथ दिया। फिर क्या था, संसार भर में जहाँ कहीं भी यह दोनों जातियाँ एक साथ बसी हुई थीं, आपस में लड़ बैठीं। सर्वप्रथम इंगलैण्ड ने पारनेट के नेतृत्व में एक जहाजी बेड़ा फ्रांसीसी व्यापार पर आक्रमण करने भेजा। उसने कुछ फ्रांसीसी व्यापारिक जहाजों को डुबो दिया। प्रत्युत्तर में मॉरीशस द्वीप के फ्रांसीसी गवर्नर ला-बर्डिनो ने अपने जहाजी बेड़े से अंग्रेजी बेड़े पर आक्रमण किया और उसे परास्त करके बंगाल की तरफ खदेड़ दिया। भारत में फ्रांसीसियों के गवर्नर डुप्ले के अनुरोध पर उसने अंग्रेजों के केन्द्र मद्रास पर आक्रमण कर दिया। परन्तु डुप्ले से मतभेद पैदा हो जाने से वह वापस लौट गया। डुप्ले ने अपने ही साधनों से मद्रास पर अधिकार जमा कर अंग्रेजों को लूटा और फिर मद्रास के निकट ही स्थित उनके किले सेन्ट डेविड पर आक्रमण किया। उधर 1748 ई. में अंग्रेजों के एक नये जहाजी बेड़े ने पाण्डिचेरी का घेरा डाल दिया। न तो फांसिसी सेण्ट डेविड ले पाये और न

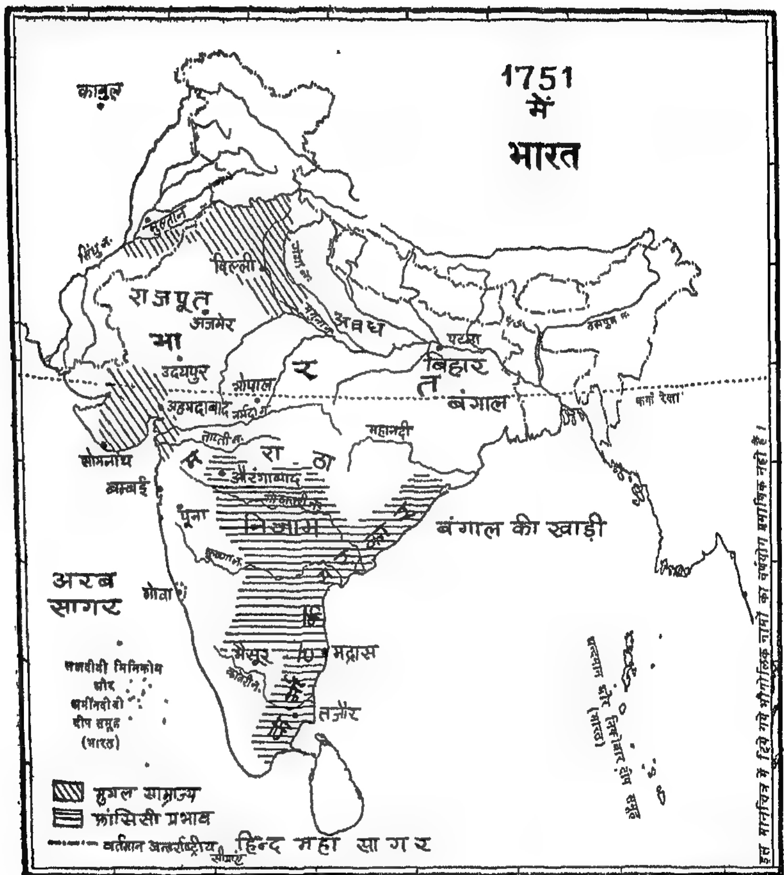
अंग्रेज पाण्डिचेरी ले पाये । इस प्रकार की अनिर्णायक स्थिति में यूरोप में एक्स-ला-शैपल (एलाशपल) की संधि से यूरोपीय युद्ध समाप्त हो गया । अतः भारत में दोनों पक्षों के मध्य युद्ध बन्द हो गया । दोनों ने एक-दूसरे के जीते हुए स्थान वापस लौटा दिये ।

इस युद्ध से सम्बन्धित एक घटना का हमारे इतिहास से भी सम्बन्ध रहा है । अर्काट के नवाब अनवरुद्दीन ने अंग्रेजों तथा फ्रांसीसियों दोनों को ही युद्ध न करने का आदेश दिया था । जब फ्राँसीसियों ने मद्रास पर अधिकार कर लिया तो अंग्रेजों ने नवाब से सहायता माँगी थी, परन्तु डूप्ले के आश्वासन से कि वह नवाब के लिए ही मद्रास जीत रहा है, नवाब चुप रहा । परन्तु जब नवाव को डूप्ले के असली इरादे का पता चला तो उसने अपनी एक सेना डूप्ले के विरुद्ध भेज दी जिसे डूप्ले ने सेण्ड थोमी के युद्ध में पूर्णतया परास्त कर दिया । इसके महत्त्वपूर्ण परिणाम निकले । फ्रांसीसियों की धाक दक्षिण भारत में जम गई । यह सिद्ध हो गया कि भारतीय रण-पद्धति की तुलना में यूरोपीय रण-पद्धति श्रेष्ठ है । इससे भारतीय शासकों की सैनिक कमजोरी भी स्पष्ट हो गई जिससे यूरोपीय लोगों को भारतीय राजनीति में सक्रिय भाग लेने को प्रोत्साहन मिला । कर्नाटक के प्रथम युद्ध के महत्त्व की चर्चा करते हुए डॉडवेल ने लिखा है कि "अधीन प्रजा की स्थिति से उछल कर वे (यूरोपीयन लोग) नरेशों की समानता की स्थिति में आ गए—इसने डूप्ले के अन्वेषणों और क्लाइव के लिए मार्ग तैयार कर दिया ।"

कर्नाटक का दूसरा युद्ध (1749–54)—कर्नाटक का पहला युद्ध समाप्त ही हुआ था कि अंग्रेजों और फ्रांसीसियों ने पुनः युद्ध की तैयारी कर ली । इस बार लड़े गये युद्ध का मुख्य कारण दोनों जातियों का भारतीय नरेशों की राजनीति में हस्तक्षेप करके अपना प्रभाव बढ़ाने की लालसा थी । इसकी पृष्ठभूमि दो राज्यों में उत्पन्न उत्तराधिकार संघर्ष ने तैयार की ।

1748 ई. में हैदराबाद का शासक निजाम-उल-मुल्क मर गया । उसका एक पुत्र नासिरजंग सिंहासन पर बैठा । परन्तु उसके भतीजे मुजफ्फरजंग ने उसके विरुद्ध अपना दावा प्रस्तुत किया । उधर दूसरी तरफ अर्काट के नवाब अनवरुद्दीन के विरुद्ध भूतपूर्व नवाब दोस्तअली का दामाद चाँदा साहब अर्काट की नवाबी प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील था । मुजफ्फरजंग और चाँदा साहब ने मिलकर युद्ध करने का निश्चय किया और विरोधियों के विरुद्ध डूप्ले से सहायता माँगी । डूप्ले भारत में फ्रांसीसी साम्राज्य बनाने का स्वप्न देखा करता था, अतः वह सहायता देने को तैयार हो गया । 1749 ई. में चाँदा साहब ने मुजफ्फरजंग तथा फ्रांसीसियों की सहायता से अर्काट पर आक्रमण कर दिया और अम्बर के युद्ध में अनवरुद्दीन को परास्त करके मार डाला । अनवरुद्दीन के लड़के मुहम्मदअली ने भागकर त्रिचनापल्ली के दुर्ग में शरण ली और सम्पूर्ण अर्काट राज्य पर चाँदा साहब का अधिकार हो गया । चाँदा साहब ने फ्रांसीसियों को काफी भूमि इनाम में दी ।

फ्रांसीसियों को सफलता मिली और इनाम में काफी भूमि मिली। इससे उनके प्रतिद्वन्द्वी अंग्रेज घबरा गये। उन्होंने सोचा कि यदि यही रफ्तार जारी रही तो दक्षिण भारत में फ्रांसीसियों का प्रभुत्व कायम हो जायेगा और उन्हें यहाँ से जाने के लिए विवश होना पड़ेगा। इसलिए उन्होंने नासिरजंग और मोहम्मदअली को



सहायता देने का निश्चय किया। नासिरजंग ने अंग्रेजों की सहायता से कर्नाटक पर आक्रमण किया। चाँदा साहब, मुजफ्फरजंग और फ्रांसीसियों को पराजित किया। चाँदा साहब भागकर पाण्डिचेरी चला गया और मुजफ्फरजंग ने आत्म-समर्पण कर दिया। परन्तु डूप्ले ने साहस नहीं खोया। उसने मछलीपट्टम और जिंजी पर अधिकार कर लिया। ऐसे ही समय नासिरजंग की हत्या हो गई और डूप्ले ने तुरन्त मुजफ्फरजंग को हैदराबाद का निजाम घोषित कर दिया। मुजफ्फरजंग से फ्रांसीसियों

को काफी धन, भूमि और सुविधाएँ मिलीं। इस समय डूप्ले की स्थिति काफी अच्छी थी।

अंग्रेजों ने मुहम्मदअली को सहायता का पूर्ण आश्वासन दिया और उसे किसी भी स्थिति में अपने विरोधियों से समझौता न करने को कहा। त्रिचनापल्ली का घेरा चलता रहा और अंग्रेज अपने उम्मीदवार को मदद पहुंचाने में सफल नहीं हो पा रहे थे। तब मुहम्मदअली ने अंग्रेजों को सुझाव दिया कि चाँदा साहब की राजधानी अर्काट पर आक्रमण करें जिससे त्रिचनापल्ली पर चाँदा साहब का दबाव कम हो जाय। परन्तु अंग्रेज लेखकों ने सुझाव का श्रेय राबर्ट क्लाइव नामक लिपिक (क्लर्क) को देकर उसे एक प्रतिभावान सेनानायक सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। यह तो एक साधारण सी चाल थी। हाँ, क्लाइव ने अर्काट पर आक्रमण करके उस पर अधिकार जमाने में अवश्य साहस का परिचय दिया था। चांदा साहब को अपनी आधी सेना अर्काट की तरफ भेजनी पड़ी। परन्तु क्लाइव ने 53 दिन तक बहादुरी के साथ उस सेना का सामना किया। दूसरी तरफ त्रिचनापल्ली में फ्रांसीसी सेना को हथियार डालने पड़े। चाँदा साहब ने भागकर तंजोर में शरण ली, जहाँ सम्भवत: अंग्रेजों की मूक अनुमति से उसका वध करवा दिया गया। इस प्रकार मुहम्मदअली अर्काट का नवाब बन गया।

अब हम हैदराबाद की घटनाओं को लेते है। मुजफ्फरजंग, फ्रांसीसी सेनापति बुसी के साथ हैदराबाद की तरफ बढ़ा, परन्तु मार्ग में ही उसकी अचानक मृत्यु हो गई। बुसी एक योग्य सेनानायक के साथ-साथ एक योग्य राजनीतिज्ञ भी था। उसने उसी समय निजाम के एक अन्य पुत्र सलावतजंग को निजाम घोषित करके अपना कूच जारी रखा और हैदराबाद में उसे निजाम के सिंहासन पर बैठाया। अगले कई वर्षों तक बुसी हैदराबाद में सफलतापूर्वक फ्रांसीसी प्रभाव स्थापित रख सका, जब तक कर्नाटक के तीसरे युद्ध के समय पर उसे लैली ने वापस न बुला लिया।

इस प्रकार, फ्रांसीसियों को हैदराबाद में सफलता मिली तो अंग्रेजों को कर्नाटक में। डूप्ले ने युद्ध जारी रखा, परन्तु फ्रांसीसी सरकार ने उसे वापस बुला लिया। अगस्त, 1754 ई. में नया फ्रांसीसी गवर्नर गोड्यू अंग्रेजों के साथ सन्धि करने के आदेश लेकर भारत आया और उसी वर्ष के दिसम्बर मास में दोनों में सन्धि हो गई। इस सन्धि के अनुसार दोनों ने भविष्य में भारतीय नरेशों की राजनीति में हस्तक्षेप न करने का वायदा किया तथा विवाद के अन्य विषयों पर भी समझौता करने का निश्चय किया गया। इस सन्धि को प्रायः फ्रांसीसी हितों के विरुद्ध माना जाता रहा है। स्वयं डूप्ले के अनुसार 'गोड्यू ने अपने देश के विनाश और असम्मान पर हस्ताक्षर किए थे।' परन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं थी। कुल मिलाकर अब भी दक्षिण भारत में फ्रांसीसियों की स्थिति अच्छी थी। उनकी शक्ति का विनाश तो कर्नाटक के तीसरे युद्ध में हुआ था।

डूप्ले—यहाँ डूप्ले का विवरण देना उपयुक्त ही होगा। 1697 ई० में उसका जन्म हुआ था। उसने व्यापार में रुचि ली थी, परन्तु अपने पिता की

इच्छानुसार उसे फ्रांसीसी कम्पनी की नौकरी स्वीकार करनी पड़ी और 1720 ई. पाण्डिचेरी चला आया। उसकी योग्यता एवं सेवाओं से सन्तुष्ट होकर कम्पनी ने उसे पहले चन्द्रनगर की फ्रांसीसी बस्ती का गवर्नर बनाया और बाद में पाण्डिचेरी का गवर्नर नियुक्त किया।

डूप्ले उत्साही, साहसी और एक योग्य कूटनीतिज्ञ था। उसमें योजनाएँ बनाने की अपूर्व क्षमता थी। जैसे-जैसे उसे सफलताएँ मिलती गईं, उसकी महत्त्वाकाँक्षाएँ भी बढ़ती गईं और उसने भारत में फ्राँसीसी साम्राज्य बनाने का स्वप्न देखना शुरू कर दिया। उसने अपनी सेना में भारतीय सैनिकों को भर्ती किया, उन्हें आधुनिक ढंग की शिक्षा दी, भारतीय नरेशों की राजनीति में साहसपूर्वक हस्तक्षेप किया, व्यापार के स्थान पर राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने और अंग्रेजों को भारत से बाहर निकालने का प्रयत्न किया। डूप्ले ने भारत में फ्रांसीसियों की स्थिति को इतना दृढ़ बना दिया था कि अंग्रेज भी उससे भयभीत हो उठे थे। फिर भी वह असफल रहा। उसकी असफलता का मुख्य कारण वह स्वयं था। उसके साधन सीमित थे फिर भी उसने कर्नाटक और हैदराबाद दोनों प्रदेशों में पैर फैला दिए। उसने अपनी कम्पनी के आर्थिक हितों की तरफ विशेष ध्यान नहीं दिया और दूसरी तरफ धन का अपव्यय किया और एक भारतीय नवाब की तरह रहा। दूसरा मुख्य कारण यह रहा कि चूँकि उसे अपनी योजनाओं की सफलता में पूर्ण विश्वास नहीं था अतः उसने अपनी सरकार को सही स्थिति कभी नहीं बतलाई जिससे उसे अपनी सरकार से पर्याप्त सहायता नहीं मिल पायी। अन्तिम कारण जो डूप्ले भूल गया था, वह यह था कि भारत जैसे सुदूर देश में वही यूरोपीय देश सफल हो सकता था जिसका समुद्र पर नियन्त्रण होगा। समुद्र पर फ्रांसीसियों की तुलना में अंग्रेजों की शक्ति बढ़ी-चढ़ी थी।

कर्नाटक का तीसरा युद्ध (1756–63)—कर्नाटक के प्रथम युद्ध की भांति तीसरे युद्ध के लिए भी यूरोप की राजनीति उत्तरदायी थी। 1756 ई० में यूरोप में 'सप्तवर्षीय युद्ध' शुरू हो गया जिसमें इंगलैंड और फ्रांस एक दूसरे के विरुद्ध लड़ रहे थे। अतः भारत में दोनों का संघर्ष शुरू हो गया। फ्रांसीसियों ने त्रिचनापल्ली अर्काट, बेल्लोर, मद्रास, सेण्ट डेविड के अलावा सम्पूर्ण कर्नाटक प्रदेश पर अपना अधिकार जमा लिया। उत्तर भारत में अंग्रेजों ने फ्रांसीसियों की बस्ती चन्द्रनगर तथा बालासोर, कासिम बाजार और पटना की फ्रांसिसी फैक्ट्रियों पर अपना अधिकार जमा लिया।

1758 ई० से युद्ध में तेजी आई। फ्रांस ने काउन्ट डी लैली को भारत के सम्पूर्ण फ्रांसीसी प्रदेशों का प्रमुख सेनापति बनाकर एक शक्तिशाली जहाजी बेड़े के साथ भारत भेजा। लैली ने आते ही सेण्ट डेविड के किले से अंग्रेजों को मार भगाया और उस पर अपना अधिकार जमा लिया। इसके बाद धन प्राप्त करने की इच्छा से उसने तंजोर पर आक्रमण किया परन्तु ठीक समय पर अंग्रेजों की सेना ने वहां पहुँच कर उसे वापिस लौटने के लिए विवश कर दिया। इस बीच अंग्रेज जल सेना-

नायक पोकोक ने फ्रांसीसी बेड़े को पराजित कर दिया और लैली के विरोध के बाद भी फ्रांसीसी जल-सेनानायक डी-एच अपने जहाजों को लेकर मॉरीशस चला गया। इससे लैली की स्थिति कमजोर पड़ गई। फिर भी 1758 ई. में उसने मद्रास का घेरा डाल दिया। इस अवसर पर फ्रांसीसियों की सम्पूर्ण शक्ति को एकत्र करने की दृष्टि से उसने बुसी को भी हैदराबाद से अपने पास बुला लिया। उसका यह कदम आत्म-घातक सिद्ध हुआ। क्लाइव ने बंगाल से एक सेना दक्षिण भेज दी। निजाम सलावतजंग ने घबरा कर अंग्रेजों से सन्धि कर ली। इस प्रकार हैदराबाद जैसे विस्तृत और समृद्ध प्रान्त से फ्रांसीसियों का प्रभाव समाप्त हो गया। उधर मद्रास के घेरे में भी फ्रांसीसियों को सफलता नहीं मिली। फरवरी 1759 ई में उन्हें घेरा उठाना पड़ा। लैली बड़ी कठिनाई से अंग्रेजों का सामना करता रहा क्योंकि उसके पास, रसद और सैनिक सभी की कमी थी जबकि अंग्रेज सेना को बंगाल की तरफ से सभी प्रकार की सहायता मिल रही थी। अन्त में, 22 जनवरी, 1760 ई. के दिन वाण्डेवाश के युद्ध में अंग्रेज सेनापति आयरकूट ने लैली को पराजित कर दिया। इस युद्ध में बुसी पकड़ा गया। वाण्डेवाश का युद्ध निर्णायक सिद्ध हुआ। डॉडवेल ने लिखा है कि "वाण्डेवाश के युद्ध ने पिछले नौ वर्षों के कार्य को समाप्त कर दिया और उसने डूप्ले और बुसी के कार्य को एक पक्ष के लिए यादगार और दूसरे पक्ष के लिए आशाएँ बना कर जोड़ दिया।" इस युद्ध में लैली की कमर टूट गई। उसने पाण्डिचेरी को बचाने का अथक प्रयत्न किया, परन्तु अन्त में 16 जनवरी, 1761 ई. को लैली को आत्म-समर्पण करना पड़ा। उसे कैद करके इंगलैण्ड भेज दिया गया जहाँ से बाद में फ्रांस में दो वर्ष के मुकदमे के बाद उसे मृत्यु-दण्ड दिया गया। पाण्डिचेरी के पतन के बाद अंग्रेजों ने प्रायः सभी फ्रांसीसी स्थानों पर अधिकार जमा लिया। 1763 ई. में पेरिस की सन्धि से युद्ध समाप्त हो गया। सन्धि के अनुसार पाण्डिचेरी, चन्द्रनगर आदि कुछ स्थान फ्रांसीसियों को वापस लौटा दिये गए, परन्तु इस शर्त के साथ कि वे इन स्थानों की किलेबन्दी नहीं करेंगे। इस प्रकार कर्नाटक का तीसरा युद्ध निर्णायक सिद्ध हुआ। इसने फ्रांसीसियों की आशा पर पानी फेर दिया। यद्यपि इसके बाद के काल में भी वे भारतीय नरेशों को अंग्रेजों के विरुद्ध सहयोग देते रहे परन्तु यह सहयोग एक स्वतन्त्र शक्ति का सहयोग न होकर फ्रांसीसियों का व्यक्तिगत सहयोग था। उन्होंने भारतीय शासकों की सेना में सैनिक अथवा सेना-शिक्षकों की हैसियत से यह सहयोग दिया।

फ्रांसीसियों की असफलता के कारण—कर्नाटक के युद्धों के परिणामस्वरूप फ्रांसीसियों के लिए भारत की राजनीतिक सत्ता को प्राप्त करने का स्वप्न समाप्त हो गया। उनकी असफलता के मुख्य कारण निम्नलिखित थे—

1. संघर्ष के शुरू से ही फ्रांसीसी कम्पनी की तुलना में अंग्रेजी कम्पनी की स्थिति कहीं अधिक श्रेष्ठ थी। अंग्रेजी कम्पनी व्यापारियों की संस्था थी। अतः उन्हें हमेशा लाभ-नुकसान की चिन्ता बनी रहती थी। राज्य की ओर से सामान्यतया उनके कार्यों में हस्तक्षेप नहीं किया जाता था। इसके विपरीत फ्रांसीसी कम्पनी एक

सरकारी संस्था थी जिसमें लालफीताशाही के सभी अवगुण विद्यमान थे। भारत में प्राप्त किये गये स्थानों की दृष्टि से अंग्रेज कम्पनी का पलड़ा भारी था। फ्रांसीसी कम्पनी के पास पाण्डिचेरी ही एक मात्र अच्छा स्थान था, परन्तु अंग्रेजों के मद्रास और सेण्ड डेविड की तुलना में यह भी निम्न श्रेणी का था। बंगाल में अंग्रेजों के कलकत्ता की तुलना में फ्रांसीसियों के पास चन्द्रनगर की छोटी-सी बस्ती थी। पश्चिमी तट पर जहां अंग्रेजों के पास बम्बई की बस्ती थी वहां फ्रांसीसियों के पास कोई नगर नहीं था। आर्थिक दृष्टि से भी अंग्रेज कम्पनी की स्थिति अधिक अच्छी थी।

2. इस समय फ्रांस और इंगलैण्ड दोनों में औपनिवेशिक प्रतियोगिता चल रही थी। फ्रांस ने अपना ध्यान अमेरिका, यूरोप और भारत में लगा रखा था। परन्तु अमेरिका और यूरोप के कारण वह भारत की तरफ नियमित रूप से विशेष ध्यान नहीं दे पाया। जबकि इंगलैण्ड विश्व में स्थित अपने सभी उपनिवेशों की ओर सतर्क ध्यान रख रहा था।

3. फ्रांसीसियों की एक असफलता का एक मुख्य कारण उनकी नौ-सेना की दुर्बलता थी। इंगलैण्ड अपनी नौ-शक्ति की श्रेष्ठता के कारण निरन्तर बंगाल तथा बम्बई से कर्नाटक में सहायता पहुँचाता रहा और फ्रांस को सहायता पहुँचाने से रोकता रहा। इस प्रकार नौ-सेना की शक्ति इस संघर्ष में निर्णायक सिद्ध हुई।

4. अन्तिम कारण यह था कि अंग्रेजों में आपसी एकता थी, एक-दूसरे के साथ मिल-जुल कर काम करने की भावना थी। उन लोगों को व्यक्तिगत स्वार्थों की अपेक्षा राष्ट्रीय मान-सम्मान की चिन्ता अधिक थी। इसके विपरीत फ्रांसीसी अधिकारियों में एकता का अभाव रहा और वे आपस में लड़ते रहे। उनके आपसी झगड़ों के कारण फांसीसी कम्पनी कभी भी ठोस कदम नहीं उठा पायी और परिणामस्वरूप उसे परास्त होना पड़ा। इस सन्दर्भ में एक बात यह भी ध्यान रखने योग्य है कि यूरोप में भी प्रायः फ्रांस को इंगलैंड के हाथों परास्त होना पड़ा। उसका प्रभाव भी भारत में आना स्वाभाविक था।

4, बंगाल में अंग्रेजों की घुसपैठ

अंग्रेजों ने कर्नाटक प्रदेश में अपना पैर पहले जमाया था, परन्तु अपने राज्य की नींव उन्होंने बंगाल में रखी। पिछले पृष्ठों में हम इस बात की चर्चा कर आये हैं कि औरंगजेब की मृत्यु के बाद शुजाउद्दीन ने बंगाल, बिहार और उड़ीसा के तीनों सूबों पर अपना अधिकार जमा लिया था और नाम मात्र के लिए मुगल सम्राट की अधीनता में था। उसके उत्तराधिकारी सरफराज खां को 1740 ई० में मारकर अलीवर्दी खां बंगाल का नवाब बन बैठा। नवाब बनते ही उसे मराठों के आक्रमण का सामना करना पड़ा और अन्त में उसने उड़ीसा का प्रान्त तथा 12 लाख रुपया वार्षिक देने का वचन देकर मराठों से अपना पिण्ड छुड़ाया।

अलीवर्दी खां एक योग्य शासक सिद्ध हुआ। उसने अपने सूबों में स्थित यूरोपीय जातियों की व्यापारिक बस्तियों पर कड़ी निगाह रखी। वह इन लोगों की महत्वाकांक्षाओं से भली-भांति परिचित था। इसलिए उसने उन्हें बस्तियों की किलेबन्दी करने की स्वीकृति नहीं दी। उसका कहना था कि तुम लोग व्यापारी हो, किलेबन्दी से तुम्हें क्या लेना-देना ? तुम लोगों की सुरक्षा का दायित्व मेरा है। 1748 ई० में जब अंग्रेजों ने उसके प्रति दुर्व्यवहार का परिचय दिया तो उसने अंग्रेजों के साथ कठोरता का व्यवहार किया और उनसे 1,50,000 रु० जुर्माने के वसूल किये। तभी से अंग्रेजों ने उसके वंश को नष्ट करने का निश्चय कर लिया था और अवसर की प्रतीक्षा करने लगे।

1756 ई० में अलीवर्दीखां की मृत्यु हो गई। उसके कोई पुत्र न था। केवल तीन पुत्रियां थीं जिनका विवाह उसने ढाका, पूर्णिया और पटना के अपने गवर्नरों से कर दिया था। संयोगवश, उसके तीनों दामाद उसके जीवन काल में ही मर गये थे। अपनी मृत्यु के पूर्व अलीवर्दीखां अपनी सबसे छोटी पुत्री के पुत्र सिराजुद्दौला को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर गया। नवाब बनते ही सिराजुद्दौला का अंग्रेजों के साथ झगड़ा शुरू हो गया।

झगड़े का मूल कारण अंग्रेजों द्वारा बंगाल की राजनीति में घुसपैठ करना था। अलीवर्दीखां की दूसरी पुत्री के लड़के शौकतजंग जो पूर्णिया का गवर्नर भी था और अलीवर्दी खां की बड़ी पुत्री घसीटी बेगम को सिराजुद्दौला का चुनाव पसन्द नहीं आया। नवाब के सेनापति मीरजाफर जो कि अलीवर्दी खां का बहनोई था, को भी यह चुनाव पसन्द नहीं आया। सत्य तो यह है कि इन लोगों ने अलीवर्दी खां के जीवन काल में ही सिराजुद्दौला के विरुद्ध षड्यन्त्र शुरू कर दिये थे और अंग्रेजों ने उन्हें पूरा-पूरा सहयोग भी दिया था।


सिराजुद्दौला

दूसरा कारण यह था कि अंग्रेजों ने नये नवाब के प्रति सम्मान प्रदर्शित नहीं किया। नियमानुसार नवाब के राज्याभिषेक के अवसर पर अंग्रेजों को नये नवाब को शुभकामनाएँ तथा भेंट-उपहार भेजने चाहिए थे, परन्तु उन्होंने ऐसा कुछ भी नहीं किया। कासिम बाजार की फैक्ट्री देखने की इच्छा प्रकट की तो उन्होंने नवाब को फैक्ट्री दिखाने से इन्कार कर दिया। इससे नवाब के सम्मान को काफी ठेस लगी।

सिराजुद्दौला के विरुद्ध षड्यन्त्र करने वालों में घसीटी बेगम का दीवान राघाबल्लभ भी था। उसने घसीटी बेगम का सम्पूर्ण धन भी छिपा रखा था। सिराजुद्दौला के नवाब बनते ही उसने सम्पूर्ण परिवार तथा धन सम्पत्ति को अपने लड़के कृष्णबल्लभ के साथ अंग्रेजों की शरण में भेज दिया। सिराजुद्दौला ने अंग्रेजों से कृष्णबल्लभ को माँगा तो अंग्रेजों ने साफ मना कर दिया। इससे नवाब को विश्वास हो गया कि अंग्रेज उसके विरोधियों को संरक्षण देते हैं और उनसे मिले हुए हैं।

एक अन्य कारण अंग्रेज कम्पनी की बेईमानी थी। सन् 1717 ई० में मुगल सम्राट ने अंग्रेजों को बिना चुंगी दिए बंगाल में व्यापार करने की सुविधा प्रदान कर दी थी। परन्तु अंग्रेजों ने इस सुविधा का दुरुपयोग करना शुरू कर दिया। वे अपने 'दस्तक' (फ्रीपास) का प्रयोग भारतीय व्यापारियों को करने देते थे जिससे अंग्रेजों के नाम से भारतीय व्यापारी भी अनेक व्यापारिक सामान को कर मुक्त करा लिया करते थे। इससे बंगाल की सरकार को भारी नुकसान उठाना पड़ा। इससे नवाब का नाराज होना स्वाभाविक ही था।

अन्तिम कारण, यूरोपीय लोगों द्वारा अपनी बस्तियों की किलेबन्दी करना था। नवाब ने अंग्रेजों और फ्रांसीसियों दोनों को आदेश भिजवाया कि वे किलेबन्दी का काम बन्द कर दें। फ्रांसीसियों ने तो उसके आदेश का पालन कर लिया परन्तु अंग्रेजों ने ठुकरा दिया। इस प्रकार, सिराजुद्दौला और अंग्रेजों के बीच झगड़ा प्रारम्भ हो गया। फिर भी, कई अंग्रेज इतिहासकारों ने सिराजुद्दौला की विलासिता, क्रूरता और शासन में अत्याचारों को झगड़े का मूल कारण बतलाया है जो मत सर्वमान्य नहीं है।

जून, 1756 ई० में सिराजुद्दौला ने अंग्रेजों की कासिम बाजार की फैक्ट्री पर अधिकार कर लिया और फिर कलकत्ता पर आक्रमण किया। अंग्रेज गवर्नर ड्रेक और अधिकांश अधिकारी वहां से भाग खड़े हुए और फूल्टा द्वीप में जाकर शरण ली। कलकत्ता की रक्षा का भार हॉलवेल ने सम्भाला। 20 जून को नवाब ने कलकत्ता पर अधिकार कर लिया। यहाँ पर काल-कोठरी (ब्लैक हॉल) की दुर्घटना हुई बताते हैं। कुछ अंग्रेज इतिहासकारों के अनुसार पकड़े गये 146 अंग्रेज बन्दियों को एक अन्धेरी कोठरी में रात भर के लिए बन्द कर दिया गया। जून की गर्मी थी। सुबह केवल 23 लोग जीवित पाये गये। शेष मर चुके थे। परन्तु आधुनिक शोध कार्य ने जिनमें से डॉ० भोलानाथ का कार्य मुख्य है, यह सिद्ध कर दिया है कि इस प्रकार की दुर्घटना कभी घटित ही नहीं हुई। यह कपोल कल्पित कहानी है। नवाब को बदनाम करने तथा उसके विरुद्ध किए गए विश्वासघातक कार्यों पर पर्दा डालने का प्रयत्न मात्र है।

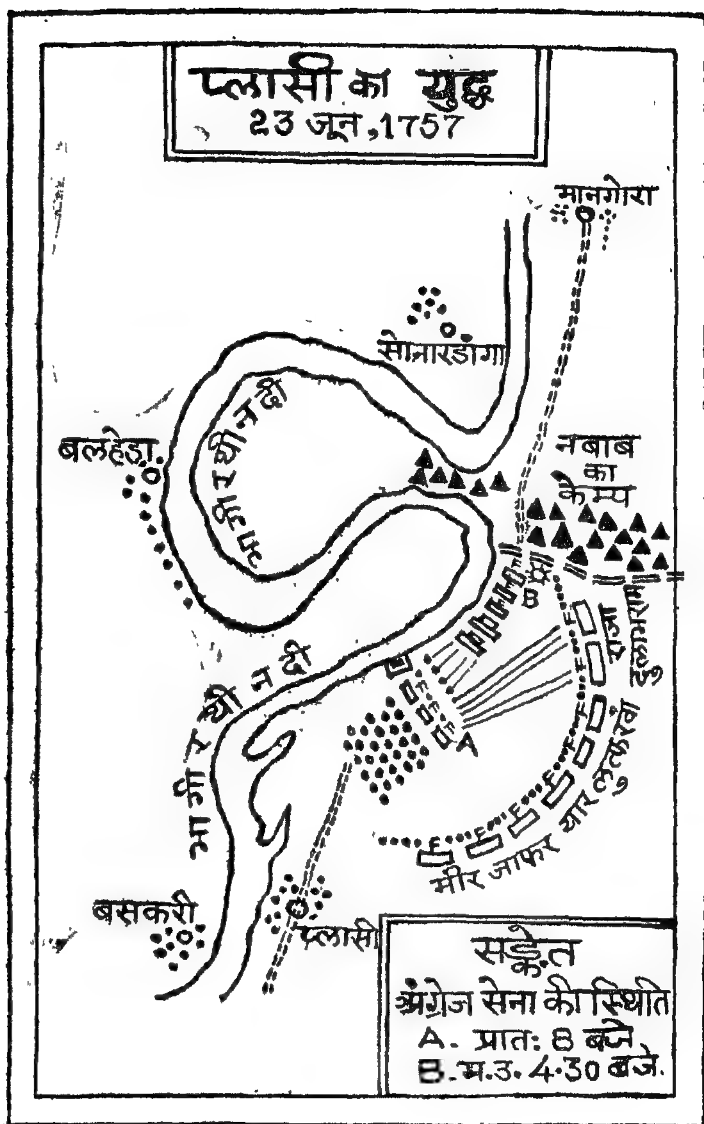
बंगाल की घटनाओं से मद्रास के अंग्रेजों को काफी गुस्सा आया और उन्होंने उसका बदला लेने का निश्चय किया। क्लाइव के नेतृत्व में एक शक्तिशाली सेना

स्थल मार्ग से भेजी गई और उसकी सहायता के लिए एडमिरल वाटसन को एक शक्तिशाली जल-बेड़े के साथ समुद्री मार्ग से भेजा गया। 2 जनवरी, 1757 ई. को अंग्रेजों ने कलकत्ता पर पुनः अधिकार कर लिया। नवाब एक बड़ी सेना के साथ कलकत्ता की तरफ आया परन्तु मामूली युद्ध के बाद उसने अंग्रेजों के साथ अलीनगर की सन्धि कर ली। सन्धि के अनुसार मुगल सम्राट द्वारा अंग्रेजों को दी गई व्यापारिक सुविधाओं को स्वीकार कर लिया, नवाब ने अंग्रेजों से छीनी हुई सभी वस्तुओं को वापस लौटाने तथा अंग्रेजों की हुई हानि का मुआवजा देने का वचन अंग्रेजों को दिया। कलकत्ता की किलेबन्दी करने तथा अपने सिक्के ढालने की स्वीकृति भी प्रदान की।

वस्तुतः अलीनगर की सन्धि, दोनों पक्षों ने अपनी-अपनी कुछ विशेष परिस्थितियों से विवश होकर की थी और इस सन्धि का पालन करने की इच्छा दोनों में से किसी पक्ष की नहीं थी। यूरोप में सप्तवर्षीय युद्ध शुरू हो गया था और अंग्रेजों को आशंका थी कि कहीं नवाब और फ्रांसीसी आपस में मिल गये तो अंग्रेज कम्पनी को बहुत बड़े संकट का सामना करना पड़ेगा। क्लाइव और वाटसन के सम्बन्ध भी अच्छे न थे। अतः क्लाइव ने सम्मानजनक सन्धि को स्वीकार कर लेना ही ठीक समझा। जहाँ तक सिराजुद्दौला का सवाल है, उसके अधिकांश सरदार इस समय अंग्रेजों से सन्धि कर लेने के पक्ष में थे क्योंकि दिल्ली की राजनीति गिरगिट की भांति रंग बदल रही थी। अब्दाली दिल्ली तक आ चुका था और बंगाल के नवाब को चिन्ता थी कि कहीं वह बंगाल की तरफ न आ धमके। इसलिये उसने भी सन्धि कर लेना उचित समझा।

अलीनगर की सन्धि से अंग्रेजों का आत्म-विश्वास बढ़ गया। उन्हें बंगाल के नवाब की कमजोरी का पता चल गया। इसी बीच 'सप्तवर्षीय युद्ध' के कारण भारत में अंग्रेजों और फ्रांसीसियों के मध्य भी संघर्ष शुरू हो चुका था। अंग्रेजों ने फ्रांसीसियों की बस्ती चन्द्रनगर पर आक्रमण कर दिया। सिराजुद्दौला ने उन्हें युद्ध बन्द करने का आदेश भिजवाया, परन्तु अब अंग्रेजों को नवाब का कोई भय न था। चन्द्रनगर के समीप ही नवाब के फौजदार नन्दकुमार की सेना पड़ी हुई थी, परन्तु नन्दकुमार ने फ्रांसीसियों को सहायता नहीं दी और अंग्रेजों ने चन्द्रनगर पर अधिकार जमा लिया।

प्लासी का युद्ध (1757 ई०)—अब अंग्रेजों ने सिराजुद्दौला को हटाने की तरफ ध्यान दिया। देश में देश-द्रोहियों की कमी नहीं थी और संयोगवश बंगाल के कुछ प्रमुख लोग जो किसी न किसी कारण से नवाब से असन्तुष्ट थे, नवाब को हटाने का षड्यन्त्र रचने में लगे हुए थे इनमें सर्वप्रथम मीरजाफर था, जिसे नवाब ने 'मीरबख्शी' के पद से हटा दिया था। दूसरा बंगाल का प्रसिद्ध धनिक व्यापारी जगत सेठ था जिसका नवाब ने अपमान किया था। तीसरा एक अन्य सेठ अमीचन्द था। जब अंग्रेजों को इन षड्यन्त्रकारियों ने साथ देने को कहा तो उन्होंने इसे उत्साह से स्वीकार कर लिया। इसके बाद एक अन्य सेनापति राय दुलर्भ को भी



षड्यन्त्रकारियों ने अपने पक्ष में मिला लिया। जून 1757 ई० में षड्यन्त्रकारियों में एक सन्धि हो गई। उस समय अमीचन्द ने 50 लाख रुपया तथा नवाब के खजाने का 5 प्रतिशत भाग मांगा और न देने पर षड्यन्त्र का भण्डा फोड़ करने की धमकी दी। तब क्लाइव ने अमीचन्द के लिए अलग से एक जाली सन्धि-पत्र तैयार करवाया और उसे सन्तुष्ट कर दिया गया। शायद नवाब को अंग्रेजों के षड्यन्त्र की भनक

पड़ गई थी। फिर भी उसने परिस्थिति की गम्भीरता को भांपने का प्रयत्न नहीं किया। उसने साहस और दूरदर्शिता से काम लेते हुए षड्यन्त्रकारियों के विरुद्ध कोई कदम नहीं उठाया। उल्टे फ्रांसीसियों को अपने दरबार से निकाल दिया। मीरजाफर से अनुनय-विनय की और उसे अपने पक्ष में बनाये रखने की चेष्टा की। मीरजाफर ने उसे अपनी स्वामीभक्ति का पूरा-पूरा आश्वासन दिया और सिराजुद्दौला उस पर भरोसा रखकर अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध की तैयारियाँ करने लगा।

षडयन्त्र की पूरी तैयारी हो जाने के बाद क्लाइव ने नवाब को एक पत्र लिखा जिसमें उस पर अलीनगर की सन्धि की शर्तो का पालन नहीं करने का आरोप लगाया गया था। नवाब के उत्तर की प्रतीक्षा न करके अंग्रेजों ने क्लाइव को सेना सहित नवाब की राजधानी मुर्शिदाबाद की तरफ भेज दिया। इस पर नवाब भी अपनी सेना सहित राजधानी से चल पड़ा और प्लासी के मैदान में आ डटा। 23 जून, 1757 ई. को नवाब और क्लाइव की सेना में युद्ध हुआ। इस अवसर पर नवाब के चार सेनानायकों—मीरजाफर, यार लुत्फखाँ, रायदुर्लभ और मीर मुईनुद्दीन में से केवल एक (मीर मुईनुद्दीन) ने आगे बढ़कर अंग्रेजी सेना का सामना किया। बाकी तीनों सेनानायक अपने सैनिक दस्तों के साथ दर्शकों की भाँति तमाशा देखते रहे क्योंकि वे सभी अंग्रेजों से मिले हुए थे। मीर मुईनुद्दीन के मरते ही सिराजुद्दौला युद्ध मैदान से भाग खड़ा हुआ, परन्तु वह पकड़ा गया और अन्त में मीरजाफर के लड़के मीरन के आदेश से उसका बध कर दिया गया। इस प्रकार प्लासी का युद्ध समाप्त हुआ।


मीरजाफर

युद्ध समाप्ति के बाद अंग्रेजों ने राजधानी मुर्शिदाबाद में मीरजाफर को नया सूबेदार घोषित कर दिया। क्लाइव को पुरस्कार के रूप में 2,34,000 पौण्ड, वाटसन को 80,000 पौण्ड, गवर्नर ड्रेक को 31,500 पौण्ड और दूसरे लोगों को भी योग्यतानुसार धन दिया गया। अमीचन्द को कुछ नहीं मिला। कम्पनी को चौबीस परगनों (कलकत्ता के दक्षिण का भू-क्षेत्र जो 880 वर्गमील था) की जागीर दी गई जिसकी वार्षिक आय लगभग 1,50,000 पौण्ड थी। यह विश्वास किया जाता है कि अंग्रेजों को पुरस्कार देने के लिए मीरजाफर को राजमहलों के सोने-चांदी के बर्तन तक बेचने पड़े थे। बंगाल, बिहार और उड़ीसा

की सीमाओं में कम्पनी को पूर्ण व्यापारिक स्वतन्त्रा दे दी गयी जिससे उसका व्यापार काफी उन्नत हो गया।

युद्ध का महत्व और परिणाम—सैनिक दृष्टि से प्लासी के युद्ध का कोई विशेष महत्व नहीं है। अंग्रेजों के केवल 65 व्यक्ति मारे गये और नवाब के लगभग 500 सैनिक। नवाब की हार के कारण उसकी सैनिक दुर्बलता नहीं बल्कि उसके सेनानायकों का विश्वासघात और क्लाइव की कूटनीति तथा षड्यन्त्र था। के. एम. पणिक्कर ने ठीक ही लिखा है। कि "प्लासी एक ऐसा व्यापार था जिसमें बंगाल के धनवान सेठों और मीरजाफर ने नवाब को अंग्रेजों को बेच दिया।"

परन्तु राजनीतिक, आर्थिक और नैतिक दृष्टि से इस युद्ध का विशेष महत्व है और इसलिए भारतीय इतिहास में इसे निर्णायक युद्धों में गिना जाता है। राजनीतिक दृष्टि से प्लासी का युद्ध एक मोड़-बिन्दु सिद्ध हुआ है। इसके परिणाम स्वरूप भारत में न केवल अंग्रेजों का प्रभाव ही बढ़ा अपितु अंग्रेजी साम्राज्य की नींव भी पड़ गई। युद्ध ने अंग्रेजों को व्यापारियों से 'नवाब निर्माता' बना दिया। चूँकि मीरजाफर उन्हीं की सहायता से नवाब बना था और उन्हीं के सहयोग से वह इस पद पर टिका रह सकता था। इस दृष्टि से बंगाल की शासन व्यवस्था पर अंग्रेजों का नियन्त्रण कायम हो गया। मीरजाफर की दयनीय स्थिति का पता इसी बात से चल जाता है कि वह अपने दीवान राय दुर्लभ और बिहार के सहायक दीवान रामनारायण को चाहते हुए भी किसी प्रकार का दण्ड न दे सका क्योंकि उन दोनों को अंग्रेजों का संरक्षण प्राप्त था। अंग्रेजों का नियन्त्रण इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि मीरजाफर को पदच्युत करने के लिए उन्हें रक्त की एक बूँद भी नहीं बहानी पड़ी। मैलीसन ने लिखा है कि "इतना तुरन्त, स्थायी और प्रभावशाली परिणामों वाला कोई युद्ध नहीं हुआ।"

सैनिक दृष्टि से भी यह बहुत महत्वपूर्ण है। दक्षिण भारत में मराठों तथा निजाम की उपस्थिति के कारण भारत में अंग्रेजी साम्राज्य की स्थापना करना काफी असाध्य काम था। परन्तु बंगाल को आधार बना कर भारत में अंग्रेजी राज्य का विस्तार करना सरल काम था। समुद्र तट होने से अंग्रेजों के लिए बंगाल में सेनाएँ लाना भी आसान था। प्लासी के युद्ध ने पुनः यह सिद्ध कर दिया कि भारतीय युद्ध पद्धति और तोपखाने की तुलना में यूरोपीय रण-कौशल तथा तोपखाना अधिक श्रेष्ठ है।

आर्थिक दृष्टि से भी प्लासी के युद्ध के महत्वपूर्ण परिणाम निकले। बंगाल का समृद्धशाली प्रान्त अंग्रेजों के नियन्त्रण मे चला गया। इससे उनके साधनों की काफी वृद्धि हुई। कम्पनी की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ हो गई जिससे उसके लिए अपने प्रतिद्वन्द्वियों को मार्ग से हटाना सरल हो गया। परन्तु इससे भी महत्वपूर्ण परिणाम यह निकला कि अब बंगाल की जनता लूट-खसोट तथा आर्थिक शोषण का शिकार बन गई और थोड़े वर्षों बाद ही बंगाल एक निर्बल प्रान्त हो गया।

इस प्रकार प्लासी का युद्ध महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ। फिर भी, इस युद्ध से यह निश्चय नहीं हो गया था कि भारत के भावी शासक अंग्रेज ही होंगे। इस प्रकार की स्थिति के स्पष्ट होने में अभी काफी समय था।

अभ्यास के लिए प्रश्न

1. भारत में यूरोपीय बस्तियों के उत्कर्ष के लिए भारत की तत्कालीन स्थिति कहाँ तक उत्तरदायी थी ?
2. कर्नाटक के युद्धों के कारण और परिणाम बताइये।
3. भारत में अंग्रेजों और फ्रांसीसियों के संघर्ष में फ्रांसीसियों की असफलता के मुख्य कारण बताइये।
4. बंगाल में अंग्रेजों को अपना नियन्त्रण स्थापित करने में कैसे सफलता मिल गई ? समझाइये।

अपने अध्ययन की जांच कीजिए

1. सही उत्तर का क्रमांक कोष्ठक में लिखिए—

1. मराठों को दक्षिण के सूबों से चौथ और सरदेशमुखी वसूल करने के अधिकार का आश्वासन किसने दिया था ?
   (क) सवाई जयसिंह (ख) फर्रुखसियर
   (ग) सैय्यद बन्धु (घ) निजाम-उल-मुल्क ( )
2. शाहजहाँ का रत्नजड़ित 'तख्तेताऊस' कौन ले गया था ?
   (क) अहमदशाह अब्दाली (ख) इमाद-उल-मुल्क
   (ग) नादिरशाह (घ) सआदत खाँ ( )
3. भारत में पुर्तगाली बस्तियों का पहला गवर्नर कौन था ?
   (क) वास्को-डी-गामा (ख) केब्राल
   (ग) आल्मोडा (घ) अलबुकर्क ( )
4. भारत में फ्रांसीसियों के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण केन्द्र का नाम क्या था ?
   (क) पाण्डिचेरी (ख) चन्द्रनगर
   (ग) मछलीपट्टम (घ) माही ( )
5. 'काल-कोठरी' की तथाकथित दुर्घटना किस नगर में घटित हुई थी ?
   (क) पटना (ख) कलकत्ता
   (ग) कासिम बाजार (घ) मुर्शिदाबाद ( )

2. केवल एक-एक पंक्ति में उत्तर दीजिए —

1. अवध में स्वतन्त्र राज्य की नींव रखने वाला कौन था ?
2. पुर्तगालियों को कोचीन बन्दरगाह में पैर जमाने का अवसर कैसे मिला ?
3. डचों ने भारत में राजनीतिक प्रभाव बढ़ाने का प्रयत्न क्यों नहीं मिला ?
4. बम्बई का बन्दरगाह अंग्रेजों की कम्पनी को किस प्रकार मिला ?
5. सेण्ट थोमी के युद्ध का क्या महत्त्व है ?

3. पाँच-सात पंक्तियों में उत्तर दीजिये—

1. अहमदशाह अब्दाली को भारत पर आक्रमण करने के लिए किसने आमंत्रित किया था ?
2. भारतीय संस्कृति की पुर्तगालियों की देन का उल्लेख कीजिये ।
3. कर्नाटक के प्रथम युद्ध के क्या परिणाम निकले ?
4. डूप्ले की असफलता के मुख्य कारण क्या थे ?
5. अलीनगर की सन्धि क्यों की गई थी ?

4. भारत के मानचित्र में प्रारम्भिक यूरोपीय बस्तियों की भौगोलिक स्थिति बताइये ।

पूरक अध्ययन के लिए प्रश्न

1. पी. राबर्ट्स : ब्रिटिशकालीन भारत का इतिहास ।
2. एस. आर. शर्मा : आधुनिक भारत का निर्माण ।
3. जी. एस. छाबड़ा : एडवान्स स्टेडी इन दी हिस्ट्री ऑफ मार्डन इण्डिया, भाग 1
4. शर्मा व्यास : आधुनिक भारत ।

---

9. भारत में अंग्रेजी शक्ति का विकास

1. अठारवीं सदी के उत्तरार्द्ध की अस्त-व्यस्त स्थिति

अठाहरवीं सदी के पूर्वार्द्ध की स्थिति का अध्ययन हम पिछले अध्याय में कर चुके हैं । इस सदी के उत्तरार्द्ध का भारतीय इतिहास इतनी अधिक घटनाओं से परिपूर्ण है कि उसका वर्णन करना सम्भव नहीं। संक्षेप में, इतना ही कहा जा सकता है कि भारत इस समय अस्त-व्यस्त स्थिति से गुजर रहा था । मुगलों की केन्द्रीय सत्ता का अन्त हो चुका था । पानीपत की पराजय से मराठे सम्हल गये थे, परन्तु पेशवा माधवराव प्रथम की मृत्यु के बाद मराठा सरदारों पर पेशवा का नियन्त्रण समाप्त हो गया और उनमें कईयों ने अपने स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना की । दक्षिण भारत में यूरोपीय जातियों में से केवल अंग्रेज ही भारतीय नरेशों को चुनौती देने की स्थिति में रह गये थे । कर्नाटक और हैदराबाद पर उनका नियंत्रण कायम हो चुका था । प्लासी के युद्ध से बंगाल भी उनके प्रभाव में आ गया । बक्सर के युद्ध (1764) ने न केवल बंगाल पर ही अपितु अवध सहित सम्पूर्ण पूर्वी भारत पर

उनके अधिकार को पुष्ट बना दिया था। परन्तु अभी उनको मैसूर के हैदर तथा टीपू से और मराठा सरदारों से निपटना बाकी था पंजाब में सिक्खों से अपने स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिये थे। राजस्थान के राजपूत शासक अपने ही सामंतों तथा मराठों से परेशान थे और विदेशी सहायता प्राप्त करने की ताक में थे। इस प्रकार देश की राजनीतिक एकता छिन्न-भिन्न हो गई थी और विभिन्न भागों में स्थित विविध शक्तियां एक-दूसरे से लड़कर अपने को कमजोर बनाने तथा अंग्रेजों की शक्ति के विस्तार का मार्ग प्रशस्त करने में लगी हुई थी।

इस प्रकार की अस्त-व्यस्त स्थिति का लाभ उठाकर अंग्रेजों ने जिस राज्य की स्थापना की वह आगे चलकर, 'भारत का ब्रिटिश साम्राज्य' कहलाया। इस नये राज्य की एक विशेष बात तो यह थी कि इसके संस्थापकों ने भारत के अन्य विजेताओं की भांति उत्तर-पश्चिम के मार्ग से आक्रमण नहीं किया था, अपितु समुद्र की तरफ से आकर भारत में बस गये थे। दूसरी बात वे आक्रमणकारी के रूप में नहीं आये थे, व्यापार करने आये थे। परन्तु अनुकूल परिस्थितियों का लाभ उठाकर शासन करने को ठहर गये। तीसरी बात इस राज्य की स्थापना किसी एक व्यक्ति अथवा राजवंश का काम नहीं था, अपितु एक व्यापारिक कम्पनी के अधिकारियों एवं कर्मचारियों के सामूहिक परिश्रम का परिणाम था। इसलिए कम्पनी के बड़े से बड़े अधिकारी के लिए भी भारत में स्थायी तौर पर बसने का सवाल नहीं था। अतः उनमें से किसी ने भी भारत को अपना घर नहीं समझा बल्कि लूट और शोषण का साधन समझा। उन्हें यहां के लोगों के कल्याण की चिन्ता नहीं थी। चिन्ता थी तो केवल कम्पनी तथा अपने हितों की।

2. बंगाल, बिहार और उड़ीसा पर प्रभुत्व स्थापित होना

अंग्रेजों की सहायता से बंगाल का नवाब बनने वाला मीरजाफर एक वृद्ध, सरल और साहसहीन व्यक्ति था। वह न तो अंग्रेजों का विरोध करने की स्थिति में था और न ही अपने पैरों पर खड़ा होने की स्थिति में। न वह शासन-व्यवस्था को संभाल पाया और न अंग्रेजों की बढ़ती हुई लालसाओं को सन्तुष्ट कर पाया। यही कारण है कि उसे आगे चलकर नवाबी का त्याग करना पड़ा।

कर्नाटक और बंगाल में क्लाइव की सेवाओं से प्रसन्न होकर कम्पनी ने उसे बंगाल का गवर्नर बना दिया। 1750-60 की अवधि में वह इसी पद पर काम करता रहा। इस अवधि में उसने अंग्रेजों के प्रतिद्वन्द्वी डचों को विदेरा के निर्णायक युद्ध में पराजित करके भारत में अंग्रेजों का मार्ग निष्कंटक बना दिया। इसीलिए कुछ लोग इसे अंग्रेजी सत्ता को बंगाल में स्थापित करने में प्लासी के युद्ध से अगला कदम मानते हैं। 25 फरवरी 1760 के दिन क्लाइव इंगलैंड के लिए रवाना हो गया और उसके स्थान पर हॉलवैल को बंगाल का कार्यवाहक गवर्नर नियुक्त किया गया।

मीरकासिम का नवाब बनना—हॉलवैल ने भी क्लाइव की भांति नवाब के थैले से धन प्राप्त करने की बात सोची। परन्तु मीरजाफर का थैला खाली हो चुका

था। उसके पास कम्पनी के अधिकारियों की सेवा में देने के लिए कुछ भी नहीं था। अतः हॉलवेल और कुछ अन्य अंग्रेज अधिकारियों ने मिलकर किसी ऐसे व्यक्ति को नवाब बनाने का निश्चय किया जो उन्हें इनाम के रूप में काफी धन दे सके। संयोगवश, उन्हें ऐसा व्यक्ति भी मिल गया। वह था, मीरजाफर का दामाद मीरकासिम। उसने एक गुप्त संधि के द्वारा अंग्रेजों को बर्दवान, मिदनापुर और चटगाँव के जिले देने और कम्पनी का बकाया हिसाब चुकाने का वचन दिया। इसके अलावा उसने हॉलवेल तथा बंगाल की अंग्रेज कौंसिल के अध्यक्ष बेनिस्टार्ट और उबके साथियों को भी काफी धन देने का वचन दिया। इसके बाद हॉलवेल ने मीर जाफर पर अंग्रेजों के विरुद्ध डचों से मिलकर षड़यन्त्र रखने का झूँठा आरोप लगाया और अंग्रेज कौंसिल ने नवाब को बदलने की आवश्यकता पर प्रकाश डाला। अन्त में मीरजाफर को गद्दी छोड़ने के लिए कहा गया। विवश मीरजाफर ने नवाब की गद्दी छोड़ दी और कलकत्ता चला गया। मीरकासिम को नया नवाब घोषित कर दिया गया यह घटना 1760 ई. की है। मीरकासिम से बेनिस्टार्ट को 50,000 पौंड, हॉलवेल को 27,000 पोण्ड तथा अंग्रेज कौंसिल के अन्य सदस्यों को भी काफी धन प्राप्त हुआ। अंग्रेज कम्पनी को बर्दवान, मिदनापुर और चटगाँव के जिले भी दे दिये गये और बकाया हिसाब भी चुका दिया गया। इस प्रकार बंगाल की दूसरी क्रान्ति से सभी खुश थे।

मीरकासिम एक सुयोग्य शासक था। उसने शुरू से ही यह समझ लिया था कि बंगाल की शासन-व्यवस्था में सुधार किये बिना आर्थिक संकट से मुक्ति नहीं मिल पायेगी। अतः उसने अपने दरबार का खर्चा कम कर दिया। भ्रष्टाचार को मिटाने की कोशिश की और भ्रष्ट अधिकारियों की सम्पत्ति जब्त करली गई। धनवान लोगों से बलपूर्वक धन वसूल करके उसने आर्थिक संकट को टालने का प्रयत्न किया। उपद्रवी जमींदारों का दमन किया गया। मीरकासिम ने अपनी सेना को भी पुनर्गठित किया। सैनिकों को यूरोपीय ढंग का प्रशिक्षण दिया गया और आधुनिक अस्त्र-शस्त्रों से सज्जित किया गया। अंग्रेजों के दैनिक हस्तक्षेप से बचने की दृष्टि से उसने अपनी राजधानी को मुर्शिदाबाद से हटाकर मुंगेर कर दी। परन्तु कम्पनी के अंग्रेज अधिकारियों को मीरकासिम की शासन-व्यवस्था से शीघ्र ही असन्तोष हो गया क्योंकि मीरकासिम ने अंग्रेजों की अनुचित हरकतों को रोकने तथा कम्पनी के कर्मचारियों के व्यक्तिगत देशी व्यापार को नियन्त्रित करने का प्रयत्न शुरू कर दिया था। यह बात अंग्रेज कर्मचारी कैसे सहन कर सकते थे क्योंकि लगभग सभी अंग्रेज कर्मचारी धन कमाना चाहते थे और धन कमाने का एकमात्र साधन व्यापार ही था। इसके लिए उन्होंने जो अनैतिक साधन अपनाये उनका उल्लेख करना उपयुक्त होगा।

1717 ई. में मुगल सम्राट फर्रुखसियर ने अपने एक फरमान द्वारा अंग्रेज कम्पनी को निशुल्क सामुद्रिक व्यापार करने की सुविधा प्रदान की थी। इसका अभिप्राय विदेशी व्यापार को मुक्त करना था। प्रांतीय व्यापार के लिए अंग्रेज कम्पनी करों के मामलों में कोई छूट नहीं दी गई थी। लेकिन कम्पनी के कर्म-

चारियों ने देश की अव्यवस्थित दशा का लाभ उठाकर उस सुविधा का उपयोग अपने निजी व्यापार के लिए भी करना शुरू कर दिया। इसके अलावा उन्होंने बंगाली व्यापारियों से कुछ कमीशन लेकर उनके व्यापारिक सामान को भी कम्पनी का सामान बताकर इधर से उधर लाना, ले जाना शुरू कर दिया था। अंग्रेज कर्मचारियों की इन हरकतों से एक तरफ तो बंगाल की सरकार को भारी आर्थिक हानि उठानी पड़ रही थी और दूसरी तरफ अधिकांश बंगाली व्यापारियों को धक्का लग रहा था क्योंकि वे अंग्रेजों की भाँति निःशुल्क व्यापार नहीं कर सकते थे। मीरकासिम ने शुरू में आपसी बातचीत के द्वारा अंग्रेज कर्मचारियों की इन हरकतों को रोकने का प्रयत्न किया, परन्तु उसे सफलता नहीं मिली। इस पर उसने बंगाली व्यापारियों को भी निःशुल्क व्यापार करने की छूट दे दी। इससे अंग्रेज क्रोधित हो उठे। क्योंकि इससे अंग्रेजों का न केवल विशेषाधिकार ही जाता रहा बल्कि वे भारतीय व्यापारियों के समान स्तर पर आ गये और अब उनके लिए भारतीय व्यापारियों से कमीशन कमाने का मार्ग बन्द हो गया। अतः उन्होंने मीरकासिम को हटाने का निश्चय किया।

बक्सर का युद्ध (1764 ई.)—अंग्रेजों और मीरकासिम के मध्य संघर्ष का मूल कारण बंगाल की वास्तविक सत्ता का उपयोग और मीरकासिम की व्यापारिक नीति था। झगड़े की शुरूआत अंग्रेजों की तरफ से हुई जबकि उन्होंने अचानक पटना नगर पर अपना अधिकार जमा लिया। मीरकासिम की सेना ने पटना से तो अंग्रेजों को मार भगाया, परन्तु बाद में उसे अंग्रेजों के हाथों अनेक स्थानों पर परास्त होना पड़ा और मीरकासिम को भागकर अवध के नवाब शुजाउद्दौला की शरण लेनी पड़ी।

शुजाउद्दौला तत्कालीन उत्तरी भारत का सर्वाधिक शक्तिशाली शासक था। 1761 ई. में पानीपत के तीसरे युद्ध के अवसर पर अब्दाली और मराठे दोनों ही उसके सहयोग के आकांक्षी रहे थे। शुजा का सहयोग न मिलने से ही मराठों को पराजय का मुँह देखना पड़ा था। शुजा के पास एक शक्तिशाली सेना और उच्चकोटि का तोपखाना था। मीरकासिम और शुजा में दोस्ती नहीं थी। फिर भी उसने मीरकासिम को सहायता का आश्वासन दिया क्योंकि वह बिहार प्रदेश को अपने राज्य में मिलाना चाहता था। संयोगवश दिल्ली का नाम मात्र का मुगल सम्राट शाहआलम भी उस समय अवध में ही निर्वासित अवस्था में जीवन बिता रहा था। उसने भी मीरकासिम का पक्ष लिया। परन्तु सही अर्थों में यह संघर्ष नवाब शुजाउद्दौला और अंग्रेजों के मध्य होना था, क्योंकि मीरकासिम और शाह-आलम को सैन्यशक्ति का अभाव था।

23 अक्तूबर, 1764 ई. का बक्सर के मैदान पर शुजा अंग्रेजों के मध्य घमासान युद्ध हुआ। अंग्रेजी सेना का नेतृत्व मेजर हेक्टर मुनरो कर रहा था। शुजा के सैनिकों ने वीरता के साथ अंग्रेजी सेना का सामना किया, परन्तु अंग्रेजों के तोपखाने की अचूक निशानेबाजी के सामने उनको परास्त होना पड़ा। पराजित शुजाउद्दौला रुहेलखण्ड की तरफ भाग गया। मुगल सम्राट शाहआलम अंग्रेजों

की शरण में चला गया और मीरकासिम ने भाग कर अपनी जान बचाई। बक्सर की विजय के बाद अंग्रेजी सेना अवध की ओर बढ़ी। शुजाउद्दौला ने अंग्रेजों को अवध से बाहर निकालने का काफी प्रयत्न किया, परन्तु उसे सफलता नहीं मिली और अन्त में 1765 ई. में उसने अंग्रेजों के समक्ष आत्म-समर्पण कर दिया।

आधुनिक भारतीय इतिहास में बक्सर के युद्ध का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके परिणाम निर्णायक सिद्ध हुए। ब्रूम ने सही लिखा है कि "बक्सर का युद्ध जिस पर भारत का भाग्य निर्भर था और जितनी बहादुरी से लड़ा गया, परिणामों की दृष्टि से भी उतना ही महत्त्वपूर्ण था।" इसके परिणामस्वरूप भारत में अंग्रेजी राज्य की नींव मजबूत हो गई। बंगाल और बिहार पर अंग्रेजों का पूर्ण नियन्त्रण कायम हो गया। उत्तरी भारत का सर्वाधिक शक्तिशाली शासक अवध का नवाब शुजाउद्दौला जो मुगल साम्राज्य का वजीर भी था, अंग्रेजों की दया पर निर्भर हो गया। स्वयं मुगल सम्राट शाहआलम अंग्रेजों का पेन्शनर बन गया। इस युद्ध ने अन्तिम रूप से यह स्पष्ट कर दिया कि भारतीयों का रण कौशल और सैन्य संगठन त्रुटिपूर्ण है अथवा अंग्रेजों की तुलना में कमजोर है। इस युद्ध ने अंग्रेजों के लिए दिल्ली का मार्ग भी प्रशस्त कर दिया।

मीरजाफर और नजमुद्दौला—मीरकासिम के बंगाल से भागने के बाद जुलाई 1763 ई. में मीरजाफर को पुनः बंगाल का नवाब बना दिया गया था। उसने अंग्रेजों की आज्ञानुसार ही शासन चलाया। 1765 ई. के प्रारम्भ में उसकी मृत्यु के बाद अंग्रेजों ने उसके दूसरे पुत्र नजमुद्दौला को नवाब बनाया। अंग्रेजों ने उसके साथ एक नयी सन्धि की जिसके अनुसार नवाब की सेना लगभग समाप्त कर दी गई और नवाब के अधिकारियों की नियुक्ति का अधिकार अंग्रेजों ने अपने हाथों में ले लिया। इससे अंग्रेज बंगाल, बिहार और उड़ीसा के वास्तविक अधिकारी बन गये।

रॉबर्ट क्लाइव : सन्धि समझौते—बक्सर के युद्ध के बाद मुगल सम्राट शाहआलम अंग्रेजों की शरण में आ गया था और शुजाउद्दौला ने भी आत्मसमर्पण कर दिया था। परन्तु अभी तक उनके साथ किसी प्रकार की सन्धि अथवा समझौता सम्पन्न नहीं हो पाया था। बंगाल के नवाब से भी स्थायी समझौता करना बाकी था। कम्पनी के कर्मचारियों में व्याप्त भ्रष्टाचार को दूर करने तथा भारत स्थित अंग्रेजी सेना की व्यवस्था में भी सुधार करने की आवश्यकता थी। इन सभी को सुलझाने की दृष्टि से कम्पनी ने रॉबर्ट क्लाइव को दुबारा बंगाल का गवर्नर बना कर भारत भेजा। वह मई 1765 ई. में भारत आया और फरवरी 1767 ई. तक भारत में रहा।

क्लाइव ने वापस आते ही नवाब शुजा और मुगल सम्राट से सन्धि समझौते करने का काम अपने हाथ में ले लिया। इस अवसर पर उसने काफी राजनीतिक सूझबूझ का परिचय दिया। वह चाहता तो अवध का अस्तित्व ही मिटाया जा सकता था, मुगल सम्राट से भी मनचाहे अधिकार और सुविधाएँ प्राप्त की जा

सकती थी। परन्तु क्लाइव ने ऐसा करना औचित्यपूर्ण नहीं समझा। वह इस सत्य से भली-भांति परिचित था कि यदि कम्पनी का शासन अवध तक बढ़ा दिया गया तो कम्पनी इतना बड़ा दायित्व निभा नहीं पायेगी क्योंकि उसके पास योग्य एवं अनुभवी कर्मचारियों का अभाव था। इसके अलावा, ऐसा करने से कम्पनी को सीधे मराठों से टक्कर लेनी पड़ेगी जिसके लिए अंग्रेज अभी तैयार नहीं थे। वस्तुतः क्लाइव धीरे-धीरे आगे बढ़ने के पक्ष में था ताकि कम्पनी को अपनी स्थिति मजबूत बनाने का समय मिलता जाए। अतः उसने अवध के नवाब शुजाउद्दौला के साथ निम्न शर्तों पर इलाहाबाद की सन्धि की —

1. कड़ा और इलाहाबाद के जिलों को छोड़कर अंग्रेजों ने अवध का शेष राज्य शुजाउद्दौला को लौटाना स्वीकार कर लिया।

2. शुजा ने कम्पनी को युद्ध के हर्जाने के रूप में 50 लाख रुपया देना स्वीकार किया।

3. अवध के राज्य में अंग्रेजों को स्वतन्त्रतापूर्वक व्यापार करने की सुविधा दी गई।

इस सन्धि से कम्पनी को बहुत लाभ हुआ। अवध का नवाब उसका मित्र बन गया। इससे कम्पनी को बंगाल-बिहार में अपनी स्थिति को सदृढ़ बनाने का अवसर मिल गया। रेम्जे म्योर के शब्दों में अब से अवध के साथ निकट मित्रता के सम्बन्ध रखना अंग्रेजों की स्थायी नीति हो गई जो मराठों की बढ़ती हुई शक्ति के मार्ग में एक लाभदायक बाधा थी।"

इसके बाद क्लाइव ने मुगल सम्राट शाहआलम के साथ एक पृथक् सन्धि की जिसके अनुसार दिखाने के तौर पर अंग्रेजों ने सम्राट की प्रभुसत्ता को स्वीकार कर लिया। कड़ा और इलाहाबाद के जिले मुगल सम्राट को सौंप दिये गये। मुगल सम्राट ने बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा की दीवानी (मालगुजारी वसूल करने का अधिकार तथा दीवानी न्याय प्रदान करने का कर्त्तव्य) अंग्रेज कम्पनी को सौंप दी। कम्पनी ने इसके बदले में मुगल सम्राट को 26 लाख रुपया वार्षिक पेन्शन देने का वचन दिया। बंगाल के नवाब को दीवानी के एवज में अंग्रेजों ने 50 लाख रुपये वार्षिक देने का वचन दिया। निजामत (शान्ति-व्यवस्था और फौजदारी का न्याय) नवाब के पास ही रहने दी गई। इससे बंगाल, बिहार और उड़ीसा में द्वैध शासन का सूत्रपात हुआ और बंगाल का नवाब भी एक प्रकार से अंग्रेजों का पेन्शर बन गया। इस सन्धि से बंगाल, बिहार और उड़ीसा में कम्पनी की स्थिति को वैधानिक मान्यता मिल गई। इस प्रकार वह एक व्यापारिक संस्था से राजनीतिक संस्था बन गई।

मैसूर राज्य का पतन

मैसूर राज्य पहले विजयनगर साम्राज्य का एक भाग था। विजयनगर राज्य के पतन (1565 ई.) के बाद ओदेवर वंश ने मैसूर में एक स्वतन्त्र राज्य की

स्थापना की। 18वीं सदी के मध्य में मैसूर पर पर इस वंश के कृष्णराज का शासन था। परन्तु सम्पूर्ण सत्ता नन्जराज (नन्दराज) के हाथों में थी।



हैदरअली

हैदरअली—हैदरअली का जन्म 1722 ई. में मैसूर राज्य में बुन्दी कोट नामक स्थान पर हुआ था। उसका पिता फतेह मुहम्मद मैसूर राज्य में फौजदार था और उसको बुन्दी कोट की जागीर प्राप्त हुई थी। 1728 ई. में फतेह मुहम्मद की मृत्यु हो गई और उसके परिवार को निर्धनता तथा दयनीय स्थिति में जीवन-यापन करना पड़ा। ऐसी स्थिति में हैदर की शिक्षा की व्यवस्था न की जा सकी और बड़े होने पर उसे बड़ी कठिनाई के बाद मैसूर राज्य की सेना में स्थान मिल पाया। परन्तु हैदर में साहस, उत्साह और योग्यता की कमी नहीं थी और वह धीरे-धीरे उन्नति करते-करते मैसूर राज्य का सेनानायक बन गया। 1761 ई. में उसने नन्दराज और दीवान खाँडेराव को हटाकर मैसूर राज्य की सम्पूर्ण सत्ता अपने हाथ में ले ली। परन्तु उसने मैसूर के हिन्दू राजा को सिंहासन से नहीं हटाया। उसे नाममात्र के लिए जीवित रखा गया।

उस समय की परिस्थितियों ने हैदरअली को अपनी शक्ति बढ़ाने का अवसर प्रदान किया। पानीपत के युद्ध के मराठों को कमजोर बना दिया था। हैदराबाद और कर्नाटक के उत्तराधिकारी युद्धों तथा अंग्रेजों और फ्रांसीसियों के आपसी संघर्ष के परिणामस्वरूप दक्षिण भारत की स्थिति अस्त-व्यस्त हो चुकी थी। अतः हैदरअली ने तेजी के साथ मैसूर राज्य का विस्तार किया। हैदरअली के उत्कर्ष से मराठे तथा हैदराबाद का निजाम— दोनों चिन्तित हो उठे थे। पेशवा माधवराव ने हैदरअली को परास्त करके उसे सन्धि करने के लिए विवश किया।

मैसूर का प्रथम युद्ध (1766–69)—1765–66 ई जब मराठों और निजाम ने मिलकर हैदरअली पर आक्रमण करने की योजना बनाई तो अंग्रेज भी उनके साथ मिल गये। अंग्रेजों और हैदरअली के मध्य संघर्ष का कारण मद्रास सरकार द्वारा दक्षिण की राजनीति में भाग लेकर अपना प्रभाव बढ़ाने की लालसा थी। अर्काट का नवाब और मलाबार का नायक सामन्त यह दोनों अंग्रेजों के मित्र परन्तु हैदरअली के शत्रु थे। अंग्रेजों को भी हैदरअली का उत्कर्ष पसन्द नहीं आया। इसीलिए वे मराठों तथा निजाम के साथ मिल गये थे।

सर्वप्रथम 1766 ई. में मराठों ने मैसूर पर आक्रमण किया। हैदरअली ने त्रिगुट को तोड़ने की दृष्टि से मराठों को काफी धन देकर वापस लौटा दिया। उसके बाद निजाम तथा अंग्रेज सेना ने मिलकर मैसूर पर आक्रमण किया। इस युद्ध में

निजाम मुरादाबादी लौटे की तरह इधर से उधर लुढ़कता रहा। सितम्बर 1767 ई में उसने अंग्रेजों का साथ छोड़कर हैदर से समझौता कर लिया परन्तु एक-दो पराजयों के बाद, मार्च 1768 ई. में हैदर का साथ छोड़कर पुनः अंग्रेजों के पक्ष में चला गया। परन्तु हैदरअली ने अकेले ही अंग्रेजों से संघर्ष किया और उन्हें दो युद्धों में परास्त करके मद्रास की सन्धि (मार्च, 1769) करने के लिये बाध्य किया सन्धि के अनुसार दोनों पक्षों ने एक दूसरे से छीने गये भू-क्षेत्रों को वापस लौटाने का वचन दिया तथा दोनों पक्षों ने बाह्य आक्रमण के समय एक दूसरे को सहायता देने का वचन दिया। इस प्रकार मैसूर का प्रथम युद्ध समाप्त हुआ जिससे अंग्रेजों की जमी हुई प्रतिष्ठा को थोड़ा धक्का लगा।

मैसूर का दूसरा युद्ध (1780-84)—अंग्रेजों ने विवश होकर मद्रास की सन्धि की थी। स्थिति अनुकूल होते ही उन्होंने सन्धि का पालन नहीं किया। यही बात मैसूर के दूसरे युद्ध का कारण बनी। 1671-72 में मराठों ने हैदरअली पर आक्रमण किया। सन्धि के अनुसार हैदर ने अंग्रेजों से सहायता माँगी। परन्तु अंग्रेजों ने सुनी-अनसुनी कर दी। हैदर इस बात को कभी न भुला सका और वह उचित अवसर की प्रतीक्षा करने लगा।

1768 ई. अंग्रेजों ने निजाम के एक सम्बन्धी से गुन्टूर का जिला छीन लिया। इसके अलावा कुछ अन्य कारण भी थे जिससे निजाम एक बार पुनः अंग्रेजों से असंतुष्ट हो गया। मराठों और अंग्रेजों के मध्य भी प्रथम मराठा युद्ध शुरू हो चुका था। 1779 ई. में अंग्रेजों ने फ्रांसीसियों की माही बस्ती पर अधिकार कर लिया। यह हैदरअली के राज्य में था। वह पहले से ही अंग्रेजों से चिढ़ा हुआ था। अब उसके क्रोध की सीमा न रही। संयोगवश निजाम, मराठों तथा हैदरअली तीनों में अंग्रेजों के विरुद्ध समझौता हो गया।

जुलाई 1780 ई. में हैदरअली अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध में कूद पड़ा। काँजीवरम् के निकट कर्नल बेली को उसकी सेना सहित मौत के घाट उतार दिया गया। हेक्टर मुनरो अपनी सेना सहित भाग खड़ा हुआ। अर्काट पर हैदरअली का अधिकार हो गया। अल्फ्रेड लायल के शब्दों में "भारत में अंग्रेजों का भाग्य सबसे नीचे गिर चुका था।" बंगाल से आयरकूट के नेतृत्व में नई अंग्रेज सेना मद्रास भेजी गई। एक-दो युद्धों में हैदर की पराजय हुई और एक दो स्थानों पर अंग्रेजों को परास्त होना पड़ा। युद्ध जारी था। बीच में ही दिसम्बर, 1782 में हैदरअली की मृत्यु हो गई। परन्तु उसके पुत्र टीपू सुल्तान ने युद्ध को जारी रखा। अन्त में दोनों पक्ष थक गये और 7 मार्च, 1784 को मंगलौर की सन्धि के साथ युद्ध समाप्त हुआ। दोनों ने एक-दूसरे से जीते गये प्रदेश लौटा दिये। निःस्सन्देह यह सन्धि अंग्रेजों के लिए सम्मानजनक नहीं थी।

हैदरअली का मूल्यांकन—यद्यपि हैदरअली अशिक्षित था फिर भी उसमें असाधारण प्रतिभा थी। अपनी योग्यता के बल पर एक सामान्य सैनिक की स्थिति से मैसूर राज्य का सर्वोच्च अधिकारी बन गया था। निजाम, मराठे और अंग्रेज जैसे प्रबल शत्रुओं से घिरे रहना तथा उनसे निरन्तर संघर्ष करते हुए भी उसने मैसूर में

राज्य का विस्तार किया और उसे एक सम्मानित शक्ति बना दिया । वह युद्ध कला में निपुण एक दक्ष सेनानायक था । उससे अपनी सेना का यूरोपीय ढंग पर संगठन किया था । धार्मिक दृष्टि से वह शिवाजी की भाँति अत्यन्त उदार था उसकी हिन्दू प्रजा को उसके राज्य में पूर्ण सुरक्षा प्राप्त थी और वह हिन्दू विद्वानों तथा मन्दिरों को दान देता था । वास्तव में एक कुशल एवं योग्य प्रशंसक था ।

मैसूर का तीसरा युद्ध (1790–92)—हैदरअली का उत्तराधिकारी टीपू सुल्तान अंग्रेजों का कट्टर शत्रु था और उन्हें दक्षिण भारत से बाहर निकालना

हैदर का राज्य

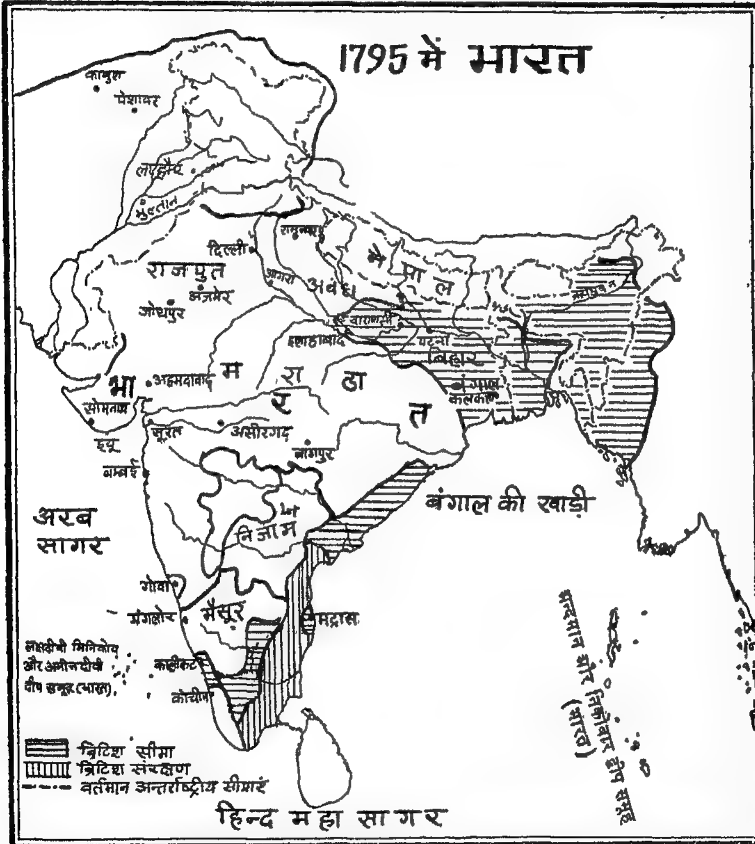


Based upon Survey of India map with the permission of t Surveyor General of India
The territorial waters of India extend into the sea to a distance of twelve nautical miles measured from the appropriate base line.

चाहता थ । इसके लिए उसने फ्रांस तथा तुर्की से भी सहायता प्राप्त करने का असफल प्रयत्न किया था । उधर लॉर्ड कार्नवालिस ने जो वैसे देशी राज्यों के मामलों में हस्तक्षेप न करने का पक्षपाती था, कम्पनी के हितों की दृष्टि से टीपू को कुचलना

आवश्यक माना। इसके अलावा, अंग्रेजों को मंगलौर की सन्धि खटक रही थी अतः युद्ध स्वाभाविक था।

दिसम्बर, 1789 ई. में टीपू ने अंग्रेजों के मित्र राज्य ट्रावनकोर पर आक्रमण कर दिया। अतः लॉर्ड कार्नवालिस ने तुरन्त टीपू के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। युद्ध छेड़ने के पहले कार्नवालिस ने मराठों तथा निजाम से पृथक्-पृथक् सिन्धियाँ करके उन्हें टीपू से विमुख कर दिया। अतः टीपू को अकेले ही युद्ध लड़ना पड़ा। फिर भी,



भारत के महासर्वेक्षक की अनुज्ञानुसार भारत सर्वेक्षण विभागीय मानचित्र पर आधारित। © भारत सरकार का प्रतिलिप्यधिकार, 1977. समुद्र में भारत का जलप्रदेश उपयुक्त आधार रेखा से मापे गये बारह समुद्री मील की दूरी तक है। इस मानचित्र में दिये गये नामों का अक्षर-विन्यास विभिन्न सूत्रों से लिया गया है।

उसने दो वर्ष तक अंग्रेज सेनाओं के छक्के छुड़ा दिये। अन्त में अंग्रेज कम्पनी के गवर्नर-जनरल लॉर्ड कार्नवालिस को स्वयं अंग्रेज सेना की कमान सम्भालनी पड़ी।

टीपू ने साहस नहीं खोया। परन्तु उसके साधन सीमित थे और धीरे-धीरे वे भी कम होते जा रहे थे। फ्रांस से सहायता मिलने की कोई उम्मीद नहीं रह गई थी क्योंकि वहाँ राज्य क्रांति हो चुकी थी। ऐसी स्थिति में उसने मार्च, 1792 में

अंग्रेजों के साथ श्रीरंगपट्टनम की सन्धि कर ली। सन्धि के अनुसार उसे अपने राज्य का लगभग आधा भाग अंग्रेजों को देना पड़ा जिसे उन्होंने निजाम तथा मराठों के साथ मिलकर आपस में बाँट लिया। युद्ध के हर्जाने के बतौर उसे लगभग 30,00,000 पौण्ड धन देना पड़ा और भविष्य में अच्छे व्यवपार की गारण्टी के लिए अपने दो पुत्र अंग्रेजों को सौंपने पड़े।

कार्नवालिस ने मैसूर राज्य को पूर्णतः समाप्त क्यों नहीं किया ? इसका एक ही उत्तर है और वह यह कि यदि वह ऐसा करता तो उसे निजाम और मराठों को अधिक हिस्सा देना पड़ता जिससे उनकी शक्ति बढ़ जाती। इसीलिए उसने कहा "हमने अपने मित्रों को बिना अधिक शक्तिशाली बनाते हुए अपने दुश्मन को बुरी तरह से दुर्बल कर दिया है।" इसके अलावा उसे यह भी भय था कि मैसूर के समाप्त होते ही मराठों के लिए कर्नाटक पर आक्रमण करने का मार्ग साफ हो जायेगा।

मैसूर का चौथा युद्ध (1799)—टीपू सुल्तान अपनी पराजय का बदला लेने के लिए अपनी शक्ति को संगठित करने में जुट गया। उसने पुनः विदेशों से सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न किया, परन्तु कहीं से भी सहायता नहीं मिली। उधर अंग्रेज कम्पनी का नया गवर्नर-जनरल लॉर्ड वेलेजली अंग्रेज कम्पनी को भारत की सर्वोच्च शक्ति बनाना चाहता था। जो भी भारतीय शासक कम्पनी की अधीनता से इनकार करे उसके विरुद्ध बल-प्रयोग करना, उसकी नीति का मुख्य अंग था। इसलिए उसने देशी राजाओं के साथ सहायक-सन्धि की नीति अपनाई थी।

1799 ई. वेलेजली ने टीपू को सहायक-सन्धि का प्रस्ताव भेजा जिसे उसने अस्वीकार कर दिया। इस पर वेलेजली ने टीपू के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। इस बार अंग्रेजों ने युद्ध के पूर्व निजाम और मराठों को अपने पक्ष में मिलाने में सफलता प्राप्त कर ली। फरवरी 1799 ई. में अंग्रेजों ने चारों तरफ से पीपू पर आक्रमण कर दिया। 14 मई, 1799 ई. के दिन टीपू वीरतापूर्वक लड़ता हुआ मारा गया। उसके साथ ही मैसूर में मुस्लिम प्रभुत्व का अन्त हो गया। मैसूर राज्य का अधिकांश हिस्सा मैसूर के भूतपूर्व हिन्दू शासक के एक वंशज कृष्णराज को दे दिया गया जिसने अंग्रेजों की अधिनता स्वीकार कर ली। इस प्रकार मैसूर के शक्तिशाली राज्य का पतन हुआ और छोटे-से बचे मैसूर राज्य पर भी अंग्रेजों का प्रभुत्व कायम रहा।

टीपू सुल्तान—यद्यपि टीपू सुल्तान योग्य शासक और सेनापति था, लेकिन अपने पिता के समान चतुर कूटनीतिज्ञ नहीं था। उसके चरित्र के विषय में विद्वानों ने परस्पर-विरोधी मत व्यक्त किये हैं। उसके आलोचक विद्वानों की राय में वह अत्याचारी और धर्मान्ध शासक था। उसे अपनी योग्यता का बहुत अभिमान था। उसने हिन्दुओं के प्रति कठोर व्यवहार किया। उसके बारे में कहा जाता है कि "हैदरअली एक साम्राज्य का निर्माण करने के लिए पैदा हुआ था और टीपू उसे खोने के लिए।" परन्तु उसके प्रशंसकों की राय में टीपू एक शिक्षित और योग्य

व्यक्ति था। वह एक साहसी सैनिक और कुशल सेनानायक था। उसका आन्तरिक शासन उच्चकोटि का था। उसकी कठोरता अपराधियों और विद्रोहियों के लिए थी। उसकी धर्मान्धता क्षणिक थी।

फिर भी, इसमें कोई सन्देह नहीं कि टीपू ने दो महान भूलें की थीं। एक, उसने अपनी घुड़सवार सेना की उपेक्षा की और पदाति सेना तथा तोपखाने पर अधिक ध्यान दिया। दूसरी, उसने दूरस्थ फ्राँस और मुस्लिम राज्यों से तो सहयोग प्राप्त करने का प्रयत्न किया, परन्तु निकटस्थ स्थानीय शक्तियों को अपना मित्र बनाने में असफल रहा। इसी से उसे अकेले ही लड़ना पड़ा।

मराठों से संघर्ष

पेशवा माधवराव प्रथम (1761–72) के सुयोग्य नेतृत्व में मराठों ने अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा को पुनः प्राप्त कर लिया था, इसका विस्तृत विवरण हम पहले पढ़ चुके हैं। 1772 ई. में युवक पेशवा माधवराव की अकाल मृत्यु ने मराठा शक्ति को पुनः छिन्न-भिन्न कर दिया। वस्तुतः उसकी मृत्यु के परिणाम पानीपत की पराजय से भी अधिक गम्भीर सिद्ध हुए। मराठा शक्ति और एकता की कमर टूट गई और वे फिर कभी संगठित न हो पाये।

माधवराव की मृत्यु के बाद उसका छोटा भाई नारायणराव पेशवा बना, परन्तु उसकी अपने चाचा रघुनाथराव (राघोबा) से नहीं बनी। चाचा रघुनाथराव स्वयं पेशवा बनना चाहता था। उसकी पत्नी आनन्दीबाई की महत्वाकाँक्षायें उससे भी अधिक बढ़ी-चढ़ी थीं। उसके निरन्तर उकसाने पर अन्त में रघुनाथराव ने अपने भतीजे पेशवा नारायणराव को मरवा डाला और स्वयं पेशवा बन बैठा। नारायण राव के वध में उसकी भूमिका पर विद्वान् एकमत नहीं हैं।

मराठों का अंग्रेजों से प्रथम युद्ध (1775-82)

रघुनाथराव के इस जघन्य कृत्य से कई मराठा सरदार उसके विरोधी हो गये। परन्तु उस समय उनके सामने पेशवा पद के लिए कोई दूसरा उम्मीदवार नहीं था, अतः वे चुप रहे। संयोगवश, इस घटना के कुछ दिनों बाद ही मृत पेशवा नारायणराव की विधवा पत्नी गंगाबाई ने एक पुत्र को जन्म दिया। राघोबा के विरोधी सरदारों जिनमें नाना फड़नवीस और महादजी सिन्धिया आदि प्रमुख थे, ने तुरन्त नवजात शिशु को 'माधवराव नारायण' (सवाई माधवराव भी कहते थे) के नाम से पेशवा घोषित कर दिया और शासन की बागडोर सम्भाल ली। चूंकि राघोबा का पक्ष काफी कमजोर था अतः उसने अंग्रेजों से सहायता लेने का निश्चय किया और अपने साथियों सहित बम्बई पहुंच गया। वहाँ उसने 1775 ई. में अंग्रेजों से सन्धि कर ली जो 'सूरत की सन्धि' के नाम से प्रसिद्ध है। इस सन्धि के अनुसार बम्बई की अंग्रेज सरकार ने रघुनाथराव को सैनिक सहायता देने का वचन दिया और रघुनाथराव ने अंग्रेजी सेना का व्यय देना स्वीकार किया। इस सम्बन्ध में रघुनाथराव को अपने कीमती जेवर अंग्रेजों के पास जमानत के तौर पर रखने पड़े

थे। रघुनाथराव ने अंग्रेजों को सालसट, बेसीन तथा आस-पास के टापू और भड़ौंच तथा सूरत के राजस्व का कुछ हिस्सा देने का वचन दिया। कर्नाटक और बंगाल पर मराठा आक्रमणों को बन्द करने का आश्वासन दिया और यह भी वचन दिया कि पूना दरबार से जो भी समझौता किया जायेगा उसमें अंग्रेजों को भी सम्मिलित किया जायेगा।

सूरत की एक सन्धि के अनुसार बम्बई के अंग्रेजों ने राघोबा की सहायता लिए एक शक्तिशाली सेना उसके साथ भेज दी। इस सेना की सहायता से राघोबा ने अरास के युद्ध में अपने विरोधियों को परास्त किया। [इससे राघोबा का उत्साह बढ़ गया। परन्तु तभी अचानक सारा मामला उलझ गया। 1773 ई. के रेग्युलेटिंग एक्ट के अनुसार भारत में कम्पनी सरकार के नाम पर इस प्रकार की सन्धियाँ करने का अधिकार केवल कलकत्ता के गवर्नर-जनरल को प्रदान किया गया था। गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्ज ने सूरत की सन्धि को रद्द कर दिया क्योंकि वह सन्धि उससे पूछे बिना की गई थी। उसने बम्बई के अधिकारियों को कम्पनी की सेना को फौरन वापस करने की दृढ़ता से आज्ञा दी। आज्ञा में कहा गया था कि "राघोबा के साथ तुमने जो सन्धि की है, हम उसे अवैध मानते हैं और जो युद्ध तुमने मराठा राज्य के विरुद्ध शुरू किया है, वह अविनीत, भयंकर, अनधिकृत एवं अनुचित है।" इस मामले को ठीक करने के लिए कर्नल अप्टन (उपटन) को कलकत्ता से पूना की वास्तविक सरकार से बातचीत करने के लिए भेजा गया। कर्नल अप्टन ने 1 मार्च, 1776 ई. को पूना दरबार से 'पुरन्दर की संधि' सम्पन्न कर ली। इस सन्धि के अनुसार मराठों ने सालसट द्वीप अंग्रेजों को देने का वचन दिया। रघुनाथराव की सहायता के लिए बम्बई से जो सेना भेजी गई थी, उसका व्यय देने का भी वचन दिया। बदले में अंग्रेजों ने रघुनाथराव का साथ न देने का आश्वासन दिया।

परन्तु पुरन्दर की सन्धि भी लागू न हो पाई। इसी बीच, बम्बई की सरकार ने सीधे कम्पनी के संचालक मण्डल से पत्र-व्यवहार करके सूरत की सन्धि को मंजूर करवा लिया। अतः पुरन्दर की संधि निरर्थक हो गई। बम्बई की सरकार ने राघोबा का पक्ष लेकर पुनः युद्ध छेड़ दिया। 1779 ई. में पूना की मराठा सेना ने राघोबा और उनकी समर्थक अंग्रेज सेना को बड़गांव के समीप बुरी तरह से पराजित किया। अंग्रेज सेना को विवश होकर न केवल आत्म-समर्पण ही करना पड़ा अपितु बड़गाँव की अपमानजनक संधि पर भी हस्ताक्षर करने पड़े। इस सन्धि के द्वारा बम्बई सरकार ने 1773 ई के पश्चात् जीते हुए सभी प्रदेश मराठों को वापस लौटाने तथा बंगाल से आने वाली अंग्रेज सेना को रोक देने का वादा किया।

बड़गाँव की सन्धि बम्बई तथा कलकत्ता दोनों के अभिमानी अंग्रेज अधिकारियों के लिए लज्जा की बात थी। अतः गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्ज ने सन्धि को मानने से इन्कार कर दिया और युद्ध जारी रखने का निश्चय किया। पूना की मराठा सरकार ने भी अंग्रेजों का उचित मुकाबला करने की दृष्टि से उनके विरुद्ध त्रिगुट का निर्माण किया जिसमें मराठे, निजाम और हैदरअली सम्मिलित हुए। 1781 ई. तक दोनों पक्षों के मध्य युद्ध जारी रहा। कभी अंग्रेज हारे तो

कभी मराठे। अंत में, महादजी सिंधिया की मध्यस्थता से पूना सरकार और अंग्रेजों के मध्य 17 मई, 1782 ई. को सालबाई की संधि हो गई जिससे प्रथम मराठा युद्ध समाप्त हुआ। अंग्रेजों के द्वारा मराठों के साथ सन्धि करने का मुख्य कारण यह था कि इंगलैंड के अमेरिकन उपनिवेषों में स्वतन्त्रता संघर्ष शुरू हो चुका था और उसमें अंग्रेजों की स्थिति काफी बिगड़ चुकी थी। फिर दक्षिण भारत में भी उन्हें मराठों तथा हैदरअली के हाथों कई बार पराजित हो जाना पड़ा था। मराठों ने इसलिए सन्धि कर ली कि निजाम त्रिगुट के साथ सक्रिय सहयोग नहीं कर रहा था और उसके पक्ष बदलने की सम्भावना भी थी। इस सन्धि की मुख्य शर्तें निम्नलिखित थीं—

1. मराठों ने सालसट द्वीप तथा भड़ौंच नगर पर अंग्रेजों का अधिकार मान लिया और अंग्रेजों ने पुरन्दर की सन्धि के बाद जीता हुआ समस्त मराठा प्रदेश वापस लौटाना स्वीकार कर लिया।

2. अंग्रेजों ने रघुनाथ राव का पक्ष छोड़ दिया और माधवराव नारायण को पेशवा स्वीकार कर लिया। मराठों ने रघुनाथराव को पेन्शन देना स्वीकार कर लिया।

अंग्रेज इतिहासकारों ने इस संधि को काफी महत्त्व दिया है। स्मिथ ने इसे "भारत के इतिहास में एक मीमा चिह्न" बतलाया है तो डॉडवेल के अनुसार "सालबाई की सन्धि भारत में अंग्रेजी सत्ता के इतिहास में एक नवीन मोड़ देने वाली थी।" इसमें कोई सन्देह नहीं है कि सालबाई की सन्धि के बाद लगभग 20 वर्षों तक अंग्रेजों और मराठों में शान्ति बनी रही। इससे अंग्रेजों को अपने अन्य प्रतिद्वन्द्वियों को समाप्त करने का अवसर मिल गया। इस सन्धि के द्वारा अंग्रेजों ने मराठों को अपने प्रमुख शत्रु हैदरअली से पृथक् कर दिया और बाद में उन्हें मैसूर राज्य को समाप्त करने में अधिक कठिनाई नहीं हुई। सन्धि ने अंग्रेजों को मराठों की आन्तरिक कमजोरी और आपसी फूट से परिचित करा दिया। मराठों में महादजी सिन्धिया और नाना फड़नवीस के आपसी मतभेद बढ़ते गये। यह कहना कठिन है कि उन दोनों में कौन इसके लिए किस सीमा तक उत्तरदायी था, परन्तु इतना निश्चित है कि उन दोनों की आपसी स्पर्धा ने मराठा शक्ति की एकता को नष्ट अवश्य कर दिया और भविष्य में अंग्रेजों के लिए मराठों को पराजित करना आसान हो गया।

महादजी सिंधिया—पेशवा माधवराव प्रथम की मृत्यु (1772 ई.) के बाद जिन अनेक मराठों का उत्कर्ष हुआ था उनमें महादजी सिंधिया का स्थान सर्वोपरि था। वह प्रथम पेशवा बालाजी विश्वनाथ के प्रमुख सेनानायक राणोजी सिंधिया का अवैध पुत्र था और उसका जन्म 1730 ई. के आस-पास हुआ था। पानीपत के तीसरे युद्ध के विनाश से महादजी जीवित लौट आया, परन्तु अपने शेष जीवन में वह टांग से लंगड़ाता रहा। पानीपत के युद्ध ने राणोजी सिंधिया के सभी

वैधानिक उत्तराधिकारियों को ग्रस लिया था, अतः महादजी सिंधिया राणोजी सिंधिया की विस्तृत जागीरों का उत्तराधिकारी बन गया।

पानीपत के बाद महादजी सिन्धिया ने अपनी सैनिक शक्ति को सुदृढ़ बनाया और नर्बदा से लेकर चम्बल तक के भू-क्षेत्र पर अपना अधिकार जमा लिया। 1772 ई. में शाहआलम को दिल्ली के सिंहासन पर बिठाने में महादजी ने प्रमुख भूमिका अदा की थी। पेशवा माधवराव की मृत्यु, नारायणराव की हत्या और अंग्रेजों और मराठों के प्रथम युद्ध के कारण उसे दिल्ली से दक्षिण आना पड़ा। उसने युद्ध को समाप्त करवाने तथा सालबाई की संधि सम्पन्न कराने में दोनों पक्षों के बीच मध्यस्थता का काम किया था। इसी से, इस अवसर पर अंग्रेजों ने शाह-आलम के मामलों में हस्तक्षेप न करने का आश्वासन महादजी सिंधिया को दिया था।

सालबाई की सन्धि के तुरन्त बाद महादजी सिन्धिया ने फ्राँसीसी तथा पुर्तगाली अधिकारियों की सहायता से अपनी सेना को यूरोपीय ढंग से प्रशिक्षित किया। उसने ग्वालियर तथा गोहद को जीतने के बाद 1784 ई में पुनः दिल्ली में प्रवेश किया जहाँ मुगल सम्राट ने उसे शाही सेना का सर्वोच्च सेनानायक नियुक्त कर उसका सम्मान बढ़ाया। परन्तु सिन्धिया के पास धन की कमी थी। अतः उसने जयपुर पर आक्रमण किया। जयपुर, जोधपुर और कुछ मुस्लिम सरदारों की संयुक्त सेना ने महादजी को बुरी तरह पराजित किया। इससे महादजी की प्रतिष्ठा को भारी धक्का लगा। गुलाम कादिर (जो रुहेला सरदार नजीबुद्दौला का पोता था) ने दिल्ली पर अधिकार जमा लिया और शाह आलम को अन्धा बनाकर शाही महल को खूब लूटा।

पूना में इस समय नाना फड़नवीस ही सर्वेसर्वा था। यद्यपि वह महादजी का प्रतिद्वन्द्वी था। परन्तु दिल्ली मराठों के नियन्त्रण से निकला जाय, इसे सहन नहीं कर सकता था। अतः उसने सिन्धिया की सहायता के लिए दक्षिण से एक मराठा सेना भेजी, कुछ मुस्लिम सरदार भी सिंधिया के पक्ष में आ गये थे। 1789 ई. में महादजी ने पुनः दिल्ली पर अधिकार जमा लिया। गुलाम कादिर को फाँसी की सजा दी गई। इसके बाद उसने पाटन के निकट इस्लाम बेग को पराजित किया और 1791 ई. में जयपुर-जोधपुर के शासकों को मेड़ता तथा जोधपुर के युद्धों में बुरी तरह से पराजित करके अपनी पिछली पराजय का बदला लिया। सिन्धिया की इन सफलताओं से नाना फड़नवीस को फिर जलन होने लग गई और उसके संकेत पर सिन्धिया के प्रतिद्वन्द्वी मराठा सरदार तुकोजी होल्कर ने उसके मार्ग में बाधाएं खड़ी करनी शुरू कर दी। 1792 ई में लाखेरी के युद्ध में सिन्धिया ने होल्कर को बुरी तरह पराजित किया।

अब सिंधिया ने पूना पहुँच कर पेशवा की सरकार को अपने नियन्त्रण में लेने का निश्चय किया। पूना में महादजी सिंधिया और नाना फड़नवीस के मध्य

एक-दूसरे के प्रभाव को समाप्त करने के दांव-पेंच चलने लगे और इसी अवधि में 12 फरवरी 1794 के दिन उसकी मृत्यु हो गई।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि महादजी सिन्धिया ने एक सीमा तक "हिन्दू पद-पादशाही" के आदर्श को मूर्तिमान करने का अथक् प्रयत्न किया था। वह मराठा सरदारों को एकता के सूत्र में आबद्ध करना चाहता था जिससे कि विदेशी शत्रुओं से लोहा लिया जा सके। वह एक योग्य सेनानायक था और उसने पाश्चात्य युद्ध-पद्धति के महत्त्व को समझते हुए अपनी सेना का यूरोपीय ढंग पर संगठन किया। उसने मुगल सम्राट को अपना संरक्षण प्रदान करके तथा राजपूतों, रुहेलों और जाटों को पराजित करके उत्तर भारत में मराठा शक्ति का प्रभुत्व पुनः स्थापित किया।

नाना फड़नवीस—पानीपत के विनाश से बचने तथा पानीपत के बाद ख्याति अर्जित करने वाला दूसरा प्रमुख मराठा नेता नाना फड़नवीस था। उसका जन्म 12 फरवरी, 1742 ई. को हुआ था। उसके पिता का नाम जनार्दन भानु था। 14 वर्ष की अल्पायु में ही उसे 'फड़नवीस' के पैतृक पद को सम्भालना पड़ा। रघुनाथराव ने नाना फड़नवीस की महत्त्वकांक्षाओं से रुष्ट होकर उसे फड़नवीस के पद से हटा दिया। परन्तु पेशवा माधवराव प्रथम ने उसकी योग्यता को परख कर 1763 ई. में पुनः फड़नवीस पद पर नियुक्त कर दिया था। अपनी योग्यता और पेशवा के प्रति निष्ठा के कारण वह पूना दरबार का सर्वाधिक शक्तिशाली व्यक्ति बन गया यद्यपि पेशवा का प्रधान मन्त्री सखाराम बापू 1778 ई तक अपने पद पर बना रहा था।

पेशवा नारायणराव की हत्या के बाद रघुनाथराव को महाराष्ट्र से खदेड़ने तथा नारायणराव के शिशु पुत्र 'माधवराव नारायण' (इसे माधवराव द्वितीय भी कहते हैं) को पेशवा बनाने और अंग्रेजों के विरुद्ध प्रथम मराठा युद्ध का सफलता पूर्वक संचालन का सारा नहीं तो अधिकांश श्रेय नाना फड़नवीस को ही दिया जाता था। परन्तु सालबाई की सन्धि के समय जिस ढंग से महादजी ने अंग्रेजों से पृथक् सन्धि करके उत्तरी भारत में अपनी स्थिति को सुधारने का प्रयत्न किया, वह नाना को पसन्द नहीं आया। फिर भी, जब उत्तरी भारत में महादजी की स्थिति संकटग्रस्त हो गयी थी तब नाना फड़नवीस ने मराठा हित को सर्वोपरि मानते हुए सिन्धिया की सहायता के लिए दक्षिण से सेना भेजी थी।

परन्तु उत्तरी भारत में अपनी स्थिति के सुदृढ़ होते ही सिन्धिया नाना को सत्ता से अपदस्थ करने के लिए पूना जा पहुँचा और पेशवा को अपने अनुकूल बनाने की चेष्टा की। इसी अवधि में महादजी सिन्धिया की मृत्यु हो गई और नाना को अपने प्रबल प्रतिद्वन्द्वी से छुटकारा मिल गया। कुछ समय बाद हैदराबाद के निजाम ने मराठों पर आक्रमण कर दिया। नाना फड़नवीस ने योग्यता के साथ सभी मराठा सरदारों को एकत्र किया और खरदा के युद्ध में निजाम को परास्त कर उसे संधि पर हस्ताक्षर करने के लिए विवश किया। यह नाना की अन्तिम महान सफलता थी। पेशवा माधवराव नारायण की आकस्मिक मृत्यु और देशद्रोही रघुनाथराव के पुत्र बाजीराव द्वितीय के पेशवा बन जाने से नाना फड़नवीस के अन्तिम वर्ष कठिनाइयों

में बीते। 1800 ई. में नाना की मृत्यु हो गई और उसके साथ ही मराठा राजनीति को सही दिशा बताने वाला कोई नहीं रहा। वह मराठा चाणक्य था और राजनीति तथा कूटनीति में उसकी बराबरी करने वाला कोई नहीं था।

मराठों व अंग्रेजों का दूसरा युद्ध (1803 ई.)—सालबाई की सन्धि से अंग्रेजों ने यह स्पष्ट अनुभव कर लिया था कि भारत की सर्वोच्च प्रभुसत्ता की प्राप्ति के लिए मराठों से संघर्ष अनिवार्य होगा। अतः वे उपयुक्त अवसर के लिए अपनी शक्ति को संगठित करने में लगे रहे। दूसरी तरफ, महादजी सिन्धिया और नाना फड़नवीस की मृत्यु के बाद मराठों की शक्ति धीरे-धीरे विकेन्द्रित होकर कमजोर पड़ गई। पेशवा बाजीराव द्वितीय अयोग्य, दुर्बल, षड्यन्त्रकारी और विश्वासघातक व्यक्ति था। उसमें अपने सरदारों को नियन्त्रण में रखने अथवा उनका विश्वास प्राप्त करने की योग्यता भी नहीं थी। महादजी का उत्तराधिकारी दौलतराव सिन्धिया और होल्कर घराने के जसवन्तराव होल्कर—यह दोनों प्रमुख मराठे सरदार एक-दूसरे के शत्रु बने हुए थे। नागपुर के भौंसले और गुजरात के गायकवाड़ अंग्रेजों से आतंकित थे। अंग्रेजों और मराठों के दूसरे युद्ध का मूल कारण मराठों का आन्तरिक संघर्ष था जिसमें अंग्रेजों ने हस्तक्षेप किया और परिणामस्वरूप उन्हें कुछ मराठा सरदारों से युद्ध लड़ना पड़ा।

(अ) कारण

नाना फड़नवीस के बाद, पूना की राजनीति में एक कूटनीतिक क्रान्ति हो गई। पेशवा बाजीराव द्वितीय और दौलतराव सिन्धिया जो इससे पूर्व एक-दूसरे के विरोधी थे, में समझौता हो गया। पेशवा ने सिन्धिया को होल्कर के विरुद्ध और सिन्धिया ने पेशवा को उसके शत्रुओं के विरुद्ध सहायता देने का वायदा किया। इस समझौते ने मराठों की आपसी शत्रुता को प्रोत्साहन दिया। पेशवा बाजीराव ने अपने तथा अपने परिवार के विरोधी सरदारों पर अत्याचार करना शुरू कर दिया और इस सम्बन्ध में जसवन्तराव होल्कर के भाई बिठूजी होल्कर को मरवा डाला। इस पर क्रोधित जसवन्तराव होल्कर ने पूना पर आक्रमण कर दिया। उसने पेशवा और सिन्धिया की संयुक्त सेना को परास्त किया और पूना पर अधिकार जमा लिया। पेशवा पूना से भाग कर अंग्रेजों की शरण में जा पहुँचा। जसवन्तराव होल्कर ने रघुनाथराव के दत्तक पुत्र अमृतराव के पुत्र विनायकराव को पेशवा घोषित कर दिया। इस पर बाजीराव द्वितीय ने अंग्रेजों की सहायता से अपना पेशवा पद पुनः प्राप्त करने का निश्चय किया और 1802 ई. में उसने अंग्रेजों के साथ बेसीन की सन्धि कर ली। इस सन्धि के अनुसार अंग्रेजों ने बाजीराव को सैनिक सहायता देना स्वीकार किया। पेशवा ने अपनी सेवा में 6000 अंग्रेज सैनिकों को रखने तथा उनके खर्चे के लिए 20 लाख रु. वार्षिक आय का प्रदेश देने का वचन दिया। इसके अतिरिक्त पेशवा ने अंग्रेजों से बिना पूछे बिना भविष्य में किसी राज्य के साथ युद्ध, सन्धि तथा पत्र-व्यवहार न करने का वचन दिया।

अंग्रेजों की सैनिक सहायता से बाजीराव द्वितीय ने अपना पेशवा पद अवश्य प्राप्त कर लिया, परन्तु इसके बदले में वह अपनी स्वतन्त्रता को बेच आया था। चाहे नाम मात्र के लिए ही सही, वह मराठा संघ का प्रधान था। उसकी पराधीनता

का अर्थ था सम्पूर्ण महाराष्ट्र और मराठा सरदारों की पराधीनता। अतः बेसीन की सन्धि से मराठों की प्रतिष्ठा को गहरा धक्का लगा। मराठा सरदारों को यह अपमानजनक सन्धि पसन्द न आई क्योंकि इससे सबकी स्थिति खतरे में पड़ गई थी। उन्हें यह समझते देर न लगी कि इस बार अंग्रेजों ने मराठा संघ को समाप्त करने के लिए उसके मल पर प्रहार किया है। अतः उन्होंने इस सन्धि को स्वीकार न करने और अंग्रेजों के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा बनाने का निश्चय किया परन्तु आपसी फूट और मतभेदों के कारण वे ऐसा करने में असमर्थ रहे। गायकवाड़ शुरू से ही उदासीन रहा। जसवन्तराव होल्कर असन्तुष्ट होकर मालवा वापस लौट गया। केवल दौलतराव सिन्धिया तथा भौंसले ने आपस में मिलकर अंग्रेजों का सामना करने का निश्चय किया। इस प्रकार, 1803 ई. में अंग्रेजों और मराठों का दूसरा युद्ध शुरू हुआ।

(ब) घटनाएँ

अंग्रेजों ने उत्तर और दक्षिण भारत—दोनों क्षेत्रों में एक साथ कार्यवाही करने का निश्चय किया। उत्तर की सैनिक कमान जनरल लेक को तथा दक्षिण की आर्थर वेलेजली को सौंप दी गई। 12 अगस्त, 1803 ई. की असई के युद्ध में आर्थर वेलेजली ने सिन्धिया और भौंसले की संयुक्त सेना को परास्त कर दिया। उधर उत्तर में जनरल लेक ने अलीगढ़, दिल्ली, आगरा आदि पर अधिकार जमा लिया और मुगल सम्राट शाहआलम को अंग्रेजों के संरक्षण में ले लिया। नवम्बर 1808 ई में उसने लासवारी के युद्ध में सिन्धिया की सेना को बुरी तरह परास्त किया। इन निरन्तर पराजयों ने मराठों की कमर तोड़ दी। 17 दिसम्बर, 1803 ई. को भौंसले ने अंग्रेजों के साथ देवगांव की और 30 दिसम्बर, 1803 को सिन्धिया ने सुरजी अर्जुनगाँव की सन्धि कर ली। इन सन्धियों की धाराएँ, वेलेजली की सहायक सन्धि प्रथा के समान ही थी। भौंसले को कटक, बालासोर और वार्दा नदी के पश्चिम का सम्पूर्ण भू-क्षेत्र अंग्रेजों को देना पड़ा। सिन्धिया का गंगा और यमुना के बीच का सम्पूर्ण भू-क्षेत्र और जयपुर, जोधपुर तथा गोहद के उत्तर का अपना सम्पूर्ण इलाका अंग्रेजों को सौंपना पड़ा।

(स) परिणाम

परन्तु अभी युद्ध का अन्त नहीं हुआ था। जसवन्तराव होल्कर अभी तक दोनों पक्षों के मध्य लड़े जाने वाले युद्धों को एक दर्शक की भाँति देखता रहा। सिन्धिया और भौंसले की पराजय के बाद उसने अकेले ही अंग्रेजों से युद्ध लड़ने का निश्चय किया। जब जसवन्तराव होल्कर ने अंग्रेजों के मित्र जयपुर पर आक्रमण कर दिया तो 1805 ई. में अंग्रेजों ने होल्कर के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। युद्ध के आरम्भ में होल्कर ने कर्नल मौन्सन की सेना को कोटा के निकट मुकुन्ददारा के दर्रे में बुरी तरह से परास्त किया। परन्तु बाद में उसे अंग्रेजों के हाथों कई स्थानों पर पराजित होना पड़ा। फिर भी, होल्कर का भाग्य अच्छा था। वेलेजली के लम्बे युद्धों से परेशान होकर कम्पनी ने उसे वापस बुला लिया और उसके स्थान पर लॉर्ड

कार्नवालिस को दूसरी बार गवर्नर-जनरल बनाकर भारत भेजा। कार्नवालिस ने उदार शर्तों पर होल्कर के साथ सन्धि करने का निश्चय किया, परन्तु उसे अवसर नहीं मिल पाया। उसकी मृत्यु हो गई। उसके उत्तराधिकारी जॉर्ज बार्लो ने उसकी योजना को पूरा किया।

मराठों और अंग्रेजों का अन्तिम युद्ध (1817–18)—द्वितीय मराठा युद्ध से एक बात स्पष्ट हो गई कि मराठे आपस में संगठित नहीं हो सकते और संगठित हुए बिना वे अंग्रेजों को परास्त नहीं कर सकेंगे। अतः मराठा-शक्ति का पतन अब केवल समय का प्रश्न रह गया था। पेशवा बाजीराव द्वितीय की हरकतों ने अंग्रेजों को अन्तिम रूप से मराठा शक्ति को कुचलने का अवसर प्रदान कर दिया।

पेशवा बाजीराव द्वितीय अपनी खोई हुई स्वतन्त्रता को पुनः प्राप्त करने को उत्सुक था। उसने सिन्धिया, होल्कर, भौंसले आदि सरदारों से गुप्त पत्र-व्यवहार जारी कर रखा था। 1817 ई. में अंग्रेजों ने पेशवा को एक नई सन्धि पर हस्ताक्षर करने के लिए विवश कर दिया। इसके अनुसार उसे मराठा सरदारों का नेतृत्व छोड़ना पड़ा और महाराष्ट्र के बाहर के प्रदेशों से भी हाथ धोना पड़ा। पेशवा ने क्रुद्ध होकर पूना की अंग्रेज रेजीडेन्सी को आग लगवा दी। यह युद्ध की शुरुआत थी। अंग्रेजों ने किर्की नामक स्थान पर पेशवा की सेना को बुरी तरह से परास्त किया। इसी समय नागपुर के अप्पासाहब भौंसले और मल्हारराव होल्कर भी युद्ध में कूद पड़े। अंग्रेजों ने सीताबल्दी के युद्ध में अप्पासाहब की सेना को हरा दिया। अप्पासाहब भाग गया। महीदपुर के युद्ध में होल्कर की सेना भी हार गई और होल्कर ने अंग्रेजों के साथ मन्दसौर की सन्धि करली। कोरगाँव और अस्थी के दो युद्धों में पराजित होने के बाद पेशवा बाजीराव द्वितीय ने आत्मसमर्पण कर दिया। अंग्रेजों ने उसे पेशवा पद से हटा दिया और पेशवा पद भी समाप्त हो गया। उसे आठ लाख रुपया वार्षिक पेन्शन देकर बिठूर नामक स्थान पर रखा गया। पेशवा का अधिकांश प्रदेश अंग्रेजी राज्य में मिला लिया गया। सतारा राज्य के सिंहासन पर शिवाजी के वंशज प्रतापसिंह, जो अभी तक पेशवा के कारावास में था, को बैठाया गया। 1817-18 ई. में सिन्धिया को भी नई सन्धियों पर हस्ताक्षर करने को विवश किया गया। राजपूत राज्य पर से उसे अपने सभी अधिकार हटाने पड़े और अजमेर का सूबा अंग्रेजों को देना पड़ा। इस प्रकार, लार्ड हेस्टिंग्ज ने मराठा सरदारों को अपंग बना दिया।

मराठों की असफलता के कारण—अंग्रेजों ने भारत की सत्ता मुगलों से नहीं अपितु मराठों से प्राप्त की थी। जिस समय अंग्रेज अपने अस्तित्व को बनाए रखने तथा व्यापारिक सुविधाएँ प्राप्त करने के लिए फ्रांसीसियों से संघर्षरत थे उस समय सम्पूर्ण भारत मराठा शक्ति से आतंकित था। मराठे भारत के लगभग अधिकांश भागों से चौथ और सरदेशमुखी वसूल कर रहे थे। पानीपत में उन्हें अस्थाई धक्का अवश्य लगा, परन्तु वे शीघ्र ही पुनः उठ बैठे थे। महादजी सिन्धिया और नाना

फड़नवीस की मृत्यु के बाद अचानक ही उनकी शक्ति का पतन हो गया और उन्हें अंग्रेजों की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। संक्षेप में, उनकी असफलता तथा पतन के कारण निम्नलिखित थे—

1. **आन्तरिक दुर्बलता**—मराठों के पतन का सबसे बड़ा कारण उनकी आन्तरिक दुर्बलता थी। उनमें संगठन और एकता का पूर्ण अभाव था। मराठा-संघ अपने आप में एक राज्य न था अपितु कई स्वतन्त्र इकाइयों का संघ था जिसका प्रधान पेशवा था। पेशवा माधवराव प्रथम के समय तक पेशवा का मराठा संघ पर नियन्त्रण कायम रहा। परन्तु उसकी मृत्यु के बाद मराठा-संघ की प्रत्येक इकाई अपने आपको एक स्वतन्त्र राज्य मानने लग गई। सिन्धिया, होल्कर, भोंसले, गायकवाड़ आदि मराठा सरदार केन्द्रीय सत्ता से भी अधिक शक्ति सम्पन्न हो गये थे और अपने-अपने स्वार्थों की पूर्ति के निमित्त एक-दूसरे से लड़ने-झगड़ने भी लग गये थे। अंग्रेजों को उनके आपसी झगड़ों में से किसी एक पक्ष की तरफ से हस्तक्षेप करने का अवसर मिल गया और मराठों की सहायता से अथवा उनकी ओट लेकर दूसरे की शक्ति को कुचलते गये। मराठों की आपसी फूट इतनी अधिक बढ़ गयी थी कि राष्ट्रीय संकटकाल में भी वे एक न हो पाये। अंग्रेजों से संघर्ष के काल तक मराठे अपने-अपने जातीय गुणों को भी खो बैठे थे। सामंती प्रथा और ऊँच-नीच की भावना ने उनकी सामाजिक एकता को नष्ट कर दिया था और उत्तर भारत की लूट-पाट से प्राप्त धन-सम्पदा ने उन्हें विलासी बनाकर उनकी नैतिकता को समाप्त कर दिया। ऐसा समाज और उनके नेता एक विशाल असंगठित राज्य की अधिक समय तक सुरक्षा नहीं कर सकते थे।

2. **अयोग्य नेतृत्व**—भारत में मराठा-शक्ति का जो अप्रत्याशित प्रसार हुआ था उसका मूल कारण योग्य नेतृत्व था। बालाजी विश्वनाथ से लेकर नाना फड़नवीस तक मराठों को निश्चय ही योग्य व्यक्तियों का नेतृत्व मिलता रहा। परन्तु उसके बाद बाजीराव द्वितीय, दौलतराव सिन्धिया, जसवन्तराव होल्कर आदि जिन नेताओं का नेतृत्व मिला वे अपने समय के अनुकूल सिद्ध नहीं हुए। उन लोगों में सम्पूर्ण मराठा संघ की दृष्टि से सोचने की न तो योग्यता थी और न समय। इसके विपरीत इस समय अंग्रेज कम्पनी को एलफिन्सटन, माल्कम, आर्थर वेलेजली, जनरल लेक, लॉर्ड वेलेजली और लॉर्ड हेस्टिंग्ज जैसे कर्मठ योग्य राजनीतिज्ञ और सेनानायकों की सेवाएँ प्राप्त हो गयी थीं। जहाँ अंग्रेज अधिकारी सम्पूर्ण भारत की राजनीति और सैनिक हलचलों पर नजर लगाये रहते थे, वहाँ मराठा नेताओं को अपनी समस्याओं के अलावा अन्य बातों की विशेष जानकारी नहीं रहती थी।

3. **सैनिक दुर्बलता**—मराठों पर प्रायः यह आरोप लगाया जाता है कि उन्होंने छापामार युद्ध प्रणाली को त्याग कर यूरोपीय ढंग अपनाया, इसलिए उनकी सैनिक शक्ति कमजोर पड़ गई। इस प्रकार के आरोपों में कोई वजन नहीं है। उत्तर भारत के मैदानी इलाकों के लिए छापामार युद्ध पद्धति उपयुक्त नहीं थी और फिर छापामार पद्धति के द्वारा थोड़े समय के लिए शत्रु को अवश्य परेशान किया जा सकता है,

लम्बे समय के लिए उनकी प्रगति को रोकना सम्भव नहीं होता और व्यापक क्षेत्र में तो और भी असम्भव है। उनकी असली दुर्बलता इस बात में थी कि उन्होंने स्वयं यूरोपीय पद्धति को नहीं सीखा बल्कि विदेशी लोगों की सेवाओं पर निर्भर रहे। दूसरी बात, उन्होंने यूरोपीय पद्धति की पूर्णता को प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं किया। इस पद्धति के योग्य उत्तम अस्त्र-शस्त्र ढालने के कारखाने स्थापित नहीं किए। परिणामस्वरूप वे यूरोपीय पद्धति के श्रेष्ठ लड़ाके अंग्रेजों की तुलना में काफी पिछड़े हुए रह गये।

4. **कूटनीतिक असफलता**—पानीपत के युद्ध में मराठों की असफलता का मुख्य कारण उनकी कूटनीतिक असफलता थी। फिर भी, उन्होंने पानीपत से कोई सबक नहीं सीखा। अंग्रेजों के विरुद्ध न तो आपस में एक ही हो पाये और न अन्य भारतीय शक्तियों का सहयोग प्राप्त कर सके। उन्होंने अपने व्यवहार और लूटमार से राजपूतों, सिक्खों, जाटों तथा मुसलमानों सभी को अपना शत्रु बना लिया था। इस प्रकार, एक बार पुनः वे अकेले पड़ गए। यह उनकी कूटनीतिक असफलता का ही परिणाम था। इसके विपरीत अंग्रेजों को मराठों के विरुद्ध गैर मराठा शक्तियों का सहयोग ही नहीं मिला अपितु मराठा सरदारों का सहयोग भी मिला। यह उनकी कूटनीतिक सफलता थी।

5. **आर्थिक अव्यवस्था**—मराठा सरदारों ने अपने राज्यों के आर्थिक विकास की तरफ समुचित ध्यान नहीं दिया। उन्होंने कृषि, व्यापार तथा वाणिज्य की उन्नति के लिए किसी प्रकार का विशेष ध्यान नहीं दिया। चौथा, सरदेशमुखी और लूटमार से प्राप्त होने वाली आय अनिश्चित और अस्थायी थी। अतः उन्हें निरन्तर धन की कमी का अभाव खटकता रहा और इसके कारण वे समय पर आवश्यक साधन भी नहीं जुटा पाते थे। साधन सम्पन्न अंग्रेज कम्पनी से लम्बे समय तक संघर्ष करना, उनके लिए एक असाध्य कार्य था।

6. **अन्तिम कारण**—अंग्रेज कम्पनी एक सबल शक्ति थी। राजनैतिक, प्रशासकीय, सैनिक, आर्थिक सभी दृष्टियों से अंग्रेज कम्पनी की स्थिति मराठों से कहीं अधिक श्रेष्ठ थी। उसके कर्मचारियों में आधुनिक ढंग की राष्ट्रीय भावना तथा मिल-जुलकर काम की प्रवृत्ति थी, जबकि मराठा सरदार और उनके अनुयायी अभी मध्य-युग में ही विचरण कर रहे थे।

पिण्डारियों का दमन (1817–18)

आरम्भ में पिण्डारी लोग मराठा सेनाओं के साथ अनियमित सैनिकों के रूप में रहते थे और मराठों द्वारा किए जाने वाले सैनिक अभियानों के अवसर पर शत्रु क्षेत्र में लूटमार किया करते थे। पानीपत के तीसरे युद्ध के बाद वे मालवा में बस गये और सिन्धिया तथा होल्कर की सेनाओं के साथ रहने लगे। ज्यों-ज्यों मराठा सरदारों की शक्ति कमजोर होती गई, पिण्डारियों ने भी अपने स्वतन्त्र संगठन अथवा दल बनाने शुरू कर दिए। लॉर्ड वेलेजली की सहायक-प्रथा के कारण जब राज्यों को

अपनी सेनाएँ कम करनी पड़ीं तो वे सैनिक भी पिण्डारियों के दल में शामिल हो गये । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि पिण्डारियों की कोई एक जाति नहीं थी । इसमें हिन्दू व मुसलमान दोनों सम्मिलित थे । उनकी जीविका का मुख्य साधन लूटमार से प्राप्त धन था । इसलिए वे क्रूर तथा नृशंस बन गये थे । ये लोग निर्दोष स्त्री-पुरुषों की हत्या करते, उनकी धन सम्पदा को लूटने तथा गाँवों को आग लगा देने में बिल्कुल नहीं हिचकते थे । लूटमार करके तुरन्त गायब हो जाना उनकी मुख्य विशेषता थी ।

उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में उनके चार शक्तिशाली दल थे, जिनके नेता थे—चीतू, बसीलमुहम्मद, करीमखाँ और अमीरखाँ । 1812 ई० में पिण्डारियों ने बुन्देलखण्ड को लूटा और 1815 ई. में उन्होंने अंग्रेजों के मित्र निजाम के राज्य में लूटमार की । राजस्थान के कई राज्यों पर अमीरखाँ पिण्डारी का प्रभाव कायम हो गया ।

मराठा शक्ति को पूरी तरह से कमजोर बनाने के लिए अंग्रेजों के लिए पिण्डारियों का दमन करना आवश्यक हो गया । लॉर्ड हेस्टिंग्ज ने इस कार्य को पूरा किया । सर्वप्रथम उसने कूटनीति के द्वारा मराठा सरदारों को पिण्डारियों से पृथक् किया । इसके बाद एक शक्तिशाली सेना के साथ उन पर चारों तरफ से आक्रमण किया गया । ढूँढ़-ढूँढ़ कर हजारों पिण्डारियों को कत्ल कर दिया गया । जनवरी 1818 ई. तक पिण्डारी शक्ति का सफाया हो गया । करीम खाँ ने अंग्रेजों को आत्म-समर्पण कर दिया । अंग्रेजों ने उसे जीविका-निर्वाह के लिए गोरखपुर के पास जागीर प्रदान की । बसीलमुहम्मद पकड़ा गया । उसने जहर खाकर आत्म-हत्या कर ली । चीतू जंगल में भाग गया जहाँ शायद एक चीते ने उसे मार डाला । अमीर खाँ ने अंग्रेजों की अधीनता स्वीकार कर ली । उसे राजस्थान के टोंक राज्य का नवाब बना दिया गया । इस प्रकार पिण्डारियों की शक्ति को समाप्त कर दिया । इसका एक परिणाम यह निकला कि राजस्थान, मध्य भारत, बुन्देलखण्ड आदि प्रदेशों में शान्ति और व्यवस्था की स्थिति में काफी सुधार हो गया और सामान्य जनता की निष्ठा अंग्रेजी शासन की तरफ अग्रसर होने लगी ।

सिक्खों का अंग्रेजों से संघर्ष

नादिरशाह और बाद में अहमदशाह अब्दाली के आक्रमणों के परिणामस्वरूप पंजाब प्रान्त में मुगलों की सत्ता लगभग समाप्त हो गयी । इससे सिक्खों को अपनी सैनिक तथा राजनैतिक शक्ति बढ़ाने का अवसर मिल गया । 1767–68 तक उन्होंने पूर्व में सहारनपुर से लेकर पश्चिम अटक तक और उत्तर में काँगड़ा से लेकर दक्षिण में जम्मू तक का भू-क्षेत्र अपने अधिकार में कर लिया । लाहौर जैसा प्रसिद्ध नगर भी सिक्खों के अधिकार में आ गया था । इस विस्तृत भू-क्षेत्र पर सिक्खों ने अपने 12 छोटे-छोटे राज्य स्थापित कर लिये थे । इन राज्यों को वे लोग 'मिसल' कहते थे । प्रत्येक मिसल का अपना पृथक् स्वतन्त्र सरदार था । इन सिक्ख सरदारों में भी आपसी एकता का अभाव था और अपना-अपना प्रभाव बढ़ाने के लिए ये लोग आपस में लड़ते-झगड़ते रहते थे । आपसी एकता का एक-मात्र आधार यही था कि

वे एक ही धार्मिक सम्प्रदाय और खालसा के अनुयायी थे। परन्तु राजनैतिक दृष्टि से वे एक इकाई के रूप में कभी नहीं रहे थे। इन बिखरे हुए राज्यों को एकीकृत कर उन्हें एक प्रबल शक्ति के रूप में परिणत करने का कार्य महाराजा रणजीतसिंह ने किया था।

महाराजा रणजीतसिंह—रणजीतसिंह का जन्म 13 नवम्बर, 1780 ई. को हुआ। उसका पिता महासिंह 'सुकरचकिया' (सुकारचकिया) मिसल का सरदार था। रणजीतसिंह घुड़सवारी, युद्धकला और अस्त्र-शस्त्र संचालन में तो प्रवीण हो गया, परन्तु लिखने-पढ़ने में उसका मन ही नहीं लगा और वह निरक्षर तथा अनपढ़ रह गया।

1792 ई० में उसके पिता महासिंह की मृत्यु हो गई और 12 वर्षीय रणजीतसिंह अपनी मिसल का सरदार बना। रणजीतसिंह की सास सदाकौर जो कन्हैया मिसल की मुखिया थी, एक योग्य एवं साहसी महिला थी। उसने दोनों मिसलों की सहायता से रणजीतसिंह की शक्ति को बढ़ाने का पूरा-पूरा प्रयत्न किया।

रणजीतसिंह की उन्नति में एक घटना का विशेष योगदान रहा था। अहमदशाह अब्दाली के पोते और अफगानिस्तान के शासक जमानशाह ने भारत पर आक्रमण किया था। 1798 ई. में जब वह भारतीय अभियान से वापस स्वदेश लौट रहा था तो मार्ग में उसकी बहुत-सी तोपें झेलम नदी के दलदल में फँस गयीं। रणजीतसिंह ने तोपों को निकलवा कर जमानशाह के पास भिजवा दिया। उसके इस कार्य से प्रसन्न होकर जमानशाह ने रणजीतसिंह को 'राजा' का पद प्रदान किया और उसे अपनी तरफ से लाहौर का सूबेदार नियुक्ति कर दिया। इसके बाद रणजीतसिंह ने धीरे-धीरे छोटी-छोटी सिक्ख मिसलों को जीतकर अपनी शक्ति को बढ़ाना शुरू किया। 1802 ई. में उसने अमृतसर पर अधिकार कर लिया। द्वितीय आंग्ल-मराठा युद्ध के अवसर पर अंग्रेजों ने रणजीतसिंह को प्रसन्न रखने की दृष्टि से मूल्यवान भेंट तथा उपहार भिजवाये। परिणामस्वरूप उसने मराठों को सहायता नहीं दी।

सिन्धिया की हार के बाद अंग्रेजों ने सतलज नदी के पूर्व में स्थित सिक्ख राज्यों (नाभा, पटियाला, जिंद आदि) को अपने संरक्षण में ले लिया था। जब रणजीतसिंह ने इन राज्यों की राजनीति में सक्रिय एवं सैनिक हस्तक्षेप के द्वारा अपना प्रभाव बढ़ाने का प्रयत्न किया तो अंग्रेजों के लिए चिन्ता का विषय बन गया। परन्तु दोनों पक्षों ने परिस्थितियों को परखते हुए अन्त में 1809 ई. में अमृतसर की सन्धि सम्पन्न कर ली। रणजीतसिंह ने सतलज नदी के पूर्व में न बढ़ने का वायदा किया और अंग्रेजों ने सतलज के पश्चिम में न बढ़ने का वचन दिया। दोनों ने एक-दूसरे के प्रति मैत्री का आश्वासन दिया। इस सन्धि ने रणजीतसिंह के समस्त सिक्ख राज्यों को संगठित करने के स्वप्न को तोड़ दिया।

जब पूर्व में रणजीतसिंह की प्रगति अवरुद्ध हो गई तो उसने उत्तर-पश्चिम की ओर ध्यान दिया। 1809 ई. कांगड़ा, 1813 में अटक, 1818 में मुल्तान, 1819 में कश्मीर, 1823 में पेशावर और 1835 ई. लद्दाख पर रणजीतसिंह का

अधिकार हो गया। उसने अफगानिस्तान के भगोड़े शासक शाहशुजा से 'कोहिनूर' हीरा भी प्राप्त कर लिया। लद्दाख की विजय में उसके एक सेनापति हरिसिंह नलवा ने काफी नाम कमाया था। 27 जून, 1839 को रणजीत सिंह की मृत्यु हो गई।

रणजीतसिंह जीवन-भर युद्ध करता रहा और अपनी मृत्यु के पूर्व वह एक संगठित राज्य स्थापित करने में सफल रहा। वह एक महान राज्य निर्माता ही नहीं था, वल्कि एक उच्चकोटि का संगठनकर्त्ता और प्रशासक भी था। वह अपने समय का सफल कूटनीतिज्ञ था। उसने परिस्थितियों को परख कर ही अंग्रेजों से मित्रता बनाए रखना उचित समझा था। सर ग्रिफिन ने लिखा है कि "उसने अपनी सैनिक योग्यता के आधार पर जिस देश को जीता उसका शासन इतनी अच्छी प्रकार से किया कि उसका स्थान उस शताब्दी के महान् राजनीतिज्ञों में आता है।" रणजीतसिंह की एक अन्य विशेषता सेना के संगठन की थी। हन्टर के शब्दों में, "उसने खालसा सेना को असीम शक्ति का आधार बना दिया।"

रणजीतसिंह और शिवाजी में काफी अन्तर होते हुए भी दोनों में बहुत-सी समानताएँ देखने को मिलती हैं। दोनों ही निरक्षर थे, परन्तु परिस्थितियों के पारखी थे। दोनों ने अपने राष्ट्र के बिखरे हुए व्यक्तियों को एक नेतृत्व के अन्तर्गत संगठित किया और ऐसे सबल राज्यों का निर्माण किया जो अपने पड़ौसी राज्यों के मुकाबले में खड़े हो सकते थे। यदि शिवाजी की भाँति रणजीतसिंह ने भी अपने व्यक्तिगत जीवन एवं चरित्र तथा शासन-व्यवस्था को अधिक सबल बनाने का प्रयत्न किया होता तो शायद उसकी मृत्यु के बाद सिक्ख शक्ति का इतनी शीघ्रता से पतन नहीं हो पाता।

अंग्रेजों और सिक्खों का प्रथम युद्ध (1845-46)—रणजीतसिंह की मृत्यु के बाद उसका अयोग्य पुत्र खड़गसिंह राजा बना। 5 नवम्बर, 1840 ई. को उसकी मृत्यु हो गई और संयोगवश उसी दिन उसके पुत्र और उत्तराधिकारी नौनिहालसिंह की भी मृत्यु हो गई। अब सिक्ख राज्य के लिए उत्तराधिकार संघर्ष शुरू हो गया। नौनिहालसिंह की पत्नी माई चाँदकौर ने अपने पुत्र का दावा प्रस्तुत किया और रणजीतसिंह के एक लड़के शेरसिंह ने अपना हक बताया। यहीं से सिक्ख राज्य की राजनीति में सेना का प्रभाव बढ़ने लगा। वह 'शासक-निर्माता' बन गई। सेना की सहायता से शेरसिंह राजा बन गया। परन्तु 1843 ई. में चाँदकौर के समर्थक सिंघनवालिया सिक्ख सरदारों ने शेरसिंह, उसके लड़के प्रतापसिंह और वजीर ध्यानसिंह को कत्ल करवा दिया। इसके बाद हीरासिंह नामक सिक्ख सेनापति की सहायता से महारानी जिन्दकौर (झिन्दन) के लड़के दलीपसिंह को राजा बनाया गया और झिन्दन उसकी अभिभाविका बनी। झिन्दन का चरित्र सन्देहपूर्ण था। 1844 ई. में हीरासिंह की कत्ल करा दिया गया और शासन की बागडोर झिन्दन के भाई जवाहरसिंह व उसके प्रेमी लालसिंह के हाथों में चली गई। परन्तु वे दोनों अयोग्य निकले। उसके साथी तेजसिंह और गुलाबसिंह भी स्वार्थी निकले। उन सभी को सिक्ख सेनानायक का भय बना रहता था। अतः उन्होंने सेना की शक्ति को समाप्त

करने का निश्चय किया ताकि वे लोग बिना किसी बाधा के अपने स्वार्थों को पूरा कर सकें। अब यह निश्चित तौर पर कहा सकता है कि तेजसिंह और गुलाबसिंह अंग्रेजों से मिले हुए थे और अंग्रेजों ने सिक्खों में फूट डालने तथा लड़ने के लिए भड़काने का पूरा प्रयत्न किया था। गवर्नर-जनरल एलनबरो ने पहले से ही पंजाब आक्रमण की पूरी तैयारी कर रखी थी। प्रतीक्षा थी केवल बहाने की।

मेजर ब्रोडफुट की योजनानुसार अंग्रेजों के मित्र तेजसिंह और गुलाबसिंह के आदेशानुसार 13 दिसम्बर, 1845 को खालसा-सेना ने सतलज नदी को पार किया परन्तु वह अपनी सीमा की भूमि से आगे नहीं बढ़ी थी। अंग्रेजों के लिए इतना ही बहाना पर्याप्त था और गवर्नर-जनरल लॉर्ड हार्डिञ्ज ने युद्ध की घोषणा कर दी। इस सम्बन्ध में स्वयं अंग्रेज इतिहासकार कैम्पबैल ने लिखा है कि "इतिहास में यह लिखा हुआ है कि सिक्ख-सेना ने हम पर आक्रमण करने के लिए अंग्रेजी सीमाओं में प्रवेश किया, परन्तु अधिकांश लोगों को जानकर विस्मय होगा कि उन्होंने ऐसा कोई काम नहीं किया। वे नदी पार करके केवल अपनी सीमा में आ गये थे।"

इस प्रकार प्रथम सिक्ख-युद्ध शुरू हुआ। सर्व प्रथम 'मुद्रकी' के युद्ध में सिक्खों की हार हुई। फिर फीरोजशाह के युद्ध में सिक्ख हारे। परन्तु बुदवाल के युद्ध में सिक्खों ने अंग्रेजों को पराजित किया। परन्तु बाद में 'अलीवाल' और 'सोवरांवे' के युद्धों में सिक्ख सेना बुरी तरह से पराजित हुई और लाहौर पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया। 1 मार्च 1846 को लाहौर की सन्धि से इस युद्ध का अन्त हो गया। सिक्ख-राज्य से डेढ़ करोड़ रुपया क्षतिपूर्ति की माँगा गया। सतलज और व्यास नदी का मध्यवर्ती भू-भाग अंग्रेजों ने अपने पास रख लिया। सिक्ख-सेना की संख्या को कम कर दिया गया। क्षतिपूर्ति की कुछ कम रकम अंग्रेजों को नकद चुका दी गई और एक करोड़ रुपये के बदले में कश्मीर और हजारा के सूबे डोगरा सरदार गुलाबसिंह को बेच दिये गये। पंजाब में अंग्रेजी सेना को रखा गया।

अंग्रेजों और सिक्खों का दूसरा युद्ध (1848–49)—प्रथम सिक्ख युद्ध में खालसा-सेना को बुरी तरह से पराजित होना पड़ा और उनके राज्य को अपमानजनक सन्धि स्वीकार करनी पड़ी। सिक्ख सैनिक इस कलंक को धोना चाहते थे। उनका मानना था (जो सही था) कि सिक्खों की पराजय उनके अपने ही विश्वासघातक नेता तेजसिंह, लालसिंह, गुलाबसिंह के कारण हुई थी। दूसरी तरफ अंग्रेज अधिकारी सम्पूर्ण पंजाब को ब्रिटिश राज्य में मिलाने को उत्सुक थे और वे अपनी कूटनीति के द्वारा युद्ध को भड़काने वाली परिस्थितियों का निर्माण करने में जुटे थे।

लालसिंह ने कश्मीर के गुलाबसिंह के विरुद्ध विद्रोह करा दिया। अंग्रेजों की सहायता से विद्रोह दबा दिया गया और लालसिंह को मंत्री पद से हटा दिया गया। रानी झिन्दन को अभिभाविका के पद से हटा दिया गया और अंग्रेज रेजीडेन्ट की देख-रेख में एक नई संरक्षक परिषद् गठित की गई। पंजाब के मुसलमानों को विभिन्न प्रकार की सुविधाएं प्रदान की गई। सेना से निकाले गये सैनिक बेकार हो गये और जो सेना में ही रह गए थे उनके वेतन कम कर दिए गए जिससे वे भी असंतुष्ट हो

गए। रेजीडेन्ट लॉरेन्स के सामाजिक सुधारों का भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। परन्तु युद्ध का तात्कालिक कारण मुल्तान के मूलराज का विद्रोह बना।

अपने पिता सावन्तमल की मृत्यु के बाद 1844 ई. में मूलराज मुल्तान का सूबेदार बना था। अब उससे उत्तराधिकार शुल्क की भारी धनराशि माँगी गई। उसने असमर्थता प्रकट करते हुए सूबेदारी से त्याग-पत्र दे दिया। अंग्रेज अधिकारियों की देख-रेख में सरदार खानसिंह मान को नया सूबेदार बनाकर मुल्तान भेजा गया, जहाँ असंतुष्ट सिक्ख सैनिकों ने दो अंग्रेज अधिकारियों का वध कर दिया। घटनाएँ इस तेजी से घटित हुईं कि मुलराज को विद्रोह करना पड़ा और कई प्रमुख सिक्ख सरदार तथा सिक्ख सेना भी इस विद्रोह में सम्मिलित हो गए और यह विद्रोह सम्पूर्ण सिक्ख राज्य में फैल गया। अब इसमें कोई संदेह नहीं रहा है कि अंग्रेजों ने तत्काल विद्रोह को दबाने के स्थान पर जान-बूझ कर इसे चारों तरफ फैलने दिया ताकि उन्हें युद्ध का बहाना और उसके माध्यम से सम्पूर्ण पंजाब को अपने राज्य में मिलाने का अधिकार मिल जाये।

1844 ई. में गवर्नर-जनरल लॉर्ड डलहौजी ने युद्ध की घोषणा कर दी। युद्ध के आरम्भ में 'चिलियानबाला' के युद्ध में सिक्खों का पलड़ा भारी रहा, परन्तु 'गुजरात' नामक स्थान पर लड़े गये युद्ध ने सिक्खों की कमर तोड़ दी। इसके बाद एक-एक करके प्रमुख सिक्ख सरदारों ने आत्म-समर्पण कर दिया। लॉर्ड डलहौजी ने अपनी जिम्मेदारी पर पंजाब को अंग्रेजी राज्य में मिला लिया। महाराजा दलीपसिंह को पेन्शन देकर इंगलैण्ड भेज दिया गया जहाँ उसने ईसाई-धर्म स्वीकार कर लिया। पंजाब को मिलाने से अंग्रेजी राज्य की सीमाएँ भारत की प्राकृतिक-भौगोलिक सीमाओं के निकट पहुँच गईं।

राजपूताना और सिन्ध—मुगल साम्राज्य के पतन के परिणामस्वरूप राजपूताना के राजपूत राज्यों पर मुगल सत्ता का नियन्त्रण समाप्त हो गया। इससे अब उसमें आपसी संघर्ष उठ खड़े हुए। प्रत्येक राजपूत नरेश ने अपना-अपना राज्य और सत्ता बढ़ाने का प्रयत्न किया। अपने आपसी संघर्षों में उन्होंने मराठों के सैनिक सहयोग को क्रय किया जिससे मराठों को राजपूत राज्यों की राजनीति में अपने पैर जमाने का अवसर मिल गया। धीरे-धीरे मराठा अपना प्रभाव बढ़ाते गये और अन्त में अधिकांश राजपूत राज्यों पर उनकी प्रभुसत्ता कायम हो गई। बाद में उदयपुर के महाराणा भीमसिंह की पुत्री कृष्णाकुमारी के साथ विवाह की बात को लेकर जयपुर और जोधपुर के राजाओं में घातक संघर्ष शुरू हो गया। इस संघर्ष के कारण अमीर खाँ पिण्डारी को भी राजपूताना में अपने पैर जमाने तथा राजपूत राज्यों का शोषण करने का अवसर मिल गया।

उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में मराठों, पठानों और पिण्डारियों के शोषण तथा अत्याचारों से राजपूत राज्य मृतप्राय: हो चुके थे। शासकों और सामन्तों के आपसी संघर्ष और सामन्तों की शक्ति को कुचलने में शासकों की असफलता ने राज्यों में शान्ति और व्यवस्था को समाप्त कर दिया था। राजकोष रिक्त हो चुके थे और

स्थानीय सेठ-साहूकारों ने भी राज्यों को कर्जा देना बन्द कर दिया था। उदाहरणार्थ, उदयपुर के महाराणा का गुजारा कोटा के दीवान जालिमसिंह झाला द्वारा प्रति मास भेजे जाने वाले एक हजार रुपया मात्र से हो रहा था। ऐसी स्थिति में, जब अंग्रेजों ने उनके साथ सहायक-सन्धियों का प्रस्ताव रखा तो उनमें से अधिकांश ने उसे सहर्ष स्वीकार कर लिया। शेष ने भी विवशता के कारण स्वीकार कर लिया। 1878 ई. तक सभी राजपूत राज्य (सिरोही को छोड़कर) अंग्रेज कम्पनी के संरक्षण में आ गये थे। इसके लिए अंग्रेजों को रक्तपात अथवा सैनिक शक्ति का प्रयोग नहीं करना पड़ा।

मुगल सत्ता के पतन के बाद सिन्ध का प्रदेश भी मुगलों की केन्द्रीय सत्ता से स्वतन्त्र हो गया था। सिन्ध में तालपुर परिवार के अमीरों ने अपना शासन कायम किया। सैनिक और व्यापारिक दोनों ही दृष्टियों से सिन्ध की भौगोलिक स्थिति अंग्रेज कम्पनी के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण थी। अतः उन्होंने सिन्ध में अपना प्रभाव बढ़ाने का निश्चय किया। 1809 ई. में अंग्रेजों ने सिन्ध के अमीरों के साथ एक सन्धि की जिसके अनुसार सिन्ध के अमीरों ने फ्रांसीसियों को नहीं बसने देने का वचन दिया। 1820 ई. में इस सन्धि को पुनः दोहराया गया। 1832 ई. में अमीरों के साथ एक नई सन्धि की गई जिससे अंग्रेजों को सिन्ध में व्यापार करने की सुविधाएँ मिल गई, परन्तु यह तय हुआ था कि सिन्ध से होकर कोई अंग्रेजी सेना अथवा युद्ध सामग्री नहीं जायेगी।

1839 ई. में सिन्ध के अमीरों को अपनी सेवा में अंग्रेजी सेना रखने तथा उसके व्यय के लिए 3 लाख रुपया वार्षिक देने के लिए विवश किया गया। 1843 ई. में लॉर्ड एलनबरो ने सिन्ध के अमीरों पर कुशासन का झूठा आरोप लगाकर सम्पूर्ण सिन्ध पर अधिकार कर लिया और उसे अंग्रेजी राज्य में मिला लिया गया। सिन्ध के सम्बन्ध में अंग्रेजों ने जो नीति अपनायी वह काफी दयनीय थी। इन्स ने लिखा है कि "हमारे भारतीय इतिहास की घटनाओं में सिन्ध की विजय सबसे अनैतिक है।" अंग्रेज कम्पनी के डायरेक्टरों की सभा ने भी इसे "अन्यायपूर्ण, अव्यावहारिक और भारतीय सरकार के सम्मान और हित के विरुद्ध माना था।" इससे अंग्रेज जाति के चरित्र और उसकी ईमानदारी पर एक और धब्बा लग गया।

अफगानिस्तान—मध्य एशिया की ओर रूस के बढ़ते हुए प्रभाव से भारत की अंग्रेज सरकार बराबर चिन्तित रही। अतः अंग्रेज कम्पनी चाहने लगी थी कि या तो अफगानिस्तान पर उसका नियन्त्रण स्थापित हो जाय अथवा वहाँ पर उसके कठपुतले व्यक्ति का शासन रहे तो अच्छा रहे। शुरू में अंग्रेजों को कुछ सफलता भी मिली। उन्होंने अपनी सैनिक सहायता से अफगानिस्तान के निष्कासित शाहशुजा को पुनः काबुल के सिंहासन पर बैठाया (1839 ई.) और उसके विरोधी दोस्त मुहम्मद को बन्दी बनाकर कलकत्ता भेज दिया। परन्तु अफगान जनता ने अंग्रेजों के हस्तक्षेप का इतना दृढ़ कठोर विरोध किया कि अंग्रेज लोग अपनी समस्त

सूझबूझ और सैनिक शक्ति के बल पर भी उनको दबा न पाये। अन्त में, विवश होकर उन्होंने दोस्त मुहम्मद को रिहा कर दिया। उसको अफगानिस्तान का शाह स्वीकार कर लिया और अफगानिस्तान से अपनी सेनाओं को वापस बुला लिया।

नेपाल—1801 ई. में अंग्रेज कम्पनी को अवध के नवाब से गोरखपुर का जिला प्राप्त हुआ जिससे कम्पनी राज्य की सीमा नेपाल राज्य की सीमा से जा टकराई। बार्लो और मिन्टो के शासन काल में नेपाल के गोरखों का साहस काफी बढ़ गया और उन्होंने बुटवाल और शिवराजपुर पर अपना अधिकार जमा लिया। लार्ड हेस्टिंग्ज ने नेपाल के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। अन्त में नेपाल पराजित हुआ और उसे सिघोली की सन्धि स्वीकार करनी पड़ी। इसी सन्धि के अनुसार तराई का सम्पूर्ण प्रदेश तथा गढ़वाल और कुमायूँ के प्रान्त कम्पनी को प्राप्त हुए। इससे कम्पनी को एक लाभ यह हुआ कि बहुत बड़ी संख्या में युद्ध कुशल गोरखे अंग्रेजों की सेना में भर्ती होने लगे। ये लोग अंग्रेजों के लिए स्वामिभक्त तथा विश्वासपात्र सैनिक सिद्ध हुए।

ब्रह्मा—18वीं सदी के दूसरे भाग से ही ब्रह्मा ने अपने राज्य का विस्तार करना शुरु कर दिया था। धीरे-धीरे उसने असम तथा उसके आस-पास के प्रदेशों पर भी अपना अधिकार जमा लिया। अंग्रेज भी असम को जीतना चाहते थे ताकि भारत की पूर्वी सीमा पर उनका नियन्त्रण दृढ़ हो जाय। 1824 ई. में अंग्रेजों का ब्रह्मा के साथ युद्ध शुरु हो गया जो ब्रह्मा का पहला युद्ध कहलाता है। यह युद्ध दो वर्ष तक चला जिसमें ब्रह्मा पराजित हुआ उसे याण्डूब की सन्धि (24 फरवरी, 1826 ई.) पर हस्ताक्षर करने पड़े। इसी सन्धि के अनुसार ब्रह्मा को युद्ध की क्षति पूर्ति के लिए लगभग एक करोड़ रुपया देने का वचन देना पड़ा। असम, अराकान और तनासरम के तीनों प्रदेशों पर कम्पनी सरकार का संरक्षण स्वीकार कर लिया गया। अंग्रेजों को ब्रह्मा में व्यापारिक सुविधाएं प्रदान की गईं।

इस सन्धि से कई अंग्रेज व्यापारी रंगून में जा बसे और अपनी सरकार से निरन्तर यह शिकायत करते रहे कि रंगून का बर्मी गवर्नर उन पर बहुत अत्याचार करता है। कम्पनी सरकार ने लैम्बर्ट नामक पदाधिकारी को एक जहाजी बेड़े के साथ रंगून भेजा और क्षतिपूर्ति की माँग की। लैम्बर्ट का व्यवहार बहुत ही अशिष्ट रहा जिसके फलस्वरूप ब्रह्मा का दूसरा युद्ध (1852 ई.) लड़ा गया। इस युद्ध में भी ब्रह्मा की पराजय हुई और अंग्रेजों ने ब्रह्मा के सम्पूर्ण समुद्री तटवर्ती प्रदेश को अपने अधिकार में ले लिया। इस प्रकार, ब्रह्मा पर भी कम्पनी सरकार का संरक्षण स्थापित हो गया।

वेलेजली की सहायक सन्धि प्रथा

भारत में अंग्रेजी राज्य के विकास में लॉर्ड वेलेजली की सहायक-सन्धि प्रथा की भूमिका काफी महत्त्वपूर्ण रही थी। लॉर्ड वेलेजली सन् 1798 से 1805 ई. तक भारत में कम्पनी सरकार का गवर्नर जनरल रहा था। वह अपने साथ एक निश्चित योजना लेकर आया था जिसका ध्येय 'भारत के ब्रिटिश साम्राज्य' को 'भारत का

ब्रिटिश साम्राज्य' बनाया था। सहायक-सन्धि प्रथा उसकी योजना का एक महत्वपूर्ण साधन थी। वेलेजली को इस नीति का मूल जन्मदाता तो नहीं कहा जा सकता क्योंकि डूप्ले, क्लाइव तथा अन्य अंग्रेज गवर्नरों ने भी भारतीय नरेशों को सैनिक सहायता देने के बदले में उनसे धन लेने की प्रथा अपनाई थी। परन्तु वेलेजली ने सहायक सन्धि प्रथा की विस्तृत व्याख्या की, उनमें नई शर्तें जोड़ी, उसे अंग्रेजी राज्य के विकास का एक सबल साधन बनाया और कम्पनी के सम्पर्क में आने वाले प्रत्येक भारतीय नरेश के साथ इसका प्रयोग किया। वेलेजली की सहायक सन्धियों का ध्येय—भारतीय राज्यों पर कम्पनी के प्रभुत्व का विकास, भारतीय राज्यों के व्यय पर कम्पनी के साधनों का विकास, भारतीय राज्यों के आपसी झगड़ों में कम्पनी की मध्यस्थता और भारतीय राज्यों से अंग्रेजों के अलावा अन्य यूरोपियन लोगों का सफाया। उसके द्वारा सम्पादित सहायक सन्धियों की मुख्य धाराएं इस प्रकार थीं—

1. कम्पनी से सन्धि करने वाला भारतीय राज्य कम्पनी की अधीनता स्वीकार करेगा और कम्पनी से पूछे बिना वह अन्य किसी भी राज्य के युद्ध अथवा सन्धि नहीं करेगा। दूसरे शब्दों में, सन्धि करने वाले राज्य की विदेश नीति पर कम्पनी सरकार का पूरा नियन्त्रण कायम हो गया।

2. भारतीय राज्य को अपने राज्य में अपने खर्च पर एक अंग्रेज सेना रखनी पड़ेगी।

3. भारतीय राज्य कम्पनी से पूछे बिना अंग्रेजों के अलावा अन्य किसी यूरोपियन को अपनी सेना में नहीं रखेगा।

4. भारतीय राज्य की बाह्य-आक्रमण से रक्षा का दायित्व कम्पनी सरकार का रहेगा।

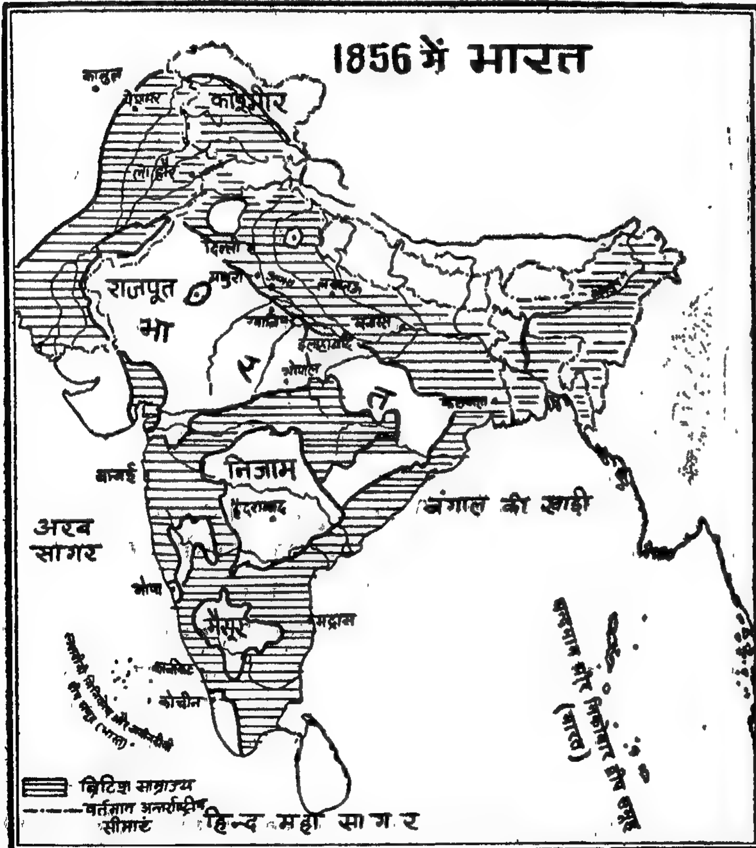
5. भारतीय राज्य को अपने राज्य में कम्पनी का रेजीडेन्ट रखना होगा।

6. भारतीय राज्य को अपने आन्तरिक शासन की स्वतन्त्रता रहेगी।

वेलेजली की सहायता सन्धि प्रथा से कम्पनी को बहुत लाभ हुआ। इससे भारतीय राज्यों में फ्रांसीसियों का प्रभाव समाप्त हो गया। भारतीय नरेश भी एक-दूसरे से अलग-अलग कर दिए गए क्योंकि उनकी विदेशी नीति पर कम्पनी का नियन्त्रण स्थापित हो गया था। इससे कम्पनी राज्य की सैनिक सीमाएँ उसकी राजनैतिक सीमाओं से भी आगे बढ़ गयी। भारतीय राज्यों की सैन्य शक्ति निर्बल हो गई और वे कम्पनी की सेना पर आश्रित हो गये। कम्पनी को भारतीय नरेशों के व्यय पर बहुत बड़ी सेना रखने में सफलता मिल गई। इससे शान्ति और व्यवस्था की समस्या को सुलझाना आसान हो गया।

परन्तु सहायक सन्धि प्रथा भारतीय नरेशों और प्रजा के लिए हानिकारक सिद्ध हुई। सहायक सन्धि करने वाले शासक को अंग्रेज सेना का व्यय चुकाना पड़ता था और इसमें असमर्थ होने की स्थिति में कम्पनी सरकार अपने बकाया रुपयों की वसूली के नाम पर उस राज्य के समृद्ध भू-क्षेत्र पर अपना अधिकार जमा लेती थी।

इससे राज्यों की आर्थिक स्थिति दुर्बल होती गई। प्रजा पर करों का बोझ बढ़ता गया और शासन-व्यवस्था शिथिल पड़ गई। ब्रिटिश रेजीडेन्टों की नियुक्ति ने राज्यों में नरेशों की आन्तरिक स्वतन्त्रता को भी नष्ट कर दिया। राज्य के कार्यों में रेजीडेन्टों के दैनिक हस्तक्षेप ने शासकों को शासन-सम्बन्धी कार्यों के प्रति उदासीन बना दिया और वे भोग विलास में डूबते चले गये। आर्थर वेलेजली ने इस सम्बन्ध में लिखा था "हमारी नीति और हमारे लक्ष्य ने समस्त भारतीय शक्तियों को शून्य की स्थिति में कर दिया है।"



भारत के महासर्वेक्षक की अनुज्ञानुसार भारत सर्वेक्षण विभागीय मानचित्र पर आधारित। © भारत सरकार का प्रतिलिप्यधिकार, 1972.
समुद्र में भारत का जलप्रदेश उपयुक्त आधार रेखा से मापे गये बारह समुद्री मील की दूरी तक है।
इस मानचित्र में दिये गये नामों का अक्षर-विन्यास विभिन्न सूत्रों से लिया गया है।

डलहौजी की गोद निषेध प्रथा

लॉर्ड डलहौजी 1848 से 1856 ई. तक भारत में कम्पनी सरकार का गवर्नर-जनरल रहा था। भारत में अंग्रेजी राज्य को विस्तृत करने में उसकी गोद निषेध प्रथा (हड़प नीति) की भूमिका भी महत्त्वपूर्ण रही थी। भारत में प्रत्येक

हिन्दू को परम्परा और धर्म से किसी भी बच्चे को गोद लेने का अधिकार रहा है। शासक लोग भी पुत्र न होने की स्थिति में किसी निकटतम सम्बन्धी के लड़के को गोद ले लिया करते थे और उसकी मृत्यु के बाद गोद लिया लड़का उनके राज्य का उत्तराधिकारी बन जाता था। स्वयं कम्पनी सरकार ने 1826 से 1849 ई. की अवधि में कम से कम 15 नरेशों द्वारा गोद लिए गए उत्तराधिकारियों को मान्यता प्रदान की थी।

लॉर्ड डलहौजी ने निःसन्तान भारतीय राजाओं को गोद लेने की आज्ञा नहीं दी और जिन्होंने उसकी आज्ञा के विरुद्ध गोद लिया, उसे उसने मान्यता नहीं दी। ऐसे राजाओं की मृत्यु के बाद उसने उनके राज्य ब्रिटिश राज्य में मिला लिए। अपनी इस नीति के अन्तर्गत उसने जिन राज्यों को ब्रिटिश राज्य में मिलाया वे निम्नलिखित थे—

1. सतारा (1848 ई.), 2. सम्भलपुर (1849 ई.), उदयपुर (मध्यप्रदेश का एक छोटा राज्य 1852 ई), 4. जैतपुर (1849 ई.), 5. बागपत (1849ई.) 6. झाँसी (1854 ई.) और 7. नागपुर (1854 ई.)।

जिन भारतीय राजाओं को इससे पूर्व कम्पनी सरकार से वार्षिक पेन्शनें मिली हुई थीं उन पर भी इस नीति को लागू किया गया और उनकी मृत्यु के बाद पेन्शनें बन्द कर दी गईं। उदाहरणार्थ, पेशवा बाजीराव द्वितीय को 8 लाख रुपया वार्षिक पेंशन मिलती थी। 1853 ई. में उसकी मृत्यु हो गई। उसने अपने जीवन काल में ही 'नाना साहेब' को गोद ले लिया था। परन्तु डलहौजी ने पेशवा की उपाधि तथा पेंशन—दोनों को समाप्त कर दिया। इसी प्रकार, कर्नाटक के नवाब तथा तंजोर के राजा की उपाधियाँ तथा पेन्शनें भी उनकी मृत्यु के बाद समाप्त कर दी गईं। कम्पनी के डाइरेक्टरों के हस्तक्षेप से केवल राजस्थान का करौली राज्य डलहौजी की गोद-निषेध-नीति का शिकार बनने से बच गया था।

डलहौजी की यह नीति तर्क एवं कानून संगत थी या नहीं, यह गहरे विवाद का विषय है। परन्तु इतना निश्चित है कि उसने इस नीति का प्रयोग केवल उपयोगिता तथा साम्राज्य-विस्तार की लालसा के कारण किया था। परन्तु इसके परिणाम अच्छे नहीं निकले। उसकी इस नीति से भारतीय राजाओं का कम्पनी के शासन से विश्वास उठ गया। इस नीति से प्रभावित लोगों ने सन् 1857 की क्रान्ति में भाग लेकर कम्पनी शासन के विरुद्ध विद्रोह का नेतृत्व किया। यद्यपि उनका यह प्रयास असफल रहा, परन्तु भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन का भी अन्त हो गया।

अभ्यास के लिए प्रश्न

1. "बक्सर के युद्ध ने प्लासी के अधूरे कार्य को पूरा कर दिया" इस कथन के संदर्भ में बंगाल में अंग्रेजी शक्ति का विकास समझाइए।

2. मैसूर राज्य का पतन कैसे हुआ? विस्तार से समझाइए।

3. अंग्रेजों और मराठों के आपसी युद्धों के कारण और परिणाम बताइए। मराठों की पराजय के मुख्य कारण क्या थे ?
4. सिक्खों और अंग्रेजों के संघर्ष के मूल कारण बताइए। सिक्ख क्यों हार गए ?
5. वेलेजली की सहायक सन्धि-प्रथा से आप क्या समझते हैं ? इसकी विशेषता का उल्लेख करते हुए इसके परिणामों की चर्चा कीजिए।

अपने अध्ययन की जांच कीजिए

1. सही उत्तर को क्रमांक में लिखिए—
   (क) मीरकासिम ने अपनी राजधानी कहाँ स्थानान्तरित की थी ?
   (अ) बक्सर (ब) मुंगेर
   (स) मुर्शिदाबाद (द) कासिम बाजार ( )
   (ख) अंग्रेजों और मराठों के प्रथम युद्ध की अवधि में अंग्रेजों को किस अपमानजनक सन्धि पर हस्ताक्षर करने पड़े थे ?
   (अ) सूरत की सन्धि (ब) पुरन्दर की सन्धि
   (स) बगाँव की सन्धि (द) सालबाई की सन्धि ( )
   (ग) मुगल सम्राट शाहआलम को अन्धा बनाने वाला कौन था ?
   (अ) गुलाम कादिर (ब) इस्लाम बेग
   (स) महादजी सिन्धिया (द) तुकोजी होल्कर ( )
   (घ) जसवन्तराव होल्कर ने किस युद्ध में अंग्रेजों को परास्त किया ?
   (अ) असई (ब) लासवरी
   (स) मुकुन्ददारा (द) लाखेरी ( )
   (ङ) पिण्डारियों के किस नेता को टोंक राज्य का नवाब बनाया गया था ?
   (अ) चीतू (ब) वसील मुहम्मद
   (स) करीम खां (द) अमीर खाँ ( )
2. केवल एक पंक्ति में उत्तर दीजिए—
   (क) मीरकासिम को गद्दी छोड़ने के लिए क्यों कहा गया था ?
   (ख) बक्सर का युद्ध सही अर्थों में किनके मध्य लड़ा गया था ?
   (ग) टीपू सुल्तान ने अंग्रेजों के विरुद्ध किससे सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न किया था।
   (घ) पुरन्दर की संधि क्यों नहीं लागू हो पाई ?
   (ङ) रणजीतसिंह किस मिसल का सरदार था ?
3. केवल पाँच-सात पंक्तियों में उत्तर दीजिए—
   (क) मीरकासिम ने अंग्रेज अधिकारियों की अनुचित कार्यवाहियों को रोकने के लिए क्या कदम उठाये थे।
   (ख) इलाहाबाद की सन्धि से अंग्रेज कम्पनी को क्या लाभ मिला ?
   (ग) हैदरअली और अंग्रेजों के मध्य संघर्ष का मूल कारण क्या था ?

(घ) महादजी सिन्धिया ने उत्तर भारत में मराठा शक्ति के प्रभाव को पुनः कैसे स्थापित किया ?

(ङ) अंग्रेजों और सिक्खों के आपसी संघर्ष का क्या कारण था ?

4. भारत के मानचित्र में ब्रिटिश साम्राज्य के क्रमिक विकास की अवस्थाएँ बतलाइये।

पूरक अध्ययन के लिए ग्रन्थ

1. पी. रॉबर्ट्स : ब्रिटिशकालीन भारत का इतिहास
2. डॉडवेल : कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग 5–6
3. सरकार तथा दत्ता : मॉडर्न हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग 2
4. शर्मा-व्यास : आधुनिक भारत

---

10. ब्रिटिश साम्राज्य को संगठित बनाने के प्रयास

इलाहाबाद की सन्धि से भारत में अंग्रेजों की ईस्ट इण्डिया कम्पनी को बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी प्राप्त हुई और इस घटना से अंग्रेज कम्पनी एक व्यापारिक संस्था से राजनीतिक संस्था बन गई। उस पर प्रशासन का भार आ पड़ा। धीरे-धीरे कम्पनी का राज्य बढ़ता गया। बढ़ते हुए राज्य को संगठित करने की दृष्टि से कम्पनी सरकार को प्रशासनिक व्यवस्था का दायित्व लेना पड़ा और परिस्थितियों और अपनी सुविधा के अनुसार प्रशासन व्यवस्था के क्षेत्र में नाना प्रकार के सुधार भी करने पड़े। 1857 ई० की क्रांति के बाद भारत में अंग्रेजी राज्य की व्यवस्था कम्पनी के हाथ से निकल कर ब्रिटिश संसद और सरकार के हाथ में चली गई। उनके शासनकाल में भी प्रशासनिक व्यवस्था के क्षेत्र में सुधार और संगठन का कार्य जारी रहा। अतः इस विषय को हम दो शीर्षकों के अन्तर्गत लेंगे—एक, कम्पनी के शासनकाल के अन्तर्गत और दूसरा, ब्रिटिश सरकार के अन्तर्गत।

कम्पनी के शासनकाल में संगठन कार्य

रॉबर्ट क्लाइव और दोहरा प्रबन्ध—कम्पनी द्वारा दीवानी का अधिकार करने के पूर्व बंगाल, बिहार और उड़ीसा के सूबों की शासन-व्यवस्था मोटे तौर पर दो भागों में विभाजित थी—एक दीवानी और दूसरा निजामत। दीवानी के अन्तर्गत लगान वसूल करने और असैनिक न्याय (दीवानी न्याय) प्रदान करना मुख्य काम थे, निजामत के अन्तर्गत शांति और व्यवस्था को कायम रखना, सैन्य-व्यवस्था, सुरक्षा

और फौजदारी न्याय का कार्य मुख्य था । इलाहाबाद की सन्धि से दीवानी का काम कम्पनी को मिल गया और निजामत का काम बंगाल के नवाब के पास ही बना रहा । शासन को दो विभिन्न शक्तियों के हाथों में दे देने के कारण ही, इस शासन को 'दोहरा शासन' (द्वैध-शासन) कहा जाता है ।

कम्पनी दीवान तो बन गई, परन्तु उसने लगान वसूल करने, लगान-व्यवस्था का उचित प्रबन्ध करने और दीवानी न्याय-व्यवस्था का सीधा दायित्व अपने ऊपर नहीं लिया । इस काम के लिए उसने दो नायब-दीवान नियुक्त किए—बंगाल के लिए मुहम्मद रजा खां जिसका मुख्यालय मुर्शिदाबाद रखा गया और बिहार के लिए राजा सिताबराय जिसका मुख्यालय पटना रखा गया । इस प्रकार कम्पनी ने अपना दायित्व भारतीय अधिकारियों को सौंप दिया परन्तु इन लोगों को कम्पनी के निर्देशानुसार लगान वसूल करना पड़ता था ।

निजामत के अधिकार नवाब के पास रहे । इस कार्य के लिए कम्पनी ने नवाब को एक निश्चित वार्षिक धनराशि देना स्वीकार किया था । निजामत के कार्य को सुचारु रूप से चलाने के लिए सैनिक शक्ति की आवश्यकता होती थी और सैनिक शक्ति अंग्रेजों के पास थी । अर्थात् निजामत के कार्य के लिए भी नवाब अंग्रेजी कम्पनी पर आश्रित हो गया था । फिर बंगाल का नवाब अल्पायु था और कम्पनी ने नवाब की ओर से उसके कार्यों की देख-रेख के लिए एक नायब-निजाम को नियुक्त किया । इस पद पर भी मुहम्मद रजा खाँ को नियुक्त किया गया, जो कम्पनी का नायब-दीवान भी था अर्थात् बंगाल की शासन-व्यवस्था का दायित्व कम्पनी के ही एक भारतीय कर्मचारी को सौंप दिया गया । इस प्रकार, व्यावहारिक दृष्टि से कम्पनी की शक्ति ही सर्वोच्च थी । फिर भी, उसने शासन का सीधा उत्तरदायित्व नहीं लिया बल्कि अपने कठपुतले भारतीय कर्मचारियों के माध्यम से अपना स्वार्थ सिद्ध करने का प्रयत्न किया । भारतीय कर्मचारियों के पास दायित्व तो थे परन्तु सत्ता नहीं थी । द्वैध-शासन व्यवस्था का यही मूल दोष था ।

द्वैध-शासन शुरू से ही असफल सिद्ध हुआ । अब चूँकि कम्पनी के अंग्रेज कर्मचारियों पर किसी प्रकार का बन्धन न था, वे लोग अपने व्यक्तिगत व्यापार में फँसते चले गये । 'दस्तक' (फ्री पास) के दुरुपयोग के कारण भारतीय व्यापारियों के लिए अंग्रेजों की तुलना में व्यापार वाणिज्य करना सम्भव न रहा और उनसे से अधिकांश ने जीविका का दूसरा साधन अपना लिया । उससे राज्य की आय काफी कम हो गई । राज्य के कुटीर-उद्योगों का विनाश हो गया । इस सम्बन्ध में कम्पनी ने अपनी राजनीतिक शक्ति का भी उपयोग किया । अंग्रेज व्यापारी भारतीय कारीगरों से मनमाने भाव पर उनका सामान खरीद लेते और मनमाने भाव पर उन्हें कच्चा माल लेने के लिए विवश करते । जुलाहों की सबसे अधिक दुर्दशा हुई । कइयों के अँगूठे काट दिए गए और सैकड़ों ने बंगाल से भाग कर प्राण बचाये ।

द्वैध-शासन ने खेती को नष्ट कर दिया । क्लाइव ने दीवानी का अधिकार मिलते ही लगान की दर को बढ़ा दिया । लगान वसूली का काम प्रतिवर्ष अधिक बोली बोलने वाले को नीलाम किया जाने लगा । नीलाम द्वारा लगान वसूली का

अधिकार पाने वाले व्यक्ति अपने-अपने क्षेत्रों के किसानों से ज्यादा राजस्व वसूल करने का प्रयत्न करते थे। परन्तु न तो कम्पनी को और न ही इन ठेकेदारों को भूमि की उन्नति में किसी प्रकार की रुचि थी। परिणामस्वरूप अनेक किसान कृषि कार्य को छोड़कर भाग गये और कृषि भूमि जंगल में परिवर्तित होने लगी। 1769-70 में बंगाल में भयंकर अकाल पड़ा। हजारों लोग भूख से मर गये। इस अवसर पर लगान माफ करना तो दूर रहा उल्टे कम्पनी ने लगान की दर को बढ़ा दिया। बढ़ा हुआ लगान किसान के घरेलू सामान को नीलाम करके वसूल किया गया। इस प्रकार की स्थिति से कम्पनी का संचालक-मण्डल भी चिन्तित हो उठा और जब वारेन हेस्टिंग्ज को गवर्नर नियुक्त किया गया तो उसे इन स्थितियों को सुधारने के विशेष आदेश दिए गए थे।

क्लाइव के अन्य सुधार—कम्पनी के कर्मचारी अपनी धन-लोलुपता के कारण उत्तरदायित्वहीन और भ्रष्टाचारी बन गये थे। उन्हें अपने दस्तकों को बेचकर लाभ कमाने तथा भारतीयों से भेंट तथा रिश्वत लेने की आदत पड़ गई थी। क्लाइव ने इस स्थिति को सुधारने का प्रयत्न किया। उसने कम्पनी के समस्त कर्मचारियों से भविष्य में ईमानदारी से काम करने तथा भेंट-रिश्वत न लेने के प्रतिज्ञा-पत्र लिखवाये। मद्रास से पुराने निष्ठावान अंग्रेज कर्मचारियों को बंगाल में नियुक्त किया गया और बंगाल के नए कर्मचारियों को मद्रास भेज दिया गया। कर्मचारियों का वेतन बढ़ा दिया गया। सैनिकों का दोहरा भत्ता बन्द कर दिया गया। अवकाश प्राप्त कर्मचारियों की पेन्शन की व्यवस्था के लिए उसने अपने नाम से फण्ड स्थापित किया। इन सुधारों के उपरान्त भी कम्पनी की शासन व्यवस्था में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया।

वारेन हेस्टिंग्ज (1772-85)—1767 ई० में क्लाइव स्वदेश लौट गया। उसके बाद कम्पनी द्वारा स्थापित बंगाल का राज्य पन्निक्कर के शब्दों में 'डाकू-राज्य' बन गया था। कम्पनी स्वयं दिवालिए की स्थिति में पहुँच गई थी। अतः 1772 ई० में वारेन हेस्टिंग्ज को गवर्नर नियुक्त किया गया और उसे मौजूदा स्थिति को सुधारने का दायित्व सौंपा गया।

वारेन हेस्टिंग्ज ने अपने सुधारों के द्वारा एक तरफ तो मौजूदा स्थिति को सुधारने का प्रयत्न किया और दूसरी तरफ राज्य को व्यवस्थित रूप देने के लिए प्रशासन व्यवस्था का संगठित करने का कार्य किया। वारेन हेस्टिंग्ज ने सर्वप्रथम द्वैध-शासन को समाप्त किया। नायब-दीवानों को हटा दिया गया और दीवानी का दायित्व प्रत्यक्ष रूप से कम्पनी ने अपने हाथों में ले लिया। नवाब से निजामत के अधिकारों को भी ले लिया गया। उसे अब अपने निजी खर्च के लिए 16 लाख रुपया वार्षिक दिया जाने लगा।

लगान व्यवस्था—अब हेस्टिंग्ज ने लगान व्यवस्था की तरफ ध्यान दिया। इसके लिए उसने अपनी अध्यक्षता में एक लगान समिति बनाई। समिति की रिपोर्ट के आधार पर प्रत्येक जिले के लगान की पूरी जानकारी रखी गई और लगान वसूली

का काम पाँच वर्ष की अवधि के लिए ऊँची बोली बोलने वाले व्यक्तियों (ठेकेदारों) को दिया गया। राजकीय खजाने को मुर्शिदाबाद से कलकत्ता लाया गया। कम्पनी की तरफ से लगान वसूली के काम के लिए कलेक्टर नियुक्त किये गये और कलेक्टर की सहायता के लिए प्रत्येक जिले में एक नायब-दीवान नियुक्त किया गया। समस्त जिलों को 6 डिविजनों—कलकत्ता, बर्दवान, ढाका, मुर्शिदाबाद, दिनाजपुर और पटना—के अन्तर्गत रखा गया। प्रत्येक डिवीजन की लगान-व्यवस्था की देखभाल के लिए एक 'लगान-परिषद्' नियुक्त की गई और उसकी सहायता के लिए एक भारतीय दीवान भी नियुक्त किया गया। दीवानी न्याय का काम भी लगान-परिषद् को सौंप दिया गया। बाद में कलेक्टर का पद समाप्त कर दिया गया और उसका काम भी लगान परिषद् को सौंप दिया गया। सम्पूर्ण लगान के हिसाब की देखभाल के लिए एक भारतीय अधिकारी "राय रैयन" की नियुक्ति की गई। 1778 ई. में एक आय लेखा सचिव (एकाउन्टेन्ट जनरल) की भी नियुक्ति की गई। इसी के साथ कम्पनी के डायरेक्टरों के आदेशानुसार भूमि से लगान वसूली का ठेका पाँच वर्षों के स्थान पर प्रतिवर्ष दिया जाने लगा। 1780 ई. में हेस्टिंग्ज ने डिविजन की 'लगान परिषदों' को भंग कर दिया और उनके स्थान पर चार-सदस्यों वाले 'लगान-बोर्ड' कायम किये गये। भारतीय कानूनगो को पुनः नियुक्त किया गया और उन्हें परम्परागत दायित्व सौंप दिया गया।

हेस्टिंग्ज के बाद 1786 ई. में कम्पनी ने इस व्यवस्था में कुछ और परिवर्तन किये। डिविजन को जिलों में बाँटा गया और प्रत्येक जिले पर पुनः कलेक्टर नियुक्त किये गये। 'लगान-परिषद्' के अन्तर्गत 'सरिस्तादार' नामक एक नया अधिकारी नियुक्त किया गया, जिसका काम कानूनगो के कागजों की देखभाल करना था।

लगान-सम्बन्धी उपर्युक्त सुधारों में कई प्रकार के दोष थे। किसानों का लगान निश्चित न करके और वसूली का अधिकार अधिक बोली लगाने वाले को प्रदान करके कम्पनी सरकार ने भारतीय किसानों के हितों की सर्वथा उपेक्षा की। लगान वसूल करने वाले अधिकारियों को ही दीवानी न्याय का दायित्व सौंप कर कम्पनी सरकार ने और भी बुरा किया।

न्याय सम्बन्धी सुधार—वारेन हेस्टिंग्ज ने न्याय व्यवस्था को सुधारने का भी प्रयत्न किया। उसने प्रत्येक जिले में एक दीवानी और एक फौजदारी अदालत स्थापित की। कलकत्ता में एक सदर दीवानी अदालत और एक सदर फौजदारी अदालत की स्थापना की गई। जिले की अदालतों के मुकदमें अन्तिम निर्णय के लिए सदर अदालतों को भेजे जाते थे। न्यायाधीश निष्पक्ष न्याय कर सकें, इस दृष्टि से उनके वेतन निश्चित कर दिये गये। रेग्यूलेटिंग एक्ट के द्वारा बाद में कलकत्ता में एक सर्वोच्च न्यायालय (सुप्रीम कोर्ट) स्थापित किया गया। चूंकि एक्ट के द्वारा सुप्रीम कोर्ट का अधिकार-क्षेत्र स्पष्ट नहीं किया गया था, अतः आगे चल कर कई प्रकार के विवाद पैदा हुए।

व्यापारिक सुधार—व्यापारिक क्षेत्र में 'दस्तक' (फ्री-पास) के प्रयोग को समाप्त कर दिया गया। असंख्य चुंगी-चौकियों को हटा दिया गया और केवल पाँच स्थानों—कलकत्ता, हुगली, मुर्शिदाबाद, पटना और ढाका—पर चुंगी-चौकियाँ रहने दीं। नमक, पान और तम्बाकू को कर मुक्त रखा गया क्योंकि इनके व्यापार पर कम्पनी का एकाधिपत्य था। परन्तु अन्य सभी वस्तुओं पर 2½% कर लगाया गया जिसे सभी व्यापारियों को (अंग्रेजों को भी) देना पड़ता था। वारेन हेस्टिंग्ज ने अंग्रेज व्यापारियों पर यह प्रतिबन्ध लगा दिया कि वे भारतीय कारगरों से उनकी इच्छा के विरुद्ध न तो उनका माल खरीद सकेंगे और न उन्हें बेचेगें। इस प्रकार, हेस्टिंग्ज ने कम्पनी के कर्मचारियों के निजी व्यापार को रोकने का प्रयत्न किया। उसके सुधारों से कम्पनी और बंगाल के नागरिकों की स्थिति में थोड़ा सुधार हुआ।

रेग्यूलेटिंग एक्ट (1773 ई.)—वारेन हेस्टिंग्ज के शासन की महत्त्वपूर्ण घटना 'रेग्यूलेटिंग एक्ट' का पास होना था। 1773 ई. में इंगलैंड की संसद ने भारत मे कम्पनी के शासन को सुव्यवस्थित करने की दृष्टि से एक कानून बनाया जो रेग्यूलेटिंग एक्ट के नाम से जाना जाता है। इसके अनुसार बंगाल के गवर्नर को भारत का गवर्नर-जनरल बना दिया गया और मद्रास तथा बम्बई के गवर्नरों को उसके अधीन कर दिया गया। गवर्नर जनरल की सहायता के लिए चार सदस्यों की कौंसिल नियुक्त की गई जो जो बहुमत के आधार पर निर्णय लेती थी। कम्पनी के अभिभावक मण्डल और संचालन मण्डल का पुनर्गठन किया गया और मताधिकार की पात्रता निश्चित की गई। कम्पनी को अपना धन सम्बन्धी और सैनिक तथा राजनैतिक कार्यों का ब्यौरा भेजने को विवश किया गया। इसमें कई प्रकार के दोष थे, फिर भी, प्रशासनिक व्यवस्था के विकास में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

पिट्स इण्डिया एक्ट (1784 ई.)—1784 ई. में रेग्यूलेटिंग एक्ट के दोषों को दूर करने के लिए, इंग्लैण्ड में विलियम पिट की सरकार ने एक एक्ट पास किया जो "पिट्स इण्डिया एक्ट" कहलाया। इस एक्ट के द्वारा कम्पनी सरकार के प्रशासन पर ब्रिटिश सरकार का नियन्त्रण स्थापित करने का प्रयत्न किया गया कम्पनी के कार्यों को दो हिस्सों में विभाजित कर लिया गया। एक राजनैतिक एवं प्रशासनिक और दूसरा व्यापारिक। व्यापारिक कार्यों को पहले ही की भाँति संचालकों के अधिकार में ही रहने दिया गया। परन्तु राजनैतिक तथा प्रशासनिक कार्यों के लिए 6 सदस्यों के एक मण्डल (बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल) का गठन किया। इसके सदस्यों की नियुक्त करने तथा हटाने का अधिकार ब्रिटेन के राजा को था। ब्रिटेन का अर्थ मन्त्री और विदेश मन्त्री आवश्यक रूप से इसके सदस्य होते थे। भारत के गवर्नर-जनरल की परिषद् की संख्या चार से घटकर तीन कर दी गई ताकि गवर्नर-जनरल को कार्य करने में सुविधा रहे। मद्रास और बम्बई के गवर्नरों को पूर्ण रूप से गवर्नर-जनरल के अधीन कर दिया गया।

लार्ड कार्नवालिस के सुधार

लॉर्ड कार्नवालिस 1786–93 ई० तक कम्पनी सरकार का गवर्नर जनरल

रहा। कार्नवालिस को मुख्यतया भारत में कम्पनी सरकार की लगान व्यवस्था, न्याय-प्रशासन और व्यापारिक स्थिति को सुधारने का दायित्व सौंपा गया था जिसे उसने पूरा करने का प्रयत्न किया।

स्थायी बन्दोबस्त—1765 ई. से ही बंगाल की लगान व्यवस्था से कम्पनी सरकार परेशान थी और बार-बार के परिवर्तनों से भी वह उकता चुकी थी। क्योंकि वह भी भूमि कर की आय का निश्चित अनुमान नहीं लगा पाती थी। अतः वह एक स्थायी बन्दोबस्त करना चाहती थी। कार्नवालिस भी यही चाहता था। परन्तु समस्या यह थी कि समझौता किससे किया जाय—जमींदार से या किसान से भूमि कर की दर क्या हो और समझौता स्थायी किया जाय अथवा कुछ वर्षों के लिए। उपर्युक्त सभी प्रश्नों के सम्बन्ध में अंग्रेज अधिकारियों में गहरा मतभेद था। अन्त में सर्वप्रथम 1790 ई. में जमींदारों के साथ 10 वर्ष के लिए एक समझौता किया गया जिसे 1793 ई. में स्थायी कर दिया गया। यही 'स्थायी बन्दोबस्त' के नाम से विख्यात हुआ। इस बन्दोबस्त के द्वारा किसान के स्थान पर जमींदार को भूमि का मालिक मान लिया गया और उन्हें यह आश्वासन दिया गया कि जब तक वे तथा उनके उत्तराधिकारी नियमित रूप से निश्चित लगान देते रहेंगे, तब तक उनकी भूमि पर उनका पैतृक अधिकार कायम रहेगा। जमींदारों को भूमि बेचने और खरीदने के अधिकार मिल गये। उनसे लिया जाने वाला लगान हमेशा के लिए निश्चित कर दिया गया।

स्थायी बन्दोवस्त के सम्बन्ध में विद्वानों ने परस्पर-विरोधी विचार प्रकट किये हैं। कुछ के अनुसार यह बुद्धिमानी का काम था, तो कुछ के अनुसार यह दुखद भूल थी। जो भी हो, इतना निश्चित है कि इसने भारतीय समाज में एक बड़ी क्रांति पैदा कर दीं। इसके पूर्व जमींदार भूमि का मालिक नहीं समझा जाता था। वह किसानों से लगान वसूल करने वाला एक सरकारी प्रतिनिधि मात्र था। अब भूमि पर उसका पैतृक अधिकार मान लिया गया। किसानों से सरकार का कोई वास्ता न रहा। इस व्यवस्था के फलस्वरूप भारतीय समाज में राजा, तालुकेदार, जमींदार आदि की नयी श्रेणी उत्पन्न हो गई जिसने शीघ्रता से सम्पूर्ण समाज पर अपना प्रभुत्व जमा लिया।

स्थायी बन्दोबस्त को लागू करते समय भूमि की उचित पैमायश नहीं की गई थी। इसलिए लगान की दर कम निश्चित की गई। इसका लाभ जमींदारों को मिला। कम्पनी सरकार घाटे में रही। परन्तु उसने अपने इस घाटे की पूर्ति नये जीते हुए प्रदेशों में स्थायी बन्दोबस्त करके तथा लगान की दर बढ़ा कर की। इससे दूसरे प्रान्तों के जमींदारों और किसानों को हानि उठानी पड़ी। स्थायी बन्दोबस्त में किसानों को पट्टा देने तथा निश्चित लगान का उल्लेख करने की व्यवस्था थी। परन्तु जमींदारों ने इनका पालन नहीं किया और उन्होंने किसानों का काफी शोषण किया। स्थायी बन्दोबस्त का सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि अब अंग्रेज सरकार को जमींदारों

के रूप में एक निष्ठावान तथा स्वामीभक्त वर्ग उपलब्ध हो गया जिससे उनकी जड़ें मज़बूत हो गईं।

न्याय सम्बन्धी सुधार—न्याय व्यवस्था के क्षेत्र में कार्नवालिस की सबसे बड़ी देन यह रही कि उसने कार्यकारिणी और न्याय-अधिकारियों को एक-दूसरे से पृथक् कर दिया और न्याय को सामान्य जन तक पहुँचाने का प्रयत्न किया। दीवानी न्यायालयों को लगान तथा धन-सम्बन्धी दोनों प्रकार के मुकदमों का निर्णय करने के अधिकार प्रदान किये गये। दीवानी क्षेत्र में सबसे नीचे मुन्सिफ की अदालतें थीं जो 50 रुपये तक के मुकदमों का फैसला करती थीं। उनके ऊपर भारतीय रजिस्ट्रारों के न्यायालय थे जो 200 रु० तक के मुकदमों का फैसला करते थे। उनके ऊपर जिला अदालतें थीं जहाँ अंग्रेज न्यायाधीश भारतीय सलाहकारों की सहायता से न्याय प्रदान करते थे। निम्न अदालतों के निर्णय के विरुद्ध अपीलों की सुनवाई भी जिला न्यायालय में होती थी। इनके ऊपर चार प्रान्तीय न्यायालय (कलकत्ता, ढाका, मुर्शिदाबाद और पटना) स्थापित किये गये और सबसे ऊपर कलकत्ता की सदर दीवानी अदालत थी जहाँ गवर्नर-जनरल और उसकी परिषद् न्याय करती थी। अन्तिम अपील के लिए इंगलैंड में राजा की प्रिवी कौंसिल थी। इसी प्रकार, फौजदारी न्यायालयों की व्यवस्था की गई। जिला फौजदारी न्यायालय, उसके ऊपर प्रान्तीय फौजदारी न्यायालय और उसके ऊपर कलकत्ता की सदर निजामत अदालतें। सर्वोच्च न्यायालय का अपना अलग अस्तित्व बना हुआ था, परन्तु वह मुख्यतया यूरोपीय लोगों के मामलों की सुनवाई करता था। वैसे कार्नवालिस की व्यवस्था में स्थापित न्यायालयों को भी यूरोपवासियों के मुकदमे सुनने का अधिकार मिल गया। था।

न्याय-व्यवस्था के क्षेत्र में कार्नवालिस का एक अन्य महत्त्वपूर्ण सुधार शासन व्यापार और न्याय सम्बन्धी विभिन्न नियम बनाना तथा उन नियमों का संग्रह करना था। फिर भी, उसके सुधारों में कई दोष थे। उनका उद्देश्य भारत में इंगलैंड के नियमों को लागू करना था जबकि इंगलैंड के नियम भारतीय संस्कृति के अनुकूल न थे। क्योंकि भारत में समाज का संगठन व्यक्ति के स्तर पर आधारित था, जबकि इंगलैंड के कानून अनुबन्ध पर आधारित थे। इससे भारतीय समाज की परम्परागत मान्यताओं को भारी धक्का लगा। दूसरा दोष यह था कि अदालतों के अंग्रेज न्यायाधीशों को भारतीय परम्परा और नियमों को पर्याप्त जानकारी न थी। तीसरा दोष यह था कि इससे न्याय व्यवस्था और अधिक जटिल बन गई। अपील पर अपील की व्यवस्था ने वकीलों का महत्त्व बढ़ा दिया। न्याय प्राप्त करने में अब वर्षों तक प्रतीक्षा करनी पड़ती थी। सामान्य जनता के लिए नये नियमों को समझना लगभग असम्भव था।

अन्य सुधार—कम्पनी के कर्मचारियों में व्याप्त भ्रष्टाचार को मिटाने के लिए कार्नवालिस ने उनके वेतनों में वृद्धि कर दी। परन्तु उन्हें अपने रिश्तेदारों के नाम से व्यापार करने का निषेध कर दिया। उसका दूसरा कार्य अधिक से अधिक संख्या

में अंग्रेजों को ही उच्च पदों पर नियुक्त करने का था। ऊँची सेवाओं में भारतीयों की नियुक्ति को बन्द कर दिया गया। ऐसा करके उसने भारतीयों के साथ बहुत ही अनुचित कार्य किया। प्रशासनिक व्यय को कम करने की दृष्टि से जिलों का पुनर्गठन किया गया और 35 के स्थान पर 13 जिले रखे गए। अनेक अनुपयोगी पदों को समाप्त कर दिया गया। कलेक्टरों से न्याय सम्बन्धी अधिकार छीन लिए गए। पुलिस की व्यवस्था में भी आमूल परिवर्तन किया गया तथा कम्पनी के व्यापार को सुधारने की दृष्टि से व्यापारिक क्षेत्र में भी कई सुधार किये गये।

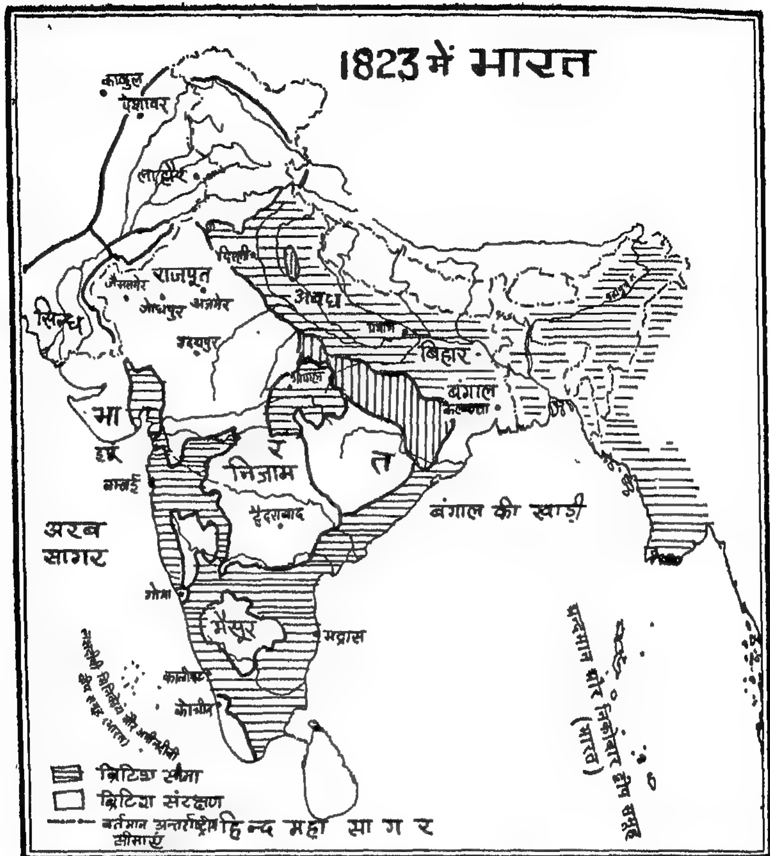
परन्तु उसके समस्त सुधारों का ध्येय कम्पनी सरकार की स्थिति को सबल बनाना था। भारतीय जनता के कल्याण से उन सुधारों का कोई सीधा सम्बन्ध न था।

लार्ड हेस्टिग्ज (1813-23)

वेलेजली के बाद कार्नवालिस (दूसरी बार), बार्लो और मिन्टो क्रमशः गवर्नर-जनरल बने परन्तु उनके शासन काल में महत्त्वपूर्ण सुधार नहीं हुए। 1813 से 1823 ई. तक लॉर्ड हेस्टिग्ज गवर्नर के पद पर रहा। यद्यपि उसकी ख्याति कम्पनी को भारत की सर्वोच्च शक्ति बना देने के कारण अधिक है। फिर भी उसके समय में महत्त्वपूर्ण प्रशासनिक सुधार भी हुए।

1813 का आदेश-पत्र (चार्टर एक्ट)—1813 ई. के आदेश-पत्र का भारत की प्रशासनिक व्यवस्था से गहरा सम्बन्ध है। इसके अनुसार भारत में कम्पनी के शासन पर ब्रिटिश संसद् और राजा के अधिकार को मान्यता दी गई। भारत से व्यापार करने का जो एकाधिपत्य ईस्ट इण्डिया कम्पनी को प्राप्त था वह समाप्त कर दिया गया और सभी अंग्रेज व्यापारियों को भारत से व्यापार करने की सुविधा प्रदान की गई। हाँ, चीन के साथ अफीम और चाय के व्यापार पर कम्पनी का एकाधिपत्य कायम रखा गया। ईसाई धर्म-प्रचारकों को भारत में ईसाई धर्म के प्रसार की आज्ञा दे दी गई और पहली बार कम्पनी की आय में से भारतीयों की शिक्षा के लिए एक लाख रुपया वार्षिक व्यय करने की व्यवस्था की गई।

हेस्टिग्ज के सुधार—हेस्टिग्ज के सुधारों में न्याय सम्बन्धी सुधार अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। उसने प्रत्येक थाने में मुंसिफ नियुक्त किया और शुरू में उसे 64 रु० तक और बाद में 150 रु० तक के मामलों की सुनवाई का अधिकार दिया गया। जिलों तथा नगरों में सदर अमीन नियुक्त किये गए जिन्हें शुरू में 150 रु० तक और बाद में 500 रु० तक के मामलों की सुनवाई के अधिकार दिये गये। महत्त्वपूर्ण मामलों की अपीलों के लिए सीधे प्रान्तीय न्यायालयों में अपील करने की सुविधाएँ प्रदान की गईं। इसी प्रकार, उसने फौजदारी न्याय के क्षेत्र में कई सुधार किये और कलेक्टरों को पुनः न्याय सम्बन्धी अधिकार प्रदान किये गये। उसी के शासन काल में मद्रास के गवर्नर मुनरो ने उस प्रान्त में "रैयत वाड़ी" (रैयतवाड़ी) प्रथा लागू की जिसके अन्तर्गत लगान वसूली के लिए सरकार और किसान के बीच के जमींदार



भारत के महासर्वेक्षक की अनुज्ञानुसार भारत सर्वेक्षण विभागीय मानचित्र पर आधारित। © भारत सरकार का प्रतिलिप्यधिकार, 1974
समुद्र में भारत का जलप्रदेश उपयुक्त आधार रेखा से मापे गये बारह समुद्री मील की दूरी तक है।
इस मानचित्र में दिये गये नामों का अक्षर-विन्यास विभिन्न सूत्रों से लिया गया है।

को हटा दिया गया। अर्थात् बंगाल की व्यवस्था से सबक लिया गया और किसानों के साथ सीधा सम्पर्क कायम किया गया। 1822 ई. में बंगाल के किसानों के हितों की रक्षा के लिए 'टेनेन्सी एक्ट' पास किया गया जिससे लगान की वृद्धि और किसानों को भूमि बेदखल करना कठिन हो गया।

लार्ड विलियम बैंटिक के सुधार

लॉर्ड हेस्टिंग्ज के बाद लॉर्ड एम्हर्स्ट गवर्नर-जनरल बना और उसके बाद लॉर्ड विलियम बैंटिक 1828 से 1835 तक गवर्नर-जनरल के पद पर रहा। उसके साथ ही भारतीय प्रशासन-व्यवस्था में उदारवादी सुधारों का सूत्रपात हुआ। वास्तविक सत्य तो यह है कि कुछ समय बाद ही भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के चार्टर की पुनरावृत्ति होने वाली थी और दूसरी तरफ, भारत में लड़े गये निरन्तर साम्राज्यवादी युद्धों से कम्पनी की आर्थिक स्थिति जर्जर हो गई। अतः प्रशासन-

व्यवस्था में कटौती करना आवश्यक हो गया था। इसके अलावा, उस समय इंगलैण्ड में उदारवादियों का जोर बढ़ गया था। उनकी सहानुभूति और समर्थन को प्राप्त करने के लिए भारत में सुधारवादी नीति अपनानी जरूरी थी। फिर भी, यह ध्यान रखने योग्य बात है कि बैंटिक की नीति अवसरवादी थी। उसने किसी एक निश्चित नीति का अवलम्बन नहीं किया, अपितु समयानुकूल कदम उठाया था।" पर अंग्रेज इतिहासकारों ने उसकी काफी प्रशंसा की है, जैसे कि रॉबर्ट्स ने लिखा है कि "निस्सन्देह वह भारत का प्रथम गवर्नर-जनरल था जिसने इस सिद्धान्त पर कार्य किया कि भारत में अंग्रेजों का मुख्य और प्राथमिक कर्त्तव्य प्रजा की भलाई है।"

आर्थिक सुधार—असैनिक अधिकारियों के वेतन और भत्ते में कमी कर दी गई। सैनिक अधिकारियों के भत्तों में भी काफी कमी की गई। व्यय कम करने की दृष्टि से उसने घूम-घूमकर न्याय न करने वाले न्यायालयों को समाप्त कर दिया। लगान मुक्त भूमियाँ, जो भूतपूर्व शासकों द्वारा भेंट अथवा पुरस्कार या अनुदान में दी गई थीं, की जाँच-पड़ताल करवाई गई और जो लोग अपने अधिकार को सिद्ध न कर सके, उनकी भूमियाँ जब्त कर ली गईं और शेष से भी लगान लेने की व्यवस्था की गई।

सेवाओं में सुधार—भारतीयों की दृष्टि से बैंटिक का सबसे महत्त्वपूर्ण सुधार था—भारतीयों के लिए उच्च प्रशासकीय पदों का मार्ग प्रशस्त करना। कार्नवालिस ने भारतीयों को उच्च पद देना उचित नहीं समझा था और उसके उत्तराधिकारी गवर्नर-जनरलों ने भी उसकी नीति का पालन किया था। परन्तु बैंटिक ने इस नीति को त्याग दिया और भारतीयों को उच्च पदों पर नियुक्त करने की नीति अपनाई। परन्तु इसका मूल कारण भारतीयों के प्रति सम्मान की भावना न होकर कम्पनी के प्रशासन व्यय को कम करना था। यूरोपीय अधिकारों की तुलना में भारतीयों को बहुत ही कम वेतन पर नियुक्त किया जाता था। इसके अतिरिक्त, अब कम्पनी का राज्य इतना अधिक बढ़ गया था और प्रशासकीय पदों की संख्या में इतनी अधिक वृद्धि हो गई थी कि सभी पदों के लिए यूरोपीय अधिकारियों का मिलना भी कठिन हो गया था।

अंग्रेजी शिक्षा को प्रोत्साहन—बैंटिक का दूसरा महत्त्वपूर्ण सुधार भारत में अंग्रेजी शिक्षा को प्रोत्साहन देना था। इस काम में उसे लॉर्ड मैकाले से बहुत सहयोग मिला। अंग्रेजी भाषा को राजकीय भाषा घोषित कर दिया गया। राजकीय सेवाओं के लिए अंग्रेजी भाषा का ज्ञान आवश्यक माना गया। इससे देश में अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार हुआ। परन्तु इसका मूल ध्येय भी कम्पनी के प्रशासन व्यय को कम करना ही था। अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त भारतीयों को सस्ते क्लर्कों के रूप में भर्ती करना, यही बैंटिक का ध्येय था। मैकाले ने एक अन्य विचार से भी अंग्रेजी शिक्षा का समर्थन किया था। उसका विचार था कि इससे भारत में ईसाई धर्म के प्रचार का काम सरल हो जायेगा।

सामाजिक सुधार—सामाजिक क्षेत्र में उसका एक महत्त्वपूर्ण सुधार ठगों का सफाया करना था। उस समय भारत में मुख्यतया मध्य भारत में ठगों का बहुत जोर था। वे लोग काली की पूजा करते थे। यात्रियों को धोखा देकर, उनका गला घोंटकर अथवा अन्य तरीकों से मार डालते थे और उनका माल-असबाब लूट लेते थे। बैंटिक ने कठोरता के साथ ठगों का दमन किया क्योंकि उनके कारण मुख्य मार्ग भी असुरक्षित हो गए थे और व्यापार-वाणिज्य को भारी क्षति पहुँच रही थी।

सामाजिक क्षेत्र में दूसरा महत्त्वपूर्ण सुधार सती-प्रथा को कानूनी रूप से बन्द करना था। राजा महाराजाओं और सामन्तों की मृत्यु पर तो अनेक स्त्रियाँ अपनी स्वेच्छा से उनके साथ सती होती ही थीं, परन्तु यह प्रथा सामान्य लोगों में भी प्रचलित हो गई थी और कई स्त्रियों को उनकी इच्छा के विरुद्ध बलपूर्वक सती होने के लिए विवश किया जाता था। राजा राममोहन राय जैसे कई भारतीय विद्वानों एवं नेताओं ने भी सरकार से इस प्रथा को समाप्त करने का आग्रह किया था। जब बैंटिक को यह विश्वास हो गया कि इस प्रथा को बन्द करने से विद्रोह की आशंका नहीं है तो 1829 ई. में सती प्रथा गैर-कानूनी घोषित कर दी गई। आरम्भ में इस नियम को केवल बंगाल प्रान्त में ही लागू किया गया था, परन्तु अगले वर्ष इसे मद्रास और बम्बई के प्रदेशों में और बाद में सम्पूर्ण अंग्रेजी साम्राज्य में भी लागू कर दिया गया। फिर भी यह ध्यान देने योग्य बात है कि बैंटिक और उसके उत्तराधिकारियों ने भारतीय राज्यों में इस नीति का सख्ती के साथ पालन नहीं किया। परिणामस्वरूप राजस्थान जैसे प्रदेश में इस नियम के पास हो जाने के बाद भी, लम्बे समय तक सती प्रथा जारी रही।

सती प्रथा को गैर-कानूनी घोषित करने के अलावा बैंटिक ने बाल-हत्या और मानव-बलि को भी गैर-कानूनी घोषित किया। राजस्थान में लड़कियों को पैदा होते ही मार देने की प्रथा कुछ जातियों में थी। इसी प्रकार देवी-देवताओं को प्रसन्न करने के लिए जीवित मनुष्यों की बलि देने की प्रथा भी कुछ सम्प्रदायों में प्रचलित थी। बैंटिक ने इन प्रथाओं को गैर-कानूनी घोषित करके मानवता की सेवा की।

1833 का आदेश-पत्र (चार्टर-एक्ट)—लॉर्ड बैंटिक के समय में 1833 का आदेश-पत्र जारी हुआ। इस आदेश पत्र के अनुसार भारत की ईस्ट इन्डिया कम्पनी का चीन के साथ व्यापार-एकाधिपत्य भी समाप्त हो गया। गवर्नर-जनरल और उनकी कौंसिल को सम्पूर्ण भारत के लिए कानून बनाने का अधिकार मिल गया। कौंसिल में एक चौथा सदस्य कानूनी सलाहकार के रूप में बढ़ा दिया गया। इस एक्ट के द्वारा अंग्रेजों को भारत में भूमि खरीदने की सुविधा मिल गई। इस एक्ट की मुख्य विशेषता भारत की केन्द्रीय सरकार को सबल बनाना तथा अंग्रेजों को भारत में बसने की सुविधा प्रदान करना था।

लॉर्ड डलहौजी के सुधार

लॉर्ड बैंटिक के बाद सर चार्ल्स मैटकॉफ, लॉर्ड आकलैंड और लॉर्ड एलनबरो क्रमश: गवर्नर-जनरल बने। उनके बाद लॉर्ड डलहौजी 1848 से 1856 ई. तक

गवर्नर-जनरल रहा। उसने खुले रूप से साम्राज्य विस्तार की नीति को अपनाया और उसकी गोद-निषेध नीति का अध्ययन हम पिछले अध्याय में कर आये हैं। परन्तु लॉर्ड डलहौजी शासन-व्यवस्था का आधुनिकीकरण भी चाहता था और इस सम्बन्ध में उसने जो सुधार किये, उनके आधार पर उसे "आधुनिक भारत का निर्माता" भी कहा जा सकता है।

शासन सुधार—अभी तक बंगाल प्रान्त की शासन-व्यवस्था का सीधा दायित्व गवर्नर-जनरल का था। इसमें उसे काफी परेशानी होती थी क्योंकि उसे कम्पनी के सम्पूर्ण राज्य की शासन-व्यवस्था भी देखनी पड़ती थी। अतः डलहौजी ने गवर्नर जनरल के कार्य को थोड़ा हल्का करने की दृष्टि से बंगाल की शासन व्यवस्था के लिए पृथक् लेफ्टिनेन्ट गवर्नर की नियुक्ति की। कम्पनी के अधिकार में पिछले वर्षों में जो नई भूमि आई थी उसकी व्यवस्था के लिए कमिश्नरों की नियुक्ति की गई जो सीधे ही गवर्नर-जनरल की देखरेख में शासन चलाते थे। इसके बाद डलहौजी ने कम्पनी की सैन्य-व्यवस्था में भी सुधार किये। बदली हुई परिस्थितियों में बंगाल को सैनिक शासन का मुख्य केन्द्र बनाये रखना उचित न था। अतः उसने शिमला को कम्पनी के सैनिक-शासन का मुख्य कार्यालय बनाया। (यह योजना उसके बाद 1865 ई. में अमल में लाई गई परन्तु इसका प्रणेता डलहौजी ही था।) इसी प्रकार तोपखाने का मुख्यालय भी कलकत्ता से हटाकर मेरठ लाया गया। डलहौजी ने कम्पनी की सैनिक सेवा में अंग्रेजों की संख्या बढ़ाने तथा भारतीयों की संख्या कम करने पर विशेष जोर दिया। इसी ध्येय से उसने अंग्रेज सैनिकों की तीन नई रेजीमेंट भी तैयार की। उसने नेपाली गोरखों को कम्पनी की सेना में भर्ती होने के लिए विशेष रूप से प्रोत्साहित किया। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि डलहौजी के इन कार्यों ने 1857 ई. की क्रान्ति के समय भारत में अंग्रेजी राज्य को बचाने में बहुत महत्वपूर्ण सहयोग दिया था।

रेलवे, डाक-तार की व्यवस्था—कम्पनी के साम्राज्य की सुरक्षा के लिए आवागमन तथा सूचना के साधनों में वृद्धि करने में डलहौजी का योगदान विशेष उल्लेखनीय रहा। रेल की पटरियों को बिछाया गया और 1853 ई. में भारत की धरती पर सबसे पहले बम्बई से थाना तक रेलवे लाइन बनी। अगले वर्ष कलकत्ता से रानीगंज तक की रेलवे लाइन भी तैयार हो गई। इस प्रकार, आवागमन के क्षेत्र में एक नई क्रान्ति आ गई। मजे की बात तो यह थी कि रेल-मार्गों के निर्माण पर सरकार को रुपया खर्च नहीं करना पड़ा। इसका निर्माण अलग अलग अंग्रेज कम्पनियों ने किया और उन्होंने काफी समय तक खूब मुनाफा कमाया। रेल-मार्गों के निर्माण से सरकार को काफी लाभ हुआ। अब एक स्थान से दूसरे स्थान पर तत्काल सेना को भेजा सम्भव हो गया। इसी प्रकार कच्चे माल को बन्दरगाहों तक पहुंचाने और वहाँ से तैयार अंग्रेजी सामान को दूर-दूर तक के शहरों तक पहुंचाना सरल हो गया।

1852 ई. में सर्वप्रथम, भारतीय डाक-तार विभाग की स्थापना हुई।

लगभग 4000 मील लम्बी तार लाइनें डाली गई जिससे भारत के प्रमुख नगरों का एक-दूसरे से सम्पर्क कायम हो गया और सरकार के लिए आवश्यक सूचनाएं एवं आदेश तत्काल भेजना सम्भव हो गया। विद्रोह को कुचलने में तार-विभाग की सेवाएं काफी महत्वपूर्ण सिद्ध हुई। 1853 ई. में डाकखाना एक्ट बनाया गया और आधुनिक डाक सेवा का सूत्रपात हुआ। एक्ट के अन्तर्गत सरकारी डाकघरों की स्थापना की गई और पहली बार टिकटों का प्रयोग किया। डलहौजी के समय में दो पैसे के टिकट द्वारा आधा तोले वजन का पत्र भारत के किसी भाग से किसी दूसरे भाग को भेजा जा सकता था।

रेल, तार और डाक के प्रसार में भारत में आधुनिक जीवन की शुरूआत हुई। लोगों में एकता की भावना जागृत हुई। दूर-दूर के हिस्सों में आबाद लोगों को एक-दूसरे के निकट आने का मौका मिला। व्यापार-वाणिज्य की उन्नति हुई। हजारों लोगों को जीविका का नया क्षेत्र उपलब्ध हुआ। धार्मिक रुचि वालों को भारत के विविध तीर्थों की यात्रा का सुअवसर मिला। परन्तु डलहौजी ने इस ध्येय से यह कार्य नहीं किया था। उसका मुख्य ध्येय तो भारत का आर्थिक शोषण करना और भारतीयों पर कठोर नियन्त्रण स्थापित करना था।

निर्माण कार्य—मुगल सम्राटों की भाँति डलहौजी भी महान निर्माता था, यद्यपि उसने सार्वजनिक निर्माण कार्य की तरफ ही ध्यान दिया। सर्वप्रथम सार्वजनिक निर्माण विभाग को जो अब तक सेना-विभाग के अन्तर्गत था, पृथक् किया गया। इस विभाग की देखरेख में कई महत्वपूर्ण नहरें, पुल और सड़कें बननी शुरु हुईं। 1854 ई. में प्रसिद्ध गंगानहर बनी। पंजाब में नगरों का जाल बिछाया गया। शेरशाह-कालीन ग्रान्ड ट्रन्क रोड का नए सिरे से बनाना शुरु किया गया।

शिक्षा—डलहौजी बहुमुखी प्रतिभा का धनी था। शिक्षा के क्षेत्र में भी उसने महत्वपूर्ण सुधार किये। प्रान्तों में वर्नाक्यूलर शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया गया। प्राथमिक शिक्षा से लेकर विश्वविद्यालय स्तर तक की शिक्षा के सम्बन्ध में एक विस्तृत योजना तैयार की गई। प्रत्येक प्रान्त में एक अलग शिक्षा विभाग कायम किया गया तथा प्रमुख नगरों में विश्वविद्यालय खोले गये। स्त्री शिक्षा के प्रसार के लिए कई पाठशालाएं तथा माध्यमिक विद्यालय खोले गये। इंजीनियरी की शिक्षा के लिए कई नये-नये महाविद्यालय खोले गये जिनमें रुड़की का महाविद्यालय प्रमुख था।

व्यापारिक सुधार—डलहौजी ने अंग्रेज व्यापारियों के हितों की तरफ विशेष ध्यान दिया। उसने स्वतन्त्र व्यापार नीति को लागू किया। समस्त व्यापारिक प्रतिबन्धों को हटा दिया गया। करांची, बम्बई, मद्रास और कलकत्ता के बन्दरगाहों का सुधार किया गया ताकि विशाल जहाजों को आने जाने की सुविधा रहे। जहाजों के मार्गदर्शन के लिए अनेक ज्योति स्तम्भ लगाए गए। परिणामस्वरूप भारत का कच्चा माल अधिक मात्रा में इंगलैण्ड जाने लग गया और इंगलैण्ड में बना सामान

अधिक मात्रा में भारत आने लगा। अर्थात् अंग्रेज व्यापारियों के माध्यम से भारतीय जनता का आर्थिक शोषण तेजी के साथ बढ़ने लगा।

लॉर्ड डलहौजी के उपर्युक्त सभी सुधारों का मूल ध्येय किसी न किसी रूप में अंग्रेजी साम्राज्य की सुरक्षा और अंग्रेजों के हितों में वृद्धि करना था। फिर भी इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि उसके सुधारों से भारत को भी काफी लाभ मिला। उसके सुधारों ने सही अर्थों में आधुनिक भारत की नींव रखी। अंग्रेज इतिहासकारों ने डलहौजी की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। रिकार्ड टेम्पिल ने लिखा है कि "साम्राज्यवादी शासन-प्रबन्धकों की दृष्टि से भारत का शासन करने के लिए भेजे गए महान् व्यक्तियों में से कोई भी डलहौजी से श्रेष्ठ न था और कठिनाई से ही कोई उसकी समानता में आता है।" यह बात दूसरी है कि उसके जाते के बाद भारत में अंग्रेजी शासन के विरुद्ध जो क्रान्ति हुई उसका कितना दायित्व डलहौजी की साम्राज्य-विस्तार की नीति का था।

भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के प्रमुख प्रशासक

रॉबर्ट क्लाइव—क्लाइव एक सामान्य बुद्धि और सूझबूझ वाला व्यक्ति था। वह कम्पनी का एक साधारण क्लर्क बन कर भारत आया था और एक बार उसने आत्म-हत्या करने का भी प्रयत्न किया था। परन्तु अर्काट अभियान ने उसका भाग्य बदल दिया और उसकी गणना योग्य सेनानायकों में होने लगी। प्लासी की विजय ने उसकी प्रतिष्ठा को और अधिक बढ़ा दिया और कम्पनी सरकार ने प्रसन्न होकर उसे बंगाल का गवर्नर नियुक्त कर दिया। 1757–60 की अवधि में वह इसी पद पर रहा और इस अवधि में उसने फ्रांसीसियों और डचों को पराजित करके भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना का मार्ग निष्कंटक बना दिया। 1760 ई में वह स्वदेश लौट गया। मई 1765 ई. में उसे दुबारा बंगाल का गवर्नर बना करके भेजा गया। इस अवधि में उसने अवध के शाहशुजा और मुगल सम्राट शाहआलम के साथ सन्धियां करके अपनी गहरी कूटनीतिज्ञता का परिचय दिया और कम्पनी के लिए बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा की दीवानी प्राप्त की। उसने बंगाल में द्वैध शासन स्थापित किया और कम्पनी के शासन को सुधारने का प्रयत्न किया। फरवरी 1767 ई. में वह स्वदेश लौट गया। वहां उस पर अभियोग चलाया गया, परन्तु अन्त में इंगलैण्ड की संसद ने उसकी सेवाओं की सराहना करते हुए उसे सम्मानपूर्वक बरी कर दिया।

इसमें कोई संदेह नहीं कि क्लाइव ने भारत में कम्पनी को एक व्यापारिक संस्था से राजनीतिक संस्था बना दिया। अल्फ्रेड लायल के शब्दों में "भारत के साम्राज्य की स्थापना के लिए अंग्रेज सबसे अधिक इस उत्साही, साहसी और कभी हार न मानने वाले व्यक्ति के ऋणी हैं।" इसी आधार पर कई इतिहासकार क्लाइव को भारत में अंग्रेजी राज्य का संस्थापक मानते हैं।

वारेन हेस्टिग्ज—वारेन हेस्टिग्ज का जन्म 1732 ई. में हुआ था। उसका बचपन बड़ी कठिनाइयों में गुजरा और अनेक लोगों के आश्रय में रहते-रहते अन्त में

वह कम्पनी के एक डायरेक्टर चिसविक के आश्रय में जा पहुंचा। चिकित्सक ने उसे एक क्लर्क की हैसियत से कलकत्ता भिजवा दिया। अपनी योग्यता के बल पर वारेन हेस्टिंग्ज कम्पनी की सेवा में उन्नति करना गया और 1772 ई में वह बंगाल का गवर्नर नियुक्त किया गया और रेग्यूलेटिंग एक्ट के पास होते ही उसे गवर्नर जनरल बना दिया। इस प्रकार, उसे भारत में कम्पनी सरकार का प्रथम गवर्नर जनरल बनने का श्रेय मिला जिस पद पर वह 1785 ई. तक कार्य करता रहा।

वारेन हेस्टिंग्ज का शासन काल कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण रहा। एक प्रशासक की दृष्टि से उसने क्लाइव की द्वैध-शासन पद्धति को समाप्त किया और शासन को व्यवस्थित और स्थायित्व देने की दृष्टि से अनेक प्रकार के सुधार कार्य किये। साम्राज्य विस्तार की दृष्टि से भी उसे पर्याप्त सफलता मिली। इसके समय में अंग्रेज और मराठों का प्रथम युद्ध लड़ा गया और सालबाई की सन्धि के द्वारा अंग्रेजों को काफी लाभ मिला। मैसूर का युद्ध लड़ा गया जिसमें भी कम्पनी को सफलता मिली। इलाहाबाद की सन्धि के द्वारा अंग्रेजों ने इलाहाबाद और कड़ा के जिले मुगल सम्राट को सौंप दिये थे तथा 25 लाख रुपया वार्षिक पेन्शन देना भी स्वीकार किया था। परन्तु जब शाहआलम मराठों के संरक्षण में दिल्ली लौट गया तो हेस्टिंग्ज ने 50 लाख रुपयों में इलाहाबाद और कड़ा के जिले अवध के नवाब को बेच दिये और मुगल सम्राट की पेन्शन बन्द कर दी। उसने अवध को सैनिक सहयोग का आश्वासन देकर कम्पनी का मित्र बना लिया।

परन्तु हेस्टिंग्ज ने कई कार्य ऐसे किये थे जिनके कारण उसका चरित्र गहरे विवाद का विषय बन गया। उनमें से कुछ निम्नलिखित हैं—

नन्दकुमार का मामला—नन्दकुमार बंगाल के नवाबों के समय का एक उच्च पदाधिकारी था और उसने कम्पनी की सेवा में भी काफी काम किया था। उसने हेस्टिंग्ज पर यह आरोप लगाया कि अन्य रिश्वतों के अतिरिक्त उसने मीरजाफर की बिधवा पत्नी मुन्नी बेगम से $3\frac{1}{2}$ लाख रुपये लेकर उसे अल्पायु नवाब की अभिभाविका बनाया था। इससे हेस्टिंग्ज रुष्ट हो गया। कुछ दिनों बाद मोहनप्रसाद नामक एक व्यापारी ने नन्दकुमार पर जालसाजी का आरोप लगाया और सुप्रीम कोर्ट ने केवल आठ दिन की सुनवाई के बाद नन्दकुमार को फाँसी की सजा दे दी। इसमें वारेन हेस्टिंग्ज का हाथ था या नहीं, इस विषय पर इतिहासकारों में मतभेद है।

रुहेलों से युद्ध—अवध के पश्चिम में रुहेलों का शासन था। अवध का नवाब रुहेलखण्ड को अपने राज्य में मिलाना चाहता था। उसने वारेन हैस्टिंग्ज को सैनिक सहयोग देने के लिए मना लिया। नवाब ने 40 लाख रुपया तथा अंग्रेज सेना का व्यय चुकाने का वचन दिया। अंग्रेजों की सहायता से अवध ने रुहेलखण्ड जीत लिया। रुहेलों ने कम्पनी सरकार के विरुद्ध कोई कार्य नहीं किया था, फिर भी वारेन हेस्टिंग्ज ने उन पर चढ़ाई की। उसके इस कार्य पर भी सन्देह व्यक्त किया जाता है।

चेतसिंह—बनारस (काशी) का राजा चेतसिंह अवध का एक आश्रित राजा था। 1775 ई. की सन्धि से वह कम्पनी सरकार का करद् राजा बन गया। उसे $22\frac{1}{2}$ लाख रुपया वार्षिक चुकाने को कहा गया, परन्तु यह वचन दिया गया कि कंपनी सरकार इससे अधिक की माँग कभी न करेगी। 1778 ई. में वारेन हेस्टिंग्ज ने निश्चित रकम से पाँच लाख रुपया अधिक वसूल किया। अगले वर्ष भी पाँच लाख रु० की अधिक माँग की गई। चेतसिंह ने इस बार भी चुका दिया। 1780 ई. में हेस्टिंग्ज ने अपनी बढ़ी हुई माँग के अलावा 2000 सैनिकों की भी माँग की। राजा ने धन तो चुका दिया, परन्तु सैनिक न जुटा पाया। इस पर हेस्टिंग्ज ने उस पर 50 लाख रुपया जुर्माना थोप दिया। चेतसिंह राज्य से भाग गया। उसके सैनिकों ने तीन अंग्रेज अधिकारियों को मार डाला। हेस्टिंग्ज ने बनारस पर अधिकार जमा लिया। चेतसिंह को हटा दिया गया और उसके भतीजे को बनारस का राज्य इस शर्त पर दिया गया कि वह कम्पनी सरकार को 40 लाख रुपया वार्षिक चुकायेगा। सन्धि समझौतों की इतनी अवहेलना अनैतिकता का एक ज्वलन्त उदाहरण है।

अवध की बेगमें—ऐसा ही घृणित व्यवहार अवध की बेगमों के साथ किया गया। इस समय आसफुद्दौला अवध का नवाब था। कम्पनी का बहुत-सा रुपया अवध पर चढ़ गया था। नवाब इसे चुकाने में असमर्थ था बेगमों के पास काफी जागीर और जवाहरात थे - अंग्रेजों के कहने पर उन्होंने नवाब को 2,60,000 रु० दे दिये। कुछ दिनों बाद अंग्रेजों ने पुनः दबाव डाला और बेगमों ने इस शर्त पर 3 लाख रुपया नवाब को दे दिया कि अब भविष्य में उनसे कभी रुपया नहीं माँगा जायेगा। परन्तु फिर ऋण चुकाने का सवाल आ खड़ा हुआ और इस बार हेस्टिंग्ज ने भी नवाब की बेगमों को लूटने में पूरा-पूरा सहयोग दिया। इससे कम्पनी को रुपया तो मिल गया, परन्तु वारेन हेस्टिंग्ज बदनाम हो गया।

स्वदेश लौटने पर क्लाइव की भाँति हेस्टिंग्ज पर भी मुकदमा चलाया गया जो सात वर्ष तक चलता रहा। अन्त में क्लाइव की भाँति उसे भी सम्मान सहित बरी कर दिया गया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अंग्रेजी राज्य के लिए उसकी सेवाएँ काफी महत्त्वपूर्ण रहीं। उसने क्लाइव के अधूरे काम को पूरा किया। यदि क्लाइव ने भारत में अंग्रेजी राज्य की नींव रखी तो वारेन हेस्टिंग्ज ने उस नींव को सुदृढ़ बनाया और ऐसा काम कभी भी नैतिक सिद्धान्तों के आधार पर सम्भव नहीं हो पाता है।

लॉर्ड कार्नवालिस—कार्नवालिस का जन्म 31 दिसम्बर, 1738 ई. को इंगलैंड के कुलीन घराने में हुआ था। 1759 ई. में वह इंगलैंड की लोकसभा का सदस्य बना और 1862 ई. में अपने पिता की मृत्यु के बाद 'हाउस ऑफ लॉर्ड्स' का सदस्य बना। 1776 ई. में वह 'मेजर जनरल' के पद पर नियुक्त किया गया था। अमेरिका के स्वतन्त्रता संघर्ष का अन्त यार्कटाउन में कार्नवालिस द्वारा आत्म समर्पण के ब द ही हो पाया था। 1786 ई. में तत्कालीन ब्रिटिश प्रधान मन्त्री पिट्स के आग्रह पर

उसने कम्पनी सरकार के गवर्नर-जनरल पद को स्वीकार कर लिया और 1793 ई. तक भारत में गवर्नर-जनरल रहा।

कार्नवालिस का शासन काल कम्पनी के भारतीय राज्य की प्रशासन व्यवस्था के दोषों को दूर करके, नये सुधारों को लागू करने की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण रहा है। उसके सुधारों का ध्येय कम्पनी सरकार के प्रति स्वामीभक्त एवं निष्ठावान भारतीयों का एक नया वर्ग स्थापित करना था, जिससे कि भारत में अंग्रेजी राज्य को एक सबल वर्ग का समर्थन उपलब्ध हो सके। वह भारतीय राज्यों के मामलों में हस्तक्षेप का विरोधी था, फिर भी उसके शासन काल में मैसूर का तीसरा युद्ध लड़ा गया। रॉबर्ट्स का मत है कि क्लाइव और हेस्टिंग्ज द्वारा डाली गई नींव पर एक इमारत खड़ी करने का श्रेय लार्ड कार्नवालिस को ही है। वेलेजली के बाद 1805 ई. में लॉर्ड कार्नवालिस को दूसरी बार गवर्नर-जनरल बना कर भेजा गया। परन्तु वह अधिक दिनों तक जीवित नहीं रह पाया।

लॉर्ड वेलेजली—लॉर्ड वेलेजली का जन्म 20 जून, 1760 ई. को इंगलैंड के प्रतिष्ठित कुलीन घराने में हुआ था। 1781 ई. में वह इंगलैंड की लोकसभा का सदस्य बना। गवर्नर-जनरल बनने के पूर्व कम्पनी सरकार के बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल का सदस्य रह चुका था। मई, 1798 ई. में वह गवर्नर-जनरल बनकर भारत आया और 1805 ई. तक इस पद पर रहा। उसके शासन काल की मुख्य विशेषता सहायक सन्धि-प्रथा द्वारा भारतीय राजाओं को कम्पनी के संरक्षण में लेकर कम्पनी को भारत की सर्वोच्च शक्ति बनाना था। अपने सात वर्षों के शासन काल में उसने मैसूर के टीपू सुल्तान को समाप्त किया, मराठा सरदारों को कमजोर बनाया और उनके विस्तृत प्रदेश अंग्रेजी राज्य में मिला लिए गये। अवध का आधा प्रदेश और हैदराबाद निजाम का एक चौथाई प्रदेश भी अंग्रेजी राज्य में मिला लिए गए। इस प्रकार उसने भारत में ब्रिटिश राज्य को 'भारत का ब्रिटिश साम्राज्य' बना दिया। पतन्तु कम्पनी को उसकी नीति पसन्द नहीं आई और 1805 ई. में उसे वापस बुला लिया गया।

लॉर्ड हेस्टिंग्ज—लॉर्ड हेस्टिंग्ज का जन्म 1 दिसम्बर, 1754 ई. को इंगलैंड के कुलीन घराने में हुआ था। उसने एक सैनिक अधिकारी के रूप में अमेरिका के स्वतन्त्रता संघर्ष में भाग लिया था। 1783 ई. में वह लॉर्ड्स सभा का सदस्य बना और 1794 ई. में उसे 'मेजर-जनरल' का पद मिला। लॉर्ड मिन्टो के त्याग-पत्र देने के बाद उसे गवर्नर-जनरल बनाकर भारत भेजा गया। 1813 से 1823 ई. तक वह इस पद पर रहा। उसके शासन काल में मराठों की शक्ति का अन्त हुआ, पिण्डारियों का दमन किया गया, राजपूत राज्यों को कम्पनी के अन्तर्गत लाया गया और नेपाल को पराजित किया गया। उसने कम्पनी की शासन व्यवस्था में जो महत्त्वपूर्ण सुधार किये प्रिन्सेप के शब्दों में, "उसके शासन काल में अंग्रेजी प्रभाव और सत्ता जादू की तरह भारत में फैली गई।"

लॉर्ड विलियम बैंटिक—बैंटिक ने अपने जीवन का आरम्भ एक साहसी सैनिक के रूप में किया था और उसने नेपोलियन के युद्धों में भाग लिया था। 1803 ई. में वह कम्पनी सरकार के मद्रास प्रान्त का गवर्नर नियुक्त किया गया, परन्तु 1806 ई. में उसे अपने पद से हटा दिया गया क्योंकि कम्पनी का विश्वास था कि उसने वैलोर के सैनिक विद्रोह को दबाने में योग्यता का परिचय नहीं दिया। संयोगवश, उसी बैंटिक को 1828 ई. में भारत का गवर्नर-जनरल बनाकर भेजा गया और वह 1835 ई तक इस पद पर रहा। बैंटिक ने भारतीय राज्यों की राजनीति में विशेष हस्तक्षेप नहीं किया, परन्तु अवसर आने पर पीछे भी नहीं रहा। रणजीतसिंह के साथ और सिन्ध के अमीरों के साथ सन्धि-समझौते उसी की सूझ-बूझ थी। उसके शासन-काल की मुख्य विशेषता उसके प्रशासनिक तथा सामाजिक सुधार थे।

लॉर्ड डलहौजी—डलहौजी का जन्म अप्रैल 1812 ई. में हुआ था। 1837 ई. में वह ब्रिटिश लोक सभा का सदस्य बना। पील के मन्त्रिमण्डल में वह बोर्ड ऑफ ट्रेड का अध्यक्ष नियुक्त किया गया। 1848 ई. में वह भारत का गवर्नर-जनरल बन कर आया और 1856 ई, तक इस पद पर बना रहा। वह एक पक्का साम्राज्यवादी था। भारत में कम्पनी के राज्य का विस्तार करने के लिए उसने निम्नलिखित उपायों का सहारा लिया—

1. युद्ध द्वारा (द्वितीय सिक्ख युद्ध और पंजाब पर अधिकार, ब्रह्मा के साथ दूसरा युद्ध और पेगू पर अधिकार, सिक्किम से दार्लिलिंग और उसके आस-पास का प्रदेश)।

2. प्रशासनिक अव्यवस्था अथवा किसी अन्य आरोप पर (अवध को अंग्रेजी राज्य में मिलाना, हैदराबाद निजाम से बरार का प्रदेश छीनना)।

3. पदों और पेन्शनों की समाप्ति (पिछले अध्याय में उल्लेख किया जा चुका है)।

4. गोद-निषेध प्रथा के द्वारा (पिछले अध्याय में उल्लेख किया जा चुका है)।

डलहौजी का शासन-काल उसके सुधारों के लिए भी विख्यात है। उसे "आधुनिक भारत का निर्माता" कहा जाता है।

अभ्यास के लिए प्रश्न

1. द्वैध-शासन व्यवस्था से आपका क्या अभिप्राय है? क्लाइव की द्वैध-शासन व्यवस्था का उल्लेख कीजिए और उसके दोषों को बताइए।
2. वारेन हेस्टिंग्ज ने किस प्रकार से क्लाइव के अधूरे कार्य को पूरा किया?
3. विलियम बैंटिक का शासन काल किस लिए प्रसिद्ध है? उसके सुधारों का उल्लेख कीजिए।
4. डलहौजी को आधुनिक-भारत का निर्माता कहना कहाँ तक उचित है? अपने मत को तथ्यों के साथ सिद्ध कीजिए।

5. कम्पनी के शासन काल में लगान व्यवस्था के क्षेत्र में किये गये विभिन्न प्रयासों का उल्लेख कीजिए।

अपने अध्ययन की जांच कीजिए

1. सही उत्तर का क्रमांक कोष्ठक में लिखिए—
   1. बंगाल में द्वैध-शासन व्यवस्था को किसने समाप्त किया था ?
      (क) क्लाइव (ख) वारेन हेस्टिंग्ज
      (ग) कार्नवालिस (घ) लॉर्ड हेस्टिंग्ज ( )
   2. किस एक्ट के द्वारा बंगाल के गवर्नर को कम्पनी के राज्य का गवर्नर-जनरल बना दिया गया था ?
      (क) रेग्यूलेटिंग एक्ट (ख) पिट्स का इण्डिया एक्ट
      (ग) 1813 का चार्टर एक्ट ( )
   3. "रैय्यतवाड़ी" प्रथा किस प्रान्त में लागू की गई थी ?
      (क) बंगाल (ख) मद्रास
      (ग) बम्बई (घ) पंजाब ( )
   4. अवध की बेगमों को लूटने के सम्बन्ध में कौन-सा गवर्नर-जनरल बदनाम हुआ था ?
      (क) वारेन हेस्टिंग्ज (ख) वेलेजली
      (ग) लॉर्ड हेस्टिंग्ज (घ) लॉर्ड डलहौजी ( )
   5. अमेरिका के स्वतन्त्रता संघर्ष में आत्म-समर्पण करने वाले किस सेनानायक को भारत का गवर्नर-जनरल बना कर भेजा गया था ?
      (क) वेलेजली (ख) कार्नवालिस
      (ग) विलियम बैंटिक (घ) लॉर्ड हेस्टिंग्ज ( )
2. एक-एक पंक्ति में उत्तर दीजिए—
   1. 'क्लाइव फण्ड' की स्थापना का मूल उद्देश्य क्या था ?
   2. 1813 के आदेश-पत्र (चार्टर एक्ट) की विशेषता क्या थी ?
   3. प्रशासनिक सेवाओं की दृष्टि से बैंटिक के सुधारों से भारतीयों को क्या लाभ मिला ?
   4. किस आदेश-पत्र (चार्टर एक्ट) के द्वारा अंग्रेजों को भारत में भूमि खरीदने की सुविधा मिली थी ?
   5. डलहौजी ने कम्पनी के सैनिक-विभाग के मुख्यालय के लिए कौन-सा स्थान चुना था ?
3. पाँच-सात पंक्तियों में उत्तर दीजिए—
   1. वारेन हेस्टिंग्ज ने न्याय-व्यवस्था में क्या सुधार किये थे ?
   2. स्थायी बन्दोबस्त की मुख्य विशेषताएं थीं ?
   3. डलहौजी के सुधारों का मूल ध्येय क्या था ?

4. नरेन्द्रकुमार को फाँसी की सजा क्यों दी गई ?
5. लॉर्ड हेस्टिंग्ज ने किस प्रकार से कम्पनी के राज्य को बढ़ाया ?

4. भारत के मानचित्र में उन राज्यों को दिखाइए जिन्हें डलहौजी ने अंग्रेजी राज्य में मिला लिया था।

---

11. स्वतन्त्रता संग्राम का प्रथम संघर्ष और उसके परिणाम

लॉर्ड डलहौजी के बाद लॉर्ड केनिंग भारत का गवर्नर-जनरल बन कर भारत आया। इंगलैंड से भारत के लिये रवाना होते समय उसने कहा था कि "भारत के आकाश में जहाँ अभी सब कुछ शांत दिखाई देता है, एक हाथ भर का बादल उठ सकता है, जो बढ़ता और बड़ा होता हुआ सम्भवतः तूफान बन कर फट सकता है और हमें विनाश में ढकेल सकता है।" शायद केनिंग को भारत की मौजूदा स्थिति का थोड़ा बहुत आभास पहले से ही हो चुका था। उसके आने के एक वर्ष के भीतर ही भारत में एक ऐसा विस्फोट हुआ जिसे "भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम का प्रथम संघर्ष" अथवा "सन् सत्तावन की क्रांति" कहते हैं और अंग्रेज इतिहासकारों ने जिसे "सिपाही विद्रोह" अथवा "गदर" के नाम से पुकारा है।

सन् सत्तावन की घटना को चाहे जिस नाम से पुकारा गया हो, इतना निश्चित है कि इस घटना का सूत्रपात, विश्व की अन्य क्रांतियों की भांति, किसी आकस्मिक घटना से नहीं हुआ था। पिछले कई वर्षों से कम्पनी सरकार की नीतियों के परिणामस्वरूप क्रांति के कारणों का श्रृजन हो रहा था। चर्बी वाले कारतूसों और मंगल पाण्डे के बलिदान ने उसमें दियासलाई का काम किया। संक्षेप में स्वतन्त्रता संग्राम के मुख्य कारण निम्न लिखित थे:—

1. राजनैतिक कारण : अंग्रेजों की भारतीय राज्यों के प्रति नीति

कम्पनी सरकार की साम्राज्य-बिस्तार की नीति से भारतीय शासकों में यह भय उत्पन्न हो गया था कि अंग्रेजों का ध्येय धीरे-धीरे सभी भारतीयराज्यों को समाप्त करना है। डलहौजी की साम्राज्य विस्तार की नीति ने उनके भय को पुष्ट कर दिया गोद-निषेध नीति के अन्तर्गत कई भारतीय राज्यों को अंग्रेजी राज्य में मिला लिया

गया। फिर कुशासन की ओट में अवध के राज्य को भी अंग्रेजी साम्राज्य से मिला लिया गया। पेशवा बाजीराव द्वितीय के दत्तक पुत्र नाना साहब की पेन्शन बन्द कर दी गई। मुगल सम्राट बहादुरशाह के साथ दुर्व्यवहार किया जाने लगा। जबकि अंग्रेजों ने शुरू में मुगल सम्राटों से ही विभिन्न अधिकार और सुविधायें प्राप्त की थीं यह ठीक है कि इस समय तक मुगल-सम्राट की राजनीतिक सत्ता समाप्त हो चुकी थी। परन्तु सैद्धान्तिक एवं वैधानिक रूप से वह अब भी भारत का बादशाह समझा एवं माना जाता था। समाज में अब भी उसकी प्रतिष्ठा और मानमर्यादा थी। परन्तु ज्यों-ज्यों भारत में अंग्रेजों की सत्ता का विस्तार होता गया, मुगल सम्राट के प्रति उनका व्ययहार भी बदल गया। उन्होंने सम्राट को 'नजर' देना बन्द कर दिया। सिक्कों पर से उसका नाम हटा दिया गया और उसके स्थान पर अपने देश के सम्राट का नाम अंकित करने लगे। अंग्रेजों ने धीरे-धीरे मुगल सम्राट को सामाजिक सम्मान देना भी बन्द कर दिया।

भारतीय राजाओं, नवाबों और मुगल सम्राट के प्रति अंग्रेजों की नीति के कई असन्तोषजनक परिणाम निकले। अवध और मुगल सम्राट के प्रति उनकी नीति ने भारतीय मुसलमानों को अंग्रेजों का शत्रु बना दिया। डलहौजी की हड़प नीति ने उन राज्यों के भावी उत्तराधिकारियों को ही नहीं बल्कि उन पर आश्रित सामन्तों अधिकारियों एवं कर्मचारियों को भी अंग्रेजों का शत्रु बना दिया क्योंकि उन लोगों की रोटी-रोजी का सहारा ही छिन गया था। झांसी, सतारा और नाना साहब के प्रति उनकी नीति ने महाराष्ट्र की जनता को अंग्रेजों का शत्रु बना दिया। इसी प्रकार, उनकी नीति से भारतीय शासकों में असन्तोष पैदा हो चुका था और वे एक दूसरे के निकट सम्पर्क में आने लगे थे। फिर भी, यह सोचना भूल होगी कि भारतीय शासकों ने मिल-जुल कर अंग्रेजों के विरुद्ध षड्यन्त्र रचा हो अथवा क्रांति के समय खुले रूप से अंग्रेजों के विरुद्ध हथियार उठाये हों। केवल व्यक्तिगत रूप से असन्तुष्ट राजवंशीय लोगों ने ही क्रांति में भाग लिया था।

राजनीतिक कारणों में अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं का भी योगदान रहा। अंग्रेजों की निरन्तर सफलताओं से भारतीयों में यह भ्रम पैदा हो गया था कि अंग्रेज अजेय हैं और उन्हें पराजित करना सम्भव नहीं। परन्तु क्रीमिया के युद्ध तथा अफगान युद्धों में अंग्रेजों की जो दुर्दशा हुई उसने भारतीयों के भ्रम को दूर कर दिया। इससे उनका नैतिक बल एवं आत्म विश्वास बढ़ गया।

राजनीतिक कारणों में कम्पनी सरकार की शासन सम्बन्धी व्यवस्था भी एक मुख्य कारण थी। भारत का आर्थिक शोषण करने तथा भारत पर अपनी सत्ता को कायम रखने की दृष्टि से अंग्रेजों ने प्रशासन-व्यवस्था में जो परिवर्तन किये उनसे भी काफी असन्तोष बढ़ा। लगान बसूल करने की पद्धति में निरन्तर परिवर्तन किये जाते रहे और लगान की दर में वृद्धि होती रही। भारतीय राजाओं और नवाबों के शासन काल में जिन हजारों लोगों को भेंट, इनाम अथवा पुरस्कारों में जो माफीशुदा (कर मुक्त) जमीनें तथा जागीर मिली थीं, उसे कम्पनी सरकार ने जब्त कर

लिया परन्तु लगान वसूली के अधिकार को प्राप्त करने वाले लोगों को भूमि का स्वामी मान कर एक नये जमींदार वर्ग को जन्म दे दिया। इससे किसानों में भारी असंतोष फैल गया था। अंग्रेजों की लगान नीति के विरुद्ध इतना प्रवल बिरोध था कि कई स्थानों पर सेना की सहायता से लगान वसूल किया जाता था।

अंग्रेजों की न्याय-व्यवस्था भी भारतीयों में लोकप्रिय न हो पाई। इंगलैण्ड के कानूनों पर आधारित अंग्रेजों की न्याय-व्यवस्था को भारतीय समझ नहीं पाये। सम्मानित लोगों के असन्तोष का मुख्य कारण यह था कि इन्हें अदालतों में जाना पड़ता था और सामान्य लोगों के असन्तोष का मुख्य कारण यह था कि इसमें काफी धन और समय नष्ट होता था।

कम्पनी सरकार ने भारतीयों को उच्च प्रशासनिक सेवाओं से दूर रख कर पढ़े-लिखे भारतीयों की सहानुभूति को खो दिया। सेना में एक भारतीय सूबेदार से उच्च पद प्राप्त नहीं कर सकता था। इसके अलावा एक बात और थी। हिन्दू-मुस्लिम मराठा शासकों के काल में सामान्य जनता अपने अधिकारियों से मिल सकती थी और अपनी फरियाद कर सकती थी। अंग्रेजी शासन व्यवस्था में ऐसा सम्पर्क सम्भव न था और उनकी शासन व्यवस्था में व्यक्ति का विशेष महत्त्व नहीं था। इस प्रकार. अंग्रेजों की शासन-व्यवस्था से सामान्य भारतीय जनता भी सन्तुष्ट न थी।

2. आर्थिक नीति के प्रति असन्तोष

अंग्रेजों द्वारा भारत का आर्थिक-शोषण सन् सत्तावन के विस्फोट का एक प्रमुख कारण था। कम्पनी शासन के पूर्व भारत एक धन सम्पन्न कृषि, एवं उद्योग प्रधान देश था। इसका मूल कारण यह था कि भारत में जो भी विदेशी विजेता आया (एक-दो अपवादों को छोड़ कर) उसने भारत को अपना घर बना लिया था और भारत की आर्थिक उन्नति को अपनी समृद्धि का प्रतीक माना। परिणामस्वरूप, भारत की आर्थिक स्थिति अच्छी बनी रही और भारत की धन सम्पदा भारत में ही बनी रही। परन्तु अंग्रेजों ने इस देश में अपना उठाऊ चूल्हा रखते वे भारत को अपना घर नहीं बना सके। उसका ध्येय भारत की धन-सम्पदा को बटोर कर. स्वदेश ले जाना था। इस समय तक उनके देश में औद्योगिक क्रान्ती काफी आगे बढ़ चुकी थी। अतः अंग्रेजी कारखानों को कच्चे माल की मण्डियां और तैयार माल को खपाने के लिए बाजारों में आवश्यकता थी। अंग्रेज सरकार ने अपने देश के कारखानों को भारत में उपयुक्त दोनों सुविधायें प्रदान की। इससे अंग्रेजी कारखाने तो समृद्ध हो गये परन्तु भारतीय कुटीर-उद्योगों का अन्त हो गया और इन उद्योगों से जीविका कमाने वाले हजारों परिवार बेकार हो गये।

अंगेजों ने शुरू से ही यह नीति अपनाई कि वे भारत के बने हुए माल पर जो इंगलैण्ड जाता था, बहुत अधिक कर लेते थे, परन्तु भारत के कच्चे माल पर बहुत कम निर्यात कर लिया जाता था। जो माल इगलैण्ड से आता था उस पर भी

बहुत कम आयात कर लिया जाता था। इसका सीधा-साधा अर्थ यह था कि भारतीय सामान इंगलैण्ड में, इंगलैण्ड के सामान के साथ प्रतिस्पर्धा न कर सके। दूसरे शब्दों में भारत का विदेशी व्यापार चौपट कर दिया जाय। भारत में भी, कम आयात कर की वजह से इंगलैण्ड का सामान भारतीय सामान के मुकाबले में बिक सके। अंग्रेजों की इस नीति की आलोचना करते हुए एक उदारवादी अंग्रेज लेखक मार्टिन ने लिखा था कि, "भारत को कृषि प्रधान देश बनाना भारत के साथ अन्याय होगा।" परन्तु कम्पनी सरकार ने भारत को एक ऐसा कृषि-प्रधान उपनिवेश बनाने का निश्चय कर लिया था जो उनके देश को कच्चा माल देते रहे और बना हुआ माल खरीदता रहे। इसलिए, इसमें कोई सन्देह नहीं कि अधिकांश भारतीयों में कम्पनी सरकार की व्यापारिक और औद्योगिक नीति के प्रति भारी असन्तोष था क्योंकि वे इस नीति को भारत की निर्धनता का प्रमुख कारण मानते थे।

3. सामाजिक और आर्थिक सन्तोष

कम्पनी सरकार भारत के परम्परागत सामाजिक ढाँचे को विघटित करना चाहती थी, क्योंकि उस समाज का नेतृत्व सामन्तों और ब्राह्मणों के पास था और ये लोग पुराने राजवंशों तथा शासन-व्यवस्था के समर्थक थे। अतः उससे अंग्रेजों को निष्ठा एवं समर्थन की आशा न थी। अस्तु अंग्रेज प्राचीन उच्च परिवारों का महत्त्व कम करके अपने प्रति निष्ठावान एक नये भारतीय वर्ग का सामाजिक महत्त्व बढ़ाना चाहते थे। इसके लिए पुरानी व्यवस्था में हस्तक्षेप करने की नीति अपनाई। सती प्रथा, बाल हत्या, लड़के-लड़कियों की खरीद-फरोख्त आदि प्रथाएँ यद्यपि अब समयानुकूल नहीं रह गई थीं और उनका प्रभाव भी कम हो गया था, फिर भी जिस तरीके से इन प्रथाओं पर प्रहार किया गया उससे रूढ़िवादी भारतीय जनता तिलमिला उठी। उसे ऐसा अनुभव होने लगा कि अंग्रेज सरकार सुधारों की आड़ लेकर उनके परम्परागत संगठन को छिन्न-भिन्न करना चाहती है। कम्पनी सरकार ने हिन्दू उत्तराधिकार कानून में परिवर्तन करके असन्तोष को बढ़ावा दिया। नये परिवर्तन में यह व्यवस्था की गई थी कि यदि कोई हिन्दू ईसाई धर्म ग्रहण कर ले तो भी उस व्यक्ति का अपनी पैतृक सम्पत्ति में भाग बना रहेगा। लार्ड केनिंग द्वारा कानून की सहायता से विधवाओं को दूसरा विवाह करने का अधिकार देना भी भारतीयों द्वारा संदेह की दृष्टि से देखा गया।

1813 ई. के पूर्व पुर्तगालियों की असफलता से सबक ग्रहण करके कम्पनी सरकार ने भारत में ईसाई-धर्म-प्रचारकों को आने की आज्ञा नहीं दी थी। परन्तु 1813 ई. के चार्टर-एक्ट से उन्हें भारत में आने और धर्म प्रचार करने की सुविधा मिल गई। इसके साथ ही, वे बहुत बड़ी संख्या में भारत आने लगे और जहाँ बस कर अपने केन्द्र संगठित किये तथा ईसाई धर्म का प्रचार शुरू किया। बाद में, उन्हें अपने काम में कम्पनी के अधिकारियों का सहयोग भी मिलने लग गया। ये धर्म-प्रचारक हिन्दू देवी-देवताओं और धर्म-ग्रन्थो की खिल्ली उड़ाते और भारतीयों को

हर सम्भव प्रलोभन देकर उन्हें ईसाई बनाने का प्रयत्न करते थे। इस कारण हिन्दू, सिक्ख और मुसलमान, सभी को अपने-अपने धर्म के लिए खतरा हो गया।

ईसाई धर्म-प्रचारक ने अपने ध्येय की प्राप्ति के लिए अनेक कदम उठाये थे, उनमें से एक स्कूलों की स्थापना भी था। इन स्कूलों में पढ़ने वाले भारतीय लड़के-लड़कियों को ईसाई धर्म की शिक्षा दी जाती थी। बाइबिल का अध्ययन अनिवार्य रूप से कराया जाता था। हिन्दू-धर्म की सामान्य बुराइयों को बढ़ा-चढ़ा कर बताया जाता और ईसाई धर्म की अच्छाइयों का गुण-गान किया जाता था। जेलों में भी कैदियों को ईसाई धर्म की शिक्षा दी जाने लगी। ईसाई धर्म स्वीकार करने वाले अपराधियों को जल्दी रिहा कर दिया जाता था। स्वतन्त्र नागरिकों को कम्पनी की सेवा में पद, धन और सम्मान का प्रलोभन दिया जाता था। अकाल के दिनों में अनेकों अनाथ बच्चों को ईसाई बनाया जाने लगा। मैंगल्स ने तो 1857 ई. में ब्रिटिश संसद में ही कहा कि "परमात्मा ने हिन्दुस्तान का विशाल साम्राज्य इंगलिस्तान को सौंपा है ताकि हिन्दुस्तान में एक सिरे से दूसरे सिरे तक ईसा मसीह का झण्डा फहराने लगे।"

इस सम्बन्ध में अंग्रेज सरकार की नीति चाहे किसी भी प्रकार की रही हो, इतना निश्चित है, कि उसके प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष सहयोग के बिना ईसाई धर्म प्रचारकों की गतिविधियाँ इतनी व्यापक कभी नहीं हो पातीं। अंग्रेजों की नीति की व्याख्या करते हुए अंग्रेज लेखक मेलकम ल्यूइन ने लिखा था कि, "हमारा अंग्रेज और हिन्दुस्तानी में एक दूसरे से मालिकों और गुलामों जैसा सम्बंध है। हमने प्रत्येक ऐसी वस्तु भारतीयों से छीन ली है जो उन्हें मनुष्य की हैसियत से ऊँचा कर सकती थी""हमने उन्हें जाति-भ्रष्ट कर दिया है, उनके उत्तराधिकार के नियम को रद्द कर दिया है, उनकी वैवाहिक संस्थाओं को बदल दिया है, उनके धर्म में पवित्रतम रिवाजों की अवहेलना की है, उनके मंदिरों की जायदादों को जब्त कर लिया है, अपने सरकारी लेखों में हमने उन्हें काफिर कह कर कलंकित किया है, अपनी लूट-खसोट से हमने देश को बर्बाद कर दिया है," अंग्रेजों द्वारा भारत के सामाजिक और धार्मिक जीवन में हस्तक्षेप की इस नीति से भारतीयों में काफी असन्तोष व्याप्त हो चुका था और जब भारतीय सैनिकों को भी इसका कड़ुआ घूँट पीना पड़ा तो विस्फोट हो गया।

4. भारतीय सैनिकों में असन्तोष

कम्पनी सरकार ने भारतीय सैनिकों एवं अधिकारियों के प्रति जो भेद-भाव की नीति अपनाई, उसने क्रान्ति के विस्फोट में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। भारतीय सैनिकों के असन्तोष के कई कारण थे। बंगाल की सेना जो अंग्रेजों की मुख्य सेना समझी जाती थी, उनके अधिकांश सैनिक अवध के नागरिक थे। अवध के अंग्रेजी राज्य में मिलाये जाने से वे असंतुष्ट हो गये। मौलाना आजाद ने लिखा है कि, "अवध के अंग्रेजी राज्य में मिलाये जाने से सभी सैनिकों में विद्रोह की भावना उत्पन्न हो गई। मुख्यतया बंगाल की सेना के लोगों को इससे बहुत बड़ा धक्का लगा।

उन्होंने अचानक अनुभव किया कि कम्पनी ने जो शक्ति उनकी सेवाओं और त्याग से प्राप्त की थी उसका उपयोग उनके ही राजा को समाप्त करने के लिए किया गया था।" इसके अलावा एक अन्य कारण भी था। शुरू में बंगाल सेना में केवल राजपूतों और ब्राह्मणों को ही भर्ती किया जाता था, अब निम्न जातियों के लोगों को भी इसमें भर्ती किया जाने लगा जिसे बंगाल सेना के सैनिकों ने पसन्द नहीं किया। पंजाब विजय के बाद कम्पनी सरकार ने भारतीय सैनिकों को यह आश्वासन दिया था कि उन्हें अपनी दाढ़ी या बाल साफ करने को नहीं कहा जायेगा। परन्तु बाद में उन्हें दाढ़ी-मूँछ साफ करने और सिर पर पगड़ी या साफा न पहनने के आदेश दिये जाने लगे। लॉर्ड केनिंग के इस आदेश से उन्हें "लड़ने के लिए समुद्र पार विदेशों में भेजा जा सकता है" से भी सैनिकों में असंतोष फैला क्योंकि विदेश से लौट कर आने वाले सैनिकों को उनकी जाति वाले उन्हें जाति से बहिष्कृत कर देते थे। इसके अतिरिक्त भारतीय सैनिकों के असन्तोष के अन्य कारण भी थे। उन्हें बहुत कम वेतन मिलता था और खाने तथा कपड़ों के लिए रुपया देना पड़ता था। 1854 ई. में एक कानून के द्वारा सैनिकों के निःशुल्क पत्र व्यवहार की सुविधा का भी अन्त कर दिया गया। अंग्रेज सैनिकों तथा अधिकारियों का भारतीय सैनिकों के प्रति अच्छा व्यवहार नहीं था। इन सभी बातों से उनमें असन्तोष व्याप्त था। परन्तु जब चर्बी वाले कारतूसों का प्रयोग करने को कहा गया तो उनका असन्तोष चरम बिन्दु पर पहुँच कर फूट पड़ा और बाद में जो कुछ घटित हुआ उसे सन् सत्तावन की क्रान्ति कहते हैं।

1857 का विस्फोट और उसका प्रसार

देश में व्याप्त राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं धार्मिक असन्तोष को क्रान्ति के रूप में संगठित करने की एक सुनियोजित योजना तैयार की गई थी। पेशवा बाजीराव द्वितीय का दत्तक पुत्र नाना साहेब और उसके सहयोगियों—अजीमुल्ला तथा रंगोजी बापू ने इस योजना को तैयार करने में मुख्य भाग लिया था। इस योजना के अनुसार मुगल सम्राट बहादुरशाह के नेतृत्व में 31 मार्च 1857 ई. के दिन समूचे भारत में एक साथ क्रान्ति को शुरू करना था। इस योजना की तैयारी दिल्ली के लाल किले की गुप्त बैठकों में हुई थी। क्रान्ति संदेशवाहकों ने विभिन्न रूपों में देश के विभिन्न भागों की यात्रायें कीं और क्रान्ति के चिह्नों—कमल के फूल और चपाती को—गाँव-गाँव में घुमाया गया। परन्तु चर्बी वाले कारतूसों ने सम्पूर्ण योजना को छिन्न-भिन्न कर दिया और क्रान्ति निश्चित समय के पहले ही शुरू हो गई।

29 मार्च, 1857 ई. को बैरकपुर नामक स्थान की अंग्रेजी सेना की 34 वीं पलटन के भारतीय सैनिकों को नये कारतूसों का प्रयोग करने को कहा गया। नये कारतूसों के बारे में यह बात फैल चुकी थी कि उनमें गाय और सूअर की चर्बी थी और कारतूसों को रायफल (बन्दूक) में भरने से पहले मुँह से खोलना पड़ता था। मंगल पाण्डे नामक एक सैनिक ने कारतूसों का प्रयोग करने से मना कर दिया और

अपने साथी सैनिकों से भी ऐसा ही करने को कहा। इस पर दो अंग्रेज अधिकारियों ने उसे गिरफ्तार करने का प्रयत्न किया। मंगल पाण्डे ने उन दोनों को मौत के घाट उतार दिया। परन्तु पाण्डे पकड़ा गया और 8 अप्रैल, 1857 ई. को उसे फाँसी पर लटका दिया गया। 34 वीं रेजीमेन्ट को भंग कर दिया गया। कारतूसों के प्रयोग को लेकर लखनऊ और अम्बाला में भी ऐसी ही घटनाएं घटित हुई फिर भी अभी तक भारतीय सैनिकों का संयम नहीं टूटा था।

क्रान्ति का श्रीगणेश मेरठ से हुआ। मेरठ स्थित भारतीय सेना की एक पलटन के 90 में से 85 सैनिकों ने कारतूसों को मुँह से खोलकर उनका प्रयोग करने से इनकार कर दिया। अंग्रेज अधिकारियों ने उनको बेइज्जत करके कारावास में डाल दिया। इस घटना से मेरठ के भारतीय सैनिकों में भारी असंतोष फैल गया, परन्तु क्रान्ति के नेताओं ने उन्हें समझा-बुझाकर 31 मई तक प्रतीक्षा करने को कहा। यह घटना 9 मई, 1857 की है। दूसरे दिन मेरठ शहर की सड़कों और गली कूचों से गुजरने वाले भारतीय सैनिकों को शहर की स्त्रियों ने ताने मारे कि तुम्हारे भाई कारावास में सड़ रहे हैं। तुम्हारे जीने को धिक्कार है! इन तानों ने उनके संयम को तोड़ दिया और मेरठ के सैनिकों ने विद्रोह का शंख फूंक दिया। कारावास पर आक्रमण करके अपने साथी सैनिकों को रिहा करा लिया। कई अंग्रेज सैनिक और अधिकारी मारे गए। इसी दिन (10 मई) रात्रि में मेरठ के सैनिकों ने दिल्ली की तरफ कूच कर दिया। उनका यह कदम अंग्रेजों के लिए वरदान और क्रान्ति-कारियों के लिए अभिशाप सिद्ध हुआ। मैलीसन ने लिखा है कि "यदि पूर्व निश्चय के अनुसार एक साथ, एक ही तारीख को समूचे भारत में स्वतंत्रता संघर्ष शुरू हुआ होता तो भारत में एक भी अंग्रेज जीवित नहीं बचता और भारत में अंग्रेजी राज्य का अन्त हो गया होता।" 11 मई को क्रान्तिकारियों ने दिल्ली पर अधिकार जमा लिया और बूढ़े बहादुरशाह को सम्राट घोषित कर दिया। अब उसके नाम पर अंग्रेजों को भारत से बाहर निकालने की आवाज बुलन्द की गई। 4 जून को लखनऊ में, 5 जून को कानपुर में और उन्हीं दिनों झाँसी में विद्रोह हुआ। कानपुर में नाना साहेब और उसके सेनापति तांत्या टोपे ने और झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई ने क्रांति-कारियों का नेतृत्व किया। ग्वालियर, इन्दौर और राजस्थान में भी विद्रोह उठा। बंगाल और बिहार में कुछ स्थानों पर विद्रोह हुआ। सैनिकों की प्रारम्भिक सफलता के कारण असंख्य नागरिक भी विद्रोह में सम्मिलित हो गए। इस प्रकार यह विस्फोट दिल्ली से बिहार तक फैल गया। परन्तु विद्रोह के मुख्य केन्द्र दिल्ली, लखनऊ, कानपुर, झाँसी और ग्वालियर रहे। पंजाब, राजस्थान और दक्षिण भारत के भारतीय राजाओं ने इस विद्रोह में क्रान्तिकारियों के विरुद्ध अंग्रेजों का साथ दिया।

भारतीय सैनिकों ने जल्दबाजी में विद्रोह तो कर दिया, परन्तु उनके पास निश्चित योजना न थी। उधर लॉर्ड केनिंग ने विद्रोह की सूचना मिलते ही बम्बई, मद्रास, ब्रह्मा और श्रीलंका से सेनाओं को तत्काल एकत्र करना शुरू कर दिया। पंजाब की निष्ठावान सिक्ख सेना को दिल्ली की तरफ बढ़ने का आदेश दिया गया।

जनरल नील ने बनारस और इलाहाबाद को क्रान्तिकारियों से मुक्त कराया। कानपुर में नाना साहेब ने अपने को पेशवा घोषित कर दिया। उसने बन्दी अंग्रेजों को कत्ल करवा दिया। दिसम्बर में सर कैम्पवैल ने कानपुर को जीत लिया और नाना साहेब भाग गया। लखनऊ में नबाब वाजिदअलीशाह और बेगम हजरतमहल ने विद्रोही सैनिकों का नेतृत्व किया। मार्च, 1858 ई. में अंग्रेजों ने लखनऊ पर अधिकार कर लिया और नबाब तथा बेगम भाग गए। बहादुरशाह के एक सम्बन्धी मिर्जा इलाही बख्श की गद्दारी के कारण अंग्रेजों को दिल्ली पर अधिकार करने तथा बूढ़े सम्राट बहादुरशाह को बंदी बनाने में सफलता मिल गई। इस अवसर पर सम्राट के दो लड़कों को गोली से मार दिया गया और सम्राट को रंगून निर्वासित कर दिया गया जहाँ 1862 ई. में उसकी मृत्यु हो गई।

बरेली में खान बहादुर खाँ और बिहार में जगदीशपुर के जमींदार कँवरसिंह ने क्रान्तिकारियों का नेतृत्व किया, परन्तु अंग्रेजों ने उन दोनों के विद्रोह को बहुत जल्दी दबा दिया। ऐसी स्थिति में भी ताँत्या टोपे और झाँसी की लक्ष्मीबाई ने अंग्रेजों के विरुद्ध जबरदस्त लोहा लिया। लक्ष्मीबाई ने अपने अल्पायु पुत्र दामोदर को झाँसी के सिंहासन पर बैठाकर, बहादुरशाह का हरा ध्वज फहरा दिया था। अंग्रेज सेनापति ह्यूरोज ने झाँसी पर आक्रमण किया। लक्ष्मीबाई ने उसका डटकर मुकाबला किया। परन्तु कुछ विश्वासघातकों ने झाँसी के फाटक खोल दिये। रानी अंग्रेज सेना को चीरती हुई झाँसी से बच निकली और कालपी पहुँची। उधर ताँत्या टोपे भी कालपी पहुँच गया। दोनों ने मिलकर ग्वालियर पर आक्रमण किया। ह्यूरोज भी रानी का पीछा करता हुआ आ पहुँचा, परन्तु उसे बुरी तरह पराजित होना पड़ा। दूसरे दिन अंग्रेज सेना को और स्थानों से सहायता मिल गई। रानी वहाँ से बच निकली, परन्तु मार्ग में शत्रु से लड़ते लड़ते वीरगति को प्राप्त हुई। ताँत्या ने अकेले ही संघर्ष जारी रखा। परन्तु अन्त में उसके मित्रों ने ही उसके साथ विश्वासघात किया और अंग्रेजों ने उसे फाँसी की सजा दी। इस प्रकार क्रान्ति समाप्त हुई।

राजस्थान का योगदान—लॉर्ड हेस्टिंग्ज के शासन काल में राजस्थान के राजाओं ने कम्पनी सरकार के साथ संधियाँ करके उसकी अधीनता स्वीकार कर ली थी। सन्धियों के अनुसार राजाओं को अपने राज्यों की आन्तरिक शासन व्यवस्था की स्वतन्त्रता का आश्वासन दिया गया था। परन्तु कम्पनी सरकार के अधिकारियों के दैनिक हस्तक्षेप के कारण उनकी वह स्वतन्त्रता भी जाती रही। अंग्रेज अधिकारियों ने राज्यों की आन्तरिक व्यवस्था पर अपना नियन्त्रण स्थापित करने की दृष्टि से अपने प्रति निष्ठावान दलों को प्रोत्साहन देना शुरू किया जिसके परिणामस्वरूप राज्यों में दो दलों का विकास हुआ—एक अंग्रेज समर्थक और दूसरा राजा का समर्थक। दोनों के मध्य सत्ता प्राप्ति के लिए जो संघर्ष चला उसमें अंग्रेजों ने हर सम्भव उपाय से अपने समर्थकों का पक्ष लेकर विपक्ष को कुचलने का प्रयत्न किया। क्रान्ति के पूर्व राज्यों में ब्रिटिश समर्थक दलों का प्रभाव कायम हो गया, परन्तु

असंतुष्ट शासक और सामन्त लोगों को अंग्रेजी शासन से घृणा उत्पन्न हो गई थी। जोधपुर, जयपुर, भरतपुर और उदयपुर के राज्यों में यही स्थिति थी।

अंग्रेजों ने राजाओं से ब्रिटिश भारत की शासन व्यवस्था को अपने राज्यों में लागू करने को कहा। सती-प्रथा, बाल-हत्या, लड़के-लड़कियों की खरीद-फरोख्त आदि पर प्रतिबन्ध लगाने को कहा। इससे रूढ़िवादी राजपूत सरदार और सैनिक बिगड़ गये। क्योंकि वे इस प्रकार के प्रतिबन्धों को अपने दैनिक जीवन में हस्तक्षेप समझते थे। राजपूत सरदारों के असंतोष का एक कारण यह भी था कि उनको अपने सैनिक दस्ते भंग करने पड़े और उनके न्याय सम्बन्धी अधिकार या तो छीन लिए गए अथवा बहुत सीमित कर दिए गए। इससे उनके सम्मान को भी भारी ठेस पहुँची थी।

क्रांति के समय राजस्थान में नसीराबाद और देवली में अंग्रेजों की मुख्य सैनिक छावनियाँ थीं। ब्यावर और खैरवाड़ा में स्थानीय सैनिकों की दो टुकड़ियाँ थीं। आबू में रोगी अंग्रेज सैनिकों को रखने की व्यवस्था थी। इसके अलावा अंग्रेज अधिकारियों की देखरेख में राज्यों की सैनिक छावनियाँ थीं जैसे कि एरिनपुरा में जोधपुर की सैनिक छावनी थी। मेवाड़ में भील कोर थी तो कोटा में कान्टिन्जेन्ट थी।

23–29 मई को नसीराबाद छावनी के सैनिकों ने विद्रोह का झण्डा फहरा दिया और लूटमार करते हुए दिल्ली-आगरा की तरफ बढ़ चले। एरिनपुर के सैनिकों ने भी उनका साथ दिया। निम्बाहेड़ा और अनादड़ा पर विद्रोहियों का अधिकार हो गया। इससे राजस्थान के अन्य राज्यों में भी विद्रोह फैल गया। भरतपुर और धौलपुर में विद्रोह उठा। टोंक की सेना के कई सैनिक विद्रोहियों से जा मिले। कोटा के सैनिकों ने भी विद्रोह कर दिया। उन्होंने अंग्रेज रेजीडेन्ट रिचार्ड और उसके बच्चों को मार डाला। महाराव मानसिंह ने अपने आपको राजमहल में बन्द कर लिया और समूचे शहर पर विद्रोहियों का अधिकार हो गया। बाद में अंग्रेजों ने विद्रोह का दमन किया और कोटा के विद्रोहियों ने नेता लाला जयदयाल को तोप से उड़ा दिया गया।

परन्तु राजस्थान में जिस वीर शिरोमणि ने कम्पनी सरकार का डटकर मुकाबला किया था, वह था आउवा का ठाकुर कुशालसिंह। यह ठीक है कि ठाकुर कुशालसिंह का अपने राजा तख्तसिंह से भी झगड़ा चल रहा था, परन्तु जब एरिनपुरा और डासा के कई क्रान्तिकारी सैनिकों ने उनसे नेतृत्व का अनुरोध किया तो वह अंग्रेजों के विरुद्ध उठ खड़ा हुआ। आसपास के अनेक जागीरदार और असंख्य राजपूत सैनिक उसके झण्डे के नीचे आ डटे। अंग्रेजी सेना और जोधपुर महाराजा की सेना ने मिलकर आउवा पर आक्रमण किया परन्तु उन्हें परास्त होना पड़ा। जोधपुर सेना का सेनापति और अंग्रेजी सेनानायक कप्तान मेन्सन मारे गये। दूसरी बार फिर आक्रमण किया गया और एक बार पुनः अंग्रेजों को मुँह की खानी पड़ी। तीसरी बार, पूरी तैयारी के साथ आउवा पर आक्रमण किया गया और इस बार

कुशालसिंह की पराजय हुई। वह भागकर पहाड़ों में चला गया। अंग्रेज अधिकारियों ने आउवा का दुर्ग और देवी के मन्दिर धराशायी कर दिए।

अंग्रेजों से पराजित होने के बाद तांत्या टोपे राजस्थान में चला आया था। नाना साहेब ने भी राजस्थान में आश्रय ढूढ़ने का प्रयत्न किया था। परन्तु उन दोनों को यहाँ कोई विशेष सफलता न मिली।

भारत के अन्य भागों की तरह राजस्थान का विद्रोह भी असफल रहा। राजस्थान के लगभग सभी शासकों ने इस अवसर पर अंग्रेजों की पूरी-पूरी सहायता की। केवल बूँदी के शासक ने अपनी असमर्थता प्रकट की थी। राजाओं ने ऐसा क्यों किया, यह विवाद का विषय है। उनके पक्ष में इतना ही कहा जा सकता है कि एक तो उन्हें अपने सामन्तों से ही भय बना हुआ था और अंग्रेजों की सहायता के बिना सामन्तों को नियंत्रण में रखना असम्भव था। दूसरा, उन्हें मराठों से काफी घृणा थी और यह आशंका भी थी कि कहीं क्रान्ति के परिणामस्वरूप वे पुनः सत्ता में आ गये तो परिणाम बुरा निकलेगा। अतः उन्होंने अंग्रेजों का साथ देने में ही अपने पैतृक राज्यों और व्यक्तिगत स्वार्थों का भला देखा।

असफलता के कारण—सन् सत्तावन के स्वतंत्रता संघर्ष की असफलता के विभिन्न कारण बताये जाते हैं। पहली आधारभूत बात यह थी कि यह विस्फोट भारत के एक सीमित क्षेत्र में ही फैला, सम्पूर्ण भारत में नहीं। इस कारण अंग्रेजों को अपनी शक्ति सम्पूर्ण भारत में बिखेरनी नहीं पड़ी। उलटे भारत के अन्य भागों में स्थित अंग्रेज सेनाओं का लाभ मिल गया—क्रान्ति का दमन करने के लिए। दूसरी बात, अंग्रेजों के पास अच्छे से अच्छे आधुनिक शस्त्र-शस्त्र थे और उनका तोपखाना उच्चकोटि का था। इसके विपरीत विद्रोही सैनिकों और नागरिकों के पास तलवारें और भाले थे। जो थोड़ी बहुत तोपें थीं भी, उनका वे समुचित उपयोग न कर पाये। तीसरी बात, डाक-तार विभाग ने अंग्रेजों की बहुत सेवा की। उन्हें हर स्थान की सूचनाएँ उपलब्ध हो जाती थीं और जहाँ चाहे आदेश भिजवाये जा सकते थे। क्रान्तिकारियों को यह सुविधा प्राप्त नहीं थी।

अंग्रेजों की सफलता का एक प्रमुख कारण भारतीय शासकों का सहयोग था। पटियाला, जिन्द, ग्वालियर, हैदराबाद, उदयपुर, जयपुर आदि के शासकों ने अंग्रेजों की तन, मन और धन से सहायता की। विद्रोहियों को इस प्रकार के शासकों से सहायता नहीं मिल पायी थी। इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान देने योग्य है कि क्रान्तिकारियों को भारत के बौद्धिक वर्ग से भी किसी प्रकार का सहयोग नहीं मिला। जबकि इतिहास इस बात का साक्षी है कि अधिकांश सफल क्रान्तियों का नेतृत्व बुद्धिवादी वर्ग ने ही किया था।

क्रान्ति की असफलता का एक मुख्य कारण सुनिश्चित योजना और केन्द्रीय संगठन का अभाव था। नेता बहुत थे और उन्हें जनता का समर्थन भी मिलने लग गया था, परन्तु वे असंगठित थे। दिल्ली में बहादुरशाह, लखनऊ में वाजिदअलीशाह और बेगम हजरतमहल, कानपुर से नाना साहेब झाँसी में लक्ष्मीबाई और बिहार में कुंवरसिंह ने क्रान्तिकारियों को नेतृत्व प्रदान किया। परन्तु यह लोग कभी आपस

में एक स्थान पर नहीं मिले थे। मिल-जुल कर कोई सम्मिलित योजना नहीं बनाई थी। उनके सामने कोई रचनात्मक आदर्श या सामूहिक हित के उद्देश्य नहीं थे। उनमें अंग्रेजी शासन-विरोधी भावना तो थी, परन्तु राष्ट्रीय एकता की भावना का अभाव था। सभी की अपनी-अपनी समस्याएँ थीं और अपनी-अपनी संकीर्ण आकांक्षाएँ थीं। इसके विपरीत, अंग्रेज अपनी समस्त शक्ति का उपयोग एक निश्चित योजनानुसार एक मत, एक लक्ष्य और एक दिमाग के साथ कर रहे थे।

क्रान्ति के समय में घटित घटनाओं और युद्धों में यह सिद्ध हो गया था कि युद्ध-नीति, युद्ध-कौशल और कूटनीति में भारतीयों का अंग्रेजों से कोई मुकाबला न था। अंग्रेज प्रत्येक क्षेत्र में सर्वश्रेष्ठ सिद्ध हुए। जिन सिक्खों से अंग्रेजों ने कुछ ही वर्षों पूर्व चालाकी और युद्ध से पंजाब छीन लिया था, वे सिक्ख क्रान्ति में अंग्रेजों के कट्टर समर्थक रहे। जिस निजाम से 1853 ई. में ही बरार का सूबा छीन लिया था, वह अंग्रेजों का भक्त बना रहा। ऐसे और भी कई उदाहरण हैं जो अंग्रेजों की कूटनीतिक श्रेष्ठता को सिद्ध करते हैं। ऐसे कूटनीतिज्ञों और युद्ध-कौशल में प्रवीण अंग्रेजों के विरुद्ध सामान्य कोटि के क्रान्तिकारियों का सफल होना असंभव था।

क्रान्ति का स्वरूप—सन् सत्तावन के विस्फोट के स्वरूप अथवा प्रकृति के विषय में इतिहासकारों में गम्भीर मतभेद रहा है और आज भी बना हुआ है। मोटे तौर पर इसके चार स्वरूपों की व्याख्या की गई है—

1. यह सैनिक अथवा सिपाई विद्रोह था।
2. यह असंतुष्ट एवं पदच्युत लोगों का षड्यन्त्र था।
3. यह अंग्रेजों के विरुद्ध हिन्दू और मुसलमानों का शड्यन्त्र था।
4. यह हमारे स्वतन्त्रता संघर्ष की पहली लड़ाई थी।

सर जॉन लॉरेन्स और सीले जैसे इतिहासकारों के अनुसार यह विस्फोट पूर्णतया सैनिक-विद्रोह था। इसमें केवल वे ही राज्य सम्मिलित हुए थे जिन्हें डलहौजी की नीति के अन्तर्गत अंग्रेजी राज्य में मिला लिया गया था। इसमें भारतीय नागरिकों ने सेना के साथ सहयोग नहीं किया। उपर्युक्त विद्वानों के इस मत को सही नहीं माना जा सकता क्योंकि अधिकांश भारतीय सैनिक अंग्रेजों के पक्ष में थे और उन्हीं की सहायता से विद्रोह का दमन भी किया गया था इसी प्रकार, कई स्थानों पर भारतीय नागरिकों ने विद्रोहियों के साथ सहयोग किया था।

इसी प्रकार यह विद्रोह केवल असन्तुष्ट एवं पदच्युत लोगों का षड्यन्त्र भी नहीं था। वाजिदअलीशाह, नाना साहेब, लक्ष्मीबाई अथवा बहादुरशाह इसमें से कोई भी सेनानायक नहीं था। भारतीय सैनिकों पर उनका कोई विशेष प्रभाव नहीं था और उनके पास विद्रोह को आयोजित करने योग्य साधन भी नहीं थे। वे कभी आपस में एक दूसरे से मिले भी नहीं। अतः यह मत भी सारहीन प्रतीत होता है।

सर जेम्स आउट्रम और डब्ल्यू टेलर जैसे इतिहासकारों ने इसे "अंग्रेजों के विरुद्ध हिन्दू और मुसलमानों का षडयन्त्र" माना है। इस मत में भी वजन नहीं है

क्योंकि हिन्दू और मुसलमानों के बीच क्रान्ति के पूर्व और क्रान्ति के समय में भी काफी मतभेद थे। फिर अंग्रेजों का साथ देने वाले भी तो हिन्दू और मुसलमान ही थे।

अशोक मेहता, वीर सावरकर आदि इतिहासकारों ने सारपूर्ण तथ्यों एवं तर्कों के आधार पर इसे 'राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का युद्ध' माना है। इंगलैण्ड के एक भूतपूर्व प्रधानमन्त्री लॉर्ड डिजरायली ने भी इसे 'राष्ट्रीय विद्रोह' कहा था वास्तव में 1857 ई. के विद्रोह के मूल में राष्ट्रीय एकता और स्वतन्त्रता की भावनाएँ थीं और उसमें हिन्दू तथा मुसलमानों ने सम्मिलित रूप से भाग लिया था। आज की पीढ़ी भी इसे हमारे स्वतन्त्रता संग्राम का प्रथम संघर्ष मानती है।

प्रभाव और महत्त्व—क्रान्ति विफल रही, परन्तु उसका प्रभाव स्थायी और व्यापक सिद्ध हुआ। क्रान्ति ने भारत में अंग्रेजी शासन को झकझोर डाला और यदि भारतीय शासकों से सहयोग न मिला होता तो उसका कायम रहना असंभव था। इसलिए अंग्रेजों को नये सिरे से अपना प्रशासनिक ढाँचा खड़ा करना पड़ा। स्वार्थ एवं शोषण पर आधारित व्यापारिक कम्पनी का शासन समाप्त कर दिया गया और उसके स्थान पर ब्रिटिश संसद का सीधा शासन लागू किया गया। भारतीय शासन की बागडोर 'सेक्रेटरी ऑफ स्टेट' नामक पदाधिकारी को सौंप दी गई और उसकी सहायता के लिए पाँच सदस्यों की समिति बना दी गई। भारत के गवर्नर-जनरल को 'वायसराय' (उपराजा) का पद दिया गया। यह समस्त परिवर्तन 2 अगस्त, 1858 ई. के गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डियन एक्ट के अन्तर्गत किये गये। इसके बाद 1 नवम्बर, 1858 ई. को ब्रिटेन की साम्राज्ञी विक्टोरिया ने भारतीय जनता के लिए एक घोषणा की जिसमें राज्य-विस्तार की इच्छा का अन्त, भारतीय शासकों के अधिकारों की रक्षा, लोक-कल्याण, धार्मिक-सहिष्णुता, सेवाओं में समान अवसर, सम्पत्ति के अधिकार की रक्षा और विद्रोहियों को क्षमा का आश्वासन दिया गया। यद्यपि घोषणा की कुछ बातों को कभी लागू नहीं किया गया। फिर भी, इसने भारतीयों के हृदय में ब्रिटिश सरकार और शासन के प्रति असंतोष को काफी कम कर दिया।

भारतीय सेना का भी नये सिरे से संगठन किया गया। नयी व्यवस्था के अन्तर्गत भारतीय सैनिकों की संख्या घटा दी गई और धीरे-धीरे अंग्रेज सैनिकों की संख्या बढ़ा दी गई। तोपखाने को केवल अंग्रेज सैनिकों के नियन्त्रण में रखा गया। भारतीय सैनिकों की रेजीमेण्टों का गठन भारतीय एवं धार्मिक आधार पर किया जाने लगा जिससे उनमें राष्ट्रीयता की भावना न पनप सके।

क्रान्ति का सरकार की प्रशासन सम्बन्धी नीति पर भी गम्भीर प्रभाव पड़ा। अब उसकी नीति बदल गई। बदली हुई नीति की मुख्य विशेषताएँ थीं – ऐसे निहित स्वार्थों को बनाये रखना और उसकी रक्षा करना जो ब्रिटिश शासन के प्रति निष्ठावान हो और प्रत्येक प्रान्त में सन्तुलन बनाये रखना तथा आपसी फूट डालने वाली प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देना।

भारतीय राजा-महाराजा, नवाब और बड़े जमींदार पूर्णतः निहित स्वार्थी थे जो ब्रिटिश शासन के प्रति निष्ठावान सिद्ध हुए थे। अतः उनको संरक्षण प्रदान किया गया और उनके अधिकारों की रक्षा की गई। उनके अलावा एक और नया वर्ग विकसित हो रहा था जो ब्रिटिश शासन का अनन्य भक्त सिद्ध हो रहा था। यह वर्ग था सरकारी पदों पर नियुक्त भारतीयों का। अतः सेवाओं में भारतीयकरण का सिलसिला शुरू हुआ। इससे ब्रिटिश सरकार को भारत में एक सुदृढ़ स्तम्भ मिल गया। यह वर्ग राजा-महाराजाओं से भी अधिक आज्ञाकारी एवं स्वामिभक्त सिद्ध हुआ। अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त हजारों भारतीय आजीविका के लिए सरकारी कृपा पर आश्रित हो गये। नौकरियों एवं पदोन्नतियों के लिये उनमें भयंकर प्रतियोगिता शुरू हो गई जिसके फलस्वरूप उन पर ब्रिटिश शासन का पंजा और भी कस गया। इसी वर्ग के द्वारा सरकार ने, सरकार-विरोधी तत्त्वों को कुचलना शुरू किया। धर्म के नाम पर झगड़े करवाना, आपस में फूट डालना और भारतीयों पर शासन करना—यही ब्रिटिश सरकार की नई नीति थी।

क्रान्ति की विफलता से भारत के देश भक्तों ने भी सबक सीखा। उन्होंने हिंसक उपायों के स्थान पर वैधानिक उपायों से स्वतन्त्रता प्राप्त करने का प्रयत्न किया जिसका विकसित रूप हमें राष्ट्रीय आन्दोलन में देखने को मिलता है।

अभ्यास के लिए प्रश्न

1. सन् सत्तावन का विस्फोट क्यों हुआ? उसके प्रमुख कारणों की चर्चा कीजिए।

2. सन् सत्तावन के विस्फोट की मुख्य घटनाओं तथा उसके प्रमुख नेताओं का विवरण दीजिए।

3. सन् सत्तावन के विस्फोट के स्वरूप को बतलाते हुए उसका महत्त्व समझाइये।

अपने अध्ययन की जांच कीजिये

1. सही उत्तर का क्रमांक कोष्ठक में लिखिए—

   1. ईसाई धर्म-प्रचारकों को भारत में आने की सुविधा किस एक्ट के द्वारा उपलब्ध हुई थी?

      (क) रैग्यूलेटिंग एक्ट (ख) पिट्स का इण्डिया एक्ट

      (ग) 1813 का चार्टर एक्ट (घ) 1833 का चार्टर एक्ट ( )

   2. अंग्रेजों की किस सेना में राजपूतों और ब्राह्मणों को ही भर्ती किया जाता था?

      (क) बंगाल सेना (ख) मेवाड भील कोर

      (ग) मद्रास सेना (घ) सिक्ख रेजीमेन्ट ( )

3. किस दिन समूचे भारत में एक साथ क्रान्ति करना तय हुआ था ?

(क) 6 मई (ख) 31 मई

(ग) 29 मार्च (घ) 8 अप्रैल ( )

4. किस शहर की स्त्रियों ने भारतीय सैनिकों पर ताने मारे थे ?

(क) बैरकपुर (ख) मेरठ

(ग) कानपुर (घ) दिल्ली ( )

5. राजस्थान के किस ठिकाने के ठाकुर (जागीरदार) ने अंग्रेजों का डटकर सामना किया था ?

(क) निम्बाहेड़ा (ख) आउवा

(ग) आसोपा (घ) सलूम्बर ( )

2. केवल एक-एक पंक्ति में उत्तर दीजिए—

1. नाना साहेब के असन्तोष का कारण क्या था ?
2. अंग्रेजों ने हिन्दू-उत्तराधिकार-कानून में क्या परिवर्तन किया था ?
3. मंगल पाण्डे ने कारतूसों का प्रयोग करने से क्यों मना कर दिया था ?
4. बहादुरशाह किसके विश्वासघात के कारण गिरफ्तार हुआ ?
5. झाँसी की रानी को किस अंग्रेज सेनापति से अधिक संघर्ष करना पड़ा ?

3. पाँच-सात पंक्तियों में उत्तर दीजिए—

1. कौनसी अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं ने क्रान्ति को प्रभावित किया था ?
2. अंग्रेजों की लगान-व्यवस्था से किसानों में क्यों असन्तोष फैला था ?
3. अंग्रेजों ने इंगलैण्ड के उद्योग-धन्धों को लाभ पहुँचाने के लिए क्या किया ?
4. क्रांति की असफलता का एक कारण अंग्रेजों की कूटनीतिक सफलता थी। आप इससे कहाँ तक सहमत हैं ?
5. क्रान्ति के फलस्वरूप भारत में अंग्रेजी शासन की नीति में किस प्रकार का परिवर्तन आया ?

4. भारत के मानचित्र में क्रान्ति से सम्बन्धित प्रमुख केन्द्रों को दिखाइये।

पूरक अध्ययन के लिए ग्रन्थ

1. डॉ० एस. एन. सेन : 1857
2. डॉ० आर. सी. मजूमदार : हिस्ट्री ऑफ फ्रीडम मूवमेंट
3. अशोक मेहता : महान् विद्रोह
4. डॉ० ताराचन्द : हिस्ट्री ऑफ फ्रीडम मूवमेंट

12. भारत में अंग्रेजी शिक्षा : सुधार आन्दोलन और संवधानिक विकास

1. भारत में अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार

भारत में आधुनिक शिक्षा अथवा अंग्रेजी शिक्षा की शुरूआत कम्पनी सरकार द्वारा नहीं की गई थी। कम्पनी अपनी प्रजा की शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था को अपना कर्त्तव्य नहीं समझती थी। इस दिशा में सबसे पहला कदम ईसाई धर्म-प्रचारकों ने उठाया था। उनका विश्वास था कि पढ़े-लिखे भारतीयों को ईसाई बनाने में अधिक सफलता मिलेगी। इसके बाद, चार्ल्स ग्रान्ट नामक अंग्रेज पदाधिकारी और विद्वान ने भारत में अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार की सिफारिश की जो स्वीकृत नहीं हो पायी। भारतीयों, जिनमें राजा राममोहन राय, प्रसन्नकुमार टैगोर आदि प्रमुख थे, ने भी अंग्रेजी शिक्षा के महत्त्व को समझकर उसके प्रसार की माँग की थी।

1811 ई. में लॉर्ड मिन्टो ने चार नए विद्यालयों का प्रस्ताव रखा जिनमें से दो संस्कृत और दो फारसी भाषा के थे। 1813 ई. के चार्टर एक्ट ने पहली बार कम्पनी सरकार को शिक्षा पर एक लाख रुपया वार्षिक व्यय करने का निर्देश दिया था। परन्तु फिर भी, अंग्रेजी शिक्षा का काम हाथ में नहीं लिया गया। ईसाई पादरियों ने इस समय तक अवश्य नई शिक्षा के कई स्कूल खोल दिये थे। प्रगतिशील भारतीय भी इस काम में पीछे नहीं रहे थे। राधाकान्त देव ने डेविड हेयर के साथ मिलकर 1817 ई. में "स्कूल बुक सोसायटी" और 1818 ई. में "स्कूल सोसायटी" नामक संस्था कायम की और इसके अन्तर्गत 115 स्कूल खोले गए। राजा राममोहन राय ने डेविड हेयर और अंग्रेज न्यायाधीश सर ह्वाइट ईस्ट के सहयोग से "हिन्दू-कॉलेज" की स्थापना की जो भारत की बौद्धिक क्रान्ति का प्रमुख केन्द्र बन गया।

परन्तु ज्यों-ज्यों भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का विस्तार होता चला गया, फारसी भाषा में सारा राज-काज चलाना अंग्रेजों के लिए कठिन हो गया। अंग्रेज अधिकारियों तथा कर्मचारियों को इससे बहुत कठिनाई होती थी और प्रशासन में भी असुविधा होती थी। ऐसी स्थिति में लॉर्ड विलियम बैंटिक के शासन काल में जॉन मैकाले ने अपनी नवीन योजना प्रस्तुत की। उसका कहना था कि, "हमें एक ऐसी शिक्षा व्यवस्था स्थापित करनी चाहिए जिससे भारतीयों में एक ऐसा वर्ग उत्पन्न हो जाय जो शरीर से तो भारतीय हो किन्तु मानसिक एवं बौद्धिक दृष्टिकोण से और रीति-रिवाजों, खान-पान, वेश-भूषा में पूर्णतया अंग्रेज हो।" इसी आधार पर लॉर्ड विलियम बैंटिक के शासन-काल में पाश्चात्य शिक्षा का प्रचार-प्रसार शुरू हुआ था।

1844 ई. में हार्डिंग्ज ने यह घोषणा की कि सरकारी सेवाओं में अंग्रेजी भाषा जानने वाले उम्मीदवारों को प्राथमिकता दी जाएगी। उसकी इस घोषणा से लोगों में अंग्रेजी भाषा पढ़ने का आकर्षण पैदा हुआ। 1854 ई. में बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल के सभापति चार्ल्स वुड ने शिक्षा के सम्बन्ध में कम्पनी सरकार के भारतीय प्रशासन को कई महत्त्वपूर्ण आदेश भेजे। चार्ल्स वुड की योजना के अन्तर्गत प्रत्येक जिले में स्कूल और कॉलेजों की स्थापना और प्रत्येक प्रेसीडेन्सी में एक विश्वविद्यालय की स्थापना का सुझाव था। प्रत्येक जिले में शिक्षा-इन्स्पेक्टरों तथा प्रत्येक प्रान्त में शिक्षा के लिए एक डायरेक्टर की व्यवस्था का भी सुझाव था। लॉर्ड डलहौजी ने उसके आदेशों का पालन किया। बम्बई, कलकत्ता और मद्रास में विश्वविद्यालय खोले गए; रुड़की में इन्जीनियरिंग कॉलेज और कलकत्ता में एक कृषि कॉलेज खोला गया। 1882 ई. में सर विलियम हण्टर के सभापतित्व में एक शिक्षा कमीशन की नियुक्ति की गई जिसने शिक्षा के प्रचार-प्रसार के लिए महत्त्वपूर्ण सुझाव दिए। इस कमीशन ने पहली बार स्त्री-शिक्षा की पर्याप्त व्यवस्था पर जोर दिया।

लॉर्ड कर्जन (1899–1905) के प्रशासन काल में राष्ट्रीय आन्दोलन की भावना तीव्र होने लगी। अतः उसने 1901 ई. में शिमला में सम्मेलन किया जिसके आधार पर एक विश्वविद्यालय आयोग की नियुक्ति की गई। लॉर्ड कर्जन का लक्ष्य भारतीय विश्वविद्यालयों में सरकारी नियन्त्रण स्थापित करना था। ताकि वे राजनीतिक आन्दोलन के केन्द्र स्थान न बन सकें। फिर भी देश में शिक्षा का प्रसार तेजी से बढ़ता गया और 1922 ई तक भारतीय विश्वविद्यालयों की संख्या 14 हो गई।

ईसाई पादरियों तथा अंग्रेजी सरकार के प्रयासों से भारत के विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों और समाजों ने भी अपनी-अपनी शिक्षण-संस्थाएँ खोलकर शिक्षा के काम को आगे बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। आर्य समाज द्वारा दयानन्द ऐंग्लो वैदिक (डी०ए०वी०) कॉलेज और स्कूल की स्थापना की गई तो सनातन धर्म वालों ने 'सनातन धर्म कॉलेज और स्कूल' खोले। मुसलमानों ने अलीगढ़ में अपनी शिक्षण संस्था स्थापित की। महात्मा मुंशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) द्वारा स्थापित 'गुरुकुल काँगड़ी' और रवीन्द्रनाथ टैगोर द्वारा स्थापित "शान्ति निकेतन" (विश्व भारती) अपने ढंग की अनूठी शिक्षण संस्थाएँ सिद्ध हुईं।

अंग्रेजी की नवीन शिक्षा आरम्भ में अधिकतर मध्यमवर्ग के लोगों ने ग्रहण की क्योंकि इस वर्ग को सरकारी सेवाओं की आवश्यकता थी और सरकार को कम वेतन वाले कर्मचारियों की। इससे मैकाले का ध्येय भी पूरा हुआ। क्योंकि शुरू में जिन लोगों ने अंग्रेजी शिक्षा ग्रहण की थी, वे प्रायः अंग्रेजों का अनुसरण करने तथा भारतीय सभ्यता और संस्कृति की आलोचना करने में अपना गौरव समझते थे। ये लोग ब्रिटिश शासन के कट्टर एवं निष्ठावान समर्थक बन गए। पुराने विचारों के हिन्दुओं और मुसलमानों ने शुरू में अंग्रेजी शिक्षा के प्रति विशेष रुचि प्रदर्शित नहीं की थी।

परन्तु अंग्रेजी शिक्षा का अच्छा परिणाम भी निकला। अंग्रेजी साहित्य के द्वारा भारतीयों का पश्चिम के राष्ट्रीय तथा प्रजातान्त्रिक विचारों से सम्पर्क हुआ। प्रथम सुधार बिल, चार्टिस्ट आन्दोलन, अमेरिका का स्वातन्त्र्य संघर्ष, फ्रांसीसी क्रान्ति आदि अनेक घटनाओं के अध्ययन से बुद्धिजीवी भारतीयों में राष्ट्रीय भावना का विकास हुआ। वे लोग अपने देश की धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक दुर्दशा को अनुभव करने लगे। इस प्रकार, अंग्रेजी शिक्षा का दोहरा प्रभाव पड़ा। एक शिक्षित वर्ग में सरकारी सेवाओं का आकर्षण बढ़ना और दूसरा, अपने देश की सामाजिक, धार्मिक स्थिति को सुधारना तथा देश को स्वतन्त्र कराने की भावना का उत्पन्न होना।

2. सुधार आन्दोलन

19वीं सदी के आरम्भ में भारतीय सभ्यता और संस्कृति पर पश्चिम की सभ्यता और संस्कृति पूरी तरह से हावी हो गई और अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त भारतीय भी पश्चिम के ज्ञान-विज्ञान, कला-साहित्य, वेश-भूषा, खान-पान आदि को श्रेष्ठ मानते हुए अपनी सभ्यता में विश्वास खोते जा रहे थे। ऐसे ही समय में विभिन्न कारणों में हमारे समाज में एक नई चेतना उत्पन्न हुई जिसने हमारे जीवन के सभी क्षेत्रों में भारी परिवर्तन ला दिया। इस चेतना को हम "भारतीय पुनरुद्धार-आन्दोलन" (इण्डियन रिनेसाँ) कहते हैं। इसका लक्ष्य प्राचीन भारतीय सभ्यता के मौजूदा दोषों को दूर करके उसे नवीन आधार प्रदान करना था ताकि वह पश्चिम सभ्यता के मुकाबले में सम्मान पूर्वक खड़ी हो सके। आरम्भ में इसका स्वरूप एक बौद्धिक परिवर्तन का था, परन्तु बाद में वह सामाजिक और धार्मिक आन्दोलन का आधार बना और अन्त में उसने हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन को जीवन प्रदान करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

कारण – 19वीं सदी में भारतीय पुनरुद्धार आन्दोलन और बाद में जो सामाजिक धार्मिक आन्दोलन हुए उनका एक कारण भारतीय समाज और धर्म में विद्यमान गम्भीर दोष थे। इन दोषों का निवारण करना आवश्यक था, अन्यथा हिन्दू समाज और धर्म के नष्ट हो जाने का संकट उपस्थित हो गया था। न केवल ईसाई धर्म प्रचारक ही अपितु अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त कई भारतीय भी हिन्दुत्व की खिल्ली उड़ा रहे थे। हिन्दू धर्म और समाज पर चारों तरफ से आलोचना के तीर चलाए जा रहे थे, किन्तु बचाव करने वाला कोई न था। हिन्दू धर्म का नेता पण्डा और पुरोहित वर्ग था जिसकी सबसे बड़ी पूँजी रूढ़ियाँ और अन्धविश्वास थीं। पाश्चात्य सम्पर्क से भारतीयों पर यूरोपीय नव जागरण का प्रभाव पड़ चुका था। अतः उनमें अन्धविश्वास के स्थान पर तर्क एवं विवेक प्रधान चिन्तन का विकास हुआ। उन्होंने समझ लिया कि यदि हिन्दू धर्म को भारत में रहना है तो उनमें आवश्यक सुधार लाना आवश्यक है। इस प्रकार, हिन्दुओं में अपनी पूर्व प्रतिष्ठा और गौरव को वापस लाने की लालसा पैदा हुई। इस लालसा को कुछ प्रबुद्ध विदेशी विद्वानों—सर विलियम जोन्स, मैक्समूलर, मोनियर विलियम्स, विलसन आदि से

काफी प्रोत्साहन मिला। उन लोगों ने अथक्-परिश्रम तथा अनुसंधान के साथ विश्व के सामने प्राचीन भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के गौरवपूर्ण पक्ष को प्रस्तुत किया। 1874 ई. में बंगाल में जो एशियाटिक सोसायटी स्थापित हुई थी, उससे भी भारतीय पुनर्जागरण को बड़ा बल मिला। इस सोसायटी के तत्वावधान में जहाँ एक तरफ प्राचीन भारतीय ग्रन्थों का अनुवाद अंग्रेजी भाषा में किया गया वहाँ दूसरी तरफ यूरोपीय साहित्य का भारतीय भाषाओं में अनुवाद किया गया। इससे भारतीयों को दोहरा लाभ मिला। एक तरफ उन्हें अपने प्राचीन गौरव का ज्ञान हुआ और दूसरी तरफ पश्चिम के ज्ञान-विज्ञान का परिचय मिला। इससे उनका मानसिक क्षितिज विस्तृत हो गया और वे अपने समाज और धर्म में व्याप्त दोषों और अन्ध-विश्वासों को दूर करने के लिए उत्सुक हो उठे।

राजा राममोहन राय और ब्रह्म समाज—सुधार आन्दोलन ने पहली अंगड़ाई ब्रह्म समाज के रूप में ली और भारत के नवोत्थान के आदि पुरुष राजा राममोहन राय हुए। उनका जन्म 22 मई, 1772 ई. को बंगाल के बर्दवान जिले के राधानगर गांव के एक जमींदार वंश में हुआ था। जाति से वे ब्राह्मण थे। वे अरबी, फारसी, संस्कृत, अंग्रेजी और बंगला भाषा के प्रकाण्ड पण्डित थे, पाश्चात्य विचारों का उन पर गहरा प्रभाव पड़ा। उन्हें हिन्दू समाज में प्रचलित अन्ध-विश्वास तथा कुरीतियां पसन्द नहीं थीं क्योंकि उन्हीं को लेकर ईसाई धर्म-प्रचारक तरह तरह के प्रहार कर रहे थे।

राजा राममोहन राय के विचारों पर इस्लाम और वेदान्त के समन्वय की गहरी छाप थी। साथ ही वे ईसाइयत के नैतिक आचार के बड़े समर्थक थे और इसे वे अपने धर्म का अभिन्न अंग बनाना चाहते थे। अपने बिचारों के प्रचार के लिए उन्होंने 1814 ई. में 'आत्मीय सभा' स्थापित की। फिर 1821 ई. में कलकत्ता 'यूनीटेरियन सोसायटी' की स्थापना की। अन्त में 20 अगस्त, 1828 ई. के दिन 'ब्रह्म समाज' (ब्राह्म समाज) की नींव रखी।

ब्रह्म समाज के 6 मुख्य सिद्धान्त इस प्रकार के थे—(1) ईश्वर उच्च नैतिक गुणों का पुंज है। (2) उसने कभी अवतार नहीं लिया। (3) वह सबकी प्रार्थना सुनता है और उसका उत्तर देता है। (4) उसकी पूजा तो आध्यात्मिक रीति से की जानी चाहिए और मानव मात्र को उसकी पूजा करने का अधिकार है। (5) पाप का प्रायश्चित ही मुक्ति का मार्ग है, और (6) उसका ज्ञान अनुभूति से होता है, किसी प्रकार के धर्मग्रन्थ की आवश्यकता नहीं।

1833 ई. में इंगलैण्ड में राजा राममोहनराय की मृत्यु हो गई। उसके पश्चात् देवेन्द्रनाथ टैगोर और केशवचन्द्र सेन ने ब्रह्म समाज के कार्य को आगे बढ़ाया, परन्तु उन दोनों के मतभेद से ब्रह्म समाज दो शाखाओं में बँट गया। टैगोर ने "आदि ब्रह्म समाज" और सेन ने 'भारतीय ब्रह्म समाज' की स्थापना की। ब्रह्म समाज के विचारों से प्रभावित होकर महाराष्ट्र में 1867 ई. में डा० आत्माराम

पाण्डुरंग ने "प्रार्थना-समाज" की स्थापना की जिसके कार्य को महादेव गोविन्द रानाडे ने आगे बढ़ाया।

ब्रह्म समाज भारतीय पुनरुत्थान का प्रतीक था और जिसने भारतीय धर्म और समाज में व्याप्त बुराइयों को दूर करने का प्रयत्न किया था। वेद और उपनिषद् के आधार पर हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता को स्थापित करने और सामाजिक कुरीतियों को दूर करके उसे सबल बनाने का काम ब्रह्म समाज ने आरम्भ किया जिससे अन्य सुधारकों को भी बल मिला। धर्म के क्षेत्र में ब्रह्म समाज ने बतलाया कि ईश्वर एक है, सभी धर्मों में सत्य है, मूर्ति-पूजा और कर्मकाण्ड सारहीन है। ब्रह्म समाज की सफलता इस बात में निहित है कि उसने हिन्दू धर्म को आधुनिक समय के अनुकूल बनाने में योग दिया जिससे ईसाई धर्म की प्रगति को भारी धक्का लगा। सामाजिक क्षेत्र में शायद ही कोई ऐसी कुरीति रही हो जिस पर ब्रह्म समाज ने आक्रमण न किया हो। सती प्रथा, बाल-विवाह, बहुविवाह, पर्दा-प्रथा, जाति-प्रथा अस्पृश्यता, मद्यपान आदि सभी कुरीतियों का ब्रह्म समाज ने विरोध किया। इसके साथ ही उसने स्त्री-शिक्षा, अन्तर्जातीय विवाह, विधवा-विवाह आदि का जोरदार समर्थन किया। शिक्षा के क्षेत्र में ब्रह्म समाज ने अंग्रेजी शिक्षा का समर्थन किया और विभिन्न शिक्षण-संस्थाओं की नींव रखी। सार्वजनिक क्षेत्र में ब्रह्म समाज ने किसानों की भलाई, प्रेस और समाचार-पत्रों की स्वतन्त्रता आदि का जोरदार समर्थन किया। राष्ट्रीयता की भावना के निर्माण में भी ब्रह्म समाज पीछे नहीं रह डॉ. जकरिया के शब्दों में, 'राममोहनराय और उनका ब्रह्म समाज हिन्दू धर्म, और राजनीति में उन सभी सुधार आन्दोलनों को आरम्भ करने वाले थे जिन्होंने पिछले 100 वर्षों में भारत में उत्तेजना पैदा की और जिन्होंने हमारे समय में उसके अद्वितीय पुनर्जागरण को जन्म दिया है।'

स्वामी दयानन्द सरस्वती और आर्य समाज—ब्रह्म समाज ने पूर्वी भारत में और प्रार्थना समाज ने महाराष्ट्र में समाज तथा धर्म को सुधारने की दिशा में कार्य किया। परन्तु अभी तक एक ऐसी संस्था का विकास नहीं हो पाया था जो अखिल भारतीय स्तर पर समाज एवं धर्म सुधार का बीड़ा उठा सके। यह काम आर्य समाज ने किया जिसके प्रवर्तक थे स्वामी दयानन्द सरस्वती।

स्वामी दयानन्द का जन्म 1824 ई. में काठियावाड़ में हुआ था। उनका बचपन का नाम मूलशंकर था। कहा जाता है कि एक बार शिव रात्रि को मूलशंकर का ध्यान शिव मूर्ति पर फिरते हुए चूहे की ओर चला गया और उन्हें तुरन्त मूर्ति पूजा से ग्लानि हो गई। उन्होंने मुक्ति का मार्ग खोजने का संकल्प किया और जी-जान से अध्ययन में लग गए। कई विद्वान साधु-सन्यासियों के सम्पर्क में आने के बाद 1875 ई. में उन्होंने अपने नये विचारों के आधार पर बम्बई में आर्य समाज की स्थापना की। 1877 ई. में आर्य समाज ने 10 सिद्धान्तों को निश्चित करके अपने कार्य को आगे बढ़ाना शुरू किया। ये निम्नलिखित थे—(1) वेद ही सत्य ज्ञान का स्रोत है। अतः वेदों का अध्ययन आवश्यक है। (2) वेदों के आधार पर मन्त्र-पाठ

ग्रौर हवन करना (3) मूर्ति-पूजा का खण्डन (4) तीर्थ-यात्रा ग्रौर ग्रवतारवाद का विरोध। (5) कर्म ग्रौर पुनर्जन्म के सिद्धान्त में विश्वास। (6) निराकार एकेश्वरवाद में विश्वास (7) स्त्री-शिक्षा में विश्वास। (8) बाल-विवाह ग्रौर बहु-विवाह का विरोध। (9) सामान्यतः विधवा विवाह का समर्थन, ग्रौर (10) हिन्दी तथा संस्कृत भाषा के प्रसार का प्रयत्न।

ग्रन्य सुधारवादियों की भांति स्वामी जी को भी हिन्दू धर्म ग्रौर समाज में प्रचलित कुरीतियों से घृणा थी ग्रौर उनको दूर करने के प्रयत्न में उन्होंने ग्रपना समस्त जीवन ग्रर्पित कर दिया। परन्तु इसके साथ ही स्वामीजी को प्राचीन भारतीय धर्म, सभ्यता ग्रौर संस्कृति के प्रति ग्रगाध श्रद्धा थी। इस प्रकार उनके विचारों में सुधारवादी ग्रौर ग्रतीतवादी—दोनों प्रवृत्तियों का सुन्दर समन्वय था।

स्वामी जी पक्के एकेश्वरवादी थे। वे निराकार ईश्वर में विश्वास रखते थे, ग्रात्मा के ग्रमरत्व, पुनर्जन्म तथा कर्म के सिद्धान्तों में विश्वास रखते थे। परन्तु वे पौराणिक हिन्दू धर्म के विरोधी थे। ग्रवतारवाद, रामायण, महाभारत, गीता ग्रादि को उन्होंने कोई विशेष महत्व नहीं दिया। उनके लिए वेद ही ज्ञान का स्रोत था। उन्होंने मूर्तिपूजा, श्रद्धा, तीर्थयात्रा ग्रौर स्थान ग्रादि का भी विरोध किया। छुग्राछूत के तो वे जबरदस्त विरोधी थे। उन्होंने ग्रन्तर्जातीय विवाह तथा खान-पान को प्रोत्साहन दिया ग्रौर स्त्री शिक्षा का जोरदार समर्थन किया।

परन्तु सबसे महत्वपूर्ण कार्य स्वामी जी ने ग्रार्य समाज के द्वारा 'शुद्धि ग्रान्दोलन' ग्रारम्भ करके किया। इसके ग्रन्तर्गत उन हिन्दुग्रों को जिन्होंने किसी भी कारणवश दूसरा धर्म ग्रपना लिया था, वापस हिन्दू धर्म में लेने तथा गैर हिन्दुग्रों को भी हिन्दू धर्म में सम्मिलित करने का प्रयत्न किया गया। ऐसा उन्होंने वेद ग्रौर ऐतिहासिक परम्परा के ग्राधार पर किया। ईसाई धर्म का प्रचार कार्य शिथिल पड़ गया ग्रौर हजारों हिन्दू जो किसी कारणवश ईसाई बन गये, वापस हिन्दू बन गए। निस्सन्देह, यह एक क्रान्तिकारी कदम था। इसलिए कुछ लोग ग्रार्य समाज पर 'सैनिक हिन्दुत्व' का निर्माण करने का ग्रारोप लगाते हैं।

ग्रार्य समाज ने शिक्षा के क्षेत्र में गुरुकुल पद्धति को पुनर्जीवित करने का प्रयत्न किया। सम्पूर्ण भारत में, विशेषतः उत्तर भारत में गुरुकुल, कन्या गुरुकुल, डी. ए. बी. स्कूल ग्रौर कालेजों की स्थापना की गई। इन शिक्षण-संस्थाग्रों में ग्रंग्रेजी, विज्ञान ग्रौर ग्राधुनिक विषयों के ग्रलावा संस्कृत ग्रौर वेदों की शिक्षा पर विशेष बल दिया जाता था। स्वामी जी स्वयं संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे। फिर भी उन्होंने हिन्दी भाषा को ग्रपनाया ग्रौर ग्रपना सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'सत्यार्थ-प्रकाश' जो ग्रार्य समाज का महान् ग्रौर पवित्र ग्रंथ है, हिन्दी भाषा में लिखा।

हिन्दी भाषा को ग्रपनाने में उनका विशेष ध्येय था, वे इसे राष्ट्रभाषा बनाना चाहते थे, क्योंकि स्वामी जी केवल धर्म ग्रौर समाज़ सुधारक ही न थे ग्रपितु राष्ट्रीय भावना के ग्रग्रदूत भी थे। उनकी जीवनी लेखक के शब्दों में, 'दयानन्द का मुख्य लक्ष्य राजनीतिक स्वतन्त्रता था। वह पहले व्यक्ति थे जिन्होंने 'स्वराज्य' शब्द का

प्रयोग किया। वह प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार करना तथा स्वदेशी वस्तुओं का उपयोग करना सिखाया। वह पहले व्यक्ति थे जिन्होंने हिन्दी को राष्ट्रभाषा स्वीकार किया।" कुछ विद्वानों का तो यह भी मानना है कि भारतीय कांग्रेस में उग्रवाद की भावना के विकास में भी आर्य समाज का योगदान रहा है। इसीलिए डॉ० मजूमदार ने लिखा है कि "आर्य समाज आरम्भ से ही उग्रवादी सम्प्रदाय था। उसका मुख्य स्रोत तीव्र राष्ट्रीयता था।

इस प्रकार, आर्य समाज का भारतीय जीवन पर व्यापक और जबरदस्त प्रभाव पड़ा। यह हिन्दू धर्म की बुद्धिवादी टीका थी। विज्ञान की कसौटी पर चढ़े हुए हिन्दुत्व का निखार था। इसने जर्जर हिन्दुत्व में अपरिमित उत्साह भर दिया।

रामकृष्ण मिशन—1887 ई० में स्वामी विवेकानन्द ने अपने पूज्य गुरु रामकृष्ण परमहंस के विचारों का प्रचार करने की दृष्टि से बारानगर में रामकृष्ण मठ की स्थापना की गई। 1899 ई० में एक मठ बेल्लोर में स्थापित किया गया जो आज भी रामकृष्ण-मठों का केन्द्र स्थल है। मठों के माध्यम से रामकृष्ण मिशन का संगठन और प्रचार का कार्य स्वामी विवेकानन्द ने शुरू कर दिया था परन्तु रामकृष्ण मिशन का वैधानिक स्वरूप उनकी मृत्यु के बाद 1909 ई० में अस्तित्व में आया जबकि इसे एक समुदाय के रूप में रजिस्टर्ड करा लिया गया। रामकृष्ण मिशन का संगठन रामकृष्ण-मठों से पृथक् है।

स्वामी रामकृष्ण परमहंस (1836–86) का जीवन और विचार इस मिशन की आत्मा है। उनका असली नाम गदाधर चट्टोपाध्याय था और उनका जन्म 18 फरवरी, 1836 ई० को हुगली जिले के कमरपुकुर (कमारपुकुर) गाँव में हुआ था। बचपन से ही उन्हें संगीत एवं काव्य में रुचि थी, परन्तु पढ़ना-लिखना बुरा लगा था। बाद में कलकत्ता के समीप दक्षिणेश्वर के काली मन्दिर के पुजारी बन गए। 33 वर्ष की आयु में उनका विवाह शारदामणि देवी से हुआ, लेकिन अपनी पत्नी के साथ रहते हुए भी वे आजीवन ब्रह्मचारी रहे। उन्हें विविध धर्मों की साधनाओं से बड़ा लगाव था। अतः उन्होंने तान्त्रिक साधनाएँ कीं, वैष्णव-पद्धति अपनाई, वेदान्त मार्ग का अनुभव किया, इस्लाम की जानकारी प्राप्त की, ईसाइयत, बौद्ध एवं ब्रह्म समाज के विचारों से परिचित हुए। 15 अगस्त, 1886 ई० को उनकी जीवन लीला समाप्त हो गई।

स्वामी रामकृष्ण ने न कोई धर्म चलाया, न मठ बनाए और न नवीन धार्मिक सिद्धांतों को जन्म दिया। वे साधारण तरीके से अपने उपदेश दिया करते थे। उनके दो प्रमुख सिद्धान्त थे—एक, वे जीवन की एकता में विश्वास करते थे। जिसका तात्पर्य है कि संसार में जीवन के जितने रूप हैं उन सब में आधारभूत एकता है। वास्तव में वही वेदान्त का उच्चतम आदर्श भी है। दूसरा सब धर्मों में मौलिक एकता है। उनका कहना था कि 'मैंने सब धर्मों की साधना की है····सब एक ही ईश्वर की खोज में लगे हैं, यद्यपि उनके मार्ग भिन्न-भिन्न हैं। तालाब के अनेक घाट हैं। एक पर से हिन्दू घड़े में पानी भरता है और उसे 'जल' कहता है, दूसरे में

मुसलमान मशक में पानी लेता है और उसे 'पानी' कहता है; तीसरे से ईसाई काँच के बर्तन में पानी लेता है और उसे 'वाटर' कहता है; लेकिन चीज एक ही है।"

आधुनिक संसार के लिए परमहंस की सबसे बड़ी देन आध्यात्मवाद है। परन्तु उनका कहना था कि "बिना स्पष्ट और विकार-रहित बुद्धि के धर्म-शास्त्रों का ज्ञान और पवित्र पुस्तकों का अध्ययन बेकार है। विवेक और वैराग्य के बिना कोई भी आध्यात्मिक प्रगति सम्भव नहीं है।" वे मूर्ति पूजा के विरोधी नहीं थे और स्वयं काली देवी के परम भक्त थे। उनका कहना था कि "ईश्वर को जिस शक्ल और नाम से तुम पुकारोगे, उसी नाम और स्वरूप में तुम उसे देखोगे" स्वामी विवेकानन्द ने उनके विचारों को सम्पूर्ण संसार के सामने प्रस्तुत किया।

स्वामी विवेकानन्द का जन्म 1863 ई० में कलकत्ता के एक धनवान क्षत्रिय परिवार में हुआ था। उनका असली नाम नरेन्द्रनाथ दत्त था। उनका शरीर काफी हृष्ट-पुष्ट था और वे कुश्ती, मुक्केबाजी, तैराकी, घुड़दौड़ के प्रेमी तथा सभी कलाओं में दक्ष थे। उन्होंने योग्यता के साथ बी. ए. पास किया। युवावस्था में अन्य शिक्षित भारतीय युवकों की भाँति उन पर भी पाश्चात्य विचारों का प्रभाव छाया हुआ था और वे अपने धर्म को शंका की दृष्टि से देखा करते थे। उन्हें अपने धर्म के स्वरूप को जानने की जिज्ञासा थी और इसकी पूर्ति के लिए वे सर्वप्रथम ब्रह्म-समाज की ओर झुके, परन्तु उन्हें पूरी शांति नहीं मिली। नवम्बर, 1881 ई० में उन्होंने दक्षिणेश्वर में श्री रामकृष्ण से भेंट की। उनकी सारी शंकाएँ दूर हो गईं। वे परमहंस के अनुयायी हो गए और उनका नाम भी बदल गया। नरेन्द्रनाथ दत्त से स्वामी विवेकानन्द हो गये।

विवेकानन्द ने धर्म के असली स्वरूप को तो पहिचान लिया, परन्तु उसके प्रचार कार्य में बहुत-सी कठिनाइयाँ थीं। अंग्रेजी शिक्षा के कारण शिक्षित भारतीयों की अपने धर्म से श्रद्धा हट गई थी। अतः उनके सामने पहला काम था—धर्म की ऐसी व्याख्या प्रस्तुत करना जो नये युग के नए लोगों को मान्य हो सके। दूसरा प्रमुख काम था—हिन्दू धर्म के प्रति हिन्दुओं की श्रद्धा को पुनः स्थापित करना और तीसरा काम था—भारतीयों में आत्म-गौरव की भावना को विकसित करना। अपने 39 वर्ष के अल्प जीवन में स्वामी जी ने अपने तीनों कार्य पूरे कर लिए। उन्होंने धर्म की जो नई व्याख्या की उसका सार था, "धर्म मनुष्य के भीतर निहित देवत्व का का विकास है। धर्म न तो पुस्तकों में है और न धार्मिक सिद्धाँतों में। वह तो केवल अनुभूति में निवास करता है। वह जीवन का अत्यन्त स्वाभाविक तत्त्व है।"

श्री रामकृष्ण के निर्वाण के बाद उन्होंने भारत भर का दौरा किया और जनता के पतन और दरिद्रता के दर्शन किए। 1893 ई० में अनेक बाधाओं को पार कर वे शिकागो (अमेरिका) जा पहुँचे जहां विश्व के धर्मों का महा सम्मेलन हो रहा था। स्वामी जी ने उसमें भाग लिया और अपने गम्भीर भाषणों से जन समुदाय को मन्त्रमुग्ध बना दिया। उनके भाषणों पर टिप्पणी करते हुए न्यूयॉर्क नगर के एक प्रमुख समाचार पत्र ने लिखा था कि धर्मों की इस संसद में सबसे महान्

व्यक्ति विवेकानन्द हैं । उनका भाषण सुन लेने पर अनायास यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि ऐसे ज्ञानी देश (भारत) को सुधारने के लिए धर्म प्रचारक भेजना कितनी मूर्खता की बात है ।" इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्वामी विवेकानन्द ने विदेशों में हिन्दू धर्म के प्रभाव को स्थापित करके, भारतीयों की श्रद्धा को अपने धर्म के प्रति पुनः कायम कर दिया । चार वर्ष तक अमेरिका और इंगलैंड में व्याख्यान देने के बाद वे भारत लौटे । 1898 ई० में वे पुनः यूरोप गए और मिस्र होते हुए भारत लौटे । 4 जुलाई, 1902 ई० को उनकी जीवन लीला समाप्त हो गई । उनकी उपलब्धियों के सम्बन्ध में श्री दिनकर ने लिखा है कि "विवेकानन्द वह सेतु है जिस पर प्राचीन और नवीन भारत परस्पर आलिंगन करते हैं । विवेकानन्द वह समुद्र है जिसमें धर्म और राजनीति, राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता तथा उपनिषद् और विज्ञान, सब के सब समाहित होते हैं ।"

रामकृष्ण मिशन ने भारत के विभिन्न प्रान्तों, अमेरिका, फिजी, मॉरीशस आदि देशों में अपनी कई शाखाएँ स्थापित कीं जिनमें से कई आज भी कायम हैं । मिशन अपने आप में कोई पृथक् धार्मिक सम्प्रदाय नहीं है और न उसका ध्येय अन्य धर्मावलम्बियों को अपने में सम्मिलित करना है । मिशन केवल ऐसे आदर्शों और सिद्धान्तों का प्रचार करता है जिसे सभी धर्मों, संस्कृतियों और वातावरण के लोग अपना सकें । आजकल मिशन की शाखाएँ उपदेश, शिक्षा, चिकित्सा और अकाल, बाढ़, भूकम्प और संक्रामक रोगों से पीड़ित असंख्य, असहाय जनता की सहायता का महत्वपूर्ण कार्य कर रही हैं ।

पश्चिम भारत में सुधार आन्दोलन—1839 ई० से तीन पारसी लोगों और 1853 ई० में एक ब्राह्मण के ईसाई बन जाने से पश्चिमी भारत में तहलका मच गया । धर्म-परिवर्तन को रोकने के लिये कुछ लोगों ने "गुप्त समाज" की स्थापना की । 1849 ई० में 'परमहंस सभा' स्थापित हुई । 1867 ई० में डॉ० आत्माराम पाँडुरंग और उनके साथियों ने "प्रार्थना समाज" की स्थापना की जिसके कार्य को महादेव गोबिन्द रानाडे और भाण्डारकर ने आगे बढ़ाया । धीरे-धीरे प्रार्थना समाज का दक्षिणी भारत में भी विस्तार होता चला गया ।

प्रार्थना समाज के मूल सिद्धान्त 6 हैं—(1) ईश्वर एक है और उसने इस सृष्टि का निर्माण किया है, (2) उसकी उपासना से ही इस लोक और परलोक में सुख मिलता है, (3) प्रेम और श्रद्धा से भजन करना ही उसकी उपासना है, (4) मूर्ति पूजा उसकी सच्ची उपासना नहीं है, (5) भगवान कभी अवतार नहीं लेता न ही उसकी श्रुति किसी धर्म-ग्रन्थ से मिलती है, और (6) सब मनुष्य ईश्वर की सन्तान है ।

प्रार्थना समाज जाति-पांति के विरोध, विधवा-विवाह के समर्थन, स्त्री-शिक्षा के विस्तार और बाल-विवाह के निषेध पर बहुत जोर देता है । प्रत्येक रविवार को समाज की बैठक होती है जिसमें भजन गाये जाते हैं, धर्म ग्रन्थों का पाठ होता है और

सुधार-सम्बन्धी चर्चा की जाती है। समाज की ओर से प्रौढ़-शिक्षा का काम भी किया जाता है। इस समाज पर ब्रह्म समाज का काफी प्रभाव पड़ा था।

थियोसोफिकल सोसायटी—'थियोसोफी' शब्द दो यूनानी शब्दों 'थियोस' जिनका अर्थ है ईश्वर और 'सोफिया' जिसेका अर्थ है ज्ञान, से बना। इस दृष्टि से दोनों शब्दों का मिला अर्थ है "ईश्वर का ज्ञान" अथवा "ब्रह्म-विद्या"। इस सोसायटी की स्थापना 1875 ई० में न्यूयार्क में हुई थी और संस्थापक थे कर्नल आल्कट और मादाम ब्लेवात्स्की। 1882 ई० में भारत के मद्रास प्रान्त में अदयार नामक स्थान पर इस सोसायटी की शाखा स्थापित की गई थी। श्रीमती एनीबिसेण्ट के नेतृत्व में इस समाज ने काफी प्रगति की थी। वह एक आयरिश महिला थी। भारत आने के बाद उसने हिन्दू धर्म को अपना लिया था। भारत में रहकर एनीबिसेण्ट ने हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन में सक्रिय भाग लिया और हिन्दू, धर्म तथा सभ्यता का प्रचार किया। एनीबिसेण्ट अखिल भारतीय कांग्रेस की अध्यक्ष भी चुनी गई थीं।

थियोसोफिकल समाज सर्वधर्मी समाज है। इसमें पश्चिम का भौतिकवाद और हिन्दू समाज में विद्यमान कुरीतियों का घोर विरोध था। हिन्दू, बौद्ध और ईसाई धर्मों का संगम इस समाज में देखने को मिलता है। यह समाज एकेश्वरवादी था और ईश्वर को सर्वशक्तिमान मानता था। इसके अनुसार आत्मा अमर है और यह पुनर्जन्म के सिद्धांत में भी विश्वास रखता था। बन्धुत्व एवं विश्व शान्ति इस समाज के मुख्य सन्देश थे।

धार्मिक क्षेत्र में यह समाज दार्शनिक वाद-विवाद की संस्था मात्र रह गई। परन्तु जहां तक हिन्दू धर्म और दर्शन का सवाल है, इस संस्था ने उसका काफी प्रचार किया। सामाजिक सुधारों के क्षेत्र में भी समाज पीछे नहीं रहा। स्त्रियों के अधिकार का जबरदस्त समर्थन किया। जाति-पाँति का विरोध किया। कई शिक्षण संस्थाओं की स्थापना की। एनीबिसेण्ट ने काशी में सेन्ट्रल हिन्दू कॉलेज की स्थापना की जो आगे चलकर हिन्दू विश्वविद्यालय के रूप में विकसित हुआ।

सिक्खों में सुधार आन्दोलन—हिन्दू धर्म के सुधार आन्दोलनों की हवा ने सिक्ख समाज को भी प्रभावित किया। 1851 ई० में बाबा दयाल ने 'निरंकारी दरबार' कायम किया और सिक्खों में जो तरह-तरह के रस्म-रिवाज चालू हो गए थे, उन सबका विरोध कर 'निरंकार' (निर्गुण ब्रह्म) की उपासना पर जोर दिया। इसके बाद, भाई बालकसिंह ने 'कूका' या 'नामधारी' आन्दोलन चलाया। इस आन्दोलन को शक्ति देने का श्रेय उनके शिष्य बाबा रामसिंह को है। उन्हें अंग्रेजी शासन से बड़ी नफरत थी और समाज की कुरीतियाँ भी अखरती थीं। अतः उन्होंने नामधारी सम्प्रदाय को अंग्रेज विरोधी तथा सुधारवादी आन्दोलन का रूप दिया। 1857 ई० में उन्होंने 'सन्त खालसा' की स्थापना की और गुरु गोबिन्दसिंह के 'खाण्डे का अमृत' चखने का जोरों से प्रचार शुरू किया।

नामधारी सम्प्रदाय नैतिक आचार पर बहुत जोर देता था। उनमें झूठ बोलनें, चोरी करने, तम्बाकू पीने, अफीम, भंग, गांजा आदि नशीली चीजों

का उपयोग करने, माँस खाने और व्यभिचार आदि की सख्त मनाही थी। नामधारियों ने सामाजिक बुराइयों के विरुद्ध प्रबल आन्दोलन छेड़ा। पर्दा प्रथा, बाल-विवाह और कन्या-वध को अपने सम्प्रदाय से उखाड़ फेंका। विधवा-विवाह और स्त्री शिक्षा का प्रचार किया। शादी-विवाह पर दावत, दहेज, सजावट और रौनक पर पाबन्दी लगाई जिससे निर्धन लोगों को काफी राहत मिली।

मुस्लिम सुधार आन्दोलन—19वीं सदी के भारत में सुधार आन्दोलन की जो लहर उठी उससे मुस्लिम सम्प्रदाय अछूता न रह सका। उनका सर्वप्रथम आन्दोलन अरब के आन्दोलन से प्रेरित था। बहावी आन्दोलन का मूल ध्येय सामाजिक कुरीतियों को दूर करना था। भारत में इस आन्दोलन के नेता सैय्यद अहमद ब्रेवली (बरेलवी) थे। परन्तु बंगाल में इस आन्दोलन ने साम्प्रदायिक रूप ले लिया और कई लोगों का जबरदस्ती धर्म-परिवर्तन किया गया। फलस्वरूप ब्रिटिश सरकार को विवश होकर इस आन्दोलन का दमन करना पड़ा।

मुसलमानों में सबसे महत्त्वपूर्ण आन्दोलन सर सैय्यद अहमद खाँ के नेतृत्व में हुआ जो 'अलीगढ़-आन्दोलन' के नाम से प्रसिद्ध है। सैय्यद खाँ का जन्म दिल्ली के एक कुलीन परिवार में 1819 ई. में हुआ था। उनका अरबी, फारसी, हिब्रू और अंग्रेजी भाषा पर अच्छा अधिकार था। 20 वर्ष की आयु में उन्होंने कम्पनी सरकार की सेवा स्वीकार कर ली। 1857 ई. के विस्फोट के अवसर पर उन्होंने अंग्रेजों की विशेष सेवा की जिससे अंग्रेज सरकार की उन पर हमेशा कृपा बनी रही।

1857 ई. के आन्दोलन की सफलता से उन्होंने यह सबक लिया कि मुसलमानों को अंग्रेजी शासन का विरोध छोड़ देना चाहिए और अपने रहन-सहन के ढाँचे में भी परिवर्तन करना चाहिए। उन्होंने समाज सुधार, आधुनिक शिक्षा और वैज्ञानिक तथा तकनीकी विकास पर बहुत जोर दिया और उर्दू पत्रिका "तहजीबुल अखलाक" के माध्यम से अपने विचारों को मुसलमानों में फैलाया। उनका सबसे महत्त्वपूर्ण काम शिक्षा के क्षेत्र में है। 1877 ई. में अलीगढ़ में "ऐंग्लो ओरिएण्टल कॉलेज" की स्थापना की गई जो बाद में मुस्लिम विश्वविद्यालय कहलाया और "अलीगढ़-आन्दोलन" का केन्द्र बना। इस आन्दोलन ने भारतीय मुसलमानों की शिक्षा सामाजिक एवं आर्थिक प्रगति और आधुनिकीकरण में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

अन्तिम आन्दोलन का नाम था 'अहमदिया आन्दोलन'। इसके नेता थे गुलाम अहमद। वे कादियानी मुसलमान थे। उन्होने ईसाइयों और आर्य समाजियों का मुकाबला करने के लिए विज्ञान की तरफ दिलचस्पी दिखाई, परन्तु अपने आपको मसीहा और मेंहदी घोषित करके समझदार लोगों की दुश्मनी मोल ले ली। इसलिए इस आन्दोलन का विशेष प्रभाव नहीं पड़ा।

सामाजिक सुधार— लॉर्ड विलियम बैंटिक के समय से ही देश में सामाजिक सुधारों की जो लहर उठी, वह धीरे-धीरे आगे बढ़ती ही गई। परन्तु इसका श्रेय

कम्पनी सरकार अथवा ब्रिटिश सरकार को नहीं है। यह तो भारतीयों के आन्दोलन का प्रभाव था कि सरकार को भी इस दिशा में कदम उठाने पड़े।

अस्पृश्यता हिन्दू समाज का सबसे बड़ा कलंक है। राजा राममोहन राय तथा ब्रह्म समाज ने अस्पृश्यता को दूर करने तथा जाति-पाँति के बन्धनों को ढीला करने का प्रयत्न किया। स्वामी दयानन्द और आर्य समाज ने उनके कार्य को और आगे बढ़ाया तथा शास्त्रीय आधार पर अस्पृश्यता का खण्डन किया और शूद्रों की स्थिति को सुधारने का अथक् प्रयत्न किया। उसमें शिक्षा का प्रचार किया। 1906 ई. में भारतीय अछूत मिशन की स्थापना हुई और इस संस्था ने शूद्रों की सामाजिक तथा धार्मिक स्थिति को सुधारने का बहुत बड़ा काम किया। परन्तु इस दिशा में सबसे अधिक रुचि महात्मा गांधी ने ली। उन्होंने उन्हें 'हरिजन' नाम प्रदान किया, अखिल भारतीय हरिजन संघ की स्थापना की। उनके लिए स्कूलों, कॉलेजों, मन्दिरों, सार्वजनिक स्थानों आदि के द्वार खुलवाए। स्वतन्त्र भारत के संविधान में अस्पृश्यता को पूर्णरूप से समाप्त करके उन्हें अन्य लोगों के समान अधिकार प्रदान किए।

19वीं और 20वीं सदी में स्त्रियों की स्थिति को सुधारने का भी जबरदस्त प्रयत्न किया गया। सर्वप्रथम सती प्रथा के विरुद्ध आन्दोलन किया गया और लॉर्ड विलियन बैंटिक ने इसे गैर कानूनी घोषित किया। केशवचन्द्र सेन ने बाल-विवाह को रोकने का प्रयत्न किया। 1930 ई. में 'शारदा-एक्ट' पास हुआ जिसके अनुसार विवाह के लिए लड़के की आयु कम से कम 18 वर्ष और लड़की की 14 वर्ष निश्चित की गई। इसी प्रकार बहुविवाह तथा अनमेल विवाह को रुकवाने के लिए भी आन्दोलन चले। विधवा विवाह के क्षेत्र में पं. ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के प्रयत्नों से 1856 ई. में विधवा-विवाह नियम पास हुआ। प्रथम महायुद्ध के बाद राजनैतिक क्षेत्र में भी स्त्रियों की स्थिति को सुधारने का प्रयत्न शुरू हुआ। श्रीमती सरोजिनी नायडू और सरला देवी ने स्त्रियों की दशा सुधारने का आन्दोलन जोरों से चलाया। 1917 ई. में पहली बार स्त्रियों ने अपने राजनैतिक अधिकारों की माँग की और उन्हें प्रान्तीय धारा सभाओं के चुनावों में वोट देने का अधिकार मिला। 1926 ई. में उन्हें धारा सभा के लिए चुने जाने का अधिकार भी मिल गया। स्वतन्त्र भारत के संविधान ने उन्हें पुरुषों के समान अधिकार प्रदान किए।

सुधार आन्दोलन के परिणाम— सुधार आन्दोलनों के दूरगामी परिणाम निकले। धर्म और समाज के क्षेत्रों में प्रचलित दोषों और कुरीतियों का अन्त हुआ जिसके परिणामस्वरूप भारत मध्ययुगीन व्यवस्था से निकलकर आधुनिकता की ओर अग्रसर हुआ। सुधार आन्दोलनों के परिणामों से हिन्दुओं को अपने धर्म की श्रेष्ठता में विश्वास हुआ जिससे उनमें नवीन उत्साह और स्फूर्ति आ गई। सुधारकों ने हिन्दू धर्म और दर्शन को निरर्थक कर्मकांड और क्रियाओं से मुक्त कर उसे सबल बनाया जिससे वह अन्य धर्मों के मुकाबले में साहसपूर्वक खड़ा हो गया। स्वामी विवेकानन्द ने उसे एक कदम और बढ़ा दिया। अब वह सम्पूर्ण विश्व को आध्यात्मवाद का संदेश देने की स्थिति में आ गया।

सुधार आन्दोलनों ने भारतीय समाज, मुख्यतया हिन्दू समाज की कुरीतियों और रूढ़ियों का अन्त कर उसके उज्ज्वल रूप को विकसित करने का प्रयत्न किया। सती प्रथा, कन्या-वध, बाल-विवाह, जाति-प्रथा, अस्पृश्यता, पर्दा-प्रथा आदि का विरोध किया गया और स्त्री-शिक्षा, अन्तर्जातीय विवाह, खान-पान. विधवा-विवाह स्त्रियों के समानाधिकार आदि का समर्थन किया गया। इस प्रकार समाज की एकता और उन्नति में बाधक प्रतिक्रियावादी तत्त्व समाप्त कर दिए गए।

अन्ध विश्वास, परम्परावाद और भाग्यवादी दृष्टिकोण ने भारतीयों को अकर्मण्य बना दिया था। सुधार आन्दोलनों ने बुद्धि और तर्क का उपयोग किया। भारतीयों को प्रत्येक वस्तु की अच्छाई और बुराई को जाँचने की प्रेरणा दी और उनमें विश्वासों के स्थान पर बुद्धिवादी भावना का विकास किया।

पुनर्जागरण की एक महत्त्वपूर्ण देन भारत के गौरवपूर्ण अतीत की खोज है। इस कार्य में अनेकों यूरोपीय विद्वानों ने भी निस्वार्थ भाव से काम किया और उसकी खोजों तथा शोध कार्यों से भारत के गौरवपूर्ण अतीत का हमें फिर से ज्ञान उपलब्ध हो सका। सिन्धु सभ्यता, अजन्ता की गुफाएँ तथा अन्य कई महत्वपूर्ण स्मारकों ने प्राचीन सभ्यता के इतिहास को पुनः प्रकट किया। साहित्य के क्षेत्र में भी प्राचीन ग्रन्थों की खोज की गई। यूरोपीय भाषाओं में उनके अनुवाद किये गए और संसार को प्राचीन भारतीय धर्म, दर्शन एवं ज्ञान-विज्ञान की जानकारी मिली। इससे भारतीयों का गौरव बढ़ा। इस दृष्टि से, सुधार आन्दोलनों ने भारतीयों की सांस्कृतिक एकता और गौरव का निर्माण किया। भारतीयों को आत्म-विश्वास और राष्ट्र प्रेम सिखाया। उसमें राष्ट्रीयता की भावना पैदा की जिसके बल पर वे स्वतंत्रता संग्राम में आगे बढ़ सके।

3. संवैधानिक विकास

कम्पनी शासन के अन्तर्गत होने वाले संवैधानिक विकास का अध्ययन हम पिछले अध्याय में कर चुके हैं। सन् सत्तावन की क्रान्ति के परिणामस्वरूप कम्पनी शासन का अन्त हो गया और भारत का शासन ब्रिटेन की संसद को दे दिया गया। यह 1858 के कानून के अन्तर्गत सम्पन्न हुआ।

1858 का एक्ट—इस कानून के द्वारा कम्पनी शासन का अन्त हुआ और कम्पनी के भारतीय साम्राज्य का शासन ब्रिटिश संसद को सौंप दिया गया। बोर्ड ऑफ कण्ट्रोल और बोर्ड डाइरेक्टर्स को भंग कर दिया गया और उसके स्थान पर भारत सचिव को प्रशासन का दायित्व सौंपा गया। भारत सचिव के लिए ब्रिटिश संसद का सदस्य और ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल का सदस्य होना आवश्यक था। उसकी सहायता के लिए 15 सदस्यों की 'भारत परिषद्' की स्थापना की गई। अर्थव्यवस्था और अखिल भारतीय सेवाओं के सम्बन्ध में भारत सचिव के लिए भारत परिषद् की राय मानना अनिवार्य था। भारत के गवर्नर-जनरल को अब भारत-सचिव के निर्देशानुसार शासन चलाना पड़ा। चूंकि वह भारत में ब्रिटिश सम्राट् के प्रतिनिधि के रूप में काम करने लगा अतः उसे 'वायसराय' भी पुकारा जाने लगा। इस

एक्ट के द्वारा भारत की तत्कालीन शासन व्यवस्था में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ।

1861 का इण्डियन कौंसिल एक्ट—इस एक्ट के अन्तर्गत गवर्नर-जनरल को अनेक नए अधिकार दिए गए। उसकी कौंसिल में एक और सदस्य बढ़ाया गया। गवर्नर-जनरल को नियम बनाने का अधिकार भी दिया गया। उसे अपनी परिषद् में 6 से 12 तक अतिरिक्त सदस्यों को नियुक्त करने का अधिकार दिया गया, परन्तु उन सदस्यों में से आधे सदस्यों का गैर सरकारी होना आवश्यक था। यही इस कानून की विशेषता थी। परन्तु इससे भारतीय जनता को सन्तोष नहीं हुआ क्योंकि कौंसिल में सामान्यतया राजा महाराजाओं अथवा भूतपूर्व पदाधिकारियों को ही मनोनीत किया जाता था जो सरकार की हाँ में हाँ मिलाना जानते थे।

1892 का इण्डियन कौंसिल एक्ट—1861 के एक्ट से भारतीयों को संतोष नहीं हुआ और उन्होंने भारतीय प्रशासन में भारतीयों को उचित प्रतिनिधित्व दिए जाने की माँग की। इस ध्येय से 1885 ई. में अखिल भारतीय कांग्रेस की स्थापना की गई। अंग्रेज व्यापारी भी अपने स्वार्थों की रक्षा के लिए शासन में प्रतिनिधित्व की माँग करने लगे थे। अतः 1892 का एक्ट पास किया गया। इस एक्ट के द्वारा केन्द्रीय व्यवस्थापिका तथा प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं के सदस्यों की संख्या बढ़ा दी गई। सदस्यों को बजट की चर्चा करने तथा समालोचना करने और सरकार से प्रश्न पूछने तथा सार्वजनिक समस्याओं के प्रति सरकार का ध्यान आकर्षित करने का अधिकार दिया गया। एक सीमा तक (अप्रत्यक्ष रूप से) निर्वाचन सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया गया। गैर सरकारी सदस्यों के नामांकन का अधिकार नगर-पालिकाओं, जिला बोर्डों तथा चेम्बर ऑफ कॉमर्स जैसी संस्थाओं को दिया गया। यह ठीक है कि इस एक्ट से उत्तरदायी शासन की शुरूआत मानी जा सकती है, परन्तु इससे ब्रिटिश सरकार के स्वेच्छाचारी शासन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

मोर्ले मिण्टो सुधार (1909)—संवैधानिक सुधारों की धीमी गति से भारतीयों को सन्तोष नहीं हुआ। लॉर्ड कर्जन ने बंगाल को दो टुकड़ों में विभाजित (1905 में) कर दिया जिससे देश में आन्दोलन भड़क उठा। कांग्रेस में उग्रवादी सदस्यों का जोर बढ़ने लगा था। बाल गंगाधर तिलक ने इसी समय घोषणा की थी कि 'स्वराज्य हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है।' अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में एबीसीनिया ने इटली को और जापान ने रूस को पराजित कर दिया था। इससे भी राष्ट्रीय आन्दोलन को बल मिला। अतः सरकार ने भारत के उग्रवादियों को कुचलने तथा गरम दल वालों को संतुष्ट करने की दृष्टि से 1909 ई. में एक एक्ट पास किया जो मोर्ले-मिन्टो सुधार कहलाया। मोर्ले भारत-सचिव था और मिन्टो गवर्नर-जनरल तथा वायसराय थे।

इसके अन्तर्गत अनेक वैधानिक परिवर्तन किए गए। केन्द्रीय व्यवस्थापिका की सदस्य संख्या बढ़ाकर 60 कर दी गई। प्रांतीय व्यवस्थापिका सभाओं की सदस्य संख्या में वृद्धि की गई। निर्वाचन का सिद्धांत स्पष्ट रूप से स्वीकार कर

लिया गया। केन्द्रीय व्यवस्थापिका में सरकारी सदस्यों का बहुमत कायम रखा गया परन्तु प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओं में सरकारी (निर्वाचित एवं नामजद दोनों को मिलाकर) सदस्यों का बहुमत रखा गया। सदस्यों के अधिकार भी बढ़ा दिए गए। परन्तु इन सुधारों के लाभों को 'पृथक् निर्वाचन' पद्धति द्वारा समाप्त भी कर दिया गया तथा हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच की खाई को और अधिक विस्तृत कर दिया गया। इससे यह बात स्पष्ट हो गई कि ब्रिटिश सरकार 'फूट डालो और शासन करो' की नीति पर चल रही है।

भारत शासन एक्ट (1919 ई.)—1909 ई. के सुधारों से भारतीयों को संतोष नहीं हुआ और राजनैतिक असन्तोष बढ़ता ही गया। ऐसे समय में प्रथम महायुद्ध भी शुरू हो गया। महायुद्ध में भारतीयों ने ब्रिटिश सरकार का साथ दिया और ब्रिटिश सहकार ने भी यह घोषणा की कि महायुद्ध की समाप्ति के बाद वह भारत में उत्तरदायी शासन स्थापित करेगी। 1919 का एक्ट उसी का परिणाम था।

इस एक्ट के अनुसार केन्द्र का विधान मण्डल, गवर्नर जनरल और दो सदनों—कौसिल ऑफ स्टेट और व्यवस्थापिका सभा—को मिलाकर बनाया गया। कौंसिल ऑफ स्टेट (राज्य परिषद्) में 60 सदस्य रखे गए, जिनमें 27 गवर्नर-जनरल द्वारा नामजद और 33 निर्वाचित सदस्यों का विधान था। केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा में 145 सदस्यों का विधान रखा गया जिनमें से 104 निर्वाचित और शेष नामजद सदस्यों की व्यवस्था थी। 'पृथक् निर्वाचन' पद्धति को जारी रखा गया गवर्नर-जनरल को 'अध्यादेशों' के द्वारा कानून बनाने का अधिकार दिया गया। कार्यपालिका को विधान मण्डलों के नियन्त्रण से मुक्त रखा गया।

प्रान्तीय विधान मण्डलों के लिए यह व्यवस्था की गई कि उसके कुछ सदस्यों में से कम से कम 70 प्रतिशत सदस्य निर्वाचित होंगे। पृथक्-निर्वाचन का सिद्धान्त यहाँ भी लागू किया गया। प्रान्तीय शासन व्यवस्था की सर्वाधिक विशेषता द्वैध-शासन पद्धति (डायर्की) का लागू करना है। इस दृष्टि से कार्यपालिका के कार्यों को दो भागों में विभाजित किया गया—एक रक्षित विभाग और दूसरा हस्तान्तरित विभाग। पहला विभाग गवर्नर और उसकी परिषद् के अधीन रखा गया और यह विभाग विधान मण्डल के प्रति उत्तरदायी नहीं था। दूसरा विभाग गवर्नर तथा मन्त्रियों के अधीन रखा गया और इस विभाग को विधान मण्डल के प्रति उत्तरदायी बना दिया गया। इस प्रकार, द्वैध-शासन लागू किया गया। कांग्रेस ने इस अधिनियम को स्वीकार नहीं किया।

भारत शासन एक्ट (1935 ई)—कांग्रेस ने 1919 ई. के एक्ट को ठुकरा कर समूचे देश में आन्दोलन को तेज कर दिया। अतः ब्रिटिश सरकार ने इस एक्ट का मूल्यांकन करने के लिए 192? ई में साइमन आयोग को भारत भेजा। चूंकि इस आयोग के सभी सदस्य अंग्रेज थे अतः कांग्रेस ने इसका बहिष्कार किया और अपने आन्दोलन को जारी रखा। असन्तोष को दूर करने के लिए तीन बार गोलमेज

सम्मेलनों का भी आयोजन किया गया। अन्त में, 1935 ई. में ब्रिटिश संसद ने भारत के लिए एक नया संविधान बनाया। यह नया संविधान देखने में तो अच्छा था, परन्तु गवर्नर जनरल और गवर्नरों को इतने अधिकार दे दिये गये कि व्यवहार में कोई प्रगति नहीं हो पाई।

1935 ई. के संविधान के अनुसार ब्रिटिश भारत के प्रान्तों और भारतीय राज्यों को मिला कर एक संघीय राज्य के गठन की व्यवस्था की गई थी।

गवर्नर-जनरल और उसकी मन्त्रि-परिषद् को मिलाकर केन्द्रीय कार्यपालिका बनी। मन्त्रियों की नियुक्ति गवर्नर जनरल द्वारा होती थी और उसकी इच्छा हो तब तक वे अपने पदों पर रह सकते थे। विशेष परिस्थितियों में गवर्नर-जनरल के लिए अपने मन्त्रियों की सलाह मानना अथवा न मानना उसकी इच्छा पर छोड़ दिया गया। केन्द्रीय व्यवस्थापिका में द्वैध-शासन पद्धति लागू की गई। कांग्रेस और मुस्लिम लीग दोनों ने इस द्वैध-शासन पद्धति को स्वीकार नहीं किया।

प्रान्तों के सम्बन्ध में द्वैध-शासन पद्धति को समाप्त कर दिया गया और उन्हें स्वाधीनता प्रदान की गई। उनके कार्यक्षेत्र और आय के साधन भी निर्धारित कर दिए गए। परन्तु प्रान्तीय गवर्नरों को ऐसे विशेषाधिकार भी प्रदान किए गए जिनके आधार पर वे मन्त्रियों के सभी कार्यों में हस्तक्षेप कर सकते थे। देश के राजनैतिक दलों ने प्रान्तीय व्यवस्था को स्वीकार कर लिया, यद्यपि वे केन्द्रीय व्यवस्था को ठुकरा चुके थे।

स्वाधीनता अधिनियम (1947 ई.)—1935 ई. के अधिनियम के अन्तर्गत प्रान्तों में आम चुनाव सम्पन्न हुए जिनमें कांग्रेस ने भी भाग लिया। देश के अधिकांश प्रान्तों में कांग्रेस ने अपने मन्त्रिमण्डल बनाए। 1939 ई. में दूसरा महायुद्ध शुरू हो गया और ब्रिटिश सरकार ने भारतीय नेताओं से पूछे बिना ही भारत को युद्ध में सम्मिलित कर लिया। इस पर कांग्रेस मन्त्रिमण्डल ने त्याग-पत्र दे दिया। इसके बाद राष्ट्रीय आन्दोलन ने उग्र रूप ले लिया। भारतीयों को संतुष्ट करने के लिए कई योजनायें पेश की गईं जिनमें क्रिप्स योजना, बेवल योजना, कैबिनेटमिशन योजना आदि मुख्य थीं। परन्तु देश में साम्प्रदायिक विष फैल चुका था, अतः इनमें से कोई भी योजना सभी को मान्य न हो सकी। अन्त में, ब्रिटिश सरकार ने भारत का विभाजन करने का निश्चय कर लिया और 15 जुलाई, 1947 ई. को ब्रिटिश संसद ने भारत स्वाधीनता अधिनियम पास कर दिया। इसी के आधार पर 15 अगस्त, 1947 ई. को भारत स्वतन्त्र हुआ और देश में गणतन्त्र की स्थापना हुई।

अभ्यास के लिए प्रश्न

1. भारत में अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार कैसे हुआ और उसके क्या परिणाम निकले।
2. 'ब्रह्म समाज' सुधार आन्दोलन की पहली अंगड़ाई थी। इस कथन की पुष्टि करते हुए राजा राममोहन राय के योगदान की भी चर्चा कीजिये।

3. स्वामी दयानन्द सरस्वती और स्वामी विवेकानन्द ने हिन्दू धर्म और समाज को किस प्रकार से पुनः सबल बनाया ?

4. 19वीं सदी के सुधार आन्दोलनों के कारणों और परिणामों का उल्लेख कीजिए।

5. 1858 से 1947 ई. तक भारत के संवैधानिक विकास का उल्लेख कीजिये।

अपने अध्ययन की जाँच कीजिये

1. सही उत्तर का क्रमांक कोष्ठक में लिखिए—

1 राजा राममोहनराय ने किस कॉलेज की स्थापना की थी ?

(क) हिन्दू कॉलेज (ख) सेन्ट्रल हिन्दू कॉलेज
(ग) अलीगढ़ कॉलेज (घ) पूना कॉलेज ( )

2. भारत में सर्वप्रथम विश्वविद्यालयों की स्थापना किस गवर्नर-जनरल के शासन काल में हुई थी ?

(क) बैंटिक (ख) डलहौजी
(ग) कैनिंग (घ) कर्जन ( )

3 स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सर्वप्रथम आर्य समाज की स्थापना किस स्थान पर की थी ?

(क) बम्बई (ख) लाहौर
(ग) दिल्ली (घ) कलकत्ता ( )

4. उस भारतीय सुधारक सन्त का क्या नाम था जो पत्नी के साथ रहते हुए भी आजीवन ब्रह्मचारी रहे ?

(क) स्वामी दयानन्द (ख) रामकृष्ण परमहंस
(ग) स्वामी विवेकानन्द (घ) राजा राममोहनराय ( )

5. पृथक् निर्वाचन पद्धति सर्वप्रथम किस एक्ट के द्वारा लागू की गई थी ?

(क) 1858 का एक्ट (ख) 1861 का एक्ट
(ग) 1901 का एक्ट (घ) 1919 का एक्ट ( )

2. एक-एक पंक्ति में उत्तर दीजिए—

1 कम्पनी सरकार ने सर्वप्रथम शिक्षा पर कितना व्यय करने का निश्चय किया था ?

2. राजा राममोहनराय के बाद ब्रह्म समाज का काम किसने आगे बढ़ाया ?

3. स्वामी दयानन्द के प्रसिद्ध ग्रन्थ का क्या नाम था ? वह किस भाषा में लिखा हुआ है ?

4. स्वामी विवेकानन्द शिकागो क्यों गये थे ?

5. अहमदिया आन्दोलन की सफलता का मुख्य कारण क्या था ?

3. पाँच-सात पंक्तियों में उत्तर दीजिए—

1. अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार के सम्बन्ध में मैकाले के क्या विचार थे ?

3. स्वामी विवेकानन्द ने धर्म की जो नई व्याख्या की उसे समझाइए।
4. प्रार्थना समाज के मुख्य सिद्धान्त बताइए।
5. नामधारी सम्प्रदाय ने कौनसी बुराइयों को उखाड़ फैंका ? समझाइए।

पूरक अध्ययन के लिए ग्रन्थ

1. रामधारीसिंह 'दिनकर' : संस्कृति के चार अध्याय
2. आर. सी. मजूमदार : ब्रिटिश पेरामाउण्टसी एण्ड इण्डियन रिनेसां, भाग 1-2
3. जी. एस. छाबड़ा : एडवाँस स्टडी इन दी हिस्ट्री ऑफ मॉडर्न इण्डिया भाग-2

---

13. राष्ट्रीय आन्दोलन

कुछ वर्षों पूर्व तक अनेक विद्वानों की मान्यता थी कि भारत में राष्ट्रीय भावना का उदय ब्रिटिश शासन की देन है क्योंकि भारत विभिन्नताओं का देश रहा है और ऐसे देश में राष्ट्रीय भावना के उदय का कोई प्रश्न नहीं उठता। परन्तु आज अधिकांश विद्वान इस कथन से सहमत नहीं। उनका मानना है कि भारत में विभिन्नताओं के उपरान्त भी एकता के तत्व अति प्राचीन काल से विद्यमान रहे हैं। परन्तु उन्हें संगठित होने का अवसर न मिल सका। भारत में अंग्रेजी शासन काल में परिस्थितियों वश ऐसा वातावरण बन गया जिसमें उन तत्वों को संगठित होने का अनुकूल अवसर उपलब्ध हो गया। अतः राष्ट्रीय आन्दोलन का वर्णन करने से पहले यह उचित होगा कि हम उन कारणों पर संक्षेप में दृष्टिपात कर लें जिन्होंने भारत में राष्ट्रीय भावना के उदय में महत्वपूर्ण योगदान दिया गया था।

1 राष्ट्रीय विचारधारा के अभ्युदय के कारण

अन्तर्राष्ट्रीय विचारधाराओं का प्रभाव—1857 ई. में हमने स्वतन्त्रता संग्राम का प्रथम संघर्ष लड़ा था और उससे ठीक 90 वर्ष बाद, 1947 ई. में स्वतन्त्रता प्राप्त करली। इस दीर्घावधि में हमारी राष्ट्रीय विचारधारा पर विश्व की अनेक विचारधाराओं का गहरा प्रभाव पड़ा और उनसे हमें प्रेरणा तथा प्रोत्साहन मिलते रहे। अमेरिका के स्वतन्त्रता संघर्ष ने आर्थिक शोषण के विरुद्ध तथा राजनैतिक अधिकारों की प्राप्ति के लिए संघर्ष करने की प्रेरणा दी। फ्रांसीसी क्रांति का भी हमारे राष्ट्रीय विचारों पर गहरा प्रभाव पड़ा। इस क्रांति से हमने स्वतन्त्रता,

समानता, बन्धुत्व, धर्म-निरपेक्षता एवं राष्ट्रवाद के सिद्धान्तों को ग्रहण किया। इटली और जर्मनी के एकीकरण प्रयासों ने भी हमें प्रभावित किया। इनसे हमने यह सबक सीखा कि विदेशी शासन से संघर्ष करने के पूर्व देश की सामान्य जनता को जाग्रत करना तथा संगठित करना आवश्यक है। आयरलैण्ड के होम रूल आन्दोलन ने भी हमें प्रोत्साहन दिया। ब्रिटेन के स्वतन्त्र विचारों तथा संसदीय लोकतन्त्र ने हमारे आन्दोलन को वैधानिक मार्ग की ओर मोड़ दिया। महात्मा गाँधी ने यह स्पष्ट अनुभव कर लिया था कि ब्रिटिश सरकार की उदारवादी प्रवृत्ति इतनी गम्भीर है कि इसे शान्तिपूर्ण सहयोग द्वारा परास्त किया जा सकता है। अफ्रीका, मध्य-एशिया तथा सुदूरपूर्व की राजनैतिक हलचलों ने भी समय-समय पर हमारे राष्ट्रीय विचारों को बल प्रदान किया। इसमें एक घटना-शक्तिशाली यूरोपीय देश रूस पर एशियाई देश जापान की सैनिक विजय का काफी प्रभाव पड़ा। इस घटना से भी एशिया-वासियों के दिमाग से यह भ्रम दूर हो गया कि एशियाई देशों की तुलना में यूरोपीय देश अजेय हैं। इस प्रकार, अन्तर्राष्ट्रीय विचारधाराएं एवं घटनाए हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन को नैतिक बल प्रदान करती रहीं।

धर्म सुधारकों के प्रभाव—हमारी राष्ट्रीय विचारधारा के अभ्युदय में 19वीं सदी के धर्म सुधारकों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। भारत में अंग्रेजी शिक्षा और पाश्चात्य सभ्यता का बड़ा विनाशकारी प्रभाव पड़ा, विशेषकर हमारे शिक्षित वर्ग पर। यह वर्ग हमारी परम्परागत संस्कृति को ठुकरा कर अन्धे की भाँति पाश्चात्य संस्कृति के पीछे दौड़ रहा था। उनकी इस दुर्दशा ने ही सुधार आन्दोलनों को जन्म दिया। राजा राममोहनराय, स्वामी दयानन्द सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द आदि धर्म सुधारकों ने हमें बताया कि भारतीय भाषाएं, धर्म, साहित्य, कला और जीवन-दर्शन संसार में सर्वश्रेष्ठ हैं। इस विषय में हमें पश्चिम से कुछ नहीं सीखना है। केवल समाज और धर्म में व्याप्त दोषों को दूर करने की आवश्यकता है। इसके दूरगामी परिणाम निकले। भारतीयों की हीन भावना का अन्त हो गया और वे सम्भल कर उठ बैठे। उनमें आत्मविश्वास और आत्मशक्ति का विकास हुआ। उनमें अपने देश के धर्म, संस्कृति, कला साहित्य आदि के प्रति प्रगाढ़ प्रेम उत्पन्न हुआ। देश के प्रति प्रेम एवं श्रद्धा ही तो राष्ट्रीय भावना का आधार होती है। इस प्रकार, धर्म सुधारकों ने राष्ट्रीय भावना की पृष्ठभूमि का निर्माण किया।

शिक्षा पद्धति के प्रति असंतोष—यह ठीक है कि अंग्रेजी शिक्षा के कारण विभिन्न प्रान्तों के भारतीयों को एक-दूसरे के निकट सम्पर्क में आने और एक-दूसरे के विचारों को समझने का अवसर मिला। इसी भाषा के कारण हमें पाश्चात्य साहित्य पढ़ने का अवसर मिला जिससे हमारे राष्ट्रीय विचार परिपक्व हुए। परन्तु भारत में जिस ढंग की शिक्षा पद्धति लागू की गई थी उसका मूल ध्येय सरकार के लिए कम वेतन वाले कर्मचारी प्राप्त करना था। शिक्षा के फैलाव से ज्यादा से ज्यादा लोग सरकारी नौकरियों के लिए उम्मीदवार बनते गए। निम्न पदों पर बंगालियों की कुछ जातियों ने और उच्च पदों पर अंग्रेजों ने अपनी बपौती बना

रखी थी । ऐसी स्थिति में सामान्य शिक्षित व्यक्ति के लिए नौकरी प्राप्त करना कठिन हो गया । संयोगवश मिल भी गई तो अंग्रेज कर्मचारियों की तुलना में बहुत कम वेतन मिलता था और भारतीय कर्मचारियों के प्रति अंग्रेज अधिकारियों का व्यवहार भी अच्छा नहीं था । इस प्रकार, पढ़े-लिखे भारतीयों में खास तौर से उनमें जिन्हें पढ़ने-लिखने के बाद भी आसानी से नौकरी या रोजगार नहीं मिल रहा था या जिन्हें ऊँचे पदों तक पहुँचने की सुविधा नहीं थी, अंग्रेजी शासन के खिलाफ क्रोध बढ़ रहा था । इससे उग्र राष्ट्रीयता का विकास हुआ ।

आर्थिक शोषण—राष्ट्रीय विचारधारा के अभ्युदय का एक कारण अंग्रेजों द्वारा भारत का आर्थिक शोषण था । उन्होंने हमारे आत्मनिर्भर आर्थिक ढाँचे को छिन्न-भिन्न कर दिया । कुटीर-उद्योगों को नष्ट कर दिया जिससे देश की आर्थिक स्थिति बिगड़ गई । भारत में स्थापित नये भारी उद्योग भी उनके आर्थिक शोषण से न बच सके । इससे भारतीय उद्योगपतियों में भी अंग्रेजी शासन के विरुद्ध राष्ट्रीय भावना का विकास हुआ और उन्होंने प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों ही उपायों से राष्ट्रीय आन्दोलन को सबल बनाने में महत्त्वपूर्ण सहयोग दिया ।

ब्रिटिश शासन की करतूतें— ब्रिटिश शासन की अनेक राजनैतिक करतूतों ने भी राष्ट्रीय विचारधाराओं के अभ्युदय में योगदान दिया । भारतीय भाषाओं में छपने वाले समाचारापत्र सरकारी नीति के आलोचक थे । अतः 1878 ई में उन पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया । 1876-77 ई. में भारत के कई भागों में भयंकर अकाल की स्थिति उत्पन्न हो गई थी, परन्तु सरकार ने जनता की सहायता के लिए कोई कदम नहीं उठाया । उलटे दिल्ली में एक शानदार दरबार का आयोजन किया गया। जिसमें लाखों रुपया बर्बाद किया गया । इसी समय में द्वितीय अफगान युद्ध लड़ा गया । इस युद्ध से भारत का कोई लेन-देन नहीं था, परन्तु भारत के करोड़ों रुपये अवश्य खर्च कर दिये गये । फिर 'आर्म्स एक्ट' पास किया गया जिसके अन्तर्गत भारतीयों को बिना लाइसेंस के अस्त्र-शस्त्र रखने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया । इसी समय के आसपास इलबर्ट बिल पास किया गया जिसके अनुसार भारतीय मजिस्ट्रेटों को यूरोपियन अपराधियों के मुकदमों का निर्णय करने का अधिकार दिया गया । परन्तु काले और गोरे के प्रश्न को लेकर यूरोपियन लोगों ने आन्दोलन शुरू किया और सरकार को बिल वापस लेना पड़ा । लॉर्ड कर्जन के शासन काल में बंगाल का विभाजन असंतोष का गम्भीर कारण बना । ये सब घटनाएँ ऐसी थीं जिन्होंने भारतीयों की सुप्त राष्ट्रीय भावनाओं को जाग्रत करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया ।

अन्य कारण—अंग्रेजों के शासन काल में परिस्थितियों के संयोग से अन्य कारण भी बन गए जिनसे राष्ट्रीय विचारधारा को गति मिली । पहला महत्त्वपूर्ण तथ्य भारत की राजनैतिक एकता थी । पहली बार सम्पूर्ण भारत एक केन्द्रीय सत्ता के अन्तर्गत आया । पहली बार इस सत्ता के अन्तर्गत एक-से अधिकारी, एक-से कानून और एक-सी राजभाषा स्थापित हुई । इससे राजनैतिक एकता और उनसे राष्ट्रीय एकता का अनुभव स्वाभाविक रूप से होने लगा । पाश्चात्य साहित्य और

विचारधारा ने भी राष्ट्रीय भावना को बल प्रदान किया। पश्चिमी देशों के साथ भारतीयों के प्रत्यक्ष सम्पर्क ने उन्हें प्रभावित किया। उन देशों में विद्यमान स्वतंत्र वातावरण ने भारतीयों को अपने देश में भी वैसा ही वातावरण तैयार करने की प्रेरणा दी। इस प्रकार, उपर्युक्त विभिन्न कारणों से राष्ट्रीय विचारधारा का अभ्युदय हुआ जिसे एक सूत्र में बांधकर अंग्रेजी शासन के विरुद्ध राष्ट्रीय आन्दोलन चलाने का दायित्व अखिल भारतीय कांग्रेस ने पूरा किया।

2 अखिल भारतीय कांग्रेस : प्रारम्भिक काल

कांग्रेस का जन्म—ब्रिटिश शासन के राजनैतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक शोषण एवं दमन की नीतियों के विरुद्ध धीरे-धीरे समूचे भारत में असंतोष की भावना बढ़ती जा रही थी। ऐसे समय में सरकारी सेवा से अवकाश प्राप्त ए. ओ. ह्यूम नामक एक अंग्रेज ने कुछ भारतीय पूँजीपतियों, जमींदारों और बुद्धिजीवियों से विचार-विमर्श करके एक ऐसी संस्था की स्थापना करने का निर्णय किया जिसके द्वारा भारत में अंग्रेजी शासन को सम्भावित भावी खतरे से बचाया जा सके और साथ ही भारतीयों में बढ़ते हुए असंतोष को शान्त भी किया जा सके। इसी ध्येय को लेकर 1885 ई. में ह्यूम ने बम्बई में प्रमुख भारतीयों का एक सम्मेलन बुलाया जिसका सभापतित्व उमेशचन्द्र बैनर्जी (वोमेशचन्द्र) ने किया। इस सम्मेलन में कुल मिलाकर 72 लोगों ने भाग लिया था जिसमें दादाभाई नौरोजी, फिरोजशाह मेहता, दीनशावाचा, महादेव गोविन्द रानाडे आदि प्रमुख थे। इसी सम्मेलन से अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म हुआ।

कांग्रेस का जन्म किस उद्देश्य को लेकर हुआ? इस प्रश्न पर काफी मतभेद है। इतना निश्चित है कि इसका ध्येय अंग्रेजी शासन की सुरक्षा था और ह्यूम ने अपनी योजना पर तत्कालीन गवर्नर-जनरल लॉर्ड डफरिन से भी विचार-विमर्श किया था। इसीलिए कूपलैण्ड ने लिखा है कि, "सही अर्थों में भारतीय कांग्रेस ब्रिटिश राज्य की पुत्री थी और अंग्रेज अधिकारियों ने इसके पोषण का आशीर्वाद दिया।" कांग्रेस के प्रमुख नेता लाला लाजपतराय ने भी लिखा है कि "कांग्रेस की स्थापना भारत के लिए राजनैतिक स्वतंत्रता की अपेक्षा ब्रिटिश राज्य को खतरे से बचाने के लिए की गई थी।" कांग्रेस के उदारवादी नेता गोपालकृष्ण गोखले ने इस विवाद को स्पष्ट करते हुए कहा था कि "कोई भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना कर ही नहीं सकता था। उस समय प्रत्येक राजनीतिक आन्दोलन को संदेह की दृष्टि से देखा जाता था और यदि कांग्रेस का जन्मदाता एक प्रसिद्ध अंग्रेज तथा सफल भूतपूर्व राज्याधिकारी न होता तो सरकार तुरन्त ही इस आन्दोलन के दमन का कोई न कोई उपाय निकाल लेती।" इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कांग्रेस की स्थापना का मूल ध्येय ब्रिटिश शासन की सुरक्षा थी। परन्तु यह मानना भी भारी भूल होगी कि कांग्रेस की स्थापना का ध्येय भारतीयों में नवजाग्रत राष्ट्रीयता की भावना को समाप्त करना था।

अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से राष्ट्रीय आन्दोलन के काल को हम तीन

भागों में विभाजित कर सकते हैं। पहला 1885 से 1905 तक का जिसे सुधारों का काल कहा जा सकता है, दूसरा 1906 से 1919 तक का जिसे स्वशासन की मांग का काल कहा जा सकता है, और तीसरा 1920 से 1947 तक का जिसे हम स्थूल रूप से गाँधी युग कह सकते हैं।

राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रथम काल (1885–1905)—राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रथम काल को प्रायः उदार राष्ट्रीय आन्दोलन के नाम से पुकारा जाता है क्योंकि इस काल के कांग्रेसी नेताओं का अंग्रेजों की न्यायप्रियता में विश्वास था और उनका मानना था कि हमें अपनी मांगों को प्रार्थना-पत्रों के माध्यम से सरकार के सामने प्रस्तुत करते रहना चाहिए और सरकार निश्चित ही उन्हें स्वीकार कर लेगी। इस प्रकार के उदारवादी नेताओं में फीरोजशाह मेहता, गोपालकृष्ण गोखले, उमेशचन्द्र बैनर्जी, दादाभाई नौरोजी आदि मुख्य थे। इसलिए इस काल में कांग्रेस की कार्य-वाहियाँ तीन बातों तक सीमित रहीं—(1) अपनी माँगों सम्बन्धी प्रस्ताव तैयार करना (2) प्रस्तावों पर विचार करने के लिए सरकार से प्रार्थना करना और (3) जनता में अपने विचारों का प्रचार करना। काँग्रेस की माँगें भी सीमित प्रकृति की थी जैसे कि भारतीयों को प्रशासन में प्रतिनिधित्व दिया जाय, व्यक्तिगत स्वतंत्रता दी जाय, भारतीयों को सेनाओं में उच्च पद दिए जाएं, विदेशी सामान पर कर बढ़ाया जाय, सैनिक व्यय में कमी की जाय, इत्यादि।

कुछ अवसरों पर कांग्रेस ने सरकार के कार्यों का वैधानिक विरोध भी प्रगट किया जैसे कि वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट और आर्म्स एक्ट के सम्बन्ध में। परन्तु ब्रिटिश सरकार ने कांग्रेस की प्रार्थनाओं अथवा विरोध पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। 1892 ई. का एक्ट इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है जो कहने को कांग्रेसियों की मांगों के आधार पर बनाया गया था, परन्तु सही अर्थ में एक भी मांग को पूरा नहीं किया गया था। फिर भी, यदि इस काल में कांग्रेस की उपलब्धियों का मूल्यांकन करें तो हमें पता चलेगा कि उसने कितना महत्त्वपूर्ण काम किया था। यह जानते हुए कि वह सरकार से विरोध करने की स्थिति में नहीं है, उसने अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाने की तरफ ध्यान दिया और भावी आन्दोलन के लिए जनमत को तैयार किया। यह कोई कम महत्त्वपूर्ण सफलता न थी।

राष्ट्रीय आन्दोलन का दूसरा काल (1906-1919)—प्रथम काल की प्रार्थनाओं से जब अपेक्षित परिणाम नहीं निकला तो युवा भारतीयों का असन्तोष बढ़ गया और कांग्रेस के कई प्रमुख नेता भी यह सोचने लगे कि बिना संघर्ष के सफलता मिलने की उम्मीद नहीं है। संघर्ष द्वारा सफलता की इसी प्रवृत्ति को उग्र राष्ट्रीयता कहते हैं। भारतीय कांग्रेस में उग्रवादियों का जोर बढ़ने के लिए कई कारण जिम्मेदार थे। अंग्रेज अधिकारियों की मनमानी, 1891 ई. का असंतोषजनक कानून, आर्थिक असंतोष, शिक्षित भारतीयों में बेकारी की समस्या, 1897 और 1898 के अकाल और प्लेग के समय में सरकार की प्रतिकूल नीति, बंगाल का विभाजन, एबीसीनिया द्वारा इटली को और जापान द्वारा रूस को पराजित करना

इत्यादि। इन सबके सामूहिक प्रभाव से भारतीय कांग्रेस से गर्म दल का अभ्युदय हुआ। इसके साथ ही काँग्रेस का स्वरूप भी बदलने लगा और अब वह सही अर्थों में "राष्ट्रीय कांग्रेस" बन गई। कांग्रेस ने सरकार की आलोचना करना शुरू कर दिया। बंगाल-विभाजन ने गर्म दल को आगे आने का अवसर प्रदान किया। बंग-भंग के विरुद्ध जिस योजनाबद्ध तरीके से आन्दोलन चलाया गया उससे सरकार भी दहल उठी। गर्म दल के नेता थे—बंगाल के विपिनचन्द्र पाल, पंजाब के लाला लाजपतराय और महाराष्ट्र के बाल गंगाधर तिलक। यह त्रिमूर्ति 'बाल-लाल-पाल' के नाम से विख्यात हुई। बंग-भंग के बाद बाल गंगाधर तिलक ने "स्वराज्य हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है" का सुप्रसिद्ध नारा बुलन्द किया। कांग्रेस का नरम दल इस प्रकार की उत्तेजक विचारधारा के विरुद्ध था। कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन (1906 ई.) के समय कांग्रेस में आपसी फूट के चिह्न दिखाई देने लगे और सूरत अधिवेशन (1907 ई.) के अवसर पर इस फूट ने संघर्ष का रूप ले लिया। बहुमत वाले नरम दल ने गर्म दल को कांग्रेस से बाहर निकाल दिया। सन् 1916 ई. तक कांग्रेस पर नरम दल का प्रभाव बना रहा। कांग्रेस की फूट का फायदा उठाते हुए सरकार ने उग्रवादियों का दमन शुरू कर दिया। लोकमान्य तिलक को राजद्रोह के अपराध में 6 वर्ष के लिए मॉडले जेल में भेज दिया गया। फिर भी गर्म दल को नहीं दबाया जा सका। तब सरकार ने दूसरा दाव खेला। उसने मुसलमानों को भड़का कर कांग्रेस से अलग किया और सरकार से प्रेरणा प्राप्त कुछ स्वार्थी मुसलमानों ने अपना एक अलग संगठन "मुस्लिम लीग" का निर्माण किया। लीग ने तुरन्त ही अपना साम्प्रदायिक रूप दिखाया और मुसलमानों के लिए पृथक् निर्वाचन क्षेत्र की माँग की।

इस अवधि में अंग्रेजों की नीति से असन्तुष्ट होकर एक नये दल का विकास हुआ। साहसी नवयुवकों ने आतंकवादी उपायों का सहारा लिया। उन्होंने अंग्रेजों को कत्ल करना शुरू कर दिया। उसका दूसरा कार्यक्रम था लूट-मार और तोड़-फोड़ द्वारा सरकार को आतंकित करना। इन साहसी युवकों के नेता थे—भूपेन्द्रनाथ दत्त, गणेश सावरकर, सरदार भगतसिंह, राजगुरु, सुखदेव और चन्द्रशेखर आजाद। परन्तु इस प्रकार का हिंसक आन्दोलन जनता में लोकप्रिय न हो सका।

राष्ट्रीय आन्दोलन को शिथिल बनाने की दृष्टि से अंग्रेजी सरकार ने 1909 ई. में मोर्ले-मिन्टो सुधारों की घोषणा की। भारत में लोगों ने इसे उत्तरदायी शासन की दिशा में प्रथम कदम समझा, परन्तु शीघ्र ही सबको यथार्थ स्थिति का भान हो गया। उग्रवादियों की दृष्टि में तो यह असन्तोषजनक था ही नरम दल वालों को भी मानना पड़ा कि यह असन्तोषजनक है और सरकार उत्तरदायी शासन की स्थापना के प्रति उदासीन हैं।

ऐसी स्थिति में यूरोप में प्रथम महायुद्ध शुरू हो गया। भारतीयों का सहयोग प्राप्त करने की दृष्टि से ब्रिटिश सरकार ने युद्ध समाप्ति के बाद उसकी माँगों को पूरा करने का अप्रत्यक्ष रूप से आश्वासन दिया। इसके अलावा, चूँकि मित्र राष्ट्र

प्रजातन्त्र की रक्षा के लिए लड़ रहे थे, अतः क्रान्तिकारियों के अलावा सभी भारतीयों ने सरकार को पूरा-पूरा सहयोग दिया। 1914 ई. में बाल गंगाधर तिलक को भी कारावास से मुक्त कर दिया गया। इसी समय देश की राजनीति में श्रीमती एनीबिसेंट (बेसेंट) ने प्रवेश किया। उनके प्रयत्नों से कांग्रेस के दोनों दलों में पुनः सुलह हो गई। इसके बाद तिलक और बेसेंट ने मिलकर 'होम रूल मूवमेंट' (गृहशासन आन्दोलन) का सूत्रपात किया। 1916 ई. में कांग्रेस और मुस्लिम लीग नें सुधारों की सामान्य योजना को स्वीकार कर लिया। इसके बाद, होम रूल आन्दोलन जोर पकड़ता गया। सरकार ने बिसेंट और तिलक की कार्यवाहियों पर प्रतिबन्ध लगाने शुरू कर दिये। परन्तु घटना चक्र तेजी से घूमता गया और होम रूल की हवा देश के कोने से दूसरे कोने तक बहने लगी। विवश होकर सरकार को 'भारत में उत्तरदायी शासन के क्रमिक विकास' का वचन एक घोषणा के द्वारा देना पड़ा। परन्तु युद्ध की समाप्ति के बाद भारतीयों को 1919 का एक्ट मिला जिससे किसी भारतीय को सन्तोष नहीं हुआ और आन्दोलन पुनः आगे बढ़ा। कांग्रेस ने भी इस अधिनियम (एक्ट) को ठुकरा दिया था, परन्तु कुछ कांग्रेसी इसके पक्ष में थे और उन्होंने अपना अलग दल बना लिया जो "लिबरल पार्टी" के नाम से पुकारा जाने लगा। परन्तु इस दल का विशेष प्रभाव नहीं पड़ा और सारे देश में आन्दोलन का जोर बढ़ने लगा। आन्दोलनकारियों को कुचलने के लिए सरकार ने रोलेट एक्ट पास किया। इस एक्ट के द्वारा सरकारी अधिकारियों के हाथों में असाधारण दमनकारी शक्ति दे दी गई। देश भर में रोलेट एक्ट के विरुद्ध अद्वितीय विरोध प्रदर्शित किया गया। 13 अप्रैल, 1919 को सरकार की दमन नीति के विरोध में जलियाँवाला बाग (अमृतसर) में जब शान्तिपूर्ण सभा हो रही थी तो अंग्रेज जनरल डायर ने सैनिकों को, बाग को चारों तरफ से घेर कर निहत्थे श्रोताओं पर गोली चलाने का आदेश दे दिया। डायर के इस क्रूर कृत्य के कारण सैकड़ों निर्दोष व्यक्तियों जिनमें बच्चे, बूढ़े और स्त्रियाँ भी सम्मिलित थीं, को अपने प्राणों से हाथ धोने पड़े। इस नृशंस हत्याकाण्ड का समूचे देश ने घृणा के साथ विरोध किया। मुसलमानों ने भी सरकार के खिलाफ होने वाले प्रदर्शन में भाग लिया। ऐसी स्थिति में भारतीय राजनीति में एक नये नेता का आगमन हुआ। वह थे मोहनदास कर्मचन्द गाँधी, जो आगे चलकर 'महात्मा गाँधी' के नाम से विश्व-विख्यात हुए।

प्रमुख घटनाएँ

बंगाल का विभाजन और स्वदेशी आन्दोलन—1905 ई. में भारत के तत्कालीन गवर्नर जनरल कर्जन ने बंगाल प्रान्त को दो हिस्सों में विभाजित कर दिया। कर्जन की दलील थी कि बंगाल का प्रान्त बहुत बड़ा था अत शासन की सुविधा की दृष्टि से यह विभाजन आवश्यक था। विभाजन के अनुसार बंगाल में पश्चिमी बंगाल, बिहार और उड़ीसा रहे और नये प्रान्त में पूर्वी बंगाल तथा असम रहे। बंगाल के इस विभाजन का समूचे भारत में तीव्र विरोध हुआ। बंगालियों ने यह अनुभव किया कि सरकार बंगाल की राष्ट्रीय भावना, भाषा और परम्पराओं की एकता को तोड़ना

चाहती है। राजनीतिज्ञों का विचार था कि सरकार बंगाल के हिन्दू और मुसलमानों में फूट डालना चाहती है और मुसलमानों के लिए एक नवीन प्रान्त की स्थापना करना चाहती है। इस कथन में सत्य का अंश भी था। जो नया प्रान्त बनाया गया था उसमें मुसलमानों की आबादी अधिक थी और इस देश में सरकार के विरुद्ध जो राष्ट्रीय आन्दोलन चल रहा था उसका नेतृत्व हिन्दुओं के हाथ में था। अतः सरकार मुसलमानों को प्रलोभन देकर उन्हें राष्ट्रीय आन्दोलन से दूर रखने के लिये प्रयत्नशील थी।

जिस दिन विभाजन की घोषणा की गई, सारे बंगाल में राष्ट्रीय शोक दिवस मनाया गया। कलकत्ता में रक्षाबन्धन (जो दोनों भागों की एकता का प्रतीक था) हड़ताल और उपवास, एक फेडरेशन हाल का शिलान्यास तथा राष्ट्रीय-निधि की स्थापना का कार्यक्रम अपनाया गया। सरकार की ओर से दमन और जनता में फूट डालने की नीति अपनाई गई फिर भी आन्दोलन बढ़ता गया और यह अन्य प्रान्तों में फैल गया। इस आन्दोलन के समय में स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग पर बल दिया गया और विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार की घोषणा की गई। लोगों ने विदेशों में खासकर इंगलैण्ड में बने सामान की होली जलाई। कांग्रेस के दो अधिवेशनों ने स्वदेशी आन्दोलन और राजनीतिक बहिष्कार की स्वीकृति दे दी। इनसे कांग्रेस में गरम दल का प्रभाव बढ़ा। परन्तु सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि इस आन्दोलन से राष्ट्रीय भावना को प्रोत्साहन मिला और पहली बार राष्ट्रीय आन्दोलन को जन-आन्दोलन का रूप प्रदान करने का विचार उत्पन्न हुआ। स्वदेशी आन्दोलन का सूत्रपात भी यहीं से हुआ और यह आन्दोलन भारत का पहला संगठित आन्दोलन सिद्ध हुआ। मुसलमानों ने अवश्य सरकार के निर्णय का समर्थन किया था। सरकार को झुकना पड़ा और 1911 ई. में इस विभाजन को रद्द करना पड़ा।

होम-रूल आन्दोलन—श्रीमती एनीबिसेंट अपने देश आयरलैण्ड के होम-रूल मूवमेंट से बड़ी प्रभावित थी और भारतीय राजनीति में प्रवेश करने के बाद उसने उग्रवादियों, विशेष कर तिलक की सहायता से भारत में होम रूल आन्दोलन का सूत्रपात किया। यह आन्दोलन एक वैधानिक आन्दोलन था। इसका उद्देश्य ब्रिटिश सरकार की तत्कालीन युद्ध सम्बन्धी (प्रथम महायुद्ध चल रहा था) कार्यवाहियों में रोड़ा डालना नहीं था, अपितु उसके लिए सहायक सिद्ध होना था। आन्दोलनकारियों का कहना था कि केवल स्वशासित भारत ही अंग्रेजों को युद्ध में अच्छी तरह से सहायता पहुँचा सकेगा। इसलिए सरकार को चाहिए कि वह भारत को गृह शासन प्रदान कर उसे सन्तुष्ट रखे। श्रीमती बिसेंट के अनुसार आन्दोलन का उद्देश्य ग्राम परिषद् से लेकर जिला बोर्ड, म्यूनिसिपल बोर्ड, प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाएँ तथा राष्ट्रीय संसद तक पूर्ण स्वशासन की स्थापना करना था। इस प्रकार, इस आन्दोलन का लक्ष्य भी उदारवादियों जैसा ही था, केवल नाम दूसरा था। हाँ, दोनों में एक अन्तर अवश्य था। होम रूल का ढंग उदारवादियों की याचना का ढंग न था अपितु वह एक अधिकारपूर्ण माँग का ढंग था।

आन्दोलन के संचालकों ने बड़े उत्साहपूर्वक इसका संचालन किया और अपने समाचार-पत्रों के द्वारा इसका खूब प्रचार किया। 1917 ई० में आन्दोलन अपने शिखर पर पहुँच गया और सरकार इसे भी सहन न कर सकी। तिलक पर पंजाब एवं दिल्ली के प्रान्तों में जाने पर रोक लगा दी गई और एनीबिसेंट को नजरबन्द कर दिया गया। कांग्रेस के अन्य नेता भी अब होम रूल आन्दोलन में सम्मिलित हो गये। अन्त में, ब्रिटिश सरकार को भारत में क्रमशः उत्तरदायी सरकार की स्थापना का आश्वासन देना पड़ा।

कांग्रेस और लीग का समझौता—1906 ई० में अंग्रेजों द्वारा प्रोत्साहन मिलने के कारण मुसलमानों ने अपने विशेष हितों की सुरक्षा के लिये 'मुस्लिम लीग' की स्थापना की थी और सरकार ने 1909 के अधिनियम द्वारा मुसलमानों को पृथक् निर्वाचन के अधिकार की सुविधा भी दे दी। देश भर में पृथक् निर्वाचनाधिकार का विरोध किया गया, परन्तु लीग ने इसका समर्थन किया। 1916 ई० में कांग्रेस ने मुस्लिम लीग के साथ एक समझौता किया जो लखनऊ समझौते के नाम से विख्यात है। इसके अनुसार कांग्रेस ने लीग के अल्पसंख्यकों को अधिक स्थान देने, साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व-प्रणाली अपनाने और साम्प्रदायिक निषेधाधिकार आदि मांगों को स्वीकार कर लिया। कांग्रेस ने यह समझौता हिन्दू-मुस्लिम एकता को बनाये रखने की दृष्टि से किया था, परन्तु बाद की घटनाओं से स्पष्ट हो गया कि वह कांग्रेस की एक बड़ी राजनैतिक भूल थी। इससे मुस्लिम लीग हमेशा ही अपने को मुसलमानों का एक मात्र प्रतिनिधि बताती रही और मुस्लिम साम्प्रदायिकता को प्रोत्साहन देती रही।

भारतीय कांग्रेस के प्रमुख प्रारम्भिक नेता

दादाभाई नौरोजी (1825–1917)—का बम्बई के एक पारसी परिवार में जन्म हुआ था। आर्थिक अड़चनों के उपरान्त भी योग्यता के साथ उच्च शिक्षा प्राप्त की। जीवन निर्वाह के लिए अध्यापक, प्रोफेसर और पत्रकार बने फिर इंगलैण्ड में रहकर व्यापार किया। थोड़े समय के लिए बड़ौदा राज्य के दीवान भी रहे। फिर इन्होंने 1852 ई० में राजनीतिक जीवन में प्रवेश किया। सर्वप्रथम "बम्बई एसोसियेशन" के सक्रिय सदस्य बने। इंगलैण्ड में उमेशचन्द्र बैनर्जी के साथ मिलकर 'लन्दन इण्डियन सोसायटी' की स्थापना की। 1866 ई में ईस्ट इण्डिया एसोसियेशन की स्थापना की जिसका मुख्य ध्येय भारतीयों की माँगों को उठाना और अंग्रेजों और भारतीयों के मध्य मैत्री भावना का विकास करना था। 1886 से 1906 की अवधि में चार बार ब्रिटिश संसद के लिए चुनाव लड़ा और 1891 के चुनाव में सफल होकर ब्रिटिश संसद के सदस्य बने। ये ब्रिटिश संसद के सदस्य बनने वाले पहले भारतीय थे।

उन्होंने 1885 ई. में अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अधिवेशनों में भाग लिया और बाद में कांग्रेस के अध्यक्ष भी बने। अपनी मृत्युपर्यन्त उनका कांग्रेस से सम्पर्क बना रहा और वे भारतीयों की माँगों के लिये विभिन्न उपायों से प्रयत्न करते रहे। वे अपने समय के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री भी रहे और इस विषय पर महत्वपूर्ण लेख

एवं पुस्तकें लिखीं। अंग्रेज सरकार भी अर्थ-व्यवस्था के मामलों पर कई बार आपसे राय लेती रही। वे एक सच्चे और आदर्शवादी देशभक्त थे।

बाल गंगाधर तिलक (1856–1920)—अंग्रेज इतिहासकारों के शब्दों में, "भारतीय असन्तोष का जनक" और भारतीयों के शब्दों में "लोकमान्य तिलक" का जन्म महाराष्ट्र के एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। लोकमान्य तिलक बहुमुखी प्रतिभा वाले व्यक्ति थे। वे शिक्षा-शास्त्री, अध्यापक पत्रकार, समाज-सुधारक और स्वदेशी आन्दोलन के जन्मदाता थे। भारतीयों में राजनैतिक चेतना जागृत करने के लिए उन्होंने दो समाचार-पत्र-केसरी (मराठी भाषा में) और मराठा (अंग्रेजी भाषा में) शुरू किए। बम्बई के गवर्नर ने लिखा था कि, "भारत में अंग्रेजी सरकार के अस्तित्व के विरुद्ध वे मुख्य षड्यन्त्रकारी थे और उन्होंने सरकार के एक-एक कमजोर तथ्य का गहन अध्ययन किया था।"

1889 ई० में तिलक कांग्रेस में सम्मिलित हुए। उनका कहना था कि "स्वराज्य मेरा जन्म सिद्ध अधिकार है और मैं उसे लेकर रहूँगा।" यही कारण है कि कांग्रेस के नरमवादियों से उनकी नहीं बनी और 1907 ई० में उन्हें कांग्रेस छोड़नी पड़ी। तिलक का मानना था कि कांग्रेस की जड़ें सामान्य जनता में होनी चाहिए और राष्ट्रीय आन्दोलन के लिए उसमें चेतना जागृत करनी चाहिये। इसी दृष्टि से उन्होंने अपने कार्यक्षेत्र महाराष्ट्र में लाठी क्लबों, गौ वध विरोधी सोसायटियों और अखाड़ों का संगठन किया। 1893 ई० में 'गणपति उत्सव' और 1895 में "शिवाजी उत्सव" को जनता में फैलाकर राष्ट्रीयता का प्रसार किया। अंग्रेज सरकार ने उन्हें 1882, 1897 और 1908 में क्रमश: 4 महीने, 17 महीने और 6 वर्ष के कारावास की सजाएँ दीं।

तिलक उग्र राष्ट्रवादी थे। उन्हें अंग्रेजों की न्यायप्रियता अथवा वचनों में विश्वास नहीं था। प्रार्थनाओं के द्वारा थोड़े से सुधारों को प्राप्त करने का तरीका भी उन्हें पसन्द न था। वे पूर्ण स्वराज्य चाहते थे। 1916 ई० में उन्होंने होम रूल आन्दोलन चलाया। राजनीतिज्ञ के साथ-साथ तिलक एक महान् विचारक भी थे। उन्होंने अपने लेखों द्वारा अंग्रेजी प्रशासन के विरुद्ध भारतीयों में असन्तोष बढ़ाकर देश के राष्ट्रीय आन्दोलन को एक नई दिशा दी। निसन्देह, वे 19वीं सदी के सबसे प्रभावशाली नेता थे।

गोपालकृष्ण गोखले (1866–1915)—इनका कोल्हापुर में जन्म हुआ। शुरू में अध्यापक बने और पूना फर्ग्यूसन कॉलेज के प्रिंसिपल बने। वे महादेव गोविंद रानाडे के शिष्य और महात्मा गाँधी के 'गुरु' थे। अपने देश तथा देशवासियों के प्रति उनमें उच्चकोटि की कर्त्तव्यनिष्ठा थी।

22 वर्ष की आयु में ही वे बम्बई व्यवस्थापिका सभा के सदस्य बने थे। 39 वर्ष की आयु में बनारस अधिवेशन में कांग्रेस के अध्यक्ष बने। देश की अर्थ-व्यवस्था और अन्य समस्याओं के बारे में उनकी जानकारी इतनी अधिक व्यापक थी कि 31 वर्ष की आयु में ही ब्रिटिश सरकार ने उन्हें इंगलैंड आमन्त्रित किया था।

इसके बारे वे कई बार इंगलैंड गए और अपने भाषणों के द्वारा अंग्रेज जनता तथा ब्रिटिश सरकार का ध्यान प्रशासनिक सुधारों की तरफ आकर्षित करते रहे। वे अंग्रेजों की न्यायप्रियता में विश्वास रखते थे। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि उन्होंने सरकार की आलोचना न की हो। 'नमक कर' के विषय में उन्होंने सरकार की भर्त्सना की, भारतीयों को प्रशासन में हिस्सा न देने और उन्हें उच्च पदों से वंचित रखने के विषय पर वे लगातार सरकार की आलोचना करते रहे। लॉर्ड कर्जन की प्रतिक्रियावादी नीतियों और बंगाल विभाजन की भरपूर निन्दा की और दक्षिण अफ्रीका में गाँधीजी का समर्थन किया।

इस प्रकार गोखले पक्के देश भक्त थे। वे भारतीय राष्ट्रीयता की नींव को कठोर परिश्रम तथा त्याग से सुदृढ़ बनाना चाहते थे। वे स्वदेशी आन्दोलन के प्रबल समर्थक थे। उनकी मुख्य विशेषता यह थी कि राजनीति में भी नैतिकता को महत्त्व देते थे और अच्छे उद्देश्य एवं कार्य की पूर्ति के लिए भी बुरे साधनों या उपायों का सहारा लेने के विरुद्ध थे।

विपिनचन्द्र पाल (1858–1932) —1858 ई. में सिलहट नगर में एक विख्यात वकील के घर जन्म हुआ। शिक्षा समाप्त करने के दस वर्ष बाद तक अध्यापन कार्य किया। 1887 ई० में राजनीति में प्रवेश किया। ये काँग्रेस के गरम दल के तीन प्रमुख नेताओं में से एक थे। 1900 ई. में अध्ययन के लिए इंगलैंड गए। वहाँ लेखों और भाषणों द्वारा भारतीय राजनीति का चित्र ब्रिटिश जनता के समक्ष उपस्थित किया। इंगलैंड में "स्वराज्य" नामक मासिक पत्र चलाया। भारत लौट कर "न्यू इण्डिया" नामक अंग्रेजी साप्ताहिक निकाला। अरविन्द घोष के 'वन्देमातरम्' पत्र से भी उनका घनिष्ट सम्बन्ध था। अरविन्द घोष के मामले में कोर्ट के आदेशानुसार गवाही न देने पर 6 मास का कारावास मिला। 1911 ई. में राजद्रोह के अपराध में दूसरी बार सजा मिली। होम रूल आन्दोलन में भी भाग लिया।

पाल एक विख्यात समाज सुधारक भी थे और प्रभावशाली वक्ता भी। उन्हें केवल राजनीति अधिकारों से ही सन्तोष नहीं था अपितु वे राष्ट्रीय जागरण के पक्ष में थे। वे संवैधानिक आन्दोलन के पक्ष में नहीं थे। परन्तु 1920 ई. के बाद उनके विचारों में उतनी उग्रता नहीं रही।

लाला लाजपत राय (1865–1928)—पंजाब केसरी लाला लाजपत राय का जन्म पंजाब के एक सामान्य परिवार में हुआ। कानून की परीक्षा पास करने के बाद पहले हिसार में और बाद में लाहौर में वकालत की। 1882 ई. में आर्य समाज के सक्रिय सदस्य बन गए। 1888 ई. में काँग्रेस में सम्मिलित हुए और कुछ ही वर्षों में काँग्रेस के गरम दल के प्रमुख नेता बन गए। बंग-भंग आन्दोलन और स्वदेशी आन्दोलन में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। 1907 ई. में लालाजी को देश-निर्वासन का दण्ड दिया गया। उन्होंने अपना अधिकांश समय विदेशों में गुजारा। 1916 ई. में आपने अमेरिका में इण्डियन होम रूल लीग नामक संस्था स्थापित की। 1920 ई. में वापस भारत लौटे और उसी वर्ष उन्हें कलकत्ता काँग्रेस अधिवेशन का अध्यक्ष बनाया

गया। 1923 ई. में आपको 18 मास की सजा मिली। पं० मालवीय के साथ मिलकर पं० मोतीलाल नेहरू की स्वराज्य पार्टी के विरुद्ध 'नेशनल पार्टी' का गठन किया। 1928 ई. में 'साइमन-कमीशन' के विरुद्ध लाहौर में जबरदस्त प्रदर्शन हुआ लालाजी भी प्रदर्शनकारियों के साथ थे। पुलिस ने उन पर पाशविकता से लाठी चार्ज किया जिससे वे सख्त घायल हो गए और कुछ ही दिनों में उनका स्वर्गवास हो गया।

लालाजी एक प्रमुख समाज-सुधारक, उत्कृष्ट वक्ता और कुशल लेखक तथा पत्रकार थे। उन्होंने अपने जीवन काल में तीन समाचार-पत्रों (एक पंजाबी में, एक उर्दू में और एक अंग्रेजी में) का संचालन किया। 'यंग इण्डिया' उनकी सुप्रसिद्ध पुस्तक है जिससे उनके राष्ट्रीय विचारों का पता चलता है। 1920 के बाद लालाजी समाजवादी विचारों की तरफ झुक गए और उसी वर्ष भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस के पहले अध्यक्ष बने। लालाजी ने एक सामान्य स्थिति में जन्म लेकर अपनी प्रतीभा और त्याग के बल पर सारे देश का सम्मान प्राप्त किया।

देशबन्धु चितरंजनदास (1870–1925)—सफल बैरिस्टर, विख्यात कानून वेत्ता, पत्रकार और कवि। देशबन्धु चितरंजनदास का जन्म कलकत्ते के एक प्रमुख प्रगतिशील वकील के घर में हुआ। इंगलैंड से बैरिस्टरी की परीक्षा पास करके 1893 ई में कलकत्ता हाईकोर्ट में वकालत शुरू की। वे अपने समय के अद्वितीय बैरिस्टर थे और इससे उनको लाखों रुपया वार्षिक आय होती थी। अरविन्द घोष के राजद्रोह का मामला और मानिकतल्ला बाग बम केस की आपने जिस योग्यता से पैरवी की उससे देश भर में विख्यात हो गए। कांग्रेस राजनीति में वैसे तो 1906 से ही भाग लेना शुरू कर दिया था हरन्तु 1917 ई. से जबकि वे बंगाल प्रांतीय राजनीतिक परिपद् के अध्यक्ष बने, सक्रिय रूप से भाग लेने लगे। अहमदाबाद और गया के कांग्रेस अधिवेशनों के वे अध्यक्ष रहे। कलकत्ते के कांग्रेस अधिवेशन में दास ने गाँधीजीं के असहयोग के प्रस्ताव का मर्यादित विरोध किया, परन्तु नागपुर अधिवेशन में गाँधीजी को पूरा-पूरा समर्थन दिया। अपनी खूब चलती हुई बैरिस्टरी को त्याग दिया एवं अपनी सारी सम्पत्ति मेडिकल कॉलेज और स्त्रियों के अस्पताल के लिए दान कर दीं। इसी समय से आप 'देशबन्धु' के नाम से पुकारे जाने लगे।

गया कांग्रेस के अवसर पर जब दास का कौंसिल-प्रवेश कार्यक्रम स्वीकृत नहीं हो पाया तो आपने कांग्रेस-अध्यक्ष-पद से इस्तीफा देकर 'स्वराज्य-पार्टी' की स्थापना की। 1923 ई. में दिल्ली अधिवेशन में कांग्रेस ने अपना कार्यक्रम स्वीकार कर लिया। 1924 ई. में आप कलकत्ता कॉरपोरेशन के मेयर चुने गए।

चितरंजनदास ने पत्रकारिता के क्षेत्र में निर्भीकता, स्पष्टवादिता और साहस की परम्परा का सूत्रपात किया। वे अरविन्द द्वारा सम्पानित 'वन्देमारम्' (अंग्रेजी) पत्र के संस्थापकों में से एक थे, स्वराज्य पार्टी के मुख पत्र फारवर्ड' का स्वयं संचालन किया था। उनका व्यक्तित्व महान् था। अन्याय का विरोध करते के लिए वह हर

समय प्रस्तुत रहते थे। शत्रु पक्ष के मर्म-स्थान का पता लगाने में उन्हें बिलकुल देर नहीं लगती थी और उनकी राजनीतिक सफलता का यह एक बहुत बड़ा रहस्य था। आपकी मृत्यु पर देश भर में शोक-मनाया गया और महात्मा गाँधी ने आपका स्मारक बनाने के लिए 10 लाख रुपये का फंड एकत्रित किया था।

3. राष्ट्रीय आन्दोलन (गाँधी युग)

महात्मा गाँधी का राजनीति में प्रवेश—मोहनदास कर्मचन्द गाँधी का जन्म 2 अक्टूबर, 1869 ई. को काठियावाड़ के एक वैश्य परिवार में हुआ था। 1888 ई. में वे कानून का अध्ययन करने के लिए इंगलैंड गए और वहां से बैरिस्टरी पास कर स्वदेश लौटे। इंगलैंड में उन पर अंग्रेज जाति और संस्कृति की गहरी छाप पड़ गई थी। भारत में दो वर्ष वकालत करने के बाद वे एक गुजराती मुस्लिम व्यापारी के मुकदमे के सम्बन्ध में दक्षिण अफ्रीका गए। वहाँ उन्होंने अंग्रेजों की जाति भेद की बीभत्स नीति के प्रहार सहन किए और उन्होंने वहाँ के भारतीय लोगों को संगठित कर उन्हें अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करने के लिए तैयार किया। इस अनुभव से एक ओर तो यूरोपियन संस्कृति से उनकी निष्ठा समाप्त हो गई और दूसरी ओर उन्होंने सत्याग्रह द्वारा अन्याय और पराधीनता का विरोध करने का सफल परीक्षण किया। लगभग बीस वर्ष तक दक्षिण अफ्रीका में जीवन के अनेक परीक्षण कर वे 1915 ई. में भारत आ गए और 1920 ई. में लोकमान्य तिलक की मृत्यु के बाद राष्ट्रीय आन्दोलन के नेता बन गए।

गाँधीजी के राजनीतिक और सामाजिक विचार गाँधीजी ने मध्यमार्गियों और उग्रवादियों की नीति को छोड़कर एक सार्वजनिक जागरण और उत्थान का कार्यक्रम शुरू किया जो जीवन के सभी पक्षों की काया पलट करने के उद्देश्य को लेकर अग्रसर हुआ। विशेष रूप से उन्होंने सामाजिक और आर्थिक प्रश्नों को प्रमुखता दी। उनका कहना था कि पहले हमें दीन-दुखी-दरिद्र जनता की आर्थिक स्थिति को सुधारना है। उन्हें रोजगार और काम देना है। अंग्रेजी शासन में ऐसा करने की सुविधा नहीं है क्योंकि उन्होंने भारतीय उद्योग-धन्धों की कमर तोड़कर भारत को कृषि पर निर्भर कर दिया है और इनके विकास का कोई भी प्रयत्न नहीं किया गया। इस प्रकार आर्थिक प्रश्न राजनीतिक रूप ले लेता है, रोटी-कपड़े का सवाल देश की आजादी के साथ नत्थी हो जाता है। आर्थिक प्रश्न को हल करने के लिए कुटीर उद्योगों पर जोर दिया गया जिसका प्रतीक चरखा बना। अंग्रेजों की शक्ति को परास्त करने के लिए शान्तिपूर्वक असहयोग को अपनाया गया "अहिंसात्मक सत्याग्रह" के माध्यम से। एक कुशल राजनीतिज्ञ के नाते उन्होंने जान लिया था कि अंग्रेजी शासन को इन साधनों से परास्त किया जा सकता है। इनके साथ ही, देश की एकता के लिए सामाजिक समानता पर बल दिया गया। शोषित निम्न जातियों को समाज में सम्मानपूर्ण स्थान दिलवाने का प्रयत्न किया और स्त्रियों को आगे बढ़ाने का महान् कार्य किया। हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई – सभी को देश का नागरिक समझा और साम्प्रदायिकता तथा प्रांतीयता की भावना को छोड़कर सही अर्थ में

राष्ट्रीय भावना को सुदृढ़ बनाने का प्रयत्न किया। यह उनकी सबसे बड़ी देन थी। सत्य और अहिंसा उनके अमोघ शस्त्र थे।

सत्याग्रह आन्दोलन--भारतीय राजनीति में प्रवेश करते ही गांधीजी को रौलट-एक्ट का सामना करना पड़ा जिसके विरुद्ध समूचे देश में क्रोध और असंतोष की भावना फैल रही थी। गांधीजी ने भी देश के स्वर में अपना स्वर मिला दिया। परन्तु जैसा कि पं० नेहरू ने लिखा है कि, "वह स्वर अन्य स्वरों से भिन्न था। वह शांत एवं धीमा था, परन्तु फिर भी उसे भीड़ की चिल्लाहट से भी ऊपर सुना जा सकता था।" गांधीजी की स्वीकृति के साथ 30 मार्च 1919 को सर्वत्र सत्याग्रह-दिवस मनाया गया और यह पहला सत्याग्रह आन्दोलन 18 अप्रैल तक चला। इसी अवधि में जलियांवाला काण्ड हुआ। दिल्ली में भी कुछ अप्रिय घटनायें घटीं। अन्य सब स्थानों पर यह शान्तिपूर्वक चला और जनता में बहुत लोकप्रिय हुआ।

खिलाफत आन्दोलन—1919 ई में भारतीय मुसलमानों ने खिलाफत आन्दोलन छेड़ दिया था। युद्ध समाप्ति के बाद अंग्रेजों ने टर्की के खलीफा पद को समाप्त कर दिया था। यह मुसलमानों का धार्मिक मामला था और इसमें अंग्रेजी हस्तक्षेप से भारतीय मुसलमान भी उत्तेजित हो उठे थे। काँग्रेस ने भारतीय मुसलमानों की सहानुभूति प्राप्त करने की दृष्टि से खिलाफत आन्दोलन में अपना सहयोग प्रदान किया। इस आन्दोलन में खलीफा का पद तो पुनः कायम न हो पाया, काँग्रेस को अपने असहयोग-आन्दोलन में भारतीय मुसलमानों का सहयोग अवश्य मिल गया।

असहयोग आन्दोलन (1920-22 ई०)-इस समय तक गाँधीजी इस निष्कर्ष पर पहुँच गए थे कि अंग्रेजी सरकार के साथ सहयोग करना व्यर्थ है। अतः उन्होंने सरकार के प्रति असहयोग की नीति अपनाने का निर्णय लिया। 1919 में काँग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में असहयोग का प्रस्ताव रखा गया जिसे बहुमत ने स्वीकार कर लिया। केवल देशबन्धु चितरंजनदास और उनके साथियों ने इसका विरोध किया। परन्तु 1920 ई. के नागपुर-अधिवेशन में देशबन्धु ने भी इसका समर्थन किया और काँग्रेस ने गाँधीजी के नेतृत्व में असहयोग आन्दोलन चलाने की स्वीकृति दे दी। इस अवसर पर हिन्दू और मुसलमानों ने मिलकर काम किया। सम्पूर्ण आन्दोलन अहिंसा पर आधारित था। समूचे देश में अहसयोग की लहर चल पड़ी। विदेशी वस्तुओं, सरकारी अदालतों, शिक्षण संस्थाओं और सरकारी सेवाओं तथा उपाधियों का बहिष्कार किया गया। गुजरात, काशी, बंगाल, पंजाब और दिल्ली में राष्ट्रीय शिक्षण संस्थाएँ स्थापित की गईं। विदेशी वस्तुओं को बेचने वाली दुकानों पर धरना दिया गया और बीस लाख चरखे काम में लाए गए। स्वदेशी खादी का प्रचार किया गया आन्दोलन जोरों पर था। तभी 'चौरी-चौरा" नामक स्थान पर एक हिंसक घटना घट गई। वहाँ काँग्रेस का एक जुलूस नियन्त्रणहीन हो गया और भीड़ ने एक पुलिस थाने को आग लगा दी जिसके फलस्वरूप एक थानेदार और 21 सिपाहियों की मृत्यु हो गई। अहिंसा का पुजारी बापू इसे सहन नहीं कर पाया, और तुरन्त

असहयोग आन्दोलन स्थगित कर दिया । उसके निर्णय से जनता स्तब्ध रह गई । कई लोग जिनमें कायदे आजम जिन्ना और दामोदर सावरकर भी थे, कांग्रेस से अलग हो गए । गाँधीजी को 6 वर्ष का कारावास दिया गया, परन्तु बीमारी के कारण उन्हें दो वर्ष बाद ही रिहा कर दिया गया । यद्यपि यह आन्दोलन सफल न हो पाया, परन्तु इसने कांग्रेस के आन्दोलन को जन-आन्दोलन बना दिया और अब कांग्रेस अधिकांश भारतीय जनता की पार्टी बन गई । राष्ट्रीय भावना का एकीकरण हो गया ।

स्वराज्य पार्टी—असहयोग आन्दोलन का ध्येय था सरकार के प्रति असयोग । आन्दोलन समाप्त हो गया । अब यह प्रश्न उठा कि 1919 ई. के नए अधिनियम के अन्तर्गत कांग्रेसियों को व्यवस्थापिका सभाओं में जाना चाहिए अथवा नहीं । गाँधीजी और अधिकांश नेता इसके पक्ष में न थे । परन्तु पं. मोतीलाल नेहरू और देशबन्धु चितरंजनदास का कहना था कि कांग्रेसियों को व्यवस्थापिका सभाओं में जाना चाहिए और वहाँ असहयोग की नीति अपनाकर प्रशासन व्यवस्था को ठप्प करने का प्रयत्न करना चाहिए । परन्तु कांग्रेस ने इनकी बात को स्वीकार नहीं किया और उन्होंने एक नवीन दल "स्वराज्य दल" की स्थापना करके चुनावों में भाग लिया जिसमें उन्हें काफी सफलता मिली । 5-6 वर्षों तक इस दल ने व्यवस्थापिका सभाओं में 1919 के सुधारों की निरर्थकता को सिद्ध करने में आशातीत सफलता प्राप्त की ।

साइमन कमीशन—जेल से रिहा होने के बाद गाँधीजी देश के रचनात्मक कार्य में जुट गए थे । परन्तु 1926 ई. में उन्हें पुनः राजनीति के क्षेत्र में आना पड़ा । उन्हीं दिनों ब्रिटिश सरकार ने उत्तरदायी शासन की जाँच के लिए सर साइमन की अध्यक्षता में एक कमीशन भारत भेजा था । इस आयोग का एक भी सदस्य भारतीय नहीं था । अतः कांग्रेस ने आयोग का बहिष्कार और विरोध किया । सारे देश में साइमन कमीशन को काले झण्डे दिखाए गए, हड़ताल की गई और 'साइमन वापस जाओ' के नारे लगाये गये । सरकार ने भी इसका कड़ा दमन किया और प्रदर्शनकारियों पर जगह-जगह लाठी चार्ज हुए । ऐसे ही लाठी चार्ज में पंजाब केसरी लाला लाजपतराय बुरी तरह घायल हुए और थोड़े ही दिनों बाद उनकी मृत्यु हो गई । लालाजी की मृत्यु का बदला भगतसिंह एवं चन्द्रशेखर आजाद आदि ने लाहौर के पुलिस सुपरिन्टेन्डेंट सॉंडर्स की हत्या से चुकाया । इसी अवधि में लौह पुरुष बल्लभ भाई पटेल के नेतृत्व में बारदोली में किसान सत्याग्रह चलाया गया और दिल्ली के एक सर्वदलीय सम्मेलन ने भारत के लिए एक संविधान की रूपरेखा बनाने के लिए पं. मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की । इस समिति ने एक संविधान तैयार किया और सुधारों के स्थान पर पूर्ण स्वराज्य की माँग रखी गई ।

पूर्ण स्वराज्य की माँग—31 दिसम्बर, 1929 ई. को कांग्रेस ने अपने लाहौर अधिवेशन जिसकी अध्यक्षता पं जवाहरलाल नेहरू ने की थी, में पूर्ण स्वराज्य

के प्रस्ताव को स्वीकार करते हुए उसी दिन की मध्य रात्रि को रावी नदी के तट पर पूर्ण स्वतन्त्रता का ध्वज फहरा दिया। कांग्रेस ने प्रत्येक 26 जनवरी को स्वतन्त्रता दिवस ममाने का निश्चय भी किया। 26 जनवरी, 1930 ई. को पं. जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में सम्पूर्ण देश में स्वतन्त्रता दिवस मनाया गया। तब से आजादी की प्राप्ति तक 26 जनवरी का दिन स्वतन्त्रता दिवस के रूप में मनाया जाता रहा। इसी ऐतिहासिक महत्त्व के कारण स्वाधीन भारत ने 26 जनवरी 1950 ई. को अपना गणतन्त्रीय संविधान लागू किया था।

सविनय अवज्ञा आन्दोलन—लाहौर अधिवेशन के बाद गांधीजी ने भारत के वायसराय के सामने अपनी माँग प्रस्तुत की और उन्हें स्वीकार न किए जाने पर "सविनय अवज्ञा आन्दोलन" को शुरू करने का अपना निश्चय भी बता दिया। वायसराय ने उनकी माँगों पर कोई विचार नहीं किया। 12 मार्च, 1930 ई. को महात्मा गांधी ने अपनी प्रसिद्ध डाण्डी (डाण्डी) यात्रा आरम्भ की और 24 दिन में 200 मील की पैदल यात्रा करके 6 अप्रल को डाण्डी पहुँच कर स्वयं नमक तैयार करके नमक कानून को तोड़ा। गाँधीजी, सरदार पटेल, जवाहरलाल नेहरू आदि कई नेताओं को जेल में ठूँस दिया गया। परन्तु जनता ने विभिन्न स्थानों पर नमक कानून को तोड़ा, विदेशी सामान का बहिष्कार किया और शराब की दुकानों पर धरना दिया। सरकार ने भी आन्दोलन को तोड़ने में कसर बाकी न रखी। कांग्रेस को गैर-कानूनी घोषित कर दिया गया और लगभग एक लाख लोगों को गिरफ्तार किया गया। इस आन्दोलन में सीमांत गांधी खान अब्दुलगफ्फार खाँ और उनके अनुयायी 'खुदाई खिदमतगारों' ने महत्त्वपूर्ण भाग लिया। सरकार ने लंदन में प्रथम गोलमेज सम्मेलन का आयोजन (1930) किया। लेकिन कांग्रेस के हिस्सा न लेने पर यह असफल रहा और भारत में आन्दोलन जारी रहा। विवश होकर सरकार को झुकना पड़ा और गांधीजी के साथ समझौता करना पड़ा जो 'गांधी इरविन पैक्ट' के नाम से प्रसिद्ध है। इसके बाद भारत के भविष्य पर विचार करने के लिए लन्दन में दूसरे गोलमेज सम्मेलन का आयोजन किया गया। गांधीजी कांग्रेस के एक मात्र प्रतिनिधि की हैसियत से इसमें भाग लेने गए। परंतु वे निराशा के साथ वापस लौटे। सरकार हरिजनों को हिंदुओं से अलग करने पर तुली हुई थी और गांधीजी को यह स्वीकार्य न था। स्वदेश लौटते ही गांधीजी को जेल में ठूँठ दिया गया। फिर आन्दोलन चला और सरकार का दमन चक्र शुरू हुआ। ब्रिटिश सरकार ने कम्यूनल अवार्ड (साम्प्रदायिक निर्णय) की घोषणा कर दी जिनके द्वारा हरिजनों को पृथक् निर्वाचन क्षेत्र प्रदान किए गए। इस पर गांधीजी ने आमरण अनशन शुरू कर दिया। 21 दिन तक उनका अनशन जारी रहा। बाद में हरिजन नेताओं—डॉ० अम्बेदकर आदि के बीच में पड़ने से सरकार और गांधीजी में समझौता हो गया जो 'पूना पैक्ट' के नाम से प्रसिद्ध है। इसके अनुसार हिन्दुओं के अन्तर्गत ही हरिजनों के लिए व्यवस्थापिका सभाओं में स्थान सुरक्षित रखना स्वीकार किया गया। साम्प्रदायिकता के विरुद्ध यह बापू की शानदार जीत थी। इसी समय के आस-पास लंदन में तीसरा

गोलमेज सम्मेलन बुलाया गया था, परन्तु कांग्रेस के सम्मिलित न होने से वह, असफल रहा।

कौंसिल प्रवेश—1935 ई. में ब्रिटिश संसद ने भारत के लिए नया संविधान लागू किया और 1937 ई. में इस आधार पर प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओं के लिए निर्वाचन कराए गए। कांग्रेस ने भी निर्वाचनों में भाग लिया। 11 में से 8 प्रांतों में कांग्रेस को बहुमत मिला, 2 से मुस्लिम लीग को और 1 में दोनों का समान प्रभाव रहा। कांग्रेस ने 6 प्रांतों में अपने मंत्रिमंडल और 3 में संयुक्त मंत्रिमण्डल बनाए और राजनैतिक कैदियों को रिहा किया। 1938 ई. में नेताजी सुभाषचन्द्र बोस कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गए। 1939 ई. में उन्हें पुनः अध्यक्ष चुना गया। वे भारतीय युवकों और उग्रवादियों के नेता थे। सरकार से हर सम्भव उपाय से पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करना उनका मुख्य ध्येय था। वे गांधीजी से प्रभावित अवश्य थे, परंतु उनकी नीति में विश्वास नहीं रखते थे। इसलिए सुभाष और गांधीजी के अनुयायियों में नहीं बनी। कांग्रेस में मतभेद न बढ़े इसलिए नेताजी ने अध्यक्ष पद से त्याग-पत्र दे दिया और अपना अलग दल बनाया जो 'फारवर्ड ब्लाक' कहलाया।

द्वितीय महायुद्ध और भारतीय दृष्टिकोण—1939 ई. में द्वितीय महायुद्ध शुरू हो गया और ब्रिटिश सरकार ने भारतीय नेताओं से पूछे बिना ही भारत को युद्ध में घसीट लिया। इस पर कांग्रेस ने सरकार से युद्ध के उद्देश्यों के स्पष्टीकरण की माँग की। सरकार ने उसकी माँग को ठुकरा दिया जिस पर सम्पूर्ण कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने अपने पदों से त्याग-पत्र दे दिया। सरकार को भारतीयों के सहयोग की आवश्यकता थी, परन्तु कांग्रेस की माँग थी कि सरकार यह आश्वासन दे कि युद्ध के बाद भारत को स्वतंत्र कर दिया जायेगा। इसके उत्तर में ब्रिटिश सरकार के प्रधानमंत्री चर्चिल ने घोषणा की कि वह अंग्रेजी साम्राज्य को छिन्न-भिन्न करने के लिये ब्रिटेन का प्रधानमंत्री नहीं बना है। इस पर कांग्रेस ने व्यक्तिगत सत्याग्रह छेड़ दिया। उधर मुस्लिम लीग ने परिस्थितियों का लाभ उठाते हुए 1940 ई. में सरकार के सामने पाकिस्तान की माँग प्रस्तुत कर दी। वस्तुतः कांग्रेस की नम्रता और अंग्रेजों के प्रोत्साहन से मुस्लिम लीग की साम्प्रदायिकता तेजी से बढ़ने लग गई थी और अब मुसलमानों के लिए एक पृथक् राष्ट्र 'पाकिस्तान' की माँग मुस्लिम लीग का प्रमुख उद्देश्य बन गई थी।

क्रिप्स मिशन—द्वितीय महायुद्ध में जापान के प्रवेश से अंग्रेजों की स्थिति खराब हो गई। जापान तेजी के साथ पूर्वी एशिया में आगे बढ़ने लग गया था। अतः सरकार ने एक बार पुनः भारतीयों को संतुष्ट करने का प्रयत्न किया और सर स्टेफर्ड क्रिप्स के नेतृत्व में एक मिशन भारत भेजा गया। क्रिप्स ने लगभग सभी प्रमुख भारतीय नेताओं से बातचीत की और उन्हें ब्रिटिश-राष्ट्रमण्डल के अन्तर्गत पूर्ण औपनिवेशिक स्वराज्य का आश्वासन दिया। परन्तु इसमें अप्रत्यक्ष रूप से पाकिस्तान की माँग भी निहित थी और भारत की सुरक्षा के लिए जो व्यवस्था की गई वह

कांग्रेस की पसन्द नहीं थी। गांधीजी ने इसे "यह एक आगे की तारीख का चैक था जिसका बैंक भी नष्ट होने वाला था" कह कर ठुकरा दिया। मुस्लिम लीग ने भी क्रिप्स के प्रस्तावों को ठुकरा दिया क्योंकि उसमें स्पष्ट रूप से पाकिस्तान की मांग स्वीकार नहीं की गई थी। इस प्रकार क्रिप्स मिशन असफल रहा।

भारत छोड़ो आन्दोलन—क्रिप्स मिशन की असफलता से भारत में जबरदस्त प्रतिक्रिया हुई। उधर जापान ब्रह्मा तक बढ़ आया और बंगाल तथा असम पर उसके आक्रमण की सम्भावना बढ़ती जा रही थी। ऐसी परिस्थिति में कांग्रेस ने अंग्रेजों से "भारत छोड़ो" कहने का निश्चय किया। 8 अगस्त 1942 ई. को कांग्रेस कार्य समिति ने "भारत छोड़ो" प्रस्ताव स्वीकार किया। महात्मा गाँधी ने 'करो या मरो' का नारा लगाया। इधर प्रस्ताव पास हुआ और उधर कुछ ही घण्टों बाद सरकार का भयंकर दमन चक्र चला। कांग्रेस के सभी प्रमुख नेताओं को जेल में ठूंस दिया गया। कांग्रेस को पुनः गैर-कानूनी घोषित कर दिया गया। इसके विरोध में सम्पूर्ण भारत उठ खड़ा हुआ। जुलूस निकाले गए। हड़तालें की गयीं और सार्वजनिक सभाओं का आयोजन किया गया। कुछ स्थानों पर हिंसात्मक कार्यवाहियाँ भी हुयीं। विद्यार्थियों के सम्मिलित हो जाने के बाद तोड़-फोड़ की कार्यवाहियां काफी बढ़ गईं। गांधीजी को इससे गहरा दुःख हुआ। उन्होंने 21 दिन का उपवास किया।

मुस्लिम लीग को कांग्रेस का यह आन्दोलन पसन्द नहीं आया। उसका सोचना था कि कांग्रेस सरकार को आतंकित कर सम्पूर्ण भारत की सत्ता हथियाना चाहती है। लीग की दृष्टि में कांग्रेस की सत्ता का अर्थ हिन्दू सत्ता था। अतः उसने इस अवसर हर आन्दोलन से अपने को पृथक् रखा। हिन्दू महासभा अवसर की प्रतीक्षा करती रही। साम्यवादियों को भी यह आन्दोलन पसन्द नहीं आया क्योंकि उसका मानना था कि इससे मित्र राष्ट्रों के हाथ कमजोर होंगे। अतः उसने भी सहयोग नहीं दिया। केवल समाजवादी दल ने इस आन्दोलन को न केवल समर्थन ही दिया अपितु संचालन भी किया। खुला विद्रोह दबा दिया गया, परन्तु जयप्रकाश नारायण, राममनोहर लोहिया, अरुणा आसफअली आदि नेताओं ने भूमिगत रहते हुए इसको चालू रखा।

स्वतन्त्रता प्राप्ति—1944 ई. में लॉर्ड वैवेल वायसराय बनकर आया। इसी वर्ष गांधीजी को रिहा कर दिया गया और धीरे-धीरे दूसरे नेताओं को भी रिहा कर दिया गया। इस समय अंग्रेजों की स्थिति बहुत नाजुक हो चुकी थी। नेताजी सुभाषचन्द्र बोस के नेतृत्व में आजाद हिन्द सेना (आई. एन. ए.) कोहिमा तक आ पहुँची थी। इसलिए सरकार ने भारतीय नेताओं के सामने वैवेल योजना रखी जो स्वीकार्य न हुई। तदुपरांत शिमला सम्मेलन का आयोजन किया गया, परंतु वह भी असफल रहा।

शिमला सम्मेलन की असफलता के बाद "कैबिनेट मिशन" भारत आया (1946 ई. में)। इस समय तक महायुद्ध समाप्त हो चुका था और इंगलैण्ड में एटली

के नेतृत्व में मजदूर-दल की सरकार बन चुकी थी। भारत में आन्दोलन जारी था। जल सेना के विद्रोह से सरकार चिन्तित हो उठी थी। महायुद्ध ने ब्रिटेन की शक्ति को भी कमजोर बना दिया था और उस पर अरबों रुपयों का कर्ज हो गया था। उधर इंग्लैंड पर अन्तर्राष्ट्रीय (विशेषकर अमेरिका का) दबाव बढ़ रहा था— भारत के साथ समझौता करने के लिए। ऐसी परिस्थितियों में एटली ने भारत को पूर्ण स्वतन्त्रता देने की बात स्वीकार कर ली और इस सम्बन्ध में भारतीय नेताओं से बातचीत करने के लिए कैबिनेट (मन्त्रिमण्डल) स्तर के तीन मन्त्रियों को भारत भेजा। काफी वाद-विवाद के बाद सभी राजनीतिक दलों ने कैबिनेट मिशन की योजना को स्वीकार कर लिया। योजना के अन्तर्गत भारत में एक संघीय राज्य की स्थापना की व्यवस्था की गई थी। इसी योजना के आधार पर संविधान-सभा के लिए चुनाव हुए जिसमें कांग्रेस को 199 स्थान और मुस्लिम लीग को 73 स्थान मिले।

सितम्बर, 1946 में पं. जवाहरलाल नेहरू ने अस्थाई सरकार का प्रधानमंत्री पद सम्भाला। प्रारम्भ में लीग उनके मन्त्रिमण्डल में सम्मिलित नहीं हुई और उसने पाकिस्तान की मांग को बल प्रदान करने के लिए 'प्रत्यक्ष कार्यवाही' (डायरेक्ट एक्शन) का सहारा लिया। इसके फलस्वरूप देश के अनेक भागों में भयंकर साम्प्रदायिक दंगे हुए। अक्तूबर में मुस्लिम लीग भी नेहरू मंत्रिमण्डल में शामिल हो गई परन्तु उनका ध्येय नेहरू मंत्रिमण्डल को सहयोग देना नहीं था अपितु अड़ंगे डालकर उसे असफल बनाने का था।

एसी स्थिति में, 20 फरवरी, 1947 को एटली ने घोषणा की कि जून 1948 तक भारत को पूर्ण स्वाधीन कर दिया जाएगा। इसी समय लॉर्ड माउन्ट बैटन को वायसराय बनाकर भारत भेजा गया। उन्होंने भारतीय नेताओं से बातचीत की और इस निर्णय पर पहुंचे कि भारत का विभाजन अनिवार्य है। 3 जून, 1947 को उन्होंने एक योजना प्रस्तुत की जिसके अनुसार भारत का विभाजन हुआ और पाकिस्तान की बात मान ली गई। इसमें आत्म निर्णय का सिद्धान्त स्वीकार किया गया। जनमत द्वारा यह निश्चिय हुआ कि पश्चिमी पंजाब, उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त, सिन्ध और पूर्वी बंगाल पाकिस्तान में रहेंगे और शेष प्रान्त भारतीय संघ में।

4 जुलाई, 1947 को ब्रिटिश संसद ने उपर्युक्त योजना के आधार पर "भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम" पास कर दिया और 18 जुलाई को वह कानून बन गया। तदनुसार 15 अगस्त, 1947 से भारत में ब्रिटिश सत्ता का अंत हो गया और भारत तथा पाकिस्तान—दो स्वतन्त्र राज्यों का निर्माण हुआ। दोनों राज्यों के अन्तर्गत भारतीय रियासतों को इस बात की स्वतंत्रता दी गई कि वे चाहें तो भारत अथवा पाकिस्तान में सम्मिलित हो सकते हैं या स्वतंत्र इकाई के रूप में रह सकते हैं। गांधीजी इस योजना से संतुष्ट न थे परन्तु अधिकांश कांग्रेसी नेताओं के रुख को देखते हुए उन्हें चुप रहना पड़ा। इस प्रकार दीर्घ संघर्ष के बाद भारतीयों को स्वतंत्रता मिली और इसे दिलवाने में कांग्रेस का तथा महात्मा गांधी का मुख्य योगदान रहा।

4. राष्ट्रीय आन्दोलन और क्रान्तिकारी दल

हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन में क्रान्तिकारी दल का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। महात्मा गाँधी के अहिंसावादी प्रचार के कारण उनकी गतिविधियाँ धीरे-धीरे कम होती गईं और आज अधिकांश लोग उन शहीद क्रान्तिकारियों जिन्होंने आजादी के लिए अपने प्राण न्यौछावर कर दिये, भूल भी चुके हैं। परन्तु इतिहास उन दीवाने देश भक्तों की कहानी को कभी नहीं भुला सकता।

भारत में क्रान्तिकारी दल का आरम्भ उन्नीसवीं सदी के अंत में सर्वप्रथम महाराष्ट्र में हुआ। दामोदर तथा बालकृष्ण चपेकर नामक दो भाइयों ने 1895 ई. में पूना में एक संस्था स्थापित की। दामोदर ने पूना के तत्कालीन कमिश्नर रैंड तथा लेएर्स्ट को गोली मारकर खत्म कर दिया। दोनों भाइयों को मृत्यु दंड की सजा मिली। महाराष्ट्र से क्रांतिकारी दल बंगाल पहुंचा। बंगाल में इस दल के नेता थे बारीन्द घोष और स्वामी विवेकानंद के भाई भूपेन्द्रनाथ दत्त। इन लोगों का कहना था कि भारत में अंग्रेजों की संख्या आटे में नमक के बराबर है। यदि सभी भारतीय मिल-जुलकर एक हो जायें तो अंग्रेजों को भारत से खदेड़ना कोई कठिन काम नहीं है। अपने जीवन का बलिदान करदो, किन्तु उससे पहले एक अंग्रेज का जीवन ले लो। 1908 ई. में दल के लोगों ने एक अंग्रेज जज के धोखे में दो अंग्रेज स्त्रियों की हत्या करदी। इस मामले में खुदीराम को फांसी की सजा मिली। बहुत से क्रांतिकारी पकड़े गये जिनमें बारीन्द्र घोष तथा अरविन्द घोष भी थे। मुकदमे की पैरवी करने वाले सरकारी अंग्रेजी वकील को गोली से मार दिया गया। खुदीराम को गिरफ्तार करने वाले पुलिस अधिकारी को भी मौत के घाट उतार दिया गया।

दक्षिण भारत में विनायक दामोदर सावरकर और उनके भाई गणेश ने बहुत काम किया। उनका लन्दन में निवास करने वाले क्रांतिकारी श्यामजी कृष्ण वर्मा से घनिष्ठ सम्पर्क था। श्यामजी वहाँ से क्रांतिकारियों को हथियार आदि भेजा करते थे। 1909 ई. में नासिक के मजिस्ट्रेट जेक्सन को गोली से उड़ा दिया गया। 1911 ई. में तिनकेली के अंग्रेज मजिस्ट्रेट को भी कत्ल कर दिया गया। 1912 ई. में दिल्ली दरबार के अवसर पर गवर्नर जनरल लार्ड हार्डिंग्ज पर बम फैंका गया। और अगले वर्ष लाहौर में एक यूरोपीय क्लब पर बम फैंका गया। इसके बाद भगत सिंह और चन्द्रशेखर आजाद का जमाना आया जिनके साहसिक कार्यों ने अंग्रेजी सरकार को हिला दिया। महात्मा गाँधी के प्रभाव के कारण क्रान्तिकारी दल की गतिविधियाँ धीरे-धीरे कम हो गईं। फिर भी, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि इन बहादुर लोगों ने हमारे देशवासियों में राष्ट्रीय भावना को जागृत करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की।

5. राजस्थान में राष्ट्रीय आन्दोलन की लहर

राजस्थान में राष्ट्रीय आन्दोलन की लहर बंग-भंग के पश्चात् ही पहुंच पायी क्योंकि राजाओं ने अंग्रेज सरकार के आदेश से अपने राज्यों में राजनीतिक जागृति

का बीज पनपने ही नहीं दिया। परन्तु बंग-भंग आन्दोलन के समय समूचे देश में जब क्राँतिकारी हलचल मच गई तो राजस्थान भी उसके प्रभाव से अछूता न रह सका। जयपुर के अर्जुनलाल सेठी के नेतृत्व में राजस्थान में भी क्रान्तिकारी दल की शाखा संगठित की गई और इसमें देशभक्त नवयुवकों ने काफी महत्त्वपूर्ण भाग लिया। शाहपुरा के ठाकुर केसरीसिंह बारहठ ने भी क्रान्तिकारियों का नेतृत्व किया। उन्हें आजन्म कारावास की सजा दी गई। उनके वीर पुत्र प्रताप को भी जेल में ठूँस दिया गया और जेलखाने में ही उनकी मृत्यु हो गयी। खरवा के राव गोपाल सिंह और ब्यावर के सेठ दामोदरदास राठी ने भी क्रान्तिकारी दल को संगठित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की।

महात्मा गाँधी ने हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन को नया मोड़ दिया। फिर भी, वे उस समय भारतीय राज्यों के घरेलू मामलों में हस्तक्षेप करना नहीं चाहते थे। अतः राजनीतिक आन्दोलन का क्षेत्र अजमेर-मेरवाड़ा तक ही सीमित रहा जो सीधे अंग्रेजी शासन के अन्तर्गत था। राजपूताना और मध्य भारत के देशी राज्य अजमेर की प्रान्तीय कांग्रेस से जोड़ दिये गये। 1921 ई. में अजमेर-मेरवाड़ा ने असहयोग आन्दोलन में खूब नाम कमाया। जब समूचे देश में सविनय अवज्ञा आन्दोलन शुरू हुआ तो अजमेर-मेरवाड़ा के निवासियों ने भी उसमें भाग लिया। आस-पास के देशी राज्यों से कई कांग्रेसी जत्थों ने अजमेर में आकर स्वाधीनता यज्ञ में अपनी भूमिका अदा की।

राजाओं और जागीरदारों के शोषण तथा अत्याचार के विरुद्ध पहला मोर्चा मेवाड़ के बिजोलिया ठिकाने के किसानों ने लिया। यहाँ के किसानों ने राजस्थान के इतिहास में पहली बार संगठित होकर 1918 ई. में सामूहिक सत्याग्रह के शस्त्र से संघर्ष शुरू किया और जुल्म तथा अत्याचार से न घबराकर मोर्चे पर डटे रहे। अन्त में उन्हें अपने ध्येय में सफलता मिली। इस आँदोलन का नेतृत्व विजयसिंह पथिक ने किया था। बिजोलिया आंदोलन का राजस्थान के दूसरे स्थानों पर भी प्रभाव पड़ा और स्थान-स्थान पर सामंतों तथा अधिकारियों के शोषण के विरुद्ध प्रदर्शन शुरू हो गये। परंतु देशी सरकारों ने पाशविक क्रूरता से आंदोलन को कुचल दिया।

सन् 1919 ई. में राजस्थान सेवा संघ का केन्द्र वर्धा से अजमेर आ गया। संघ ने 'राजस्थान केसरी' नामक पत्र निकाल कर जनता में राष्ट्रीय विचारों का प्रसार शुरू किया। परंतु सरकार ने उस पर प्रतिबंध लगा दिया। तब 'तरुण-राजस्थान' नामक पत्र निकाला गया। इस पत्र के द्वारा राजाओं और सामंतों के अत्याचारों को समूचे देश के सामने रखने का प्रयत्न किया गया। 1925 ई. में अलवर रियासत ने नया बंदोबस्त करवाया और लगान की दर को बढ़ा दिया। राजपूत किसानों से बिस्वेदारी के हक भी छीन लिए गये। इस पर लोगों में असंतोष फैल गया। नीमूचाणा इस असंतोष का मुख्य कारण बना। अलवर की सेना ने

बिना किसी चेतावनी के इस गाँव को घेर लिया और दो घण्टे तक गोलियाँ चलाई गईं जिसमें लगभग 100 व्यक्ति मारे गये।

हरिपुरा कांग्रेस ने देशी रियासतों के लोगों को सलाह दी कि उन्हें अपने अधिकारों के लिए अपने पैरों पर खड़ा होना चाहिये। इससे राज्यों के आन्दोलन को बल मिला और लगभग सभी राज्यों में प्रजामण्डल कायम किये गये। देशी राज्यों ने प्रजामण्डलों के मार्ग में अनेक रुकावटें डालीं। इस पर प्रजामण्डल ने सत्याग्रह का रास्ता अपनाया। जयपुर में ऐसे सत्याग्रह का नेतृत्व सेठ जमनालाल बजाजने किया। प्रजामण्डल के नेतृत्व में जैसलमेर, जयपुर, जोधपुर, अलवर, भरतपुर, कोटा, बूँदी आदि राज्यों में आन्दोलन हुये। राज्य सरकारों ने भी सख्ती के साथ उसका दमन किया। प्रजामण्डल के सदस्यों एवं उनके समर्थकों को जेलों में ठूंस दिया गया जहाँ उन पर बर्बर अत्याचार किये गये। जोधपुर जेल में बालमुकन्द बिस्सा की ऐसे ही अत्याचारो से मृत्यु हो गयी। जैसलमेर जेल में सागरमल गोपा को मिट्टी का तेल डालकर जला दिया गया। भरतपुर के सत्याग्रही रमेश गोस्वामी के ऊपर पुलिस ने ट्रक चला कर मार डाला। 1942 ई. के आन्दोलन में भी प्रजामण्डलों ने महत्वपूर्ण भाग लिया। श्री हीरालाल शास्त्री, जयनारायण व्यास, माणिक्यलाल वर्मा, गोकुल भाई भट्ट, मास्टर आदित्येन्द्र आदि नेताओं ने राजस्थान में राष्ट्रीय आन्दोलन की मशाल को जलाये रखा।

अभ्यास के लिए प्रश्न

1. राष्ट्रीय आन्दोलन के मुख्य कारणों का वर्णन कीजिए।
2. अखिल भारतीय कांग्रेस की स्थापना किस उद्देश्य से की गई थी। प्रथम महायुद्ध के समय तक इसकी गतिविधियों का उल्लेख कीजिए।
3. महात्मा गांधी के नेतृत्व में राष्ट्रीय आन्दोलन की मुख्य घटनाओं का उल्लेख कीजिए।
4. राजस्थान में राष्ट्रीय आन्दोलन के विकास का विवरण दीजिये।

अपने अध्ययन की जाँच कीजिए

1. सही उत्तर का क्रमांक कोष्ठक में लिखिए—

   1. इलबर्ट बिल का विरोध किया था?
      (क) मुसलमानों ने (ख) हिन्दुओं ने
      (ग) सिक्खों ने (घ) यूरोपियनों ने ( )

   2. कांग्रेस का संस्थापक कौन था?
      (क) महात्मा गांधी (ख) ए. ओ. ह्यूम
      (ग) लोकमान्य तिलक (घ) दादाभाई नौरोजी ( )

   3. कांग्रेस के किस अधिवेशन के समय उसमें फूट पड़ गई थी?
      (क) बम्बई (ख) कलकत्ता
      (ग) सूरत (घ) लाहौर ( )

4. "स्वराज्य मेरा जन्म सिद्ध अधिकार है।" ये शब्द किस नेता ने कहे थे ?
   (क) गोखले (ख) तिलक
   (ग) महात्मा गांधी (घ) सुभाषचन्द्र बोस ( )
5. 'देशबन्धु' के नाम से कौन प्रसिद्ध था ?
   (क) लाजपत राय (ख) चितरंजन दास
   (ग) विपिनचन्द्र बोस (घ) मोतीलाल नेहरू ( )

2. एक-एक पंक्ति में उत्तर दीजिये—
   1. 1876–77 में जब भारत में अकाल पड़ा था तब ब्रिटिश सरकार ने क्या किया ?
   2. मुस्लिम लीग की स्थापना किसके प्रोत्साहन से हुई थी ?
   3. जनरल डायर ने किस स्थान पर अपनी बर्बरता का परिचय दिया था ?
   4. होमरूल आन्दोलन को चलाने वाले कौन थे ?
   5. "चोरी-चोरा" घटना का राष्ट्रीय आन्दोलन से क्या सम्बन्ध है ?
   6. पूना पैक्ट की मुख्य विशेषता क्या थी ?
3. पाँच-सात पंक्तियों में उत्तर दीजिये—
   1, ब्रिटिश शासन की कौनसी कारतूसों ने राष्ट्रीय आन्दोलन के उदय में योग दिया था।
   2. कांग्रेस और मुसलिम लीग का समझौता किन शर्तों पर हुआ था ?
   3. स्वराज्य पार्टी की स्थापना किस ध्येय को लेकर की गई थी ?
   4. पूर्ण स्वतन्त्रता की मांग कब और कहां की गई थी ?
   5. राष्ट्रीय आन्दोलन में क्रान्तिकारियों का क्या योगदान रहा ?
4. भारत के मानचित्र में राष्ट्रीय आन्दोलन से सम्बन्धित मुख्य केन्द्रों को बताइये।

पूरक अध्ययन के लिए ग्रन्थ

1. डॉ. पी. सीतारमैया : भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का इतिहास, भाग 1–2
2. सी. घोष : दी डवलपमेंट ऑफ इण्डियन नेशनल कांग्रेस।
3. आर. सी. मजूमदार : हिस्ट्री ऑफ दी फ्रीडम मूवमेंट ऑफ इण्डिया, भाग 1–3
4. लियोनार्ड भोसले : भारत में ब्रिटिश राज्य के अन्तिम दिन।
5. दुर्गादास : भारत : कर्जन से नेहरू और उसके पश्चात्।

14. भारत और संसार (1947-64)

भारत के नागरिक होने के नाते हमारा यह महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य है कि हम अपने देश की विदेश नीति को भली प्रकार समझें और देखें कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में हमारा क्या स्थान है और हम विश्वशांति एवं व्यवस्था को कायम रखने में कहां तक सहायक रह सकते हैं।

विदेश नीति के निर्धारक तत्त्व–किसी भी देश की विदेश नीति कुछ निर्धारक तत्त्वों के आधार पर विकसित होती है। भारत की विदेश नीति को ढालने में भौगोलिक, आर्थिक, ऐतिहासिक, राष्ट्रीय हित इत्यादि निर्धारक तत्त्वों का महत्त्वपूर्ण योग रहा है।

"भारत की विदेश नीति में भौगोलिक परिस्थितियों की कितनी महत्त्वपूर्ण भूमिका है, इसका आभास पं० नेहरू के इन शब्दों से होता है 'हम एशिया के सामरिक दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण भाग हिन्द महासागर के मध्य निवास करते हैं। पश्चिमी एशिया, दक्षिण-पूर्वी एशिया और सुदूरपूर्व एशिया के साथ हमारे सम्बन्ध रहे हैं। यदि हम चाहें तो भी इस तथ्य की उपेक्षा नहीं कर सकते।' बात सही है। भौगोलिक स्थिति के हिसाब से हम साम्यवादी संसार (रूस और चीन) के अधिक निकट हैं। अपने पड़ोसी राष्ट्रों के साथ ठीक तरह से रहने की नीति अपनानी आवश्यक होती है। दूसरी तरफ, हम इस तथ्य की भी अवहेलना नहीं कर सकते कि पश्चिमी राष्ट्रों की नौ-सेना हिन्दमहासागर और संसार के अधिकाँश सागरों पर हावी हो और हमारे विरुद्ध निरन्तर शत्रुता का भाव रखने वाले हमारे पड़ोसी राष्ट्र पाकिस्तान को उनका उचित-अनुचित समर्थन प्राप्त है। ऐसी स्थिति में हमारे लिए तटस्थता की नीति अपनाना नितान्त आवश्यक हो जाता है।"

"हमारी आर्थिक स्थिति भी हमारी विदेश नीति का एक निर्धारक तत्त्व है। भारत एक पिछड़ा देश है। ब्रिटिश सरकार ने अपने लाभ की दृष्टि से इसे एक कृषि पर निर्भर उपनिवेश की स्थिति में धकेल दिया था। स्वतन्त्रता के उपरान्त भारत को औद्योगिक एवं आर्थिक विकास के लिए पश्चिम के पूँजीवादी देशों से आर्थिक सहायता लेनी आवश्यक थी। खाद्यान्न के मामले में भी भारत की स्थिति पूर्ण रूप से सन्तोषजनक नहीं रही। इसके लिए भी उस समय अमेरिका, कनाडा आदि पश्चिमी देशों पर निर्भर होना पड़ा। ऐसी स्थिति में भारत के लिए यह आवश्यक हो गया कि यह पश्चिमी देशों के साथ कम से कम मैत्री भावना और सहानुभूति का रुख तो रखे ही। दूसरी तरफ, भारत साम्यवादी देशों से भी अपने औद्योगिक विकास में सहायता लेना चाहता था। यह तभी सम्भव था जबकि भारत दोनों ही गुटों का मित्र बना रहता।"

"भारत को सदियों तक पराधीनता का कटु अनुभव सहन करना पड़ा है।

इसलिए उसकी विदेश नीति में साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद, जातीय एवं वर्ग भेद का विरोध होना, एक ऐतिहासिक तथ्य है। इसी प्रकार, सभी के कल्याण की भावना, सत्य और अहिन्सा, मानवीय प्रेम और उदारता, भारत के परम्परागत जीवन-दर्शन के परिणाम हैं। अतः विदेश नीति में उसकी भूमिका भी स्वाभाविक तथ्य है।

विदेश नीति के आदर्श—15 अगस्त, 1947 ई. को भारत स्वतन्त्र हुआ। परन्तु स्वतन्त्र भारत की विदेश नीति को प्रभावित करने वाली परिस्थितियां इससे भी पहले उत्पन्न हो चुकी थीं। उदाहरणार्थ आणविक शक्ति का अविष्कार हो चुका था। रूस और अमेरिका में शीत युद्ध का प्रभाव बढ़ता ही जा रहा था जिससे विश्व शान्ति को खतरे की आशंका थी। भावी युद्ध को टालने और विश्व शांति को बनाए रखने के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ का जन्म हो चुका था। एशिया और अफ्रीका के अनेक देशों में स्वाधीनता-संघर्ष जोरों पर था। विश्व राजनीति में एशिया का महत्त्व तेजी के साथ बढ़ने लग गया था। इन सभी परिस्थितियों ने स्वतन्त्र भारत की विदेश नीति को प्रभावित किया। भारतीय नेताओं ने अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति से सबक सीखा। सितम्बर 1946 ई. में ही पं० नेहरू ने स्वाधीन भारत की भावी विदेश नीति का उल्लेख करते हुए स्पष्ट कर दिया था कि, 'वैदेशिक सम्बन्धों के क्षेत्र में भारत एक स्वतन्त्र नीति अपनाएगा और राजनीतिक गुटों की खींचतान से पृथक् रहकर अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और सद्भावना के प्रसार के लिए प्रयत्नशील रहेगा।"

हमारे संविधान के अनुच्छेद 51 में भारत की विदेश नीति के निम्न आदर्श बतलाए गए हैं—

1. अन्तर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा के लिए प्रत्येक सम्भव प्रयत्न करना।

2. अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को मध्यस्थता द्वारा निपटाए जाने की नीति को प्रत्येक सम्भव तरीके से प्रोत्साहन देना।

3. सभी राज्यों और राष्ट्रों के मध्य परस्पर सम्मानपूर्ण सम्बन्ध बनाए रखना।

4. अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रति और विभिन्न राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्ध में संधियों के पालन के प्रति आस्था बनाए रखना।

विदेश नीति की प्रमुख विशेषताएं—भारत की विदेश नीति की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है—

1. असंलग्नता की नीति अर्थात् किसी भी गुट विशेष के साथ संलग्न न होना।

2. शांति की नीति।

3. समस्त देशों के साथ मित्रता की नीति।

4. परस्पर विरोधी शक्तियों के मध्य सेतुबन्ध का कार्य करने की नीति।

5. साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का विरोध।

6. जातीय एवं वर्ग-भेद नीति का विरोध।
7. संयुक्त राष्ट्रसंघ को सबल बनाने में विश्वास।
8. शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व में विश्वास, और
9. साधनों की पवित्रता में विश्वास।

भारत की स्वाधीनता से लेकर 1964 ई. में अपनी मृत्यु के समय तक प्रधान मन्त्री पं० जवाहरलाल नेहरू ने भारत की विदेश नीति का संचालन किया और उसे एक निश्चित एवं ठोस आधार प्रदान किया।

संयुक्त राष्ट्रसंघ एवं भारत—संयुक्त राष्ट्रसंघ एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा संसार के राष्ट्रों ने प्रायः उन सभी लक्ष्यों को पाने का संकल्प किया है जो भारत की विदेश नीति के लक्ष्य हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघ का मुख्य ध्येय विश्व शान्ति की स्थापना और संसार के सभी राष्ट्रों के मध्य सहयोग एवं प्रेमपूर्ण सम्बन्धों का विकास करना है। इसके साथ ही संघ साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का विरोधी भी है और मानव के मूल अधिकारों तथा स्वतन्त्रता में विश्वास रखता है। वह राष्ट्रों के आपसी झगड़ों और विवादों को आपसी बातचीत और शान्तिपूर्ण उपायों से सुलझाने के पक्ष में है, अर्थात् युद्ध का विरोधी है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ और भारत की विदेश नीति के लक्ष्यों में अत्यधिक समानता है। अतः भारत के लिए अपने लक्ष्यों को पूरा करने की दृष्टि से संघ एक सबल सहारा है और इसीलिए पं० नेहरू और आज के भारतीय नेताओं का संयुक्त राष्ट्रसंघ में दृढ़ विश्वास रहा है।

भारत ने संयुक्त राष्ट्रसंघ के विभिन्न अंगों और विशेष अधिकरणों में सक्रिय रूप से भाग लेकर महत्त्वपूर्ण कार्य किये हैं। भारत संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्राथमिक सदस्यों में से एक है। यह इससे पूर्व की संस्था 'राष्ट्रसंघ' का भी प्राथमिक सदस्य था। संघ की महासभा के अध्यक्ष पद पर निर्वाचित होने वाली प्रथम महिला भारत की श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डित ही थीं। संयुक्त राष्ट्रसंघ की विविध कार्यवाहियों में भारत ने जो योगदान दिया उसका विस्तृत विवरण आगे वाले शीर्षक के अन्तर्गत दिया गया है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और संयुक्त राष्ट्रसंघ में भारत का योगदान

आर्थिक, औद्योगिक और सैनिक दृष्टि से नगण्य स्थिति वाले भारत के लिए अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करना अनेक लोगों के लिए विस्मयजनक हो सकता है। परन्तु परिस्थितियों के संयोग ने भारत को अपनी भूमिका सफलतापूर्वक निभाने में पूरा सहयोग दिया और संसार को यह दिखा दिया कि दो प्रबल शक्तिशाली गुटों में विभाजित आधुनिक संसार की स्थिति में एक स्वतन्त्र सक्रिय रचनात्मक असंलग्नता की नीति कितनी प्रभावकारी हो सकती है। भारत ने संयुक्त राष्ट्रसंघ और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के जिन क्षेत्रों एवं कार्यों में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की, वे निम्नलिखित हैं—

1. कोरिया की समस्या—भारत के उत्तर-पूर्व में जापान के सामने एशिया की मुख्य भूमि पर कोरिया एक छोटा-सा देश है। द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के बाद, उत्तरी कोरिया पर रूसी नियन्त्रण और दक्षिणी कोरिया पर अमेरिकन नियन्त्रण स्थापित हो गया। संयुक्त राष्ट्रसंघ ने कोरिया की समस्या का समाधान करने के लिए एक अस्थायी आयोग बनाया और 1947 ई. में ही भारत को इस आयोग का सदस्य बना दिया। कुछ दिनों बाद भारत को इस आयोग का प्रधान बना दिया गया। आयोग की देख-रेख में दक्षिणी कोरिया में आम चुनाव सम्पन्न हुए और उस क्षेत्र में अमेरिकन समर्थक दल की सरकार बनी। उत्तर कोरिया में साम्यवादी शासन रहा।

23 जून, 1950 को उत्तरी कोरिया ने अचानक दक्षिणी कोरिया पर आक्रमण कर दिया। इस युद्ध के दौरान भारत की भूमिका इस प्रकार रही—(1) उत्तर कोरिया को आक्रमणकारी घोषित करने के बाद संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा की गई सैनिक कार्यवाही में भाग नहीं लेना, (2) युद्धबन्दी के लिए मध्यस्थता का प्रयास, (3) संयुक्त राष्ट्रसंघ की सेनाओं द्वारा उत्तरी कोरिया में प्रवेश का विरोध, (4) युद्ध में सम्मिलित चीन को आक्रान्ता घोषित करने का विरोध, (5) अपने पृथक् प्रयत्नों से युद्ध बन्द करवाने में सफलता प्राप्त करना और (6) युद्ध बन्दियों की समस्या को हल करना। यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण समस्या थी। युद्ध में बन्दी बनाये गये हजारों उत्तरी कोरियाई सैनिक साम्यवादी अत्याचार के भय से वापस अपने देश लौटना नहीं चाहते थे और रूस तथा चीन उन्हें वापिस लौटाने पर तुले हुए थे। संयुक्त राष्ट्रसंघ ने इस समस्या को सुलझाने के लिए पाँच सदस्यों का आयोग नियुक्त किया जिसका अध्यक्ष भारत को बनाया गया। भारतीय अध्यक्ष जनरल थिमैया ने इस भारी उत्तरदायित्व को सफलतापूर्वक निभाया।

2. हिन्द चीन—द्वितीय महायुद्ध के पूर्व हिन्द चीन पर फ्रांस का शासन था। महायुद्ध की अवधि में इस पर जापान का अधिकार हो गया। युद्ध समाप्ति के बाद फ्रांस ने इस पर अपना पुनः शासन स्थापित करने का प्रयत्न किया। अमेरिका ने उसको सहयोग दिया। उधर देश को आजाद कराने के लिए वीटमिन्ह नामक संस्था की स्थापना हो गई जो उत्तरी क्षेत्र (वियतनाम) में अधिक प्रबल हो गई थी। चीन ने उसे पूरी सहायता दी। इस प्रकार हिन्द चीन में भयंकर संघर्ष शुरू हो गया तब अमेरिका ने उसे भारी सैनिक सहायता देते हुए घोषणा की कि वह हिन्द चीन को साम्यवादियों के हाथ में नहीं जाने देगा। उसकी इस घोषणा का अर्थ था—तीसरे महायुद्ध का श्रीगणेश।

ऐसे संकटपूर्ण समय में भारत की ओर से युद्धबन्दी तथा दोनों पक्षों में समझौता करवाने के पृथक् प्रयत्न किए गए। पं० नेहरू ने जेनेवा सम्मेलन (जो इस समस्या को सुलझा रहा था) के विचारार्थ महत्त्वपूर्ण सुझाव रखे और विश्व के प्रमुख

राजनीतिज्ञों से अपील की । जेनेवा सम्मेलन को कृष्ण मेनन की महत्त्वपूर्ण सेवाएँ उपलब्ध हो गई और अन्त में युद्ध विराम हुआ । युद्ध विराम की घोषणा के बाद राजनीतिक समस्याओं का समाधान करने के लिए तीन सदस्यों का एक शान्ति आयोग नियुक्त किया गया । भारत को इस आयोग का अध्यक्ष नियुक्त किया गया फिर भारत को अध्यक्ष बनाना भारत के शान्ति स्थापना के कार्यों के महत्त्व को स्वीकार करना ही तो था ।

3. अन्य कार्यों में योगदान—भारत ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में अन्य कार्यों में भी महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है । अप्रैल, 1955 ई. में जब किमोय और मात्सू टापुओं के सवाल को लेकर साम्यवादी चीन और संयुक्त राज्य अमेरिका (यू.एस.ए) में भारी तनाव और संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो गई थी तब भारत ने इसे कम करने में बड़ी सहायता की । विश्व शान्ति की स्थापना के सम्बन्ध में भारत ने सं रा. संघ की बैठकों में निःशस्त्रीकरण पर बहुत बल दिया है । 1958 ई. में सं. रा. संघ की जनरल असेम्बली में उसने दो प्रस्तावों पर जोर दिया—(1) समझौता होने की अवधि तक आणविक आयुधों के परीक्षण फौरन बन्द कर दिये जायें, (2) आकस्मिक आक्रमणों को बन्द करने की सम्भावना के प्रश्न पर विचार किया जाय । इसी अधिवेशन में भारत ने यह प्रस्ताव रखा कि निःशस्त्रीकरण आयोग में संघ के सब सदस्यों को सम्मिलित कर लिया जाय ताकि इसमें उत्पन्न गतिरोध को दूर किया जा सके । यह प्रस्ताव असेम्बली में प्रबल बहुमत के साथ स्वीकार हुआ ।

अफ्रीका के एक देश कांगो में स्वतन्त्रता प्राप्ति (1960) के साथ ही अराजकता फैल गई और प्रतिक्रियावादी विदेशी तत्त्वों की सहायता से उसके प्रान्तों में पृथक् राज्यों की स्थापना की लालसा जाग उठी । कांगो सरकार की प्रार्थना पर संयुक्त राष्ट्रसंघ ने कांगो में शान्ति स्थापित करने का निश्चय किया । संघ के आह्वान पर भारत ने भी अपनी सेनाएँ कांगो में भेजीं । भारतीय सेनाओं ने कांगों की एकता और अखंडता को सुरक्षित रखने तथा शांति स्थापना के कार्य में सर्वाधिक योगदान दिया । कांगो के प्रधान मन्त्री ने आभार प्रकट करते हुए लिखा था कि "भारतीय सेनाओं के प्रवेश से वास्तव में हमारे देश की प्रादेशिक अखण्डता को पुनः स्थापित किया है ।"

4. साम्राज्यवाद का विरोध—भारत ने संयुक्त राष्ट्रसंघ में एशिया और अफ्रीका के पराधीन देशों की स्वतन्त्रता के लिए सतत् प्रयत्न किया है । द्वितीय महायुद्ध के बाद जब डचों ने इण्डोनेशिया (हिन्देशिया) पर पुनः अपनी सत्ता स्थापित करने का सक्रिय प्रयत्न किया तो भारत ने सं. रा. में इसका विरोध किया और उसे स्वाधीनता दिलाने में महत्त्वपूर्ण योग दिया है । इसी प्रकार, भारत ने लीबिया, ट्यूनिसिया, मलाया, हिन्द चीन, गोल्ड कोस्ट की स्वाधीनता का पूरा समर्थन किया । साइप्रस के सम्बन्ध में उसने तुर्कों तथा यूनानियों में विभाजन का विरोध करते हुए इसका शासन स्थानीय लोगों को सौंपने पर बल दिया । भारत ने अल्जीरिया की स्वाधीनता का भी पक्ष लिया था । भारत ने न्यास प्रदेशों के प्रशासन

के सम्बन्ध में संयुक्त राष्ट्रसंघ के पूरे नियन्त्रण और निरीक्षण का समर्थन किया। 1958 ई. में भारत को पश्चिमी सामोआ भेजे जाने वाले निरीक्षण मण्डल का प्रधान तथा पश्चिमी अफ्रीका जाने वाले निरीक्षण मण्डल का एक सदस्य चुना गया।

5. जातीय एवं वर्ग-भेद की नीति का विरोध—भारत सभी जातियों को विकास के समान अवसर प्रदान करने का पक्षपाती है। मनुष्यों के बीच, जाति, रंग अथवा वर्ग के आधार पर ऊँच-नीच के सम्बन्धों की स्थापना करना अन्यायपूर्ण है। दक्षिणी अफ्रीका में अपनाए गए वर्ग-भेद की नीति द्वारा प्रवासी भारतीयों के प्रति और अश्वेतों के प्रति होने वाला अन्याय असहनीय है और भारत इसे संयुक्त राष्ट्रसंघ के माध्यम से शान्तिपूर्ण ढंग से दूर करने के प्रयास में संलग्न है। भारत ने अमेरिका में नीग्रो लोगों के साथ किए जाने वाले अपमानजनक व्यवहार की भी भर्त्सना की हैं। दक्षिणी अफ्रीका के मामले में भारत प्रतिवर्ष संघ के अधिवेशनों में अपनी आवाज उठाता रहा है और संघ ने प्रतिवर्ष दक्षिणी अफ्रीका सरकार से धार्मिक, जातीय अत्याचार और भेदभाव को तुरन्त समाप्त करने का आग्रह भी किया, परन्तु यह समस्या अभी भी नहीं सुलझ पायी है।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में भारत ने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और कुछ मामलों में निर्णायक भूमिका अदा की है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के सामने हंगरी की समस्या, सीरिया और टर्की का विवाद, इजरायल का विवाद, अल्जीरिया की समस्या, निःशस्त्रीकरण समस्या, आणविक शक्ति का विकास, पराधीन देशों की समस्या आदि जो अनेक राजनैतिक प्रश्न उपस्थित हुए, उनके समाधान में भारत ने अपनी तरफ से भरसक योग प्रदान किया और उस उत्तरदायित्व को पूरी तरह से निबाहा जो संयुक्त राष्ट्रसंघ ने सौंपा।

6. एशिया अफ्रीकी संगठन के लिए प्रयत्न—एशिया और अफ्रीका के अधिकांश देश सैकड़ों वर्षों तक यूरोपीय साम्राज्यवाद के शिकंजे में फँसे रहे। प्रथम महायुद्ध के बाद एशियाई देशों में राष्ट्रीय आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। द्वितीय महायुद्ध के बाद एशिया एक दम जाग उठा और कई देश स्वतन्त्र हुए। इसका प्रभाव अफ्रीकी देशों पर भी पड़ा और वहाँ भी धीरे-धीरे साम्राज्यवादियों को घुटने टेकने पड़े। परन्तु इस अवसर पर नव-स्वतन्त्रता प्राप्त एशिया-अफ्रीका के देशों को एक संगठन में बाँधने की आवश्यकता थी ताकि वे प्रतिक्रियावादी शक्तियों के मोहरे बन कर उनके आश्रित साम्राज्यवाद के जाल में न फँस जाएँ। इसके अलावा आपसी संगठन द्वारा अन्य पराधीन देशों की स्वतन्त्रता के लिए प्रयत्न करना तथा पश्चिमी साम्राज्यवाद और साम्यवादी साम्राज्य के मध्य सम्भावित संघर्ष को रोकना भी आवश्यक था। यह काम एशिया और अफ्रीका के देशों का संगठन बनाकर किया जा सकता था। भारत ने इस दिशा में काफी महत्त्वपूर्ण सहयोग दिया है।

भारत की पूर्ण स्वाधीनता के पूर्व ही पं० नेहरू की प्रेरणा से मार्च-अप्रैल 1947 में एशियाई देशों के एक सम्मेलन का आयोजन किया गया जिसमें 28 देशों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया था। यद्यपि यह सम्मेलन गैर-सरकारी था फिर

भी एशिया के 28 देश एक स्थान पर अपनी समस्याओं पर विचार कर सकें—यही बहुत महत्त्व की बात थी। एशियाई देशों का द्वितीय सम्मेलन भी दिल्ली में 20 से 30 जून, सन् 1949 को हुआ। यह सम्मेलन भारत सरकार की ओर से आमन्त्रित किया गया था और इसका मुख्य उद्देश्य इण्डोनेशिया पर डच आक्रमण से उत्पन्न परिस्थिति पर विचार करना था। सम्मेलन के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप अन्त में हॉलेण्ड को इण्डोनेशिया से हटना पड़ा। द्वितीय सम्मेलन ने संसार को स्पष्ट कर दिया कि अब संगठित एशिया की उपेक्षा करना सरल काम नहीं है।

इसके बाद अफ्रीकी देशों को भी संगठन में सम्मिलित करने का प्रयत्न किया गया और इण्डोनेशिया के बांडुंग नगर में 1955 ई. में एशिया और अफ्रीका के 22 राष्ट्रों का एक सम्मेलन हुआ। उस अवसर पर इण्डोनेशिया के राष्ट्रपति सुकार्णो ने कहा था कि, "यह सम्मेलन इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करेगा कि एशिया और अफ्रीका का पुनर्निर्माण हो चुका है।" बांडुंग सम्मेलन में महत्त्वपूर्ण निर्णय लिए गए जैसे कि–लोकतांत्रिक स्वशासन और विदेशी नियंत्रण से पूर्ण मुक्ति, जाति, धर्म रंग भेद का त्याग करके मानव प्रतिष्ठा की स्थापना, आर्थिक प्रगति का प्रयत्न, युद्ध का परित्याग और राष्ट्रों में सद्भावना का विकास। वास्तव में बांडुंग सम्मेलन के द्वारा एशियाई और अफ्रीकी राष्ट्रों में नवीन आत्मविश्वास और आशा का सचार हुआ और उनकी आवाज सम्पूर्ण संसार में गूंज उठी। इन सम्मेलन ने एक तरफ तो अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के प्रति एशिया और अफ्रीका में एक समान दृष्टिकोण को जन्म दिया और दूसरी तरफ संयुक्त राष्ट्रसंघ में अफ्रो-एशियाई गुट की आधार-शिला रखी जिसने साम्यवाद और पूंजीवाद के संघर्ष में संतुलन पैदा करने का महत्त्वपूर्ण काम किया।

इसके बाद सम्मेलनों का क्रम जारी रहा। सन् 1961 में यूगोस्लाविया की राजधानी बेलग्रेड में सम्मेलन हुआ, परन्तु इसे तटस्थ राष्ट्रों का सम्मेलन कहना अधिक उचित रहेगा, यद्यपि सम्मेलन में भाग लेने वाले राष्ट्रों में एशिया और अफ्रीका के देशों की संख्या अधिक थी। सन् 1964 का हिरा सम्मेलन भी काफी महत्त्वपूर्ण रहा। इस प्रकार, एशिया और अफ्रीका के देश एक-दुसरे के निकट सम्पर्क में आ गये और इसका मुख्य श्रेय भारत को है।

पंचशील का सिद्धान्त—पंचशील भारतीय विदेश नीति का आधार है। इसे सहअस्तित्त्व का सिद्धान्त भी कहा जाता है। पंचशील (पाँच सिद्धान्त) राष्ट्रों के लिए एक दूसरे के साथ आचरण के सम्बन्ध में निश्चित किए गए हैं। ये इस प्रकार हैं—(1) एक-दूसरे की प्रादेशिक अखण्डता और सर्वोच्च सत्ता के लिए पारस्परिक सम्मान की भावना, (2) अनाक्रमण, (3) एक-दूसरे के आन्तरिक मामलों में हस्त-क्षेप न करना, (4) समानता तथा एक-दूसरे को लाभ पहुँचाना और (5) शांति-पूर्ण सपअस्तित्त्व।

इन पाँच सिद्धांतों का प्रतिपादन सर्वप्रथम 1 अप्रैल, 1954 को तिब्बत के सम्बन्ध में भारत और चीन के मध्य सम्पन्न एक समझौते में किया गया था। इसके

बाद, पं० नेहरू और चीन के प्रधानमन्त्री चाउ एन लाई की आपसी बातचीत के बाद जून 1954 में जो संयुक्त वक्तव्य प्रकाशित हुआ, उसमें दोनों देशों ने आपसी सम्बन्धों के लिए पंचशील का पालन करने का निश्चय किया। बाद में भारत की यात्रा करने वाले विदेशों के अनेक नेताओं ने अपने वक्तव्यों में पंचशील के सिद्धान्तों को स्वीकार किया। उदाहरणार्थ बर्मा, लाओस, नेपाल, वियतनाम, यूगोस्लाविया, कम्बोडिया, अफगानिस्तान, सीरिया, सऊदी अरब आदि ने स्वीकार कर लिया।

बांडुंग में एशिया और अफ्रीका के देशों के सम्मेलन में पंचशील में पांच और सिद्धांत जोड़ दिये गये और 'दस शील' को स्वीकार किया गया। परन्तु पंचशील का अस्तित्व बना रहा और बांडुंग सम्मेलन के बाद आस्ट्रेलिया, रूस, पोलेण्ड, संयुक्त राज्य अमेरिका और ऑस्ट्रेलिया ने भी इसे स्वीकार किया। इतना ही नहीं 1959 के अन्त में संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा ने भी भारत द्वारा प्रस्तुत पंचशील के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया।

पंचशील वास्तव में साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के विरुद्ध एक नया नारा है, क्योंकि यदि सभी देशों की प्रादेशिक अखण्डता और सर्वोच्च सत्ता का सही अर्थ में सम्मान किया जाता है और आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप से दूर रहा जाय, तो साम्राज्यवाद अपनी मौत खुद मर जायेगा। शांतिपूर्ण सहअस्तित्व में विश्वास रखते हुए सभी देश एक-दूसरे की उन्नति के भागी बन सकें तो संसार से निर्धनता का अन्त हो सकता है। परन्तु दुर्भाग्य की बात यह रही है कि पंचशील का पालन करने का वचन देने वाले राष्ट्रों ने अपने वचन का पालन नहीं किया और यह संयोग की बात है कि जिस देश ने सबसे पहले इसे स्वीकार किया था, उसी ने सबसे पहले पंचशील के साथ विस्वासघात किया।

पाकिस्तान के साथ सम्बन्ध—भारत के शांतिवादी नेताओं को आशा थी कि देश के विभाजन से शांति और पारस्परिक मेलजोल को प्रोत्साहन मिलेगा। भारत और पाकिस्तान दोनों शान्ति, सद्भावना और सहयोग के वातावरण में आर्थिक विकास के महान् कार्य में जुट जायेंगे। किन्तु उनका यह स्वप्न पूरा नहीं हुआ। पाकिस्तान का तो जन्म ही साम्प्रदायिक आधार पर हुआ था और जन्म के समय से ही पाकिस्तान भारत को अपना कट्टर शत्रु मानता रहा अतः उसने प्रारंभ में ही विरोध, आक्रमण तथा भारतीय भू-भाग को हड़पने और भारत को हर संभव उपाय से क्षति पहुँचाने की विदेश नीति का आश्रय लिया। स्वयं पं० नेहरू के शब्दों में, 'हमारी मूलभूत विचारधारा ही भिन्न है। हम धर्म-निरपेक्षवाद में विश्वास रखते हैं, किन्तु पाकिस्तान इस्लामबाद और द्विराष्ट्र सिद्धांत में विश्वास करता है। भारत के प्रति शत्रुता का विचार पाकिस्तान की धर्मप्रधान राजनीति का एक अनिवार्य अंग बन गया।"

पड़ौसी होने के नाते दोनों देशों में कई विषयों पर उग्र विवाद रहा है। इनमें से कुछ विवाद शांतिपूर्वक सुलझाए जा चुके हैं और कुछ अभी तक बने हुए है। दोनों देशों मे एक बड़ा विवाद नहरी पानी का था। इस विवाद का मूल आधार यह था

कि पंजाब की पाँचों नदियों के मूल स्रोत हिमालय के उस प्रदेश में हैं जिस पर भारत का शासन है। पाकिस्तान को यह शंका थी कि भारत किसी भी समय इन नदियों के पानी को रोककर उसकी जनता को भूखा मार सकता है। सितम्बर 1960 में विश्व बैंक के माध्यम से इस विषय में संधि द्वारा दोनों देशों के एक बड़े विवाद का हल हो गया।

विवाद का दूसरा मुख्य विषय ऋण अदायगी का था। स्वतन्त्र भारत ने पुरानी भारत सरकार के पूरे कर्ज को चुकाने का भार स्वीकार किया था बशर्ते कि इसके लिए पाकिस्तान भी पाँच वार्षिक किश्तों में 300 करोड़ रुपया भारत को देगा। उस समय पाकिस्तान ने इसे स्वीकार कर लिया था। दूसरी तरफ, अविभाजित भारत के नकद बकाया में से भारत को 55 करोड़ रुपया पाकिस्तान को देना था, अर्थात् 300 करोड़ लेना था और 55 करोड़ देना था। परन्तु पाकिस्तान शुरू से ही अपना ऋण चुकाने में बहानेबाजी करता रहा जबकि भारत ने पाकिस्तान की शत्रुतापूर्ण कार्यवाहियों और ऋण की किस्त अदा न करने के उपरान्त भी पाकिस्तान को 55 करोड़ रुपयों का भुगतान करके अपनी उदारता, संयम और सहनशीलता का परिचय दिया।

विवाद का एक अन्य विषय विस्थापित सम्पत्ति तथा अल्प संख्यकों की रक्षा का प्रश्न था। 1947 से 1957 की अवधि में लगभग 70 लाख मुसलमान भारत से पाकिस्तान गये और लगभग 65 लाख गैर-मुसलमान पाकिस्तान से भारत आए। दोनों ही क्षेत्रों के ये लोग अपने पीछे विशाल मात्रा में अपनी चल और अचल सम्पत्ति छोड़ आये थे। ऐसा अनुमान है कि भारतीयों ने पाकिस्तान में लगभग 3000 करोड़ रुपये और मुसलमानों ने भारत में 300 करोड़ रुपये की सम्पत्ति छोड़ी। विस्थापित सम्पत्ति के बारे में भारत का सुझाव था कि पाकिस्तान सरकार भारतीयों को बकाया सम्पत्ति का भारत सरकार को भुगतान करे ताकि विस्थापितों को मुआवजा दिया जा सके। भारत ने अपनी तरफ से विस्थापितों को मुआवजा चुका भी दिया, परन्तु पाकिस्तान 2700 करोड़ रुपये की विस्थापित सम्पत्ति बिना भुगतान किए ही हड़प कर गया।

स्वतन्त्रता के समय दोनों देशों ने अपने-अपने देश में बसने वाले अल्पसंख्यकों की सुरक्षा का आश्वासन दिया था। परन्तु विभाजन के तुरन्त बाद अल्पसंख्यकों की रक्षा का प्रश्न गम्भीर रूप से उपस्थित हो गया। पाकिस्तान में साम्प्रदायिक दंगों और उपद्रवों के कारण गैर-मुसलमानों को बहुत बड़ी संख्या में भारत में आकर शरण लेनी पड़ी। हजारों को पाकिस्तान में ही अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ा। अतः 2 अप्रैल, 1950 को साम्प्रदायिक उपद्रवों को रोकने एवं अल्पसंख्यकों में रक्षा की भावना उत्पन्न करने के लिए भारत-पाक प्रधान मंत्रियों के बीच 'नेहरू-लियाकत समझौता' हुआ। भारत ने इस समझौते का पूरा पालन किया जबकि पाकिस्तान ने इसका कभी पालन नहीं किया और बहुत बड़ी संख्या में हिन्दू शरणार्थियों का भारत आने का सिलसिला जारी रहा।

विवाद का एक मूल प्रश्न अविभाजित भारतीय रियासतों का विलय है। स्वतन्त्रता के पूर्व भारत में लगभग 500 से भी अधिक देशी रियासतें थीं। भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम ने इन्हें स्वतन्त्र स्वीकार करके यह अधिकार दे दिया था कि चाहे वे भारत के साथ मिलें अथवा पाकिस्तान के साथ अपनी स्वतन्त्र स्थिति बनाए रखें, परन्तु उन्हें भौगोलिक स्थिति को ध्यान में रखकर अपना निर्णय करना चाहिए। इस व्यवस्था के अनुसार जूनागढ़, हैदराबाद और कश्मीर को छोड़कर शेष रियासतें भारत अथवा पाकिस्तान में मिल गईं। किन्तु उपर्युक्त तीनों राज्यों को लेकर विवाद उठ खड़ा हुआ।

जूनागढ़ रियासत का मुस्लिम नवाब पाकिस्तान में मिलना चाहता था, परन्तु रियासत की बहुसंख्यक हिन्दू जनता भारत में विलय चाहती थी। हिन्दू प्रजा ने नवाब के विरुद्ध विद्रोह करके भारत में सम्मिलित होने की घोषणा कर दी। नवाब पाकिस्तान भाग गया। पाकिस्तान ने इस प्रश्न को सुरक्षा परिषद् में उठाया परन्तु वहाँ उसे सफलता नहीं मिली। इसी प्रकार, हैदराबाद के सम्बन्ध में भारत की पुलिस कार्यवाही और हैदराबाद का भारत में विलय भी पाकिस्तान को सहन नहीं हो सका। उसने इस प्रश्न को सुरक्षा परिषद् में बनाए रखने की भरसक कोशिश की और भारत के प्रति जबरदस्त वाक्‌युद्ध छेड़ा, किन्तु इस बार भी उसे निराश होना पड़ा।

कश्मीर की समस्या सबसे अधिक जटिल एवं विवादग्रस्त सिद्ध हुई और अभी तक उसका सही समाधान नही हो पाया है। कश्मीर में राजा हिन्दू तथा अधिकांश प्रजा मुसलमान थी। इसकी सीमाएँ भारत और पाकिस्तान दोनों के साथ लगी हुई थीं। महत्त्वाकाँक्षी राजा ने किसी भी देश के साथ न मिलकर अपनी स्वतन्त्र स्थिति को बनाये रखने का स्वप्न देखा। उसने पाकिस्तान के साथ 'यथापूर्वस्थिति' का समझौता कर लिया। जिसके अनुसार पाकिस्तान ने यह वचन दिया कि कश्मीर को ब्रिटिश काल की भाँति विभिन्न वस्तुएँ अपने मार्गों द्वारा पहुँचाने की सुविधाएँ देता रहेगा। वास्तव में, पाकिस्तान का इरादा कश्मीर को हड़पने का था। थोड़े समय बाद ही पाकिस्तान ने समझौते की अवहेलना करते हुए कश्मीर में नमक, तेल आदि आवश्यक वस्तुओं को भेजने पर प्रतिबन्ध लगा दिया। जब इस आर्थिक दबाव से उसका ध्येय पूरा नहीं हुआ तो उसने सीमान्त के कबायली लोगों को भड़का कर, कश्मीर पर हमला करा दिया। पाँच दिन में ही कबायली आक्रान्ता कश्मीर की राजधानी श्रीनगर के पास तक जा पहुँचे। महाराजा ने भारत से सैनिक सहायता की प्रार्थना की, परन्तु राजनीतिक समझौते के अभाव में भारत ने सहायता देने से इन्कार कर दिया। विवश होकर 26 अक्टूबर, 1947 को महाराजा को भारत में सम्मिलित होने की तथा बर्बर आक्रान्ताओं से रक्षा की प्रार्थना करनी पड़ी जिसे भारत ने तत्काल स्वीकार कर लिया और कश्मीर की रक्षा के लिए भारतीय सेना कश्मीर में पहुँच गई। उधर पाकिस्तान ने अपने सैनिकों को भी कश्मीर पर हमले के लिए भेज दिया। दोनों देशों के मध्य व्यापक एवं भयंकर युद्ध की स्थिति से बचने

के लिए 1 जनवरी 1948 को भारत ने पाकिस्तान के विरुद्ध सुरक्षा परिषद् में शिकायत कर दी और पाकिस्तान को भारतीय भूमि पर आक्रमण करने से रोकने की माँग की। 13 अगस्त 1948 को संयुक्त राष्ट्रसंघ ने सुझाव दिया कि दोनों देशों के बीच चल रहे युद्ध को तुरन्त बन्द कर दिया जाय और कश्मीर के भविष्य का निर्णय वहाँ की जनता की राय से हो। फलस्वरूप 1 जनवरी 1949 को युद्ध बन्द हो गया और तब से भारत और पाकिस्तान के मध्य संयुक्त राष्ट्रसंघीय मध्यस्थता के माध्यम से तथा सीधे रूप से भी इस समस्या पर बातचीत होती रही है। परन्तु कोई परिणाम नहीं निकला। भारत ने अपने अधिकृत कश्मीर में आम चुनाव करवा कर लोकतान्त्रिक शासन व्यवस्था स्थापित कर दी और वहाँ की जनता ने कई बार भारत में विलय की इच्छा को जोरदार शब्दों में दोहराया है। इस प्रकार कश्मीर भारत का अभिन्न अंग बन चुका है। इसके विपरीत पाकिस्तान के अधिकार वाले भाग पर जिसे वह 'आजाद कश्मीर' कहता है, पाकिस्तान की कठपुतली सरकार का शासन है और लोगों को सही अर्थों में प्रजातान्त्रिक अधिकार भी उपलब्ध नहीं हैं। सितम्बर 1965 में पाकिस्तान ने भारत पर आक्रमण करके यह सिद्ध कर दिया कि वह हर सम्भव उपाय से कश्मीर को हड़पना चाहता है।

चीन के साथ सम्बन्ध

1948 ई. में चीन में च्यांगकाई शेक की राष्ट्रवादी सरकार को चीन की मुख्य भूमि से ही खदेड़ दिया गया और समूचे चीन में साम्यवादी शासन स्थापित हो गया। भारत ने इस नवस्थापित साम्यवादी सरकार को तुरन्त मान्यता प्रदान की और उसके साथ कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित करके अपने मैत्रीपूर्ण व्यवहार का परिचय दिया। कुछ समय तक दोनों देशों में मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रहे और भारतवासी 'हिन्दी-चीनी भाई-भाई' का नारा लगाने लगे थे। पं. नेहरू के नेतृत्व में भारत ने इस बात का पूरा प्रयास किया कि चीन को संयुक्त राष्ट्रसंघ में स्थान दिया जाए।

परन्तु 1950 ई. से ही दोनों देशों के सम्बन्धों में तनाव उत्पन्न होने लग गया जिसका मुख्य कारण सीमा-विवाद था। सर्वप्रथम तिब्बत की समस्या सामने आई। तिब्बत भारत की उत्तरी सीमा पर स्थित है। 1904 ई. में अंग्रेजों ने इस पर अपना अधिकार कर लिया था। 1907 ई. में अंग्रेजों ने तिब्बत पर चीन की प्रधानता को स्वीकार कर लिया, लेकिन इसके बदले में भारत सरकार को कुछ विशेष अधिकार मिल गए। तिब्बत की राजधानी ल्हासा में एक भारतीय रेजीडेन्ट रखना, तीन स्थानों पर व्यापारिक एजेन्सियाँ स्थापित करना, व्यापारिक मार्गों की सुरक्षा के लिए भारतीय सेना रखना और डाक-तार व्यवस्था के सम्बन्ध में कुछ विशेष सुविधाएँ प्राप्त हुईं। स्वतन्त्र भारत को तिब्बत में ये विशेषाधिकार अंग्रेजों के उत्तराधिकारी के रूप में प्राप्त हुए।

7 अक्टूबर, 1950 को चीनी सेनाओं ने प्रथम बार तिब्बत में प्रवेश किया। जब भारत सरकार ने चीन का ध्यान इस तरफ आकर्षित किया तो चीन ने भारत

की मित्रता और अन्तर्राष्ट्रीय जगत में चीन की वकालात के प्रयत्नों के प्रति पूर्ण उपेक्षा दिखाते हुए 30 अक्टूबर के अपने पत्र में लिखा कि, "पश्चिम की साम्राज्यवादी नीति से प्रभावित भारत चीन के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने का साहस न करे।" फिर भी, भारत ने चीन के प्रति मैत्रीपूर्ण सहयोग की नीति को जारी रखा। 1951 ई. में कोरिया युद्ध के सन्दर्भ में जब संयुक्त राष्ट्रसंघ में चीन को आक्रांता घोषित करने का प्रस्ताव रखा गया तो भारत ने उसका जबर्दस्त विरोध किया। 29 अप्रैल 1954 को दोनों राष्ट्रों (भारत और चीन) के मध्य एक समझौता हुआ जिसके अन्तर्गत भारत ने तिब्बत में प्राप्त अपने सभी विशेषाधिकारों को छोड़ दिया और तिब्बत पर चीन की सर्वोच्च सत्ता को स्वीकार कर लिया। जून 1954 में चीन ने भारत के पंचशील को स्वीकार किया। इस अवसर पर चीनी प्रधान मन्त्री चाऊ एन लाई का भारत में भव्य स्वागत किया गया था। इस प्रकार, 1954 में पं. नेहरू का भी चीन में भव्य स्वागत हुआ। 1955 के बांडुंग सम्मेलन में भारत ने एशिया और अफ्रीका के देशों के साथ चीन के सम्पर्क को घनिष्ठ कराने में उसकी मदद की।

परन्तु भारत के प्रति चीन का उपर्युक्त समस्त व्यवहार स्वाँग भरा था। इस समय तक वह भारतीय सीमा में अपनी हरकतें शुरू कर चुका था जिसका पहला चिह्न चीन द्वारा अपने देश के नए प्रकाशित नक्शों में दिखलाई पड़ा। इन नक्शों में लगभग 50 हजार वर्गमील का भारतीय क्षेत्र चीन के अन्दर दर्शाया गया था। जब भारत ने चीनी नेताओं का ध्यान इस तरफ आकर्षित किया तो वे इस कथन को झूठे आश्वासनों से टालते रहे और भारतीय सीमा में घुसपैठ करते रहे।

अप्रैल 1955 के बाद चीनियों ने भारतीय सीमा के अन्तर्गत बड़ाहोती पर अधिकार कर लिया और वहाँ अपनी एक सैनिक टुकड़ी कायम कर दी। इसके बाद चीनी सेनाओं ने दमजान और उत्तर प्रदेश के विलांग में प्रवेश किया। 1956 में हिमाचल प्रदेश के शिपकी दर्रे और 1957 में नेफा के लोहित क्षेत्र में सीमाओं का अतिक्रमण किया। 1958 में उन्होंने लद्दाख में अपनी सैनिक चोकियाँ कायम करनी शुरू कर दीं और सेना के आवागमन के लिए एक नई सड़क भी बना ली। 1957 ई. में जब चीनी अत्याचारों से परेशान होकर तिब्बत के दलाई लामा भारत भाग आए और भारत ने उन्हें राजनीतिक शरण दे दी तो चीन भारत से और भी अधिक असन्तुष्ट हो गया।

परन्तु मजे की बात यह है कि इन सब कार्यवाहियों के उपरान्त भी दोनों देशों के मध्य पत्र-व्यवहार जारी रहा और स्थिति को सामान्य बनाने तथा सीमा विवाद को सुलझाने के लिए चीन की तरफ से झूठे आश्वासन मिलते रहे। सन् 1961 में चाऊ एन लाई भारत आए तब भी इन सब बातों को टाल गए और शांतिपूर्ण ढंग से विवाद को हल करने की दुहाई दे गए।

जुलाई 1962 में स्थिति अचानक बिगड़ गई। गल्वान घाटी की भारतीय पुलिस चौकी को चीनियों ने घेर लिया। इस समय तिब्बत में चीनी सेना के 16

डिविजन तैनात थे। 8 सितम्बर से चीनी सेनाओं ने भारतीय सीमा का अतिक्रमण करना शुरू कर दिया। 20 अक्टूबर को ढोला के निकट थागला की पहाड़ी सैनिक चौकी पर आक्रमण किया। 20 अक्टूबर को चीन ने अचानक ही व्यापक पैमाने पर भारत की उत्तरी सीमा के दो क्षेत्रों में जबर्दस्त आक्रमण कर दिया। सीमा की रक्षा के लिए तैनात थोड़े से भारतीय सैनिक इतने बड़े आक्रमण के लिए बिल्कुल तैयार न थे और न उनके पास बढ़िया तोपखाना ही था। फिर भी, उन्होंने बहादुरी के साथ चीनियों का डटकर मुकाबला किया। भारत अपनी रक्षा के लिए सम्भला तब तक चीनियों ने बहुत बड़े भाग पर अधिकार कर लिया था। और बोमडिला जीत कर वे चुशूल की चौकी पर जा पहुँचे।

22 अक्टूबर 1962 को राष्ट्र के नाम सन्देश प्रसारित करते हुए पं. नेहरू ने कहा था कि, आज देश एक भयानक संकट में फँस गया है। चीनियों ने हम पर आक्रमण कर हमें बहुत बड़ा धोखा दिया है। "युद्ध जारी रहा और 21 नवम्बर 1962 को चीन ने अकस्मात यह घोषणा की कि आधी रात से चीनी सेनाएँ गोलियाँ चलना बन्द कर देंगी। चीन की युद्ध-विराम की एक पक्षीय घोषणा अत्यन्त विस्मयजनक थी। परन्तु इसके पीछे ठोस कारण थे। पहला कारण यह था कि पहाड़ी लड़ाई में भारतीय सेना तैयार न थी और न उनकी संख्या ही पर्याप्त थी। परन्तु अब मैदानी लड़ाई की स्थिति आ पहुँची थी और भारतीय सेनाएँ सम्भल चुकी थीं। दूसरी बात, अमेरिका, इंगलैण्ड आदि से भारी मात्रा में युद्ध सामग्री भारत पहुँच गई थी। तीसरे सम्पूर्ण भारत देश की रक्षा के लिए उठ खड़ा हुआ था। चौथे रूस ने भी चीन पर अपना राजनीतिक दबाव डाला। इन सभी परिस्थितियों में चीन को विवश होकर नीचा देखना पड़ता जिसके लिए वह तैयार नहीं था। उसका ध्येय तो गफलत में पड़े भारत पर आकस्मिक आक्रमण द्वारा विजय प्राप्त कर संसार में अपनी सैनिक श्रेष्ठता की धाक जमाना था। परन्तु जब चीन ने युद्ध-विराम की घोषणा कर दी तो भारत कठिन स्थिति में फंस गया। अगर वह युद्ध को जारी रखता तो संसार उसे आगे की घटनाओं के लिए उतरदायी समझता। अतः उसने भी अपनी सभी सेनाओं को रोक दिया। इस प्रकार, इस युद्ध का अन्त हुआ।

1962 ई. के चीनी आक्रमण के दूरगामी परिणाम निकले। भारत, जो अब तक अपनी समस्त शक्ति लगा कर केवल औद्योगिक विकास तथा कृषि की उन्नति के लिए ही मुख्य रूप से प्रयत्नशील था, को अब अपनी सैनिक शक्ति को विकसित करने को आवश्यकता अनुभव हुई और वह जी-जान से इस काम में जुट गया। भारत की सैनिक शक्ति को इतना सबल बना दिया गया कि वह अपने देश की सीमाओं की रक्षा कर सके। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण 1965 में देखने को मिला जबकि पाकिस्तान ने भारत पर आक्रमण किया और उसे बुरी तरह परास्त होना पड़ा। 1962 से चीन की सैनिक चुप्पी भी इसका प्रमाण है कि वह अब भारत से बिना सोचे टकराने का साहस नहीं करेगा। इस अवसर पर भारतीय जनता ने जिस

अभूतपूर्व एकता और राष्ट्रप्रेम का परिचय दिया उससे समूचे संसार को भारत की विविधता में एकता का प्रत्यक्ष अनुभव हो गया। इसने भारत की लोकतान्त्रिक शासन व्यवस्था की सफलता को सिद्ध कर दिया। इस अवसर पर पाकिस्तान ने भारत के प्रति अपनी शत्रुता को फिर से स्पष्ट कर दिया। उसका निरन्तर कहना था कि चीन के साथ सीमा विवाद तो एक बहाना है जिसके आधार पर भारत सैनिक सहायता प्राप्त करने का षड्यन्त्र रच रहा है। तटस्थ राष्ट्रों की भूमिका भी निराशाजनक रही यद्यपि बाद में उन्होंने कोलम्बो-सम्मेलन द्वारा इस विचार का हल निकालने का असफल प्रयत्न किया था।

राष्ट्रमण्डल और भारत

राष्ट्रमण्डल उन देशों का संगठन है जो कभी ब्रिटिश साम्राज्य के अंग रहे थे और स्वतन्त्रता प्राप्ति पर जिन्होंने ब्रिटेन से बराबरी का सम्बन्ध स्थापित कर लिए है। 1949 ई. के पूर्व इसे "ब्रिटेन कामनवेल्थ" (ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल) के नाम से पुकारा जाता था। द्वितीय महायुद्ध के अन्त तक ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल मुख्यतः कुछ श्वेत देशों का समूह था। महायुद्ध के बाद ब्रिटिश साम्राज्य के विभिन्न एशियाई और अफ्रीकी भाग स्वतन्त्र हुए और उनमें से अधिकांश ने राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक सहयोग की दृष्टि से ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल का सदस्य बना रहना पसन्द किया। अब तक यह माना जाता था कि ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के सभी सदस्य 'ब्रिटिश ताज' के प्रति समान निष्ठा से आबद्ध रहेंगे। जब 1949 ई. में भारत ने अपने आपको एक सर्वप्रभुत्व सम्पन्न गणराज्य घोषित करने का निश्चय किया तो उसने 'ब्रिटिश ताज' के प्रति निष्ठा से इन्कार कर दिया, यद्यपि वह ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल का सदस्य बने रहने का इच्छुक था। तब 'ब्रिटिश' शब्द ही हटा दिया गया और केवल 'राष्ट्रमण्डल' रह गया जिसमें ब्रिटिश ताज के प्रति निष्ठा का कोई प्रश्न नहीं रहा। इस प्रकार, ब्रिटिश साम्राज्य के अधीनस्थ देशों के संगठन से यह स्वतन्त्र राष्ट्रों का संगठन होकर 'राष्ट्रमण्डल' कहलाया।

राष्ट्रमण्डल एक ऐसा संगठन है जिसका जन्म किसी संविधान, सन्धि या समझौते के द्वारा नहीं हुआ है। इसलिए इसका अपना कोई लिखित नियम, कानून भी नहीं है। इसका आधार सदस्य-राष्ट्रों की समानता एवं स्वतन्त्रता है। सदस्य राष्ट्र पारस्परिक विश्वास, निष्ठा, मानव-कल्याण आदि की भावना से प्रेरित आपस में मित्रता के सूत्र द्वारा बंधे हुए हैं। परन्तु एक-दूसरे की सैनिक सहायता का कोई विधान नहीं है। प्रत्येक सदस्य अपनी इच्छानुसार राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय नीति का अनुसरण करता है। इसका मुख्य ध्येय सदस्य राष्ट्रों के आर्थिक कल्याण और सामान्य हितों की वृद्धि करने का प्रयास करना है। इसकी पूर्ति के लिए सदस्य-राष्ट्रों के प्रधानमन्त्री, वित्त मन्त्री, शिक्षा मन्त्री, व्यापार मन्त्री आदि समय-समय पर मिलते रहते हैं और अपनी समस्याओं पर विचार-विमर्श करते रहते हैं।

1949 ई. के बाद राष्ट्रमण्डल द्वारा सदस्य राष्ट्रों के आर्थिक विकास के लिए जो प्रयत्न किये गए उनमें 'कोलम्बो योजना' सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। यह

1 जुलाई, 1951 से शुरू होने वाली 6 वर्षीय योजना थी जिसे बाद में बढ़ाया जाता रहा। इस योजना का मुख्य ध्येय पूँजी और तकनीकी ज्ञान की सुविधाएँ उपलब्ध कराना है जिसके आधार पर सदस्य राष्ट्र अपने निजी साहस के द्वारा अपने आर्थिक विकास की ओर अग्रसर हो सकें। कभी-कभी एक सदस्य देश दूसरे सदस्य देश की योजनाओं में आर्थिक सहयोग भी प्रदान करते हैं। उदाहरणार्थ, भारत में दुर्गापुर के इस्पात कारखाने के लिए ब्रिटेन ने 15,00,000 डॉलर की सहायता कोलम्बो योजना के अन्तर्गत ही दी थी। इस योजना के अन्तर्गत अविकसित सदस्य राष्ट्रों के विद्यालयों को विदेशी अध्ययन हेतु छात्रवृत्तियाँ भी दी जाती है।

भारत को राष्ट्रमण्डल का सदस्य बने रहना चाहिये अथवा नहीं, इस प्रश्न पर शुरू से ही भारी मतभेद रहा है। आलोचकों का कहना है कि जिस ब्रिटेन ने लगभग 200 वर्षों तक भारतीयों पर बर्बर अत्याचार किया, भारत का आर्थिक शोषण किया, जिससे हमारी सभ्यता एवं संस्कृति मेल नहीं खाती, जिसके साथ सम्बन्धों की वजह से अन्य राष्ट्रों के साथ हमारे व्यापारिक हितों को ठेस पहुँच सकती है, उसके साथ सम्पर्क नहीं रखना चाहिए। जो ब्रिटेन भारत के विरुद्ध पाकिस्तान का समर्थन करने की नीति अपनाता है, उससे सम्बन्ध-विच्छेद कर लेना चाहिए। इसी प्रकार के अन्य बहुत से तर्क दिये जाते हैं।

परन्तु पं० नेहरू का मानना था कि राष्ट्रमण्डल की सदस्यता भारत के और सम्पूर्ण विश्व के हित के लिए लाभदायक है। सम्पूर्ण विश्व यह बात देखेगा और समझेगा कि भारत उसके साथ भी सहयोग कर सकता है जिसके विरुद्ध उसने दीर्घ-काल तक संघर्ष किया है। हमारा काम राष्ट्रों के बीच नये पुलों का निर्माण करना है न कि पहले से बने हुए पुलों को तोड़ना।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि राष्ट्रमण्डल की सदस्यता के कारण भारत की प्रभुसत्ता पर किसी प्रकार की आँच नहीं आयी है। जब इंगलैण्ड और फ्रांस ने मिल कर मिश्र में सैनिक कार्यवाही की तो भारत ने ब्रिटिश सरकार की जोरदार निन्दा की थी। फिर भी राष्ट्रमण्डल के सदस्यों में अभी तक मैत्री भाव बना हुआ है क्योंकि सभी अपनी इच्छा से इसके सदस्य बने हुए हैं।

आजकल राष्ट्रमण्डल धीरे-धीरे दुर्बल होता जा रहा है। 1962 ई. में ब्रिटेन ने एक कानून पास करके राष्ट्रमण्डलीय देशों के नागरिकों को दी गई विशेष सुविधाओं को समाप्त करके उन्हें अन्य विदेशियों की स्थिति में ला दिया। इससे राष्ट्रमण्डल की आंशिक पारिवारिक भावना भी समाप्त हो गई। पिछले कुछ वर्षों में ब्रिटेन की नई नीतियों से राष्ट्रमण्डलीय देशों को उपलब्ध व्यापारिक सुविधाओं को भी भारी धक्का लगा है। अतः इसका भविष्य उज्ज्वल प्रतीत नहीं होता यद्यपि भारत आज भी इसका सदस्य बना हुआ है।

अभ्यास के लिए प्रश्न

1. भारत की विदेश नीति के निर्धारक तत्त्वों और आदर्शों की व्याख्या कीजिये।
2. सं क्त राष्ट्रसंघ और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में भारत के योगदान का उल्लेख कीजिये।
3. पाकिस्तान और चोन के साथ भारत के सम्बन्धों का वर्णन कीजिये।

अपने अध्ययन की जाँच कीजिए

1. सही उत्तर का क्रमांक कोष्ठक में लिखिये—
   1. हमारे संविधान की किस धारा के अन्तर्गत विदेश नीति के आदर्शों का उल्लेख किया गया है ?
      (क) धारा 51 (ख) धारा 31
      (ग) धारा 56 (घ) धारा 71 ( )
   2. सयुक्त राष्ट्रस, की महासभा के अध्यक्ष पद के लिए प्रथम महिला कौन चुनी गई थी ?
      (क) श्रीमती इन्दिरा गाँधी (ख) श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डित
      (ग) श्रीमती कैनेडी।
   3. द्वितीय महायुद्ध के पूर्व हिन्दचीन पर किस देश का शासन थ. ?
      (क) इंगलैण्ड (ख) फ्रांस (ग) हॉलैण्ड (घ) पुर्तगाल ( )
   4. अफ्रीका के किस देश में संयुक्त राष्ट्रसंघ के अ,रोध पर भारत ने अपनी सेनाएँ भेजी थी ?
      (क) घाना (ख) कांगो (ग) दक्षिण अफ्रीका (घ) रोडेशिया ( )
   5. बांडुंग नगर किस देश में है ?
      (क) इंगलैण्ड (ख) फ्रांस (ग) हॉलैण्ड (घ) पुर्तगाल ( )
2. एक-एक पंक्ति में उत्तर दीजिए—
   1. असंलग्नता की नीति का क्या अर्थ है ?
   2. पचशील का प्रतिपादन सर्वप्रथम किस समझौते में किया गया ?
   3. ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल से 'ब्रिटिश' शब्द क्यों हटा लिया गया ?
   4. कोलम्बो योजना का मुख्य ध्येय क्या था ?
   5. भारत-पाक संघर्ष के समय ब्रिटेन ने किसका साथ दिया ?
3. पाँच-सात पक्तियों में उत्तर दीजिए—
   1. कोरिया की समस्या को सुलझाने में भारत ने क्या भूमिका निभाई थी ?
   2. एशिया और अफ्रीका के संगठन के लिए भारत ने क्या प्रयत्न किए ?
   3. पंचशील के सिद्धान्तों का उल्लेख कीजिए ?
   4. 'नेहरू-लियाकत समझौता' किस सन्दर्भ में किया गया ?
   5. भारत पर चीनी आक्रमण के क्या परिणाम निकले ?

पूरक अध्ययन के लिए ग्रन्थ

1. दीनानाथ वर्मा : अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध
2. हरिदत्त वेदालंकार : अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध
3. डॉ० मथुरालाल शर्मा : अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध

15. स्वतन्त्र भारत में सामाजिक एवं आर्थिक विकास

1. सामाजिक विकास

1947 ई. में स्वतन्त्र होते ही भारत को अनेक प्रकार की कठिनाइयों एवं संकटों का सामना करना पड़ा। फिर भी भारतीयों ने अपने सुयोग्य नेताओं के नेतृत्व में भारत का नव-निर्माण करने का निश्चय किया। इस अवसर पर पं० नेहरू ने कहा था कि "भविष्य आराम से बैठने या दम लेने के लिए नहीं बल्कि निरन्तर और भरसक मेहनत करने का है—गरीबी, अज्ञानता, बीमारी और अवसर की विषमता को समाप्त करना।" फलतः देश में लोकतांत्रिक शासन प्रणाली अपनाई गई और सभी बालिगों को वोट का अधिकार दिया गया। समाज सेवा और सुधार कार्य हाथ में लिए गए जिससे हमारा सामाजिक जीवन प्रगति की ओर अग्रसर हुआ।

सामाजिक सेवा और सुधार—हमारे देश में छुआछूत अथवा अस्पृश्यता काफी समय से चला आ रहा अभिशाप है। महात्मा गाँधी ने भी इसके विरुद्ध जबरदस्त आवाज उठाई थी। समता, भाईचारे और स्वतन्त्रता पर आधारित स्वाधीन भारत के संविधान ने इस सामाजिक अन्याय को समाप्त कर दिया और छूआछूत को दण्डनीय अपराध घोषित किया। मूल अधिकारों के द्वारा सभी स्त्री-पुरुषों को समान अधिकार दिए गए। भारत सरकार ने विभिन्न कानून बनाए तथा समाज-सेवी संस्थाएँ स्थापित कीं। 1953 ई. में केन्द्रीय "समाज-हितकारी बोर्ड" की स्थापना की गई। बोर्ड ने सभी प्रान्तों में अपनी शाखाएँ स्थापित कीं। भारत सरकार ने समाज कल्याण पर प्रथम पंचवर्षीय योजना की अवधि में 547 करोड़ रुपया और दूसरी पंचवर्षीय योजनाकाल में 400 करोड़ रुपया व्यय किया। आदिम जातियों की उन्नति

के लिए भारत सरकार ने "भारतीय आदिम जाति सेवा-संघ" की स्थापना की। संघ ने भारत के विभिन्न भागों में ;0 शाखाएँ स्थापित कीं जो आदिम जातियों की उन्नति एवं कल्याण के लिए लाभदायक सिद्ध हुईं। समाज सेवा के प्रति भारत सरकार की निष्ठा का पता इसी से चल जाता है कि उसने इस कार्य के महत्त्व को ध्यान में रखते हुए इसके लिए पृथक् विभाग स्थापित किया। भारत सरकार का अनुसरण करते हुए लगभग सभी राज्यों ने भी राज्य स्तर पर पृथक् विभाग कायम किए। इसी प्रकार शिशुओं के स्वास्थ्य और कल्याण के लिए "शिशु-हितकारी भारतीय परिषद्" की स्थापना की गई। गैर सरकारी स्तर पर "भारत-सेवक-समाज" ने समाज सेवा के क्षेत्र में काफी महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इसके कई केन्द्र बच्चों, अनाथो, असहाय लोगों, स्त्रियों, अन्धों आदि की सेवा का महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहे है।

स्त्रियों की स्थिति में सुधार—भारतीय महिलाओं की स्थिति को उन्नत करने के सम्बन्ध में भी सरकार ने सराहनीय कार्य किए हैं। सर्वप्रथम, 1948 ई. में फैक्ट्री कानून पास किया गया जिसके अन्तर्गत स्त्रियों के कार्य के घण्टे निश्चित कर दिये गए। फिर खान-कानून के अन्तर्गत स्त्रियों से खानों में काम लेना निषिद्ध कर दिया गया। गृह-सेवा कानून के अन्तर्गत स्त्रियों के कार्य के लिए आठ घण्टे कर दिए गए। इस कानून के अनुसार काम करने वाली स्त्रियों के लिए रहने की जगह और एक वर्ष की सेवा में एक माह की संवैतनिक छुट्टी की भी व्यवस्था की गई।

स्त्रियों को योग्यतानुसार बड़े से बड़े सरकारी पदों को प्राप्त करने का अधिकार उपलब्ध हो गया है और समान कार्य के लिए उन्हें समान वेतन देने की व्यवस्था की गई। इससे पूर्व पुरुषों की तुलना में स्त्रियों को प्रत्येक क्षेत्र में कम वेतन मिलता था। स्वतन्त्र भारत में इस असमानता को दूर कर दिया गया। इसके अलावा, उन्हें कुछ विशेष सुविधाएँ देने की भी व्यवस्था की गई है जैसे कि बच्चा पैदा होने की स्थिति में उन्हें तीन माह का सवैतनिक अवकाश लेने का अधिकार उपलब्ध है।

स्त्रियों की स्थिति को सुधारने की दृष्टि से अल्पायु-विवाह और दहेज-प्रथा को गैर कानूनी घोषित किया गया है। विधवा-विवाह को कानूनी माना गया है। 1955 में हिन्दू विवाह कानून पास किया गया। जिसके अनुसार बहुविवाह प्रथा को गैर कानूनी घोषित किया गया। अर्थात् एक पुरुष को एक ही पत्नी रखने का अधिकार दिया गया। स्त्री और पुरुष दोनों को तलाक देने की समान सुविधा प्रदान की गई। "हिन्दू उत्तराधिकार कानून" के अन्तर्गत स्त्री को अपने "स्त्री-धन" का पूर्ण स्वामित्व प्रदान किया है और पुत्री को पिता की सम्पत्ति में पुत्रों के समान अधिकार दिया गया है। इस प्रकार महिलाओं को सम्पत्ति का अधिकार उपलब्ध हुआ। 1956 ई. में "हिन्दू अल्पवयस्क और संरक्षक कानून" और 'बच्चा गोद लेने और भरण-पोषण कानून' बनाए गए। इन कानूनों से माँ को अपने अल्पायु बच्चे

का संरक्षक होने का अधिकार दिया। स्त्री को बच्चा गोद लेने का अधिकार दिया और अपने भरण-पोषण का व्यय माँगने का अधिकार प्राप्त हुआ। उपर्युक्त सभी कानूनों ने भारतीय स्त्रियों की स्थिति को ऊपर उठाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। स्त्रियों में शिक्षा के प्रसार से उनका स्तर काफी ऊँचा उठा है और देश में अब शायद ही कोई क्षेत्र हो जहाँ महिलाएँ ऊँचे से ऊँचे पद पर न हों।

शिक्षा के क्षेत्र में उन्नति—देश में स्वाधीनता के बाद से शिक्षा के क्षेत्र में उल्लेखनीय प्रगति हुई है। शहरों और गाँवों दोनों ही जगह शिक्षण संस्थाओं और विद्यार्थियों की संख्या काफी बढ़ी है। कई राज्यों में स्कूली शिक्षा निःशुल्क है और कुछ राज्यों में स्कूलों के बच्चों को पाठ्यपुस्तकें और लेखन सामग्री मुफ्त दी जाती है और उनके दोपहर के भोजन की व्यवस्था भी की जाती है। 1947 में हमारे यहाँ केवल 20 विश्वविद्यालय थे जबकि आज 108 विश्वविद्यालय है। 1964 में 55 विश्वविद्यालय थे।

1948 ई० में भारत सरकार ने सर राधाकृष्णन की अध्यक्षता में यूनिवर्सिटी शिक्षा की जाँच के लिए एक कमीशन नियुक्त किया, जिसने अपनी रिपोर्ट में महत्वपूर्ण सुझाव रखे। 1955 ई० में सरकार की ओर से लक्ष्मण स्वामी मुदालियर की अध्यक्षता में माध्यमिक शिक्षा प्रगति की जाँच के लिए एक 'अखिल भारतीय माध्यमिक शिक्षा कमीशन'' नियुक्त किया गया। इस कमीशन की रिपोर्ट के आधार पर माध्यमिक शिक्षा में सुधार किया गया और स्कूलों की संख्या में वृद्धि हुई। 1948 की युनिवर्सिटी शिक्षा कमीशन की रिपोर्ट के आधार पर "विश्वविद्यालय अनुदान आयोग" की स्थापना की गयी जो विश्वविद्यालयों की आर्थिक आवश्यकताओं और उनके शिक्षा स्तर की देखभाल करता है। स्त्री-शिक्षा और प्रौढ़ शिक्षा के क्षेत्र में भी उल्लेखनीय प्रगति हुई है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद देश के विभिन्न स्थानों पर तकनीकी, इंजीनियरिंग, चिकित्सा-शास्त्र आदि के स्कूल और कॉलेज खोले गये हैं। योग्य विद्यार्थियों को उच्च शिक्षा के अध्ययन के लिए विदेशों में जाने के लिए नाना प्रकार की छात्रवृत्तियों की व्यवस्था की गयी है। यद्यपि कुछ लोगों का मानना है कि अभी तक भारत की आवश्यकताओं के अनुकूल शिक्षा की पर्याप्त व्यवस्था नहीं हो पायी है। फिर भी, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि स्वतन्त्रता के बाद भारत सरकार ने शिक्षा के क्षेत्र में काफी कार्य किया है।

स्वास्थ्य एवं शिक्षा—स्वतन्त्र भारत की मुख्य समस्या "महामारी" को सीमित अथवा समाप्त करने की थी। मलेरिया, तपेदिक, कोढ़, प्लेग, हैजा, चेचक आदि रोग प्रतिवर्ष भारत के किसी न किसी क्षेत्र में महामारी का रूप लेकर फैलती रहती थी। इन सभी रोगों की रोकथाम का काम राष्ट्रीय आधार पर किया गया। बढ़ती हुई जनसंख्या की रोकथाम के लिए 'परिवार-कल्याण' की योजना को लागू किया गया है। इन कार्यों में भारत सरकार को 'विश्व स्वास्थ्य संगठन' से विशेष सहयोग मिला है। जनता को चिकित्सा सम्बन्धी अधिक सुविधाएँ मिल सकें, इस दृष्टि से चिकित्सा-शास्त्र के महाविद्यालयों में वृद्धि की गई। सरकारी अस्पतालों की

संख्या बढ़ाई गई और दवाइयाँ बनाने के कारखाने स्थापित किए गए। दिल्ली में अखिल भारतीय चिकित्सा-शास्त्र इन्स्टीट्यूट की स्थापना की। इसके साथ ही सरकार ने आयुर्वेदिक और होम्योपैथिक चिकित्सा को भी काफी प्रोत्साहन दिया। परिणाम-स्वरूप भारत में औसत मृत्यु दर में काफी कमी हुई है।

श्रम कल्याण — संविधान के नीति निर्देशक सिद्धान्तों के अनुसार सरकार ने गुजारे के लायक वेतन, काम की शर्तों को सुधारने और अच्छे स्तर का जीवन तथा फुरसत के समय मनोरंजन एवं सामाजिक तथा सांस्कृतिक अवसर सुलभ कराने के लिए उपाय किए हे। आजकल देश में 488 रोजगार दफ्तर काम कर रहे हैं जो रोजगार ढूँढने वालों की मदद करते हैं। कारखानों, बागानों, खानों, गोदियों और बन्दरगाहों में काम को स्थिति सुधारने के लिए कानून बनाए गए हैं। काम के घण्टे तय कर दिए गए हैं और स्वास्थ्य और सुरक्षा के उपाय लागू हो गए हैं। श्रमिकों की भलाई के लिए जो काम किए गए हैं उनमें कैंटीन, शिशु केन्द्र, मनोरंजन क्लब और डाक्टरी सुविधाएँ शामिल हैं। 1955 में शुरू की गयी कर्मचारी राज्य बीमा योजना के अन्तर्गत बीमारी, अयोग्यता और प्रसव की स्थिति में नकद सहायता दिए जाने की व्यवस्था है। इसके अलावा मजदूरों को उत्पादन बढ़ाने के लिए प्रोत्साहन, नौकरी के दौरान ट्रेनिंग और प्रबन्ध में भाग लेने के अवसर दिए जाते हैं।

2. आर्थिक विकास

स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय भारत का औद्योगिक आधार दुर्बल था। परम्परागत खेती-बाड़ी के ढाँचे के बोझ से दबे लाखों ग्रामवासी पिस रहे थे। चारों ओर गरीबी और अभाव का बोलबाला था। देश के विभाजन ने लाखों लोगों को बेघरबार कर दिया था और आर्थिक जीवन विशृंखल हो गया था। अधिक उपजाऊ और सिंचित भाग तथा औद्योगिक और कच्चे माल के उत्पादक प्रदेश भी पाकिस्तान में चले गए। परिणामस्वरूप जनता के लिए खाद्यान्न और उद्योगों के लिए कच्चे माल का घोर अभाव हो गया। दूसरी तरफ भारतीय जनता ने स्वतन्त्रता के पश्चात् नवीन सुखमय जीवन बिताने का स्वप्न देखा। जनता की इस आकांक्षा को पूरा करना भी आवश्यक था। परन्तु भारत के पास कुछ भी तो नहीं था। खाद्यान्नों के लिए उसके पास धन न था। ऐसी स्थिति में योजनाबद्ध आर्थिक प्रगति की आवश्यकता स्पष्ट थी। इस दिशा में जो अनेक कदम उठाए गए उनमें सामुदायिक विकास योजना और पंचवर्षीय योजनाएँ मुख्य थीं।

3. सामुदायिक विकास योजना

महात्मा गांधी ने एक बार कहा था कि, "इस समय शक्ति के केन्द्र नई दिल्ली, बम्बई या बड़े शहर हैं। मैं इसे भारत के सात लाख गाँवों में बाँट दूँगा। तब इन सात लाख इकाइयों में स्वतः सहयोग होगा। उस सहयोग से वास्तविक स्वतन्त्रता उत्पन्न होगी और कोई एक नई व्यवस्था आएगी जो सोवियत रूस की नई व्यवस्था से कहीं ऊँचे दर्जे की होगी।"

भारत ग्रामों का देश है। कुल जनसंख्या का लगभग 82 प्रतिशत अंश गाँवों में निवास करता है। अतः ग्रामोत्थान की उपेक्षा करने वाली किसी भी योजना के द्वारा राष्ट्र की उन्नति असम्भव थी। ग्रामों का बहुमुखी विकास राष्ट्रीय उन्नति के लिए उचित ही नहीं अपितु अनिवार्य था, और है। सामुदायिक विकास योजनाएँ इसी उद्देश्य से लागू की गईं। सामुदायिक विकास योजना का उद्देश्य—एक ऐसा संस्थागत तंत्र का विकास करना है जिससे एक प्रगतिशील ग्राम समाज और विकासशील ग्राम व्यवस्था का विकास हो सके। डॉ० राजेन्द्रप्रसाद ने इस योजना को 'यज्ञ' कहकर पुकारा है। पं० नेहरू के शब्दों में, "यह शान्तिपूर्ण तरीके से निर्माण का वह ठोस कार्य है जो वास्तव में एक बड़ी क्रान्ति लायेगा।

योजना का प्रारम्भ—"अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन" की असफलता से योजना आयोग ने अनुभव किया कि ग्रामीण समस्याएँ एक-दूसरे से इस प्रकार सम्बन्धित हैं कि उन पर एक साथ प्रहार करने की आवश्यकता है। 5 जनवरी 1952 को "भारत-सयुक्तराष्ट्र औद्योगिक सहयोग समझौता" सम्पन्न हुआ और इस समझौते के आधार पर 31 मई 1952 को एक पूरक समझौता सम्पन्न हुआ जिसके अन्तर्गत सामुदायिक विकास के क्षेत्र में 55 योजनाओं के व्यय की व्यवस्था की गई। महात्मा गाँधी के जन्म दिवस 2 अक्टूबर, 1952 को 55 क्षेत्रों में सामुदायिक योजना का कार्य शुरू किया गया।

कार्यक्रम—कृषि विकास सामुदायिक कार्यक्रम का प्राथमिक कार्य है। इसके अलावा यातायात एवं संवाहन की सुविधाएँ बढ़ाना, शिक्षा का प्रसार करना, स्वास्थ्य एवं सफाई में सुधार करना, बच्चों एवं महिलाओं के कल्याण और विकास के कार्य करना, लघु और कुटीर-उद्योगों को बढ़ावा देना, रोजगार के अवसर बढ़ाना कार्यकर्त्ताओं एवं किसानों को व्यावसायिक प्रशिक्षण देना, मकानात बनाने में सहायता करना, मनोरंजन, खेलकूद के लिए सामाजिक केन्द्र, मेले, प्रदर्शनियों को आयोजित करना आदि भी महत्वपूर्ण कार्य हैं। अब परिवार कल्याण कार्यक्रम का प्रसार भी एक महत्वपूर्ण कार्य बन गया है।

खण्ड—सामुदायिक विकास योजना के अन्तर्गत सारे देश को 5261 विकास खण्डों में बाँट दिया गया है। प्रत्येक विकास खण्ड में लगभग 100 गाँव और 60,000-70,000 जनसंख्या होती है। 1955 के बाद पहले एक वर्ष के लिए प्रत्येक खण्ड विस्तार-पूर्व की अवस्था में माना गया, फिर 5 वर्षों के लिए गहन विकास की स्थिति में और उससे भी आगे के 5 वर्षों में कम सरकारी सहायता के आधार पर कार्य करने की स्थिति में माना गया। इसके बाद यह अपेक्षा की गई कि वह खण्ड "विकसित इकाई" के रूप में काम करने लगेगा।

व्यय—कार्यक्रम पर केन्द्रीय एवं राज्य सरकारें आवर्तक व्यय का आधा-आधा खर्चा वहन करती हैं, परन्तु अनावर्तक व्यय का तीन चौथाई व्यय केन्द्रीय सरकार वहन करती है। पहली व दूसरी योजनाओ में क्रमशः 45·98 करोड़ रुपये

और 187·12 करोड़ रुपये व्यय किये गये। तीसरी योजना के पहले चार वर्षों में कुल 213 करोड़ रुपये व्यय किये गये। इसके लिए जनता ने श्रमदान के रूप में 141·84 करोड़ रुपये के बराबर अंशदान दिया है।

प्रशिक्षण—हैदराबाद में सामुदायिक विकास का राष्ट्रीय संस्थान है जो इन योजनाओं से सम्बन्धित शोध कार्य की देखरेख करता है। इसके अलावा यह संस्थान उप जिला विकास अधिकारियों का प्रशिक्षण कार्य भी करता है। विस्तार सेवा अधिकारियों, ग्राम सेवकों आदि को प्रशिक्षण करने के लिए प्रत्येक राज्य में विभिन्न केन्द्र हैं।

समीक्षा—सामुदायिक विकास योजना कार्यक्रम का लगातार मूल्यांकन होता रहा है और सभी ने यह स्वीकार किया है कि इससे अपेक्षित सफलता नहीं मिली है। असफलता के कई कारण भी बतलाये गये हैं। एक कारण यह बतलाया गया है कि भारत के गांवों में वर्गभेद काफी गहरा है। दूसरा यह है कि योजना को ठीक से कार्यान्वित नहीं किया गया। स्टीफन मार्गिनल ने लिखा है कि "प्रजातान्त्रिक समाज का यह आधारभूत विचार कि सरकारी कर्मचारी जनता के सेवक हैं, अभी तक भारतीय किसानों एवं कर्मचारियों के विचार का अंग नहीं बना है और ऐसे विचार के बगैर किसान विस्तार अधिकारियों पर अपने कर्त्तव्य पालन के लिए दबाव नहीं डालेगा और न ही विस्तार अधिकारी इन दबावों की परवाह करेगा।" इसका परिणाम यह निकला कि विकास अधिकारियों ने अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं किया और प्रायः अमीर तत्त्वों से साँठ-गाँठ करली। श्रमदान का अधिकांश कार्य गरीब किसानों ने किया जबकि उसका लाभ अमीर किसानों तथा विकास अधिकारियों ने उठाया। ऐसी परिस्थिति में एक अच्छी योजना का पूर्ण सफल न हो पाना स्वाभाविक ही था।

4. पंचवर्षीय योजना

किन्हीं निश्चित राष्ट्रीय आर्थिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए पूर्व निर्धारित तरीकों से किये जाने वाले प्रयत्नों के कार्यक्रमों को आर्थिक नियोजन कहते हैं। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद देश के आर्थिक विकास के लिए नियोजन को अपनाने की आवश्यकता अनुभव की गई। इसी उद्देश्य से 15 मार्च, 1950 को एक "योजना आयोग" की स्थापना की गई और इसे योजना बनाने का काम सौंपा गया। योजना आयोग ने भारत के लिए प्रथम (1951–56), द्वितीय (1956–61), तृतीय (1961–1966), चतुर्थ (1966–71), (परन्तु यह बीच में ही स्थगित कर दी गई) और एक वर्षीय तीन योजनाएँ (1966–67, 1967–68 और 1968–69) बनाई गईं। स्थगित चतुर्थ योजना के स्थान पर नवीन चतुर्थ पंचवर्षीय योजना (1969–74) बनाई गई जो 1 अप्रैल 1969 से लागू की गई। पंचम पंचवर्षीय योजना (1974–1979) को मार्च 1978 में 1 वर्ष पूर्व ही समाप्त कर छठी आवर्ती योजना (Rolling Plan) प्रारम्भ कर दी गई परन्तु जनता सरकार के बदलने के साथ ही 1980 से छठी योजना नए प्रारूप के साथ कार्यान्वित हो रही है।

प्रथम पंचवर्षीय योजना (1951–56)—प्रथम पंचवर्षीय योजना का उद्देश्य एक ऐसी नींव तैयार करना था जिस पर एक प्रगतिशील तथा विविधतापूर्ण अर्थ-व्यवस्था का निर्माण किया जा सके। यह योजना तो देश को विकास के मार्ग पर लाने और राष्ट्र को उससे परिचित कराने का प्रयास मात्र था, क्योंकि योजना निश्चित उद्देश्यों एवं प्राथमिकता के आधार पर नहीं बल्कि विभिन्न राज्यों एवं विभागों के पहिले से चल रहे कार्यक्रमों के आधार पर बनाई थी। फिर, इसे उस समय लागू किया गया जबकि योजना काल (1951–56) के दो वर्ष समाप्त हो चुके थे। उस समय देश में खाद्यान्नों और कृषिजन्य औद्योगिक कच्चे माल का भारी अभाव था। इसलिए योजना में कृषि को अधिक महत्त्व दिया गया।

कृषि, सामुदायिक विकास, सिंचाई और विद्युत परियोजनाओं पर समस्त व्यय का 44 प्रतिशत व्यय निर्धारित किया गया। कृषि विकास के लिए भी बड़ी और बहूद्देशीय सिंचाई योजनाओं के निर्माण पर अधिक बल दिया गया। बहूद्देशीय सिंचाई योजनाओं से न केवल कृषि को ही अपितु अन्य क्षेत्रों को भी लाभ मिलता था। आर्थिक विकास में यातायात के अभाव से गम्भीर बाधाएं उपस्थित हो जाती हैं, अतः इस योजना में यातायात और संचार साधनों के विकास को सर्वोच्च प्राथमिकता दी गई और उस पर 27 प्रतिशत व्यय आवंटित किया गया।

इस योजना में औद्योगीकरण पर कम ध्यान दिया गया था, क्योंकि इस योजना में खाद्यान्नों और औद्योगिक कच्चे माल के अभाव को दूर करके अर्थ-व्यवस्था को स्थिरता देने और विकास के पथ पर लाने का कार्य किया गया जिससे अगली योजनाओं में देश के तीव्र औद्योगीकरण के लिए आधार तैयार किये जा सकें। इसलिए सार्वजनिक क्षेत्रों पर उद्योगों में कम ध्यान दिया गया। निजी क्षेत्र में लगभग 1600 करोड़ रुपयों का विनियोजन हुआ।

व्यय—इस योजना के अन्तर्गत सार्वजनिक क्षेत्र में कुल 2069 करोड़ रुपयों का व्यय निर्धारित किया गया था। बाद में बेरोजगारी को कम करने के उद्देश्य से इसे बढ़ाकर 2356 करोड़ रुपयें कर दिया गया। परन्तु वास्तव में 1960 करोड़ रुपया ही व्यय किया जा सका। इसमें से 31% कृषि एवं सिंचाई पर, 13% शक्ति पर, 6% से थोड़ा कम उद्योगों पर, 27% यातायात एवं संवाहन पर और 23% सामाजिक सेवाओं पर व्यय किया गया।

योजना व्यय के लिए 188 करोड़ रुपए विदेशी सहायता से, 205 करोड़ रुपए भारतीय बाजार ऋणों से, 304 करोड़ रुपये अल्प बचत एवं अल्पकालीन ऋणों से, 752 करोड़ रुपयें रेलवे एवं राजस्व बचत से, 91 करोड़ रुपये आय पूंजीगत प्राप्तियों से और शेष 420 करोड़ रुपये घाटे की वित्त व्यवस्था से प्राप्त हुये।

प्रगति—योजना काल में खाद्यान्नों, कपास और पटसन के उत्पादन में क्रमशः

15%, 42% और 63% की वृद्धि हुई। सिंचित प्रदेश में 40% वृद्धि का लक्ष्य था जो पूरा नहीं हो पाया फिर भी, खाद्यान्न उत्पादन लक्ष्य से अधिक ही रहा। उद्योगों के क्षेत्र में मुख्य कार्य निजी क्षेत्र में अप्रयुक्त उत्पादन क्षमता को भरसक पूर्ण उपयोग में लाने का था। इसलिए औद्योगिक व्यवस्था के विवेकीकरण और तकनीकों के आधुनिकीकरण की ओर अधिक ध्यान दिया गया। उपभोक्ता सामग्री के उद्योगों में कुल औद्योगिक उत्पादन 38% बढ़ा। सार्वजनिक क्षेत्र में सबसे महत्त्वपूर्ण उपलब्धि सिंदरी में खाद के कारखाने का प्रारम्भ होना था। रेलवे इन्जन, टेलीफोन, यात्रीगाड़ी, पेनिसिलीन निर्माण का उद्योग अभी निर्माण की अवस्था में थे। इस्पात के क्षेत्र में प्रगति निराशाजनक रही। कोयला एवं विद्युत् शक्ति का उत्पादन काफी बढ़ा। यातायात के क्षेत्र में विशेष प्रगति सड़कों के क्षेत्र में हुई। शिक्षा के क्षेत्र मे भी काफी प्रगति हुई। राष्ट्रीय आय में 18·4% वृद्धि हुई और प्रति व्यक्ति आय में लगभग 8·5% वृद्धि हुई।

निष्कर्ष—प्रथम योजना से हमने कई सबक सीखे। यह अनुभव किया गया कि भावी योजना के कार्यक्रम सुव्यवस्थित होने चाहिए। योजना बनाने में आम नागरिकों का सक्रिय सहयोग प्राप्त करना चाहिए। योजना में क्षेत्रीय सन्तुलन होना चाहिए। लालफीताशाही और विलम्ब को रोका जाय और स्थानीय विकास अधिकारियों को अधिक वित्तीय अधिकार दिये जायँ। भारी उद्योगों की व्यवस्था की जाय। निजी क्षेत्र के महत्त्व एवं नियन्त्रण पर पुनर्विचार किया जाय क्योंकि आय की असमानता को दूर करने का लक्ष्य निजी क्षेत्र के विकास से मेल नहीं खाता। बेरोजगारी की समस्या पर विशेष ध्यान दिया जाय क्योंकि योजना काल में लगभग 45 लाख लोगों को रोजगार देने के बाद भी योजना के अन्त में बेरोजगारों की संख्या 53 लाख से भी अधिक थी।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना (1956-61)—सही अर्थ में द्वितीय योजना ही देश की प्रथम योजना थी। पहली बार समाजवादी समाज की स्थापना का संकेत किया गया। दूसरी योजना उद्योग प्रधान योजना थी। उद्योग में भी भारी और आधारभूत उद्योगों जैसे इस्पात, मशीन और मशीनी औजार, सीमेन्ट विद्युत्, भारी रसायन, इन्जीनियरिंग आदि उद्योगों के विकास की ओर ध्यान दिया गया। इस योजना में 1956 की नवीन औद्योगिक नीति के अनुसार सार्वजनिक या सरकारी क्षेत्र में दुर्गापुर, भिलाई और राउरकेला (रुरकेला) में तीन विशालकाय इस्पात कारखाने स्थापित किए गए। सार्वजनिक क्षेत्र में अन्य विविध उद्योगों में भी सरकार ने बड़ी मात्रा में पूँजी विनियोजित की। इन विशाल उद्योगों से यद्यपि दीर्घकालीन रोजगार क्षमता का तो विकास होता है, किन्तु बेकार व्यक्तियों को तत्काल रोजगार दिलाने में अपेक्षाकृत कम प्रभावपूर्ण होते है। अतः औद्योगीकरण के साथ-साथ कुटीर और लघु-उद्योगों के विकास को प्राथमिकता दी गई। इसके लिए योजना काल में 200 करोड़ रुपए निर्धारित किए गए। इन्हें कर-सम्बन्धी रियायतें दी गई,

भूमि, विद्युत, पानी, कच्चा माल, ऋण, तकनीकी ज्ञान आदि अनेक सुविधाएं प्रदान की गईं। इसके आधुनिकीकरण के भी प्रयत्न किये गये। इस प्रकार द्वितीय योजना में तीव्र विकास के साथ-साथ रोजगार प्रधान शैली को भी अपनाया गया।

इस योजना में निर्यात को बढ़ाने और आयात को कम करने पर जोर दिया गया। निर्यात पर लगे अधिकांश नियन्त्रण हटा दिये गये और बड़ी संख्या में वस्तुओं को कोटा-नियन्त्रणों से मुक्त कर दिया गया। कई निर्यात करों को समाप्त कर दिया गया अथवा कम कर दिया गया। विदेशी विनिमय की कमी होते हुए भी निर्यात उद्योगों के लिए आवश्यक कच्चे माल तथा अन्य वस्तुओं के आयात को तुरन्त सुविधा दी गई। निर्यात में वृद्धि करने के लिए कई प्रकार की संस्थाएं स्थापित की गईं।

इस योजना पर 4600 करोड़ रुपये व्यय हुए। इस व्यय के लिए नये करों से 1000 करोड़ रुपये, विदेशी सहायता से 980 करोड़ रुपये और घाटे की वित्त-व्यवस्था से 1175 करोड़ रुपयों का सहारा लिया गया। कृषि एवं सामुदायिक विकास पर 530 करोड़ रुपये, बड़ी और मध्यम सिचाई योजनाओं पर 420 करोड़ रु., शक्ति पर 445 करोड़ रु., ग्रामीण एवं लघु उद्योग पर 175 करोड़ रु., संगठित उद्योग और खनिज पर 900 करोड़ रु., यातायात एवं संचार पर 1300 करोड़ रु. और सामाजिक सेवाएँ तथा विविध कार्यों पर 830 करोड़ रुपये व्यय किये गए।

समीक्षा—द्वितीय योजना काल में देश ने पर्याप्त आर्थिक उन्नति की। यद्यपि भारी और आधारभूत उद्योगों के विकास को महत्व देना उचित था, परन्तु कृषि को कम महत्व दिया जाना भारतीय अर्थ-व्यवस्था के सन्दर्भ में उचित नहीं था। उद्योगों के निर्माण में प्रशासनिक कारणों, तकनीकी कर्मचारियों के अभाव, विदेशी विनिमय की कमी आदि के कारण देरी हुई, जिससे सार्वजनिक क्षेत्रों के उद्योगों में कुशलता का वाँछनीय स्तर प्राप्त नहीं किया जा सका। तकनीकी ज्ञान के अभाव को विदेशों से आयात करने का प्रयत्न किया गया। देश में ही इसके विकास के लिए अधिक प्रयत्न नहीं किए गए। कुटीर और लघु उद्योग के विकास की युक्ति भी अधिक लाभप्रद नहीं हो सकी क्योंकि इन्हें आधुनिक ढंग पर संगठित और संचालित नहीं किया जा सका। वित्तीय कठिनाइयों के कारण योजना बीच भंवर में ही फंस गई। इसलिए लगभग प्रत्येक क्षेत्र में उपलब्धि लक्ष्य से कम ही हुई। फिर भी कृषि-उत्पादन में 18·5 प्रतिशत की वृद्धि हुई। सिंचित क्षेत्र 7 करोड़ एकड़ से 8·8 करोड़ एकड़ हो गया। लोहा, इस्पात, सीमेन्ट आदि का उत्पादन लक्ष्य से कम रहा। परन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य तेल-शोध-शोधन के क्षेत्र में हुआ। हल्के इन्जीनियरिंग उद्योगों में भी काफी प्रगति हुई। कई वस्तुओं का उत्पादन भारत में प्रथम बार प्रारम्भ हुआ। मशीनी औजार (हिन्दुस्तान मशीन टूल्स), व्यावसायिक दवाइयाँ (पिम्पर), अखबारी कागज (नेपा), गाड़ियाँ, कोयले की खानों की मशीनें (दुर्गापुर), भारी मशीनें (राँची), बिजली उद्योग की भारी मशीनें (भोपाल) आदि

के उत्पादन ने और साइकिल, स्कूटर, पंखे, सिलाई की मशीन आदि के विस्तार ने भारत की अर्थ-व्यवस्था को नया ही स्वरूप प्रदान किया। इससे भावी विकास की सामर्थ्य बढ़ी।

तीसरी पंचवर्षीय योजना (1961–66)—तीसरी योजना में कुल 8631 करोड़ रुपयों का प्रावधान था। कृषि एवं सामुदायिक विकास पर 1103 करोड़ रु., बड़ी और मध्यम सिंचाई योजनाओं पर 657 करोड़ रु., शक्ति पर 1262 करोड़ रु., ग्रामीण एवं लघु उद्योगों पर 220 करोड़ रु., संगठित उद्योग और खनिज पर 1755 करोड़ रु., यातायात एवं संचार पर 2116 करोड़ रु. और सामाजिक सेवाओं पर 1538 करोड़ रु. का प्रावधान रखा गया। इन आँकड़ों से स्पष्ट है कि तृतीय योजना में सिंचाई तथा शक्ति सहित कृषि के विकास को पुनः प्राथमिकता दी गई। योजना आयोग ने स्वयं लिखा है कि, "ग्रामीण क्षेत्रों की जनशक्ति के उपयोग और स्थानीय संसाधनों के अधिकतम उपयोग पर आधारित कृषि का विकास देश के तेजी से आर्थिक विकास की कुंजी है।" किन्तु इस योजना में प्रथम योजना की भाँति औद्योगिक विकास की अवहेलना नहीं की गई। आधारभूत उद्योगों जैसे—इस्पात, कोयला, खनिज तेल, विद्युत शक्ति, रसायन, मशीन निर्माण और इन्जीनियरिंग उद्योगों के विकास पर अधिक बल दिया गया है। ग्रामीण क्षेत्रों में बेकारी की तीव्रता को कम करने के लिए 'ग्रामीण कार्यक्रम' संचालित किये गये। तृतीय योजना का महत्त्वपूर्ण पहलू देश के मानवीय संसाधनों के विकास की आधारशिला रखना था। इसलिए योजना में सामान्य तकनीकी और वैधानिक शिक्षा एवं अनुसधान तथा चिकित्सा, जनस्वाथ्स्य और परिवार-नियोजन सेवाओं के विस्तार के कार्यक्रम सम्मिलित किये गये। इस प्रकार, पंचवर्षीय योजनाओं के द्वारा देश के बहुमुखी विकास का प्रयास किया गया।

आणविक शक्ति का विकास—द्वितीय महायुद्ध के अन्तिम दिनों में अमेरिका ने 6 अगस्त, 1945 को जापान के एक औद्योगिक नगर हिरोशिया पर और 9 अगस्त, 1945 को एक दूसरे नगर नागासाकी पर परमाणु बम गिरा कर सारे संसार को परमाणु शक्ति की विनाशकारी क्षमता से परिचित करा दिया। इसके बाद से ही सारे संसार में आणविक शक्ति के सम्बन्ध में क्रियाशीलता आ गई। भारत भी पीछे नहीं रहा। इस क्षेत्र में बम्बई स्थित 'टाटा मूलभूत अनुसन्धान संस्थान' ने सबसे पहिले कार्य आरम्भ किया। यह संस्थान 1945 ई. में स्थापित हुआ था। यहाँ परमाणु भौतिक विज्ञान के सम्बन्ध में शोध कार्य होता है। 1948 ई. में भारतीय संसद् ने 'आणविक शक्ति अधिनियम' पारित किया जिसके अन्तर्गत शान्तिपूर्ण उद्देश्यों के लिए आणविक शक्ति का विकास करने की दृष्टि से अगस्त 1948 ई. में आणविक शक्ति आयोग स्थापित किया गया। डा. एच. जे. भाभा को इसका अध्यक्ष नियुक्त किया गया।

परमाणु शक्ति आयोग शान्तिपूर्ण कार्यों के लिए परमाणु शक्ति के विकास कार्यक्रम की योजना और स्वरूप बनाने हेतु जिम्मेदार है। यह कार्यक्रम जिसे

परमाणु शक्ति विभाग कार्यान्वित करता है, का उद्देश्य रेडियो आइसोटोपों और विकिरण साधनों का उत्पादन और उपयोग करके कृषि, जीव विज्ञान, उद्योग और चिकित्सा में परमाणु शक्ति के प्रयोग को प्रोत्साहन देना और न्यूक्लीय शक्ति का सस्ती बिजली के साधन के रूप में उपयोग करना है।

आणविक शक्ति आयोग की सहायता के लिए दो संस्थाएँ स्थापित की गईं–परमाणु शक्ति शोध मण्डल और ब्रह्माण्ड रश्मि समिति। आयोग ने केरल में अल्वाए नामक स्थान पर एक कारखाना (भारतीय दुर्लभ मृत्तिका कारखाना) स्थापित किया जो 'मोनाजाइट' बनाता है, इससे थोरियम निकलता है। परमाणु शोध कार्य से सम्बन्धित एक अन्य संस्था 1950 ई० में कलकत्ता में मदाम जूलियो क्यूरी द्वारा स्थापित की गई थी जो परमाणु भौतिक विज्ञान संस्था के नाम से प्रसिद्ध है। भारत सरकार ने 1954 ई० में एक 'परमाणु शक्ति विभाग' स्थापित किया जो प्रधानमन्त्री के नियन्त्रण में कार्य करता है। आणविक शक्ति आयोग के अध्यक्ष डॉ. भाभा को इस विभाग का सचिव नियुक्त किया गया था। बम्बई के निकट ट्राम्बे में आणविक शक्ति विभाग द्वारा संस्थापित भारत की सर्वप्रथम आणविक भट्टी में 4 अगस्त 1956 को उत्पादन कार्य आरम्भ हुआ।

1964 ई. के अन्त तक परमाणु शक्ति के अनुसंधान और विकास का प्रमुख केन्द्र बम्बई के ट्राम्बे में "परमाणु अनुसंधान केन्द्र" था। (डॉ. भाभा की मृत्यु के बाद इसे 'भाभा परमाणु अनुसंधान केन्द्र' कहा जाने लगा है।) ट्राम्बे में तीन अनुसन्धान रिएक्टर हैं—(क) एक मैगावट का तैरने वाले तालाब की किस्म का 'अप्सरा रिएक्टर, (ख) 49 मेगावाट का कनाडा-भारतीय 'साइरस' रिएक्टर, और (ग) जीरो एनर्जी प्रायोगिक 'जरलीना' रिएक्टर। अनुसन्धान के अतिरिक्त 'अप्सरा' और 'साइरस' रेडियो आइसोटोपों का उत्पादन भी करते हैं। इन आइसोटोपों का इस्तेमाल चिकित्सा, कृषि, उद्योग, अनुसन्धान आदि के लिये किया जाता है और इसका उत्पादन परमाणु शक्ति कार्यक्रम का महत्त्वपूर्ण भाग है। ट्राम्बे में लगभग 350 किस्म के रेडियो आइसोटोप उत्पादन तैयार किए जाते है जिन्हें देश भर में और देश के बाहर भी बेचा जाता है। भारत में इनका प्रयोग बहुत से कार्यों के लिए हो रहा है। कृषि के क्षेत्र में रेडियम धर्मी ट्रेसरों की सहायता से कृषि के सुधरे हुए तरीकों के विकास और मिट्टी तथा जल-व्यवस्था अधिक अच्छी बनाने में मदद मिलती है। अनाज और खाद्य पदार्थों को लम्बे समय तक सुरक्षित रखने, पौधों को नष्ट करने वाले कीड़ों को मारने और ऐसे ही अन्य कामो के लिए रेडियो आइसो-टोहों का प्रयोग किया जाता है।

ट्राम्बे में अन्य सहायता संयन्त्र हैं—थोरियम संयन्त्र, युरेनियम संयन्त्र और ईंधन तत्व के उत्पादन संयन्त्र जो 'साइरस' ओर 'जरलीना' रिएक्टरों के लिए ईंधन

तत्वों का उत्पादन करता है। इस संयन्त्र का उपयोग ईंधन और रिएक्टर सामग्रियों सम्बन्धी अनुसन्धान न्यूक्लीय विज्ञान और गणित के उच्च अध्ययन और विकास-कार्यों के लिये भी किया जाता है। वहाँ 55 मेगावाट का बान-डे-ग्राम ऐक्सरेटेटर भी है।

बम्बई से 60 मील दूर तारापुर में देश का 400 मेगावाट का पहला परमाणु बिजलीघर अक्टूबर 1959 से काम कर रहा है। दो अन्य परमाणु बिजलीघर 400 मेगावाट की क्षमता वाला एक बिजलीघर जिसे कनाडा की सहायता से राजस्थान में राणाप्रताप सागर नामक स्थान पर बनाया जा रहा है और दूसरा तो मद्रास के समीप कलपक्कम नामक स्थान पर बनाया जा रहा है—निर्माण की विभिन्न अवस्थाओं मे है। (अब दोनों बिजली उत्पादन कर रहे हैं)। कलपक्कम परमाणु बिजलीघर पूर्णरूप से भारतीय इन्जीनियरों द्वारा बनाया गया है और इसमें प्रयोग होने वाली 80% सामग्री हमारे देश में ही तैयार की गई है।

1964 ई. के अन्त तक आणविक आयोग से सहायता पाने वाली मुख्य संस्थाएं थीं—टाटा मूलभूत अनुसन्धान संस्थान, बम्बई; साहा न्यूक्लीय भौतिकी संस्थान, कलकत्ता; और भौतिक अनुसंधान प्रयोगशाला, अहमदाबाद। कश्मीर में काफी ऊंचाई पर गुलमर्ग में एक उच्चस्थलीय अनुसंधान प्रयोगशाला बनाने का काम शुरू किया गया जो अब पूरा हो चुका है।

18 मई, 1974 के दिन राजस्थान में पोकरण के निकट भारत ने अपना प्रथम परमाणु विस्फोट किया है। फिर भी इसका ध्येय परमाणु बम बनाना नहीं अपितु शान्तिप्रिय ढंग से विकास के उपयोग में प्रयोग करना है।

अभ्यास के लिए प्रश्न

1. स्वतन्त्र भारत में हुए सामाजिक विकास कार्यों की समीक्षा कीजिए।
2. सामुदायिक विकास योजना से आप क्या समझते हैं? भारत में इसे अपेक्षित सफलता क्यों नहीं मिल पाई?
3. पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत आर्थिक उपलब्धियों का उल्लेख कीजिए।

अपने अध्ययन की जांच कीजिए

1. सही उत्तर का क्रमांक कोष्ठक में लिखिए—

   1. भारतीय स्त्री को अपने 'स्त्री धन' का पूर्ण स्वामित्व किस कानून के द्वारा प्राप्त होता है?

      (क) शारदा एक्ट, (ख) हिन्दू विवाह कानून

2. स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय भारत में विश्वविद्यालयों की संख्या थी—
(क) 20 (ख) 25 (ग) 31 (घ) 108
3. भारत के किस प्रसिद्ध नेता के जन्म दिवस पर सामुदायिक विकास योजना शुरू की गई ?
(क) पं० नेहरू (ख) महात्मा गाँधी
(ग) लोकमान्य तिलक (घ) डॉ० राजेन्द्र प्रसाद ( )
4. सामुदायिक विकास का राष्ट्रीय संस्थान कहाँ स्थित है ?
(क) दिल्ली (ख) हैदराबाद
(ग) बम्बई (घ) जयपुर ( )
5. प्रथम पचवर्षीय योजना में किस विषय को प्राथमिकता दी गई ?
(क) भारी उद्योग (ख) कुटीर उद्योग
(ग) कृषि एव उससे सम्बन्धित विषय (घ) वैज्ञानिक विकास ( )

2. एक-एक पंक्ति में उत्तर दीजिए—
1. आदिम जाति की उन्नति के लिए किस संस्था की स्थापना की गई थी ?
2. विश्वविद्यालय अनुदान आयोग का मुख्य काम क्या है ?
3. दूसरी पंचवर्षीय योजना में किस क्षेत्र को प्रधानता दी गई ?
4. तीसरी पंचवर्षीय योजना पर कितना रुपया व्यय करने का प्रावधान था ?
5. भारतीय अणु शक्ति आयोग की स्थापना कब की गई थी ?

3. पाँच-सात पंक्तियों में उत्तर दीजिच—
1. स्त्रियों की स्थिति को उन्नत बनाने के लिए क्या-कदम उठाये गये ?
2. सामुदायिक विकास योजना के कार्यक्रम में क्या-क्या सम्मिलित था ?
3. प्रथम पंचवर्षीय योजना से हमने क्या सबक सीखा ?
4. द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत जिन वस्तुओं का भारत में पहली बार उत्पादन शुरू उनके नाम बताइये ।

4. भारत के मानचित्र में आणविक शक्ति से सम्बन्धित स्थानों को दर्शाइये ।

पूरक अध्ययन के लिए ग्रन्थ

1. डॉ० खरे : प्लानिंग इन इण्डिया
2. जी० एल० गुप्ता : भारत में आर्थिक नियोजन
3. डॉ० जेठमल जोशी : भारत में नियोजित आर्थिक विकास की समस्यायें

परिशिष्ट–1

भारत में मुगल शासकों का तिथि-क्रम

		ई० सन्
1.	बाबर	1526–1530
2.	हुमायूं	1530–1540 और 1555–56
3.	अकबर	1556–1605
4.	जहाँगीर	1605–1627
5.	शाहजहाँ	1627–1658
6.	औरंगजेब (आलमगीर)	1658–1707
7.	बहादुरशाह	1707–1712
8.	जहाँदारशाह	1712–1713
9.	फर्रुखशियर	1713–1719
10.	रफी-उद-दाराजात	1719
11.	रफीउद्दौला (शाहजहां द्वितीय)	1719
12.	मुहम्मदशाह	1719–1748
13.	अहमदशाह	1748–1754
14.	आलमगीर द्वितीय	1754–1759
15.	शाहआलम द्वितीय	1759–1806
16.	अकबर द्वितीय	1806–1837
17.	बहादुरशाह द्वितीय	1837–1857

परिशिष्ट–2

भारत में अंग्रेज गवर्नर और गवर्नर-जनरलों का सेवा-काल

1.	क्लाइव (बंगाल के गवर्नर के रूप में)	1757–60 और 1765–67
2.	वारेन हेस्टिंग्ज	1772–1785
3.	लॉर्ड कार्नवालिस	1786–1793
4.	सर जॉन शोर	1793–1798
5.	लार्ड वेलेजली	1798–1805
6.	लार्ड कार्नवालिस (दूसरी बार)	1805
7.	सर जॉर्ज वार्लो	1805–1807
8.	लॉर्ड मिन्टो	1807–1813

9. लार्ड हेस्टिंग्ज	1813-1823
10. लार्ड एम्हर्स्ट	1823-1828
11. लार्ड विलियम बैंटिक	1828-1835
12. सर चार्ल्स मेटकॉफ	1835-1836
13. लार्ड आकलैण्ड	1836-1842
14. लार्ड एलेनबरो	1842-1844
15. लार्ड हार्डिंग्ज	1844-1848
16. लार्ड डलहौजी	1848-1856
17. लार्ड कैनिंग (कम्पनी शासन का अन्तिम गवर्नर-जनरल)	1856-1858

परिशिष्ट-3

वायसरायों का सेवा-काल

1. लॉर्ड कैनिंग (सम्राट के शासन का प्रथम वायसराय)	1858-1862
2. लॉर्ड एलगिन	1862-1863
3. सर जॉन लारेन्स	1864-1869
4. लॉर्ड मेयो	1869-1872
5. लॉर्ड नाथब्रुक	1872=1876
6. लॉर्ड लिटन	1876-1880
7. लॉर्ड रिपन	1880-1884
8. लॉर्ड डफरिन	1884-1888
9. लॉर्ड लैन्सडाउन	1888-1893
10. लॉर्ड एल्गिन द्वितीय	1894-1899
11. लॉर्ड कर्जन	1899-1905
12. लॉर्ड मिन्टो	1905-1910
13. लॉर्ड हार्डिग्ज	1910-1916
14. लॉर्ड चैम्सफोर्ड	1916-1921
15. लॉर्ड रीडिंग	1921-1926
16. लॉर्ड इरविन	1926-1931
17. लॉर्ड विलिंग्टन	1931-1936
18. लॉर्ड लिनलिथगो	1936-1942
19. लॉर्ड बैवेल	1943-1947
20. लॉर्ड माउन्ट बैटन	1947

परिशिष्ट–4

भारत के प्रमुख युद्धों और सन्धियों का तिथि-क्रम

1. पानीपत का प्रथम युद्ध	1526
2. खानुवा का युद्ध	1527
3. चन्देरी का युद्ध	1528
4. घाघरा का युद्ध	1529
5. चौसा का युद्ध	1539
6. कन्नौज का युद्ध	1540
7. पानीपत का दूसरा युद्ध	1556
8. चित्तौड़ पर अकबर का अधिकार	1568
9. हल्दी-घाटी का युद्ध	1576
10. मेवाड़ द्वारा मुगलों से सन्धि	1656
11. शाहजहाँ के समय में उत्तरधिकारी संघर्ष	1657–1658
12. राठौड़ राजपूतों का स्वतन्त्रता संघर्ष	1679–1707
13. मराठों का स्वतन्त्रता संघर्ष	1689-1707
14. नादिरशाह का आक्रमण	1739
15. कर्नाटक का प्रथम युद्ध	1746–48
16. कर्नाटक का दूसरा युद्ध	1949–54
17. कर्नाटक का तीसरा युद्ध	1756–63
18. प्लासी का युद्ध	1757
19. पानीपत का तीसरा युद्ध	1761
20. बक्सर का युद्ध	1764
21. इलाहाबाद की सन्धि	1765
22. मैसूर का प्रथम युद्ध	1766–69
23. प्रथम मराठा युद्ध	1775–82
24. सालबाई का सन्धि	1782
25. मैसूर का दूसरा युद्ध	1780–84
26. मैसूर का तीसरा युद्ध	1790–92
27. मैसूर का चौथा युद्ध	1799
28. द्वितीय मराठा युद्ध	1803–06
29. अमृतसर की सन्धि	1809
30. नेपाल युद्ध	1814–16
31. पिंडारी युद्ध	1817–18
32. तृतीय मराठा युद्ध	1871–18
33. ब्रह्मा का प्रथम युद्ध	1824–26

34. प्रथम अफगान युद्ध 1839-42
35. अंग्रेजों की सिन्ध विजय 1843
36. प्रथम सिक्ख युद्ध 1845-46
37. लाहौर की सन्धि 1846
38. द्वितीय सिक्ख युद्ध 1848-49
39. ब्रह्मा का दूसरा युद्ध 1852

परिशिष्ट-5

राष्ट्रीय आन्दोलन से सम्बन्धित घटनाओं का तिथि-क्रम

1.	प्रथम भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम	1857
2.	भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना	1885
3.	बंगाल का विभाजन	1905
4.	मुस्लिम लीग की स्थापना	1906
5.	कांग्रेस का सूरत अधिवेशन	1907
6.	मिण्टो-मार्ले सुधार	1909
7.	होम रूल आन्दोलन	1916
8.	मॉण्टफोर्ड सुधार	1919
9.	रोलेट एक्ट	1919
10.	जलियांवाला बाग हत्याकाण्ड	1919
11.	असहयोग पार्टी का प्रारम्भ	1920
12.	स्वराज्य पार्टी का जन्म	1922
13.	साइमन कमीशन	1928
14.	पूर्ण स्वाधीनता प्रस्ताव	1929
15.	स्वतन्त्रता दिवस का मनाया जाना	26 जनवरी, 1930
16	प्रथम गोलमेज सम्मेलन	1930
17.	सविनय अवज्ञा आन्दोलन—डांडो यात्रा	1930
18.	गांधी-इरविन समझौता	1931
19.	द्वितीय गोलमेज सम्मेलन	1931
20.	कम्युनल अवार्ड	1932
21.	पूना समझौता	1932
22.	तृतीय गोलमेज सम्मेलन	1932

23. भारतीय शासन अधिनियम	1935
24. प्रान्तों में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों का गठन	1937
25. क्रिप्स योजना	1942
26. भारत छोड़ो आंदोलन	1942
27. कैबिनेट मिशन	1946
28. भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम	1947
29. माउन्ट बैटन योजना	1947
30. स्वतन्त्रता प्राप्ति—पाकिस्तान का जन्म	15 अगस्त, 1947
31. महात्मा गाँधी का बलिदान	30 जनवरी, 1948
32. भारतीय गणराज्य की स्थापना	26 जनवरी, 1950